सम्पादन
भारत भारद्वाज
साधना अग्रवाल
हमारे युग का खलनायक
यादव
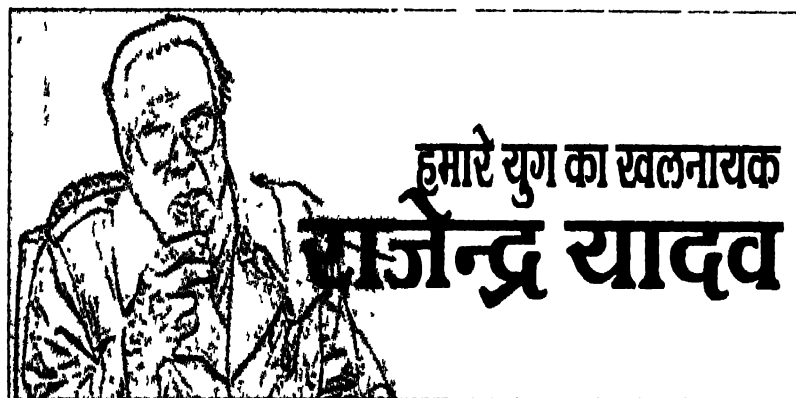
हमारे युग का खलनायक
राजेन्द्र यादव

हमारे युग का खलनायक
राजेन्द्र यादव

सम्पादन

भारत भारद्वाज
साधना अग्रवाल

दिल्ली-110032

प्रकाशक

शिल्पायन

10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क,

शाहदरा, दिल्ली-110032

दूरभाष : 011-22821174

भीतरी रेखांकन

सिद्धेश्वर

आवरण सज्जा

उमेश शर्मा

शब्द-संयोजन

उमेश लेजर प्रिंट्स, दिल्ली

मुद्रक

रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-32

HAMARE YUG KA KHALNAYAK RAJENDRA YADAV

Edited by Bharat Bhardwaj & Dr. Sadhna Agrawal

हिन्दी के यशस्वी साहित्यकार

एवं

'हंस' के विवादास्पद संपादक

राजेन्द्र यादव को

उनके

76वें जन्मदिन पर

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

भूमिका

यदि कभी हिन्दी में अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने की शानदार परम्परा रही है, तो इसके पर्याप्त कारण हैं। ये ग्रन्थ हिन्दी के आरम्भिक उन युग निर्माताओं से जुड़े रहे हैं, जिन्हें हिन्दी-भाषी जनता ने सर आँखों पर बिठाया था, क्योंकि इनके बिना साहित्य का इतिहास अधूरा होता। ऐसे अभिनन्दन ग्रन्थ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, निराला पर निकले हैं, लेकिन स्वतन्त्रता के बाद यह परम्परा जिस तरह चलताऊ हो गई, इसका महत्त्व संदिग्ध हो गया। वैसे हिन्दी में अभिनन्दन ग्रन्थ की लीक से हटकर 'नामवर के विमर्श', 'अशोक वाजपेयी : पाठ-कुपाठ' और 'उत्तर केदार' (सं. सुधीश पचौरी) की भी रही है। इधर साहित्यकारों की संचयिता ही नहीं, उनकी छवियाँ बनाने पर भी जोर दिया जाने लगा है। थोड़ा अलग हटकर एक और अच्छी परम्परा की भी इधर शुरुआत हुई है, जिसमें हिन्दी के महत्त्वपूर्ण कवियों की छवि, अशोक वाजपेयी की योजना से अलग हटकर, सामने लाने की कोशिश की गई है। प्रस्तुत पुस्तक यदि अब तक निर्मित परम्परा से बिल्कुल अलग हटकर है तो इसलिए कि खुद लेखक अपने समय को ही नहीं, अपने पूरे परिवेश को चुनौती देते हुए पाठकों के सामने आना चाहता है।

हमें ठीक से नहीं मालूम, बनारस से आगरे की कितनी दूरी है। अनुमानतः तीन-चार सौ किलोमीटर तो होगी ही। कबीर बनारस में जन्मे थे, मगहर में मरे। राजेन्द्र यादव आगरा में जन्मे और कलकत्ता को बाईपास करते हुए दिल्ली को उन्होंने अपनी कर्मस्थली बना लिया। कबीर और उनके होने के समय में लगभग चार-पाँच सौ वर्षों का अन्तराल है, लेकिन अन्तराल से क्या होता है? सिर्फ समय सन्दर्भ बदलता है, थोड़ा स्पेस भी। कबीर भी जटिल थे, अपने समय और समाज को चुनौती देते थे, उनका विद्रोही तेवर था क्योंकि जन्म से लेकर उनके होने तक को लेकर समाज ने स्वीकार नहीं किया था।

राजेन्द्र यादव कबीर नहीं हैं। अलबत्ता कबीर की लीक उन्होंने जरूर पकड़ ली है। वर्ण और वर्ग के बीच बँटे समाज में वे यदि आज अपने को असहज स्थिति में पाते हैं तो हैरानी की बात नहीं। आधुनिक वेश-भूषा में भी कहीं उन्होंने कबीर का चोला धर लिया है। लीक छोड़कर चलने वाले वे कपूत ही हैं। बल्कि ठीक से कहा

जाए तो वे कबीर की उलटबांसी हैं। यही वह स्थल है जहाँ से राजेन्द्र यादव की मानसिकता के बहुआयामी छोर को पकड़ा जा सकता है। स्त्री और दलित कबीर के द्वारा छोड़े हुए विमर्श ही हैं, जिन्हें राजेन्द्र यादव ने उठा लिया है। वैसे इस खतरनाक क्षेत्र में प्रवेश करते हुए सम्भवतः उन्होंने गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। यह मामला उन्होंने धर्मवीर के हवाले कर दिया है। यही कारण है कि आज अपने जिन वक्तव्यों से हिन्दी जगत में वे हलचल पैदा करते हैं या विवादास्पद बनते हैं, वे तर्क की जमीन को नहीं छूते, भावना या फिर विवाद से संचालित होते हैं।

कलकत्ता में रहते हुए उन्होंने कई उपन्यास लिखे। इसके पूर्व विश्व साहित्य प्रकाशन की योजना भी वे मोहन राकेश के साथ बना चुके थे। वह योजना तो कार्यान्वित नहीं हो सकी, लेकिन प्रकाशक बनने की इच्छा उनके मन में कुलबुला रही थी। मन्नू जी से विवाह के पूर्व 1958 में कलकत्ता छोड़कर दिल्ली में वे एक-डेढ़ वर्ष रहकर इस सम्भावना को टटोल चुके थे। फिर 1959 में कलकत्ता लौटे ओर मन्नू भंडारी के साथ तमाम प्रेम-प्रसंगों के बीच शादी की। 1961 में वे फिर दिल्ली आए और 1964 में अक्षर प्रकाशन की स्थापना की। अब यह बात साफ हो गई है कि प्रकाशक के रूप में राजेन्द्र यादव व्यावसायिक दृष्टि से सफल नहीं हुए। उनके मन में कहीं द्वन्द्व था। अपने प्रकाशन का हस्तान्तरण तो उन्होंने राधाकृष्ण को बाद मे किया लेकिन उसके पहले अगस्त, 1986 में प्रेमचन्द की विरासत के रूप मे 'हंस' का पुनर्प्रकाशन शुरू किया।

अब इस पुस्तक की योजना के बारे में। इस पुस्तक की योजना अचानक बनी। मैं बीमार था वैड रेस्ट पर। उन्हीं दिनों साधना अग्रवाल मुझे देखने आई। में तब लिखने-पढ़ने की मनःस्थिति में नहीं था। अचानक हमारे मन में यह बात उठी कि हमारे समय के एक बड़े लेखक राजेन्द्र यादव, जो 'हंस' जैसी पत्रिका का सम्पादक भी हे ओर विवादास्पद भी, पर क्यों नहीं एक पुस्तक निकाली जाए। फोन मेरे सिरहाने टेबुल पर था, फिर क्या था, साधना जी ने फोन मिलाया, उधर राजेन्द्र यादव थे, फोन पर हुई उनसे बातचीत के बारे में उन्होंने बताया—राजेन्द्र जी कह रहे हैं कि यदि तुम मुझ पर अभिनंदन ग्रन्थ निकालना चाहती हो, तो आई रिफ्यूज। मैंने कहा—तुम उनसे कहो, आप जैसे खलनायक पर अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने की धृष्टता कोई कैसे कर सकता है? बेशक, जिस तरह हरिशंकर परसाई ने जीवित रहते अपनी रचनावली निकाली संन्यासी की तरह, आपका श्राद्ध किया जा सकता है। हमारी इस बात से कायल राजेन्द्र जी ने जोरदार ठहाका लगाते हुए कहा—निकालो, निकालो तुम लोग अभी इस खलनायक को फाँसी पर चढ़ा ही दो, नहीं तो आने वाली पीढ़ी मेरे गुजरने के वर्षो बाद मुझे कब्र से निकालकर चौराहे पर क्रॉमवेल की तरह फाँसी पर चढ़ा ही देगी। कहने को तो कह दिया राजेन्द्र जी ने, लेकिन मन ही मन जरूर पछताए होंगे और सोचा होगा, देखो तो इनकी हिमाकत, साले, जीते जी मुझे खलनायक बनाने पर तुले हैं। क्या इन अबोधों को कुछ भी नहीं मालूम कि 'सारिका' और 'नई कहानियाँ' के दौर में किस तरह दोस्तों के साथ स्टार की तरह चमकते थे, कभी आइने

के सामने तो कभी मेरा हमदम मेरा दोस्त के बहाने? भगवान इन्हें सद्बुद्धि दो।

जब यह योजना बनी थी तब यह तय हुआ था कि पुस्तक का सम्पादन साधना अग्रवाल अकेली करेंगी। हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों से इस पुस्तक पर राजेन्द्र यादव पर लिखने के लिए पहले परिपत्र में उन्होंने आग्रह भी किया था। चूँकि हिन्दी में परमानन्द श्रीवास्तव और मधुरेश जैसे मुस्तैद और चुस्त लेखक कम ही हैं इस कारण भी पत्रिका के निकालने में ही नहीं, किसी लेखक विशेष पर केन्द्रित पुस्तक संपादन करने में वांछित सामग्री प्राप्त करने में भी कठिनाई होती है। राजेन्द्र यादव ही नहीं, हिन्दी के अधिकांश लेखक भी 'राष्ट्रीय स्तर' के आलसी हैं। दूसरे भेजे गए परिपत्र का असर यह हुआ कि हिन्दी के स्वनामधन्य प्रतिष्ठित नोबेल पुरस्कार से वंचित कुछ लेखकों की तन्द्रा टूटी और उन्होंने पलटकर साधना अग्रवाल से पूछा कि मुझ जैसे लेखक से राजेन्द्र यादव जैसे टुच्चे लेखक पर लिखने का आग्रह करने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई? उन्हीं के समकक्ष एक वरिष्ठ साहित्यकार, जो राजेन्द्र यादव के लेखन से तो आकर्षित नहीं थे, लेकिन इस बात से बेहद क्षुब्ध और आहत थे कि उसने यह कैसा तमाशा बना रखा है—एक तरफ देह सुख और दूसरी तरफ जब उस पर कुछ भी लिखा जाना होता है, महिलाएँ ही उन पर लिखती हैं। यही नहीं कुछ लेखकों से मिलने पर और कुछ लेखकों से फोन पर राजेन्द्र यादव पर प्रस्तावित पुस्तक के लिए लिखने पर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ सुनने को मिलीं। एक बार तो ऐसा हुआ कि बेहद उदास, निराश, बेचैन, उद्विग्न और बौखलाई मानसिकता में साधना अग्रवाल ने मेरे पास आते ही कहा—यह रहे आपके राजेन्द्र यादव और यह रहा आपका प्रोजेक्ट। नमस्कार! मैंने उनसे रुकने का आग्रह करते हुए कहा—पहले आप पानी-वानी पीकर शान्त हो जाइए, फिर इस पर बात करते हैं। इस बीच आए कुछ लेखकों के पत्र, जो उन्होंने मुझे दिखाएँ, चौंकाने वाले थे। मैंने इस प्रोजेक्ट पर उनसे पुनर्विचार करने के लिए कहा—साधना जी, इस तरह पीछे नहीं हटते, यह जरूर पूरा होगा। मैं तो चाहता था यह काम आप अकेली ही पूरा करें, लेकिन अब मुझे लगता है कि इस पुस्तक के संपादन से मेरा जुड़ना भी जरूरी हो गया है। मेरा आश्वासन काफी था। कुछ लेखकों से पुनः सम्पर्क किया गया। क्रमशः पुस्तक की योजना आकार लेने लगी, इस बीच पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों से यत्र-तत्र बिखरी रचनाएँ एकत्र की गई।

अब पुस्तक की तैयारी। पुस्तक को तीन खण्डों में बाँटा गया है। योजनानुसार पहले खण्ड, जिसका शीर्षक है—'प्रेत बोलते हैं', में पचास वर्षों के दौरान राजेन्द्र यादव पर हिन्दी लेखकों द्वारा जो कुछ लिखा गया है—मूल्यांकनपरक या संस्मरणात्मक, उसे भरसक सामने लाने की कोशिश की गई है। दूसरा खण्ड, जिसका शीर्षक 'उखड़े हुए लोग' है, में वैसे लेख संकलित किए गए हैं, जो इस पुस्तक की योजना के तहत राजेन्द्र यादव को उजाले में ही नहीं अन्धेरे में भी पकड़ने की कोशिश करते हैं। पुस्तक के तीसरे और अन्तिम खण्ड—'वहाँ तक पहुँचने की दौड़' में राजेन्द्र यादव की रचनाओं (उपन्यास को छोड़कर) से एक ऐसा चयन है, जिसका मानदंड भाषा

की सहजता और पारदर्शिता, आत्मीयता, खिलन्दड़ेपन के साथ प्रेम सम्बन्धों की गरमाहट भी लिए हुए है। पुस्तक के पहले दो खण्डों के शीर्षक का क्रमशः चुनाव साधना अग्रवाल ने किया है। तीसरे खण्ड के शीर्षक का चुनाव राजकमल प्रकाशन के प्रबन्ध निदेशक अशोक माहेश्वरी ने किया है। चूँकि ये तीनों शीर्षक राजेन्द्र यादव की पुस्तकों से उठाए गए हैं, हमें उनके सन्दर्भ में उपयुक्त लगे। हमने इसे सहर्ष स्वीकार लिया उनके प्रति आभार सहित।

राजेन्द्र यादव हमारे समय के एक बड़े लेखक ही नहीं, विवादास्पद लेखक भी हैं, ऊपर से 'हंस' जैसी लोकप्रिय कथा मासिक के सम्पादक भी। यदि शुक्ल जी के शब्दों में कहें तो राजेन्द्र यादव 'देह की तरफ झुकी हुई आत्मा है।' यह अकारण नहीं है कि इस बैताल के एक कन्धे पर यदि दलित सवार है तो दूसरे कन्धे पर स्त्री। स्त्री-विमर्श में इस आत्मा की रुचि उसे देह और मन से मुक्ति दिलाने में है ताकि आगे का रास्ता क्लियर हो सके, तो दलित विमर्श में अगुआ बनने की'

राजेन्द्र यादव का अब तक का विमर्श प्रेमचन्द की परम्परा में तो है लेकिन आज जिन सवालों से घिरे वे नकली लेखकों की फौज के बीच हैं, उन्हें आगे का रास्ता दिखाई नहीं दे रहा है। मनुवाद ठीक मुद्राराक्षस की तरह उनके गले की फाँस है, जिसे न ठीक से वे झटक पाते हैं और न पचा पाते हैं। ऐसी स्थिति में मुक्ति का रास्ता तलाशना आसान नहीं है। कांटे की बात वे करते हैं लेकिन यह कांटा उनके समय से ज्यादा कहीं उनके मन में गड़ा है। फिर भी राजेन्द्र यादव हमारे समय के एक ऐसे अनमोल रत्न हैं, जिन्हें न हम खो सकते हैं और न ओझल कर सकते हैं, बल्कि भावी पीढ़ी के लिए सहेज कर जतन से सुरक्षित जरूर रख सकते हैं।

राजेन्द्र यादव के लेखन का रेंज ही बहुत बड़ा नहीं है, उनकी दिलचस्पी और रुचि का रेंज भी। इन्होंने विश्व साहित्य का अधिकांश महत्त्वपूर्ण पढ़ रखा है। ठीक है, यह सार्त्र भी होना चाहते हैं और अपनी दुनिया में अपने लिए एक सिमोन की तलाश भी करते रहते हैं। घर-बार भी इन्होंने छोड़ा, यह छोटी बात नहीं है। हमें देखना यह है कि अपनी जिन्दगी में कितनी छूट इन्होंने ली। यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास को पलट कर आज देखें तो इस तरह की छूट लेने वाले वे अकेले लेखक नहीं हैं। अपने समय के विमर्शों से मुठभेड़ करता यह एक ऐसा प्रासंगिक साहित्यकार है जिसमें खतरा मोल लेते हुए भी अपनी बात बेलाग कहने का साहस है। प्रस्तुत पुस्तक राजेन्द्र यादव की उसी हठ और जिद को पूरी प्रतिबद्धता के साथ ही नहीं, राग-रंग के साथ भी उठाती है, जिसके लिए वे जाने जाते हैं।

राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व के बारे में सोचते हुए हमें मालगाड़ी के उस डिब्बे की याद आती है जिसमें पेट्रोलियम भरा होता है और बाहर लिखा होता है—'Highly inflammable not to be loose shunted' (अत्यन्त ज्वलनशील, ढक्कन कस कर बन्द करें) लेकिन राजेन्द्र यादव जैसे कैसनोवा को कस कर बन्द करने पर भी कोई ठिकाना नहीं कि ढक्कन कब और कहाँ खुल जाए (रेलवे के भूतपूर्व अधिकारी

के. विक्रम सिंह इस पर गोर करें)। वस्तुतः राजेन्द्र यादव को हम आप क्या, ठीक से भगवान भी नहीं जान सकते क्योंकि वे एक साथ जटिल ही नहीं, कहीं ग्रन्थिल और पेंचदार भी हैं। फिर भी यदि सम्पूर्ण हिन्दी संसार इनकी तमाम नादानियां, शरारतों एवं विचारों के बाद भी इन्हे प्यार करता है, तो मानना पड़ेगा कि इस जालिम में कोई बात नो जरूर है ओग बातों के अनेकों छोर हैं, जो अभ्यारण से लेकर इन्द्रलोक तक अफवाहों के बीच फेलते हैं।

इस पुस्तक में संकलित रचनाओं के बारे में टिप्पणी करने की जरूरत हमें इसलिए महसूस नहीं होती है कि पाठक खुद पुस्तक पढ़कर निर्णय करें। जिस तरह हम इस पुस्तक को निकालना चाहते थे, सम्भव नहीं हुआ फिर भी उपलब्ध सामग्री एवं प्रायोजित सामग्री से इस लेखक को जिस रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, यह हमारी सीमा है। राजेन्द्र. जी सीमातीत हैं, स्वच्छन्द, उन्मुक्त, लेकिन राजकमल चौधरी की तरह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं। उनको सम्पूर्णता में समेटना हमारे सामने एक भारी चुनौती थी, फिर भी इस खलनायक की विनय स्तुति न करके ईमानदारीपूर्वक जिस रूप में वे हमारे समय में हैं, हार्दिकता के साथ उठाने की कोशिश की गई है, उनकी प्रचलित छवि बिगाड़ने की हमारी मंशा नहीं है।

इस पुस्तक को तैयार करने में जिन लेखकों ने समय पर अपनी रचनाएँ भेजकर हमें सहयोग दिया, जिन पुस्तकों से उनसे सम्बन्धित सामग्री संकलित की गई तथा खुद राजेन्द्र यादव ने कुछ सामग्री उपलब्ध कराकर हमें अमूल्य सहयोग दिया, इसके लिए हम न केवल आभारी हैं, बल्कि कृतज्ञ भी कम नहीं। पुस्तक के प्रकाशन में शिल्पायन के दृष्टिसम्पन्न, कर्ताधर्ता श्री कान्ति प्रसाद शर्मा एवं उनके उत्साही पुत्र ललित कुमार शर्मा ने जिस प्रकार गहरी रुचि लेते हुए तत्परता दिखाई है, हमारे लिए उत्साहवर्द्धक है क्योंकि अपने समय के एक बड़े लेखक का सम्मान उसके तमाम अन्तर्विरोधो के साथ इसी तरह कर सकते हैं। पुस्तक का प्रकाशन इसी का परिणाम है। हम तमाम सहयोगी लेखकों के आभारी हैं।

अन्त में—भवभूति—

"वे नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञान।
तेषां कृते न खलु एष ममावियत्नः॥
उत्पस्यते मम कोऽपि समानधर्मा।
कालोह्यायं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

मुक्तिबोध ने अपने एक लेख में अपनी कविताओं के बारे में लिखा था—

'कोई समानधर्मा पुरुष जरूर उन्हें पढ़ेगा, आज नहीं, मेरी मृत्यु के बाद ही सही। उसे अच्छी नहीं लगेगी, वह आलोचना करेगा, किन्तु उसे उसके कुछ हिस्से अवश्य पसन्द आएँगे।'

पुस्तक आपके सामने है। इस धृष्टता और उच्छृंखलता के लिए लेखक को तो नहीं, बेशक सम्पादकद्वय को गोली मारने का आपको अधिकार है। वस्तुतः इस योजना की असली अधिकारी तो साधना अग्रवाल हैं। मैं निमित्त मात्र हूँ।

—भारत भारद्वाज

नई दिल्ली

क्रम

पहला खंड : प्रेत बोलते हैं

दूसरा खंड : उखड़े हुए लोग

खंड तीन : वहाँ तक पहुँचने की दौड़

[राजेन्द्र यादव के लेखन, उपन्यास छोड़कर, से एक चयन]

परिशिष्ट एक

परिशिष्ट दो

परिशिष्ट तीन

पहला खंड

प्रेत बोलते हैं

मेरा हमदम, मेरा दोस्त : राजेन्द्र यादव

मोहन राकेश

सोच रहा हूं, मैंने इस नाम के साथ विस्मयबोधक चिह्न लगाकर लिखना क्यों शुरू किया? कुछ नाम ऐसे होते हैं, जिनके साथ आगे या पीछे कोई संकेत चिह्न न हो, तो अधूरे रह जाते हैं—हमारे एक दोस्त दस्तखत भी करते हैं, तो अपने नाम के आगे 'श्री' जोड़ लेते हैं, बिना 'श्री' के उनके नाम में जान ही नहीं आती। इसी तरह मेरे इस दोस्त का नाम जब भी जहन में आता है, साथ एक विस्मयबोधक चिह्न लगा होता है। मैं हलफिया कह सकता हूं कि यह चिह्न लगाने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर नहीं है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यह चिह्न अपने सीधेपन से असन्तुष्ट होकर करवट बदल लेता है और सवालिया निशान की शक्ल अख्तियार कर लेता है।

खैर, जिक्र अपने उस दोस्त का है, जिसे कुछ लोग बहुत सीधा और कुछ लोग बहुत ही टेढ़ा बताते हैं। वैसे गहराई में जाने पर दोनों बातों में कोई खास फर्क नहीं। मतलब यही है कि आदमी नॉर्मल नहीं है, सौ-पचास आदमियों की भीड़ में वह भीड़ का हिस्सा बनकर नहीं रह जाता, अपने सीधेपन या टेढ़ेपन की वजह से भीड़ से अलग अपनी तरह का एक और अकेला नजर आता है। जिन्दगी के कुछ सवालों को लेकर यह आदमी बहुत सीरियस है, हालांकि इसे इस बात की शिकायत भी है कि कुछ स्नॉब किस्म के लोग इसे सीरियसली नहीं लेते। मगर यह बात सच नहीं है। जो लोग नॉन-सीरियस होकर बात करते हैं, वे ही इसके सबसे ज्यादा अन्तरंग हैं—इनमें इसके दोस्त ही नहीं, इसकी लेखिका पत्नी मन्नू भी शामिल है। इन नॉन-सीरियस लोगों में बाई अर्थात् इसकी अम्मां को भी शुमार किया जा सकता है, जिसने ब्याह के बाद पहली बार मिलने पर ही मन्नू से पूछा था, "बिटिया, सच-सच बता, तूने इस बौड़म में देखा क्या, जो इससे ब्याह कर लिया?"

किस्सा सुनाते हुए मन्नू हँस-हँसकर दोहरी हो जाती है और मेरा यार चश्मे के अन्दर से उसे गम्भीर नजर से देखता हुआ पहले नाराज होने की कोशिश करता है फिर बच्चों की तरह बाँहें पटकता है और किलकारी मारते हँस देता है। थोड़ी देर बाद अकेले में चेहरा लम्बा किए हुए कहता है, "यार, तू मन्नू को समझा। कम-से-कम बाहर के लोगों के सामने तो मेरी इज्जत किया करे।" और

जब यह इस तरह की बात करता है, तो विस्मयबोधक चिह्न पहले से कहीं लम्बा हो जाता है।

हम लोगों की मुलाकात ग्यारह साल पहले आगरा में हुई थी। पहली बार मिलते ही मुझे लगा था कि आदमी बहुत टेढ़ा यानी बहुत ही सीधा है। बात सुनता बाद में है, उसका विरोध करने के लिए पहले तैयार हो जाता है। अगर किसी को पसन्द नहीं करता है, तो उसे हलाल किए बिना चैन नहीं और अगर पसन्द करता है, तो उसे हलाल न कर पाने का हर वक्त अफसोस है। किसी भी विषय पर बहस करने के लिए हर वक्त तैयार रहता है, मगर समझदारी की बात अगर दूसरे के मुँह से निकले (जैसा कि अक्सर होता है) तो उसे सुनने का भी इसमें सब्र नहीं। पढ़ता इतना है कि तीन-चौथाई बात 'कोटेशन्स' में करता है। घंटे भर की बात में इतने लोगों के नाम ले देता है कि अच्छा पढ़ा-लिखा आदमी भी अपने को अनपढ़ समझने लगे। हमेशा उस वक्त मिलने के लिए जाता है, जब आप सो रहे हों, और जिस वक्त आप मिलने के लिए जाएँ, साँकल लगाकर सो रहा होता है। न पूछे, तो शाम के पाँच बजे चाय की प्याली तक के लिए नहीं पूछता, और पूछने पर उतर आए, तो सिर्फ पूछता ही नहीं, दोपहर के ढाई बजे खा-पीकर आए आदमी को राजामण्डी के बाजार में तेल की कचौरी खिलाकर साथ ही जबरदस्ती दूध भी पिला देता है। फिर एक तरफ ले जाकर धीरे-से कहता है—"यार, तू इस हलवाई को गौर से देख। यह साला भी एक ही कैरेक्टर है..."

इसके साथ घूमते हुए मुझे परीक्षा के दिनों की याद आया करती। हॉल के बाहर कुछ लोग बड़े-बड़े कोटेशन्स से इतना नर्वस कर देते थे कि मन में अन्दर जाने का हौसला नहीं रहता था। प्रश्न-पत्र हाथ में लेने से पहले ही अपना अँधेरा भविष्य एक होल की तरह सिर पर मँडराने लगता था। प्रश्न-पत्र पढ़ते बाद में, एक पानी का गिलास पहले माँग लेते थे। उन दिनों मुझे लगता है कि मेरे-जैसा आदमी और चाहे जो करे, लिख कभी नहीं सकता। जो आदमी पढ़ने के बाद किताब का नाम भूल जाए, उसे लेखक बनने की उम्मीद बिल्कुल नहीं करनी चाहिए। यह आदमी एक के बाद एक कोटेशन दे रहा होता और मैं अपनी नर्वसनेस को छिपाने के लिए बात को साहित्य से हटाकर किसी और विषय पर ले जाने पर तोड़ देता। "तुझे पता है, माओ ने अपने इधर के आर्टिकल में क्या लिखा है? उसने लिखा है कि..."

यह उन दिनों 'प्रेत बोलते हैं' लिख रहा था। मुझे इससे बात करते हुए अपने चारों तरफ प्रेत ही प्रेत बोलते नजर आते—कई-कई युगों के प्रेत, जो दर्शन और आलोचना के हवाले दे-देकर बात करते थे, और साधारण भाषा में नहीं, प्रेत-भाषा में। सुनते हुए उसका अभिप्रेत भी मेरे लिए प्रेत हो जाता। मैं डरता कि कहीं ऐसा ही प्रेत मेरे सिर पर भी सवार न हो जाए। उसके सिर पर तो खैर, यह सवार था ही, वरना उस छोटी-सी उम्र में वह तीन-चार सौ पन्नों की 'कहानी' लिखने की बात

न सोचता। 'प्रेत बोलते हैं' को वह कहानी ही बताता था—सिर्फ एक लम्बी कहानी। "देख, टेकनीक के लिहाज से यह कहानी है। उपन्यास होता, तो..."

मगर पढ़ने-लिखने से आगे उसमें कोई प्रिटेंशन्स नहीं थे—सिर्फ कपड़े बदलने की बात को छोड़कर। घर के बाहर गली के नुक्कड़ तक भी जाता हो, तो आप धुला हुआ कलफदार पाजामा पहने बिना नहीं चल सकते। जाना होता शास्त्री जी के होटल में चाय पीने, घर से मुश्किल से पचास गज दूर, मगर पहले बिस्तर के नीचे से ट्रंक निकालते, ट्रंक में से पाजामा निकालते, उस पाजामे को रिजेक्ट करके दूसरा पाजामा निकालते, फिर मैले कपड़ों में से एक पाजामा निकालकर उसमें से नाड़ा खींचते, और आखिर कलम की नाड़ेदानी बनाकर उसमें नाड़ा डालते। नाड़ा डालने के बाद उसे एक बार ऊँचा उठाकर देखते कि पाजामा ही है, कुछ और तो नहीं। उसके बाद इत्मीनान से पहुंचे खोलकर अदा के साथ उसे पहनते। साथवाला आदमी इतने में जल-भुनकर राख हो जाता। यह सोचकर कि अब आप चलनेवाले हैं, वह कमरे के बाहर पहुँच जाता, तो झट से तीन-चार इनलैंड निकाल लेते और उन पर चिट्ठियाँ लिखने लगते।

चिट्ठियाँ लिखने की बीमारी बहुत से लोगों को होती है, मगर इतनी क्रॉनिक नहीं, जितनी मेरे इस दोस्त को है। जितने पन्नों में साधारण आदमी कहानी लिखता है, उतने पन्नों में आप एक छोटा-सा पत्र लिखते हैं। हर पन्ने पर मजमून इतना रहता है कि सिर्फ इनसे पत्र-व्यवहार करके ही जाना जा सकता है। तौल की जगह डाकखर्च संख्या के हिसाब से लिया जाए, तो आपकी सब चिट्ठियाँ बैरंग हो जाएँ।

अनपढ़ आदमी। पॉलिश नाम को नहीं। पॉलिश चढ़ाने की कोशिश की जाए, तो पपड़ी बनकर उतर जाए। जिन्दगी में सिर्फ एक तलाश एक कशिश-कहानी। वह जहाँ भी मिले, जिससे भी मिले, जैसे भी मिले। हर मिलनेवाला आदमी—कहानी का सम्भावित पात्र! जिन्दगी का हर हुस्न और फरेब—कहानी की एक स्थिति। अपने ऊपर ओढ़ी हुई हर तकलीफ—लिखने की जरूरत। एकान्त का एक-एक क्षण(!)—लिखने या सोचने का समय।

मुसीबत है ऐसी जिन्दगी, जिसमें इन्सान इन्सान के तौर पर अपने को भूल नहीं जाए। अपने आस-पास के लोगों के सुख-दुःख की भी उसे याद न रहे। कभी-कभी किसी भी क्षण केवल जीने के लिए न जिए, हर वक्त किसी-न-किसी प्रेतछाया का मीडियम बनकर उनकी कहानी लिखने की बात सोचता हुआ रहे, उस कहानी के साथ एक कहानी हुआ रहे और जब तक एक प्रेतछाया सिर से उतरे, तब तक दो और प्रेतछायाओं को सिर पर बुला ले। ऐसे आदमी के लिए जिन्दगी में कोई उम्मीद नहीं—फॉर देम देअर इज नो होप।

दिल्ली में गुरुद्वारा रोड का एक कमरा! कुछ साल कलकत्ता में रहने के बाद यह शख्स (मेरे कहने से) उन दिनों दिल्ली चला आया था। (नई दिल्ली स्टेशन की एक बेंच पर बैठे हुए हम लोगों ने दिल्ली शिफ्ट करने की योजना बनाई थी। सिद्धान्त था : राजधानी में रहकर जिन्दगी की नब्ज पहचानेंगे। आज तक जो बेशुमार बेहूदा हरकतें की हैं, उनमें से एक।)

उस कमरे में यह आदमी अकेला रहता था। थोड़ा-सा सामान था, मगर उसी से कमरा भरा हुआ लगता था। किताबों की पेटियाँ, जो कलकत्ता से ढोकर लाया था, वे कुछ दिन मालगोदाम में रहकर अब एक दोस्त के उससे भी अँधेरे गोदाम में चली गई थीं। कमरे में बैठने और सोने के अलावा थोड़ी-सी जगह पढ़ने-लिखने के लिए भी थी—एक पूरा का पूरा कोना चाय बनाने के लिए था—उस कोने में चाय का पूरा सामान तो रख रखा था, मगर जैसे सिर्फ तस्वीर उतरवाने के लिए ही। इसके अलावा उसका कोई खास उपयोग नहीं था। चार दोस्त आते, तो उन्हें चाय पिलाने के लिए किसी होटल में ले जाता। अपना काम बिना चाय पिये ही चला लेता था। बनियानें हाथ से धो लेना था, मगर उन्हें सुखाने के लिए फैलाना भी होता है, यह छोटी-सी बात इसे याद नहीं रहती थी। जिन्दगी की सबसे बड़ी मुश्किल बात लगती थी—खाना खाने के लिए बाहर जाना। जहाँ तक बन पड़ता, वह उस मुश्किल से बचने की कोशिश करता, मगर अंतड़ियाँ जब जवाब ही देने लगतीं तो हारकर ताला लगाकर निकल पड़ता। रात की रोटी का झंझट कनॉट प्लेस से वापस लौटते हुए वहीं मिटा आता—रिवोली के सामने से छोले-कुलचे या मद्रास होटल से इडली-सांबर और मसाला-दोसा खाकर। दूसरी मुसीबत थी पेर के इलाज के लिए डॉक्टरों के पास चक्कर लगाना। जब यह अपनी तरफ से सबको दिखाकर निश्चिन्त हो जाता, तो किसी और नए डॉक्टर का पता बता दिया जाता। इसे बड़ी उलझन होती कि लिखना-पढ़ना छोड़कर अब उससे भी अपाइण्टमेंट लेना पड़ेगा। इसका मन होता कि हर वक्त कमरा बन्द करके पड़ा रहे और लिखता रहे। न कोई मिलने के लिए आए और न डॉक्टरों के पते बताए। यह इतना लिखे, इतना लिखे कि इसके समकालीन ढेर हो जाएँ। इसने जो किताब उन दिनों शुरू कर रखी थी, उसका नाम था 'शह और मात'।

बड़ा गमखोर था वह कमरा, बड़ा हमदर्द और संजीदा। पूरे दिन में दिलो-दिमाग पर जो गर्द जमा होती थी, वह रात को उस कमरे में बैठकर उतर जाती थी। आधी-आधी रात तक वहाँ बैठकर हम लोग अपनी जिन्दगी का जायजा लेने, एक-दूसरे की समस्याओं को समझने और सुलझाने की कोशिश करते। यह जानते हुए भी कुछ समस्याएँ हैं, जिनका कोई हल नहीं क्योंकि उनका सम्बन्ध उन बुनियादी जरूरतों से था, जो इस तरह की जिन्दगी में कभी पूरी नहीं हो पातीं। हम देर-देर तक हल निकालने की दिमागी कसरत किया करते। खूबसूरती यह थी कि तकलीफ के कई-कई आसान हल बता देते थे। उसकी कितनी परेशानियाँ मैं चुटकी में उड़ा दिया करता था।

इसके अलावा उस कमरे में बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना करतीं। योजना की रूपरेखा मेरी तरफ से पेश होती, उसका रेशा-रेशा उसकी तरफ से उधेड़ा जाता। मैं घंटा-भर बकझक करके जब अपनी तरफ से मैदान फतेह कर लेता, तो यह आदमी पल-भर खामोश रहकर फिर अचानक सिर हिला देता, "बात कुछ बनी नहीं।" मुझे गुस्सा आ जाता और लड़ाई शुरू हो जाती। आधी रात को जब अलग होते, तो जिन्दगी-भर के लिए दोस्ती टूट चुकी होती। मगर सुबह नहाने से पहले मैं उसके यहाँ चला जाता, या वह मेरे यहाँ चला आता। कभी लड़ाई तेज हो जाती,

तो दो-दो तीन-तीन दिन बिना मिले भी निकल जाते। फिर अचानक कॉफी हाउस में मुलाकात हो जाती। पहले दोनों बड़ी संजीदगी से एक-दूसरे की तरफ देखते, फिर मुस्कराते और सहसा खिलखिलाकर हँस पड़ते।

"हस्साला!" वह अपने खुरदरे पंजे में मेरा घुटना मसल देता।

"सूअर कहीं का!" कहकर मैं उसका हाथ वापस उसके घुटने पर पटक देता।

"अभी चमन और मिसेज चमन तुझे पूछकर गए हैं।"

"तूने क्या कहा?"

"मैंने कह दिया कि उसे एक सौ तीन बुखार है, आज नहीं आएगा।"

"यू रासकल!"

वह कटी हुई पतंग की तरह कंधे हिलाता, हाथ झटकता और हँसने लगता। कहता, "अबे साले, मरता क्यों है? आज नहीं है, तो कल हो जाएगा बुखार। आखिर एक-न-एक दिन तो कुछ करेगा, या डेरा-डण्डा लेकर यहीं पड़ा रहेगा?"

उस गरमदिल कमरे में आकर मन पर कोई नकाब नहीं रहता था। जिन्दगी के कई अहम फैसले उस कमरे में हुए। उसी कमरे की बुजुर्गी और संजीदगी ने मेरे लिए नई जिन्दगी की शुरुआत की, जिसने कुछ अरसे के लिए मेरे घुटने तोड़ दिए थे। इसी कमरे के गुनगुने वातावरण में एक दिन इस शख्स की खुरदरी खाल के अन्दर से एक मोम का पुतला बाहर निकला। मुझे हैरानी हुई थी कि यह पुतला इस खाल के अन्दर रहता किस तरह से है। उस पुतले के दर्द ने, उसके अन्दर की आँच और छटपटाहट ने उस दिन मन को बुरी तरह मसल दिया था। उस दिन शायद पहला मौका था, जब मैं न उस पर हँस सका था, न अपने पर।

कलकत्ता से मन्नू का पत्र आया था। विवाह की बात को लेकर उसने शीघ्र ही निश्चय की माँग की थी। पत्र इतने सीधे-सरल ढंग से लिखा गया था कि उसका कोई घुमावदार उत्तर बनता ही नहीं था। जहाँ राजेन्द्र का सीधापन उसकी कमजोरी है, वहाँ मन्नू की सरलता उसकी ताकत। मन्नू ने जो सवाल उठाया था, उसने एकाएक जिन्दगी की सारी विडम्बनाओं को सामने ला खड़ा किया था—उस कमरे की गमखोरी और संजीदगी पर एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया था। उस दिन लगा था कि हम जिन्दगी जिस तरह से जी रहे हैं वह अपने में बहुत खोखली, व्यर्थ और आधारहीन है। जिन बुनियादों पर उसका ढाँचा खड़ा करने की कोशिश कर रहे हैं, वे बहुत कच्ची और कमजोर हैं। वह जिन्दगी जिन्दगी नहीं, सिर्फ जिन्दा रहने की एक कोशिश है—बेमतलब और बेकार कोशिश, जिसे आधी-आधी रात तक की जाने वाली बेमतलब और बेकार बातें अब और नहीं सँभाल सकेंगी। राजेन्द्र बहुत ही उदास था। वह समझ नहीं पा रहा था कि मन्नू को क्या राय दूँ। हम दोनों के बीच की एक बन्द किताब, जिसे हम बन्द ही रखना चाहते थे, सहसा अपनी ढीली सीवनों के साथ सामने खुल गई थी। हम एक-दूसरे से आँखें चुराते हुए एक-दूसरे की तरफ देख रहे थे। जिस जिन्दगी में कोई भावनात्मक बुनियाद न हो, आने वाले कल की कोई सिक्योरिटी न हो, बस जिम्मेदारियाँ हों और उन्हें

निभाने की एक क्रूर अनिवार्यता, अपेक्षाएँ सब हों, परन्तु किसी भी अपेक्षा की पूर्ति का कोई सामान न हो, ऐसी जिन्दगी जीता हुआ आदमी जिन्दगी के एक पुख्ता सवाल का जवाब दे, तो कैसे? अपनी वास्तविकता को स्वीकार करे, तो कैसे? और न करे, तो उससे बचे किस तरह? जिन्दगी की सब लाचारियों ने अपना दामन जो फाड़ दिया था।

और उस दामन में से एक और भी सवाल छन आया। बहुत दबे-दबे इस आदमी ने बात कही। मैं आँखें फैलाए उसकी तरफ देखता रहा—कुछ कह नहीं सका, यहाँ तक कि हँस भी नहीं सका।

सवाल का ताल्लुक आदिम 'तिकोन' से था। इस सीधे-सादे आदमी की जिन्दगी में भी वह तिकोन होगा, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

गरमी की रात। दिन-भर की थकी-तपी हुई हवा। नीचे से घर्र-घर्र करके जाती हुई बसें, जिनकी आवाज हवा को और बोझिल बना रही थी। मेज पर खुले पड़े हुए चिट्ठी के पन्ने-खामोश, मगर रह-रहकर मन को कुरेदते हुए। उस बोझिल हवा में रहते हुए उन पत्रों का कोई भी निश्चित उत्तर सोचा या दिया जा सकता था?

मैं खिड़की के पास कुर्सी पर बैठा था। वह बिस्तर पर औंधा लेटकर बाहर विजली के तारों से लिपटी हुई अँधेरे की परतों को देख रहा था—जैसे आकाश की गहराई में झाँकता हुआ वहाँ से अपनी समस्या का हल ढूँढ़ लाना चाहता हो। परन्तु इस समस्या का हल उसे उस गहराई में भी नहीं मिल रहा था। दिमाग जिस प्रश्न-चिह्न से सोचना आरम्भ करता, अन्त में उसी प्रश्न-चिह्न पर आकर रुक जाता था।

आखिर यह तय हुआ कि मैं मन्नू से बात करूँगा। वह दिल्ली होकर इन्दौर जाने वाली थी। राजेन्द्र ने यह जिम्मेदारी मेरे ऊपर डाल दी थी कि मैं जैसे भी हो, मन्नू को समझा दूँ। जब आदमी के पास शाम को कॉफी पीने तक के लिए पैसे न रहते हों तो वह घर-गृहस्थी की चिन्ता कैसे ओढ़ ले?

मन्नू आई, तो मैं कई घंटे बात करता रहा। मगर नतीजा बिल्कुल उलटा हुआ। बजाय इसके कि मैं मन्नू को कनविन्स करता, मन्नू ने मुझे कनविन्स कर दिया। आदमी की बड़ी-से-बड़ी दलील के जवाब में जो सरलता से हँस दे, उसे आदमी कनविन्स खाक करे?

राजेन्द्र शाम को मिला, तो दूर से ही मेरा चेहरा देखकर बोला, "हो आया कनविन्स। मैं तो पहले ही जानता था।"

मैंने जब राजेन्द्र को कनविन्स करने की कोशिश की, तो वह एकदम भड़क उठा। बात सुनते हुए, इस तरह जूते के तस्मे बाँधने लगा, जैसे हमेशा-हमेशा के लिए किस लम्बे सफर पर जा रहा हो। बोला, "मुझे पता था तू मुझे फँसाकर रहेगा। मैं बैठकर बच्चे पालूँ और तू आराम से कहानियाँ और उपन्यास लिखा करे। मगर मेरे जीते-जी यह नहीं होने का..."

"मगर देख राजेन्द्र", मैंने कहा, "जहाँ तक मन्नू का सवाल है..."

"उसे जो कुछ कहना होगा, अब मैं खुद ही कह लूँगा। मुझे पहले ही सोचना

चाहिए था कि किस चुगद को यह काम सौंप रहा हूँ। बड़ा तीसमारखाँ बनता है।"

उसने मन्नू से क्या कहा, मैं नहीं जानता। मगर जब मन्नू दिल्ली से इन्दौर के लिए चली, तो बेहद उदास और परेशान थी। इस आदमी ने पूछने पर इतना ही कहा, "मैंने सब बात साफ-साफ कह दी है। इस तरह की जिन्दगी में शादी करने से अच्छा है आदमी गधे की खाल ओढ़ ले और हरी घास चरा करे।"

मगर कुछ ही दिनों बाद यह चार दिन के लिए कलकत्ता गया, तो वहाँ से इसका पत्र मिला—पत्र नहीं, निमन्त्रण पत्र। उस दिन मैं अकेले में ठहाका लगाकर हँसा। मन्नू ने किस तरह इसे हरी घास चरने से बचा लिया, यह मैं आज तक नहीं जान सका।

हर बात में निश्चय और अनिश्चय के बीच की स्थिति में रहने वाला यह आदमी बारहा अपनी इस लाचारी पर झुँझलाया है। क्यों यह आम लोगों की तरह से सुलझे हुए ढंग से नहीं सोच सकता? क्यों उसे निश्चय के दोनों छोर गलत और सही नजर आते हैं? क्यों उसका मन अनिश्चय और अस्थिरता और अस्थिरता में ही स्थिर निश्चय हो रहना चाहता है? अन्दर जितनी यह झुँझलाहट बढ़ती है, बाहर यह आदमी उतने ही दृढ़ और निश्चित ढंग से बात करने की चेष्टा करता है। जिस बात से अपने को कनविन्स नहीं कर पाता, उसे जोरदार तर्कों से दूसरों को मनवा लेना चाहता है। कई बार अपने कहे हुए शब्दों में इस बुरी तरह चिपक जाता है कि दूसरा हजार सिर पटक ले, फिर भी यह कम-से-कम उस वक्त उस बात से टस-से-मस नहीं होता।

मगर यह जिद ही शायद अन्दर-अन्दर उसे और सोचने के लिए मजबूर करती है और अनेकानेक मानसिक द्वन्द्वों में से गुजरता हुआ यह आदमी उन द्वन्द्वों को कागज पर उतारकर उनसे निस्तार पाता है। शायद यही कारण है कि उनकी रचनाओं के प्रायः चरित्र—मुख्य चरित्र विशेष रूप से—निरन्तर मानसिक संघर्ष में से गुजरते रहते हैं—अपने में अधूरेपन का एहसास लिए हुए और निश्चितता और सम्पूणता की खोज में व्याकुल। वे सब बहुत सेल्फ-कॉन्शस भी शायद होते हैं—अपनी सेल्फ की प्रताड़ना के कारण ही वे स्थिरता और सम्पूर्णता की दिशा में हाथ बढ़ाए हुए उस ओर प्रगति करना चाहते हैं।

अपने लेखन में यह आदमी निरन्तर जूझता और प्रयोग करता चल रहा है। लिखने के सिवा और किसी रूप में यह जिन्दगी की बात सोचता ही नहीं। बातों से लगता है, जैसे अपनी लिखी हुई हर चीज से सन्तुष्ट हो—मगर वह सिर्फ एक जिद है, जिससे वह अपने अन्दर के संशय को ढँककर रखना चाहता है। हमेशा नए-नए प्रयोग करने की उसकी कामना ही इस बात की गवाह है कि वह जो लिख लेता है उससे सन्तुष्ट कभी नहीं होता। हर प्रयोग को एक सीमा-रेखा तक ले जाकर वह वहाँ से दूसरी दिशा की तरफ मुड़ जाता है। परन्तु मन में अपने प्रयोगों के प्रति जितना ज्यादा संशय जागता है, उतना ही वह उन्हें जस्टीफाई करने की कोशिश करता है।

वह एक बना हुआ लेखक नहीं, बनता हुआ लेखक है और यही उसकी सफलता का रहस्य भी है। बना हुआ लेखक अपने संस्कार के एक पिच से लिखना आरम्भ करता है और जीवन-भर या वहीं बना रहता है, या निरन्तर उस पिच से नीचे उतरता

आता है। अपने कृतित्व को लेकर उसके मन में शंका नहीं होती, इसलिए उसकी हर नई रचना का नया प्रयोग न होकर पहली रचना की ही कॉण्टीन्यूटी होती है। ऐसा लेखक जब किसी अजनबी क्षेत्र में जाकर प्रयोग करता है, तो केवल अपने को एक्सपोज करके रह जाता है। बहुत-से लोग हैं, जो पहली पुस्तक या पहली कहानी के साथ जिन्दगी भर वही पुस्तक और वही कहानी लिखते रहते हैं—उसी एक ही सधे-सधाये ढंग से बीस-बीस साल के लड़के-लड़कियों की भावुकता को स्तर-स्तर पर छूते रहते हैं। उनके प्रयोगों में उत्तरोत्तर प्रगति नहीं होती, क्योंकि अधूरेपन का एहसास कभी नहीं सताता। मगर मेरा यह दोस्त क्योंकि एहसास का भी मारा हुआ है, इसलिए उसका लेखन निरन्तर परिमार्जित हुआ है और होता जा रहा है और उन कइयों में यह खाकसार भी है।

मगर यह आदमी निहायत अनप्रिडिक्टेबल है। कब क्या कहेगा, क्या कर बैठेगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। घर की सुख-सुविधा है, तो आपको लिखने के लिए अज्ञातवास चाहिए—और अज्ञातवास में आपको कनॉट प्लेस, चौरंगी सब-कुछ पास ही हाजिर चाहिए। इन बातों को लेकर आपसे कुछ कहा जाए, इसके लिए जरूरी है कि आदमी के पुट्ठे काफी मजबूत हों। जब बातों से बस नहीं चलेगा, तो आप कमर में एक घूँसा जमा देंगे। आप उसे झेल जाएँ, तो गरदन पर सवार हो लेंगे। आप तब इन्हें नीचे पटक दें, तो हाथ-पर-हाथ मारकर हँसेंगे और पाजामे से धूल झाड़ते हुए उठकर कहेंगे, "मार दिया। मार दिया साले को। साहित्य में भी तेरी यही गत बनाने वाला हूँ।"

साहित्यिक जीवन में दोस्ती दो-चार साल से ज्यादा नहीं चलती। इस बीच एक-दूसरे के 'घटियापन' के काफी सबूत जमा हो जाते हैं। जो दोस्ती इससे ज्यादा चलती है, उसके पीछे अकसर किसी-न-किसी स्ट्रेटेजी का हाथ रहता है। स्ट्रेटेजी फेल हुई कि दोस्ती से हाथ झाड़ लिए गए। दूसरों को आश्चर्य होता है (और आश्चर्य भी कहाँ होता है?) कि जिसे इतने दिन दोस्ती कहा जाता रहा, वह सिर्फ एक कोशिश, एक जरूरत थी या कोशिश और जरूरत से ज्यादा सिर्फ एक बेचारगी। मगर इस अर्थ में हम लोगों में दोस्ती हुई ही नहीं। कुछ अजब तरह की है यह दोस्ती, जो लड़ते-झगड़ते हुई थी, उसी तरह चल रही है और चलती रहेगी। लड़ाई की एक वजह तो यही है कि इस आदमी को कतई पसन्द नहीं कि इसके नाम के साथ कोई पंक्चुएशन मार्क लगाया जाए, और मैं बिना विस्मयबोधक चिह्न के इसके बारे में सोच ही नहीं सकता।

(साभार : नई कहानियाँ, मार्च 1963)

डार्करूम में बन्द आदमी : राजेन्द्र यादव

मन्नू भण्डारी

पत्नी होने के नाते अच्छाइयों और बुराइयों, दुर्बलता और दृढ़ता, गुणों और दुर्गुणों के ताने-बाने से बुने हुए इस व्यक्ति के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए, मुझे बड़े सधाव और सन्तुलन की आवश्यकता महसूस हो रही है। स्वर जरा भी प्रशंसात्मक हुआ, तो तुरन्त ही उसे यह कहकर अमान्य घोषित कर दिया जाएगा कि एक-दूसरे पर अक्षत-चन्दन चढ़ाना तो इनका धन्धा है! निन्दा का पुट जरा गहरा हो गया, तो—हूँ, यह तो प्रशंसा करने का आधुनिकतम तरीका है! फिर इन्हें देखने के लिए एक चश्मा तो चढ़ा ही हुआ है। यों इतना आश्वासन दे दूँ कि, उसके कांच अब काफी धुंधले हो गए हैं—क्योंकि अब मुझमें भी वह लेखकीय तटस्थता कहीं से आ गई है, जिसके कारण बाप की मौत पर भी, बड़े निर्लिप्त और कुछ हद तक निर्मम भाव से बैठकर कहानी लिख लेना मेरे लिए सहज हो गया है।

बालीगंज-शिक्षा-सदन में मुझे लाइब्रेरी के लिए पुस्तकों की सूची तैयार करनी थी। चयन के सिलसिले में इनसे मेरा पहला परिचय हुआ। यों अप्रत्यक्ष परिचय पहले से भी था। आज भी अच्छी तरह याद है कि उस दिन काम की बात करने की जगह, हम बड़ी देर तक अपनी लिखी हुई चीजों की बातें करते रहे थे। तीसरी मुलाकात में ही यह परिचय घनिष्ठता का रूप लेने लगा था उस समय तक राजेन्द्र का 'उखड़े हुए लोग' काफी प्रशंसा पा चुका था, और इस प्रशंसा और यश ने इन्हें बड़े सुख-सन्तोष और बहुत कुछ नया लिख डालने के लिए उत्साह से भर रखा था। उस दिन की अपेक्षा आज इन्होंने बहुत कुछ लिख लिया है, नाम और यश भी बहुत ज्यादा मिल चुका है—पर लगता है, मन का संतोष और उत्साह जैसे कहीं खो गए हैं। एक विचित्र-सी बेचैनी, एक अजीब-सी छटपटाहट मन पर छाई रहती है। राजेन्द्र को हमेशा लगता है—अब तक जो कुछ लिखा, वह सब व्यर्थ है, मात्र भूमिका है, आरम्भिक प्रयोग है; असली तो अब लिखना है। कुछ ऐसा अनोखा-अनमोल कि जो इनके सारे जीवन और लेखकीय व्यक्तित्व को सार्थकता दे दे—इनके उस बोझ को हल्का कर दे, जिसे लिए-लिए फिरना अब इनके लिए असह्य हो गया है। पर वह अनोखा-अनमोल, मन की किन अतल गहराइयों में छिपा है—वह क्या है और किस रूप में है; वह वास्तव में कुछ है भी या नहीं, मात्र मरीचिका ही है, जो इन्हें बेचैन बनाकर भटका रही है—इसे

ये स्वयं नहीं जानते। यह समय तो प्रतीक्षा का है—उस दिन की प्रतीक्षा का, जिस दिन मन पर रखा यह बोझ, नस-नस में दौड़ती यह बेचैनी और छटपटाहट शब्दों के माध्यम से उतरकर किसी अमर-कृति का सृजन कर देगी। लक्षण कहीं बड़ा शुभ भी है—पर प्रतीक्षा का यह समय पाँच-सात साल और खिंच गया, तो मुझे लगता है, यह बोझ इन्हें खा जाएगा। यों अभी तक भी राजेन्द्र ने जो कुछ लिख लिया है जितनी प्रतिष्ठा और ख्याति पा ली है, वह अनेक के लिए स्पर्द्धा और ईर्ष्या का विषय है। और इसे देखकर कभी-कभी मुझे लगता है, कि राजेन्द्र के जीवन में कभी किसी ऐसी कृति का सृजन नहीं होगा, जो इन्हें सन्तुष्टि और सार्थकता का बोध करा दे; क्योंकि शायद जीवन के कुछ स्तरों पर, असन्तोष इनकी स्वभावगत विशेषता है। जो कुछ कर लिया, जो कुछ पा लिया—उसके प्रति असन्तुष्ट रहने से, भविष्य में बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ निहित रहने का सन्तोष तो बना ही रहता है।

अपने लिखने के प्रति ये जितने निष्ठावान हैं, दूसरों को लेखक बना देने की दिशा में भी उतने ही उत्साही। यदि किसी में जरा-सी भी प्रतिभा इन्हें दिखाई दे जाए, तो उसे हर प्रकार से मदद करना, प्रेरित करना, उसके साथ घण्टों बर्बाद करना इन्हें नहीं अखरता। कलकत्ते में जब नया-नया घर बसाया था, संयोग से नौकर भी कहानीकार ही मिला था। जिस दिन इस रहस्य का उद्घाटन हुआ, उसके दूसरे दिन ही इन्होंने उसकी सारी कहानियाँ सुनीं, फिर दो घंटे बैठकर, बड़ी गम्भीरता से उसे कहानी की टेक्नीक पर भाषण देते रहे (उसके बाद हालत यह थी कि घर का काम कोई नहीं करता था; बस, हम तीनों बैठकर कहानियाँ लिखते थे।) कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है, कैसे ये घंटों ऐसे लोगों के साथ, बिना बोर हुए बैठ लेते हैं—जिनके साथ मुझे तो आधा घंटा बिताना भी भारी पड़ जाता है। फिर यह कोई एक दिन की बात नहीं—महीने में पन्द्रह दिन यह क्रम चलता है। मैं भीतर बैठी-बैठी भन्नाती रहती हूँ, और ये बड़े धैर्य और इत्मीनान के साथ बोर होते रहते हैं। कभी-कभी लगता है, शायद ऐसे लोगों के बीच बैठकर इनके उस अहंभाव की तुष्टि मिलती है, जो लेखकों के जीवन का अनिवार्य अंग है। कलकत्ता छोड़ने की इनकी व्याकुलता के पीछे भी मुझे कहीं यही कारण नजर आता है। इस बात को ये भी खूब अच्छी तरह जानते हैं, कि कलकत्ते के मित्रों से जो निष्कपट आत्मीयता और निश्छल स्नेह इन्हें मिला, वह दुनिया के और किसी कोने में मिलना सम्भव नहीं, पर उस सारी आत्मीयता और स्नेह, सद्भावना में बड़प्पन की वह स्वीकृति नहीं थी, जो इनके 'अहम्' को तुष्ट करे। सुशीला और भाभी जी ने कारण-अकारण, जब भी मौका मिला, उठ कर झाड़ दिया; क्योंकि उनका विश्वास है कि सप्ताह में कम-से-कम एक बार जनरल झाड़ पड़ जाए तो आदमी रास्ते पर रहता है। किरण जी और प्रतिभा बहनजी बड़े प्रेम से मनुहार कर-करके खिला रही हैं, पर साथ ही बड़े अभिभावकत्व ढंग से उपदेश भी चालू हैं। कहीं यह शिकायत भी इनके मन में अवश्य है, कि मन्नू भी इन्हें अपेक्षित इज्जत या मान नहीं देती। हमपेशा होने के नाते, कम-से-कम मुझे तो इनकी महानता को समझना ही चाहिए। पर यह दोष मेरा नहीं। इनके व्यवहार में जाने ऐसा क्या है, कि निकट रहने

वाले इन्हें कभी महान मान ही नहीं पाते। बाई (राजेन्द्र की माँ) के मुँह से अकसर ही मैंने यह सुना था—कैसे लोग अखबारों में तेरा नाम छाप देते हैं, तुझे सभापति बना देते हैं! अब यहाँ सड़क की सीढ़ियों पर ही बैठा है...!' कोई आश्चर्य नहीं कि दो साल बाद इनकी अपनी बिटिया भी यह कहती नजर आए—'पापा, कैसे लिख लेते हैं आप, आपको कुछ भी तो नहीं आता!' बचपने की सीमा को छूता हुआ सरल-अल्हड़ व्यवहार और हमेशा छाई रहने वाली मस्ती ही शायद इसका कारण हो।

पिछले साल गर्मियों में, हम लोग और अश्कजी कसौली में साथ ही थे। एक दिन कुछ व्यक्तिगत बातों के दौरान, उन्होंने मुझे बड़े ही आत्मीय ढंग से समझाया—"मन्नू, तुम्हें कोई ऐसी बात नहीं करनी चाहिए, जिससे राजेन्द्र के अहम् को ठेस पहुँचे। तुम तो जानती हो, इस वर्ग के लोग बड़े सेन्सेटिव होते हैं।" कुछ भी न समझ पा सकने का भाव जब मेरे चेहरे पर आया, तो उन्होंने बात स्पष्ट की—"मिसाल के तौर पर, तुमने 'एक इंच मुस्कान' के वक्तव्य में, अपने उपन्यास का प्लॉट ले लेने के लिए— मजाक-मजाक में राजेन्द्र को जिस तरह नीचे गिराया है, वह...वह...कहूँगा—इट हैज बीन रिटन इन बैड टेस्ट! पता नहीं, राजेन्द्र ने कैसे बरदाश्त कर लिया! कम-से-कम मैं और राकेश तो कभी बरदाश्त नहीं कर सकते!!" मुझे आश्चर्य हुआ। लेख छपे साल-भर हो चुका था, और बरदाश्त न होना तो बहुत बड़ी बात है, उस सबका तनिक-सा बुरा भी इन्होंने नहीं माना था—बल्कि उसका उतना ही मजा लिया था, जितना कि औरों ने इसका यह मतलब नहीं कि ये अहंवादी या सेन्सेटिव नहीं हैं। हैं, बहुत ज्यादा हैं; पर वे स्तर, वे बातें दूसरी ही हैं, जहाँ इनका अहम् आहत होता है। जो बात किसी भी रूप में इन्हें थोड़ी-सी भी हीनता का बोध करवा दे, वह इनके बरदाश्त के बाहर होती है। लेखन के मामले में ये कुछ ज्यादा ही आश्वस्त हैं। अपनी सामर्थ्य पर इन्हें पूरा विश्वास है, और इसीलिए इस क्षेत्र में किसी भी मजाक या अपने लिखे हुए कटु-से-कटु आलोचना पर भी, ये अपने दूसरे मित्रों की तरह बौखलाए हुए नहीं फिरते।

कुछ आलोचकों और पाठकों की शिकायत है कि 'राजेन्द्र का शिल्प उनकी कहानियों पर हावी हो जाता है; कि ये नक्काशी करने के चक्कर में अपने कथ्य को कमजोर बना देते हैं; कि ये प्रतीकों...' और यह सच है, कि अपनी छोटी-से-छोटी बात को भी नए ढंग से कहना हो या आत्म-परिचय, उपन्यास के अध्याय के शीर्षक हों या पुस्तकों की भूमिका—सभी में आपको ये प्रयोग मिलेंगे (जो कहीं-कहीं तो मुझे बड़े बचकाने-से लगते हैं)। प्रयोगों के प्रति यह झुकाव अपने को सबसे विशिष्ट और भिन्न बनाए रखने की यह व्याकुलता, मन में भीतर तक पैठे हुए किसी हीन-भाव की प्रतिक्रिया है या उस विलक्षण प्रतिभा का आग्रह है, जो सामान्य और परम्परागत ढंग से अभिव्यक्ति पाकर सन्तुष्ट नहीं होती—इस बात का निर्णय मैं आज तक नहीं कर पाई। विलक्षण प्रतिभा इनमें है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ये किसी भी प्रकार के हीनभाव से ग्रस्त न हों। हाँ, इनके हीन-भाव ने इन्हें तोड़ा या कुण्ठित नहीं किया, बल्कि साधा और सँवारा है—वह इनकी सबसे बड़ी प्रेरक-शक्ति रहा है, इस बात को मैंने निकट से देखा और जाना है।

"साहब, ताले लगाने का राजेन्द्र को बड़ा शौक है–" कमलेश्वरजी ने अपने उसी नाटकीय अन्दाज में खिंचाई शुरू की–"एक बार आया तो देखा, दो ताले सूटकेस में, एक ताला एयर-बैग की जिप में, एक पोर्टफोलियो में, दो होल्डॉल में। यानी यों समझ लीजिए कि जहाँ छेद वहाँ ताला! सूटकेस खोला तो देखा, दो छोटे-छोटे फालतू ताले और पड़े हैं। मैंने सोचा–लाओ, एक ताला टूथ-ब्रश के पीछेवाले छेद में भी ठोक दूँ! सोचिए साहब..." सुनने वाले हँस रहे थे, और राजेन्द्र–"हट साले, वह तो बात ऐसी हुई थी..." कहकर सफाई देने की कोशिश कर रहे थे। पर इसमें सन्देह नहीं कि कमलेश्वरजी का अतिरंजित मजाक, कहीं राजेन्द्र के जीवन की हकीकत भी है। बक्सों और दराजों के ताले कभी खुले नहीं मिलेंगे। कमरों के तालों के बारे में कभी लापरवाही नहीं बरती जाएगी। मेरा सब कुछ यों ही खुला पड़ा रहता है–इसका इन्हें बड़ा कष्ट है। पहले काफी डाँटते थे (जिसका मुझ पर आज तक कोई असर नहीं हुआ)। अब मेरी मजबूरी समझकर, कुढ़कर रह जाते हैं। और लगता है, यही तालेबाजी जीवन से उतरकर इनके लेखन और उसकी सारी प्रक्रिया में भी आ गई है। कोई बात, आइडिया या कहानी का प्लॉट दिमाग में आया, कि उसे मन के किसी कोने में पटककर सात ताले जड़ दिए। किसी एकान्त क्षण में, कमरा बन्द करके अपनी मेज पर झुककर, शिल्प और प्रतीकों के ताले जड़-जड़कर उसे निकाला। (यह मत समझ लीजिए कि वह एक बार में ही निकल जाती है–कम-से-कम पन्द्रह-बीस दिनों का समय, ढेरों कॉफी के प्याले और अनेकानेक सिगरेटों का धुआँ उड़ाकर ही वे ताले खुलते हैं।) जैसे ही कोई कहानी कागज पर आई, कि दराज में दाखिल और ताला। आप लाख सिर पटक लीजिए, छपकर आने से पहले वह कहानी आप नहीं देख सकते। अपनी चीजों को खुली छोड़ देना, या अपने मन की बात को खोलकर साफ-साफ कह देना राजेन्द्र का स्वभाव नहीं। इनकी यह वृत्ति जहाँ इनके लेखन की सबसे बड़ी शक्ति है–कहानियों को इसने बड़ा निखार और शिल्पगत वैशिष्ट्य दिया है–वहीं इनके व्यक्तिगत जीवन में यह उस दुर्बलता की द्योतक है, जिससे अविश्वास जन्म लेता है।

इसी वृत्ति ने इनकी जिन्दगी का एक खास पैटर्न भी बना दिया है–दुहरी जिन्दगी–एक, जो आप सबके सामने है; और दूसरी, जो इस जिन्दगी के समानान्तर भीतर-ही-भीतर चलती है (तालों के भीतर), जिसे ये सबकी नजरों से बचा कर रखना चाहते हैं, पर शायद किसी की नजरों से बची नहीं है। विदेशी लेखकों की जीवनियाँ पढ़-पढ़कर यह धारणा इनके मन में बड़े गहरे तक बैठ गई है, कि दुहरी जिन्दगी महान लेखक बनने की अनिवार्य शर्त है। शुरू में मुझे लगता था, कि विदेशी लेखकों से एक प्रकार से ऑब्सेस्ड हैं। बोलेंगे या कुछ भी लिखेंगे, तो नामों की एक लम्बी सूची चली आ रही है। अश्कजी इस बात का काफी मजाक उड़ाते थे और मैं काफी परेशान रहती थी, इस बात से कि हमारी जिन्दगी की कोई समस्या है, और उदाहरण दूसरों के दिए जा रहे हैं। लेकिन इधर राजेन्द्र इस बात को लेकर काफी कॉशस हो गए हैं, सो विदेशी नाम न ज्यादा सुनाई देते हैं न दिखाई। यों हर मामले में निहायत

अन-कन्वेन्शनल, प्रेम-विवाह-पविार-सेक्स सबके मामले में अत्याधुनिकता के पोषक, हर प्रकार की अनैतिकता के समर्थक...पर अपने हर अन-कन्वेन्शनल और अनैतिक काम को झूठ और रहस्य का जामा पहनाने को मजबूर। हाँ, अपनी हर गैर-जिम्मेदार हरकत को जस्टीफाई करने के लिए दुनिया-भर के फलसफे गढ़ते हैं, महान कलाकारों के उदाहरण देते हैं, पर आज तक अपने इस अनगढ़ जीवन-दर्शन का एक भी समर्थक नहीं जुटा पाए।

लिखने को लेकर ये जितनी छूटें-सुविधाएँ चाहते हैं, जितना 'फ़स' करते हैं, उसे देखते हुए यह एक बात मुझे हमेशा चकित करती है—जो व्यक्ति अपने लेखन में ही इस तरह डूबा रहता है, वह कैसे अपनी लिखी हुई और लिखी जाने वाली चीजों के बारे में इतना चुप रह पाता है? उस सबके अनुपात में तो इनके बोलने, सोचने, लिखने सभी का विषय 'अपना साहित्य' ही होना चाहिए था। लेकिन जो कुछ लिखा जा चुका है, उसे लेकर बातें करते हुए मैंने इन्हें शायद ही कभी सुना हो। कभी कोई विशेष रचना का हवाला देकर सवाल कर भी दे, तो उसका उत्तर कुछ ऐसे भाव और संक्षिप्त रूप में दे देंगे, मानो उससे न इन्हें विशेष लगाव है, न उसमें विशेष रुचि। अक्सर ही साहित्यकार अपनी लिखी हुई चीजों को बड़ा रस ले-लेकर, परम तृप्ति और 'नारसीसस-भाव' से उन्हें पूरा-का-पूरा दोहराते रहते हैं; लेकिन इस विषय में इनकी निःस्पृहता सचमुच ही बेहद अविश्वसनीय है।

और सबसे आश्चर्य की बात यह है, कि सिद्धान्ततः ये अपनी लिखी जाने वाली रचनाओं के विषय में एक शब्द तक नहीं बोलते। अक्सर ही कहते हैं कि अनलिखा भाव या अनुभूति एक ऐसी फ़िल्म है, जो केवल एक ही बार एक्सपोज होती है। मुझे यह तर्क इसलिए बड़ा अजब लगता है कि मैं हर रचना को खूब वाद-विवाद करके, सुना-सुनाकर, अनेक बार जबानी लिख चुकने के बाद ही कागज पर उतारती हूँ। इस स्वभावगत अन्तर्विरोध के कारण मुझे उनकी यह वृत्ति इनका घुन्नापन लगती थी; पर धीरे-धीरे यह समझ में आ गया है कि इनका मन लेखन का ऐसा गोदामघर है, जिसकी चाबी केवल और केवल इनके ही पास रहती है। सबकी निगाहों से बचकर ये उसमें घूमते हैं, घण्टों उसमें रहते हैं, और किसी एक चीज की तलाश में अनेक चीजों को उलट-पलट करते हैं—और जब धूल-जालों से लदे, वांछित चीज लेकर बाहर निकलते हैं, तो गोदाम का ताला लगाना नहीं भूलते।

पत्र लिखना और पत्रों की प्रतीक्षा करना इनकी प्रमुख हॉबी है। इतने पत्र लिख लेना, मेरे लिए तो सचमुच ही आश्चर्य का विषय है। टेलीफोन पर लम्बी-लम्बी बातें करना, घर में कोई भी आ जाए—बड़े ही खुले दिल से उसका स्वागत करना, मनुहार करके उछल-उछलकर उसे खिलाना और खुलकर हँसना, मिले तो सारे दिन कॉफी पीना, सिगरेट फूँकना, रात में देर-देर तक घूमना—ये सारी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके बिना राजेन्द्र की कल्पना अधूरी रह जाती है। यों अच्छे-अच्छे कपड़ों और सेण्ट-वेण्ट का भी शौक है, पर फटे और मुसे हुए कपड़े पहन कर निकल जाने में भी कोई संकोच नहीं। बढ़िया-से-बढ़िया रेस्तरां में और फुटपाथ पर बने किसी गन्दे से ढाबे में ये समान भाव

से भोजन कर लेते हैं। जो कुछ भी सामने आ जाए, छककर खा लेना; किसी भी स्थिति में, कैसे ही मानसिक कष्ट में रहकर भी, लेटते ही पाँच मिनिट में खुर्र-खुर्र करके खर्राटे खींचने लगना—मेरे लिए सचमुच ही ईर्ष्या के विषय हैं।

चन्द दिन आप इनके साथ रहिए, तो इनके तीन रूप आपके सामने आ जाएँगे। कोई चीज दिमाग में आती है, और वह कागज पर उतरती है, उसके बीच का रूप ...अनमनापन, मौन, बेचैनी, कॉफी, सिगरेट, बात-बात पर झल्लाहट...दूसरे शब्दों में कहूँ तो पूरी क़वायद। सुबह से कमरा बन्द है, मूड बन रहा है...मैं नौकर को आदेश देकर जाती हूँ—टिंकू को उधर मत जाने देना, जब भी कॉफी माँगें, दे देना... एक बजे लौटकर देखती हूँ—खाली कॉपी मेज पर खुली रखी है, और ये सोफ़े पर औंधा मुँह किए सो रहे हैं। इनकी यह बेचैनी, यह रूप देखकर सचमुच मुझे बड़ा तरस आता है। इनकी यह पीड़ा, प्रसव-पीड़ा से किसी प्रकार कम नहीं।। लेकिन जब ये अपने भक्तों-शिष्यों के बीच बैठे होते हैं, और सायास गम्भीरता ओढ़े, कुछ-कुछ गुरुआना लहजे में उपदेश देते रहते हैं, तो मुझे बड़ी जोर से हँसी आती है और इच्छा होती है कि मुक्का मारकर गम्भीरता का यह मुखौटा तोड़ दूँ और कहूँ—बस-बस, बहुत भाषण प्रवचन हो चुका, अब वापस असली राजेन्द्र यादव बन जाओ! तीसरा वह रूप, जिसमें बड़े भोले और मायूस बनकर बचकाना हरकतें करते हुए, अपने अभिभावकों के बीच बैठकर (कलकत्ते में जिनकी संख्या काफी थी) उनका निष्कपट और स्नेह और खरे-खरे उपदेश समान रूप से ग्रहण करते रहते हैं। अपने इसी रूप के बल पर इन्होंने बहुत-सी रिआयतें और छूटें ले रखी हैं।

लिखना इनके जीवन का मार्ग भी है और मंजिल भी। इसके लिए इन्होंने जीवन में बड़े-बड़े सुख और आकर्षण छोड़े हैं, और भविष्य में भी अवसर आने पर निःसंकोच भाव से छोड़ेंगे। 'डेडिकेटेड सोल' कहकर मैं चाहे इनका कितना ही मजाक उड़ाऊँ, पर यह सच ही है कि जीवन में इन्हें सबसे ज्यादा प्यार अपनी रचनाओं से ही है। आजकल बिटिया बहुत प्रिय हो उठी है, पर संयोग से उसका नाम भी रचना ही है। खूब घूमना, भटकना और अनुभव इकट्ठे करके उन्हें विचारों की भट्टी में पकाकर, कल्पना का पलस्तर चढ़ाकर किसी कृति के रूप में प्रस्तुत करने का सुख ही, इनके लिए जीवन का सबसे बड़ा सुख है...पर उस क्षण तक पहुँचने के लिए कठिनाइयों और अभावों का बीहड़ मार्ग भी पार करना होता है। ये कोई नौकरी या व्यापार नहीं करते। लेखन ही इनकी जीविका है। फिर ये इसके व्यावसायिक पक्ष की सारी तिकड़मबाजियों से मुक्त हैं। सरकारी इनाम पाने या अपनी किताबों को कोर्स में लगवा देने वाले हथकंडों से ये परिचित न हों—ऐसी बात नहीं; पर उन्हें आजमाने का प्रयत्न इन्होंने कभी नहीं किया, बल्कि यह सब इन्हें अपने आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं लगता। अपनी रचनाओं के प्रकाशन के मामले में इनके कुछ सिद्धान्त हैं, जिनके सामने ये टूट भले ही जाएँ, झुक नहीं सकते। और यही चीज है, जिसकी मैं सबसे ज्यादा कद्र करती हूँ हालाँकि इसका परिणाम किसी-न-किसी रूप में हम सभी को भोगना पड़ता है।

जीवन में मैंने इस हद तक निर्णय-दुर्बल व्यक्ति देखा। जिन्दगी के अहम मसलों पर तो ये क्या निर्णय लेंगे, छोटी-से-छोटी बात पर भी निर्णय ले सकना इनके बस का नहीं। शादी के बाद ये दिल्ली में थे, और दोस्तों ने भर दिया कि रहने लायक एकमात्र शहर दिल्ली ही है, सो ये दिल्ली के झण्डे फहराते हुए कलकत्ता आए। वहाँ सबने कलकत्ते के गुण गाए, तो वहीं टिक गए। ठाकुर साहब ने चुटकी ली—"वाह रे यार! गंगा गए तो गंगादास और जमुना गए तो जमुनादास"—और इसी दुर्बलता ने इनमें कहीं बड़ी भारी एडजस्टेबिलिटी पैदा कर दी है। जो भी निर्णय लेकर किसी ने पकड़ा दिया, बड़े ही प्रसन्न और सहज भाव से उसी पर चल पड़े।

विवाह और एक बच्ची ने गृहस्थी नामक जंजाल इस व्यक्ति के साथ जोड़ ही दिया, पर गृहस्थ के रूप में—इनसे बदतर गृहस्थ की आप कल्पना नहीं कर सकते। पति-रूप की बात मैं बाद में करूँगी—हाँ, इतना कह दूँ कि पिता और मित्र के रूप में ये सचमुच अच्छे हैं। मैंने अक्सर देखा है कि साहित्यकारों की मैत्री, मैत्री कम और मोर्चाबन्दी ज्यादा होती है। यदि किसी ने आपके नाम के नारे बुलन्द किए, तो उसके लिए प्रेम उमड़ा चला जा रहा है; पर यदि उसी ने किसी रचना की आलोचना कर दी, तो उधर उनकी महानता गायब और इधर मन का प्रेम काफ़ूर! पर राजेन्द्र की मैत्री इनकी रचनाओं की निंदा-प्रशंसा पर आधारित नहीं है—इस बात का समर्थन इनके निंदक भी करेंगे।

इनके व्यवहार और व्यक्तित्व में कुछ ऐसा अवश्य है जो मन को बाँधता है, और शायद यही कारण है कि ठाकुर साहब ने अनेक बार कहा है—"मन्नू बाई साहब, सच मानिए, अपना तो राजेन्द्र से मन ही फट गया!" पर हकीकत यह है कि उस फटे मन से भी लाड़ झरता ही रहता है। सुशीला फटकारती हुई कहेगी—"यादवजी, याद रखना, आपकी यह खबर लूँगी कि बस! लेखक होंगे अपने घर के होंगे, मैं किसी को नहीं बख्शती!" पर दूसरे ही क्षण ही...ही...करती, इनके साथ मजाक करती नजर आएँगी। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, सच पूछें तो मैं स्वयं भी आज तक यह नहीं समझ पाई, कि इस व्यक्ति को पति-रूप में पाना मेरे जीवन में सबसे बड़ा सौभाग्य है अथवा सबसे बड़ा दुर्भाग्य। कभी लगता है, मेरी छिपी हुई प्रतिभा को कितने यत्न से इन्होंने तराशा है। प्रशंसा और प्रेरणा दे-देकर, कुछ कर-डालने के लिए कितना उत्साहित किया है और इतनी ही तीव्रता के साथ इस बात का बोध भी होता है कि इस व्यक्ति ने मेरी सारी प्रतिभा का हनन कर डाला। जहाँ एक ओर लगता है कि जीवन के बहुत से सुखों से मुझे वंचित कर दिया है; वहीं लगता है कि कुछ ऐसा सुख भी दिया है, जिसकी कल्पना किसी अन्य व्यक्ति के साथ मैं कर ही नहीं सकती थी। और इन एकदम विपरीत और विरोधी भावनाओं से ग्रस्त, मैं इनसे बहुत कुपित और रुष्ट भी हूँ, धृष्टता क्षमा हो तो कहूँगी—घृणा भी करती हूँ; पर मन में भीतर-ही-भीतर कहीं बहुत-बहुत प्यार भी करती हूँ।

(साभार 'औरों के बहाने' अक्तूबर, 64 से)

नई कहानी : सफलता और सार्थकता

नामवर सिंह

'छोटे मुँह बड़ी बात' कहनेवाली कहानी के बारे में प्रायः 'बड़े मुँह छोटी बात' कही जाती है। कहानी का यह दुर्भाग्य है कि वह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है और शिल्प के रूप में आलोचित होती है। मनोरंजन उसकी सफलता है तो शिल्प सार्थकता! कहानी में अनेक आलोचकों की दिलचस्पी इतनी ही है कि वह साहित्य का एक 'रूप' है। इसलिए कहानी की ओर ध्यान जाता है या तो इतिहास (जिसमें साहित्य के वार्षिक और दशाब्दिक विवरण भी सम्मिलित हैं) लिखते समय या फिर साहित्य-रूपों का शास्त्रीय विवेचन करते समय। जहाँ साहित्य के मान और मूल्यों की चर्चा होती है, वहाँ कहानियों के हवाले नहीं मिलते। हवाले मिलते हैं प्रायः कविताओं के और कभी-कभी उपन्यासों के। यदि शास्त्रीय आलोचक कहानी को केवल साहित्य-रूप समझते हैं तो मूल्यवादी आलोचक उसे जीवन की सार्थक अनुभूतियों के लिए असमर्थ मानते हैं। सम्भवतः जीवन के लघु प्रसंगों को लेकर लिखी जाने वाली कहानी स्वयं भी 'लघु' समझी जाती है। इसलिए 'व्यापक जीवन' पर दृष्टि रखने वाले स्वभावतः कहानी जैसी छोटी चीज को नजर-अन्दाज कर जाते हैं। आलोचकों की कुछ ऐसी धारणा है कि केवल कहानियाँ लिखकर कोई लेखक महान् नहीं हो सकता। बहुत-से लोगों के यह कहने पर भी कि प्रेमचन्द उपन्यासकार से अधिक सफल कहानीकार हैं, डॉ. रामविलास शर्मा जैसे आलोचक ने जोर देकर कहानियों की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों को ही उनकी महानता का आधार माना है। कहानी की लघुता के सम्बन्ध में यह धारणा मोपासां, चेखोव, ओ'हेनरी तथा रवींद्रनाथ, प्रेमचंद, यशपाल, कृश्नचंदर जैसे कहानीकारों के रहते हुए भी बनी हुई है।

दूसरी ओर, जिन लोगों ने हर तरह की 'लघुता' को 'सार्थकता' प्रदान करने का झंडा उठाया है, उनके यहाँ भी छोटी कहानी की सार्थकता नहीं दिखाई पड़ती। मूल्यों की विस्तृत चर्चा करते समय जहाँ वे नितान्त वैयक्तिक और अनुभूति-क्षणों के लघु-लघु प्रयोगों का हवाला देते चलते हैं, वहाँ भूलकर भी किसी कहानी का जिक्र नहीं आता। यह विस्मरण क्या एकदम आकस्मिक है? यदि इन मूल्य-खोजी आलोचकों को अपने साथियों की कहानियों में मूल्यों के दर्शन नहीं होते तो क्या बाकी कहानी-साहित्य भी सूना है? या कि जीवन की वास्तविकता के चित्रण में

आज की कहानियाँ कविताओं से पीछे हैं?

नए कहानीकारों में से बहुतों ने आजकल कहना शुरू कर दिया है कि इस पीढ़ी के कहानीकारों में 'मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवनी शक्ति के परिप्रेक्षण एवं सामाजिक नवनिर्माण की उत्कट प्यास है।' इतना ही नहीं, बल्कि आज की कहानी 'नई भावभूमियों का सृजन' भी कर रही है। नए कवियों के दावे, इस तरह, नए कहानीकारों के कंठ से भी अनुगूंजित हो चले हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि कहानी की आलोचना को एक नए स्तर पर उठाया जाए। टेकनीक की शास्त्रीय चर्चाओं और कहानियों का सारांश बतलाते हुए उनकी सामान्य समस्याओं के परिचयात्मक विवरणों का काम बहुत हो चुका; ये बहुत दूर जाएँगे, और 'भविष्य सुरक्षित है' जैसी सद्भावनाओं से भी अब सद्विवेक की माँग की जा सकती है।

आज इतना ही कहना काफी नहीं है कि अमुक कहानी बहुत अच्छी है या अमुक कहानी सफल है, बल्कि इस 'अच्छेपन' को और 'सफलता' को अधिक ठोस और युक्तिसंगत रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, आज कहानी की 'सफलता' का अर्थ है, कहानी की सार्थकता! आज किसी कहानी का शिल्प की दृष्टि से सफल होना ही काफी नहीं है बल्कि वर्तमान वास्तविकता के सम्मुख उसकी सार्थकता भी परखी जानी चाहिए। जीवन के जिन मूल्यों की कसौटी पर हम कविता, उपन्यास आदि साहित्य-रूपों की परीक्षा करते हैं, उन्हीं पर कहानी की भी परीक्षा होनी चाहिए। इससे कहानी-समीक्षा का एक ढाँचा तो तैयार होगा ही; साथ-साथ मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी बढ़ेगा और सम्पूर्ण साहित्य के मानों की अपर्याप्तता भी क्रमशः कम होगी। आज साहित्य के क्षेत्र में अनेक एकांगी विचारधाराएँ केवल इसलिए फैली हुई हैं कि वे केवल एक साहित्य-रूप—कविता पर आधारित हैं। बहुत सम्भव है कि कहानियों का सत्य इनमें से कुछ को एकदम गलत ठहरा दे, कुछ की अनावश्यक नोंकें मार दे और कुछ में नए कौंछें निकाल दे।

यह धारणा गलत है कि साहित्य के तमाम रूपों में एक ही बात कही जाती है। रूप की विशेषता से वस्तु में भी विशेषता आ जाती है। एक ही साहित्यकार कविता में वास्तविकता का एक पहलू दिखाता है, तो उपन्यास में दूसरा और कहानी में तीसरा। उदाहरण के लिए, रवीन्द्रनाथ और प्रसाद का साहित्य प्रस्तुत है। इसी तरह एक ही युग की कविता, उपन्यास और कहानी में वास्तविकता के विभिन्न पहलुओं के दर्शन किए जा सकते हैं।

साहित्य के रूप केवल रूप नहीं हैं बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम हैं। एक माध्यम जब चुकता दिखाई पड़ता है, तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है। अपनी महान् जययात्रा में सत्य-सौन्दर्य-द्रष्टा मनुष्य ने इसी तरह समय-समय पर नए-नए कलारूपों की सृष्टि की ताकि वह नित्य विकासशील वास्तविकता को अधिक से अधिक समझ और समेट सके। हमारी इसी ऐतिहासिक आवश्यकता से एक समय कहानी भी उत्पन्न हुई और अपने रूप-सौन्दर्य के द्वारा इसने हमारे सत्य-सौन्दर्य-बोध को भी विकसित किया। कहानी की इसी ऐतिहासिक भूमिका की माँग है कि वर्तमान

परिस्थिति में उसकी सार्थकता की परीक्षा व्यापक सन्दर्भ में की जाए।

इस कार्य में पहली बाधा है कहानी-सम्बन्धी सामान्य धारणा। कहानी-शिल्प सम्बन्धी आलोचनाओं ने कहानी की जीवनी शक्ति का अपहरण कर उसे निर्जीव 'शिल्प' ही नहीं बनाया है बल्कि उस शिल्प को विभिन्न अवयवों में काटकर बाँट दिया है। लिहाजा, हम कहानी को 'कथानक', 'चरित्र', 'वातावरण', 'भावनात्मक-प्रभाव', 'विषवस्तु' आदि अलग-अलग 'अवयवों' के रूप में देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। कालेज-जीवन में 'डायग्राम' बनाकर कथानक के क्रमिक विकास की जो बात दिमाग में भर दी गई है, वह आगे चलकर भी साथ नहीं छोड़ती। 'प्रधानता' के आधार पर कहानियों के जो 'कथानक प्रधान', 'चरित्र प्रधान', 'भाव प्रधान' और 'वातावरण-प्रधान' आदि विविध प्रकारों के होने का अभ्यास कराया गया, उसने लत का रूप धारण कर लिया। लिहाजा, हम हर नई कहानी में चरित्र, वातावरण या कथानक देखने के आदी हो गए। किसी कहानी-संग्रह की आलोचना उठाकर देख लीजिए, सबमें इसी तरह की बातें मिलेंगी : ' 'इस कहानी' में अमुक का चरित्र बहुत उभर-कर आया है।' यह सारी आलोचना वैसी ही है, जैसे किसी का भाषा परिचय उसकी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि 'परिभाषाओं' में दिया जाए।

इस धारणा का यह असर पड़ा कि लोगों ने कहानी में जीवन-सत्य तथा भाव-बोध को देखना छोड़कर, उसे कहानी की पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में देखना शुरू कर दिया। 'प्रभावान्विति' और 'एकान्विति' की माला जपते हुए भी इस तरह के आलोचकों ने कहानी को अनुभूति की एक 'इकाई' के रूप में देखना छोड़ दिया। इस तरह उन्होंने कहानी के सत्य को ही नहीं, बल्कि कहानी के 'कहानीपन' की समझ भी खो दी।

इस गलत धारणा का असर स्वयं आलोचना पर जो कुछ पड़ा वह तो स्पष्ट ही है कि न तो वह पाठक के काम की रही और न कहानी-लेखक के काम की, परन्तु इसके अतिरिक्त इस विभक्तिवाद ने कहानी के शिल्प को बिगाड़ने में भी बहुत काम किया। मेरा अनुमान है कि वर्तमान कहानियों में जहाँ-कहीं शिल्पवादी प्रवृत्ति का अतिरेक दिखाई पड़ता है, उसका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में कहानी की विभक्त धारणा से अवश्य है। यदि कोई कहानीकार शिल्प के किसी विशेष अवयव की रचना करके सफलता का ढोल पीटता है तो यही समझना चाहिए कि वह कहानी को एक 'शिल्प' समझता है। श्रीपत राय का यह कथन इसी स्थिति की ओर संकेत करता है—"उनकी (आज के कहानीकारों की) कहानियाँ जैसे सफलता के पास पहुँचकर भी, या उसे मुट्ठी में पाकर उँगलियों के बीच से फिसल जाने देती हैं। किसी कहानी में वर्णन की खूबी है, किसी में कोई मनोवैज्ञानिक रहस्य इस सजीवता और स्वाभाविकता से उद्घाटित होता है कि चित्त प्रसन्न हो जाए पर ऐसा बहुत कम ही होता है कि किसी कहानी के सभी पक्ष निर्दोष हों।" ('कहानी' विशेषांक, '56)

कहानी की यह असफलता परिश्रम और अभ्यास की कमी के कारण भी हो सकती है, लेकिन अभ्यस्त लेखकों के यहाँ यदि कहानी की ऐसी रूपहानि दिखाई पड़े तो क्या कहा जाएगा? यही कहानी के क्षेत्र में नए शिल्पवादियों की पहचान हो सकती

है। 'नए भाव-सत्य के अनुसार नए कहानी-शिल्प' के नाम पर ये कहानी में कभी केवल वातावरण देते हैं, तो कभी केवल एक व्यक्ति का रेखाचित्र, तो कभी रोचक व्यंग्यों में फैलाकर आद्यन्त एक विचार। अज्ञेय की 'कलाकार की मुक्ति' और 'देवीसिंह' तथा अमृत राय का 'नंगा आदमी, नंगा जख्म' जैसी एक दर्जन कहानियाँ लिखने की प्रवृत्ति भी इसी धारणा का प्रभाव है। नए भाव-सत्य के अनुसार कहानी का रूप बदलता जरूर है लेकिन इतना नहीं बदलता कि वह कहानी ही न रह जाए। कहानी का रूप कहानी के भीतर ही बदला जा सकता है जैसा कि समय-समय पर महान् कहानीकारों ने किया है। कहानी का रूप प्रेमचन्द ने कब नहीं बदला? 'पूस की रात', 'कफन', 'ईदगाह', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सवा सेर गेहूँ'—इन कहानियों का रूप एक-सा नहीं है और न एकदम पुराना ही है, लेकिन फिर भी ये कहानी हैं। कहानी का रूप चेखोव ने भी बदला और एकबारगी उसने कथानक-सम्बन्धी पूर्ववर्ती धारणा को तोड़कर अलग कर दिया, लेकिन उसने कहानीपन का दामन एकबारगी नहीं छोड़ दिया। इससे स्पष्ट है कि कहानी-शिल्प के भी मालिक वही हैं जो उसके गुलाम हैं। क्या साहित्य, क्या जीवन, सभी क्षेत्रों में स्वाधीन होने की सामर्थ्य उन्हीं के लिए सम्भव है जिनमें अधीन रहने की योग्यता है।

कहानी में शिल्पगत नवीनता की सीमा को स्पष्ट करने के लिए साहित्य के एक-दूसरे रूप 'गीत' का उदाहरण लें। नए कवियों ने नए गीत लिखे हैं लेकिन उन्होंने गीतात्मकता का ढाँचा एकदम तोड़ नहीं दिया। गीतगोविंद, विनयपत्रिका, गीतिका और नए गीत-प्रयोगों की तुलना करके आसानी से देखा जा सकता है कि 'गीत' के ढांचे की रक्षा करते हुए भी समर्थ कवियों ने समय-समय पर किस प्रकार उसके रूप में नवीनता उत्पन्न की है। इस प्रकार कहानी के कहानीपन की रक्षा करते हुए भी कहानी के शिल्प में नवीनता उत्पन्न की जा सकती है। जैसे कुछ दिन पहले प्रकाशित 'राजा निरबंसिया' (कमलेश्वर)। यहाँ एक लोककथा की पृष्ठ-भूमि में एक आधुनिक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की कहानी कही गई है। दो भिन्न युगों के दो निरबंसियों की जीवन-कथा दो देखाओं की तरह एक दूसरे को छूती और काटती हुई चलती चली जाती है। कहानी में लोककथा का यह उपयोग शिल्प-सम्बन्धी नवीनता कही जा सकती है लेकिन यह कोरा शिल्प नहीं है, न इससे कहानी के कहानीपन में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत, वह लोककथा मुख्य कथा को और भी मार्मिकता प्रदान करती है। जैसे दो समीपवर्ती तारों में से एक की झंकार दूसरे में भी सह-स्पन्दन उत्पन्न कर देती है। मुख्य कथा की गति में जैसे ही संवेदना की तीव्रता आती है, वह सहधर्मी लोककथा से छू जाती है और हम देखते हैं कि लोककथा का टूटा हुआ सूत्र अनजाने ही हाथ में आ गया है। शिल्प के लिए लाई हुई अतीत की यह कथा वर्तमान-वास्तविकता को उभारने के साथ ही अतीत का अर्थ भी हमारे लिए बदल देती है। और अन्त में दो कथाओं की विषमता दो युगों की विषमता की गहरी खाई पर ही रोशनी नहीं डालती, बल्कि वर्तमान वास्तविकता पर मीठा व्यंग्य भी करती है कि इतना विकास करने के बाद भी आज का निम्न मध्यवर्गीय युवक है कि अपनी पत्नी को

स्वीकार नहीं कर सकता, जब शताब्दियों पहले एक राजा ने सारी लोकमर्यादा तोड़ कर अपनी रानी को अपना लिया। यह अन्तर दो युगों का है या दो वर्गों का या कल्पना और यथार्थ का? शिल्प-विधान का यह नया प्रयोग कहानी में अनेक अर्थों और व्याख्याओं की सम्भावना भर देता है और इस तरह एक विशेष घटना के भीतर से मानवीय सत्य की व्यापकता उद्भासित हो उठती है।

यहाँ इस कहानी के विस्तार में जाने का अवसर नहीं है और न तो इसका यही अर्थ है कि नए शिल्प-विधान के द्वारा कहानीपन की रक्षा करने वाली यह एकमात्र नई कहानी है। कहानियाँ और भी हैं तथा शिल्प के नए विधान दूसरे-दूसरे भी हैं। यहाँ तक कि इनके लिए कोई सीमा नहीं बनाई जा सकती। असल बात है कहानी का कहानीपन। यह आकस्मिक नहीं है कि कहानीपन की उपेक्षा करके केवल शिल्प के लिए लिखी हुई एक भी श्रेष्ठ कहानी नहीं बन सकी। पत्र और डायरी शैली में जाने कितनी कहानियाँ लिखी गईं लेकिन उनमें से एक भी कहानी ऐसी नहीं है जिसका नाम श्रेष्ठ कहानियों में लिया जा सके या लोकचित्त पर अमिट छाप छोड़ गई हो। इसके विपरीत पिछले आठ-दस वर्षों के भीतर की 'हत्या-भरन' (तेज बहादुर चौधरी), 'गदल' (रांगेय राघव), 'छोटा डॉक्टर' (निर्गुण), 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी), 'गिद्ध और सेवंती के फूल' (शशि तिवारी), 'भैंस का कट्या' (विद्यासागर नौटियाल), 'जिन्दगी और जोंक' (अमरकान्त) आदि श्रेष्ठ कहानियाँ सब-की-सब 'कहानी' भी हैं।

कहानी का यह कहानीपन समझने में कठिन होते हुए भी कोई 'रहस्य' नहीं है। कविता में जो स्थान लय का है, कहानी में वही स्थान कहानीपन का है। कविता चाहे जिस हद तक छंदमुक्त हो जाए, लेकिन वह लयमुक्त नहीं हो सकती। लयमुक्त रचना काव्य होते हुए भी कविता नहीं कहलाएगी। कहानीपन से रहित गद्य रचनाओं के बारे में भी यही बात लागू होती है। लय की तरह कहानी कहना मनुष्य की काफ़ी पुरानी कलात्मक वृत्ति है और इसकी रक्षा अपने-आप में स्वयं भी एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य है और इतिहास से प्रमाणित होता है कि नीति, लोक-व्यवहार, धर्म, राजनीति आदि विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस कला का उपयोग करते हुए भी मानवजाति ने आज तक इसकी रक्षा की है। निःसन्देह इस कला का चरम विकास आधुनिक युग में हुआ जब उद्देश्य और कहानीपन दोनों घुल-मिलकर इस तरह एक हो गए कि उद्देश्य से अलग कहानी के रूप की कल्पना भी कठिन हो गई। कहानी के सम्बन्ध में आधुनिक युग के प्रथम कहानीकार एडगर एलन पो के 'एकान्विति' शब्द में 'निःसंदेह अनेक अर्थों की सम्भावनाएँ हैं। कहानी की यह आन्तरिक एकता केवल रूप-गठन तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसकी वस्तु का भी समाहार करती है। जिस प्रकार कविता में अर्थ-व्यंजना अथवा वस्तु-व्यंजना से भिन्न लय की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार कहानी में भी वस्तु-व्यंजना से भिन्न कहानीपन की कल्पना करना खतरनाक है। वस्तु-व्यंजना से रहित लय कोरे पद्य को जन्म देती है उससे रहित कहानीपन कोरी आख्यायिका को।

इसलिए कहानी के कहानीपन की सफलता का अर्थ है उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता। नए कहानीकार कहानी की, इस शक्ति से भलीभांति परिचित हैं। 'राजा निरबंसिया' में कहानीपन की रक्षा करनेवाले लेखक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'केवल सोद्देश्यता की पृष्ठभूमि में ही आज के लेखक की कहानियों का अध्ययन किया जा सकता है।' इस सोद्देश्यता को मैं सार्थकता कहना चाहता हूँ क्योंकि आजकल सोद्देश्यता का बहुत सीमित अर्थ लिखा जाने लगा है। लेकिन मूलतः इसका अर्थ है कि इक इशारा—इशारा एक दिशा की ओर या एक अनदेखी स्थिति की ओर। कहते हैं कि जब डॉक्टर को मर्ज का पता नहीं चला तो एक प्रसिद्ध चित्रकार ने उसके पास अपना नग्न चित्र बनाकर एक जगह छोटा-सा धब्बा लगाते हुए इस नोट के साथ भेज दिया था कि यहाँ 'दुखता है'। कहानी में इतना-सा इशारा ही सोद्देश्यता है। दर्द से छटपटाते हुए जिस व्यक्ति अथवा समाज को यह पता न हो कि दर्द कहाँ है और क्या है, उसके लिए उसकी दुखती रग पर हाथ रख देना भी बहुत बड़ी बात है।

लेकिन कहानी में जब मैं सार्थकता की बात करता हूँ तो इसका यह अर्थ है कि कहानी हमारे जीवन की छोटी-से-छोटी घटना में भी अर्थ खोज लेती है या उसे अर्थ प्रदान कर देती है। इस युग में जबकि निरर्थकता की भावना व्यापक रूप से फैली हुई है और एक वर्ग के लोगों के द्वारा फैलाई भी जा रही है, कहानी जैसे छोटे गद्य-रूप से सबसे पहले सार्थकता की माँग की जा सकती है। यह नहीं है कि छोटी-छोटी बातें ही अर्थहीन प्रतीत होती हों; कुछ लोगों को अपना सारा-का-सारा जीवन ही अर्थहीन मालूम होता है और कुछ को तो दुनिया का सारा कारोबार भी व्यर्थ लगता है। परन्तु लघुता में निरर्थकता का खतरा सबसे अधिक है। कहानी की सृष्टि इसी लघुता को सार्थकता प्रदान करने के लिए हुई थी।

लोगों की यह धारणा गलत है कि कहानी जीवन के एक टुकड़े को लेकर चलती है, इसलिए उसमें कोई बड़ी बात कही ही नहीं जा सकती। कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', 'संक्रान्ति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अन्तर्विरोध भी वृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलू का आभास दे जाता है। यह खंडगत अन्तर्विरोध की पकड़ श्रेष्ठ कहानियों के कथानक में कहीं नाटकीय मोड़ पैदा करती है तो कहीं चरित्र को वस्तु-स्थिति के साथ संघर्ष करते दिखलाती है और कभी स्वयं उस चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा दरसाती है या फिर उसके चिंतन और कार्य के बीच विडम्बना (आयरनी) को चित्रित करती है। यह एक विरोधाभास है कि कहानी जैसा एकान्वित शिल्प अन्तर्विरोध पर निर्मित होता है। नए कहानीकारों में भीष्म साहनी में एक ही साथ इन दोनों विशेषताओं का सर्वोत्तम सामंजस्य मिलता है। इस दृष्टि से भीष्म साहनी सबसे सफल कहानीकार हैं। एक इकाई के रूप में उनकी कहानियाँ अत्यन्त गठित होती हैं; साथ ही प्रायः किसी-न-किसी प्रकार की विडम्बना (आयरनी) को व्यक्त करती हैं और यह विडम्बना किसी-न-किसी रूप में हमारे वर्तमान समाज के व्यापक अनतर्विरोध की ओर संकेत करती है। उदाहरण के लिए उनकी

'चीफ़ की दावत' कहानी ही लीजिए।

कहानी शुरू होते ही 'संवाद-बिन्दु' उपस्थित हो जाता है या यों कहें कि 'संकट' से ही कहानी शुरू होती है : 'अब घर का फालतू सामान आलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, माँ का क्या होगा?'

'चीफ की दावत' में अपनी निरक्षर और बूढ़ी माँ ही एक समस्या बन गई जैसे घर के 'फालतू सामान' बल्कि सामान से भी बड़ी समस्या। सामान को छिपाना तो आसान है लेकिन इस जीवित सामान का क्या करें? और इस तरह शामनाथ एक कूड़े की तरह अपनी माँ को उस घर से उस घर में छिपाता फिरता है। उधर माँ है कि लड़के के इस व्यवहार का बुरा नहीं मानती, बल्कि स्वयं ही अपने अस्तित्व से संकुचित हुई जा रही हैं और लड़के के भले के लिए अपने को यहाँ से वहाँ छिपाती फिरती हैं। एक विडम्बना यह भी है। परन्तु हुआ यह कि शामनाथ ने जिस चीज को इतना छिपाया, आखिर में वह खुल ही गई। चीफ ने माँ को देखा ही नहीं बल्कि बुरी हालत में देखा। परन्तु शामनाथ की घबराहट के बावजूद स्थिति सुधर गई। चीफ माँ से स्वयं मिले और अन्त में शामनाथ ने देखा कि जिस 'सामान' को छिपाने के लिए उन्होंने इतनी परेशानियाँ उठाईं, वह खुल ही नहीं गया बल्कि हितकर भी साबित हुआ। यहाँ तक कि दावत से भी बढ़कर! यह सबसे बड़ी विडम्बना है और गहरे जाकर देखें तो माँ केवल एक चरित्र नहीं, बल्कि प्रतीक भी है। प्रतीक सम्पूर्ण प्राचीन का।

इससे स्पष्ट हो सकता है कि एक समर्थ कहानीकार किस प्रकार जीवन की छोटी-से-छोटी घटना में अर्थ के स्तर-स्तर उद्घाटित करता हुआ उसकी व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुँचा देता है। ऐसे अर्थगर्भत्व को मैं सार्थकता कहता हूँ।

हमारे सन्त कवियों ने इसी तरह पिंड में ब्रह्माण्ड का दर्शन कराया था और भक्त कवियों ने मानव चरित्र के भीतर विराट की लीला को उद्भासित किया था। हद में बेहद और मानव में भगवान् की उद्भावना इसी अर्थवत्ता का मध्ययुगीन रूप है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने मुख्यार्थ के भीतर से जो अर्थ की व्यंजना कराई थी, वह भी इसी का एक रूप है। जीवन का सत्य इसी तरह खण्ड के भीतर से, किन्तु उसे खण्डित करता हुआ पूर्ण की ओर संकेत करता है; खंड की सीमा को तोड़कर पूर्ण से मिलता है, मुख्यार्थ को बाधित करके रसमय अर्थ को व्यंजित करता है; जीवन की हर छोटी घटना के भीतर से सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता का अनुभव कराता है।

इस प्रकार जीवन के प्रत्येक प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध को पकड़कर जागरुक कहानीकार उसे सार्थकता प्रदान करते हैं। राजेन्द्र यादव के नव-प्रकाशित कहानी-संग्रह 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' की भूमिका के बीच भी हम 'दाभ्यां तृतीयः' होने का संकट उठाकर इसे 'ओवरहीयर' कर सकते हैं। अपनी एक 'कमजोर लड़की की कहानी' का अर्थ समझाते हुए, वह वर्तमान जीवन के एक अन्तर्विरोध की ओर संकेत करते हैं। वह प्रेमिका और पत्नी दोनों की भूमिकाएँ एक साथ ईमानदारी से निबटाने का ढोंग करती है—''ट्रेजेडी यह नहीं है कि वह दोनों के प्रति सच्ची क्यों नहीं है, ट्रेजेडी यह है कि वह

दोनों में से किसी एक को अपने जीवन से झटककर नहीं निकाल सकती।"

जहाँ अन्तर्विरोध है, वहाँ विरोधी तत्त्वों में से किसी को भी झटककर नहीं निकाला जा सकता। यदि कहानीकार कहानी में एक विरोधी तत्त्व को निकाल देता है अथवा उसे जबर्दस्ती कमजोर कर देता है या उस द्वंद्व को जल्दी-जल्दी निपटाने की कोशिश करता है तो वह कथानक को उत्सुकताहीन, चरित्रों को सपाट और वस्तु पर उद्देश्य का आरोप ही नहीं करता, बल्कि अपनी कहानी की सार्थकता भी नष्ट करता है। अन्तर्विरोध को उसकी सम्पूर्ण तीव्रता में ग्रहण करके ही किसी कहानी को सफल और सार्थक बनाया जा सकता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी घटना प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध को जानबूझकर अत्यन्त तीव्र बनाया जाए। यदि अन्तर्विरोध को कम करना सपाटता है तो उसे वास्तविकता से अधिक तीव्र करना भावुकता है या फिर दिमागी ऐय्याशी। अक्सर देखने में आता है कि जिन्हें अन्तर्विरोध के बीच ठीक दिशा मालूम है, वे कहानी को बिल्कुल सपाट बना देते हैं और जिन्हें कोई दिशा नहीं सूझती, वे उसे और भी उलझा देते हैं। 'एक कमजोर लड़की की कहानी' में राजेन्द्र यादव ने इस सत्य को उलझा दिया है, जिसके लिए पाठकों पर उनका आरोप है कि कहानी को लोगों ने गलत समझा है। लोग तो गलत समझेंगे ही लेकिन जिनके लिए वे लिखते हैं, वे 'कमजोर लड़कियाँ' उसे गलत नहीं समझेंगी। कमजोरी उभारने के लिए ताकत की बात कही जाती है तो उलझ ही जाती है। किसी आलोचक ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि राजेन्द्र यादव का लेखन बहुत उलझा हुआ होता है। यह बात राजेन्द्र यादव के शिल्प के बारे में जितनी सच है, उतनी ही वस्तु के बारे में भी। शायद इसीलिए वे प्रायः चक्करदार शिल्प गढ़ने के चक्कर में रहते हैं और उनकी भाषा की पेचीदगी भी सम्भवतः इसी का परिणाम है। 'खेल-खिलौने' कहानी से लेकर 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' तक में इस पेचीदगी और उलझन को देखा जा सकता है। अपनी कहानियों के द्वारा वह एक अतिरिक्त तीव्रता उत्पन्न करना चाहते हैं, फलतः कहीं वह कथानक के पेंच डालते हैं तो कहीं भावनाओं के स्तर पर मानसिक गुत्थियाँ। लिहाजा, उनके चरित्र विचित्र हो उठते हैं और कहानी अवास्तविक, जिन्हें समस्या को धैर्य के साथ धीरे-धीरे सुलझाने की अपेक्षा परिश्रम से उलझाने में ही सुख मिलता है, उनकी कला की यही गति होती है।

इस मामले में मोहन राकेश की स्थिति थोड़ी भिन्न है। जैसा कि उन्होंने 'नए बादल' कहानी-संग्रह की भूमिका में लिखा है, उनकी पैनी दृष्टि अपने आस-पास की हर घटना में कहानी ढूँढ़ लेने की क्षमता रखती है—कहानी अर्थात् कहानी की 'वस्तु' अथवा अर्थ। वह बहुत बड़ी बात है। आधुनिक कहानीकारों में यह सामर्थ्य हम केवल यशपाल में पाते हैं। जब कोई कवि हर चीज में कवित्व देखने लग जाए और कोई कहानीकार हर घटना में कहानीपन पा जाए तो उसमें बहुत बड़ी सम्भावना का बीज समझना चाहिए। लेकिन इसके बाद भी बहुत-कुछ शेष रह जाता है। यथार्थ की इस विविधता में 'सुपरफ्लुअस' होने का बहुत बड़ा खतरा है। यह प्रवृत्ति अंधकार के कणों से मिचमिचाती आँखों को बन्द कर लेने की अपेक्षा जुगनुओं को देखने का साहस

कहीं अधिक सराहनीय है। लेकिन जुगनू रोशनी नहीं है।

अपने आस-पास के वातावरण में उड़ती हुई कहानियों को पकड़कर निःसन्देह मोहन राकेश ने उन्हें उतनी ही तेजी के साथ व्यक्त किया है जो मन में एक 'फ्लैश' की तरह कौंध जाती हैं। लेकिन लगता है कि उन्होंने कभी बिजली की कौंध ही पकड़ी है, बिजली की वह शक्ति नहीं पकड़ी जिसका उपयोग हम अपनी सीमा में उष्णता तथा आलोक के लिए कर सकें, जो कि मनुष्योचित सामर्थ्य का प्रतीक है। इसीलिए कुछ लोग मोहन राकेश को 'डाक बंगलों' का कहानीकार कहते हैं। लोकप्रिय कहानीकार सामरसेट माम की तरह मोहन राकेश भी जैसे अपनी यात्राओं में कहानी बटोरते चलते हैं और यात्रा के दौरान प्राप्त कहानियों की तरह ही इनमें गहरी मानवीय संवेदना का अभाव मिलता है। वस्तुतः यात्रा की संवेदनशीलता बड़ी 'सुपरफ़िशल' होती है। यात्रा में या तो हम अतिरिक्त संवेदनशील होते हैं या फिर नितान्त संवेदनहीन। हम परदेश में हैं, पराए लोगों के बीच हैं, 'अपने' लोगों से मुक्त हैं, यहाँ हमारे बारे में कोई कुछ नहीं जानता, यही बातें मन की स्थिति को सहज नहीं रहने देतीं। इस तरह की कहानियों की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि ये दर्शक का सत्य हैं, द्रष्टा का सत्य नहीं।

बड़ी ईमानदारी के साथ मोहन राकेश ने स्वीकार किया है कि हमारी पीढ़ी ने यथार्थ के अपेक्षाकृत गहरे हुए अर्थात् वैयक्तिक और पारिवारिक रूप को अपनी रचनाओं में अधिक स्थान दिया है, जो समूची पीढ़ी के लिए तो सच नहीं है लेकिन कई कहानीकारों पर ठीक बैठता है। यायावर को अपनी यात्रा में उड़ती हुई कहानियों का टूटा हुआ सत्य ही मिल पाता है, जिसे चाहें तो 'ठहरा हुआ' भी कह सकते हैं। निःसन्देह कुछ कहानीकार लम्बी यात्राएँ न करते हुए भी वर्तमान जीवन में वस्तुतः 'यायावर' हैं। और यहाँ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो कुछ हाथ लग जाए या दृष्टि में पड़ जाए वह सब सार्थक नहीं है। हर घटना में अन्तर्विरोध को लक्षित करना एक बात है लेकिन युग के मुख्य अन्तर्विरोध के प्रवाह में सार्थक घटनाओं को लक्षित करना बिल्कुल दूसरी बात है। कहानीकार की सार्थकता इस बात में है कि वह अपने युग के मुख्य सामाजिक अन्तर्विरोध के सन्दर्भ में अपनी कहानियों की सामग्री चुनता है। ऐतिहासिक विकास के दौरान विरोधी शक्तियों के संघर्ष के फलस्वरूप जीवन के नए-नए क्षेत्र खुलते चलते हैं, पिछले युग की दबी हुई शक्तियाँ उभर आती हैं और उभरी हुई शक्तियाँ दब जाती हैं; गौण प्रधान हो जाता है और प्रधान गौण। इस प्रकार सामाजिक अन्तर्विरोध का रूप ही नहीं बदलता बल्कि उसमें भाग लेनेवाली अथवा भाग न भी लेनेवाली किन्तु भाग बननेवाली हर सामाजिक इकाई के भीतर अन्तर्विरोध के रूप भी बदल जाते हैं।

वर्तमान वास्तविकता में मेहनत करनेवाले लोगों का उभरना और दूसरों की मेहनत पर जीनेवालों का दबना ऐतिहासिक तथ्य है। स्वाभाविक है कि जीवन में शक्ति और सौन्दर्य का आधार इस नई शक्ति के जीवन में दिखाई पड़े और इस नई शक्ति की समस्याओं की ओर जागरूक कहानीकारों का ध्यान जाए। जहाँ कुछ कहानीकारों ने अपनी मध्यवर्गीय वास्तविकताओं के चित्रण में ही अपनी कला की

सार्थकता समझी, वहाँ दूसरे कहानीकारों ने इसमें सम्भवतः कोई रस न पाकर नवजीवन के प्रतीक गाँवों की ओर दृष्टि दौड़ाई। उसे अपनी वास्तविकता से पलायन नहीं कहा जा सकता। अपने वातावरण से लड़ने के लिए पहले भी मध्यवर्ग ने व्यापक जन-शक्ति का सहारा लिया है। इसलिए इन नए कहानीकारों की यह निर्वैयक्तिकता सराहनीय है। सम्भवतः शहरों के मध्यवर्गीय जीवन में जीवन और सौन्दर्य को न पाकर ही महत्त्वाकांक्षी कहानीकारों ने गाँवों की राह ली। जो जीवन स्वयं ही निरर्थक प्रतीत हो रहा हो उसमें सार्थकता की खोज कहाँ तक की जा सकती है। मध्यवर्गीय जीवन को लेकर लिखी हुई आज की शायद ही कोई वास्तविक कहानी ऐसी हो, जिसमें जीवन का स्वस्थ सौन्दर्य और मानव की उर्जस्वल शक्ति मिले। इसके विपरीत गाँव के जीवन को लेकर लिखी हुई कुछ कम वास्तविक कहानी में भी ऐसे वातावरण तथा ऐसे चरित्रों के दर्शन हो सकते हैं। रांगेय राघव की 'गदल', मार्कण्डेय के 'गुलरा के बाबा', 'हंसा जाई अकेला' वाले 'हंसा', शिवप्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार' वाले 'भैरो पांडे' जैसे सशक्त व्यक्ति केवल चरित्र ही नहीं हैं बल्कि आज की ऐतिहासिक शक्ति के प्रतीक हैं।

इन कहानियों ने निरर्थक प्रतीत होने वाले वर्तमान जीवन में भी शक्ति और सौन्दर्य की झलक दिखाकर जीवन की सार्थकता में आशा बँधाई है। इसलिए देखते-देखते इस जीवन के चित्रकार नवोदित कहानीकारों ने कहानी के क्षेत्र में अपनी जगह बना ली। यह सफलता केवल नई सामग्री की सफलता नहीं है, बल्कि वर्तमान जीवन के एक सार्थक सत्य को पहचानने की सफलता है।

इस कठिन कार्य में हमारे इन नए कहानीकारों को सचमुच उतनी सफलता नहीं मिली है, जितनी अन्य अनुभव-सत्यों के चित्रकार कहानी लेखकों को मिल चुकी है। किन्तु इसका एक कारण शायद यह है कि उन कहानीकारों को कहानी की एक बनी-बनाई परिपाटी प्राप्त है; वस्तु की भी और वस्तु के अनुरूप शिल्प की भी; जबकि नए कहानीकारों को बहुत कुछ अपने अनुभव और अभ्यास से निर्माण करना है। सचमुच 'इसे समझने के लिए पूरे दो युगों की सम्पूर्ण संयोजित चेतना का उपयोग करना पड़ेगा।'

अन्त में इस निबन्ध के उद्देश्य और सीमाओं का समाहार करते हुए निवेदन करना चाहूँगा कि नई कहानी को कहानी-कला की अपनी विशेषता के साथ ही सम्पूर्ण साहित्य के मान और मूल्यों के सन्दर्भ में देखने की आवश्यकता है और इसके लिए कहानी-समीक्षा की एक व्यापक और निश्चित 'भाषा' का निर्माण भी होना चाहिए। मेरी अपनी सीमा यह है कि मैं अब तक मुख्यतः काव्य का पाठक रहा हूँ (जिसका आभास इस कहानी सम्बन्धी लेख में भी लाचारी के कारण आ गया है।) कहानियाँ मैंने कम पढ़ी हैं और उनमें अन्तर्निहित सत्य को समझने तथा व्यक्त करने की 'भाषा' भी अब तक नहीं तय कर पाया हूँ। अपनी सीमाओं में संकोच का अनुभव करते हुए भी मेरा विश्वास है कि कहानियों के अधिक व्यापक और समर्थ पाठकों के सहयोग से प्रस्तुत आधार पर कहानी-समीक्षा के सन्तुलित प्रतिमान तैयार हो सकते हैं।

(कहानी : नई कहानी से साभार)

परम्परा और कला-संचेतना : राजेन्द्र यादव

धनंजय वर्मा

'...इस दशक की कहानी के सामने ऐसी कोई तात्कालिक परम्परा नहीं दिखाई देती, जिसका तिरस्कार या विकास किया जाता। अतः उसे या तो नई परम्पराओं की नींव डालनी पड़ी, या परम्परा या प्रभाव के लिए बहुत दूर देखना पड़ा।...जिस कुण्ठा, पराजय और घुटन को स्वयंसिद्ध मानकर जैनेन्द्र और अज्ञेय ने अपनी कहानियों का ताना-बाना बुना था, उसी सबको आज के कहानीकार ने अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में, अधिक तटस्थ और निर्वैयक्तिक दृष्टि के साथ चित्रित किया...'

राजेन्द्र यादव की ये दोनों उक्तियाँ एक खास दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये परम्परा के प्रति लेखक की नकारात्मक दृष्टि ही नहीं, उसके 'एप्रोच' और रचना-संचेतना की भी द्योतक हैं। यादव नई कथा के एक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट रचनाकार हैं और मैं कहना तो यहाँ तक चाहूँगा कि नई कथा के पहले जागरूक और सचेत कलाकार वे ही हैं, जिन्होंने अपने समकालीन कला-मूल्यों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने-परखने की कोशिश की है। कला, उसकी समस्याओं और संकटों के प्रति सबसे अधिक जागरूक और पीड़ित; लेकिन साथ ही उनके प्रति एक विशुद्ध कलात्मक दृष्टिकोण फिलहाल उन्हीं का है। कला के प्रति एक आन्तरिक समर्पण और एक तीव्र चैतन्य उनका पहले है, सामाजिक यथार्थ के प्रति बाद में। उनकी रचनाएं इस बात को प्रमाणित करेंगी, जहाँ पात्र और वस्तु और कथ्य सब गौण हैं, उसके प्रति एक कलात्मक दृष्टिकोण सर्वप्रधान है। इस बात का एक स्थूल उदाहरण यह है कि यादव की अधिकांश रचना-संचेतना, कला या लेखन की समस्याओं के इर्द-गिर्द अधिक घूमती है। उनके पात्र साहित्य और कलाधर्मी अधिक हैं, समाजधर्मी कम। कलाकार या बुद्धिजीवी व्यक्ति की सामाजिक और व्यापक समस्याओं पर उन्होंने अधिक लिखा है—या अपनी कला-यात्रा के हर मोड़ और चरण में इन समस्याओं के प्रति वे अधिक जागरूक रहे है। लगता है, जैसे प्रतिश्रुत वह पहले कला के प्रति हैं, बाद में समाज या यथार्थ के प्रति। इस कला के प्रति प्रतिश्रुति और कलात्मक संचेतना से मेरा तात्पर्य शिल्प-परिष्कृति और सुरुचि मात्र नहीं है। कला केवल 'आर्टिस्ट्री' ही नहीं है, वह कलाकार की सानुपातिक अन्तर्दृष्टि और सन्तुलन भी है। राजेन्द्र यादव की कला-संचेतना से मेरा मतलब उनकी उस

दृष्टि से है, जिससे वे मानव-चेतना के अधिक जटिल और गहन-स्तरों पर व्यक्ति और परिवेश की ट्रेजेडी को पाने की कोशिश करते हैं, और जीवन के अन्तःसूत्रों को पाने की, एक 'विजन' खोजने की प्रक्रिया ही कला की प्रक्रिया है। यह जीवन की समग्रता के प्रति 'कमिटमेंट' है, उसके किसी एक ही पक्ष या चेतना से सीमित हो जाना नहीं। कला-संचेतना तात्कालिक और सतही संवेदना से आगे बढ़कर कुछ मूलभूत आन्तरिक और विराट प्रश्नों को उठाती चलती है। वह केवल 'रिप्रेजेन्टेशन' और 'एक्सप्रेशन' नहीं है, 'रियलाइजेशन' ही है। वह आत्मोपलब्धि और आत्ममुक्ति या उसके प्रयत्नों में वास करती है 'एक क्वेस्ट फॉर फ्रीडम फ्राम दि सेल्फ'। यही अपने 'पार' जाना है, और अपनी परम्परा और अपने तात्कालिक यथार्थ को अतिक्रमित करने के प्रति यादव और बेहद सचेत हैं। यह परम्परा के प्रति एक अधिक सचेत, जागरूक और रचनात्मक दृष्टिकोण का ही परिणाम है। अतः ऊपर की दोनों उक्तियाँ यदि पूरे कथा-साहित्य के साथ ही न भी हों, तो कम-से-कम यादव के सम्पूर्ण लेखन के साथ तो सही हैं ही, इसलिए तात्कालिक दृष्टि से अन्तर्विरोधी-सी प्रतीत होने वाली इन उक्तियों में एक तारतम्य है, और वे एक-दूसरी की पूरक हैं।

कोई भी जागरूक कलाकार अपनी परम्परा के प्रति एक ऐतिहासिक चेतना के बिना अपना विकास नहीं करता और यह अनायास ही नहीं मिल जाती, वह ओढ़ी भी नहीं जाती, उसका तो बस सायास और चेतन ग्रहण भर होता है। यह हर कलाकार का चेतन या अचेतन प्रयास ही होता है, और तभी उस परम्परा से उसका पार्थक्य और वैशिष्ट्य जाहिर होता है। अब यह चेतना उसके आलोचनात्मक दृष्टिकोण में प्रकट हो सकती है या फिर नकारात्मक दृष्टि में (और जाने क्यों किसी भी आधुनिक कलाकार ने अपने पीछे की किसी भी परम्परा को 'स्वीकार' करने में कष्ट ही अनुभव किया है—शायद यह नई रचना-संचेतना के हित में नहीं होता)। बहरहाल, आज के क्षुब्ध एवं अस्त-व्यस्त कला-मूल्यों और साथ ही जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों से अलग हटकर कुछ कहने की ललक ने यदि यादव का दृष्टिकोण नकारात्मक बना दिया है, तो यह इस बात का प्रतीक है कि अपने-आपको पुरानी परम्परा से पृथक् रखने या उसका विकास करने की कितनी सायास और जागरूक चेतना यादव में है। उन्होंने अपनी पूर्व परम्परा के अन्तर्बाह्य को बिल्कुल बदल दिया है, उसमें बहुत कुछ संयुक्त किया है। तटस्थ और निर्वैयक्तिक वह भले न हो, व्यापकता वहाँ जरूर आई है।

अपने समकालीन रचनाकारों की तुलना में यादव ने एक अधिक परिष्कृत जागरूक और अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म संवेदना को जन्म दिया है। वस्तु और पात्र-निर्वाह के साथ ही सम्पूर्ण और आत्यन्तिक प्रभाव या 'अपील' की दृष्टि से ही देखिए, तो मोहन राकेश का निर्वाह अधिक प्रकृतवादी और यथार्थ, लेकिन एक हद तक रूक्ष और अमार्जित ही है, जबकि यादव के निर्वाह में यथार्थवादी संस्पर्श की कमी भले हो, वह अधिक सूक्ष्म, परिष्कृत और कलात्मक है। उन्होंने सामाजिक समस्याओं और संघर्षों को उसी दृष्टि से नहीं देखा, इसीलिए सामाजिक यथार्थ और जीवन की ठोस वास्तविकताओं

के प्रति उनका द्रोह (तात्कालिक दृष्टि से) भले मिले, कला के प्रति विश्वासघात उन्होंने नहीं किया। और हर विशुद्ध कलाकार सामाजिक मूल्यों या सामाजिकता से द्रोह करता ही है, इन अर्थों में कि वह उन्हें अभिव्यक्त और सन्तुष्ट ही नहीं करता, उन्हें अतिक्रमित कर जाता है और कला का वास्तविक स्वभाव इसी अतिक्रमण में है। यह अतिक्रमण यादव में इतना सचेत और सायास है कि, आश्चर्य नहीं, वह लोगों को पलायन लगे। "इतनी विशाल और समृद्ध जिन्दगी का जंगल सामने लहरा रहा है, और आप हैं कि जाने किन सूक्ष्म मान्यताओं और रूढ़ प्रतीकों के 'एब्सट्रक्शन्स' में झख मार रहे हैं"—नामवर सिंह के इस कथन में एक स्पष्ट और सीधा तर्क है (और इस तर्क के बल पर यादव का इधर का लेखन तो और भी अधिक एब्सट्रैक्ट होता गया है), लेकिन सही अर्थों में कालातीत कलादृष्टि यही है। जब युग कलाकार की सीमा नहीं, उसकी शक्ति बनता है; जब भाव-बोध समय से संकुचित नहीं होता, समय को विस्तार देता है; जब रचना, कथ्य से परिमित नहीं, उसे अतिक्रमित करती है। इसीलिए मोहन राकेश और उसी वर्ग के अन्य लेखकों की तुलना में यादव का आधुनिकताबोध अधिक तीव्र और अग्रिम है। जहाँ उनका 'एप्रोच' और निर्वाह अधिक यथार्थ पर, साथ ही स्थूल और गद्यात्मक है, वहीं यादव का अधिक काव्यात्मक, सूक्ष्म (एब्सट्रैक्ट) है, और इसीलिए कलात्मक है।

मोहन राकेश में अपनी पूर्व परम्परा से एक निकट आसंग की स्थिति मिल जाएगी। वे प्रेमचन्द और यशपाल की परम्परा के सीधे, स्वाभाविक और सहज विकास हैं। समस्याओं और मूल्यों के प्रति, या जीवन के ठोस यथार्थ के प्रति उनका 'एप्रोच' उतना ही सीधा, सहज और प्रत्यक्ष (लेकिन साथ ही कलात्मक भी) है, जितना यशपाल या उनके समकालीन रचनाकारों का (इधर कलात्मक एप्रोच के प्रति यशपाल भी झुके हैं)। मनुष्य के यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में परखने-आँकने का उनका मूल स्वर भी यशपाल की ही कोटि का है। वहाँ वे समाज के यथार्थ या प्रश्नों की सामाजिकता के प्रति अधिक प्रतिश्रुत हैं, कला के प्रति अपेक्षाकृत कम। जब भी उन्होंने व्यक्ति की ट्रेजेडी और उसके मानसिक अन्तर्संघर्ष को अपना कथ्य बनाया है, उसे स्थूल स्थितियों और वाह्य परिवेश की रूपरेखाओं में निबद्ध कर दिया है, और फलतः निर्वाह, स्थूल एवं प्रभाव, भावनात्मक या अधिक-से-अधिक संवेदनात्मक होकर रह गया है। इसके विपरीत यादव में अपनी पूर्व परम्परा से एक व्यापक अन्त मिलेगा। अपनी तात्कालिक परम्परा (भले वह स्कैचों और रिपोर्ताजों की, और नारों या भाषणों की रही हो, पर थी अवश्य) का ही विकास यादव ने नहीं किया (क्योंकि उनके लिए कोई ऐसी तात्कालिक परम्परा थी ही नहीं, जिसका तिरस्कार या विकास किया जाता) वरन् उसे किसी हद तक नकारा है, उस पर सायास विजय प्राप्त की है, उसे अतिक्रमित किया है।

तात्कालिक परम्परा में यदि '40 से 50' के युग-काल को ले लिया जाए, और अमृत राय, रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मोहन

सिंह सेंगर, भगवतशरण उपाध्याय और विष्णु प्रभाकर, निर्गुण और सानरक्सा आदि के नाम ले लिए जाएँ, तो सही है कि उनके प्रकाश में आज के कथा साहित्य की उपलब्धि का अध्ययन दोनों के साथ अन्याय होगा। कुछ तो परिवर्तन की तेजी, कुछ अस्तव्यस्तता और कुछ रचनाकारों की आवेशमयी वृत्ति और पूरा-का-पूरा दशक जैसे एक चक्करघिन्नी पर बैठा हुआ गुजर गया, उसे कहीं भी थमने का अवसर ही नहीं मिला। फिर भी आज भी कहानी में यह छोटी-छोटी घटनाओं का विस्तार और उनका सामूहिक प्रभाव, यह कम-से-कम शब्दों में व्यक्तित्व को उभार देना, यह लम्बे-लम्बे और बारीक ब्योरों में व्यक्तित्व और वर्णनों के ताने-बाने में बुनी या पत्रों के सहारे बढ़ती हुई रचनाएँ, उस तात्कालिक परम्परा के रिपोर्ताज, और स्कैच से कहीं-न-कहीं जुड़ी अवश्य हैं। और उससे एक व्यापक सामाजिक जागरूकता हिन्दी कथा में अनायास चली आई है, और इस व्यापक सामाजिक जागरुकता ने ही यादव की रचना को एक प्रगतिशील स्वभाव प्रदान किया है। और वे कोरी 'एब्सट्रेक्शन्स' होकर नहीं रह गई हैं, लेकिन इस व्यापक सामाजिक जागरुकता में आधुनिक-भावबोध और कला की परिष्कृत एवं सूक्ष्म संवेदनाएँ भी यादव ने ही संयुक्त की हैं। इसीलिए वे उस परम्परा के एक सहज, स्वाभाविक विकास कम हैं, उसे अतिक्रमित करते हुए अगले चरण अधिक। वे सामाजिक प्रश्नों और समस्याओं को किसी एक ही दृष्टि से उठाने की बजाय उसकी समग्रता और व्यापकता में उठाने के आदी हैं, और उन संघर्षों को चेतना के अधिक-से-अधिक स्तर और आयामों में देखने के। एक व्यक्ति की ट्रेजेडी या उसका मानसिक उद्वेलन और अन्तर्विरोध भी वहाँ उतने स्थूल धरातल पर और विभक्त इकाई के रूप में नहीं आता, उसके बहुत बारीक रेशे व्यापक परिवेश से अन्तर्प्रेरित और अन्तर्ग्रथित होते हैं, इसीलिए उसका निर्वाह बहुत सूक्ष्म (सटिल) और प्रभाव, उस बुनावट (टेक्शचर) की ही तरह होता है। एक वाक्य में कहा जाए तो राकेश का प्रभाव 'इकहरा' है, संवेदना जगाने और करुणोत्पादन में है; यादव का चुनौती देकर झिंझोड़ने में, या फिर चेतना के पोर-पोर पर व्याप्त हो जाने में।

यों यादव ने भी कमोबेश मनुष्य की उन्हीं सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं या ग्रन्थियों को उठाया है, जो जैनेन्द्र या अज्ञेय ने उठाई थीं और यशपाल की तुलना में जैसे जैनेन्द्र और अज्ञेय अधिक जटिल वस्तु और विधान लेकर आए, उसी तरह यादव की रचना-संचेतना की जटिलता, अन्तर्विरोधों, ग्रन्थियों और संघर्षों को लेकर चली। हाँ, अज्ञेय और जैनेन्द्र से एक स्पष्ट अन्तर और व्यापक विकास की स्थिति यादव में अवश्य है। जैनेन्द्र की 'त्रिपुटियों' का मोह यादव में प्रतिरोध (इन्हीबीशन) की हद तक है। 'शह और मात' में उदय, सुजाता और अपर्णा, 'एक इंच मुस्कान' में (मन्नू भण्डारी से इस क्षमा-याचना सहित कि इसे मैं केवल यादव के सन्दर्भ में याद कर रहा हूँ—वह भी केवल उन अंशों को, जिनके लेखक यादव हैं) में अमर, अमला और रंजना। इनसे अलग हटकर जब भी यादव ने किसी एक ही पात्र या स्थिति के अन्तर्संघर्ष पर लिखा है, तभी द्वन्द्वात्मकता के स्थान पर एक त्रिकोणात्मक संघर्ष (ट्रायंगुलर फाइट) पर अधिक भरोसा किया है। कहानी 'प्रतीक्षा', तिहरी प्रतीक्षा की कहानी है

और 'उखड़े हुए लोग' में भी विघटन का नाटक और प्रतिक्रियावादी शक्तियां से संघर्ष, एक साथ तीन-तीन ध्रुवों पर चलता है—राजनैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक। इन सबका एक आपसी संघर्ष है, जिसमें पूरा युग टूटता है। दो पक्षों में चले आते हुए द्वन्द्व या संघर्ष से यादव अलग हटकर चले हैं। दो पक्षों में विभाजित संघर्ष का स्वरूप अधिक यथार्थ भले हो, वह मानवीय संघर्ष को व्यापक धरातल पर उठा कर नहीं देख पाता। वह अधर में छोड़ देने की स्थिति तक ही चलता हे, या फिर बनी-बनाई निष्पत्ति तक। और यहीं यादव, जैनेन्द्र के अतिक्रमण हैं। जैनेन्द्र में संघर्षों और द्वन्द्वों की कोई भी निश्चित सामाजिक या परिवेशगत भूमि नहीं है, वे स्वतन्त्र अन्वितियाँ अवश्य हैं, मगर विभक्त इकाई और कटी-छँटी संज्ञाएँ भी हैं। उनके संघर्ष मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के पूर्व निर्धारित या स्वनिर्मित मनोराज्यों की काल्पनिक लड़ाइयाँ हें, इसीलिए एक आश्चर्यजनक, शक्तिशाली और अभिभूत कर देनेवाली भंगिमा लेकर भी जैनेन्द्र अन्तिम स्थिति में पाठक को कहीं नहीं ले जाते। भीतर और बाहर सर्वत्र एक दर्शनाभासी कुहासा आच्छन्न रहा आता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि जैनेन्द्र में संवेदना की शक्ति की निहायत कमी है। वे समस्याओं और प्रश्नों की ओर एक भावुक हृदय या उद्धार करने वाले शहीद की सी भंगिमा लेकर ही गए हैं, इसीलिए उनके उपन्यास और कहानियाँ, उनके पात्र और स्थितियाँ एक भावुकतापूर्ण वातावरण में तिरती और वैसा ही प्रभाव अर्जित तो कर लेती हैं; लेकिन वे संवेदना का स्तर बदल दें, सोचने-समझने की नई दिशा दे दें, या अनुभवों को एक नई राह पर मोड़ दें, ऐसा कम ही होता है। उनकी आच्छन्न भावुकता (जो छद्म वौद्धिकता और दर्शन का मुखौटा लगा कर आई) ने हिन्दी में एक शरत्चन्द्र की कमी जरूर पूरी की, लेकिन आज हिन्दी-कथा निश्चित ही शरत् और जैनेन्द्र से आगे की संवेदना, अनुभूति और परिस्थिति की कथा है, और इस दिशा में यादव का अपना महत्त्व है। यादव ने, संघर्षों और द्वन्द्वों को इस रूप में नहीं देखा। उनका अमर या उदय, जैनेन्द्र के पुरुष पात्रों की तरह अमला और रंजना या सुजाता और अपर्णा के ध्रुवों से अनुशासित निष्क्रिय और नपुंसक पात्र नहीं है। उनका अपना ही एक ध्रुव है, यों कि उनका अहं तीन-तीन स्वतन्त्र इकाइयों में बँट गया है, या तो वे तीनों ही एक साथ संघटित और फलीभूत हों, या फिर वैसे ही तीनों केन्द्रों में विभाजित और प्रवंचित रहे जाएँ। यही संघर्षो की 'त्रिध्रुवीयता' है, और यह अधिक जटिल और गुत्थीमय है। इससे विभाजन और द्वन्द्वात्मकता एक पूरी परिणति तक या कम-से-कम संश्लेषण (सिन्थीसिस) की स्थिति तक तो पहुँच ही जाती है। वहां मानवीय नियति की एक निश्चित दिशा और संघर्षो की सार्थकता है और मन के अनेक स्तरों पर प्रतिफलन के साथ ही एक व्यापक परिवेश से संयुक्ति का साधन भी वही है।

यह सही है कि मनोवैज्ञानिक जटिलताओं और ग्रन्थियों का आसरा यादव ने अपेक्षाकृत अधिक लिया, बल्कि यही उनका उपजीव्य है, लेकिन उनका मनोविज्ञान या विनोविश्लेषण, ड्राइंगरूम में बैठे हुए व्यक्ति द्वारा फ्रायड, एडलर, युंग यागेस्टाल्ट के सिद्धान्तों का किताबी चर्वण नहीं है, वह जीवन और समाज की व्यापक कर्मभूमि

से निष्पन्न मनोविज्ञान है। कुण्ठा और दमन, अहं की विकृति और ग्रन्थिमय व्यक्तित्वों की कतार उनमें भी है, लेकिन वे केवल 'क्लिनिकल केस हिस्ट्रीज' न होकर व्यापक सामाजिक जीवन से सीधी उठती हैं, और उनका विश्लेषण समाज या यथार्थ की किसी-न-किसी प्रवंचित स्थिति का प्रतीक होता है। अकेलेपन की घुटन, हीनता-ग्रन्थि, सेक्स की कुण्ठा, विभाजित व्यक्तित्व की पीड़ा, मानसिक तनाव की बढ़ती हुई स्थिति, प्रक्षेपण की वृत्ति, आत्मरति, माध्यम बन जाने की विवशता से उत्पन्न प्रतिगमन आदि कितने ही मानसिक उद्वेलनों और ग्रन्थियों को लेकर यादव चले हैं, लेकिन वे सबके सब आरोपित नहीं हैं, बल्कि जीवन की ठोस वास्तविकताओं से उनकी एक तार्किक संगति है। 'प्रतीक्षा', 'टूटना', 'किनारे से किनारे तक', 'खुले पंख टूटे डैने', 'पास फेल', 'मज़ाक', 'खुशबू', 'माध्यम का विद्रोह' और 'गार्जियन'—कहानियाँ ऐसी ही हैं, और 'कुलटा' तथा 'अनदेखे अनजाने पुल' लघु उपन्यास की तो मूल और प्रेरक भूमि ही यही है। यद्यपि ये दोनों उपन्यास दो अलग-अलग छोरों पर हैं, फिर भी उनमें मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि और जटिलताओं का जो अध्ययन है, उसी के सन्दर्भ में मैंने इन्हें एक साथ रख दिया है। मिस्टर और मिसेज तेजपाल की परिणति और निन्नी की नियति किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के चौखटे में फिट की हुई नहीं है, वे परिवेश और व्यापक सामाजिक सत्य की अंग बनकर आई हैं। और चूँकि यह सब अर्थात् यादव की व्यक्तिसत्ताएँ और स्थितियाँ कटी-छँटी और विभक्त नहीं हैं, इसलिए उनमें एक ऐसी शक्ति है जो और कहीं विरल है। यादव का कोई भी पात्र दया की भीख माँगने नहीं आता, उनमें से किसी को कृपा-दृष्टि और करुणा की आवश्यकता नहीं है। शरत् या जैनेन्द्र की तरह उनकी नारियाँ 'आँचल में दूध' और 'आँखों में पानी' लिए हुए हृदय विदीर्ण करने नहीं आतीं (जबकि राकेश के पात्र अपनी पीड़ा के लिए और नहीं तो कम-से-कम सहानुभूतिपूर्ण शाब्दिक संवेदना अवश्य चाहते हैं) इसका भी कारण है। यादव अपने कथ्य और पात्रों की रक्षा के लिए जैनेन्द्र या शरत् की तरह आगे बढ़कर नहीं आते (लेखक को पात्र या वस्तुरचना की ढाल नहीं होना है, यही उसकी ईमानदारी और यथार्थदृष्टि का तक़ाज़ा है)। अतः करुणा उत्पादन या नारों के लिए उन्हें उत्प्रेरक (केटेलिक एजेण्ट) की तरह प्रयुक्त नहीं करते। वे अपने-आपको सार्थक करने वाली स्वतन्त्र अन्वितियाँ हैं और लेखक की संचेतना या उसके भाव-बोध को अनायास व्यक्त कर जाती हैं। इसीलिए उनकी ट्रेजेडी मनोविश्लेषण के प्रयोगों की कहानी से आगे बढ़कर आधुनिक व्यक्ति के 'स्प्रिचुअल' और नैतिक मूल्यों की खोज की कहानी है। मसलन 'प्रतीक्षा' केवल तिहरी प्रतीक्षा की कहानी नहीं है, बल्कि वह पुराने सारे 'मौरल इनहिबीशन्स' से निकल कर एक ऐसे बिन्दु पर खड़े लोगों की कहानी है, जो अनजाने ही किसी एक नैतिक धरातल की खोज में आकुल हैं। कहानी के तीन पात्रों में से किन्हीं दो के सम्बन्ध नैतिक नहीं हैं और उन्हें लेकर कोई 'गिल्ट' या 'सिन' की अनुभूति वहाँ नहीं है, बल्कि ऊपर से देखने में तीनों ही निहायत व्यक्तिगत स्वार्थ-दृष्टि से अपने-अपने अवसर की प्रतीक्षा में हैं। मूल्यों के विघटन या 'मौरल-इमौरेल' से आगे मूल्यहीन या 'अमौरल' धरातल पर खड़े अनावृत्त हैं। यह 'गिल्ट' और 'सिन' अर्थात्

नैतिक संक्रमण से उत्पन्न 'वैकुअम' 'खुशबू' के नायक में बहुत तीव्र है, जो इनका बोझ अपनी आत्मा (अपने 'सेल्फ') पर लिए किसी अनजान (पार) की खुशबू की तलाश में रिक्शा लेकर शहर को एक सिरे से दूसरे सिरे तक (आत्ममुक्ति या उपलब्धि के प्रयत्न में) नापता रहता है। 'टूटना' इन दोनों के बीच में है, जहाँ नायक सारे मूल्यों से टूटकर 'अमौरल' की स्थिति में है। शायद इसीलिए वे अभिभूत करने के स्थान पर प्रश्नों को उभारते और उनसे संघर्ष करते हैं, दृष्टिबोध को एक नए धरातल पर उठा देते हैं, या संवेदना के स्वभाव को बदल देते हैं। और कला की शक्ति की पहचान अभिभूत कर सुला देने में नहीं है, झकझोर कर जागृत करने में है। जो यह कहते हैं कि कविता या कला हमें कहीं नहीं पहुँचाती, निश्चित ही वे स्वयं दिग्भ्रमित हैं। हमें पूर्ण करने की दिशा में कला निरन्तर एक सेतु है, अपने समग्र व्यक्ति के 'रियलाइजेशन' के रास्ते में वह सदैव एक माध्यम है।

जहाँ एक ओर यादव में जैनेन्द्र की 'त्रिपुटियों' का मोह है, वहीं अज्ञेय की ही तरह बुद्धिवादी और कला-धर्मी वस्तु और पात्रों के प्रति भी उनकी अनुरक्ति है। इसीलिए उनके कथ्य और पात्रों का एक बड़ा हिस्सा समाज-धर्मा कम, कला-धर्मा अधिक है। अज्ञेय के शेखर और भुवन. शशि और सरस्वती, रेखा और गौरा की ही तरह, यादव के अमर और उदय, अमला और रंजना, अपर्णा और सुजाता—ये सब कहीं-न-कहीं एक ही मिट्टी के बने हैं। भावना और बुद्धि का द्वन्द्व, एक वृहत्तर और उच्चतर सत्य पाने की ललक, और अपने वर्तमान से 'मुक्ति' की आकांक्षा इनकी समान है, लेकिन यादव और अज्ञेय के 'एप्रोच' में एक फर्क है। यादव ने उनके वर्ण को ही बदल दिया है। अज्ञेय और यादव के आलोक भिन्न-भिन्न हैं और उनमें विशिष्ट रंगों और रूप-छवियों में भी पर्याप्त अन्तर है। वे दो पृथक् रूप ही नहीं, दूसरा पहले का अतिक्रमण भी है। अज्ञेय ने अपने कुंठा और अनास्थामय विद्रोह के दर्शन से एक मोहक धूमिलता का निर्माण किया और शेखर या भुवन 'अहं'-रत होकर निरुद्देश्य विद्रोह के मिथ्याभाव में प्रवंचित और स्खलित होते गए। लेखक की अतिरिक्त सहानुभूति पाए हुए, साँचे में ढले ये व्यक्तित्व, घटनाओं और परिस्थितियों से एकदम निस्संग और विच्छिन्न हैं। न तो इनके संघर्षों का कोई व्यापक अर्थ-सन्दर्भ है और न ही उनकी क्रमिक पराजय और मानसिक विपर्यय की कोई सार्थकता। समाज और परिवेश से कटे हुए आत्मपीड़क और परपीड़क इन पात्रों की भूमि भी नितान्त व्यक्तिगत और काल्पनिक है और मनोवैज्ञानिक प्रयोगों की भरमार भी अन्ततः निरर्थक हो जाती है। उनके जीवन-दर्शन और जीवन में कहीं कोई तारतम्य और अभिन्नता नहीं है। इसीलिए इतनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और परिष्कृत कला के बाद भी अज्ञेय का मनोविज्ञान-पाण्डित्य और विद्रोह कहीं नहीं ले जाता। अज्ञेय ने अपने पात्रों और अपनी दृष्टि को ही निरपेक्ष मानकर ऐसी गरिमा, ऐसी भव्यता और ऐसी महानता दी कि वे यथार्थ और जीवन्त भूमि पर आते ही अरअरा कर गिर पड़े। उनके पात्र विशिष्ट होते हुए भी प्रवंचित, स्खलित और कुण्ठित, पराजित हैं—मानों यही सिद्ध-सत्य हो, लेकिन यादव के पात्र प्रवंचित और स्खलित, कुण्ठित और पराजित होते हुए भी महत् हैं, इसलिए कि उनके

स्वप्न और उनकी आकांक्षाएँ एक वृहत्तर सामाजिक सत्य से सम्पृक्त हैं। जहाँ अज्ञेय के पात्र अपनी आत्मरति और आत्मपोषण की दुनिया बसाकर उसी में वंचित हैं, वहाँ यादव के पात्रों के अन्तर्बाह्य संघर्षों की एक सामाजिक भूमि और सन्दर्भ है, वे व्यक्ति की ट्रेजेडी या स्खलन नहीं, पूरी पीढ़ी की व्याकुल और संत्रस्त स्थिति के प्रतीक हैं। एक की महानता स्वयं निर्मित 'शुतुर्मुर्गी यूटोपिया' की है, तो दूसरे की यथार्थ-सीमाओं को विस्तृत कर उन्हें व्यापक करने और आत्ममुक्ति की। इसीलिए शेखर और भुवन की अपेक्षा अमर और उदय, रेखा और गोरा, सरस्वती या शशि की अपेक्षा अमला और रंजना, सुजाता और अपर्णा अधिक अन्तरंग हैं। यादव के पात्र साँचे के ढले हुए व्यक्तित्व नहीं हैं। उनका क्रमिक विकास होता गया है। (इस दृष्टि से 'उखड़े हुए लोग' की पद्मा का ही अग्रिम विकास 'शह और मात' की अपर्णा और 'एक इंच मुस्कान' की अमला के रूप में देखा जा सकता है)। वे निरन्तर अपनी सीमाओं को छोड़ते हुए विकसित होते हैं। ये ही यादव में विकासशील रचना-संचेतना का पता देते हैं।

यादव विशिष्ट कलाकार इसलिए हैं कि उन्होंने एक ही स्तर और आयाम पर अपनी चेतना केन्द्रित नहीं की है, वह निरन्तर व्यापक होती गई है। आरम्भ से लेकर जहाँ 'लक्ष्मी कैद है' तक, उनकी कहानियों का एक स्तर और स्वभाव है, और उसके बाद दूसरा, इसी तरह 'सारा आकाश' और 'उखड़े हुए लोग' का एक, 'कुलटा' और 'अनदेखे अनजाने पुल' का दूसरा एवं 'शह और मात' तथा 'एक इंच मुस्कान' का तीसरा। यहाँ मैं कहानियों के दूसरे और उपन्यासों के तीसरे रूप की बात करूँगा। यों उनकी कहानी-यात्रा के हर मोड़ और चरण पर, स्थूलतः हर कहानी-संग्रह में, कुछ ऐसी बौद्धिक और कला समस्याएँ या प्रश्न हैं, जिन पर यादव का चिन्तन मूर्त होकर आया है। 'बड़ी कृपा है', 'बेटी का बाप', 'अन्धा शिल्पी और आँखों वाली राजकुमारी', 'पहली कविता' और 'प्रश्नवाचक पेड़' इस दृष्टि से देखने योग्य हैं—जहाँ रचना पर संकट और उसके कुछ व्यावहारिक पहलू रूप (फार्म) और वस्तु की पारस्परिक धारणा आदि, कहानियों के माध्यम से मुखर हुई हैं और 'शह और मात' तथा 'एक इंच मुस्कान' की मूल भूमि और संघर्ष की कला सम्बन्धी है। लोग कह सकते हैं कि मेरा यह मंतव्य इन उपन्यासों के बारे में आरोपित (फारफेच्ड) है, जबकि 'शह और मात' तो प्रेम के सूक्ष्म और अज्ञेय रूप का परिदर्शन है और 'एक इंच मुस्कान' एक बुद्धिजीवी की ट्रेजेडी तथा व्यक्तित्व का स्खलन है। उपन्यासों के इस अर्थ-स्तर से मैं असहमत नहीं हूँ, लेकिन मैं उनके निहित अर्थ और प्रेषित एवं ध्वनित सन्दर्भ की बात कर रहा हूँ। मैंने दोनों उपन्यासों को कला सम्बन्धी केवल इसीलिए नहीं कहा है कि उनके पात्र कलाधर्मी और कलाकार हैं, बल्कि उनमें इन पात्रों के व्यक्तित्व के माध्यम से समकालीन रचना के अनेक पहलू और प्रश्न उभर कर आए हैं। इस विषय पर विस्तार से फिर कभी, यहाँ इतना कह देना बस होगा कि उदय के माध्यम से जहाँ लेखन की आशंकाओं पर प्रकाश है, वहीं अमर के माध्यम से कला के मौलिक 'कमिटमेण्ट्स' और उसके 'मिथ' का जीवन के मूलभूत प्रश्नों के सम्बन्ध पर चिन्तन है। इस माध्यम से यादव ने समसामयिक कला के कई प्रश्नों का उत्तर दिया है—जो उपन्यासों में 'रेडीमेड'

नहीं है, वह निर्वचनीय है। वैसे नामवर सिंह के प्रश्न का यही उपयुक्त स्थल है कि "इन बातों के लिए दर्शन का निबन्ध क्या कम है, जो उपन्यास और कहानियों की जरूरत पड़ी? जिन्दगी की मांसलता और टोस वास्तविकता का चित्रण फिर कौन करेगा?" मेरा कहना केवल इतना है कि चिन्तन के क्षेत्र तक ही क्यों सीमित रखा जाए? क्या कला जिन्दगी की मांसल और ठोस वास्तविकता का ही अंग नहीं है? वह दिन लद गए, जब कला और कलाकार जिन्दगी से असम्पृक्त इकाई के रूप में पले-पनपे। अब तो ठोस और भीषण यथार्थ की मार से वे भी धरती पर आ गए हैं, और जरूरत है कि उन्हें भी जिन्दगी की मांसल और ठोस वास्तविकता के रूप में ग्रहण किया जाए। कला को इस स्तर पर ग्रहण करने का ही परिणाम है कि जैनेन्द्र या अज्ञेय की तुलना में यादव में पाठक, एक दर्शक की हैसियत ही नहीं रखता, उसका एक सामान्य सहभागी भी होता है। उनकी रचनाओं में उत्तप्त अनुभूति का आवेग और जीवन का ताप आ सका है। वहाँ विचार या दर्शन से निष्पन्न जीवन नहीं है, वरन् जीवन में एक अविश्वसनीयता का तत्त्व है, अज्ञेय के पात्र और वस्तु एक छद्म गरिमा और ऐश्वर्य को लेकर चलते हैं, अतः सम्भावना से उनकी दूरी अधिक पड़ जाती है, जबकि यादव में वस्तु की 'औपन्यासिकता' कम 'जीवन-'ता' अधिक है। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक या वैचारिक संशय के भार से अपने-आपको मुक्त रखा है और उनके कोई भी वैचारिक, नैतिक या दार्शनिक 'कमिटमेण्ट्स' या पूर्वाग्रह नहीं हैं (कम-से-कम रचना में)। सिद्धान्तों के मुखौटों को फेंककर वह सीधे जीवनधारा से संयुक्त हो गई है। इसीलिए जहाँ अज्ञेय और जैनेन्द्र की रचनाओं का स्वभाव किसी हद तक प्रतिक्रियावादी और जीवन की गतिमान यथार्थधारा से असम्पृक्त है, वहाँ यादव, यशपाल और प्रगतिशील कथाकारों की यथार्थ चेतना और व्यापक सामाजिक जागरूकता से अनायास जुड़ गए हैं।

यह व्यापक सामाजिक जागरूकता और यथार्थ चेतना उनकी कहानियों के पहले चरण और 'सारा आकाश' तथा 'उखड़े हुए लोग' में अधिक सक्रिय है। इस जागरूकता और चेतना के कहानियों में तीन स्तर हैं। एक वह जिसमें निम्न-मध्यवर्ग की कुण्ठित और विकृत विवश स्थितियों का प्रतिविम्ब है ('लंच टाइम', 'रोशनी कहाँ', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'हत्यारी माँ' और 'लकड़हारा') दूसरा अतीत और रूढ़ियों से चिपटे विशृंखलित होते हुए मध्यवर्ग की वह पीड़ा, जो उसकी प्रगति और सक्रियता को अवरुद्ध करती है ('तलवार पंच हजारी', 'आत्मा की आवाज', 'बिरादरी बाहर', 'भविष्यवक्ता') और तीसरा वह, जहाँ मध्यवर्ग एक मिथ्या मूल्यों के कुहासे से लिपटा हुआ हर ओर क़दम बढ़ाता है, लेकिन कहीं नहीं पहुँचता, उसकी दिग्भ्रमित स्थिति संस्काराक्लिष्ट उसकी चेतना की वृत्ताकार भागती गति की कहानियाँ हैं ('नए-नए आनेवाले', 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'पास फेल' आदि) कहानियों की यही चेतना 'सारा आकाश' में घनीभूत हो गई है और वह निम्न-मध्यवर्ग के एक संयुक्त परिवार की टूटती-बिखरती स्थिति और पुरानी रूढ़ियों एवं संस्कारों तथा अतीतमोह से मुक्ति की तड़प लिए जीवन की नई अर्थपूर्ण दिशाओं की खोज में निकलने वाली नई पीढ़ी और युग के व्यापक संघर्ष की कहानी है। 'उखड़े हुए लोग' यद्यपि यादव का पहला उपन्यास है लेकिन

उनकी विशिष्ट कृति के रूप में मुझे वही याद आता है। युद्धोत्तर मानवीय सम्बन्धों के संक्रमण की वह कथा है जिसका केन्द्र राजनीतिक और सामाजिक जीवन है। स्वतन्त्रता प्राप्ति की ऐतिहासिक घटना के पश्चात् उस विकास-क्रम में जो अगला कदम होना चाहिए था, वह कई कारणों से लड़खड़ा गया और प्रतिक्रियात्मक शक्तियों की जीत होती चली गई। वह सारा आदर्श और स्वप्नों का वायवीय लोक, जो हमें आकर्षित किए हुए था, एकाएक छिन्न-भिन्न हो गया और उन मतों और मूल्यों में किसी का विश्वास नहीं रहा। इस पृष्ठभूमि में शरद और जया या सूरज का स्वप्न भंग, पूरी पीढ़ी का स्वप्न भंग है और नई मूल्य-रचना की स्वाभाविक यंत्रणा से वह संत्रस्त है। इस यंत्रणा और विघटन की घड़ी में भी करुणा नहीं, व्यंग्य उभरता है। और यही यह शक्ति है, जिसके कारण 'उखड़े हुए लोग' पढ़ते वक्त मुझे बेसाख्ता 'डॉक्टर जिवागो' की याद आई। मुझे दोनों की अन्तर्प्रेरणा और मूलभूमि में एक समानता दिखाई दी। रूसी क्रान्ति की ऐतिहासिक घटना के प्रतिगामी प्रभावों की करुण गाथा के पीछे जिस व्यापक मानवीय सम्बन्धों की तड़प पास्तरनाक में है, वही तड़प 'उखड़े हुए लोग' में भी है। डॉक्टर ज़िवागो का एक पात्र कहता है—'इतिहास के दौरान ऐसा कई बार हुआ, एक वात जिसकी कल्पना बहुत उच्च और आदर्श प्रकार से की गई वह बाद को चलकर बहुत स्थूल और भोंडी हो गई।' राष्ट्रीय आन्दोलन की निष्पत्ति भी उतनी ही स्थूल और भोंडी रही, वह सूरज अपनी स्वप्रेरणा से देखता है, इसलिए वह भीषण मानसिक तनाव लिए सारे उपन्यास के सन्दर्भो को बदलता चलता है। (बिल्कुल इसी सन्दर्भ में यशपाल का 'झूठा-सच' और अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' भी याद किए जा सकते हैं) और यही वह केन्द्र या स्तर है, जहाँ यादव ने सारी प्रगतिवादी कथा-धारा को एक सार्थक मोड़ दिया है। यह भाषणों और नारों में नया सूरज उगानेवाली आवेशमयी वृत्ति का एक रचनात्मक धरातल है। यहाँ रचना-संचेतना, शुद्ध रचनात्मक और यथार्थवादी शक्तियों का संयुक्त स्वरूप हे।

यही कारण है कि अपनी विषयवस्तु के प्रति एक प्रकृतवादी समर्पण राजेन्द्र यादव में नहीं मिलता। वह तो बड़ी तटस्थता से एक माध्यम और आश्रय के रूप में प्रयुक्त होती है, इसीलिए वह केवल कथा-कहानी नहीं रहती। कथा से स्वाभाविक और अनिवार्यतः एक विचार, एक सत्य, जो कथा की, पात्र की, जीवन की एक उपलब्धि बनता है—प्रसूत होता है। यही सारी पात्र-रचना और वस्तु-निर्वाह के सम्बन्ध में काफी दूरी और प्रगाढ़ता से सोचने को विवश करता है। इसलिए शायद वह प्रवाह, वह रोचकता और वह अभिभूत करनेवाली शक्ति, यादव की रचनाओं में नहीं है, जो कहानी के लिए आवश्यक कही गई है। बड़ी सतर्कता और धैर्य के साथ उसे पढ़ना होता है और उसकी रचनाएँ एक बोझिल-वाचन (रीडिंग) देती हैं। वह, वे दुखान्तवादी संवेदनाएँ नहीं जगातीं, जो प्रगतिवादी और सामाजिक कथाकारों का उद्देश्य होता है। यहाँ सामाजिक यथार्थ लक्ष्य नहीं है, वह तो माध्यम या सेतु है। यहाँ तो पूरी कथा और पात्रों को एक व्यापक कलात्मक सन्दर्भ पर अनायास उठा देने की एक तीव्र ललक है; और सामाजिक यथार्थ और जीवन की ठोस वास्तविकता को अपने 'निहित' अर्थ के लिए

प्रयुक्त किया जाता है। यादव सामाजिक क्रान्ति के दौर की प्रगतिवादी संचेतना के लेखक नहीं हैं। उनकी संवेदना का स्तर बेहद परिष्कृत और सूक्ष्म है और मनोवृत्ति, विशुद्धतः कलात्मक।

उनकी शिल्प के प्रति अतिरिक्त जागरूकता का भी यही कारण है। काव्यधर्मा बिम्बों का लम्बा फैलाव, जगह-बेजगह प्रतीकों की क़तार और किसी एक ही प्रतीक को कथा में बुनने की सायासता ('अनदेखे अनजाने पुल' में 'तिलचट्टा') बेहद बारीक संकेतों से कथावृत्त, 'सोफिस्टिकेटेड' भाषा इसी शिल्प-अनुरक्ति के परिणाम हैं, गोकि वह व्यक्ति और परिवेश के अनेक जटिल और संश्लिष्ट स्तरों को पाने के लिए अपरिहार्य है। अधिक-से-अधिक विविधता, अनुभवों का विस्तार और अनुभूतियों की गहराई और अन्ततः आत का कथ्य—जो पूर्ववर्तियों और कई समकालीनों की तरह 'इकहरा' नहीं है—निश्चय ही अधिक जटिल, 'सटिल' और अनेक स्तरीय 'ट्रीटमेण्ट' की माँग करता है; और शिल्प परिष्कार या चैतन्य आवश्यक हो जाता है। इस, अतिशय शिल्प-सायासता ने जहाँ अज्ञेय और अकथ्य भावदशाओं और मानसिक उद्वेलनों को उजागर किया है, मनुष्य की चेतना के विभिन्न और विविध स्तर उभारे हैं, रुक्ष और बेरस यथार्थ को व्यापक सन्दर्भों में उठाया है, व्यक्ति-सत्य और पीड़ा को वृहत्तर सामाजिक सत्य और पीड़ा से संयुक्त किया है, और स्वानुभूति और आत्मपरकता को तटस्थ निर्वैयक्तिता प्रदान की है, या यथार्थ और कला में एक संतुलन रखा है, वहीं डर है कि यह कहीं और बढ़ी, तो कहानी 'हवा' होकर न रह जाए, जैसा कि कुछ शिल्पवादियों के साथ हुआ भी। शिल्प की इस अनुरक्ति और सायासता के बाद भी यह यादव के ट्रीटमेंट या निर्वाह की कुशलता है कि वे सामाजिक यथार्थ के लेखक होते हुए भी स्थूल यथार्थवाद से सीमित नहीं हैं, और परिष्कृत एवं सूक्ष्म कला-संवेदनाओं के लेखक होते हुए भी मात्र कलावादी नहीं हैं। यहाँ आकर सामाजिक रूढ़ियों से द्रोह और कलागत (या रूपगत ही सही) रूढ़ियों का निषेध परस्पर विरोधी बातें नहीं रह जातीं। वे एक-दूसरे का पूरक बन जाती हैं। 'प्रतीक्षा' और 'टूटना' को ही लीजिए, उनमें सामाजिक यथार्थ परम्परागत दृष्टि से नहीं उठाया गया, यों हैं वे सामाजिक प्रश्न ही, लेकिन कला के प्रयोग के रूप में भी उनकी सार्थकता है। यहीं यादव की सानुपातिक अन्तर्दृष्टि या संतुलन का पता चलता है। वे अज्ञेय और जैनेन्द्र से अधिक सामाजिक यथार्थ के लेखक हैं लेकिन यशपाल निकाय के लेखकों से अधिक गहनतर अभिप्रायों के भी। इसी तरह समकालीनों में भी जहाँ निर्मल वर्मा की काव्यात्मक, रूप और विषय सम्बन्धी एकरसता से वे अधिक विविध, जीवन्त और सामाजिक दायित्व-बोध-पूर्ण हैं, वहीं राकेश, शानी और अमरकान्त की 'इकहरी' बुनावट वाली कहानियों के विषय और पात्रों की तरह व्यक्ति और परिवेश की आन्तरिक चुनौतियों से कतराने की विवशता भी उनमें नहीं है। दरअसल वे इन दोनों की रचना-संचेतनाओं के बीच एक सेतु की तरह हैं और यही पूर्व परम्पराओं का विकास और उनमें कुछ नया संयुक्त कर जाना है।

('हिन्दी कहानी का सफरनामा' से साभार)

राजेन्द्र यादव : डूबता जहाज और बंदरगाह की तलाश

गिरिराज किशोर

अमरकान्त या शैलेश मटियानी पंक्ति-बोध की दृष्टि से उस पांत से गिरे हुए कथाकार हैं जिसमें राजेन्द्र यादव, राकेश और कमलेश्वर जगह पा गए हैं। जहाँ पर इन लोगों ने अपने को प्रतिष्ठित पाया है वहाँ अमरकांत और मटियानी तो हैं ही नहीं, निर्मल वर्मा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोवती जैसे बहुचर्चित लोग भी अपने को प्रतिष्ठित नहीं करा पाए। साहित्य में अगर 'स्टारवेल्यू' प्राप्त कथाकार हुए हैं तो यही तीन कथाकार हैं। शेष सब लोग केवल कथाकार मात्र ही बने रहे। इस सम्बन्ध में मन्नू जी की बात सही मालूम पड़ती है कि अमरकांत कितने भी सक्षम कथाकार क्यों न हों परन्तु 'नई कहानी' के नाम पर अध्यापक, छात्र और पाठक के सामने यही तीन नाम आते हैं और यही समझा जाता है कि 'नई कहानी' में जितना बड़ा और महत्त्वपूर्ण योगदान इन लोगों का है, वह किसी दूसरे का नहीं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या इनका यह 'सितारत्व' उनकी रचनात्मकता के कारण भी स्थापित हुआ था? शायद अब किसी को इस बात को मान लेने में शक नजर नहीं आता कि यह 'सितारत्व' रचनात्मकता के कारण उतना नहीं था जितना प्रचार-चातुर्य के कारण था।

जब साठोत्तरी पीढ़ी ने लिखना और छपना शुरू किया उस समय यह 'त्रिदीप' अपने चरमोत्कर्ष पर था। इनके चारों ओर शून्य निर्मित हो चुका था। इनके प्रभाव-क्षेत्र में बड़े पूंजीपति थे, संस्थाएँ थीं, पत्रिकाएँ थीं। लेखक इन लोगों से जुड़ने के लिए लालायित रहते थे। एक नए लेखक की सबसे बड़ी कमजोरी पत्रिकाएँ और चर्चा होती है। ये दोनों बातें इन्हीं लोगों के माध्यम से उपलब्ध हो सकती थीं। इन तीनों में से उस समय नई पीढ़ी के सबसे अधिक सम्पर्क में कमलेश्वर थे। दरअसल उस समय तक 'सारिका' उनके हाथ में नहीं आई थी और न तब तक उन्होंने लेखकों की खाल में भुस भरने की आकांक्षा ही पाली थी। कमलेश्वर में उस समय पर्याप्त सहृदयता थी। राकेश की सबसे ज्यादा और राजेन्द्र की कुछ कम 'स्नाब-वेल्यू' थी। नए लेखकों तक पहुँचने के लिए कम-से-कम राकेश ने कमलेश्वर का उपयोग एक पाइप लाइन के रूप में किया था। कहा तो यहाँ तक जाता है 'नई कहानियाँ' के जमाने में राकेश कमलेश्वर को चिटों के द्वारा ऊपर के खण्ड से नीचे निर्देश

भेजा करते थे। लेकिन खैर उन लोगों का यह समीकरण एक मित्रता और स्वार्थ का समीकरण था। उसमें बाहरी आदमी की दखलअंदाजी का कोई स्थान नहीं था।

राजेन्द्र से पहले, मेरी मुलाकात कमलेश्वर और राकेश से हुई थी। राकेश से वह मुलाकात, मुलाकात ही बनी रही, कमलेश्वर से हल्की-सी निकटता भी हो गई। राजेन्द्र यादव से मुलाकात शायद सन् 1963 या 1964 में हुई। तब ये तीनों एक साथ इलाहाबाद आए थे।

राजेन्द्र से साक्षात्कार होने से पहले ही उनके साथ मेरा एक परोक्ष परिचय हो चुका था। उस परिचय ने अनजाने एक ऐसा प्रभाव छोड़ा था कि राजेन्द्र एक अच्छे इन्सान भी हैं। हालाँकि उनका यह परिचय प्रचलित मान्यता के अनुसार उनके साहित्य के अच्छे होने की स्थिति को थोड़ा संदिग्ध बनाता था। क्योंकि अच्छे लेखन की यह शर्त कतई नहीं कि इंसान के रूप में भी वह अच्छा ही हो। बल्कि इसका उल्टा होना ज्यादा प्रामाणिक माना जाता रहा है। इसलिए कई बार सोचा कि आदमी का ऐसा भी क्या अच्छापन कि उसके साहित्य को ही संदिग्ध कर दे या अच्छा होने की कोटि से निकाल दे। राजेन्द्र यादव को अपने साहित्य के हित में ही सही अपनी इस 'इमेज' को तोड़ देना चाहिए। काफ़ी बाद में पता चला कि राजेन्द्र यादव की वह 'इमेज़' एकाएक बदल गई और कुछ लोगों ने उन्हें अच्छा इंसान मानना बन्द कर दिया। तब मुझे लगा, धारणाओं के इस परिवर्तन से अब वे एक अच्छे साहित्यकार जरूर हो गए होंगे।

राजेन्द्र यादव के प्रति मेरी इस प्रकार की धारणा बनवाने की जिम्मेदारी स्व. रामनारायण शुक्ल पर थी। रामनारायण शुक्ल राजेन्द्र यादव के प्रशंसकों में थे। कलकत्ता में रहते हुए इन दोनों भाइयों (प्रयाग शुक्ल और रामनारायण शुक्ल) का राजेन्द्र यादव से सम्पर्क हुआ था।

राजेन्द्र यादव के लिए उनके मन में एक कलप थी। एक बार उन्होंने 'कहानी' के किसी विशेषांक के लिए उनसे कहानी मँगवाई थी, लेकिन श्रीपत जी ने उसे वापिस कर दिया था। यही नहीं, बकौल उनके श्रीपत जी ने राजेन्द्र को एक अच्छा कहानीकार मानने से भी इंकार किया था। हालाँकि राजेन्द्र की चर्चित और प्रतिष्ठित कहानियाँ भैरव जी के सम्पादकत्व में, उसी पत्रिका में पहले छप चुकी थीं। रामनारायण शुक्ल एक संवेदनशील और भावुक व्यक्ति थे। उनके संवेग और प्रतिक्रियाएँ कभी-कभी अतिरेक तक पहुँच जाती थीं परन्तु वे स्नेह की क़दर करने का पूरा प्रयत्न करते थे। शायद यही कारण था कि उन्होंने राजेन्द्र यादव के रचना-संसार से अधिक उनके हृदय को पहचाना।

इतना सब होने के बाद राजेन्द्र से सीधे साक्षात्कार की स्थिति आ पाई थी। उस साक्षात्कार ने राजेन्द्र यादव के प्रति बनी धारणा पर एक छोटा-सा प्रश्न-चिह्न लगा दिया। इलाहाबाद में इन तीनों के आगमन से प्रशंसक और निंदक, काफी सक्रिय हो उठे थे। दरअसल पूरा परिमल ग्रुप इन्हीं लोगों के 'सितारत्व' से उत्तेजित होकर ही कहानी को एक तृतीय श्रेणी की विधा मानने लगा था। कहानी के मंच पर लोगों

के इस रूप में उतरने से कहानी-विधा की स्थिति को मजबूत ही बनाया हो ऐसा नहीं है, वल्कि कुछ हानि भी पहुँचाई है। खैर!

वैसे ये तीनों एक साथ किसी शहर में बहुत कम जाते थे। हो सकता है यह वात इन लोगों की 'स्ट्रेटजी' का हिस्सा रही हो। विरोध के बावजूद इन लोगों को काफ़ी लोगों ने चाय आदि पर आमन्त्रित किया था। कुछ भी हो वह काल इन लोगों का स्वर्णकाल था। केशवप्रसाद मिश्र के यहाँ ये लोग चाय पर आमन्त्रित थे और मैं भी था। हम चारों को साथ ही साथ उनके घर जाना था। हम लोग दो रिक्शाओं की सवारी थे। अगली रिक्शा पर तो राकेश पहले ही जाकर बैठ गए। मुझे लगा, राजेन्द्र राकेश के साथ ही बैठना चाहते हैं। वे एक-दो कदम उस रिक्शा की तरफ बढ़े भी। लेकिन कमलेश्वर उनसे पहले और जल्दी से कूदकर उसी रिक्शा पर सवार हो गए। राकेश निकटतम मित्रों के बीच भी अपने आपको महत्त्वपूर्ण बनाना जानते थे। कमलेश्वर ने शायद शैतानी की वजह से ऐसा किया था। लेकिन इस बात का असर राजेन्द्र पर हुआ था। मैंने महसूस किया राजेन्द्र एक अन्दरूनी तकलीफ से छटपटा रहे हैं। केशवप्रसाद के घर तक वे चुपचाप और सुस्त बने रहे। वे दोनों अगली रिक्शा में क़हक़हे लगाते रहे। हालाँकि हमारी रिक्शा ही पहले पहुँची। राजेन्द्र इतने 'अपसेट' थे कि चुपचाप उतर कर एक तरफ़ खड़े हो गए। उन लोगों की रिक्श पहुँचने से पहले ही उनकी हँसी पहुँच गई थी। जब मुझे लग रहा था कि वे लोग उसी घटना पर हँस रहे हैं, राजेन्द्र को तो लग ही रहा होगा।

केशवप्रसाद मिश्र के घर पहुँचकर मैंने अनुभव किया कि राजेन्द्र जिस घटना से एकाएक कुएँ में उतर गए थे, अब कोहनी के वल वे जल्दी-जल्दी ऊपर आते जा रहे हैं। वे जल्दी ही निकल भी आए। लेखक के सामने जितनी बड़ी मजबूरी अपने मनोभावों और संवेगों के कारण परिस्थितियों में डूबने की होती है उतनी ही सामर्थ्य उससे निकल आने की भी होती है। लेकिन जो केवल डूब सकता हो और निकल न सकता हो उसका लेखकीय पक्ष ज्यादा मजबूत नहीं हो पाता। राजेन्द्र इन दोनों कलाओं को काफी अच्छी तरह जानते हैं। अपने को डुबा भी देते हैं और निकाल भी लेते हैं। इसलिए उनके डूबने के एहसास को डूबना मानकर बैठ जाना कम खतरे की वात नहीं।

किसी लेखक के व्यक्तिगत जीवन पर उतर आना कई बार काफी संकटपूर्ण होता है। जब तक उसके साहित्य के बारे में ही बात की जाती रहे तब तक स्थिति काफी सुरक्षात्मक बनी रहती है। रचनात्मक तटस्थता और व्यक्तिगत आत्मीयता को एक बिन्दु पर लाकर संतुलन बनाए रखना आसान नहीं होता। खासतौर से उस स्थिति में जबकि आत्मीयता ही आत्मीयता ली-दी जाती रही हो और तटस्थता के संकट को कभी न तौला गया हो। साहित्य में तो तटस्थता का एक स्थान होता है परन्तु व्यक्तिगत जीवन में हर इंसान आत्मीय व्यक्तियों से केवल आत्मीयता की अपेक्षा

रखता है। राजेन्द्र साहित्यकार भी हैं और मित्र भी। कभी-कभी लगता है हर साहित्यकार यह जरूर सोचता होगा कि जैसे पुलिसवालों से दोस्ती और दुश्मनी बुरी होती है उसी प्रकार साहित्यकारों की दोस्ती और दुश्मनी भी खतरे से खाली नहीं होती। राजेन्द्र यादव ने अपेक्षाकृत दोस्ती और दुश्मनी को और साहित्यकारों के मुकाबले शायद ज्यादा ही भोगा है। 'अक्षर' से पहले राजेन्द्र को दोस्तियाँ ही दोस्तियाँ मिलीं। दुश्मनियाँ भी रही होंगी पर वे या तो गैर-साहित्यिक या फिर दो-चार ऐसी-वैसी यानी घरेलू। 'अक्षर' के कुछ ही वर्षों बाद ये दुश्मनियाँ इकट्ठी हो गईं। सबसे बड़ी साहित्यिक दोस्ती तो राजेन्द्र, राकेश और कमलेश्वर के बीच मानी जाती थी। 'अक्षर' से सम्बद्ध लेखक भी उस समय दोस्त ही थे। वैसे उस समय राजेन्द्र 'अक्षर' में थोड़ा पीछे थे। सब कुछ इकट्ठा करके एक दूसरे मित्र को संचालन सौंप दिया था। कुल मिलाकर अक्षर-समीकरण का प्रारम्भ दोस्ती से ही हुआ था। लेकिन अब वह वातावरण कहीं नजर नहीं आता; बल्कि उसके बरक्स एक शत्रुता का वातावरण पुर गया है।

इस सबको देखते हुए यह प्रश्न लगातार सामने आता है कि राजेन्द्र की कौन-सी 'इमेज' ज्यादा सही थी—रामनारायण वाली और राकेश द्वारा 'मेरा हमदम—मेरा दोस्त' में उतारी हुई या अक्षर के कारण बाद में निर्मित हुई? क्योंकि अब बहुत-से लेखकों द्वारा न दोस्त माने जाते हैं, न साहित्यकार और न एक अच्छा इन्सान। कहना नहीं चाहिए, एक बेईमान प्रकाशक के रूप में उनकी तस्वीर उभर रही है। जिन लेखकों की 'रॉयल्टी' अक्षर में है उन सबके सामने राजेन्द्र की कोई दूसरी तस्वीर ही नहीं रही सिवाय इसके कि वे एक न देने वाले प्रकाशक हैं। यह सही भी है, जिस आदमी के जिस रूप से किसी व्यक्ति को हानि पहुँचती है वही रूप उसे याद भी रहता है। बाकी सब कुछ भूल जाता है लेकिन एक आदमी बेईमान और ईमानदार क्या साथ-साथ नहीं हो सकता? हो सकता है यदि अलग-अलग आदमी के साथ उसका अलग-अलग व्यवहार हो। बेईमानी या ईमानदारी की बात का ताल्लुक व्यवसाय तक ही सीमित नहीं, वह लेखन के साथ भी जुड़ा हुआ है। इसलिए इस बात का महत्त्व एक लेखक के सन्दर्भ में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यदि एक लेखक, एक दूसरे स्तर पर बेईमान साबित हो जाता है तो क्या उसके लेखन को भी उसी आधार पर नकारा जा सकता है? जिस प्रकार का विवाद राजेन्द्र यादव की आर्थिक ईमानदारी को लेकर उठा है वही विवाद एक दूसरे प्रश्न से जुड़ जाता है कि क्या इस सबके बावजूद राजेन्द्र यादव लेखक बचे रह जाते हैं? अगर यह मान भी लिया जाए कि राजेन्द्र यादव लेखकों की रायल्टी मार लेने के बाद लेखक नहीं रह जाते, और उनके नाम के सामने से लेखक हटाकर प्रकाशक भी लिख दिया जाए तो, उनके 'अक्षर' से पूर्व के व्यक्ति और कृतित्व को किस श्रेणी में रखा जाएगा? इसी प्रश्न से एक दूसरा प्रश्न भी निकलता है कि क्या किसी लेखक के द्वारा किए जाने वाले व्यवसाय की मजबूरियाँ, सीमाएँ या बुराइयाँ उस व्यक्ति के लेखक की हत्या करने के लिए पर्याप्त होती हैं? यह प्रश्न आज के युग में हर उस आदमी से जुड़ा हुआ है जो लेखन

के अलावा कुछ भी काम करता है। उसके व्यवसाय की सीमाएँ उससे बहुत-से ऐसे काम कराती हैं जो व्यक्ति के हैसियत से न तो वह करता और न कोई उससे करा ही सकता था।

'अक्षर' के प्रारम्भ के समय एक बाहरी व्यक्ति को दिखलाई पड़ता था कि इस योजना के केन्द्र में दो बातें हैं, एक तो साहित्यिक मित्रता का यह त्रिदीप और दूसरा साहित्य प्रकाशन के प्रति 'मिशनरी स्प्रिट'! राकेश शायद इसके पीछे कम थे और कमलेश्वर ज्यादा। कमलेश्वर ने नए लेखकों के कहानी-संग्रहों के प्रकाशन का योजनाबद्ध संपादन करने का कार्यक्रम भी बनाया था। कहानी-संग्रह भी मँगाए थे। उस समय यह बड़े और व्यावसायिक प्रकाशकों के प्रति विद्रोह की भूमिका थी। नए और पुराने लेखक इससे जुड़ना चाहते थे। 'अक्षर' की यह प्रतिष्ठा काफी दिन बनी रही। लेकिन बाद में अक्षर प्रकाशन के विरुद्ध वातावरण बनता चला गया और राजेन्द्र की तस्वीर एक शोषक प्रकाशक के रूप में उभरती गई। सबसे पहले 'अक्षर' से राकेश का समर्थन (खुले रूप से) 'फौलाद का आकाश' की भूमिका के रूप में हटा। उस भूमिका की मार अक्षर पर न होकर राजेन्द्र पर पड़ी। राकेश और राजेन्द्र की जितनी निकटता 'मेरा हमदम—मेरा दोस्त' से पता चलती थी उतनी ही दूरी 'फौलाद का आकाश' की भूमिका के द्वारा उजागर हुई। उससे स्पष्ट हो गया कि कमलेश्वर और जवाहर चौधरी राकेश के अधिक निकट हैं। कमलेश्वर कब अलग हुए इसके बारे में यों कहना तो सम्भव नहीं और न कहने की आवश्यकता ही है, पर वे भी धीरे-धीरे अलग होते गए। अन्त में जवाहर चौधरी भी अक्षर प्रकाशन से हट गए। राजेन्द्र रह गए। इस त्रिकोण के टूटने का प्रभाव सबसे अधिक राजेन्द्र पर पड़ा। या तो राजेन्द्र 'चक्रव्यूह' में प्रवेश के बाद निकलने का रास्ता नहीं जानते थे या फिर उनके सामने सिवाय इसके कोई दूसरी नियति नहीं थी कि वे अक्षर के दायित्व को ओढ़े रहें। हो सकता है कि कहीं न कहीं राजेन्द्र का अहं इन लोगों से टकराता रहा हो या इसके पीछे व्यावसायिक विचार-वैभिन्न रहा हो। लोगों का यह भी कहना है कि राजेन्द्र ने केवल अपनी और मन्नू जी की पुस्तकें छापने के लिए ही 'अक्षर' पर अधिकार जमाया था। शायद इस प्रकाशन का आधार राजेन्द्र के अपने ही साधन थे। इसको आरम्भ करने के लिए राजेन्द्र-दम्पत्ति के सम्बन्धों के सहारे ही अधिकांश साधन इकट्ठे हो सके थे। यह भी एक कारण हो सकता है कि राजेन्द्र ही अकेले प्रकाशक के रूप में दिखलाई पड़ रहे हैं और शेष सब अपना-अपना रास्ता पा गए।

राजेन्द्र की जिन्दगी में यह बिन्दु लेखकीय और अलेखकीय दोनों ही कारणों से आया है। इसलिए उन्हें दोनों ही मुकामों पर लड़ना पड़ेगा और प्राथमिकता का पुनर्निर्धारण जल्दी-से-जल्दी करना होगा।

'मेरा हमदम—मेरा दोस्त' में राकेश ने राजेन्द्र की साहित्य के साथ प्रतिबद्धता को लेकर

काफी स्पष्टता से लिखा है—'जिन्दगी में सिर्फ़ एक तलाश, एक कोशिश, कहानी! वह जहाँ भी मिले, जिससे भी मिले, जैसे भी मिले। हर मिलने वाला आदमी—कहानी का सम्भावित पात्र! जिन्दगी का हर हुस्न और फ़रेब कहानी की एक स्थिति, अपने ऊपर ओढ़ी हुई हर तकलीफ़—लिखने की जरूरत। एकान्त का एक-एक क्षण (!)—लिखने या सोचने का समय।' राजेन्द्र के बारे में राकेश का यह सोच लेखन के सन्दर्भ में प्राथमिकता को ही रेखांकित करता है। लेखकीय प्रौढ़ता के साथ यह तकलीफ और यह तलाश ज्यादा गहरी होती है क्योंकि लेखक उतनी तीव्रता से चीजों को अभिव्यक्त नहीं कर पाता जितनी जल्दी वे गुजर जाती हैं। कहानी लिखने की ललक कम होकर जिन्दगी से जुड़ने और उसे अभिव्यक्त करने की तकलीफ ज्यादा बढ़ जाती है। राकेश की यह भी बात सही है कि बना हुआ लेखक एक 'पिच' से लिखना आरम्भ करता है और वह निरन्तर उसी पर बना रहता है या उससे नीचे उतरता जाता है। 'वह बना हुआ लेखक नहीं, बनता हुआ लेखक है।' लेखक का बनते जाना ही उसकी वास्तविक पहचान होती है। लेखक जब भी समाप्त होता है तो वह स्वयं समाप्त होना चाहता है, कोई भी बाहरी शक्ति कम से कम लेखक के लेखन को समाप्त नहीं कर सकती। अगर राजेन्द्र का लक्ष्य लेखन है तो उन्हें कोई खतरा नहीं होना चाहिए और लेखन नहीं है तो फिर अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए भी उन्हें संघर्ष करना होगा।

साहित्यकार के लिए एक अच्छा इन्सान होने या न होने की बात राजेन्द्र के सन्दर्भ में पहले भी आ चुकी है। उसकी अधिक विवेचना की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अच्छे साहित्य के लिए अच्छा इन्सान भी होने की शर्त काफ़ी दकियानूसी करार दी जा चुकी है। एक अच्छे इन्सान की कोई भी परिभाषा देना अनुचित होगा। अपने आप में यह एक सापेक्ष विशेषण है। परन्तु एक बात जरूर है कि अपने सम्पूर्ण अच्छेपन या बुरेपन के बावजूद जब एक लेखक उस रचनात्मक बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ वह अच्छाई और बुराई में भेद करके अपने अनुभवों के सन्दर्भ में अपने आपको तौलता है तो यह तौलना ही उसे एक लेखक होने का संस्कार देता है। यही उसका अच्छा होना होता है और यही बुरा। राजेन्द्र या कोई भी लेखक यदि अपने लेखन में इतना ईमानदार है तो वह अपने चारों तरफ पुरे हुए जाले को काट सकता है। राजेन्द्र एक सीधे आदमी हैं इस बात की गवाही राकेश ने दी है, '...आदमी बहुत टेढ़ा यानी बहुत सीधा!' यह बात राजेन्द्र के रचनात्मक स्तर को व्याख्यायित नहीं करती बल्कि उसे ढाँपती है। इसका प्रमाण उनके लेखक के रूप में बचे रहने और भविष्य में लिखे जाने वाले साहित्य से ही मिलेगा।

राजेन्द्र के अब तक के साहित्य की कुछ कमजोरियाँ भी हैं और खूबियाँ भी। उनका कृतित्व बुरा हो या भला, पर है महत्त्वपूर्ण। राजेन्द्र ने इतना कर लिया है कि अब उन्हें सामान्य रूप से नहीं नकारा जा सकता। चाहे 'अक्षर' की कोठरी में कितने भी हाथ काले हो गए हों और लेखकों ने लेखक का पद छीन कर चाहे कितना भी प्रकाशक बनाकर छोड़ दिया हो, पर उनका स्थान काफी सीमा तक सुरक्षित है। राजेन्द्र

को बेईमान करार दे देना, अमरकान्त का अभावों से समझौता कर लेना, शैलेश मटियानी का पैसों के लिए दफ्तर-दफ्तर मारा-मारा घूमना सामाजिक दृष्टि से चाहे उनकी तस्वीर को कितना भी धुंधला करता हो पर लेखक के रूप में कहीं हान सिद्ध नहीं करता। इस तरह का दलन, या साहित्यिक अस्वीकृति कभी-न-कभी रचनात्मकता को धार भी दे देती है।

●

राजेन्द्र शुरू-शुरू में किन परिस्थितियों में रहे और अपने लेखक को उन्होंने किस प्रकार संजोया इसके बारे में चश्मदीद गवाही देना तो मुश्किल होगा। अलबत्ता थोड़ी-बहुत गवाही रचनाओं से जरूर मिल सकती है। क्योंकि एक लेखक का कृतित्व ही अन्ततः उसका व्यक्तित्व हो जाता है उसकी रचनाओं में उसकी जिन्दगी के सब 'क्लूज' मौजूद रहते हैं। वही अकेला प्राणी होता है जो इतना बड़ा खतरा मोल लेता है कि रचना भी करता है, अपने को उजागर भी करता है। वह चाहे जितने मुखौटे लगा ले या कितने ही लबादे ओढ़ ले, अगर उसकी रचनाएं सामने हैं तो वह नंगा है। रचनाओं के माध्यम से ही व्यक्ति का जिन्दगी से सरोकार का अन्दाज लगता है। राजेन्द्र यादव ने अपने आपको छिपाए रखने के लिए बहुत पर्दे डाले होंगे परन्तु वे छिपा नहीं पाए। उन्होंने कहानियाँ तो लिखी ही हैं, साथ ही भूमिकाएँ भी लिखी हैं। भूमिकाएं लिखने का यह रोग इस पीढ़ी के ज्यादातर लेखकों को है। क्यों है? इनका जवाब देना बहुत आसान नहीं। एक बात लगती है, या तो भूमिकाएँ लिखने वाले लेखक कहानी में वह सब कुछ नहीं कह पाते जो कहना चाहते हैं, या फिर कोई ऐसी बात कहना चाहते हैं जो कहानी में नहीं कहीं जा सकती।

राजेन्द्र यादव ने अपने समकालीनों की तरह ताबड़-तोड़ भूमिकाएँ लिखी हैं।

राजेन्द्र यादव कम-से-कम छः कहानी-संग्रहों की छोटी या बड़ी भूमिकाएँ लिख चुके। ये भूमिकाएँ उनकी कहानी को समझने में कोई विशेष योगदान नहीं देतीं।

राजेन्द्र या तो शब्दों के चक्कर में पड़ जाते हैं या उनकी गहराई तक उतरे बिना बात को कह देते हैं। किसी बात को समझने के लिए लिखने की उतनी आवश्यकता नहीं होती बल्कि उसे समझकर लिखना जरूरी होता है। यह भी एक ऊपरी प्रक्रिया है। अन्दरूनी प्रक्रिया परिवेश के साथ लेखक की लेखकीय आत्मीयता के प्रश्न से ज्यादा जुड़ी हुई है। राजेन्द्र जिस प्रकार शब्दों का प्रयोग कर गए हैं, कई बार शब्दों का लालच लेखक को अपनी बात कह लेने पर भी मुक्त नहीं करता बल्कि बाँध देता है कि इसके अलावा वह कुछ भी नहीं कह सकता। शायद लेखक के लिए परिवेश को 'बेधने', 'तोड़ने' और उसके साथ सब कुछ कर लेने के बाद भी परिवेश से तब तक मुक्ति नहीं मिलती जब तक परिवेशगत अनुभव और लेखकीय संवेदना के बीच तादात्म्य स्थापित नहीं होता। समझने की स्थिति तो बहुत आरम्भिक होती है।

'ढोल' संग्रह की भूमिका में राजेन्द्र ने 'फैंटेसी' का पक्ष मजबूत करने की दृष्टि

से लिखा है—'मैं साग्रह कहना चाहूँगा कि मेरी कहानियाँ—आप इन्हें रूपक, फैंटसी, प्रतीक या किसी भी कटघरे में रखें, आज भी सच्चाइयों की कहानियाँ हैं। जिन्दगी के बारे में सीधी-सादी बात करने के लिए या सच्चाई व्यक्त करने के लिए न तो किसी लम्बे प्रतीक या फैंटसी की जरूरत होती है और न किसी आग्रह की। फैंटसी के माध्यम से कितनी भी सच्ची बात क्यों न कही जाए, पर वह पाठक को जिन्दगी से दूर जरूर ले जाती है। इस पीढ़ी का पूरा संकट राजेन्द्र के उन वाक्यों से स्पष्ट होता है कि 'निश्चय ही रचनाकार आज किसी ऐसे बाहरी, लेकिन गहरे सांस्कृतिक और मानसिक संकट के सामने आ खड़ा हुआ है कि सारी विधाओं की अपनी अस्मिताएँ और इयत्ताएँ खोती हैं तो उसकी जिम्मेदारी उस विधा के लेखकों पर अधिक होती है। ऐसे भी लेखक हुए हैं जो सभी प्रकार के रचनात्मक और व्यक्तिगत संघर्षो के बावजूद विधाओं की अस्मिता को उठाकर कहीं-का-कहीं ले गए हैं।'

लेकिन 'ढोल' कहानी 'सिंहवाहिनी' से अपेक्षाकृत जिन्दगी के अधिक नजदीक है। वह लोक-कथा पर आधारित जरूर है और फैंटसी का आभास भी देती है पर जिन्दगी को व्याख्यायित करने में कोताही नहीं करती। अमरकांत की 'जिन्दगी और जोंक' कहानी में जिस जिजीविषा के दर्शन होते हैं वही जिजीविषा इस कहानी में भी देखने को मिलती है, उतनी ही जोरदारी के साथ। एक अकेला क्लर्क कमजोर होता है। कमजोरी से उत्पन्न होनेवाला भय उसे किसी-न-किसी सुरक्षा को खोजने के लिए मजबूर करता है। वह एक ऐसी सुरक्षा चाहता है जिसमें उसकी सुरक्षा तो हो ही लेकिन जो लोग उसे चोट पहुँचाना चाहें उनको भी उसका खामियाजा भुगतना पड़े यानी एक कमजोर आदमी अपनी सुरक्षा को दूसरों के लिए चुटीला बनाने के लिए भी अपनाता है। यह एक ऐसी मानसिकता है जो शायद कमजोर होने के एहसास से उपजती है। इस मानसिकता को 'ढोल' कहानी में पूरी शक्ति और प्रतिबद्ध तरीके से उतारा गया है। यह कहानी और इसका शीर्षक एक तीखे व्यंग्य को भी उभारते हैं और क्लर्क की बौद्धिक क्षमता को उजागर करते हैं। शायद ऐसे बहुत-से लोग हों जो अपनी कमजोरियों को ढोल का 'बख्तर' पहना कर सुरक्षा अनुभव करने की प्रवृत्ति से आक्रान्त हों। बाद की स्थिति में 'बख्तर' रह जाता है और आदमी गायब हो जाता है। इस प्रकार के लोगों की यह नियति एक अवश्यम्भावी नियति है।

लेकिन इस कहानी के अन्त पर पहुँचकर कमलेश्वर की 'लाश' कहानी के चमत्कारिक अन्त का ध्यान आता है। 'लाश' कहानी के अन्त में गिरने वाली लाश को देखकर मुख्यमंत्री विरोधी दल के नेता की लाश बताता है और विरोधी दल का नेता उसे मुख्यमंत्री की लाश बताता है। 'ढोल' कहानी के क्लर्क के मर जाने पर अर्थी से ढोल उठ बैठता है और उसे अपना जलूस समझकर नेताओं की तरह हाथ जोड़ने लगता है या यह भी कहा जा सकता है कि एक कमजोर क्लर्क के मर जाने पर उसका 'मेटामोरफासिस' एक नेता के रूप में हो जाता है। इस कहानी में यह भी सुझाव है कि एक नेता या मरा हुआ क्लर्क ढोल हो जाता है, उसके लिए मरना

भी जीना है और जीते रहना भी मरना हो सकता है। खींचतान कर और भी अर्थ निकल आएँगे पर कुल मिलाकर प्रभावोत्पादक अधिक है और अमलियन को कम व्यक्त करता है। प्रतीक को अगर इतना लम्बा खींचा भी गया था तो उसका अन्त इतना प्रभावोत्पादक बनाने की इसलिए आवश्यकता नहीं थी क्योंकि रचना में ढाल का प्रतीक स्वयं एक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही मौजूद था। प्रतीक कई बार भाषा का विकल्प भी होता है। लेखक को इस बात का एहसास होना जरूरी है कि वह किसी चीज का अन्त कहाँ पर करे। कहानी दरअसल क्लर्क के मर जाने के साथ ही समाप्त हो जाती है। कहानी की शक्ति इस अन्त पर आकर बिखर गई है। यह अन्त ही अकेला ऐसा बिन्दु है जो कहानी को कमजोर बनाता है।

'टूटना' कहानी के बारे में यह कहा जा सकता है कि राजेन्द्र यादव ही शायद उस कहानी को परिकल्पित कर सकते थे और उन्हीं के बस की बात थी कि अपनी इस परिकल्पना को कहानी के रूप में इस तेवर के साथ बुन सकें। 'टूटना' कहानी 'मल्टी डाइमेंशनल' कहानी है। हिन्दी में ऐसी बहुत कम कहानियाँ हैं जो अनुभव को इतने विस्तृत स्तर पर अभिव्यक्त करती हों। 'टूटना' कहानी की शुरुआत भी न जाने क्यों एक समाचार की कतरन चिपकाकर की गई है। क्योंकि वह एक सशक्त रचना है इसलिए कहानी पर उस 'भूमि' का चिपकना उसे नुकसान नहीं पहुँचा पाता। इस प्रकार की कहानियों में इस जाति की कमजोरियाँ कई बार ऐसा आभास देती हैं जैसे चित्र बनाते-बनाते किसी कलाकार के हाथ में लरजा आ गया हो और एक-आध स्ट्रोक ओछा लग गया हो। शायद राजेन्द्र ने गांधी की हत्या वाली उस घटना को देकर इस तथ्य को रेखांकित करना चाहा है कि एक व्यक्ति अपने आप ही किसी दूसरे को अपना शत्रु मानकर उसकी अनुपस्थिति में भी उसी जोरदारी के साथ लड़ता है जिस जोरदारी से आमने-सामने होने पर। उस शत्रु का एकाएक मर जाना कहीं-न-कहीं उसे भी मर जाने के लिए मजबूर कर देता है। अहं की ऐसी लड़ाई में शारीरिक उपस्थिति की जरूरत नहीं पड़ती। किसी का अहं जब प्रतिक्रियावादी हो उठता है तो उसके लड़ने का कोई कारण नहीं होता। एक व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि और आर्थिक हीनता उच्चवर्गीय परिवार से सम्बद्ध पत्नी के साथ पराया अनुभव कराती है। बल्कि पत्नी गौण हो जाती है और पत्नी के साथ होनेवाले मतभेदों के पीछे उसका बाप, उनका चश्मा और सिगार दिखाई देने लगते हैं। उस सबके पीछे उनकी ही उपस्थिति का एहसास लगातार उसे अपनी पत्नी से लड़ाता रहता है। उसके अहं का पंजा कहीं-न-कहीं पत्नी के पिता के साथ फँसा होता है और वह उसी से लड़ता रहता है। आर्थिक रूप से उसका ऊपर उठते चले जाना भी उसी प्रतिस्पर्धा का फल है। पत्नी से अलग हो जाने पर भी उसका पंजा उसके पिता से नहीं छूटता। अनुपस्थिति की इस लड़ाई के पीछे राजेन्द्र यादव की सूक्ष्म दृष्टि निरन्तर नजर आती है। इसके अलावा लेखक की दृष्टि पत्नी और पति के उनके आपसी सम्बन्धों पर भी है जो सम्बन्धों के तनाव के बावजूद कहीं-न-कहीं कोमल भावनाओं पर भी टिकी रहती है। इस सूत्र को राजेन्द्र बहुत सूक्ष्म ढंग से पकड़ कर कहानी को बुनते रहे हैं। इसी से लेखक की मानवीय

दृष्टि का और जिन्दगी से उसके सरोकार का पता चलता है। अपनी 'परित्यक्ता पत्नी' कहानी में मानवीय संवेदना, पति-पत्नी के पारस्परिक भावनाओं और छोटे-बड़े अहं के संघर्ष को जिस स्तर पर व्याख्यायित किया, उस स्तर तक रचना को पहुँचा देना, अपने में कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं। राजेन्द्र ने इस कहानी को अपनी सम्पूर्ण संवेदना, कलात्मकता और भाषा-शक्ति दी है। उसके एवज में ही इस कहानी को प्राप्त किया है।

राजेन्द्र पढ़े हुए को उपयोग करने के आदी हैं। अब यह प्रवृत्ति रचना की कमजोरी के रूप में देखी जाने लगी है। पहले उपन्यासों और कहानी में नायक-नायिकाएँ कबीर के भजन गाया करते थे। 'एक कमजोर लड़की की कहानी' में बच्चन और पंत की पंक्तियों का उपयोग निरर्थक ढंग से काफी हुआ है। ऐसा लगता है राजेन्द्र इस कमजोरी के शिकार शुरू से ही हैं। वे रचना को सजाने के लिए कमजोर बाँसों पर इतने फूल लाद देते हैं कि वे बांस उस भार को संभाल नहीं पाते। मंगल-द्वार बनने के स्थान पर वह टूटने की स्थिति में आ जाता है। लेकिन 'टूटना' कहानी में 'ओल्ड मेन एण्ड दी सी' फिल्म का उपयोग राजेन्द्र यादव ने बहुत सार्थक ढंग से किया है। इस सन्दर्भ के माध्यम से निकाले गए निष्कर्ष से कहीं-न-कहीं कायल होना पड़ता है कि एक अहं का दूसरे के उपस्थित अहं से पंजा लड़ाना निश्चित रूप से ताकत का काम न होकर धैर्य का काम होता है।

इस कहानी से इस बात का पता तो चलता ही है कि किसी लेखक का टूटना जैसी कहानी लिखना ही उसके लेखक होने की कसौटी है। क्योंकि इस तरह का लेखक एक दिन या साल-भर के लेखन और चिन्तन का फल नहीं होता बल्कि उस कहानी के लिखे जाने तक का सम्पूर्ण चिन्तन और लेखन उसकी पृष्ठभूमि में रहता है।

'एक कटी हुई कहानी' एक बदकिस्मत कहानी है। इसका प्रकाशन धर्मयुग द्वारा आयोजित एक 'कथा-दशक' के अन्तर्गत हुआ था। धर्मयुग ने उस दशक को प्रकाशित करके वातावरण में एक सुझाव फेंक दिया था कि एक पीढ़ी दस साल चलती है और ये कहानियाँ उस दशक के लेखकों की पूर्णाहुति हैं। इतने वक़्फ़े के बाद उस योजना पर गौर करने पर लगता है कि वह 'कथा-दशक' उस दशक के लेखकों की रचना-शक्ति को उजागर करने या विस्तृत करने के लिए न करके उनकी रचनात्मक असामर्थ्य को रेखांकित करने के लिए आयोजित किया गया था। कृष्णा सोबती तो अपनी समझदारी और दूरअंदेशी से बच गई थीं और भारती सम्पादक होने की नैतिकता निबाहने के नाते उसमें सम्मिलित नहीं हुए थे। बाकी जो छपे उसमें से दो-चार-छः कथाकारों को छोड़कर बाकी सब धड़ाम हो गए। इसके पीछे यह 'मोटिव' निकालना तो कुछ ज्यादा हो जाएगा कि धर्मयुग-सम्पादक, स्वयं अपेक्षाकृत एक कमजोर कथाकार होने के कारण, या तो उस सम्पूर्ण पीढ़ी को एक्सपोज करना चाहते थे या फ़िर 'कट-थ्रोट' कम्पीटीशन को मद्देनजर रखते हुए कुछ लेखकों को एक्सपोज करके उस कम्पीटीशन को समाप्त कर देना चाहते थे। खैर, जो कुछ भी हो, पर फैशन परेड में सम्मिलित होने के लिए लेखकों ने किसी बड़े आदमी की बारात में सम्मिलित होने वाले

गांवदी बनिये की तरह तैयारी की थी। कुर्ता नया और धोती काली-कीचट! वक्तव्य बढ़िया और कहानी कमजोर! राजेन्द्र ने भी अखबार की एक कतरन सहेजकर रखी हुई थी जिसमें किसी अन्य राजेन्द्र यादव नामक व्यक्ति के गोली लगने की या ऐसी ही किसी दुर्घटना की खबर छपी थी। उस कटिंग को वक्तव्य के साथ ठीक उसी तरह चस्पां किया गया था जैसे 'टूटना' कहानी के आरम्भ में "भूमि' चस्पां है। राजेन्द्र का वक्तव्य उस कतरन के कारण कमजोर हो गया था और कहानी के अच्छा होने के बावजूद वह वक्तव्य कहानी को भी ले बैठा था।

यह कहानी राजेन्द्र की अच्छी कहानियों में है। लेखक ने 'मचाचेवाज' कुलवंत के अकेलेपन और उसकी तकलीफ को सहानुभूति के साथ समझने की कोशिश की है। 'प्रतीक्षा' की 'गीता दी' वाली संवेदना इस कहानी में ज्यों की त्यों मौजूद है। 'प्रतीक्षा' की गीता को लेखक ने 'लेसबियन' बनाकर एक दूसरा मोड़ दे दिया है पर मूल संवेदना में कोई फर्क नहीं पड़ता। कुलवंत एक विवाहिता और बेटी की माँ होने के कारण शायद इस प्रवृत्ति से अपेक्षाकृत अधिक मुक्त हो सकती थी और है भी। अगर वह भी उसी परिस्थिति में रही होती तो शायद 'लेसबियन' हो जाती या अपनी तृप्ति का कोई और रास्ता खोज लेती। वह 'मचाचे' देखती है, 'मचाचे' के ऊपर अपने भाई से शर्त लगाती है लेकिन उसकी आवाज में अकेलेपन और तटस्थता का एक स्वर भी मिला हुआ है। विशेश्वर की महिला दोस्त के बारे में भी वह कोई ऐसा प्रश्न नहीं करती जो उन दोनों को या विशेश्वर को धर्म संकट में डाल दे, पर उनके कामों में रुचि लेती है। उसी तटस्थता से अपनी नाबलिग बेटी के बारे में वह एक खूबसूरत मचाचा होने की सम्भावना के बारे में भविष्यवाणी करती है। इस सबके बावजूद उसकी आवाज कहीं दूर से आती हुई मालूम पड़ती है। उसकी रुचि दारजी की सम्पत्ति के कागजों पर हस्ताक्षर करने में भी नहीं। जब कभी वह अपने नजदीक आने-आने को होती है तो सिगरेट का सुट्टा लगाकर दूर भागने लगती है। अपने-आपको, अपने से काटकर, भी जोड़े रखने वाले इस मिजाज को राजेन्द्र ने बहुत-बारीकी से पकड़ा है। संवेदना की ऐसी ग्रहणशीलता एक रचनाकार में बहुत-से रचनात्मक संघर्षों से गुजरने के बाद आती है।

कुलवंत की ही तरह अपने अकेलेपन या अपनी तकलीफ को दूसरे के सुख से जोड़कर राहत का तामझाम इकट्ठा करने वाला पात्र 'प्रतीक्षा' कहानी में भी है। पर 'गीता' अपने आपको तटस्थ नहीं रख पाती। वह नंदा के सुख से जितना सुख पाती है उतना ही दुख भी पाती है। प्यार और ईर्ष्या का यह आनुपातिक मिश्रण गीता में अधिक है। एक ही तकलीफ से परेशान दो भिन्न लक्ष्यों पर पहुँचने वाले दो पात्रों की ये कहानियाँ राजेन्द्र की विश्लेषणात्मक प्रतिभा को भी रेखांकित करती हैं। 'प्रतीक्षा' यद्यपि एक बहुचर्चीं कहानी है लेकिन 'एक कटी हुई कहानी' वाली तटस्थता उस कहानी में नहीं है। प्रतीक्षा में बुनावट की दृष्टि से संवेगों को प्रस्तुत करने के कारण बारीकी जरूर आ गई परन्तु भावुकता उसका काफी प्रतिध्वनित होने वाला स्वर है। दरअसल उसे रचनाकार का भावनात्मक सहयोग जरूरत से ज्यादा प्राप्त हुआ है।

'एक कटी हुई कहानी' में विशेश्वर द्वारा अपनी प्रेयसी-मित्र का एक मित्र की बहिन के रूप में परिचय कराए जाने पर उसका अहं जाग उठता है। कहीं न कहीं लगता है कि गीता में कुलवंत के अहं के स्फुलिंग को बहुत बारीकी से रोपा गया है। अगर ऐसा नहीं लगता तो भी यह 'कंट्रास्ट' कुलवन्त के व्यक्तित्व को ही ज्यादा उभारता है।

'जहाँ लक्ष्मी कैद है' कहानी में इस तरह की कोई कमी नजर नहीं आती। यद्यपि यह काफी पहले की लिखी हुई कहानी है। इसमें कहानीकार की प्रौढ़ता स्पष्ट नजर आती है। यह कहानी भी कई डाइमेंशंस की कहानी है। शायद पहली बार ही इस कहानी में पिता नामक 'इंस्टीट्यूशन' के विरुद्ध संतान का विरोधी स्वर इस रूप में उभरा है। ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' में भी इस 'इंस्टीट्यूशन' की इमेज तोड़ने का सार्थक प्रयास हो चुका है। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' कहानी में बाप की धनलोलुप और स्वार्थपरक प्रवृत्ति के विरुद्ध बेटी के द्वारा जांघ पीट-पीटकर कहा गया है—'ले, तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग...।' कहीं-न-कहीं यह एक बहुत मानवीय अनुभव है। खासतौर से ऐसे व्यक्ति के कंट्रास्ट में जो अपने स्वार्थ और धनलोलपुता से पत्थर बन चुका हो।

राजेन्द्र ने लक्ष्मी का उपयोग काफी प्रतीकात्मक ढंग से किया है। एक धनासक्त पिता के लिए बेटी का लक्ष्मी का पर्याय बन जाना और उसे उसी तरह संजोकर रखना जिस प्रकार धन को तिजोरी में रखा जाता है, व्यक्ति के एक ऐसे पक्ष को उजागर करता है जो मनुष्य के जड़त्व का आभास देता है। साथ ही दूसरी ओर जीवंतता भी है लक्ष्मी नाम की वह लड़की अपने आपको विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का पर्याय बनाए जाने का विरोध काफी जानदारी से करती है। यह कहानी उतनी 'साइकोसिस' के निदान की नहीं जितनी मनुष्य की भावनाओं की है।

इस कहानी का आरम्भ थोड़ा चमत्कारिक जरूर लग सकता है लेकिन है नहीं। कहानीकार ने विष्णु की पत्नी को कैद में न रखने की बात कहकर इस कहानी को एक नई डाइमेंशन दी है। वास्तविकता यही है कि लक्ष्मी का पिता चाहे विष्णु की पत्नी को कैद में न रखे हो, पर अपनी बेटी लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी मानकर जरूर कैद में रखे है। बेटी के जाने पर विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के कूच कर जाने का भय उसके सिर पर इतनी बुरी तरह सवार है कि वह अपनी बेटी लक्ष्मी और उस लक्ष्मी में भेद नहीं कर पाता। कहानी की रवानी में हल्का-सा दोष भी है। चौकीदार से जितनी 'रिपोर्टिंग' कराई गई वह सब कहानी की बुनावट में ही लाई जा सकती थी। लक्ष्मी के बारे में जो कुछ भी सूचनाएँ चौकीदार देता है उनका समावेश भी कहानी में हो सकता था। उससे कहानी और धारदार होती क्योंकि रिपोर्टिंग और संवाद की प्रामाणिकता और सम्प्रेषणीयता में अन्तर होता है। रिपोर्टिंग में रिपोर्टिंग करने वाला एक बिचौलिया भी आ जाता है और संवाद में केवल भागीदार रहते हैं। रिपोर्टिंग का तरीका कहानी को कहीं न कहीं कमजोर बनाता है। हालाँकि सम्पूर्ण रचनात्मक साहित्य अभी तक विवरणात्मक (डिस्क्रिप्टिव) स्थिति में ही है। साहित्य की यह स्थिति सचेत और रचनात्मक

साहित्यकार को कहीं-न-कहीं परेशान तो करती ही है, साथ ही विधाओं में ठहराव के एहसास से भी भर देती है। कई बार झुंझलाहट होती है कि कैसे विवरणात्मकता से मुक्त हुआ जाए। कहने का तात्पर्य यह है कि एक तो हमारी नियति ही विवरणात्मक तरीके से साहित्य सृजन करना है उस पर बीच-बीच में फ्लेशबैक, रिपोर्टिंग आदि का आ जाना साहित्य को कमजोर बनाता है।

राजेन्द्र के कुल कहानी-साहित्य की जो तस्वीर बनती है वह अपनी स्पष्टता के बावजूद विवादास्पद भी है। राजेन्द्र के रचनात्मक व्यक्तित्व में दो प्रवृत्तियाँ हैं, एक तो प्रयोगात्मक और दूसरी जिन्दगी से जुड़कर अपनी बात सीधे-सादे ढंग से कहने की। राजेन्द्र ने अपनी प्रयोगधर्मा प्रवृत्ति के कारण काफी खतरे उठाए हैं। उस प्रयोगधर्मा प्रवृत्ति ने ही उन्हें फैंटेसीज, लोककथाओं के प्रतीकों—राजा और राजकुमारियों तथा महाभारत के दृष्टान्तों में उलझा दिया। जिस 'अभिमन्यु की आत्महत्या' का पहले भी जिक्र आ चुका है वह भी उनकी इस प्रयोगधर्मा मानसिकता की उपज है। रचनात्मक सरलता कहीं-न-कहीं रचना को अधिक अर्थवत्ता प्रदान करती है। जिन राजकुमारियों, राजकुमारों और अन्य उद्धरणों को राजेन्द्र ने संकलित किया वे 'गोल्डन-ट्रेजरी' के अंग तो बन सकते हैं पर जीवन को कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त करने के साधन नहीं बन सकते। अगर उन्हें जिन्दगी को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनाना भी है तो उसका उपयोग इस प्रकार न करके किसी और तरह करना होगा।

हर लेखक को अपना 'रौ-मेटिरियल' बड़ी जिम्मेदारी के साथ पहचानना पड़ता है। 'रौ-मेटिरियल' को ठीक तरह से न पहचान सकने की स्थिति लेखक को किसी भी समय और कहीं भी धराशायी कर सकती है। राजेन्द्र अपने 'रौ-मैटिरियल' को कम पहचानते हों यह बात नहीं। परन्तु उनमें जीवन के अतिरिक्त अन्य माध्यमों से भी अपने प्रतीकों को खींचने की एक कमजोरी है जब वह कमजोरी उन पर हावी हो जाती है तो उन्हें गोता खिला देती है और जब राजेन्द्र कमजोरी पर हावी हो जाते हैं तो उनका रचनाकार अधिक निखर कर सामने आता है और जिन्दगी पर उनकी पकड़ मजबूत हो जाती है। शरत से निकलने वाली रोमानी धारा भी राजेन्द्र में कहीं-न-कहीं आकर मिलती है। भारती जैसे लेखक तो इस धारा में सराबोर हैं, परन्तु राजेन्द्र जैसे लेखकों ने काफी सीमा तक उस धारा से अलग होकर जिन्दगी से जुड़ने का प्रयत्न किया है। उसी का फल है कि राजेन्द्र के हिसाब में 'टूटना', 'सिलसिला', 'भय', 'लंच टाइम', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' जैसी कहानियाँ दर्ज हो चुकी हैं।

इन सब साहित्यकारों के अलावा राजेन्द्र को व्यक्तिगत स्तरों पर भी बहुत-सी बातों के लिए उत्तरदायी होना पड़ा है और होना पड़ रहा है। पहले समकालीन लेखकों के बीच वे एक स्थिति का उपभोग कर रहे थे जो अन्य लेखकों के लिए ईर्ष्याजनक थी। व्यक्ति के रूप में अधिक सरल, सहृदय और ईमानदार थे। चिंतन के स्तर पर भी राजेन्द्र का लोहा माना जाता था। राकेश जैसे व्यक्ति उनके सामने आते हुए इसलिए अटपटा अनुभव करते थे कि कहीं कोई ऐसा उद्धरण उद्धृत न कर दें जो उनके लिए परेशानकुन हो। लेकिन अक्षर से सीधे-जुड़ने के बाद राजेन्द्र एक विवादास्पद

व्यक्ति के रूप में जाने जाने लगे। विवादास्पद होना बुरा नहीं परन्तु जिन अर्थों में यह विवाद फूटा वह बुरा है। राजेन्द्र की एक साख रही है, साहित्य में भी और आर्थिक क्षेत्र में भी। राजेन्द्र और मन्नू जी ही के चाहने पर और उन्हीं के साधनों से पहले अक्षर बना था। परन्तु वर्तमान स्थिति ने राजेन्द्र को जरूर ऐसा कर दिया कि अपने सम्बन्धों को छूते उन्हें डर लगने लगा है कि कहीं भुरभुरा कर बिखर न जाएँ।

एक स्तर पर राजेन्द्र यादव मन्नू जी से शादी करते हुए इसलिए डर रहे थे कि कहीं वे बच्चे पालने में न लगे रह जाएँ और लोग साहित्य लिख ले जाएँ। उस समय यह एक बहुत प्रचलित मान्यता थी कि विवाह और बच्चे साहित्य के क्षेत्र में व्यवधान होते हैं। जिन लोगों ने शादियाँ की भी उनमें से बहुत-से लोग शादी के बाद वाले दायित्वों से बचने की जद्दोजहद में लगातार मुबतला रहे। पर राजेन्द्र यादव शादी करने के बाद भी बच्चे पालने की नियति से अपने को काफी हद तक बचा ले गए। लेकिन अक्षर किसी कुंवारी कन्या से कई लोगों की बदफेली के फलस्वरूप जन्मी अवैध संतान की तरह अकेले राजेन्द्र के नाम लिख गया है।

राजेन्द्र के सम्बन्ध में कुछ सायास प्रयत्न भी नज़र आते हैं जो कई स्तरों पर हुए हैं। एक बार चर्चा चली थी कि राजेन्द्र और मन्नू जी के सम्बन्ध टूटने की स्थिति में आ गए हैं। फिर चर्चा चली कि राजेन्द्र मन्नू जी के लेखन को लेकर इसलिए कुंठित होते जा रहे हैं क्योंकि वे उतना अच्छा नहीं लिख पाते। यह सही है कि मन्नू जी का लेखन सीधा-सादा और एक हद तक जिन्दगी से जुड़ा हुआ है। उन्होंने उस विधा के साथ राजेन्द्र की तरह उसे उलट-पलट कर प्रयोग नहीं किए। राजेन्द्र ने अपनी इस प्रवृत्ति के कारण अपने लेखन को अधिक जटिल बनाया है। राजेन्द्र ने बहुत लिखा है क्योंकि वे बहुत दिन से लिख रहे हैं और मन्नू जी स्वभावतः कम लिखती हैं और उन्होंने देर से लिखना भी शुरू किया। अधिक लिखने वाले व्यक्ति के साथ यह खतरा हमेशा रहता है कि उसकी कुछ रचनाएँ लचर निकल आएँ। उस सबके बावजूद राजेन्द्र की इस सामर्थ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि उनकी रचनाओं का कथा-साहित्य पर एक धनात्मक प्रभाव हुआ है।

यह सही है कि राजेन्द्र अक्षर के शिकंजे में बुरी तरह जकड़ गए हैं और आसानी से छूटने का कोई अवसर भी जल्दी नजर नहीं आता। लेकिन लेखन के प्रति राजेन्द्र की छटपटाहट अभी काफी है। अभी तक राजेन्द्र उन लोगों की तरह सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे जो या तो आन्दोलनों के प्रणेता बनने के ख्वाब देख रहे हैं या सम्पादक की कुर्सी पर बैठकर कुछ और बड़ी चीज बनने के लिए लालायित हैं। राजेन्द्र को अभी तक मन्नू जी का विश्वास कम से कम लेखन और जीवन में प्राप्त है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बीच-बीच में साथ रहने वाले दो रचनाकारों का अहं सिर उठाता हो, पर दोनों ही उसे तरह देना जानते हैं। हो सकता है किसी स्तर पर यह सुनने में आ जाए कि राजेन्द्र ने सब लेखकों की रायल्टी मार ली या कुंठित होकर लिखना-पढ़ना बन्द कर दिया और अन्य कुछ लेखकों की तरह

पूरी तरह से व्यवसायी बन गए। लेकिन उनका लिखा साहित्य उनके नाम के साथ फिर भी जुड़ा रहेगा केवल उनका भविष्य नहीं रह जाएगा। अभी तक ये सब सम्भावनाएँ हैं। सम्भावनाओं के साथ जितनी निश्चितता जुड़ी रहती है उतनी ही अनिश्चितता भी होती है।

राजेन्द्र लिख पाने या न लिख पाने के बीच अन्तिम दांव लगा रहे हैं। जब तक फैसला नहीं होता तब तक तो इन्तजार करना ही चाहिए। हराने और जिताने में राजेन्द्र यादव की कमजोरियाँ और खूबियाँ दोनों ही बराबर भूमिका अदा करेंगी। एक लेखक एक महानगर की तरह होता है। उसमें मनोरम स्थल भी होते हैं और स्लम्स भी। उसकी अपनी सुगन्ध भी होती है और दुर्गन्ध भी। लेकिन उस महानगर का न तो उस सुगंध के आधार पर वरण ही किया जाता है और न दुर्गन्ध के आधार पर उसका त्याग ही। यह बात लेखक के सन्दर्भ में एक सीमा तक लागू होती है। लेखक को उसके समूचेपन के साथ ही स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है।

राजेन्द्र एक डगमगाते जहाज की तरह बन्दरगाह की तलाश कर रहे हैं। अगर वे किनारे लग जाते हैं तो उन लोगों को अफसोस होगा जो लोग यह निश्चय कर चुके हैं कि जहाज डूब चुका। उन्हें अपना निर्णय बदलना पड़ेगा। लिया हुआ निर्णय बदलने की तकलीफ कम नहीं होती। अगर डूब गया तो उन्हें इस बात की प्रसन्नता होगी कि उनका अन्दाज सही था। एक साहित्यिक भविष्यवाणी का सही हो जाना भी मनुष्य को ज्योतिषीय उपलब्धि का आनन्द देता है।

('संवाद सेतु' से साभार)

राजेन्द्र यादव मार्फत मनमोहन ठाकौर

मनमोहन ठाकौर

शायद 1955 के अन्त या सम्भव है 1956 के आरम्भ होने तक राजेन्द्र यादव ने कृष्णाचार्य का साथ छोड़कर अपने रहने की व्यवस्था गड़ियाहट के चौराहे से सटे 'यशोदा भवन' में कर ली। यहीं रहते समय उसकी छोटी बहिन, सुमन छुट्टियाँ बिताने कलकत्ता आई। सुमन अक्सर दिन में मेरे घर, ग्रीक चर्च रो, में आ जाती। मेरी पत्नी, कमला तथा मेरे मित्र एवं प्रतिवेशी, श्री सूर्यशंकर नागर की गौना कर नई-नई आई वधू, अकला के साथ सुमन की खूब गहरी छनती थी। राजेन्द्र की देखा-देखी वह भी अकला को 'गोल वाली भाभी' कहने लगी। उस जमाने में अकला थी भी काफी गोल-मटोल।

सुमन से ही पता चला था कि राजेन्द्र एक भरे-पूरे परिवार का सबसे बड़ा बेटा था। उसके तीन भाई और थे—सत्येन्द्र, भूपेन्द्र और हेमेन्द्र। और छः बहिनें थीं—कुसुम, माधवी, अरुणा, सुमन, बड़ी बेबी और छोटी बेबी। इनके अतिरिक्त थीं, इन सबकी माताजी जिन्हें सब 'बाई' कहा करते थे। बाई की समझदारी, व्यवहारकुशलता और शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में भी सुमन प्रायः मुखर हो उठती थी। डॉक्टर पिता की मृत्यु हो जाने के बाद बाई ही परिवार की केन्द्रबिन्दु बन गई थीं।

'यशोदा भवन' में कमरा लेने से पहले, या उसी के आसपास राजेन्द्र 'ज्ञानोदय' में काम करने लग गया था। उसका बहुचर्चित उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' का फाइनल रूप तैयार हुआ था। ढेरों कहानियाँ भी लिखता रहता था। उसकी एक खास बात मैंने तभी लक्ष्य कर ली थी। जब तक वह अपने लेखन का अन्तिम प्रारूप मुकम्मिल नहीं कर लेता था किसी को उसकी कानों-कान भनक नहीं लगने देता। इस मामले में मैंने उसे रांगेय राघव से बिल्कुल अलग पाया। रांगेय राघव जब तक अपना रोज का लिखा रोज ही अपने मित्रों को सुना नहीं लेता, उसे चैन नहीं मिलता था।

सन् 1956-57 की बात याद आ गई। उस समय राजेन्द्र 'कुलटा' लिख रहा था। तभी मुझे अपने राजस्थान के पैतृक नगर बूँदी जाना पड़ा। कमला, और मेरा पुत्र, दीप भी मेरे साथ ही जा रहे थे। 'कुलटा' का प्रकाशन 'मसिजीवी' प्रकाशन के श्री कमलेश्वर को करने का निश्चय रहा होगा। कमलेश्वरजी उन दिनों इलाहाबाद में रहते थे। किसी कारणवश राजेन्द्र को पाण्डुलिपि भेजने में कुछ विलम्ब हो गया।

अतएव उसके लिए कमलेश्वरजी को मेरे माध्यम से सफाई देना आवश्यक हो गया। तब बाध्य होकर उसे मुझे बताना पड़ा कि वह एक उपन्यास लिख रहा है। अन्यथा वह मुझे 'कुलटा' की हवा तक नहीं लगने देता।

बहरहाल, मुझे यह देखकर बेहद खुशी हुई कि इलाहाबाद स्टेशन पर जैसे ही तूफान मेल रुकी, कमलेश्वरजी मेरे डिब्बे के पास ही चार खरबूजे थामे खड़े थे। मैं इसे राजेन्द्र के गहरे पैठे उत्कृष्ट कथाकार की कला का ही प्रमाण मानता हूँ कि मुझे कमलेश्वरजी को और उन्हें मुझे परस्पर पहचान लेने में एक क्षण भी नहीं लगा। राजेन्द्र ने हम दोनों को एक-दूसरे के हुलिया का उतना ही विशद और पच्चीकारी भरा वर्णन दे रखा था, जितना वह अपने पात्रों और वातावरण का दिया करता है।

कमलेश्वरजी के साथ उनकी मित्र देशी भी थीं। उनसे मेरे परिचय का पहला और आखिरी मौका था। कमलेश्वरजी के निकट आने के तो भविष्य में मुझे अनेक अवसर मिले। उनका जिक्र मैंने अपनी पुस्तक 'अंतरंग' में काफी कर भी दिया है। उस दिन इलाहाबाद जंक्शन पर तूफान मेल मुश्किल से दस-पन्द्रह मिनट रुकी होगी। पर उतनी-सी देर में ही कमलेश्वरजी की विनोदप्रियता का जादू मेरे सिर पर चढ़ चुका था। उस प्रथम परिचय में ही मुझे उनके स्वभाव का खासा अन्दाज हो गया। आगरावाला होने के नाते, तब तक मेरी निगाह में मजाकपसंदी अच्छे आदमी की पहली निशानी हुआ करती थी। खैर।

'कुलटा' के सम्बन्ध में एक दिलचस्प याद अभी तक दिमाग में चस्पां रह गई है। उसमें उपन्यास की नायिका, मिसेज तेजपाल के पति, मेजर तेजपाल ने घर के दरवाजे पर अपने फौजी होने के तथ्य को रेखांकित करते हुए, कारतूसों का एक खासा बड़ा फूल बना रखा था। 'कुलटा' पढ़ने के बाद डॉ. नामवर सिंह ने राजेन्द्र को लिखे पत्र में इस कारतूस के फूल का पाठकों को चौंकानेवाली हरकत मानकर उसकी निंदा की थी। उस समय तक नामवरजी को हिन्दी का अद्वितीय आलोचक माननेवालों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी। श्री शिवदानसिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नगेन्द्र की तूती ही बोला करती थी। नामवरजी तब उभर रहे थे। यह मेरा पूर्वाग्रह हो सकता है कि मुझे वह कारतूसों का बना फूल किसी सुन्दर कविता के सुन्दर और सटीक बिम्ब सरीखा लगा था। नामवरजी की राय से असहमत होने का मेरे लिए वह पहला मौका था।

राजेन्द्र चाहता था कि मैं 'कुलटा' का अंग्रेजी में अनुवाद कर डालूँ। उस जमाने में हिन्दी कविताओं को अंग्रेजी में करने का मुझ पर जुनून-सा सवार था। किन्तु न जाने क्यों, मुझमें किसी गद्य रचना को अंग्रेजी में अनूदित करने का उत्साह जागता ही नहीं था। मैं राजेन्द्र के उस अनुरोध की रक्षा नहीं कर सका था। यह अच्छा ही हुआ। क्योंकि बाद में, मुझसे कहीं अधिक सक्षम और कहीं अधिक सशक्त अनुवादक, श्री जयरतन ने उसे The Flirt शीर्षक से अनूदित कर, राजेन्द्र और स्वयं अपने लिए अच्छी ख्याति अर्जित की थी।

हाँ राजेन्द्र के जिस दूसरे अनुरोध को सम्पूर्ण हृदय से स्वीकार कर मैंने असीम

सन्तोष और आकंठ तृप्ति का अनुभव किया था, वह था 'उखड़े हुए लोग' की प्रूफ-रीडिंग। राजेन्द्र ने उसकी छपाई का भार सौंपा था मेरे 'सिंधिया एंडेवर' के मुद्रक प्रशान्त रक्षित को। रक्षित, कोमल कोठारी के समय से ही 'ज्ञानोदय' में प्रिंटिंग जॉब वर्क करता था। कोमल ने ही उसे मुझसे परिचित कराया था। कोमल के जोधपुर चले जाने के बाद जब राजेन्द्र 'ज्ञानोदय' से सम्बद्ध हुआ, तो उसकी भी रक्षित के साथ घनिष्ठता बढ़ गई। रक्षित था भी यारों का यार।

मेरे इस सन्तोष का एक प्रमुख कारण यह भी था कि राजेन्द्र ने अपने 'सारा आकाश' की ही भाँति इस उपन्यास की पृष्ठभूमि भी आगरा की ही रखी थी। इससे पहले, सन् 1940 में, जब रांगेय राघव अपना पहला उपन्यास 'घरौंदे' लिख रहा था, उस समय भी मुझे उसे सुनते हुए वही सुख मिला था जो 'उखड़े हुए लोग' के प्रूफ अब देखते हुए। वे ही जानी-पहचानी सड़कें और गलियाँ, वे ही अपरिचित-से लगते उपन्यास के पात्र और उनकी परिस्थितियाँ। ज्यों-ज्यों मैं प्रूफ पढ़ रहा था, राजेन्द्र मुझे वापस अपने आगरा के विद्यार्थी-जीवन में ढकेले दे रहा था। बहुत ही अच्छा लग रहा था अपने बीत चुके को फिर से आँखों के सामने चलचित्र की भाँति मूर्तमान होते देखना।

'उखड़े हुए लोग' के देशबंधुजी को मैं आज तक नहीं भुला पाया हूँ। सन् 1942 में आगरा सेंट्रल जेल में जिले और प्रान्त के लगभग पौने दो सौ शीर्षस्थ कांग्रेसी नेताओं के साथ दो महीने बिता लेने के बाद मैं उनकी रग-रग से वाकिफ हो चुका था। सिद्धान्तप्रियता और सिद्धान्तहीनता, उदारता और संकीर्णता, उदात्तता और घटियापन आदि समस्त मानव मूल्यों का ऐसा भव्य सहअस्तित्व उस समय तक मुझे और कहीं देख पाने का अलभ्य अवसर नहीं मिला था। 'उखड़े हुए लोग' के देशबंधुजी में उन सभी पौने दो सौ चरित्रों को राजेन्द्र ने मूर्तमान कर डाला था।

केवल देशबंधुजी के कारण ही नहीं, मैं इस उपन्यास को राजेन्द्र की सर्वश्रेष्ठ कृति इसलिए भी मानता रहा हूँ कि वह, प्रेमचंद की ही परम्परा में, तत्कालीन समाज का शत-प्रतिशत एवं अत्यन्त कलात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। हाल में ही स्वाधीन हुए हमारे देश के प्रत्येक नौजवान के नेत्रों में उस समय तक सातों रंग वाले मीठे-मधुर सपने तैरा करते थे। उन्हें साकार करने के लिए वह कुछ भी करने को तैयार था, कोई भी कुर्बानी देने की उसकी मानसिक तत्परता हर समय रहती थी। बावजूद पण्डित जवाहरलाल नेहरू के सचाई यह थी कि हमारे देश के शासन तंत्र पर नितान्त अवसरवादी, मुँह में राम बगल में छुरी रखनेवाले घाघ पूँजीपतियों और सामन्ती जमींदारों का ही कब्जा बरकरार था। शहीदों की चिताओं पर हर बरस मेले लगाने का वायदा करनेवालों को अब तक धुँधियाती उन चिताओं पर अपनी बीड़ी सुलगाने की जरूरत ज्यादा महसूस होने लग गई थी।

'उखड़े हुए लोग' का शरद उन्हीं तमाम नौजवानों में से एक है जिनके वे समस्त रंगीन सपने अपने छद्म, पाखण्ड और दुराचार की ओर तेजी से दौड़ लगा रहे हमारे देशबंधुओं की वास्तविकता से परिचित होने की प्रक्रिया में क्रमशः ध्वस्त होते चलते

हैं। उनके हाथ लगती है केवल निराशा, हताशा और कुंठा और उनके दिल-दिमाग पर जमी ही चली जाती है मोहभंग की परत-दर-परतें। पिछले चालीस-पैंतालीस वर्षों से हमारे देश का बच्चा-बच्चा स्वानुभव से इसी दारुण क्लेशकर स्थिति से भली-भाँति परिचित ही तो होता चला आ रहा है।

राजेन्द्र के इस उपन्यास में आज फूल-फल रही विषम परिस्थितियों के बीज स्पष्ट देखे जा सकते हैं। मेरे निकट यही इसकी सबसे बड़ी सफलता है। शरद, जया, देशबंधुजी और उनकी प्रियतमा मायादेवी तथा क्रान्ति का 'बिगुल' बजाने की कामना पोसता 'एंग्री यंग' पत्रकार सूरज—इन मुट्ठी-भर पात्रों को लेकर चलनेवाला 'उखड़े हुए लोग' इन पाँच पात्रों के माध्यम से हमारे समाज का उस समय सच लगनेवाला दर्पण हमें दिखलाता प्रतीत होता है।

इस उपन्यास के प्रूफ पढ़ने के दौरान मेरी एक विशिष्ट उपलब्धि यह भी रही कि तब तक मेरी आँखों पर चढ़ रहे माइनस सात वाले चश्मे का पॉवर बढ़ते-बढ़ते माइनस बारह तक पहुँच गया। उस जमाने में किताबें हाथ से कंपोज हुआ करती थीं। कलकत्ता के अधिकांश प्रेसों के मालिक बंगाली होते थे। वे अपने यहाँ अलग से प्रूफ रीडर कम ही रखते थे। उनकी निगाह में हिन्दी का मैटर कंपोज करनेवाले कर्मचारी के लिए हिन्दी की अच्छी जानकारी कतई गैर-जरूरी थी। पुस्तक ठीक-ठाक छप जाए, इसका उत्तरदायित्व उनके प्रेस का नहीं, लेखक अथवा उसके द्वारा नियुक्त किए गए प्रूफ रीडर मित्र का हुआ करता था।

वह तो कहिए, प्रशान्त रक्षित मेरा अच्छा दोस्त था और साथ-साथ 'सिंधिया एंडेवर' का मुद्रक भी। लिहाज़ा मेरे जैसे स्वघोषित नौसिखिए प्रूफ रीडर द्वारा बार-बार छोटी-बड़ी गलतियाँ खोज निकालने पर वह बिना खीजे, बिना झुँझलाए फिर से पूरी गैली का मैटर कंपोज करने दे दिया करता। वैसे भी, यह प्रूफ पढ़ने का काम है भी तो घर बुहारने सरीखा ही। जितनी बार बुहारेंगे, थोड़ी-बहुत धूल तो समेट ही लेंगे। अतएव प्रत्येक फर्मे को पाँच-छः बार झाड़ने-पोंछने का यह अंजाम तो होना ही था कि भविष्य में मैं गर्व से कह सकूँ कि मैं ही नहीं, मेरा चश्मा भी बड़ा पॉवरफुल है।

'उखड़े हुए लोग' का प्रकाशन राजकमल से हुआ था, मगर शायद राजेन्द्र का आग्रह था कि उपन्यास उसकी देख-रेख में ही छपेगा। उसकी व्यवस्था के अन्तर्गत उपन्यास कलकत्ता में छपना था और बिल राजकमल को दिया जाना था।

पुस्तक प्रकाशित होकर आते ही एक बड़ा रोचक प्रसंग बताए बिना नहीं रहा जा रहा है। कॉफी हाउस के हमारे मित्र साहित्यकारों में से अधिकतर लोगों को तो राजेन्द्र ने अपनी आदत के मुताबिक अन्दाज ही नहीं होने दिया था कि उसका नया उपन्यास कहाँ और कैसे छप रहा है। प्रकाशन के दो-तीन दिन बाद एक शाम 'सनीचर' के सुप्रसिद्ध (?) सम्पादक ललितजी मुझे कॉफी हाउस से बाहर ले जाकर अत्यन्त रहस्यमय ढंग से मेरे कानों में लगभग फुसफुसाते हुए कहने लगे, "ठाकुर साब, आपको पता है, यादव ने अपने नए उपन्यास में आपकी और कृष्णाचार्यजी की बड़ी बुराई की है? आपको उसने खुलेआम अपना पुराना

दुश्मन घोषित किया है और बेचारे कृष्णाचार्यजी को तो उसने पागल करार दे दिया है। आप दोनों को उस पर कोई कड़ी कार्रवाई करनी चाहिए। मैं आपके साथ हूँ। और भी बहुत-से साहित्यकार आपके पक्ष में रहेंगे।"

उस समय मेरे लिए उस बेचारे ललित की समझ पर तरस खाने के अलावा और कोई चारा था नहीं। ललित बड़ी तेजी से उस जमात में शामिल होता जा रहा था जिसके लिए गोसाईजी 'जे बिनु काज दाहिने बाएँ' वाली चौपाई लिख गए हैं। सो उस समय तो मैंने यह कहकर अपनी जान छुड़ा ली कि उस वक्त तक मुझे 'उखड़े हुए लोग' की प्रति राजेन्द्र ने दी ही नहीं। मिलते ही, उसे पढ़ लेने के बाद मैं ललित से अवश्य सम्पर्क कर उसकी सलाह के मुताबिक जो करना होगा, जरूर करूँगा।

उसके चले जाने के बाद मैं तो मारे हँसी के फटा जा रहा था। वापस कॉफी हाउस में जाकर जब मैंने यारों को यह किस्सा सुनाया तो हम सब बड़ी देर तक जी खोलकर हँसते रहे थे। हुआ यह था कि राजेन्द्र ने प्रस्तावना का आरम्भ ही यह कहते हुए किया था कि 'कृष्णाचार्य को समझदारी के दौरे आते हैं।' और अन्तिम पैरा में आभार प्रदर्शन करते हुए लिख दिया था कि 'मनमोहन ठाकौर तो मेरे पुराने दुश्मन हैं।' दोनों ही वाक्यों में उसने हमारे प्रति अपने गहरे स्नेह का इजहार किया था। लेकिन अभिधा तक स्वयं को सीमित रखनेवाले धुरंधरों की न तब कोई कमी थी, न आज है। रांगेय राघव के शब्दों में एक ढूँढ़ो, हजार घर पर आकर टक्कर मारते हैं।

इस उपन्यास ने राजेन्द्र के उपन्यासकार पर बाकायदा स्वीकृति की मुहर लगा दी। अब अपने लेखन को प्रकाशित करने के लिए उसे प्रकाशकों के दरवाजे खटखटाने की जरूरत नहीं रह गई। उसके लिए उस समय के सभी प्रतिष्ठित प्रकाशकों के द्वार उन्मुक्त हो गए। वह धड़ल्ले से प्रकाशित भी होने लगा और उसकी कृतियाँ चर्चित भी खूब होने लगीं।

उन दिनों भारतीय ज्ञानपीठ का कार्यालय कलकत्ता में ही था। श्रीमती रमा जैन के सक्रिय संरक्षण तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के कुशल निर्देशन में ज्ञानपीठ लगातार प्रकाशन किए जा रहा था। उनका 'ज्ञानोदय' भी जगदीशजी के सधे संपादन में देश-भर में अपने झंडे गाड़ रहा था। वे सन् 1956 में ही राजेन्द्र यादव का कहानी संग्रह, 'खेल-खिलौने' प्रकाशित कर चुके थे। अब उन्होंने उसके द्वारा अनूदित 'चेखव के तीन नाटक' और उसके साथ उसका एकमात्र कविता संग्रह 'आवाज तेरी है' को प्रकाशित कर राजेन्द्र के लेखन का एक अल्पख्यात आयाम भी उद्घाटित कर डाला था।

अठारह से अट्ठाईस के बीच का करीब-करीब हर नौजवान अपने दो शौक तो पूरे कर ही लेता है। एक तो वह जहाँ भी, जैसी भी सहज ही उपलब्ध हो जाए, उसके साथ प्रेम अवश्य करने लग जाता है। और दूसरे, वह उसकी शान में कसीदों का ढेर लगाने लग जाता है। राजेन्द्र भी उम्र के उस दौर में इन दोनों स्थितियों से गुजर रहा था। लिहाजा, आगरा के उदीयमान कवि, श्री राजेन्द्र सिंह यादव 'कण' ने कलकत्ता

से पहले ही अपने कण को तो झाड़ फेंका था पर अपनी काव्य प्रतिभा की प्रेरणास्रोत को 'आवाज तेरी है' की ईमानदार स्वीकृति देकर अपना कविता संग्रह ज्ञानपीठ से प्रकाशित करवा लिया।

सन् 1956-57 का यह काल राजेन्द्र के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहा था। उसकी लेखकीय प्रतिभा तथा ऊर्जा तेजी से विकसित होती चली जा रही थी और उसी अनुपात में विकीर्णित होती जा रही थी उसकी ख्याति। अब उसे स्वीकृति पाने की चेष्टा ने कविता, कहानी, उपन्यास, अनुवाद आदि-आदि विभिन्न विधाओं में कलम भाँजने की जरूरत नहीं रह गई थी। अब वह स्थिरचित्त से स्वयं को उपन्यास-लेखन तक ही सीमित रखने में सक्षम हो गया था।*

शायद उसने बहुत पहले ही समझ लिया था कि अच्छे लेखन के लिए अधिक-से-अधिक और लगातार पढ़ते रहना पहली शर्त होती है। इसीलिए मैं तब भी उसके कमरे में जान-जहान की पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं का अंबार लगा देखता था, आज भी देखता हूँ। उस अंबार को देखकर तब भी मेरी लार टपकती थी, आज भी टपकती है। तब भी राजेन्द्र के उस जखीरे से मुझे ईर्ष्या होती थी, आज भी होती है। लेकिन चढ़ती जवानी में ही गहन स्वाध्याय का मन्त्र सिद्ध कर लेने का ही नतीजा है कि एम. ए. क्या साहित्यरत्न राजेन्द्र यादव आज सिर्फ हिन्दी की नहीं, यूरोप और अमरीका के साहित्यिक रुझानों पर 'हंस' के सम्पादकीय से साधिकार फतवे देता रह सकता है।

सन् 1956-57 के ये दो वर्ष राजेन्द्र की निजी जिन्दगी के लिए भी उतने ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए थे। इसी दौरान उसका मन्नूजी के साथ परिचय हुआ था। तब मन्नूजी कलकत्ता में ही बालीगंज शिक्षा सदन में हिन्दी की अध्यापिका थीं। मेरे घर के काफी नजदीक लैंसडाउन रोड पर अपने बहनोई श्री पराक्रम सिंह भण्डारी के साथ रहती थीं। महानगर के प्रख्यात समाजसेवी श्री भगवती प्रसाद खेतान ने उनके स्कूल की लाइब्रेरी में हिन्दी पुस्तकों के लिए दो हजार रुपयों का अनुदान दिया था। मन्नूजी पर पुस्तकों के चयन का दायित्व आया तो वे जा पहुँचीं नेशनल लाइब्रेरी और वहाँ

* जमशेदपुर में मुझे गोली लगने की घटना शायद मनमोहन ठाकौर के परिचय से पहले ही घटित हो चुकी थी। डायमंड हार्बर रोड के 'ज्योति स्टोर्स' के ऊपर एक फ्लैट में मैं, कृष्णाचार्य और कमलाकान्त द्विवेदी तीनों रहते थे। यही द्विवेदी आगे जाकर कस्टम और एक्साइज का चेयरमैन और आतंककारी कवि बने। उन दिनों प्रतियोगिता की तैयारी कर रहे थे। उनके आग्रह पर उनके भतीजे के नामकरण संस्कार पर मैं, रामलुभाया अरोड़ा और द्विवेदी जमशेदपुर गए। वहीं गोली लगने का प्रसंग हुआ। बाद में कलकत्ता में ग्राउंड-फ्लोर पर ही रहने की मजबूरी में मुझे लुभाया की साबुन फैक्टरी के दफ्तर में महीना-डेढ़ महीना रहना पड़ा। दोनों समय लुभाया के घर से बढ़िया खाना आ जाता था। लुभाया परिवार से यह घनिष्ठता अब भी है, तब की बालिका सुधा अरोड़ा (भाटिया) आज हिन्दी की प्रसिद्ध लेखिका है। इन्दु कविताएँ लिखकर शायद गृहस्थी में रम गई हैं। —राजेन्द्र यादव

संयोगवश उनसे टकरा गए श्रीमान राजेन्द्र यादव। कृष्णाचार्य ने परिचय कराया तो मन्नूजी ने राजेन्द्रजी से पुस्तकों के चयन में हाथ बँटाने का अनुरोध कर डाला। राजेन्द्रजी तो जन्म से आज तक महिलाओं के किसी भी अनुरोध को आज्ञा ही मानते चले आए हैं ओर पवनपुत्र हनुमान की भाँति 'राम-काज करीबे को आतुर' रहते हैं।

नतीजे में उसी दिन शाम ढलते ही वे सीधे आ पहुँचे थे 5 ए, ग्रीक चर्च रो और मजबूर कर डाला था मुझे अपने साथ मन्नू जी के घर जाने के लिए। राजेन्द्र को मालूम था कि मन्नूजी, उनकी बड़ी बहन सुशीलाजी और बहनोई, श्री पराक्रम सिंह भण्डारी के साथ मेरी जान-पहचान कोमल कोठारी दो-तीन वर्ष पहले ही करवा गया था। अतएव उस शाम उसने मेरा उपयोग गेट-पास के रूप में कर डाला। उस दिन लगभग दो घंटे तक राजेन्द्रजी मन्नू भंडारी के साथ न जाने कहाँ-कहाँ की बातें करते रहे। मैं तो प्रायः मूक-बधिर श्रोता बना कुर्सी पर अपने कोण बदलता बैठा रहा। मुझे बात करने का कोई 'स्कोप' ही नहीं दिया था, न मन्नू जी ने, न राजेन्द्र ने। कान मेरे उन दिनों वाकई खराब थे। अतः उनकी बातें सुनने की भी कोई गुँजाइश नहीं थी।

लेकिन माहौल में ऐसा कोई अव्यक्त तत्त्व व्याप्त हो रहा था कि मेरी छठी हिस ने मेरे दिमाग में खतरे की घण्टी बजा दी। मन्नू जी से विदा लेने के बाद नीचे उतरते ही मैंने राजेन्द्र को उस घर में, जिसके साथ मेरे घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे, कोई अवांछनीय हरकत न कर बैठने की सख्त ताकीद भी कर दी। जवाब में राजेन्द्र उल्टे मेरी ही मलामत करते हुए झिड़क दिया था कि 'बड़ा गंदा दिमाग है आपका, ठाकुर साब। हमेशा गलत सोचते हैं।' किन्तु आखिरकार मेरी आशंका सच साबित हुई और राजेन्द्र और मन्नूजी नजदीक आते ही चले गए।

सन् 1957 हमारे प्रथम स्वाधीनता संग्राम की शताब्दी का वर्ष था। मन्नू जी के बालीगंज शिक्षा सदन की प्रिंसिपल, पुष्पमयी बोस खुद भी कम्युनिस्ट पार्टी के काफी निकट थीं। उन्होंने अपने स्कूल में इस शताब्दी के उपलक्ष्य में एक सात दिवसीय व्याख्यानमाला का आयोजन किया। मन्नू जी को उसका संयोजन करना था। उन्होंने हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालनेवाले सात भाषणों की व्यवस्था कर दी। उद्घाटन भाषण देना था श्री मोहनसिंह सेंगर को स्वाधीनता संग्राम में पत्रकारिता के योगदान के सम्बन्ध में। उसके बाद बोलना था मुझे, कांग्रेस की स्थापना से लगाकर स्वाधीनता-प्राप्ति तक के इतिहास पर। दोनों भाषण ठीक-ठाक निबट गए।

तब बारी आई तीसरे व्याख्यान की—स्वाधीनता संग्राम में हिन्दी साहित्य की भूमिका। भाषण देने वाले थे श्री राजेन्द्र यादव। आज तो सोच पाना भी असम्भव होगा, परन्तु वास्तविकता यह थी कि उस दिन राजेन्द्र की घिग्घी बँध गई थी। वह एक शब्द भी नहीं बोल पाया था, उन नन्हीं-नन्हीं स्कूली छात्राओं और उनकी प्राध्यापिकाओं के हजार इसरार के बावजूद। पर जान पड़ता है, उस दिन के बाद से राजेन्द्र ने

डिमास्थनीज की भाँति, स्वयं को आमूलचूल परिवर्तित करने की ठान ली। नतीजे में, आज तो वह धड़ल्ले से बोलता चला जाता है—सामने कौन बैठा है, कौन नहीं की चिन्ता किए बगैर। अपनी घनघोर-से-घनघोर विवादग्रस्त मान्यताओं को भी निस्संकोच अभिव्यक्ति देने से तनिक भी हिचके बगैर।

राजेन्द्र और मन्नूजी के रोमांस के समानान्तर ही चल रहा था कृष्णाचार्यजी का अपना प्रेम-प्रसंग। कृष्णाचार्य भरी जवानी में विधुर हो गए थे। उनकी एक पुत्री तो फिर भी कुछ बड़ी हो चली थी, एक पुत्र और एक पुत्री तो अभी बच्चे ही थे। ऐसी कच्ची गृहस्थी को सम्भालने के लिए बड़े धैर्य और जीवट की जरूरत पड़ती है। कृष्णाचार्य में ये दोनों गुण थे भी। परन्तु वह बेचारा भी कब तक पराई स्त्री को बहन-बेटी समझता रहता? खासकर उस स्थिति में जब नेशनल लाइब्रेरी में सुबह से शाम तक बी. ए., एम. ए. तथा पी-एच. डी. की शोध-छात्राएँ आचार्य के चारों ओर भिनभिनाती रहती हों। आखिर इस विश्वामित्र को भी एक मेनका ने खोज ही निकाला। कृष्णाचार्य और कुमारी विजयलक्ष्मी रस्तोगी को नेशनल लाइब्रेरी के विशाल, विस्तृत तथा वृक्षाच्छादित परिसर में नित्य नए एकान्त खोज निकालने में कतई कोई कठिनाई कभी नहीं होती थी।

कहावत है कि इश्क और मुश्क छिपाए नहीं छिपते। राजेन्द्र का नहीं छिप पाया था। कृष्णाचार्य एकदम छिपा ले गए थे। कॉफी हाउस में राजेन्द्र तो 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' में जा बैठता था, मुझे 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में यारों के चटखारे भरी अफवाहों, धारदार व्यंग्य-वाणों और जिज्ञासा भरे प्रश्नों को झेलना पड़ जाता था। उधर, इस सम्बन्ध में राजेन्द्र कभी कोई चर्चा करता नहीं था, और मन्नू जी से कुछ पूछ पाना मेरी शराफत को गवारा नहीं था। तो मैं लोगों को क्या बताता?

हकीकत यह है कि खुद अपनी निगाह में राजेन्द्र चाहे जितना चालाक बने, है वह बेहद सादालौह इन्सान। वह अपने राज को सात परदों में छिपाए रखने की जितनी ज्यादा कोशिश करता है, अपनी किसी-न-किसी हरकत से उतनी ही जल्दी उसका पर्दाफाश भी कर देता है। उसकी इस कमजोरी से मैं भी बखूबी वाकिफ हूँ और कमलेश्वर तथा मोहन राकेश भी भली-भाँति परिचित थे। इसीलिए वे दोनों राजेन्द्र को केन्द्र कर ढेरों मजाकिया किस्से गढ़-गढ़कर मजा लेते रहते थे।

इस दिशा में महाशय कृष्णाचार्यजी कहीं अधिक चौकन्ने सिद्ध हुए। उन्होंने किसी को कानों-कान खबर तक न होने दी। कदाचित् उस नितान्त निरीह, भद्र दिखनेवाले प्रौढ़ से उस किस्म की उम्मीद हममें से किसी ने दूर-दूर तक नहीं की थी। पर वह भला आदमी तो पोखरन-दो के अणु-विस्फोट की भाँति धमाके करने के बाद ही सूचना प्रसारित करने निकला था। एक दिन सुबह साढ़े नौ बजे मैं दफ्तर जाने के लिए सड़क पर उतर ही रहा था कि हजरत नमूदार हुए और बिना किसी भूमिका के मुझे अपने साथ मैरिज रजिस्ट्रार के दफ्तर चलने का फरमान सादिर कर बैठे। बोले, उन्हें तीन गवाहों की जरूरत थी। सो एक तो रहेंगे उनके सहकर्मी श्री नागराज, दूसरा मैं और तीसरे सज्जन का नाम मुझे इस वक्त याद नहीं आ रहा।

पर आज अच्छी तरह याद है कि उस दिन शनिवार था और तब तक शनिवार को हमें दफ्तर में आधे दिन, डेढ़ बजे तक, काम करने के बाद ही छुट्टी मिल पाती थी। मुझ पर मेरा क्लर्कों वाला मध्यमवर्गी लोभ सवार हो गया। मैंने सोचा कि आधे दिन के लिए, पूरे दिन की छुट्टी क्यों बर्बाद की जाए। अतएव मैंने सड़क पर खड़े-खड़े ही कृष्णाचार्य को अपने स्थान पर कमला को बतौर गवाह ले जाने को राजी कर लिया। साथ ही उससे यह वादा भी करा लिया कि रजिस्ट्रार के दफ्तर से निवृत्त होते ही वह और विजयलक्ष्मी मेरे घर आकर ही मुँह मीठा करेंगे।

कृष्णाचार्य विवाह तो चुपचाप जाकर कर आए परन्तु विजयलक्ष्मीजी को पत्नी बना कर अपनी गृहस्थी में प्रवेश कराने में उन्हें काफी पापड़ बेलने पड़े। लगभग तीन-चार महीने बाद पता चलने पर विजयाजी के परिवारवालों ने खासा बावेला मचाया। मामला मारपीट की हद तक जाता-जाता बचा। कुछ समय के लिए विजयाजी को एक कमरे में ताला बन्द कर रख छोड़ा गया। करीब छः महीने लग गए थे विजयाजी की जिद के सामने उन्हें घुटने टेक देने में। और तब एक दिन हम सब बराती, कृष्णाचार्य को घोड़ी पर बैठाकर, बाजे-गाजे के साथ विवाह-मंडप तक ले गए और आधी रात के वक्त दुल्हन विजयाजी को नेशनल लाइब्रेरी वाले फ्लैट में ला पाने में समर्थ हो सके।

उस विवाह-प्रसंग की चर्चा इतने विस्तार से अकारण ही नहीं कर रहा हूँ। इस विवाह में शैतान राजेन्द्र के मजाक ने ही मदन बाबू के साथ मेरी घनिष्ठता सम्भव कर दी थी। हुआ यह कि बाकायदा सात फेरे डालकर शादी करने का फैसला लिए जाने के बाद, मित्रों को विवाह के निमन्त्रण-पत्रों का एक बंडल कृष्णाचार्य ने मुझे भी थमा दिया। बातों-बातों में मैं कह बैठा कि अगर किसी ने पूछ लिया कि मैं किस हैसियत से ये कार्ड बाँट रहा हूँ, तो मैं क्या कहूँगा। इस पर कृष्णाचार्य ने उसी रौ में कह डाला था; "कह दीजिएगा कि आप मेरे बाप हैं।" ठीक इसी प्रकार वे मदन बाबू के घर जाकर उसकी धर्मपत्नी प्रतिभाजी से विवाह में माँ के कर्तव्य निभाने का अनुरोध कर आए थे।

उस समय तक मेरा न मदन बाबू के साथ प्रत्यक्ष परिचय हुआ था, न प्रतिभाजी के साथ। राजेन्द्र दोनों को जानता था। तो, जब हम लोग बरात में शामिल होने के लिए कृष्णाचार्य के घर जमा हुए राजेन्द्र ने पहले तो मदन बाबू को मेरा परिचय कृष्णाचार्य के बाप के रूप में दिया और फिर वहीं खड़े-खड़े प्रतिभाजी को पास बुलाकर मदन बाबू से पूछने लगा, "इन्हें जानते हैं? ये हैं कृष्णाचार्य की माँ।" इसके फौरन बाद उसने कृष्णाचार्य को बीच में खड़ा कर एक फोटो भी खिंचवा डाली, "ताकि सनद रहे और वक्त जरूरत काम आए।"

लोग ठहाके लगा रहे थे। मेरा चेहरा बैंगनी पड़ता जा रहा था। प्रतिभाजी का लाल हो रहा था। मदन बाबू और कमला हँस-हँसकर दुहरे हो रहे थे। पूरा माहौल शादी—हँसी-खुशी—से भर गया था राजेन्द्र की इस निश्छल विनोदप्रियता के कारण। बनारस के आपादमस्तक रससिक्त मदन बाबू की उदार जिन्दादिली ने मुझ आगरावाले

के विनोदप्रिय हृदय पर बहुत ही गहरा असर छोड़ा था। फिर तो हम दोनों इस तेजी से एक-दूसरे के निकट आते चले गए थे कि साल-दो-साल बीतते-न-बीतते प्रतिभाजी ने मुझे अपनी 'सौत' घोषित कर डाला।

राजेन्द्र के माध्यम से जिन दो परिवारों ने मुझे और मेरे समूचे परिवार को आज तक अपना अटूट स्नेह दिया है वे हैं मदन बाबू-प्रतिभा अग्रवाल का तथा श्री श्यामनारायण तथा श्रीमती प्रतिभा नारायण का। बल्कि, राजेन्द्र के दिल्ली आ-बसने के बाद तो इनके द्वारा राजेन्द्र की अपेक्षा मुझ पर होनेवाली स्नेहदृष्टि की मात्रा और भी बढ़ गई थी। 1979 में मदन-बाबू के नितान्त अकल्पित एवं अप्रत्याशित निधन तथा नारायण साहब के कलकत्ता छोड़कर मसूरी-अहमदाबाद जा बसने के बावजूद गत चार दशकों में उक्त स्थिति में रंचमात्र परिवर्तन नहीं आया है। 'ज्यों-ज्यों भीगे स्यामु रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।'

एक से बढ़कर एक अनेक प्यारे-प्यारे लोगों की निकटता प्राप्त कर लेने के लिए ही राजेन्द्र के सौ खून माफ हो जाने चाहिए थे। उसने तो इससे आगे बढ़कर भी कई अच्छे काम किए हैं—कम-अज-कम मेरे सन्दर्भ में तो किए ही हैं। मेरे खिलाफ राजेन्द्र की शुरू से ही शिकायत रही है कि दोस्त उसके होते हैं, और उन्हें पटा मैं लिया करता हूँ। गनीमत है कि उसका यह आरोप उसके पुरुष मित्रों के ही सम्बन्ध में हुआ करता है। महिला मित्रों को तो यदि उसका वश चले तो असूर्यपश्या बनाकर रख छोड़े। बहरहाल उसके पुरुष मित्रों को मेरी मित्रता भी स्वीकार हो जाए—कुछ ज्यादा ही हो जाए—तो उसमें मेरा क्या दोष?

घनश्याम अस्थाना उसका मित्र था। आगरा कॉलेज में दोनों ने साथ-साथ बी. ए. किया। फिर अगले दो वर्ष राजेन्द्र हिन्दी में एम. ए. करता रहा, घनश्याम अंग्रेजी में। दोनों हमउम्र थे। दोनों कवि थे। दोनों सहपाठी। घनश्याम का चाचा पूरनचंद अस्थाना मेरे साथ गवर्नमेंट हाईस्कूल में पढ़ता था। घनश्याम का तब कहीं अता-पता भी नहीं था। घनश्याम को कलकत्ता आने का निमन्त्रण भी राजेन्द्र ने ही दिया था। आकर वह रुका भी राजेन्द्र ही के साथ था।

अलबत्ता यह शराफत राजेन्द्र की ही थी कि वह उसे मुझसे मिलवाने मेरे घर ले आया। फिर कुछ ऐसा हुआ कि एक-दो दिन बाद ही घनश्याम का ज्यादातर वक्त मेरे साथ गुजरने लग गया। घनश्याम रांगेय राघव का फैन था। उसने रांगेय राघव से हमारे जमाने के ढेर सारे किस्से सुन रखे थे। वह खुद भी मेरे मुहल्ले के पास ही गोकुलपुरा का रहनेवाला था। हमारे परस्पर जाननेवालों की तादाद काफी थी। और सबसे बड़ी बात यह थी कि वह और मैं दोनों ही खुलकर कहकहे लगा लेते थे। इसलिए हमारी मित्रता को गाढ़ी होते तीन-चार दिन भी नहीं लगे।

यही हुआ था चंदर के साथ। चंदर, अर्थात् चंद्रप्रकाश अग्रवाल। उसकी भी राजेन्द्र के साथ आगरा से ही मित्रता हो चुकी थी। दिल्ली का आदिम निवासी चंदर

भी आगरा कॉलेज का ही छात्र था। यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा ली जानेवाली देश की उच्चतम परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद उसे साउथ ईस्टर्न रेलवे की विभिन्न ट्रेनिंग लेने खड़गपुर भेजा गया था। वहाँ से अक्सर शनि-रवि चक्कर में बेचारा जगतियानी भी पाक-दामन बना रहने पर बाध्य हो जाता। मुझसे बहुत छोटा था, इसलिए उसके चरित्र की भी जिम्मेदारी मुझे ही सम्भालनी पड़ रही थी। इलायची-पीपरमेंट डला पान चबा लेने के बाद ही हम घर वापस लौटा करते थे।

घर में घुसते ही गुलाब थकान के बहाने अपने बिस्तर पर जा पसरता था। मैं जा बैठता था बाई के पास। बाई अर्थात् राजेन्द्र-जननी। एक बड़ी मजेदार बात लक्ष्य की थी मैंने उन तीन दिनों में, बाई 'टोटल माँ' थी जिसकी चिंतन और जिसकी भावनाओं के केन्द्र में चौबीसों घंटे उसके राजो, सत्त, भूप, मुन्ना, कुसुम, माधवी, सुमन, अरुणा और दोनों बेबियाँ उपस्थित रहा करतीं। मुझसे अपने राजे के कलकत्ता प्रवास-काल की दिनचर्या के बारे में खोद-खोदकर सवालों-पर-सवाल करती बाई उस बार मुझे मैक्सिम गोर्की की 'माँ' की याद दिलाती रही थीं।

बाई के साथ बातें करने में मुझे बड़ा मजा आता था। बाई थी भी अद्भुत व्यक्तित्व की धनी। महाराष्ट्र के अमरावती नगर में जन्मी, पली-बढ़ी बाई की मातृभाषा मराठी थी। हिन्दी तो उसने सोलह-सत्रह वर्ष की आयु में विवाह होने के बाद सीखी। 1958 तक बाई खासी अच्छी हिन्दी बोल लेती थी। पर बीच-बीच में, साफ झलकता रहता था कि हिन्दी उन्होंने सीखी है, उनकी अपनी जबान नहीं है।

उस बार एक और बड़े दिलचस्प तथ्य का पता चला था मुझे। खुद राजेन्द्र के पिताजी की पढ़ाई-लिखाई उर्दू में हुई थी, हिन्दी में नहीं। वे भी उन असंख्य लोगों में एक थे जो देवकीनन्दन खत्री की चंद्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति, भूतनाथ आदि पढ़ने की खातिर हिन्दी सीखने पर मजबूर हो गए थे और इसी कारण राजेन्द्र यादव की शिक्षा-दीक्षा भी अलिफ-बे-पे-ते से आरम्भ हुई थी, अ-आ इ-ई से नहीं। उसने भी खेल के मैदान में पाँव पर लगी गहरी चोट की वजह से करीब तीन साल तक अस्पताल और घर में शैया-सेवन करने की मजबूरी के दौरान ही हिन्दी का अभ्यास आरम्भ किया था।

बाई के साथ बातें करते समय हम दोनों ही घूम-फिरकर राजेन्द्र की शादी के प्रश्न पर टिक जाया करते। बाई को चिन्ता सता रही थी कि उसका राजे अब तीस का होने आ गया था। अब तो उसका विवाह हो ही जाना चाहिए। इस विषय में मेरी भी गहरी दिलचस्पी थी। साथ ही, मुझे यह देखकर बड़ा ताज्जुब हुआ था कि बाई को भी राजेन्द्र और मन्नूजी के बीच चल रहे चक्कर की खासी जानकारी हो चुकी थी। कदाचित् सुमन ने कलकत्ता में उसकी गंध सूंघ ली थी। इस दिशा में महिलाओं की घ्राणशक्ति पुलिस के खोजी कुत्तों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र हुआ करती है। और यों भी, इश्क और मुश्क कब किसी के छुपाए छुपे हैं?

बाई की भावी पुत्रवधू के सम्बन्ध में अपनी राय जताने से पहले मैंने बाई से उसकी अपेक्षाएँ जान लेनी चाही थीं। बाई ने एक वाक्य में अपने दिल की बात कह दी थी—"भैया, तुम्हारी कमला जैसी कोई गुजराती लड़की होनी चाहिए—देखने में गोरी,

स्वभाव की हँसमुख और घर के कामकाज में हमेशा आगे।" कुछ ही दिन पहले, बूँदी जाते समय, कमला बाई के साथ कुछ घंटे बिता ही नहीं गई थी, पूरे यादव परिवार पर अपना सिक्का जमा गई थी।

लेकिन उस दिन बाई और उसे घेरकर बैठी लड़कियों को मैं यह समझाने में समर्थ हो गया था कि कमला जैसी तो दुनिया में सिर्फ कमला ही गढ़ी जा सकी थी क्योंकि उसके बाद वह साँचा बूढ़े अल्लाह मियाँ के काँपते हाथों से छिटककर चूर-चूर हो गया। अतएव, मैंने आम चर्चा को खास बनाने के उद्देश्य से, दबे-दबे लहजे में, जब राजेन्द्र की आगरावाली पसन्द की ओर इशारा किया, तो उसकी बेहद तीखी प्रतिक्रिया सुनकर मैं तो स्तम्भित ही रह गया। कारण पूछने पर मुझे बताया गया कि जो तितलियों की तरह दिन-भर साइकिल और बाद में स्कूटर पर इधर-उधर भटकती रहती हो, वह मर्दानी लड़की यादव-परिवार की सबसे बड़ी भाभी के उच्च सिंहासन पर कदापि अभिषिक्त नहीं की जा सकती।

मुझे याद आया कि उस बेचारी के सम्बन्ध में कमला ने भी कुछ ऐसी ही राय लिख भेजी थी। बूँदी जाने से पहले राजेन्द्र ने कमला से उस लड़की से मिलकर अपनी 'निष्पक्ष' राय बताने का अनुरोध कर दिया होगा। अपने दायित्व का पालन करते हुए कमला ने बूँदी पहुँचे बाद मुझे लिखे पत्र में सूचना दी थी कि उसे तो वह लड़की सूरत-शक्ल, चाल-ढाल, बोलचाल, सबसे 'पठान' लगी। अब राजेन्द्र की बहिनों की समवेत राय सुनने के बाद मेरा यकीन और भी पक्का हो गया था कि नारी ही नारी की शत्रु होती है। मुझे उसे देखने का आज तक अवसर नहीं मिला है। अतएव इस सम्बन्ध में कोई भी राय देने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। परन्तु जितना भर सुना-समझा है, उसके आधार पर मेरी समस्त सहानुभूति उस महिला के साथ है जिसने निष्ठापूर्वक राजेन्द्र के प्रति आज तक प्रेम का निर्वाह किया है।

बहरहाल, उस समय तो हम राजेन्द्र के प्रेम नहीं, विवाह की समस्या से जूझ रहे थे। इसलिए जब इस सिलसिले में मन्नूजी का नाम उठा, तो मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि बाई को उसमें कोई ऐतराज नहीं था। बल्कि वे तो 'इतनी पढ़ी-लिखी, कमाती-धमाती और नाम की हुई लड़की' के साथ राजेन्द्र के विवाह की कल्पना मात्र से गद्‌गद् हो रही थीं। बहुत कुछ यही स्थिति राजेन्द्र की बहिनों की भी थी। उस समय तक मन्नू जी की 'मैं हार गई' और 'तीन निगाहों की तस्वीर' ने हिन्दी के पाठकों में धूम मचा दी थी।

स्वीकार करता हूँ कि स्वयं मन्नूजी का पक्षधर होने के बावजूद, मुझे उन लोगों की यह प्रतिक्रिया अत्यन्त विडम्बनापूर्ण लगी। एक जानी-पहचानी लड़की जिसके साथ राजेन्द्र का काफी अरसे से चक्कर चल रहा था, उसकी आधुनिकता को तो वे पचा नहीं पा रही थीं, और एक अनदेखी, अनजान मन्नू जी की आधुनिकता को वे न केवल आत्मसात् करने को प्रस्तुत थीं, बल्कि उसमें वे कहीं गर्व और गौरव दोनों अनुभव कर रही थीं। मेरे दिमाग में दो कहावतें एक साथ चक्कर काटने लग गई थीं--पहली, अति परिचयात् अवज्ञा और दूसरी, दूर के ढोल सुहावने।

आज जब पीछे मुड़कर उस दृश्य को स्पष्ट देख रहा हूँ तो एक और बात पर भी मुझे हँसी आ रही थी। उस निरीह आगरावाली लड़की को उसके खुले, मुक्त व्यवहार पर अस्वीकार करने को तत्पर उन लड़कियों में से अधिकांश ने खुद प्रेम करने के बाद ही विवाह किए हैं और आज उनमें उस मध्यवर्गीय पिछड़ी मनोवृत्ति का कहीं कोई अंश तक दिखाई नहीं देता। राजेन्द्र यादव के परिवार की उस कस्बाई मनोवृत्ति को जकड़े, आगरा में जमे बैठे हैं केवल राजेन्द्र के तीसरे भाई, भूपेन्द्र यादव जिनकी उच्चतम महत्त्वाकांक्षा का आदि और अन्त उनके पिताजी द्वारा बनवाए गए मकान पर सालिम कब्जा कर लेने तक ही सीमित है।

उस बार आगरा में बिताए गए तीन दिनों में एक बात साफ समझ में आ गई थी कि उसका सारा परिवार राजेन्द्र को बेहद प्यार करता था और वे सभी राजेन्द्र के विवाह की उत्सुक प्रतीक्षा कर रहे थे। उसकी एकमात्र चिन्ता यही थी कि राजेन्द्र का ऊँट किस करवट बैठेगा। उस जमाने के राजेन्द्र में आज के राजेन्द्र से बहुत फर्क था भी। आज तो अपने लेखन और भाषणों से आपके सम्मुख वह एक ऐसे बुद्धिजीवी के रूप में उपस्थित होता है जो अपनी मान्यताओं को हठधर्मी की सीमा तक जकड़े रहता है, उनकी खातिर लोकप्रियता को भी निरन्तर दाँव पर लगाता चलता है। लेकिन 1958 में स्थिति ऐसी नहीं थी। राजेन्द्र की अनिश्चयता बार-बार स्पष्ट होती रहती थी। खासकर अपने बारे में कोई निर्णय लेने से पहले वह अपनी भावनाओं से कहीं अधिक अपने आसपास के लोगों की राय पर भरोसा करता था।

इन लोगों की विडम्बना यही रही कि बार-बार यह कहते रहने पर भी कि हजारों सालों से पुरुष ने स्त्री को देह से अधिक कुछ भी नहीं माना और उसकी देह के स्वामित्व पर ही उसने संस्कृति का सारा वितान खड़ा कर लिया, इन्होंने उसकी देह को नकारकर उसे यह समझाना शुरू कर दिया कि देह की क्या पवित्रता, क्या अपवित्रता? एक बार रगड़कर ही देह फिर से तरोताजा हो जाती है। इसलिए नहा लेते यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्। इनका विश्वास था कि आज के युग में विवाह संस्था नितान्त अप्रासंगिक होती जा रही है। कौन किसके साथ हमबिस्तर होता है, इसका कदापि कोई महत्त्व नहीं जब जिसका जिससे जी मिल जाए उस युग्म को जी में आए, करने की छूट होनी चाहिए। उनकी निगाह में क्रान्ति का यह दैहिक मुद्दा आर्थिक तथा सामाजिक मुद्दों से रत्ती-भर कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शायद यही कारण था कि राजेन्द्र और राजेन्द्र के समकालीन लगभग सभी साहित्यकार अपने जीवन में देह का आह्वान फिर-फिर सुनते रहे, जैनेन्द्रजी की भाँति ईमानदारी से विश्वास करते रहे कि हरेक बुद्धिजीवी को एक अदद बीवी के साथ कम-से-कम एक अदद माशूका रखने की इजाजत समाज द्वारा दी ही जानी चाहिए।

आगरा के इस प्रवास के दौरान रांगेय राघव से भेंट नहीं हो पाई। वह मई 1956 में विवाह करने के बाद बयाना के पास अपने पैतृक गाँव वैर में जा बसा था। आगरा में परिचितों के नाम पर रह गया था केवल घनश्याम अस्थाना जिसके साथ, राजेन्द्र के कारण, कलकत्ता में परिचय गहरा गया था। दिन में एक बार

उसके साथ भी बैठक जम जाती—कभी मैं गोकुलपुरा में उसके घर जा पहुँचता, कभी वह राजेन्द्र के यहाँ चला आता था। हँसने-बोलने में वह भी माहिर था और मैं भी। पप्पू और राजेन्द्र की टाँगखिंचाई करते (परोक्ष में तो और खुल कर) हमारा वक्त खासा बीत जाता था।

इस प्रकार वे तीन दिन कहाँ निकल गए, अन्दाज ही नहीं हुआ। चौथे दिन तूफान मेल पकड़कर जगतियानी और मैं वापस चल पड़े कलकत्ता के अपने-अपने नीड़ों में जा दुबकने। राजेन्द्र की अनुपस्थिति में उसके विवाह के सम्बन्ध में निर्णय ले पाने का कोई प्रश्न ही नहीं था। तथापि इन तीन दिनों में उसके परिवार का निकट से परिचय प्राप्त कर तथा उनका स्नेह पाकर मुझे बहुत अच्छा लगा था। अब तक कलकत्ता में केवल राजेन्द्र ही मेरे परिवार का सदस्य बना था। अब आगरा आकर मैं भी उसके परिवार द्वारा अपना लिया गया, इससे बढ़कर सन्तोष मुझे और क्या हो सकता था?

घटनाक्रम इस तेजी से करवटें बदलेगा, इसका कोई अन्दाज उस समय मैं नहीं लगा पाया था। राजेन्द्र उन दिनों दिल्ली-आगरा-इलाहाबाद के बीच घूमता रहता था और मैं अपने दफ्तर की यूनियन की नेतागिरी करते हुए कलकत्ता-बम्बई के बीच। हम दोनों अपने-अपने वर्तमान से पूरी तरह सन्तुष्ट थे।

उधर मन्नू जी ने दुर्गापूजा की छुट्टियों में पहले दिल्ली और वहाँ से इंदौर हो आने का प्रोग्राम बना लिया था ताकि वे राजेन्द्र, राकेश और कमलेश्वर के तिगड्डे के साथ कुछ समय दिल्ली में बिताकर इंदौर में अपनी सबसे बड़ी बहन से मिल आएँ। मन्नूजी की बड़ी बहन सुशीला भंडारी और मैं मन ही मन आस लगाए बैठे थे कि शायद राजेन्द्र मन्नूजी को आगरा लेकर अपने परिवार से भी मिलवा लाएगा।

एड़ी-चोटी का जोर लगाना पड़ गया था मुझे इस मामूली से अन्तर को समझाने में। मैंने चौदह वर्षो के अपने पतित्व के अनुभव को अखिर दाँव पर लगा दिया था। राजेन्द्र ने बड़ी आसानी से यह कहकर मेरे तर्क की काट कर दी थी कि 'ठाकुर साब, आपको तो विवाह से पहले किसी के साथ प्रेम करने का कोई अनुभव कभी मिला ही नहीं। दस वर्ष की आयु में आपके पिताजी ने जहाँ भी तय कर दिया, उसी के साथ ब्याह रचाकर गृहस्थी जमाने पर मजबूर हो गए। आपकी समझ में ये तमाम बातें कैसे आएँगी, कहाँ से आएँगी?'

उसके दस पुरजोर तर्क का केवल एक ही उत्तर हो सकता था जिसका मैंने रामबाण के रूप में प्रयोग किया था। मैंने कहा था, "अच्छा ही है जो मेरी समझ में तुम्हारी ये सब बातें नहीं आतीं। शायद इसी वजह से कमला और मैं पिछले चौदह वर्षों से इतना सुखी दाम्पत्य जीवन बिताने में समर्थ हो रहे हैं।" निरुत्तर रह गया था राजेन्द्र यह सुनकर, हमारे अन्य पारिवारिक मित्रों की तरह वह भी मेरी गृहस्थी का पिछले चार वर्षों से निकट का तथा प्रत्यक्षदर्शी, साक्षी, रहता चला आया था।

अब सोचता हूँ तो लगता है कि कलकत्ता में तीन-चार वर्ष रहने के दौरान ही राजेन्द्र के अन्तर्मन में भी कहीं ऐसे ही सहज, सफल और इसीलिए सुखी दाम्पत्य जीवन बिताने की अभिलाषा अंकुरित हो चली थी, जैसा न केवल मैं, बल्कि हमारी मित्र-मण्डली के अधिकतर लोग जी रहे थे। श्रीमती सुशीला भण्डारी के 'सर्क्यूलर' टेलीफोन पर 'परनिंदा गोष्ठी' में सम्मिलित होने के लिए आए दिन दिए जानेवाले निमन्त्रणों से जिस मुक्त रूप से No holds barred, तथापि किसी भी प्रकार की कुत्सा अथवा द्वेष से रहित, मजाकों का सामूहिक आदान-प्रदान होता रहता था, उसका प्रभाव बहुत गहरा तथा चिरस्थायी होता था। राजेन्द्र भी उससे कैसे और कब तक अछूता रह सकता था।

आखिर तीसरे दिन की हमारी बहस एक निर्णायक मोड़ पर आ खड़ी हुई जब रात के करीब दो बजे राजेन्द्र ने अपने हथियार डाल दिए और मुझसे कह दिया, "अच्छा, चलो, अब आप ही तय कर दें कि मैं किसके साथ शादी करूँ। आप जो भी कहेंगे, मैं मान लूँगा।" उसके इस कथन पर मेरे मस्तिष्क में कौंध गया गीता के अठारहवें अध्याय का श्लोक जिसमें अर्जुन ने द्विधारहित शब्दों में कह डाला था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा तत्प्रसादान्मयाच्युतः।
स्थितोऽस्मिगतसन्देहः करिष्येवचनं तव। 18/73

लेकिन मैं कोई कृष्ण तो था नहीं जो लोहा तप चुका देखते ही उस पर हथौड़ा चलाते हुए कह देता कि—

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय, कृत निश्चय।

मैं भी आगरे की यमुना का पानी पीकर ही बड़ा हुआ था। लिहाजा अब मैंने अपने नखरे दिखाना आरम्भ कर दिया। "नहीं भैया राजेन्द्र, शादी तो तुम्हें अपने ही फैसले के मुताबिक करनी पड़ेगी। मैं कह दूँ कि तुम फलाँ से कर लो, और कल को तुम्हारी उसके साथ न बने तो तुम जिन्दगी भर मुझे कोसते रहोगे कि ठाकुर साहब ने मुझे फँसा दिया। और अगर सब ठीक-ठाक चला तो उसका पूरा श्रेय खुद ले उड़ोगे", वगैरा-वगैरा ऐसे अवसरों पर कही जानेवाली सारी सूक्तियाँ दुहराता चला गया था मैं, और इस सम्बन्ध में कभी कुछ न कहने, मुझे कोई दोष न देने का वचन देता चला गया था राजेन्द्र यादव।

अतएव रात के ठीक तीन बजकर बीस मिनट पर हमने एकमत होकर प्रस्ताव पारित कर ही डाला कि श्रीमान राजेन्द्र यादव को कुमारी मन्नू भण्डारी के साथ विवाह करने में कतई कोई आपत्ति नहीं होगी। अब हमें केवल यह देखना बाकी था कि हमारे इस सर्वसम्मत प्रस्ताव की मन्नूजी तथा उनके परिवार के सदस्यों पर क्या प्रतिक्रिया होती है।

आज स्मरण नहीं आ रहा है कि दूसरे दिन रविवार था या कि मैंने दफ्तर से छुट्टी ले ली थी। परन्तु यह बड़ी अच्छी तरह याद है कि सुबह जल्दी ही नहा-धोकर, नाश्ते के साथ, मैं और कमला करीब साढ़े दस-ग्यारह के आसपास लैंसडाउन रोड जा पहुँचे। तब तक भण्डारी परिवार को मैंने राजेन्द्र के कलकत्ता-आगमन की हवा तक

नहीं लगने दी थी। जब तक राजेन्द्र किसी निश्चय पर न पहुँच जाए, उन लोगों से इस सम्बन्ध में चर्चा करने से कोई लाभ भी नहीं था। उल्टे, नुकसान होने की ही आशंका अधिक थी।

भण्डारी साहब घर पर नहीं थे। केवल सुशीला थीं। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उनके मन में उन दिनों राजेन्द्र के प्रति जो आक्रोश पल रहा था उसका मुझे इसी तरह आभास था। श्री पराक्रम सिंह भण्डारी के लिए मन्नूजी उसकी छोटी साली कम, पुत्री अधिक है। उनका यह मनोभाव आज तक अक्षुण्ण बना हुआ है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति मन्नूजी के क्लेश का कारण हो जाए, तो वे उसे सहज ही क्षमा नहीं कर पाते। साथ ही, वे मुझसे भी कहीं अधिक ऊँची श्रेणी के पत्नी-भक्त हैं।

इतनी ऊँची श्रेणी है उनकी कि जब एक बार मैंने गम्भीरतापूर्वक प्रस्ताव रखा कि हम सब मित्र मिलकर एक Henpecked Husbands Association की स्थापना कर भण्डारी साहब को उसके अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित कर दें, तो भण्डारी साहब ने उतनी ही गम्भीरतापूर्वक कहा था, "The word Henpecked is redundant. The vey fact that you are a husband, it is obvious that your career as a husband can lost only as long as you remain henpecked."

मेरी मूक उपस्थिति में कमला ने सुशीलाजी को पिछली तीन रातों की बैठक का करीब-करीब पूरा ब्योरा शब्दशः सुना दिया। सुशीलाजी निर्विकार भाव से सुनती रहीं। अन्त में उन्होंने कहा कि हमें उसी दिन शाम को सात बजे एक बार फिर आने का कष्ट करना पड़ेगा ताकि वे भण्डारी साहब के अतिरिक्त अपने भाई बसन्त बाबू साहब और प्रभात बाबू साहब को भी बुलाकर उनकी भी सलाह से कोई निर्णय ले सकें। साथ ही उन्होंने यह भी आग्रह किया कि फिलहाल यादवजी को इस चर्चा में सम्मिलित न करना ही ठीक रहेगा। दोनों बातें कायदे की थीं, लिहाजा कमला और मैंने तुरन्त ही मान लीं।

शाम को दुबारा पहुँचा तो पाया कि वहाँ का सारा माहौल ही बदल चुका था। सुबह वाली खामोशी, कुछ-कुछ तनाव, काफी-सा तनाव—किसी का भी दूर-दूर तक अता-पता नहीं रह गया था। बसन्त बाबू और प्रभात बाबू जोर-जोर से हँस रहे थे। सुशीला जी उनके साथ-साथ दुहरी हो रही थीं। भण्डारी साहब अपनी चिर-परिचित मुद्रा में मन्द-मन्द मुस्कान छिटका रहे थे। हमें देखते ही बसन्त बाबू, और उनसे भी अधिक प्रभात बाबू ने हमेशा की तरह उच्च-स्वर में बड़े तपाक से स्वागत-वाक्यों का उच्चार किया। पिछले कई वर्षों से मुझे इस घर के ऐसे ही माहौल की आदत पड़ी हुई थी। इसलिए मैं भी तुरन्त ही सहजतापूर्वक उसमें फिट हो गया था।

शीघ्र ही हम अपनी उस सांध्यकालीन विचारगोष्ठी के सर्वप्रधान एजेंडा पर विचार-विमर्श करने लग गए किन्तु कदाचित् मैं यह बात कुछ गलत कह गया हूँ। हमने न अधिक विचार-विनिमय किया था, न विमर्श। और हमारे बीच विमर्श वाली

स्थिति की कभी कोई गुंजाइश रहती ही नहीं थी। जान पड़ता है, हमारे पहुँचने से पहले ही सुशीलाजी ने उन सभी भण्डारियों को पूरी तरह से 'ब्रीफ' कर दिया था, और उन लोगों ने सर्वसम्मति से निर्णय ले रखा था कि अब मन्नूजी और राजेन्द्र का विवाह सम्पन्न हो जाने में ही सबकी भलाई है।

सुशीलाजी बार-बार जोर दे रही थीं कि—

(1) मन्नूजी को इन्दौर से फौरन वापस बुला लिया जाए।
(2) यादव जी को वापस न दिल्ली जाने दिया जाए, न आगरा।
(3) विवाह हो जाने के बाद वे दोनों जहाँ चाहे रहें, जैसे चाहे रहें।
(4) विवाह यथासम्भव शीघ्र सम्पन्न हो जाना चाहिए।

बाकी तीन मुद्दों पर तो किसी प्रकार का कोई मतभेद नहीं था। आश्चर्य हुआ था यह देखकर कि जब हम सब यथासम्भव शीघ्र ही किसी निश्चित परिभाषा पर एकमत होने का समवेत प्रयत्न करने में संलग्न थे, तब भण्डारी साहब अपना विरोध प्रकट करने का साहस कर बैठे। उन्हें सिविल मैरिज होने में तो ऐतराज नहीं था परन्तु विवाह की तिथि तथा मुहूर्त के लिए वे किसी पण्डित ज्योतिषी से सलाह लेना चाहते थे।

सौभाग्यवश उन्हें मेरा यह तर्क समझ में आ गया कि तिथि और मुहूर्त के लिए वर और वधू दोनों की जन्मपत्रियों की आवश्यकता पड़ती है। मन्नूजी की जन्मपत्री भले उनके पास हो, राजेन्द्र की तो आगरा में ही उपलब्ध हो सकेगी, बशर्ते राजेन्द्र उसे वहाँ से मँगवाने के लिए राज़ी हो जाए। कुछ देर बाद हम सबने बसन्त बाबू साहब के इस फतवे से सहमति प्रकट कर दी कि किसी भी शुभ काम के लिए रविवार ही ठीक रहता है, क्योंकि उस दिन सबकी छुट्टी रहती है।

तुरन्त कैलेण्डर देखा गया और 22 नवम्बर, 1959 को दोपहर एक-डेढ़ के बीच माल्य-विनिमय तथा पाणिग्रहण का पवित्र मुहूर्त हम सभी पण्डितों ने निर्धारित कर दिया।

22 नवम्बर में अभी 15-20 दिन बाकी थे। इस बीच मन्नूजी को इन्दौर से वापस आना था। राजेन्द्र के सगे-सम्बन्धियों तथा बन्धु-बान्धवों को कलकत्ता चले आने की सूचना भिजवानी थी। भण्डारी परिवार को अपनी प्रिय मन्नू को ससुराल भेजने की तैयारियाँ भी करनी थीं। भले हवनकुंड के सात फेरे लगाए जाएँ अथवा मैरिज रजिस्ट्रार द्वारा सर्टिफिकेट प्रदान किया जाए, विवाह तो आखिर विवाह ही होता है। चाहे सूक्ष्म हो या भव्य उसके लिए कुछ तैयारियाँ तो करनी ही होती हैं। आज के बहुप्रचलित मुहावरे के अनुसार उस दिन क्या-क्या, कैसे-कैसे और कब-कब किया जाएगा, इसकी modalities (विधि-विधान) निर्धारित करने के लिए राजेन्द्र के साथ भी एक दिन बैठकर विचार करना आवश्यक था।

दूसरे दिन कमला को बूँदी चला जाना था। उसने बड़ी हिम्मत जुटाकर उस वर्ष राजस्थान बोर्ड की हाईस्कूल परीक्षा देने का निश्चय कर डाला था। बूँदी की पिछली यात्रा में वह फार्म भरकर फीस भी जमा कर आई थी। परीक्षा के पहले चार-पाँच

महीने कसकर पढ़ाई कर पाना उसके पीहर में ही सम्भव हो सकता था। कलकत्ता के हमारे सामाजिक जीवन के कारण वह कदापि सम्भव न हो पाता।

घर आकर हमने राजेन्द्र को अत्यन्त उत्साह भरे मूड में विस्तार से सारी बातें बताकर तुरन्त ही बाई और भाई-बहिनों को कलकत्ता बुलवाने की व्यवस्था करने को कहा। गम्भीर मुद्रा में राजेन्द्र चुपचाप सुनता रहा। हाँ-हूँ के अतिरिक्त उसमें से कोई आवाज नहीं निकल रही थी। केवल, जब कमला ने दूसरे दिन सुबह की तूफान मेल से सफर योग्य सामान सूटकेस में जमाना आरम्भ किया तो जिद पकड़ ली कि वह बूँदी न जाए। विवाह होने तक कलकत्ता ही रहे। ऐसा कर पाना अब सम्भव नहीं रह गया था क्योंकि मथुरा पर उसके भाई ने आकर उसे बूँदी ले जाएँगे, यह व्यवस्था पहले ही सुनिश्चित कर दी गई थी। बड़े हाथ-पैर मारे थे राजेन्द्र ने। लेकिन हमारी भी अनिच्छा के बावजूद कमला को दूसरे दिन बूँदी जाना पड़ गया।

दो दिन बाद भण्डारी साहब के घर पर फिर एक बैठक हुई। इस बार राजेन्द्र को भी वहाँ बुलाया गया। आखिर उसे ही तो बताना था कि उसकी ओर से बारात में कौन-कौन आएँगे, कितने लोग आएँगे, उनके स्वागत-सत्कार की क्या और कैसे व्यवस्था की जानी है।

बड़ी उमंगों से पूछे गए तमाम प्रश्नों पर राजेन्द्र ने यह कहकर पानी फेर दिया था कि उसकी बारात में शामिल होने के लिए वह न अपनी माताजी को बुलाएगा, न किसी भाई-बहिन को। केवल ठाकुर साहब उसकी ओर से आएँगे, और कोई नहीं। यह सुनकर औरों पर क्या बीती, मुझे पता नहीं क्योंकि उसके बाद काफी देर के लिए मेरा दिमाग सुन्न पड़ गया। अब तक मैं खुद स्वयं को किसी से सूत भर कम आधुनिक नहीं समझता आया था परन्तु राजेन्द्र ने तो मेरी सारी आधुनिकता को उस क्षण धूल चटा दी।

वापस लौटने पर मैंने सुना कि अपनी ओर से राजेन्द्र ने केवल एक माँग रखी थी—कि इस विवाह में कदापि कोई 'फस' (झंझट) नहीं होगा। इतनी सहज ही समझ में आ जानेवाली और मामूली प्रतीत हुई थी उसकी यह माँग कि उसे तत्काल और सहर्ष स्वीकार करने में किसी को एक क्षण भी नहीं लगा था। उस वक्त किसने सोचा था कि उसकी यह बात वामन के तीन पग धरती की याचना सिद्ध होती चली आएगी।

मुझे यह देखकर परम आश्चर्य हुआ कि जिस प्रकार राजेन्द्र अपने परिवार के किसी भी सदस्य को न बुलाने का निश्चय कर बैठा था, उसी प्रकार भण्डारी परिवार भी एक स्वर से मन्नूजी के माता-पिता को इस विवाह में आमन्त्रित करने के पक्ष में नहीं था। कारण पूछने पर मुझे बताया गया कि मन्नू के पिता, श्री सुखसम्पतराय भण्डारी को न उनका यह प्रणय पसन्द आया था, न परिणय आएगा। उन्हें घोर नहीं, घनघोर आपत्ति थी इस सम्बन्ध में।

श्री सुखसम्पतराय भण्डरी अजमेर में रहते थे। परन्तु वे केवल अजमेर में ही नहीं, समूचे राजस्थान में साहित्यिक रुचि सम्पन्न व्यक्ति के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर

चुके थे। सन् 1949 में कलकत्ता जाने के पहले मैंने तीन वर्ष बूँदी में बिताए थे। तभी मैंने अनेक लोगों से उनकी देशभक्ति, उनके प्रगतिशील विचारों तथा उनके द्वारा लिखी जा रही एक अपने ढंग की अनूठी डिक्शनरी के चर्चे सुन रखे थे। अब उन्हीं के बेटे-बेटियों से उनकी आपत्तियों के विषय में विस्तार से जानकारी मिलने पर मुझे गहरा धक्का लगा। उनके दर्शन करने का मुझे कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका। होता, तो मैं अवश्य ही सीधे-सीधे उन्हीं से उनकी आपत्तियों की विशद व्याख्या माँगता।

अब स्थिति यह हो गई थी कि इस विवाह में न मन्नूजी के माता-पिता सम्मिलित हो रहे थे, न राजेन्द्र की माँ अथवा भाई-बहिन। घर लौटने पर राजेन्द्र बार-बार आग्रह करने लग गया कि मैं कमला को 22 नवम्बर के पहले ही बुलवा लूँ। पर जो दो-तीन दिन पहले ही गई हो, उसे वापस आने को मैं कैसे कह सकता था? विशेषकर, जब वह हाईस्कूल की परीक्षा देने गई थी। अब मुझे आभास होने लगा था कि राजेन्द्र की ओर से केवल अकेला मैं ही रह जाऊँगा। बहुत ही अजीब लग रहा था मुझे।

अतएव मैंने राजेन्द्र से अनुरोध किया था कि कम-से-कम कमलेश्वर और मोहन राकेश को ही पत्र लिखकर उन्हें तुरन्त कलकत्ता आने को कह दे। राजेन्द्र खुद पत्र लिखने को भी राजी नहीं हुआ। बोला, "लिखना हो तो आप ही लिख दें।" उत्साहातिरेक में मैंने यह भी नहीं सोचा कि कमलेश्वरजी के साथ तो इलाहाबाद जंक्शन पर दस मिनट मिल भी लिया था, मोहन राकेश को तो मैंने, जान-पहिचान तो दूर, कभी देखा तक नहीं था। पत्र लिख बैठा। और राकेशजी ने आने में असमर्थता प्रकट करता उत्तर भी दे दिया।

इस विवाह के प्रसंग में ही मैंने पहली बार जाना था कि राजेन्द्र कितना जिद्दी है। उसने न जाने कब कमला के पिताजी को मेरे नाम से टेलीग्राफिक मनीऑर्डर भेजकर कमला को तुरन्त कलकत्ता भिजवा देने का फरमान सादिर कर दिया। मुझे तो जब, बिना किसी पूर्वसूचना के ऑफिस से लौटने पर कमला अचानक घर आई मिली, तब कहीं राजेन्द्र की इस हरकत का पता चला। नतीजे में आज तक कमला को नॉन-मैट्रिक ही रहना पड़ा। किन्तु न कमला को इसका मलाल है, न मुझे और राजेन्द्र को तो कतई नहीं है।

उधर सबसे अधिक उत्साहित हो रहे थे श्री पराक्रम सिंह भण्डारी। उनकी अपनी बेटी, नीरा, अभी छोटी थी। उसके विवाह में बहुत देर थी। उन्हें अरमान पूरे करने का यह अवसर मिल गया था, जिसका वे भरपूर उपयोग कर लेना चाहते थे। तो एक दिन ग्रीक चर्च रो आकर राजेन्द्र को कार में अपने साथ ले गए। वापस आने पर पता चला कि उसके लिए सूट सिलवाना था। राजेन्द्र सूट पहनेगा! शादी के एक दिन पहले तक मेरे पड़ोसी नागरबंधु इसके लिए जमकर राजेन्द्र की टाँग खिंचाई करते रहे थे सारी जिन्दगी कुरता-पाजामा पहननेवाला राजेन्द्र कैसा गुड्डा-गुड्डा-सा दीखेगा। मुझे विश्वास है कि स्वयं राजेन्द्र अपने उस बबुआ रूप की कल्पना पर मन-ही-मन झेंप

रहा होगा। पता नहीं, उसने भण्डारी साहब का यह अनुरोध क्या सोचकर स्वीकार कर लिया था।

आज मुझे याद नहीं आ रहा कि पहले इन्दौर से मन्नूजी आई थीं अथवा बूँदी से कमला। बहरहाल, दोनों ही शादी के चार-पाँच दिन (या सम्भव है, अधिक-से-अधिक सप्ताह-भर) पहले कलकत्ता आ पहुँचीं। हमें तो कुछ करना-धरना था नहीं। सारी व्यवस्था तो भण्डारियों को ही करनी थी। हाँ, विवाह से पहले राजेन्द्र एक बार मन्नूजी के साथ लम्बी बातचीत कर लेना चाहता था। परन्तु नियम, परम्परा तथा समझदारी उन दोनों के एकान्त मिलन की इजाजत नहीं दे रहे थे। अतएव हल यह निकाला गया कि वे किसी सार्वजनिक स्थल पर—कदाचित् देशप्रिय पार्क में—मिल लें। स्पष्ट है कि उनकी यह बातचीत यथेष्ठ सन्तोषप्रिय रही होगी।

विवाह-स्थल न तो मैरिज रजिस्ट्रार का दफ्तर तय हुआ था, न लैंसडाउन रोड का भण्डारी साहब का निवास। निश्चय यह किया गया था कि लॉर्ड सिन्हा रोड स्थित श्री गोविन्दजी कानोडिया की विशाल लॉन में घिरी कोठी में रजिस्ट्रार को दोपहर एक-डेढ़ बजे बुलाकर विवाह सम्पन्न कर लिया जाएगा और फिर वहीं लॉन पर सायंकाल रिसेप्शन आयोजित कर लिया जाएगा। कलकत्ता की अपनी एक अनन्य विशेषता है वहाँ के मारवाड़ी-बहुल हिन्दीभाषी समाज में भरपूर मात्रा में उपलब्ध होनेवाला अद्भुत पारस्परिक सौजन्य एवं सौमनस्य। दिल्ली और मुम्बई में इसकी कल्पना तक कर पाना असम्भव नहीं तो भी अत्यन्त कठिन अवश्य है। इसी सौजन्य तथा सहयोग के कारण वहाँ सहज ही सफल आयोजन होते रहते हैं। बड़ी आत्मीयता मिलती है आपको कलकत्ता में। राजेन्द्र और मन्नूजी के विवाह में कदम-कदम पर इसके दर्शन होते रहे।

22 नवम्बर, 1959 को ग्रीक चर्च रो में सबसे अधिक उत्साह और उमंगों में भरे हुए थे मेरे पिताजी। हालाँकि मैंने उन्हें पहले ही समझा दिया था कि राजेन्द्र अपने साथ मुझे, कमला और हमारे नौ वर्षीय पुत्र दीप के अतिरिक्त और किसी को नहीं ले जाएगा, क्योंकि 'बरात' के साथ विवाह-स्थल पर पहुँचने का अर्थ उसकी निगाह में अनावश्यक 'फस' हो जाएगा। फिर भी मेरे पिताजी इस विचार से गद्गद् हुए जा रहे थे कि 'दूल्हा' उन्हीं के निवास-स्थान से जाएगा। न जाने कब वे लेक-मार्केट से एक मोटा-ताजा फूलों का हार ले आए और उसे हम सबकी निगाह बचाकर कहीं छुपा रखा था।

करीब साढ़े बारह पर भण्डारी साहब द्वारा भेजी गई कार ने हॉर्न बजाया। राजेन्द्र ने बालकनी से देखकर सन्देह मिटा लिया कि कार को कहीं फूलों से तो नहीं सजा दिया गया है। फिर, आश्वस्त होने के बाद, एक रात पहले भिजवाया गया सूट धारण करना आरम्भ किया था उसने। बेहद गम्भीर मुखमुद्रा से बोला था, "ठाकुर साहब, जिन्दगी में पहली बार सूट पहन रहा हूँ।" मेरा उत्तर था, "बेटा, शादी भी तो पहली बार ही कर रहा है। फिर जब पहन ही रहा है, तो इतना सड़ा-सा मुँह क्यों

बनाए हुए है? जान पड़ता है सूट नहीं, वल्कल धारण कर रहा हो।" तब कहीं राजेन्द्र के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान थिरक उठी।

लेकिन सच कह रहा हूँ, बहुत फब रहा था उस पर वह नीला सूट और उस नीले सूट में राजेन्द्र। नजर लगने की सीमा तक। अब बाकायदा दूल्हा बने बाद, जब वह दरवाजे पर पहुँचा तो देखा कि बाहर मेरे पिताजी फूलों का हार लिए खड़े थे। उन्हें वहाँ खड़ा देखकर राजेन्द्र, कमला और मैं—तीनों ही चौंक उठे। हममें से किसी ने उन्हें दरवाजे से बाहर जाते नहीं देखा था। उनका राजदार था केवल मेरा नौ वर्षीय पुत्र दीप जो अपने दादाजी के आदेश का पालन कर बिल्कुल अनजान बने रहने का सफल अभिनय करता रहा था।

"अरे-अरे काका साहब, यह क्या कर रहे हैं", राजेन्द्र कहता रहा और पिताजी उसके ऐतराज की उपेक्षा कर उसको वह हार पहनाकर ही रहे। साथ-साथ मन्त्रोच्चार भी करते जा रहे थे—

मंगलम् भगवान विष्णुः
मंगलम् गरुड़ध्वजः
मंगलम् पुंडरीकाक्षः
मंगलायतनो हरिः।

किसी प्रकार का कोई 'फस' न करने और न होने देने की राजेन्द्र की प्रतिज्ञा पर प्रथम कुठाराघात हुआ था मेरे पिताजी के हाथों।

राजेन्द्र को साथ लिए-लिए उस कार में हम ढाई सवारी पीछे की सीट पर बड़े आराम से बैठे थे। राजेन्द्र ड्राइवर के पास आगे की सीट पर मुँह सुजाए गुमसुम बैठा था, हँसा पाने की मेरी हर चेष्टा को असफल करता। शायद तीस वर्ष की आयु तक मुक्त, बोहेमियन जीवन व्यतीत करनेवाले बुद्धिजीवी परिंदे को विवाह के पिंजरे में कैद हो जाने के एहसास ने उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम कर रखी थी।

तभी अचानक मुझे राजेन्द्र का आर्तनाद सुनाई दे गया, "ठाकुर साब, ये क्या हो रहा है? मैंने पहले ही कहा था कि कोई 'फस' नहीं होगा। फिर ये सब क्या है?" बाहर देखने पर पता चला कि कार लॉर्ड सिन्हा रोड में गोविन्दजी कानोडिया की कोठी पर पहुँचने ही वाली है जहाँ प्रवेश-द्वार पर टँगे लाल बैनर में बड़े-बड़े सुनहरे अक्षरों में लिखा 'वैलकम' राजेन्द्र को मुँह चिढ़ाता प्रतीत हो रहा था। घनघोर क्राइसिस की उस वेला में मेरे मुँह से स्वतः ही निकल पड़ा था, "अबे, तो क्या यहाँ राजेन्द्र यादव गो बैक लिखवाते? बैठा रह चुपचाप।" यह सुनने के बाद आगरावाला राजेन्द्र भी ठहाका लगाने पर मजबूर हो गया। इस प्रकार 'फ़स नं. 2' की समाप्ति भी ठण्डे-ठण्डे निबट गई थी।

किन्तु 'फस नं. 3' इन दोनों से बढ़कर सिद्ध हुआ। जिस कमरे में विवाह की रजिस्ट्री होनी थी, उसे अत्यन्त सुरुचिपूर्वक फूलों, हारों, स्तवकों आदि से सुसज्जित किया गया था। इस 'अनावश्यक' साज-सज्जा को देखने के साथ-साथ राजेन्द्र की भृकुटियाँ टेढ़ी हो चली थीं। लेकिन, इस बात पर विरोध जताने का न मौका था, न

माहौल और न ही दस्तूर। दूसरे, ठीक तभी लाल बनारसी जोड़े में लिपटीं, नमित नयना, विनतवदना मन्नूजी को भी वहाँ ले आया गया था। अतएव किसी भी प्रकार के 'फ़स' के कट्टर दुश्मन श्री राजेन्द्र यादव को बड़ी मुश्किल से दाँत भींचे, छाती पर पत्थर रखे, मौन रह जाना पड़ गया था।

इसके कुछ ही क्षण पश्चात् घट गया था 'फस नं. 3'। हुआ यह कि श्री पराक्रम सिंह भण्डारी ने कमरे में एक विशालकाय धूपदान लाकर रख दिया जिसमें बड़े-बड़े अंगारे धधक रहे थे। उसमें जलती धूप के धुएँ ने हम सबके रंध्र-रंध्र में प्रवेश कर हमारी नाक में दम कर दिया। कदाचित् उस अवसर पर हमने धुएँ के उस आक्रमण को सहन भी कर लिया होता परन्तु राजेन्द्र की सूक्ष्म निगाहों से उन सुलग रहे अंगारों में निहित नाजायज हरकत छुपी न रह सकी और इस बार तो वह विस्फोट कर ही बैठा।

'बहुत गलत बात है यह, ठाकुर साहब। बहनोई साब ने जान-बूझकर यह हरकत की है। हटवाइए, फौरन हटवाइए इसे।' मेरी मंदबुद्धि को 'हरकत' का निहितार्थ समझने में थोड़ी-सी देर लग गई थी। पर बात जब समझ में आ गई तो अच्छा मुझे भी नहीं लगा था बहनोई साहब के परम्परागत संस्कारों को, अग्नि की साक्षी के अभाव में विवाह सम्पन्न हो, यह गवारा नहीं हो रहा था। अतएव उन्होंने हवनकुंड के प्रतीक रूप में वह धूपदान ला स्थापित किया था। उन्हें अभी मालूम नहीं था कि राजेन्द्र अपनी मान्यताओं के साथ कभी समझौता नहीं कर पाता।

बहरहाल, सौभाग्यवश, उस क्षण केवल मुझे ही नहीं, सुशीलाजी, बसन्त बाबू साहब, प्रभात बाबू साहब, यहाँ तक कि स्वयं मन्नूजी को भी राजेन्द्र की आपत्ति बिल्कुल उचित नहीं लगी थी। बेचारे धूपदान को तुरन्त ही सिंहासनच्युत होना पड़ गया। वहाँ उपस्थित प्रत्येक नर-नारी ने उसके आक्रामक अगरुधूम से, तथा उसके कारण उपस्थित हो गए विवाद से, मुक्ति प्राप्त कर सामान्य श्वास-प्रश्वास लेना पुनः प्रारम्भ कर दिया।

इसके बाद वही सब हुआ जिसके लिए हम सब वहाँ एकत्रित हुए थे—विवाह का कर्मकांड। पहले मैरिज रजिस्ट्रार महोदय के सामने राजेन्द्र और मन्नूजी ने मैरिज सर्टिफिकेट पर दस्तखत किए। फिर राजेन्द्र की ओर से मैंने और मन्नूजी की ओर से बालीगंज शिक्षा सदन की कार्यकारिणी के अध्यक्ष श्री भगवती प्रसाद खेतान ने तथा श्री पराक्रम सिंह भण्डारी ने गवाहों की हैसियत से उसी सर्टिफिकेट पर अपने-अपने ऑटोग्राफ टिकाए। रजिस्ट्रार मोशाय ने "I hereby pronounce you as man and wife." वाला पुनीत मंत्रोच्चार कर राजेन्द्र और मन्नूजी का हस्तमिलाप करवा दिया और अन्त में नवपरिणीत युग्म ने पुष्पहारों का परस्पर विनिमय कर लिया। खेल खत्म हो गया था। अब केवल बाकी था पैसा हजम होना।

कसर उसमें भी राई-रत्ती की नहीं रखी गई थी। उस शाम गोविन्दजी कानोडिया का वह मखमली लॉन धीरे-धीरे गुलजार हो उठा उन सजी-धजी महिलाओं तथा पुरुषों

से जिन्हें अंग्रेजी मुहावरे में महानगर कलकत्ता की 'मलाई' (क्रीम) की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। उनमें हिन्दी और कुछ बंगला के भी, ख्यात-अख्यात लेखक-लेखिकाएँ तो थी हीं, उनके अतिरिक्त थे स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय के सुधी अध्यापक-अध्यापिकाएँ। ख्यातनामा व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के उच्च पदस्थ कर्मचारी और उन्हीं प्रतिष्ठानों के अनेक कोट्याधिपति अधिष्ठातागण। कलकत्ता की एक से बढ़कर एक स्वनामधन्य हस्तियाँ। सब हँस-बोल रहे थे। अनेक ठहाके लगाते श्री विष्णुकान्त शास्त्री के स्तर पर हँसने का असफल प्रयास कर रहे थे। एक सोफे पर बैठे राजेन्द्र और मन्नूजी बालीगंज शिक्षा सदन की अध्यापिकाओं से घिरे प्रीति-उपहार ग्रहण करते चले जा रहे थे।

लॉन के दूसरे छोर पर खड़ा मैं अपने 'सिंधिया एंडेवर' के सह-सम्पादक फ्रेंक बैरेटो के साथ गपशप कर रहा था, तभी लॉन को चीरती ठाकुर साऽऽब की चीख मेरे कानों को भेद गई। चीख राजेन्द्र की थी, इसका निश्चय होते ही मैं दौड़ा चला गया था उसके पास। राजेन्द्र ने कोठी के पहले तल्ले पर से माइक लगाकर बजाए जानेवाले संगीत की ओर तर्जनी से इशारा करते हुए झुंझलाए स्वरों में एक बार फिर अपनी टेक दुहरा दी थी, "अब यह क्या हो रहा है? मैंने पहले ही कह दिया था कि कोई 'फस' नहीं होगा। बन्द करवाइए इसे।"

उसका यह ऐतराज मेरे सब्र के ऊँट की पीठ पर लाद दिया गया आखिरी तिनका साबित हुआ। इस बार मैं फट पड़ा था, "अबे औरंगजेब की औलाद! फने मौसीकी के दुश्मन। इस मौके पर गाना-बजाना नहीं तो क्या मर्सिये पढ़े जाएँगे? चुपचाप बैठा रह।"

बहुत प्रसन्न हुई थीं, मेरे जवाब पर श्रीमती सुशीला सिंघी। उन्होंने ही वह माइक चालू करवाया। आखिर राजेन्द्र यादव को उन्होंने अपना भाई जो मान रखा था। सुशीलाजी भी आगरा में ही जन्मी थीं।

काफी देर तक चलता रहा था कलकत्ता के सम्भ्रान्त लोगों का हँसी-खुशी की फुहारें छोड़ता वह जमावड़ा। पूर्व दिशा में होने के नाते कलकत्ता में अँधेरा कुछ जल्दी ही घिरने लग जाता है। करीब नौ बजे प्रभात बाबू साहब मुझे 'चलिएं ठाकुर साब, अब घर के लोग भी खाने बैठ रहे हैं', कहकर अपने साथ ले गए। वैसे भी राजस्थानियों का भोजन बहुत 'रिच' हुआ करता है। पर यदि वे राजस्थानी ओसवाल हों तब भी आपके पेट का बस खुदा ही मालिक है। हर पदार्थ इतना स्वादिष्ट कि बिना खाए आप रह न सकें और खाए बाद—चार-पाँच दिनों तक उसकी याद कर अश-अश करते बिताने पर मजबूर हो जाएँ।

इस दावत की याद एक अन्य विशेष कारण से भी रह गई है। दावत के पहले कमला को सास की साड़ी ओढ़ाई गई थी। अच्छा हुआ कि यह रस्म केवल महिलाओं की उपस्थिति में ही अदा कर ली गई थी अन्यथा राजेन्द्र भले इसे 'फस' मानता, न मानता, मैं तो इसे अनौपचारिकता के क्षेत्र में औपचारिकता का अनधिकार प्रवेश की संज्ञा देकर अपनी तीव्र आपत्ति अवश्य ही जताता। बहरहाल, उस साड़ी ने राजेन्द्र

और मेरे बीच उसी दिन से एक बड़ा मजेदार स्थायी सम्बन्ध स्थापित कर दिया है—मैं उसे सार्वजनिक रूप से अपना सबसे ज्येष्ठ कपूत घोषित करता रहता हूँ और वह मुझे वक्त पड़े पर बनाया गया बाप। है न काबिले रश्क हमारे बीच का यह सम्बन्ध।

बताशे बँट चुके थे। नमाज खत्म हो गई थी। मुसल्ला उठने का वक्त तेजी से नजदीक आता जा रहा था। वर-वधू की मधुयामिनी से सम्बन्धित कोई सूचना मुझे नहीं दी गई थी। लिहाजा कमला और मैं घर जाने के लिए टैक्सी की तलाश में सड़क पर आए, तो देखा वहाँ भण्डारी साहब, बसन्त और प्रभात बाबू साहब तथा श्री भँवरमल सिंघी बड़े जोर-जोर से आपस में सलाह-मशविरा कर रहे थे। मुझे देखकर उठे 'आइए ठाकुर साब' के समवेत स्वर से मुझे कुछ क्षण रुक कर उनसे बाकायदा विदा-नमस्कार कर घर जाने का अवसर मिल गया। कमला और मैं भी उस दल में शामिल हो गए।

थोड़े ही समय में विवाह की सारी तैयारियों में व्यस्त भण्डारी परिवार को राजेन्द्र और मन्नू जी की मधुयामिनी कहाँ मिलेगी, इस सम्बन्ध में कोई निर्णय लेने की याद नहीं आई थी। उस क्षण उसी विषय पर गम्भीर विचार-विमर्श किया जा रहा था। 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' वाली स्थिति उपस्थित हो गई थी। सिंघीजी ने नवदंपति को लेक गार्डन में, भण्डारी साहब के घर के निकट ही अपने निवास स्थान पर ले जाने का प्रस्ताव पेश किया था। भण्डारी साहब तुरन्त ही ग्रांड होटल में एक कमरा बुक करने के पक्ष में जनादेश हासिल करने की प्रचेष्टा में लगे हुए थे, और प्रभातबाबू साहब के मतानुसार सुदूर शालीमार पेंट्स के लगभग निर्जन एकान्त से अधिक उपयुक्त और कोई स्थान हो ही नहीं सकता था—कम-अज-कम हनीमूनाकांक्षी युगल के लिए।

मैंने तीनों सुझावों को एक वाक्य में 'वीटो' कर दिया था—"बारात मेरे घर से चली थी, वापस भी वहीं जाएगी। और कहीं नहीं।" इसे सुनकर और सब तो सकते में पड़े क्षण-भर के लिए चुप रह गए, दाद दी थी केवल सिंघीजी ने, "वाह, ठाकुर साब, I admire such definite assertions, so logical, वाह!" सिंघीजी के इस जोरदार समर्थन ने सारा वाद-विवाद समाप्त कर दिया। दस-पन्द्रह मिनट बाद, राजेन्द्र और मन्नूजी एक गाड़ी में और दूसरी में हम ढाई सवारी ग्रीक चर्च रो की दिशा में प्रस्थान कर चुके थे। मुझे टैक्सी नहीं तलाशनी पड़ी।

घर पहुँचने पर मेरे पिताजी की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा था। उनके घर में लक्ष्मी का आगमन हुए चौदह लम्बे वर्ष बीत चुके थे। आज सहसा उनके वात्सल्य को छलक उठने का अवसर मिल रहा था। उन्होंने तुरन्त लेक मार्केट से दो बड़े हार और ताजा रसगुल्ले मँगवाने का फरमान जारी कर डाला। राजेन्द्र और मन्नूजी की तमाम आपत्तियाँ रद्द कर दी गईं। संयोग भी ऐसा हो गया कि उसी समय एक पेशेवर वृद्ध वादक हमारी गली में वायलिन बजाता गुजर रहा था। पिताजी ने उसे रोककर, आधे घंटे तक हमारी खिड़की के नीचे मस्ती भरी धुनें बजाने का आदेश दे डाला। मैं नागर बन्धुओं के साथ एक कमरे की सजावट की व्यवस्था करने में जुट गया था।

उस रात मन्नूजी ने हम सबके छलछलाते, बिछलते उत्साह पर बड़ी निर्ममता से पानी फेर दिया था। बड़ी मिन्नत-समाजत के बाद उन्होंने एक रसगुल्ले का रस निचोड़कर गुल्ला चबाने का अनुग्रह तो कर डाला, परन्तु 5ए, ग्रीक चर्च रो में रात बिताने को वे किसी भी शर्त पर तैयार नहीं हुईं।

बेचारे राजेन्द्र के लिए बड़ी विषम स्थिति हो गई थी। जाड़े की रात के साढ़े दस-ग्यारह बजे मन्नूजी की इस अप्रत्याशित और कतई गैर-वाजिब जिद का वह क्या समाधान खोजे, उसकी समझ में नहीं आ रहा था। विवाहित जीवन के उस प्रथम 'क्राइसिस' ने उसे किंकर्तव्यविमूढ़ बना डाला था। मन्नूजी के दुराग्रह ने मेरे मन में भी गहरी वितृष्णा घोल दी। इतने वर्षों की जान-पहचान, पारिवारिक मित्रता, स्नेह, सम्मान—यदि वे यह सब एक झटके में बुहार फेंक सकती हैं, तो मैं ही क्यों परेशान होऊँ। जाएँ, जहाँ उनकी इच्छा हो, खटखटाएँ जाकर अपने चहेतों के द्वार। आहत अपमान की ज्वाला में सिर से पाँव तक लिपटा, मैं चुपचाप टैक्सी लेने चला गया था।

टैक्सी लेकर लौटा तब तक मन्नूजी श्री भँवरमल सिंघी के यहाँ जाने पर राजी हो गई थीं। राजेन्द्र, मन्नूजी और कमला नीचे उतरे तो राजेन्द्र हठ करने लग गया कि मैं उन्हें सिंघीजी के घर तक छोड़ आऊँ। मेरा मन-मिजाज तो पहले ही खराब हो चुका था और जिद्दी मैं भी किसी से कम नहीं हूँ। मैं उनके साथ जाने के लिए कतई राजी नहीं हो रहा था और राजेन्द्र मेरे बगैर जाने को प्रस्तुत नहीं था। हुज्जत बढ़ते देखकर कमला ने मुझे ठेल दिया था। टैक्सी में। सिंघीजी के घर पहुँचे तो लगभग अर्द्ध रात्रि हो चली थी।

राजेन्द्र यादव

मधुरेश

नई कहानी का सौन्दर्यशास्त्र गढ़ने में राजेन्द्र यादव की भूमिका, उनके अन्य समकालीनों की अपेक्षा, कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक रही है। लेकिन इस सौन्दर्यशास्त्र के व्यवस्थित निर्माण के बहुत पहले, जब उन्होंने कहानी लिखना शुरू किया था, वह इस ओर पर्याप्त सचेत दिखाई देते हैं। उनकी कहानियों का पहला संग्रह 'लहरें और परछाइयाँ' सन् '50 में प्रकाशित हुआ था। लेकिन आज वह इसे अपने संग्रहों में शामिल नहीं करते। कालक्रम में प्रकाशित उनका दूसरा 'देवताओं की मूर्तियाँ' सन् '52 में आया लेकिन अब इसका महत्त्व भी वह बस इतना ही मानते हैं जितना किसी संगीतकार के लिए उसके आरम्भिक रियाज का हो सकता है।[1] लेकिन संगीतकार का रियाज उसके एकान्त साधना कक्ष की दीवारों के बाहर अपना कोई साक्षी तैयार नहीं करता जबकि रचनाओं के प्रकाशन के बाद लेखक को यह सुविधा नहीं रह जाती है। राजेन्द्र यादव के इन दोनों संग्रहों की कहानियों और भूमिका से निःसन्देह उनके लेखकीय सरोकार और उनके निर्माण की भावी दिशा समझने में सहायता मिल सकती है।

राजेन्द्र यादव ने जब लिखना शुरू किया वह प्रगतिवाद का उत्कर्ष काल था। एक लेखक के रूप में उनकी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि प्रगतिवाद में आशा और आस्था के नाम पर जो कुछ यान्त्रिक और सरलीकृत निष्कर्षप्रियता हावी थी उससे मुक्त हुआ जाए। अपने निर्माण के इस संधिकाल में वह यशपाल और अज्ञेय को समान रूप से पसन्द करते हैं—यशपाल को उनकी जागरूक सामाजिक चेतना के कारण और अज्ञेय को सम्भवतः उनकी शिल्पगत सजगता के कारण। अपने समय को देखते हुए एक बहुपठित हिन्दी लेखक के रूप में उनकी छवि उभर कर सामने आई थी जिसके लिए कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी सहज ही खोजे जा सकते हैं। अपने पहले संग्रह की भूमिका में ही राजेन्द्र यादव ने स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया है, 'मात्र मनोरंजन मेरी दृष्टि में कहानी का लक्ष्य कभी नहीं है। वह किसी भाव, विचार और अनुभूति को व्यंजित करने का साधन है—जो अपनी (कला की) सीमाओं में आबद्ध है'...इसी संक्षिप्त भूमिका में आगे उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया है कि उनकी ये कहानियाँ किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों की सुइयों से बजाए गए रिकॉर्ड नहीं हैं।

लेखक ने स्वीकार किया है कि उसने चेष्टा की है कि सुर 'नारे' न बन सकें।...

राजेन्द्र यादव के दूसरे संग्रह 'देवताओं की मूर्तियाँ' में कई कहानियाँ हैं जो लेखक और उसकी कला के रिश्ते को विश्लेषित करती हैं। 'शरत् और प्रेमचन्द' में, शीर्षक से ध्वनित ऊहात्मकता और चौंकाने की प्रवृत्ति के बावजूद, भावुकता और जीवन में संघर्ष के लिए दो नाम प्रतीक रूप में प्रयुक्त हैं। यह पूरी कहानी दो समानान्तर स्थितियों के माध्यम से फ़ैज़ की उस प्रसिद्ध और बहुश्रुत उक्ति को ही अर्थ-विस्तार देने की कोशिश करती है...'और भी ग़म हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा...' प्रेमिका के लिए रोने का क्या औचित्य? आखिर आप क्यों चाहते हैं कि जीवन भर कोई आपकी माला जपता रहे? प्रेमिका को विदा करके, भावुक स्थितियों में ऊभ-चूभ जब वह रिक्शे पर लौटता है तो रिक्शेवाले के पसीने की बूँदों (प्रेमचंद?) के सामने उसे प्रेमिका के लिए अपने आँसू (शरत्?) स्वयं ही अर्थहीन लगने लगते हैं–'न जाने क्यों मैं स्तब्ध रह गया हूँ–एक बिजली-सी मेरे मस्तिष्क में कौंधती है–मेरे आँसू कितने निर्जीव हैं कि धरती पर पड़ते हैं और सूख जाते हैं–इसकी एक-एक बूँद जैसे तेजाब की तरह तीखी है–और मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ–लगता है पीछे दोनों बूँदें साथ-साथ चली गई हैं–एक गिरकर सूख जाने वाली और एक दूर तक पत्थर की छाती पर मचलती छनछनाती रहने वाली।'...पूरी कहानी में जायसी, बिहारी और कबीर से कितनी ही उपमाएँ और हवाले मौजूद हैं। प्रसाद से उद्धरण तक दिए गए हैं। कहानी के ढाँचे में निहायत गैर-जरूरी तौर पर यह सब उपस्थित है जो लेखक के अभी हाल में ही, नया-नया हिन्दी में एम. ए. करने की छाप छोड़ता है।... 'कला, अहम् और विसर्जन' में सारी नाटकीय स्थिति के बावजूद कला को जीवन से जोड़ने का आग्रह स्पष्ट है।–'जीवन का जितना अकृत्रिम रूप तुम जन-जीवन में, निम्न जनता में पा सकते हो उतना कहीं नहीं क्योंकि वहाँ सभ्यता के पर्दे नहीं होते' ...साहिर के ढंग पर लेखक सोचता है कि संस्कृति को सुरक्षित रखने के नाम पर ताज और सोमनाथ का समर्थन नहीं किया जा सकता–यह दुःखी मानवता पर व्यंग्य है। नग्मा जीवन को संकट में डालकर आग से बच्चे को निकालने के लिए संघर्ष करती है जबकि सुधीर उस दृश्य के चित्र लेने से बच्चे को निकालने के लिए संघर्ष करती है जबकि सुधीर इस दृश्य के चित्र लेने में व्यस्त है। नग्मा और उस नग्न स्त्री के उलाहने पर वह अपना कैमरा आग में फेंक देता है और नग्मा की सहायता को दौड़ पड़ता है। वह स्त्री अपनी धोती उतारकर (लेकिन तब पंजाब में क्या औरतें आम तौर पर धोती पहनती थीं?) नग्मा को ऊपर चढ़ने में सहायता करती है ताकि बच्चे को बजाया जा सके। 'देवताओं की मूर्तियाँ' प्रगतिवादी दौर में निम्न वर्ग के चित्रण की इस प्रवृत्ति का प्रतिवाद करती है कि जैसे लेखक उनका चित्रण करके उन पर कोई एहसान कर रहा हो। लेखक अपने को उनसे ऊँचा और अलग समझ कर यदि इस कार्य में प्रवृत्त होता है तो वह उनके बारे में बहुत सतही ढंग से लिख पाने में ही सफल हो सकता है। 'देवताओं की मूर्तियाँ' का कुमार, निराला के 'निरुपमा' के कुमार की ही तरह, कोई छोटा

काम करने में अपनी हेठी नहीं समझता। यहाँ वह बूट पॉलिश न करके चाट बेचता है और एक रचनाकार एवं व्यक्ति के रूप में अपनी अस्मिता के बचाव का संघर्ष झेलता है। उदय को वह 'मानसिक मिथ्या गौरव का शिकार बालक' मानकर अवहेलना और तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। कुमार अपने ही वर्ग के चित्रण से लेखक के बाहर आने की बात भी करता है और जो वह लिखता है उसके लिए अपने अनुभव को प्रामाणिक बनाने पर भी जोर देता है... 'अपने वर्ग के चित्रण तक ही सीमित न रहें...लेकिन जो कुछ आप कहें उसका कुछ तो अनुभव रखिए। मैं चाट बेचता हूँ, मैं सड़क पर सैकड़ों आदमियों का अध्ययन दिन-रात करता हूँ...इसीलिए मैं कहता हूँ जो कुछ आप कहें उसमें अनुभूति की शक्ति होनी चाहिए'...इसी प्रकार, आगे चलकर, वह उदय को कठघरे में खड़ा करके उससे पूछता है...'आप एक क्षण को भी क्यों नहीं भुला पाते कि आप बड़े लेखक हैं'...वह इस बात के लिए भी उदय की ले-दे करता है कि जनता के निकट आने का, नारा लगाने और प्रगतिवादी होने का दम भरने मात्र से कोई सर्वहारा का लेखक नहीं हो पाता, क्योंकि ऐसा लेखक मानसिक धरातल पर जरा भी नहीं बदलता और उसके स्वप्न एवं आकांक्षाएँ अभिजात वर्ग के होते हैं। उदय के आत्महत्या कर लेने की खबर पर कुमार की टिप्पणी है..."और ये हमारे कलाकार भी तो न जाने कैसे हैं। ये चाहते हैं कि देवताओं की मूर्तियों की भाँति लोग इन्हें रखकर पूजते रहें, सदा इनकी चिन्ता करते रहें और इन्हें कुछ न करना पड़े" ...इस तरह से यह कहानी एक ओर यदि लेखक और समाज से उसके रिश्ते की पड़ताल करती है तो दूसरी ओर अनुभव की प्रामाणिकता को एक सिद्धान्त के तौर से प्रस्तुत करती है। अपने समय में प्रचलित फैशनेबुल किस्म की प्रगतिशीलता के मुकाबले अनुभव की प्रामाणिकता पर बल देकर यह वस्तुतः कहानी 'गढ़ने' और 'बनाने' वाली पद्धति और दृष्टि का ही विरोध है जिसमें एक ओर यदि बहुत से प्रगतिवादी कहानीकार शामिल थे तो वहीं दूसरी ओर जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा और काफी हद तक अज्ञेय भी शामिल थे। अपने ढंग से यह कहानी बुद्धिजीवियों की मानसिक जड़ता को भी तोड़ती है जो अपनी सुविधा के लिए शारीरिक और मानसिक श्रम में अन्तर करके शारीरिक श्रम को केवल छोटे और बेपढ़े लोगों का ही काम मानते रहे हैं। मात्र बौद्धिक सहानुभूति से सर्वहारा का वस्तुतः कुछ भला नहीं होता है। लेकिन सोच के धरातल पर यह कहानी बहुत से अन्तर्विरोधों का शिकार है। जिस गढ़ी और बनाई गई कहानी के विरोध में इस कहानी से एक घोषणा-पत्र जैसा काम लेने की कोशिश की गई है, अपने स्वरूप में क्या वह स्वयं भी वैसी ही गढ़ी और बनाई गई कहानी से बहुत भिन्न है? 'निरुपमा' का कुमार जब लन्दन से विदेशी शिक्षा लेकर लौटने के बाद भी सड़क पर बूट पॉलिश करता है तो वह कहीं न कहीं उस समूची शिक्षा पद्धति और उसका संचालन करने वाले साम्राज्यवादी शासन का ही प्रत्याख्यान कर रहा होता है। लेकिन 'देवताओं की मूर्तियाँ' के कुमार के साथ यह सच नहीं है। दो विषयों में

एम. ए. करने के बाद वह सिर्फ चौंकाने और झटका देने के लिए ही चाट बेचता है। उसके चरित्र की यह गैर-जरूरी नाटकीयता उसे एक हवाई और रोमानी पात्र बनाकर छोड़ देती है—वह कहीं भी अपने समय-सन्दर्भों से गम्भीरता से नहीं जुड़ पाता है। उसके सारे सैद्धान्तिक आग्रह, उदय के विरोध में, किताबी आग्रह ही बने रहते हैं। और फिर चाट बेचकर दुनिया-जहान को जानने-समझने का उसका दावा भी एकांगी और अतिरंजित दावा है क्योंकि इस तरह दुनिया को सिर्फ देखा ही जा सकता है, वह भी बहुत सीमित अर्थ में, जाना नहीं जा सकता। और फिर सर्वहारा के स्तर पर उतरकर सर्वहारा से जुड़ने की बात इससे कहाँ और कैसे प्रमाणित होती है? सामाजिक विसंगतियों को गहराई से उद्घाटित करके कला को जीवन से जोड़ने की जो विधायक कोशिश यशपाल 'भस्मावृत चिनगारी', 'फूलो का कुर्ता' और 'धर्मयुद्ध' आदि कहानियों में करते हैं उसे या किसी भी स्तर पर यहाँ हासिल किया जा सकता है?...

राजेन्द्र यादव की प्रारम्भिक कहानियों में बहुत-सी ऐसी हैं जो उनके विकास की भावी दिशा निर्धारित करती दिखाई देती हैं। 'जय गंगे' और 'खोखले खम्भे' जैसी कहानियाँ धर्म के व्यवसायीकरण और पूंजीवादी समाज की विकृतियों को, जिनमें सेक्स की विकृतियाँ भी हैं, उद्घाटित करने की कोशिश करती हैं। 'बेशर्म' और 'बारह वर्ष : बारह घंटे' जैसी कहानियाँ ओ' हेनरी के ढंग पर झटका देने वाले अन्त के बावजूद स्थितियों की विडम्बना को उजागर करती हैं। 'बेशरम' में जीवन का बहाव हमारी गढ़ी-गढ़ाई मान्यताओं को कैसे बहा ले जाता है यह तथ्य हमें हकबकाया-सा छोड़ जाता है। 'बारह वर्ष : बारह घंटे' में हवाई आदर्श और व्यावहारिक एवं जैविक आवश्यकताओं के संघर्ष में हवाई और काल्पनिक आदर्श धूप के कोहरे की मानिन्द उड़ जाते हैं। हेम को बारह वर्ष अरुण ने भाई नहीं पिता बनकर पाला है। लेकिन अपनी बीमारी के दौरान डॉक्टर विभूति के साथ बारह घंटे की वासना के कारण वह उसे बिना कुछ बताए चली जाती है जबकि वह उसकी समुचित सेवा-टहल के लिए ही त्याग-पत्र देकर आया है! 'पाँच रुपये की बात', 'स्वतन्त्रता-दिवस' और 'मैं हारा नहीं हूँ...' आदि कहानियाँ अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए दूसरों की बड़ी जरूरतों और लाचारियों के प्रति उदासीन रहनेवाली मध्यवर्गीय मानसिकता को रेखांकित करती हैं या फिर देश की स्वतन्त्रता के बाद तेजी से विकसित होती नवधनाढ्य संस्कृति की विकृतियों को। 'मैं हारा नहीं हूँ...', एक अन्य स्तर पर, लेखक के घोषणापत्र के रूप में सामने आती है। इस कहानी में लेखक पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह अपने पात्रों के चयन में कैसी भी मुरव्वत और लिहाज नहीं बरतता है, घर-परिवार के लोगों को ही पतनशील संस्कृति और ह्रासशील समाज के अंग के रूप में चित्रित करता है और यह भी कि उसने स्त्री को कभी सच्चे रूप में चित्रित नहीं किया। कहानी इस विडम्बना को खोलती है कि मध्यवर्गीय समाज में भाई, जीजा या ट्यूटर बनकर ही युवक किसी लड़की के पास जा सकता है। इस समाज की युवती प्लेटॉनिक प्यार की खामख्याली में मुब्तिला रहने को ही

जीवन की सबसे बड़ी साधना के रूप में देखती है—वह प्रेम को जीवन के एक अनिवार्य अंग के रूप में कभी स्वीकार नहीं कर पाती है। किसी से प्रेम करके किसी से विवाह और फिर प्रेमी के लिए आदर्श निर्मल प्रेम की दुहाई का आखिर क्या औचित्य हो सकता है? अपने बारे में इस तरह के सारे आरोपों को लेकर लेखक की प्रतिवादात्मक टिप्पणी है, 'श्रीमान्, मेरे खिलाफ जो कहा गया है, मैं उससे इन्कार नहीं करता। वह सब सही है। कहना मैं यह चाहता हूँ कि यह सब मैंने जान-बूझकर किया है, अनजाने या किसी बहकावे में आकर नहीं, क्योंकि मैं बड़े प्रचण्ड रूप में रात-दिन इस बात को अनुभव करता हूँ कि हमें इस रवैये को बदलना है। मेरे मस्तिष्क में एक ऐसे समाज की तस्वीर रात-दिन झलमलाती रहती है जिसमें व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ इतनी कुण्ठित और सड़ी नहीं होंगी और समाज इन रोगों से खोखला नहीं हो रहा होगा। हमें एक ऐसी दुनिया का निर्माण करना है जहाँ यह अंधेरगर्दी, धर्म, जाति और धन के कठघरे नहीं होंगे।'...

यह लगभग एक सर्वस्वीकृत-सी धारणा है कि राजेन्द्र यादव मध्यवर्गीय जीवन के कथाकार हैं और चेखव उनके प्रिय लेखक रहे हैं। उन्होंने चेखव के नाटकों का अनुवाद ही नहीं किया है, उन पर एक लम्बे काल्पनिक इंटरव्यू के अतिरिक्त उनकी कहानियों पर भी विस्तार से लिखा है। लेकिन अपने नाटकीय शिल्प में राजेन्द्र यादव की कहानियाँ चेखव की अपेक्षा ओ' हेनरी की कहानियों के अधिक निकट लगती हैं। चेखव ने क्रान्ति पूर्व रूस के बुद्धिजीवियों की मानसिक छटपटाहट, घुटन और हताशा को किसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है वह सब कुछ राजेन्द्र यादव की कहानियों में कहीं नहीं है। इस दृष्टि से उनका 'उखड़े हुए लोग' चेखव वाली मानसिकता के बहुत निकट लगता है।...अपने संग्रह 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' की भूमिका में अपने बचाव में यह आग्रहपूर्वक इसे दोहराते हैं कि वह बेशक एक मध्यवर्गीय लेखक हैं और इसे वह अपनी लेखकीय ईमानदारी के रूप में स्वीकार किए जाने पर बल देते हैं कि इसके अतिरिक्त वह न कुछ और हो सकते थे और न होना चाहते हैं। जिस वर्ग के जीवन और समस्याओं की अधिकारिक जानकारी लेखक को है, उसे उसी पर लिखना चाहिए। एक मध्यवर्गीय लेखक सामान्यतः अपने वर्ग और उसकी समस्याओं के बारे में ही लिख सकता है और राजेन्द्र यादव ने कमोबेश यही किया है। मध्यवर्ग पर ही पूरी तरह अपने को केन्द्रित कर लेना बेशक कोई एतराज की बात न हो लेकिन यहाँ भी देखना यह होगा कि इस वर्ग के कैसे पात्रों और उनकी किस किस्म की समस्याओं से लेखक का ताल्लुक है।

राजेन्द्र यादव भारतीय समाज में स्त्री के बहुविध उत्पीड़न के प्रति सर्वाधिक संवेदनशील और कन्सर्न्ड महसूस करते हैं। उनकी ऐसी कहानियों में 'खेल-खिलौने', 'साइकिल', 'कुतिया', 'नास्तिक', 'तीन पत्र और आलपीन', 'लकड़हारा' और 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' आदि प्रमुख हैं।...कोई लड़का बाहरी तौर पर किसी सुन्दर लड़की को देखकर विवाह का हठ करने लगे, अनशन पर बैठ जाए, तो क्या लड़की को उसके खूँटे से बाँध दिया जाना चाहिए—बिना इसकी चिन्ता किए कि लड़की की

अपनी इच्छाएँ और आकांक्षाएँ क्या हैं? पुरुष शासित इस भारतीय हिन्दू समाज में वस्तुतः लड़के की इच्छा और रुचि का ही महत्त्व है। लड़की का विवाह हो जाना ही माँ-बाप की छाती से एक बोझ हट जाने जैसा है। सामान्यतः यही सोचा जाता है कि देर-सबेर जब यही करना है तो फिर अभी, जब लड़का ही पहल कर रहा है, इसमें हर्ज क्या है? लेकिन इस तरह किसी लड़के के हाथ लड़की सौंप देना, क्या नासमझ भांजे 'पापा' की जिद पर कमरे में रखी गौतम बुद्ध की सुन्दर कलात्मक मूर्ति का सौंप दिया जाना ही नहीं है जो फर्श पर खेले-पटके जाने से टूट जाने को अभिशप्त है? क्या उसकी नियति इससे भिन्न कुछ और हो ही नहीं सकती? ...आज नीलिमा इस रास्ते जा चुकी है, कल नीरजा जाने को तैयार बैठी है? सुधीन्द्र भाई से पूछा गया उसका सवाल जैसे इस पूरे समाज को ही सम्बोधित है—प्रतिभा और विवाह का सामंजस्य कहाँ और कैसे हो? जो गुण किसी भी दूसरे समाज में स्त्री को सहज ही सम्माननीय बना सकते हैं वे ही उसकी सबसे बड़ी त्रासदी का कारण बनते हैं...'मेरे वायलिन और सितार में मनों धूल भर गई है। महादेवी और मीरा के गीत मैं यहाँ गा सुनाऊँ तो सब उल्लुओं की तरह मुँह देखें। बात-बात में इनकी इज्जत का ध्यान, बात-बात में स्त्री होने की घोषणा...सच भाई साहब, आज हृदय में बड़ी प्रचण्ड शक्ति से यह सब उठ रहा है कि काश मैं एक साधारण लड़की होती—मूर्ख और भेड़, जिसके बचपन की सारी तैयारियाँ, शिक्षा-दीक्षा केवल विवाह के लिए होती हैं और विवाह होने के बाद जैसे इन सारे झंझटों से छुटकारा मिलता है।'...[2] कहानियों में घटित कितने ही संयोगों और दूरारूढ़ सम्भावनाओं के बीच यह ख्याल जरूर उभर कर सामने आता है कि स्त्री जीवन की सार्थकता क्या मात्र एक शो-पीस—खेल-खिलौने—तक ही सीमित है? इस स्थिति के कैसे भी प्रतिवाद की कल्पना नीलिमा का उदाहरण बनकर, सिहरा देने की तरह वह गत-यौवना स्त्री के साथ भी, उसकी जवानी में उसका हर जायज-नाजायज इस्तेमाल करके, वैसा ही सलूक कर सके। इसीलिए अपनी वफादारी और ममत्व के लिए पिटी वह कुतिया उस स्त्री को बहुत अपनी-सी लगती है। इस स्थिति को सामान्यतः सर्वस्वीकृत मान लिया गया है कि बैल चलता है, गाड़ी घिसटती है, साइकिल में अगला पहिया चलता है, पिछला घिसटता है। इस विचार से 'साइकिल' की रश्मि के दिमाग में ही जैसे कोई पहिया घूमने लगता है और देर तक घूमता रहता है। 'नास्तिक' की नीरा सारी अति नाटकीय स्थितियों के बावजूद, धर्म के नाम पर पल रही जहालत का शिकार होने से अपने को बचा नहीं पाती है। उसकी सन्तान को गंगा माई की कृपा का फल मानकर उसकी आँखों के सामने ही उसकी सास द्वारा जीवित ही जल-समाधि दे दी जाती है।

राजेन्द्र यादव की ये अधिकांश कहानियाँ समाज में सामान्य स्थितियों और सामान्य-पात्रों की चिन्ता किए बगैर विशिष्टताओं, संयोगों और अति नाटकीय स्थितियों के सहारे विकसित होती हैं। ऐसा नहीं लगता कि ये सीधे जीवन में से तराशी गई कहानियाँ हैं इसीलिए जीवन की अपनी खास हरारत से वे प्रायः अछूती लगती हैं।

शुरू से ही राजेन्द्र यादव की छवि एक पढ़ाकू लेखक के रूप में उभरकर सामने आई है, अपनी इस छवि के प्रति वह स्वयं भी कम सचेत नहीं हैं, इसीलिए उनकी बहुत-सी कहानियाँ ज्ञान के इस अपच से बच नहीं सकी हैं।...'तीन पत्र और आलपीन' पुलिस अफसर पिता की अनुपस्थिति में उनकी ड्रॉअर में पड़े कागजों से बनाई गई कहानी है। परिवार में स्त्री की यातना के सन्दर्भ उसमें अप्रकट और अप्रकाशित ही रह जाते हैं। लेखक का पूरा ध्यान पिता, मित्र और पत्नी के तीन पत्रों को जोड़कर कहानी बनाने की ओर है और पहले की चोट में आलपीन से चोट के प्रतीक द्वारा एक विशिष्ट स्थिति को सामान्य बनाने की कोशिश अवश्य की गई है लेकिन कहानी की नाटकीय बुनावट और संयोग इसमें भी बाधा डाले बिना नहीं रहते। 'लकड़हारा' में झटका देने की प्रवृत्ति हास्यास्पद हो उठी है। ससुराल के लोग शोभा के विवाह मंडप में जब दहेज और लेन-देन को लेकर तकरार करते हैं और बारात वापस चले जाने की स्थिति आ जाती है तो वह बड़े नाटकीय ढंग से उन लोगों को झाड़ती ही नहीं है, प्रतिक्रिया और प्रतिशोध में, अपने सबसे निकट खड़े पुरुष नाई सुमेरा का हाथ पकड़ कर उसे ही अपना पति भी घोषित कर देती है। शोभा सचमुच लोककथा की राजकुमारी बनने की कोशिश करती है जिसने कभी घोषणा की थी कि सबसे पहले जिस व्यक्ति का मुँह वह देखेगी उसे ही अपने पतिरूप में वरण करके सारे राजपाट का स्वामी बना देगी। रास्ता चलता लकड़हारा सचमुच ही राजा बन जाता है। उस लकड़हारे की तरह स्थितियाँ सुमेरा को भी एक नाई से लोककथा का नायक बना देती हैं। लेकिन जिन्दगी और लोककथा में अन्तर होता है और एक को दूसरे पर लाद देने से स्थिति को हास्यास्पद होने से नहीं बचाया जा सकता। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' राजेन्द्र यादव की एक बहुचर्चित कहानी है। यहाँ लाला रूपाराम के रूप में एक ऐसे पिता की कल्पना की गई है जो पुत्री को लक्ष्मी मानता है और जिसके मन में यह विश्वास गहराई में जमा बैठा है कि लड़की को घर से निकालते ही, उसका विवाह करते ही, उसकी सारी श्री और सम्पदा भी उसे छोड़ जाएगी। अपने बड़े भाई रोचूराम और उसकी बेटी गौरी का उदाहरण उसके इस विश्वास को पुष्ट करता है। वह उसकी गलती को किसी भी कीमत पर दोहराने को तैयार नहीं है। उसकी कंजूसी के किस्से लोग गहरी दिलचस्पी से बयान करते हैं। छब्बीस वर्ष की लक्ष्मी, उसकी बेटी, इस कैद में हिस्टीरिया का शिकार हो जाती है। उसके बाबत गोविन्द को बताते हुए चौकीदार रूपाराम के प्रति गहरी बसी घृणा के साथ कहता है..."दौरा न पड़े तो जवान लड़की क्या करे? उधर पिछले पाँच-छः साल से तो यह हाल है कि दौरे में घंटे-दो-घंटे वह बिल्कुल पागल हो जाती है। उछलती-कूदती है, बुरी-बुरी गालियाँ देती है, बेमतलब रोती-हँसती है, चीजें उठा-उठाकर इधर-उधर फेंकती है। जो चीज सामने होती है उसे तोड़-फोड़ देती है। जो हाथ में आता है उससे मारपीट शुरू कर देती है उसे तोड़-फोड़ देती है और सारे कपड़े उतारकर फेंक देती है। बिल्कुल नंगी हो जाती है और जांघें और छाती पीट-पीटकर, बाप से कहती है—'ले, तूने मुझे अपने

लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग।' यह पिटता है, गालियाँ खाता है और सब कुछ करता है लेकिन पहरे में जरा ढील नहीं देता..."[3] इस पूरे किस्से को सुनकर नया-नया आया गोविन्द लक्ष्मी के छोटे भाई द्वारा लक्ष्मी के लिए माँगी गई पत्रिका में एक कहानी के रेखांकित अंशों की वास्तविकता समझ लेता है। कैद से मुक्त कराकर कहीं भगा ले चलने का उसका करुणा भरा आग्रह और वैसा न करने पर फाँसी लगाकर मर जाने की उसकी चेतावनी उसे बेचैन कर देती है... 'गोविंद के मन में अपने आप एक सवाल उठा—क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्यथित हो उठा है, या औरों ने भी इस आवाज को सुना है और अनसुना कर दिया है? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज को सुनकर अनसुना किया जा सकता है?'...' किसी और ने कुछ भी किया हो लेकिन यह तय है गोविन्द ऐसा नहीं कर सकता। आज पूरा पौराणिक रूपक अपनी सम्पूर्णता में उपस्थित है और गोविन्द को लक्ष्मी का उद्धार करना ही होगा। अर्थ की विकृतियों और शरीर की अपनी माँग का द्वन्द्व निरूपित करना ही कहानी का मूल कथ्य है लेकिन इसके लिए पौराणिक नामों का साम्य और जिन दूसरी चमत्कार भरी युक्तियों का सहारा लेखक ने लिया है वे सब कथ्य की गम्भीरता को अप्रभावित किए बिना नहीं छोड़ते हैं।...

नई कहानी, कहानी के शास्त्रीय ढाँचे के अस्वीकार का आग्रह लेकर आई थी क्योंकि वह अपने समय-सन्दर्भों से जुड़ने की आकांक्षा का परिणाम थी। इस मुद्दे पर राजेन्द्र यादव ने खास-तौर से जोर देते हुए लिखा है, 'शास्त्र के द्वारा हम किसी भी रचना के रूप, उसकी कलात्मक सफलताओं-असफलताओं को भले ही जान लें, रचना की प्रेरणा और प्राण को पाने में कोई शास्त्री हमारी सहायता नहीं कर सकता। परिवेश को समय-बोध, काल-बोध कुछ भी कह लीजिए, बात उसी सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य की है जो रचना को अपने साथ जोड़ रखता है, या जिससे जुड़ी रहने को रचना मजबूर है। यही कारण है कि आज रचनात्मक समीक्षा अपने समय को ही किसी-न-किसी रूप में परिभाषित करने पर जोर देती है। आधुनिकता और सामयिकता को समझने के सारे प्रयत्न संकेत करते हैं कि हम कहीं सारी कलाओं के पीछे बहने वाली अन्तर्धारा को पकड़ने को ही अधिक आकुल हैं।' राजेन्द्र यादव की अपनी कहानियाँ अपने समय को कैसे और किस सीमा तक परिभाषित करने की कोशिश करती हैं या 'कलाओं के पीछे बहने वाली अन्तर्धारा' को पकड़ने की उनकी आकुलता का स्वरूप क्या है, यह जिज्ञासा एकदम स्वाभाविक है। राजेन्द्र यादव की प्रारम्भिक कहानियों में राजनीतिक विसंगतियों की जिस समझ के संकेत मिलते हैं उनकी परवर्ती कहानियाँ न सिर्फ यह कि इस दिशा में विकास का कोई साक्ष्य नहीं देतीं, वह चेतना उनके यहाँ विलुप्तप्राय दिखती हैं। इस सन्दर्भ में पुनः 'उखड़े हुए लोग' का स्मरण आता है जिसकी स्थिति उनके सम्पूर्ण लेखन में एक अपवाद जैसी है। लेकिन फिर भी राजेन्द्र यादव के यहाँ कुछ कहानियाँ ऐसी अवश्य हैं जो बहुत व्यवस्थित ढंग से न सही अलग-अलग मुद्दों पर, अपने समय को परिभाषित करने की कोशिश का परिणाम मानी जा सकती हैं।

इन कहानियों में 'लंचटाइम', 'बिरादरी बाहर', 'तलवार पंचहजारी', 'नए-नए आने वाले' और 'प्रश्नवाचक पेड़' आदि को खासतौर से देखा जा सकता है।

राजेन्द्र यादव की ये कहानियाँ एक सीमित अर्थ में ही अपने समय को परिभाषित कर पाती हैं। उनके लेखकीय सरोकार एक खास वर्ग की कुछ विशिष्ट चिन्ताओं से आगे नहीं जाते जिसके परिणामस्वरूप वह, एक व्यापक स्तर पर, बृहत्तर सन्दर्भो के प्रति उदासीन दिखाई देते हैं। अपने परवर्ती संग्रह 'अपने पार...' की भूमिका में राजेन्द्र यादव ने बहुत-सी कथा-स्थितियों की चर्चा करके उन पर कहानी न लिखने की बात दोहराई है। उन्हें लगता है कि शायद हर लेखक में शेर की तरह का एक हिंस्र पशु छिपा होता है जो सिर्फ अपना मारा शिकार ही करना चाहता है या कम से कम विश्वास कर लेता है कि शिकार किसी और का नहीं, उसी का मारा हुआ है। इसी को वह लेखक के लिए अनुभव की प्रामाणिकता कहते हैं। नई कहानी में अनुभव की इसी प्रामाणिकता की परिणिति एक अनिवार्य अनुभववाद में जाकर होती है जिसके कारण कथ्य का संकट कहानीकार की नियति-सा बन जाता है। इसी का परिणाम यह होता है कि या तो वह ठोस और यथार्थ जीवन से हटकर फैंटेसी की रचना में प्रवृत्त होता है या फिर उसकी रचनात्मकता के स्रोत ही सूखने लगते हैं। ...अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में विस्तार से राजेन्द्र यादव ने नहीं लिखा है। लेकिन उनकी कहानियाँ पढ़कर यह आभास जरूर होता है कि आमतौर पर वह किसी मॉडल के आधार पर कहानियाँ लिखते हैं इसीलिए उनकी कहानियों में व्यक्ति तो मिलता है लेकिन उसके सामाजिक सन्दर्भ हमेशा ही उपस्थित नहीं रहते हैं। वैसे सैद्धान्तिक तौर पर वह वैयक्तिक सामाजिकता की बात करते अवश्य हैं, और उनके इस आग्रह में यशपाल और अज्ञेय को एक साथ पाने की इच्छा ही प्रतिफलित दिखाई देती है, लेकिन अपने समय को परिभाषित करने का उनका आग्रह, एक सीमा तक, उन्हीं कहानियों में पूरा होता दिखता है जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, जहाँ व्यक्ति अपने पूरे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित है।

नई कहानी के बारे में कभी कहा गया था कि उसका मूल स्वर प्रतीक्षा और मोहभंग का स्वर है। व्यक्ति की ही नहीं, समूचे राष्ट्र की पहचान के लिए भी इसे अपने समय का प्रामाणिक स्वर माना जा सकता है। अमरकान्त की 'डिप्टी-कलक्टरी', निर्मल वर्मा की 'परिंदे' और राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' के जरिये इस प्रतीक्षा और मोहभंग के विभिन्न स्तरों को समझा जा सकता है। इससे इन लेखकों की केन्द्रीय चिन्ता को भी सहज ही रेखांकित किया जा सकता है। अमरकान्त की 'डिप्टी-कलक्टरी' उस पूरी पीढ़ी की प्रतीक्षा और अंततः मोहभंग की कहानी है जो आजादी के बाद जवान होती है। एक अनिवार्य मोहभंग में खत्म होती यह प्रतीक्षा लेखक के पूरे सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य की समझ का साक्ष्य बनकर सामने आती है। जिस रूप में आजादी हमें मिली उसे देखते हुए स्थिति इससे बहुत भिन्न कुछ हो भी नहीं सकती थी। निर्मल वर्मा की 'परिंदे' एक ऐसी अर्थहीन प्रतीक्षा की कहानी है जिसे

प्रतीक्षा कहना भी शायद ठीक नहीं है। लतिका वर्षों बाद आज भी एक अनाम प्रतीक्षा के बिन्दु पर खड़ी है, नेगी की स्मृतियों से उबर न पाने के कारण, जबकि वह यह जानती है कि मरे हुए कभी वापस नहीं आते। राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' गीता की भावात्मक हताशा की कहानी है। उसकी पूरी जिन्दगी ही जैसे प्रतीक्षा के पर्याय से भिन्न कुछ और नहीं रही है। 'प्रतीक्षा' पर यह आक्षेप बेमानी है कि लेखक ने लेस्बियन सम्बन्धों को आधार बनाकर कहानी क्यों लिखी। इस सम्बन्धों का अत्यन्त सांकेतिक, सजीव और कलात्मक अंकन कहानी की उपलब्धि भी जाना जा सकता है लेकिन 'प्रतीक्षा' की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह व्यक्ति का अतिक्रमण करके अपने समय-सन्दर्भों की कहानी नहीं बन पाती है। कुल मिलाकर वह गीता की कहानी बनकर ही रह जाती है।...

नई कहानी की एक प्रमुख प्रवृत्ति के तौर पर राजेन्द्र यादव के यहाँ भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों वाली कहानियों की संख्या खासी बड़ी है। इनमें प्रेम की अशरीरी धारणा के प्रतिवाद से लेकर सम्बन्धों के टूटने की पीड़ा तक की कहानियाँ शामिल हैं। बहुत-सी कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनके केन्द्र में स्त्री की आत्मसजगता और समय के आर-पार देख सकनेवाली विवेक-बुद्धि को भी सहज ही देखा जा सकता है। शुरू से ही राजेन्द्र यादव प्रेम को एक ठोस वास्तविकता के रूप में स्वीकार किए जाने पर बल देते रहे हैं। इस मामले में वह न तो शरीर की भूमिका को कहीं नकारते हैं और न ही जैनेन्द्र कुमार की तरह शरीर और मन के कृत्रिम विभाजन के लिए छद्म दार्शनिक तर्कजाल बिछाते हैं। अगर कोई स्त्री शरीर एक को और मन दूसरे को देकर स्वयं अपने को झुठलाने की कोशिश करती है, तो राजेन्द्र यादव उसके तर्कों की सुरक्षा-पंक्ति को ढहाते हुए उसकी इस विवशता के वास्तविक कारणों तक पहुँचना चाहते हैं। यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से उन्हें स्त्री को उसके पूरे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखनेवाले परिणाम की ओर ले जाती है। 'मेरा तन मन तुम्हारा है...' कहानी में वह मुहावरे के इस छद्म को स्वीकार नहीं कर पाते। विवाह के थोड़े से अरसे में ही अपने परिवार के गढ़ में अपने को सुरक्षित और आत्मतुष्ट मान लेने वाली युवती से वह पूछते हैं—'और मन कहाँ है? इस तन के अथाह सागर में मन खो गया है—डूब गया है। तन का सागर—जिसमें वैभव ने एक तूफान ला दिया है।'..." 'एक कमजोर लड़की की कहानी' की सविता भी इसी दुर्बलता की शिकार है। अकारण चमत्कार पैदा करने की प्रवृत्ति का शिकार होने के कारण लेखक उसके दोहरे अन्त की कल्पना करता है, सुखान्त और दुखान्त, लेकिन वस्तुतः पति और प्रेमी में से सिर्फ एक को चुन न पाने के कारण ही सविता कमजोर है और उसकी इस कमजोरी के कुछ निश्चित सामाजिक कारण हैं।

राजेन्द्र यादव की कुछ कहानियों में या तो कोई तीसरा आदमी बाकायदा सशरीर उपस्थित है या फिर उसके होने का सन्देह जहर बनकर नसों में घुलता रहता है। 'पुराने नाले पर नया फ्लैट' में यह पुराना नाला वीरू के पति के पूर्व प्रेम का है जो दीप्ति की चिट्ठियों के माध्यम से अभी भी बना हुआ है, और नया फ्लैट उनके अपने

सम्बन्धों का है जो कॉलोनी में नए मकान की तरह ही हवा के हर झोंके के साथ बदबू का भभका भी साथ लिए है। इसी की प्रतिक्रिया में वीरू अपने इच्छित पुरुष मित्र के रूप में लेखक का इस्तेमाल करके बड़ी बेबाकी के साथ पत्र लिखने की शुरुआत करती है जबकि वह जानता है कि वह तो महज एक माध्यम है, नहीं तो ये पत्र किसी के भी नाम हो सकते थे।

अतीत के प्रति मोहासक्त बनानेवाली स्थितियाँ राजेन्द्र यादव के यहाँ नहीं के बराबर हैं। एक समय कभी गहराई से प्रेम कर चुके पात्र भी बहुत बाद में कभी मिलने पर जिस संयत ढंग से व्यवहार करते हैं, उसे देखते हुए कभी-कभी लगता है कि या तो उनकी पहले वाली आवेग तरलता झूठी थी या फिर आज का बेहद शान्त और संयत व्यवहार गलत है। 'छोटे-छोटे ताजमहल' में सम्बन्ध विच्छेद की दो कहानियाँ हैं लेकिन भावुक बनानेवाली रोमानी स्थितियों से लेखक बहुत सचेत भाव से अपने को बचाता है। वह ताज के रोमानी मिथ को तोड़ता है। एक बार राका और देव के सन्दर्भ में विजय विछोह का गैरजरूरी साक्षी बनाकर लाया गया था, और दूसरी बार अब वह स्वयं ही साक्षी है और स्वयं ही भोक्ता भी। जून की टीकमटीक दोपहरी में उसने मीरा को मिलने का समय दिया है। उनकी प्रतीक्षा में जिन सम्भावित स्थितियों की कल्पना वह करता है उनमें से एक उसके चश्मे में दोनों काँचों में झाँकते दो छोटे-छोटे ताज के बिम्ब भी हैं जिन्हें देखकर वह तरह-तरह की कल्पनाओं में खो जाने की कल्पना करता है। उसे यह भी लगता है कि मीरा की आँखों में नमी का आभास तक नहीं है। देव विवाह के सात वर्ष बाद राका की ताज देखने की इच्छा पूरी कर सका था, लेकिन वही उनके विच्छेद का दिन भी था। उनके बीच मुनमुन भी था लेकिन फिर भी असाधारण संयम के साथ उन्होंने स्थिति को स्वीकार किया था—एक-दूसरे के प्रति जरा भी कटु हुए बिना। विजय और मीरा के अपने मामले में ये भावुक बनानेवाली स्थितियाँ और कम हैं। उस चिलकती धूप में उन दोनों के बीच एक अभेद्य मौन गीले कंबल की तरह पसरा रहता है जिसमें कभी-कभी यह भ्रम अवश्य होता है कि मीरा शायद कुछ बोली है! आज प्रेम में शाश्वत जैसा शायद कुछ नहीं होता। जीवन में उसकी स्थिति मीरा के चश्मे के काँचों में कल्पित छोटे-छोटे ताज के बिम्बों की तरह ही रह गई है, जो बैठने का कोण बदल लेने मात्र से झलमला कर आँखों से ओझल भी हो सकते हैं।...

राजेन्द्र यादव की कहानियों में सम्बन्धों के टूटने की प्रक्रिया भी अंकित है और उसके परिणाम भी। 'टूटना'...टूटने की प्रक्रिया की कहानी है जबकि 'लौटते हुए' ...और 'अपने पार'...जैसी कहानियाँ उसके परिणामों को संकेतित करती हैं। 'टूटना' में लीना और किशोर के टूटने की लम्बी यातनादायी प्रक्रिया लीना के पिता दीक्षित और किशोर की असम्बोधित अघोषित लड़ाई से शुरू होती है। इस लड़ाई में प्रतिद्वन्द्वी कहीं भी आमने-सामने न होकर भी एक-दूसरे से भिड़े रहते हैं। उनकी इस भिड़ंत में सबसे अधिक भोगती और टूटती है लीना। किशोर के वर्ग संस्कार उसे जिस हीनता ग्रन्थि का शिकार बना देते हैं उससे उसकी मुक्ति दीक्षित को हरा देने के

बाद ही मिल पाती है। यह अप्रत्यक्ष और अदृश्य रूप से लड़ी गई लड़ाई भी अपने परिणामों में कितनी भयंकर हो सकती है, वह पूरे दाम्पत्य जीवन को किस सीमा तक झकझोर सकती है, इसका सूक्ष्म विश्लेषण ही 'टूटना' को राजेन्द्र यादव की एक प्रमुख कहानी बना देता है। आठ वर्ष खोकर लीना की ओर से समझौते का संकेत किशोर के अपने अन्दर भी एक अनुकूल प्रतिक्रिया ही उठाता है और उसके अपना दिल्ली जाना कैंसिल कर देने से ही यह साफ़ हो जाता है कि वह स्वयं भी टूटने की इस भयावह स्थिति से बचाव चाहता है। 'लौटते हुए' सम्बन्ध विच्छेद की हताशा और उसके कारण मृदुला के तिल-तिल टूटने की कहानी है। अपने परिवेश को झेल पाने के लिए इसके बाद उसे एक ऐसे झूठ को कवच बना लेना जरूरी हो जाता है जिसके बिना दो कदम भी चल पाना दुश्वार है। एक ओर दफ्तरी माहौल में ओछी और बात-बात में कहानी सूंघती निगाहें हैं तो घर पर अपनी बेटी से बोला गया यह झूठ कि उसके पापा हवाई दुर्घटना के शिकार हो चुके हैं, उसकी आत्मा पर बोझ बनकर सवार है।...'अपने पार'...टूटने के इस परिणाम को बच्चे के कोण से देखती है। बहुत संक्षेप में, महज कुछ संकेतों में ही, मूल्यों के विघटन और परिवार पर उसकी भयावह छाया के जो संकेत कहानी में उभरते हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। बच्चा केवल अपने जन्मदिन पर ही कभी-कभार अपने पिता के पास जाता है जो किसी दूसरी महिला के साथ रहते हैं, जिसका परिचय उसे वह उसकी मम्मी बता कर देते हैं। जब वह ऐसा करते हैं तो उसकी अपनी मम्मी गुमसुम बैठी रहती है—या तो दूसरी तरफ कहीं और देखती हुई या अपने गले की जंजीर को दांतों से दबाए हुए। कभी-कभी उसकी इच्छा होती है कि वह अपनी मम्मी से पूछे कि तुम मेरे लिए एक पापा नहीं ला सकतीं? तुम्हारे गले में हाथ डालनेवाले अंकल नहीं, पापा चाहिए...लेकिन वह सब कुछ कह नहीं पाता है, केवल सोचकर रह जाता है। लेकिन इसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया से क्या वह सचमुच बच पाता है? घर लौटकर वह पाँव पटकता है, गिलास फोड़ता है, बाल नोंचता है। मम्मी कहती हैं—बिल्कुल अपने पापा की तरह कर रहा है।... 'फिर वह रोने लगती हैं। पलंग पर लेटकर। उसे रोते देखकर मैं भी रोने लगता हूँ। उसे चूमता हूँ, उससे लिपटता हूँ। उसकी छातियों पर लदकर, उसके पल्ले से आँखें पोंछता हूँ। मम्मी मुझे पहचानती नहीं है। ध्यान से देखकर कुछ याद करने की कोशिश कर रही है। पता नहीं, मम्मी को देखते देखकर मुझे क्या हो जाता है। लगने लगता है कि जैसे मैं, मैं नहीं पापा हूँ...फिर हम दोनों चिपककर सो जाते हैं।'...[7]

अपनी रूपक और प्रतीक कथाओं के सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव विधाओं की शुचिता का सवाल उठाते हुए ऐसी किसी शुचिता—सैंक्टिटी—को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। यह ठीक है कि विधा का नियामक रचनाकार होता है और अपनी सर्जनात्मक जरूरतों के अनुरूप वह उसमें मनचाहा रद्दोबदल कर सकता है। कहानी को अपने अनुभव और सर्जनात्मक संघर्ष के मुताबिक ढालने की कोशिश

में ही मुक्तिबोध की कहानियाँ कहानी के प्रचलित और स्वीकृत ढाँचे से बहुत अलग पड़ जाती हैं, लेकिन फिर भी वे कहानियाँ ही हैं। अपनी इन कहानियों के रूप को लेकर स्वयं राजेन्द्र यादव भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं। उनका आग्रह केवल एक ही चीज को लेकर है कि उनकी इन कहानियों को अपने समय की सच्चाइयों के रूप में ही लिया जाए...'मैं साग्रह कहना चाहूँगा कि मेरी ये कहानियाँ—आप इन्हें रूपक, फंटेसी, प्रतीक या किसी भी कठघरे में रखें—आज की सच्चाइयों की कहानियाँ हैं।'...इस हालत में उनकी अपनी कसौटी पर ही, इन कहानियों के परीक्षण-विश्लेषण की कोई सार्थकता हो सकती है। अब सवाल सिर्फ यही रह जाता है कि आज की इन सच्चाइयों का रूप और स्तर क्या है जिनके उभरने की बात इन कहानियों के सन्दर्भ में कही गई है?...'ढोल' का अनाम नायक—क्लर्क—अपनी सुरक्षा के लिए जिसे शक्ति और सिद्धि की तरह अपनाता है, धीरे-धीरे मालूम होता है कि वह ढोल ही सच और वास्तविक हो गया है और वह स्वयं एक 'बाहरी आदमी' की हैसियत से उतर आया है। शुरू में उसके लिए अभ्यस्त होने में कम तकलीफ नहीं होती है, लेकिन फिर धीरे-धीरे वह उसका इस हद तक अभ्यस्त हो जाता है कि उसके कारण ही वह स्वयं अपनी नजर में 'महान्' और 'विशेष' दिखाई देने लगता है। अन्ततः उसका अपना व्यक्तित्व विलीन होकर सिर्फ ढोल का अस्तित्व ही रह जाता है—उसकी अरथी पर बैठकर अभिनन्दन और अभिवादन स्वीकारने के लिए।...जोखिम और अद्भुत की लालसा, सम्पूर्ण निष्ठा और समर्पण से बचाकर कैसे आदमी को जोखिम के बदले फिर उसकी खुशफहमी के सन्तोष की ओर मोड़ देती है 'सिंहवाहिनी' इस सत्य को उभारती दिखाई देती है। जब जोखिम राजकुमारी के पूरे अस्तित्व पर छा जाता है, उससे पूरे समय और निष्ठा की अपेक्षा रखने लगता है, तो वह जोखिम से अधिक उसके आडंबर को ही अपनी जिन्दगी की जरूरत बना लेती है। 'अंधा शिल्पी और आँखों वाली राजकुमारी' रूप की भौतिक और आध्यात्मिक सत्ता के समन्वय पर जोर देती है—उसकी अलग-अलग सत्ता के प्रतिनिधि बनकर दोनों ही कहीं अधूरे हैं। अपनी-अपनी ऊँचाई से नीचे गिरकर अर्थात् दूसरे के सत्य को स्वीकारने पर ही वे पूर्ण होते हैं। 'गुलाम', 'गड़बड़ी पैदा करनेवाले' और 'परी नहीं मरती' आदि कहानियाँ भी अपने समय की विडम्बनाओं को छूती अवश्य हैं और इस अर्थ में शायद उन्हें आज की सच्चाइयों की कहानियाँ भी कहा जा सके। लेकिन ये कहानियाँ समय की सच्चाइयों से जुड़ने का हल्का-सा सन्तोष लेखक—और शायद उसके पाठक को भी—भले ही दे लें, क्या वे किसी सच्चाई का गम्भीर अन्वेषण करके किसी विडम्बना का बहुत तीखा बोध करा पाने में सफल होती हैं? 'गुलाम' में गुलामी की मानसिकता वाली विडम्बना है तो 'परी नहीं मरती' में अच्छाई की आत्यन्तिक विजय का आशावादी स्वर है, जो विडम्बना को तीखा बनाने के बजाय, आज के सन्दर्भ में, उसे भोथरा ही अधिक बनाता है। 'अभिमन्यु की आत्महत्या' अकारण उलझाव और जटिलता की शिकार है। उसमें न तो आत्महत्या

के कारण कन्विसिंग बनकर उभरते हैं, और न ही उसके न करने के कारण। आज की स्थिति की उन विडम्बनाओं का कोई बोध कहानी में नहीं उभरता है, जो आदमी की जिन्दगी को जीने-मरने की समस्या में बदल कर रख दे।

शिल्प चमत्कारों के प्रति राजेन्द्र यादव का मोह शुरू से ही रहा है। अपने संग्रहों की भूमिकाएँ भी वह सीधे-सादे ढंग से लिखने में कम यकीन करते हैं। उनकी कहानियों के शीर्षक प्रतीकों के प्रति उनके असाधारण लगाव को स्पष्ट करते हैं। डायरी, पत्र, कहानियों को एक वैविध्य तो देती है, लेकिन यह अतिशय शिल्प सजगता उनकी गम्भीरता को क्षति भी पहुँचाती है।...राजेन्द्र यादव की महत्त्वपूर्ण और सार्थक कहानियाँ वे ही हैं जो प्रयोग की अकारण शेखी और चमत्कार से बचकर अपनी रचनावस्तु को गम्भीरता से अन्वेषित और पुनः सर्जित करती हैं। इसीलिए कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि रचनावस्तु की क्षीणता को वह अपनी शिल्प सजगता से पूरा करने की कोशिश में लगे हैं। कहानी के क्षेत्र में, अपने दूसरे समकालीनों की तुलना में, उनका लम्बा गतिरोध भी इस रचनावस्तु के संकट का ही एक स्वाभाविक परिणाम जैसा लगता है। इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय के विरोध की आक्रामकता अपनी अन्तिम परिणति में उनसे बहुत भिन्न कुछ और साबित न हो।...

सन्दर्भ

1. राजेन्द्र यादव के एक निजी पत्र का सन्दर्भ
2. खेल-खिलौने, पृ. 38
3. जहाँ लक्ष्मी कैद है, पृ. 295
4. वही, पृ. 296
5. कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ. 51

(नई कहानी : पुनर्विचार से साभार)

राजेन्द्र यादव : सूचनाधर्मी परिवेश में वास्तविकताओं के बुझौवल

मार्कण्डेय

अक्सर लोग बहुत-सी बातें जानते हैं और इस अर्थ में शायद कथाकार ही ऐसा प्राणी है जो सबसे संकोच की स्थिति में है। ऐसा नहीं कि वह लोगों से कम जानता है वरन् वह जितना जानता है, उतना उसके लिए और जानकारी दोनों के लिए हमेशा अपर्याप्त ही बना रहता है। शायद इसीलिए वह लिखता है, अपने आभ्यन्तरिक संघर्ष को निरन्तर जागृत रखता है जिससे वह उस जानकारी के समानान्तर अपने को ले जा सके, उसके लिए पर्याप्त बन सके। इसलिए जानना लेखक के लिए एक आन्तरिक संघर्ष है और यह संघर्ष भाषा द्वारा वास्तविकताओं के समीप पहुँचने की चुनौती के कारण निरन्तर चलता रहता है। सम्भवतः आन्तरिक संघर्ष की इस प्रक्रिया का नाम ही रचना है। जिस दिन उसे इसका बोध हो जाता है कि वह पूरा जान गया, उसी दिन उसका रचनाकार स्वर्ग सिधार जाता है और बहुत-सी बातें जानने वालों की कतार में एक सामान्य मनुष्य के रूप में जा खड़ा होता है अन्यथा रचनाकार एक अधूरा आदमी है, निरन्तर पूरे होने की प्रक्रिया में संलग्न।

इसलिए वास्तविकताओं के अंकन के लिए लेखक को अनेक दिशाओं, अनेक कोणों अथवा अनुभवों या सूचनाओं के साथ प्रयोग करना पड़ सकता है लेकिन आसानी के लिए देखें तो वर्णन वह या तो 'भीतर' से करता है या 'बाहर' से। इसे और स्पष्ट कहें तो लेखक कथानक में आए पात्रों की जिन्दगी से आन्तरिक होने पर ही वर्णन भीतर से करता है। यदि उसकी जानकारी सूचनाओं पर आधारित है तो 'बाहर' बने रहना उसकी लाचारी है। लूकाच टाल्सटाय के बारे में लिखते हुए बताते हैं कि जहाँ उन्होंने उच्च वर्ग का जीवन लिया है, वह 'अन्दर' से किया गया वर्णन है और वहाँ किसान और सामान्य लोगों का जीवन वर्णित है, वह 'बाहर' से किया हुआ वर्णन है। हमारे यहाँ 'गोदान' में भी इसका उदाहरण देखा जा सकता है। 'होरी' का चरित्रांकन करते समय प्रेमचन्द उसके जीवन की भीतरी प्रक्रिया से परिचित जान पड़ते हैं लेकिन मालती अथवा 'मेहता' के चरित्रांकन बाहर से किए गए वर्णनों के द्वारा ही प्रस्तुत किए गए हैं।

वस्तुतः किसी भी लेखक की रचनात्मक क्षमता का वास्तविक मूल्यांकन शायद उसके समकालीन जीवन (जिसमें वह जीता है) की वास्तविकताओं के सन्दर्भ ही में

आँका जाता है। जाहिर है कि इस सिलसिले में पात्र और परिवेश कथा के अत्यन्त स्थूल अंग हैं जो लेखक की समकालीन जीवन-दृष्टि के पहले ही पाठक को दिखाई पड़ते हैं, जैसे साबुन से पहले आज उसका रैपर और उसके गुणात्मक निर्माण के पहले उसकी आधुनिक रूप-सज्जा है, उसी तरह पात्र के पहले उसका रूप, गुण, उसके कपड़े, विभिन्न आधुनिक वस्तुओं के नाम, ऑफिस, चपरासी, मोटरों के अनेक नए मॉडलों के नाम—गरज कि वह सब जो बाहरी तौर पर आज की नई जिन्दगी का ताम-झाम है—उसको राजेन्द्र यादव बड़ी सफलता से इकट्ठा ही नहीं करते, अपनी कहानियों द्वारा सचेत होकर बताने की भी कोशिश करते हैं कि ये पात्र की आधुनिकतम जीवनवृत्ति की आवश्यक पहचान हैं। 'नए-नए आने वाले' शीर्षक कहानी में, 'जैसे ही बेरा आकर कहता है कि साहब आपसे कोई मिलने आया है तो मेरा माथा ठनक जाता है।'

यह कहानी एक साहब अपनी बीवी को सुना रहा है जिसने नींद से आँखें नहीं खोली हैं और साहब बकता जा रहा है। इस तरह 'डि-सांटो', 'ब्लड प्रेशर', 'एयर कंडीशन', 'शुगर मिल', 'डाइरेक्टर', 'हॉर्न', 'स्टेनो को डिक्टेट करना' आदि कितने ही आधुनिक जरूरी शब्दों और प्रसंगों को राजेन्द्र यादव इकट्ठा करते हैं, ठीक उसी तरह जैसे आज का निर्माता वस्तुओं को तैयार करने के पहले उसके पूरे विस्तार-क्षेत्र की जानकारी करता है—इतना ही नहीं, वस्तु की माँग का पता लग जाने पर भी वह लोगों की रुचि, उनके संस्कार, उनकी जरूरतें आदि जानकर अपरिचित खरीददारों की सामूहिक औसत रुचियों के अनुकूल सामग्री तैयार करता है। और प्रायः अपनी वस्तु को विज्ञापनों द्वारा हर एक व्यक्ति की रुचि के अनुकूल सिद्ध कर देता है। मानव-कल्याण और प्रगतिशीलता की उस जैसी सही बात करने के लिए शायद हमको आपको गले में गड़रियाँ रखनी पड़ें।

राजेन्द्र यादव इन ब्यौरे की बातों से भी आगे जाकर अपने चरित्रों के मानसिक गठन पर भी ध्यान देते हैं। उनके साहब, चाहे वे 'टूटना' के हों, चाहे 'नए नए आने वाले' के या औरतें चाहे वे 'छोटे-छोटे ताजमहल' की हों, चाहे 'प्रतीक्षा' की, सबमें कोई एक ही ऐसी विशेषता है जो आए दिन किसी को आसानी से उपलब्ध नहीं हो सकती। यह तो यादव का हौसला है जो ऐसे पात्रों को खोज निकालते हैं।

अक्सर साहब संकर वर्ण इस माने में हैं कि वे साहबों के नहीं, किरानियों के बेटे हैं। कहीं से सुराग लग जाने पर घुस गए हैं और अब सीढ़ियाँ-दर-सीढ़ियाँ ऊपर चढ़ रहे हैं। एक साहब का यह कथन देखने लायक है, 'अरे मेरी मत कहो, मिडिल स्कूल क्या, मैं तो प्राइमरी स्कूल की मास्टरी कर लेता।'

मात्र 'डिटेल्स' इकट्ठे करके उच्चवर्गीय साहबों की कहानी बना देने का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि राजेन्द्र यादव हमेशा इन चरित्रों के जीवन के एक सिरे को अपने निजी जीवन में बाँध कर कल्पना से कहानी खड़ी कर देते हैं। यदि उनकी पैठ पुश्तैनी साहबों और मालिकों के जीवन में होती तो शायद ये विवरण डायरी से उतारे हुए नहीं लगते, न उन्हें इन साहबों का निम्नवर्गीय उद्भव बताना ही आवश्यक होता।

लेकिन वे चतुर कथाकार हैं। वे जानते हैं कि रंगीन रैपर में ईंट के टुकड़े रखकर साबुन की बात ज्यादा देर तक नहीं की जा सकती। इसलिए घटनाओं और विवरणों के अनुकूल चरित्रों के सृजन में उनकी पैठ नहीं है तो क्या हुआ, एक सामान्य आदमी के मनोविज्ञान की समझ तो उनके पास है ही। वे बड़े मजे में चरित्रों के परिवेश के हेर-फेर को निभा ले जाते हैं। दूसरे इन चरित्रों की असामान्य मनोदशा एक झटका भी देती है। जैसे आकृति पर सहसा कोई तेज रंग गोकि लय को भंग करता है, पर दर्शक की निगाह सहसा वहाँ पर टिकी रहती है।

इन कहानियों को पढ़ते हुए प्रायः सामान्य और सहज पर से आस्था उठ जाती है। यह बात 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' की कहानियाँ अथवा 'उखड़े हुए लोग' पढ़ते हुए नहीं लगी थी। तब लगता था वे एक बेचैनी, एक छटपटाहट और एक आन्तरिक पीड़ा से लिख रहे हैं और उनकी कहानियों में एक प्रगतिशील अन्दाज उभरने लगा था। 'लंच टाइम' अथवा 'जहां लक्ष्मी कैद है' में वास्तविकताओं तक पहुँचने की जो ललक थी, वह धीरे-धीरे किन्हीं वाह्य प्रभावों के कारण खोती गई। किसी लेखक के जीवन में ये प्रभाव कहाँ, किस तरह अथवा किस रूप में घुस आते हैं, यह कहना मुश्किल है। कई बार लेखक अनजाने, किसी दृढ़ आस्था अथवा आत्मालोचन के अभाव में वाह्य प्रभावों से प्रभावित होता चला जाता है। कहानियों पर फिल्में बनने की सम्भावनाएँ जहाँ हैं, वहाँ कई बार सशक्त लेखक भी चमत्कारिक घटनाओं और अजीबोगरीब परिवेश का निर्माण करने की आन्तरिक वाध्यता खुद-ब-खुद महसूस करने लगते हैं। इधर बांगला की अधिकांश कहानियाँ पढ़ने पर यही लगता है, जैसे लेखक सामयिक जीवन और यथार्थ की टक्कर से कतराकर अपने को भुलावे में डालने के लिए काल्पनिक और विचित्र कथा-प्रसंगों की सृष्टि में डूबते जा रहे हैं। हिन्दी में फिल्मों की माँग नहीं है तो पुस्तकालयों की भारी-भरकम शेल्फें मुँह बाए मोटे उपन्यासों का इन्तजार कर रही हैं और इनाम-एकराम की पालतू समितियों पर मोटी पुस्तकों का रोब जरा जल्दी गालिब हो जाता है। समितियाँ सरकारी हैं और सरकार जनतान्त्रिक। जनता भूखी है और तन्त्र पूंजीपतियों के हाथ में सिमटता जा रहा है। सदियों की समाज-व्यवस्था टूट रही है और जो बन रहा है उसे पहचानने के लिए नई भौतिक दृष्टि की जरूरत है। और आज का भौतिक जीवन-बोध परम्परागत मान्यताओं के लिए चुनौती हो उठा है। जिसे स्वीकार करने का मतलब है बाजार से उपेक्षा, इनामी समितियों और सरकारी साहित्यकारों से तिरस्कार और पूँजीशाहों से दुश्मनी। जो दामन बचाकर निकल रहे हैं वे भ्रम की दृष्टि कर रहे हैं और भ्रम पूँजीवादी बाजार का सबसे तेज बिकने वाला सौदा ही है। कहना न होगा, इनमें एक शक्ति, भ्रम है, दूसरी वास्तविकता। लेकिन भ्रम की प्रवल शक्तियाँ भ्रम को मानवचेतना का अंग बना देती हैं और अनजाने राजेन्द्र यादव जैसा कथाकार अपनी इधर की कहानियों में वास्तविक चेतना से अलग हटकर भ्रम के साथ हो गया है। 'प्रतीक्षा' का मर्म समझ में आता है और मानव-स्वभाव की एक पतित मनोदशा का चित्र उस समाज की व्यवस्था की ओर भी संकेत करता है जिसमें बिना किसी आगम के या ऐसे आगम के जो मूल्यहीन

और सारहीन है, प्रतीक्षा जारी है, लेकिन यह किसी तरह समझ में नहीं आता कि भविष्य के लिए सुनिश्चित दृष्टि रखने वाला लेखक सार्थक आगत की आकांक्षा के बगैर मानसिक विकृतियों को अपने यथार्थवादी दृष्टिभेद का विषय बनाए। ऐसे एकांतिक कथानकों की खोज भी उन्हीं बाह्य प्रभावों का परिणाम हो सकती है जो लेखक से चटख और विचित्र कथानकों की माँग इसलिए करते हैं कि समकालीन जीवन और उसके यथार्थ से आँखें चार करने का उनमें साहस नहीं रह गया है। मन को हमेशा एक भुलावे में डाले रहनेवाले पाठक-वर्ग का प्रभाव भी लेखक पर बाजार के प्रभाव की तरह ही असर डालता है और वह औसत सूचनाओं को रचना का आधार बना कर बिक्री के लिए रचनाओं का निर्माण करने लगता है। स्पष्ट है कि रचना-प्रक्रिया के इस नए वृत में लेखक का स्वात्म धीरे-धीरे रचनात्मक वृत्ति से बाहर हो जाता है। नवीन जीवन-बोध और वास्तविकताओं के समानान्तर पहुँचने की लेखक की चेतना व्यक्तिगत अन्तःसंघर्ष के कतराने में मानवीय संवेदनशीलता का परित्याग कर देती है, और लेखक दूसरे निर्माताओं की भाँति ठण्डा और बेलौस हो उठता है। लेखक में व्यावसायिकता के प्रवेश की यह शुरुआत है।

इसलिए यह कहना कि अधिक लिखना ही व्यावसायिकता का लक्षण है—एक बड़ी भूल है। बहुत तो चेखव और दास्तोवस्की ने भी लिखा है। हमारे यहाँ भी प्रेमचंद और रवीन्द्रनाथ ने जीवन-पर्यन्त निरन्तर सृजन किया। वस्तुतः मानवीय संवेदना और अनुभूतियों का सचेत परित्याग ही व्यावसायिक-लेखन की सबसे बड़ी पहचान है। पूँजीवादी समाज में मानवीय रिश्तों को सर्वथा समाप्त कर देने की विलक्षण शक्ति है। सिर्फ लाभ ही शुभ है और सब अशुभ और बेमानी। शायद उत्पादन की शक्तियों में घोर प्रतियोगिता ही इसका कारण है, जहाँ मानवीय श्रम भी उपयोगी सामान की तरह देखा जाता है। सम्बन्ध सिर्फ चाँदी के चन्द सिक्कों का है जिस पर आदमी की सारी आकांक्षाएँ तौल दी जाती हैं। इस केन्द्र बिन्दु से ध्यान हटा नहीं कि मालिक प्रतियोगिता में मारा गया, इसलिए अभीप्सित प्राप्य के मार्ग में जितनी भी मानसिक बारीकियाँ और परस्पर-स्नेह-सौहार्द्र के तन्तु आते हैं, उन्हें धीरे-धीरे यह समाज स्वतः काट फेंकता है। लेखक सीधे इन मानवीय गुणों पर प्रहार नहीं कर सकता, इसलिए वह दूसरे मार्गों का अन्वेषण करता है। इस शीत-संस्कार के प्रसार के लिए वह 'छोटे-छोटे ताजमहल' जैसी कहानियाँ लिखता है, जिसमें उन कारणों अथवा उस अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया के बीच वह खुद नहीं गुजरता, इसलिए पाठक का विश्वास प्राप्त करने का सवाल ही उसके सामने नहीं उठता और दो प्रेमी, जाने किन अव्यक्त शक्तियों के प्रभाव में, अकारण अपना प्रेम खो बैठते हैं। वहाँ न ताजमहल का कोई तुक बैठता है, न प्रेम-स्रोत के सहसा सूख जाने का कोई कारण मालूम होता है। मालूम होता है तो इतना कि लेखक प्रेम के सोते के सूखने की एक ऐसी ही विचित्र कहानी और भी जानता है और झट फ्लैश बैक में उस पूरी कहानी को पहली कहानी की पीठ पर इस तरह लाद देता है कि पहली कहानी की कमर ही टूट जाती है। फिर खुशबूदार रूमाल से खून भी पोंछा जाता है और लाश भी उठती है और झाड़ियों में रखी जाती

है। लेकिन यह सब एक 'बंगलिग' के अलावा कुछ भी नहीं लगता। लगता है, लेखक इस कच्चे माल को बिल्कुल पचा नहीं सका है और खामखाह एक दूसरी कहानी की सूचना में एक अपनी भी कहानी बताकर पाँच सवारों में अपना नाम लिखना चाहता है कि वह भी प्रेम करता है—उसने भी प्रेम को जाना है और वह कैसे टूटता है, इसका अनुभव उसे भी है। दूसरी कहानी के दम्पतियों ने जिनके बीच एक बच्चा भी है, यह निश्चय कर रखा है कि वे ताजमहल देखकर उसी क्षण एक दूसरे से अलग हो जाएँगे। हो सकता है इस कहानी के किशोरमना दम्पत्तियों में चमत्कार का यह सूत्र किसी आगामी संयोग अथवा किसी आन्तरिक, एकान्तिक भाव-प्रक्रिया का कोई स्वरूप रखता हो पर राजेन्द्र यादव से इस सबका कोई मतलब नहीं है। वे बड़े ठण्डे दिल से निहायत बनावटी कहानी का सृजन करते हैं, शायद यह भूलकर कि वे अनजाने मानवीय संवेदना की एक सबसे सशक्त प्रक्रिया की ठण्डी हत्या कर रहे हैं। कहना न होगा कि प्रेम के टूटने का नस-तोड़ मानवीय दर्द भी इस कहानी में 'कमोडिटी' बन जाता है।

इस तरह एक ओर जहाँ राजेन्द्र यादव इस महाजनी युग की मूल वृत्ति के प्रभाव में नई कहानियों की वस्तुवादी, जीवनोन्मुख धारा से किनारा कर चुके हैं, वहीं दूसरी ओर रचना-शिल्प के आन्तरिक गठन और निरन्तर विकास के लिए उस छटपटाहट और बेचैनी को, जो उनकी प्रारम्भिक कहानियों की सबसे बड़ी सम्भावना थी, खो चुके हैं।

सम-सामयिक जीवन का व्यवसायीकरण कोई नई बात नहीं है लेकिन इसे 'बाहर' से चित्रित करने पर लेखक मात्र सूचना-धर्मी परिवेश का चित्रण और यथार्थ की बुझौवल ही कर सकता है, लग गया तो तीर, नहीं तुक्का! शायद उनकी रचनात्मक चेतना का खोया हुआ अन्तर्द्वन्द्व कभी जागृत हो और सम-सामयिक जीवन की कड़ुआहट उन्हें उन मिथ्या बाह्य प्रभावों अथवा किशोर अभिरुचियों से ऊपर उठने के लिए बाध्य करे। राजेन्द्र यादव जैसे कथाकार से यह आशा करना सहज ही है।

('कहानी की बात' से साभार)

अनुभूति और विचार की असंगति : 'उखड़े हुए लोग'

ओमप्रकाश 'दीपक'

ईसा के जीवन में 'मेरी' नाम की दो महिलाएँ थीं, एक उनकी माँ और दूसरी उनकी शिष्या मेरी मैग्दलीन। नामों के साम्य के बावजूद अगर किसी यूरोपी लेखक को इन दोनों का अन्तर न मालूम हो, तो निश्चय ही घटिया से घटिया प्रकाशक भी उसकी पाण्डुलिपि को रद्दी में फेंक देगा और अगर कहीं पुस्तक छप भी गई तो लोग इतना हँसेंगे कि लेखक शायद आत्महत्या कर ले। लेकिन हिन्दुस्तान में लेखक होने के लिए शायद यह जानना जरूरी नहीं है कि रुक्मिणी और अर्जुन का सम्बन्ध क्या था।

श्री राजेन्द्र यादव जाने-माने लेखक हैं, उनके बारे में विशेष कुछ कहने की जरूरत नहीं है, और 'उखड़े हुए लोग' की चर्चा भी काफी हुई है। पृष्ठ 68 पर आप फरमाते हैं, 'आप सोच सकते हैं जया की स्थिति? अर्जुन की गोद में पड़ी रुक्मिणी की स्थिति?—पृथ्वीराज की छाती से चिपकी संयोगिता की मानसिक अवस्था?" सलहज और नन्दोई का रिश्ता मजाक का होता है, यह तो मालूम था लेकिन अर्जुन के साथ सुभद्रा नहीं रुक्मिणी भागी थी, यह बात नई मालूम हुई। यादवजी ने शायद कोई नया 'महाभारत' पढ़ा हो, या कौन जाने, लिख ही डाला हो! (या सम्भवतः यह महाभारत की मार्क्सवादी व्याख्या है!)

जो बात आमतौर पर दस-बारह साल के बच्चे भी जानते हैं, जब वही बात यादवजी को मालूम नहीं, तो फिर यूरोपी लेखकों के बारे में अगर कोई भूल हो जाए तो उसे क्षम्य ही समझना चाहिए। यूँ अपनी काबिलियत का यादवजी ने खुलकर प्रदर्शन किया है। जगह-ब-जगह दर्जनों यूरोपी विद्वानों की चर्चा है। उन्हीं में एक जगह पृष्ठ 195 पर आप लिखते हैं, "लेकिन सच पूछो तो मानसिक रूप से हम खड़े हैं वहीं, जहाँ आज से सौ साल पहले डी. एच. लॉरेन्स खड़ा था, और जैसे हम बैठकर बातें कर रहे हैं वैसे ही 'लेडी चैटरलीज लवर' में बातें होती थीं।" सौ साल पहले, यानी 1855 के आस-पास! लेकिन बेचारा डी. एच. लॉरेन्स तो पैदा ही 1885 में हुआ था, और मरा 1930 में! मुमकिन है किसी पूर्व जन्म में दोनों लेखकों की मुलाकात हुई हो। लेकिन यादवजी तो शायद पूर्वजन्म का सिद्धान्त मानते नहीं। फिर तो इसका रहस्य वही जानें।

और इस पर जब यादवजी अपने 'बयान-इकबाली' (जो कुछ भी सोचकर रखा

हो, भूमिका का शीर्षक उपयुक्त है) में कहते हैं कि "इसे '54-'55 के पूरे दो वर्ष प्रतिदिन लिखा और सँवारा गया है," तो अचरज होता है कि इस सँवाग्ने में क्या पाण्डुलिपि पर बेल-बूटे बनाए गए या अक्षरों पर दोबारा स्याही फेरी गई या और भी कुछ किया?

जानकारी का स्तर यह है। और इसी बूते पर मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवाद की भी चर्चा है, गांधी की अहिंसा पर फतवे हैं, और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कांग्रेसी नेतृत्व के अधःपतन के ऐतिहासिक कारणों की खोज है। आप कल्पना कर सकते हैं कि इन सबकी क्या दुर्गति हुई है।

लम्बे-लम्बे अर्थहीन भाषणों के बावजूद, शरद और जया की प्रणय-कथा रोचक है। वे एक-दूसरे से प्रेम नहीं करते, ऐसा नहीं है कि शरद के लिए जया का स्थान कोई अन्य लड़की न ले सकती हो, या जया के लिए शरद का स्थान कोई अन्य पुरुष न ले सकता हो। जया एक मध्यमवर्गीय लड़की है, अध्यापिका है। 'मुंशी' घराने में अपने विवाह के प्रस्ताव से दुःखी है। शरद उसका मित्र है। उसे इस दुःख से मुक्ति दिलाने के लिए 'सम्मिलित जीवन' का सुझाव रखता है। बस। लेकिन इस पर भी कथा रोचक है। इसलिए कि उनमें सहानुभूति है, समझ है, जो विवाहित जीवन को सुखमय न सही, सन्तोषमय बनाने के लिए पर्याप्त होता है। अधिकांश व्यक्तियों को सुख की तलाश नहीं होती, सुख की पीड़ा उनके लिए असह्य होती है। सुख के लिए जो विद्रोह, जो संघर्ष अनिवार्य होता है, वह समाज को भी असह्य होता है। शरद और जया को सुख की खोज नहीं समझ और सन्तोष की खोज है। जो परिचित है, जाना-पहचाना है, वही समझ और सन्तोष दे सकता है। मुंशी घराने में विवाह करने से जया को शिकायत इस कारण नहीं है कि सम्बन्धित व्यक्ति को वह जानती नहीं अथवा वह किसी दूसरे व्यक्ति से प्रेम करती है। शिक्षा और शहर के अपेक्षाकृत स्वतन्त्र जीवन में जो कुछ उसका प्रिय, परिचित बन गया है, उसके छूटने, खोने की आशंका से वह दुःखी है। शरद के साथ वह सब बचा रहेगा, इसलिए उसके साथ 'सम्मिलित जीवन' का प्रस्ताव वह स्वीकार कर लेती है।

जिन्दगी में आमतौर पर यही होता है। हिन्दुस्तान में तो अक्सर होता ही है। और इसका चित्रण यादवजी ने बड़े कौशल से किया है। पारस्परिक समझ के मार्ग में आनेवाली स्वाभाविक बाधाएँ, उलझनें और उनका निराकरण, सभी का चित्रण बहुत सुन्दर और रोचक है। कठिनाई यह है कि यादवजी की राय में यह बड़ा क्रान्तिकारी काम है। प्रसंग में बाह्य, औपचारिक क्रान्ति तो अवश्य है। शरद जया को अपनी पत्नी नहीं, 'साथिन' कहता है। और जया सरकारी या गैर-सरकारी, किसी प्रकार के 'विवाह' की रस्म के बिना ही शरद के साथ रहने लगती है, यद्यपि यहाँ भी 'सामाजिक स्वीकृति' को आवश्यक बताया गया है। लेकिन मानसिक स्तर पर तो कथा सामान्य मध्यमवर्गीय जीवन की ही है।

सन् 1954-'55 में अगर कोई लेखक एक मध्यमवर्गीय युवक और एक मध्यमवर्गीय युवती से स्वेच्छा से विवाह करने को क्रान्ति कहे, तो हँसी आने की ही बात है। विवाह

एक मानवी सम्बन्ध है। लेकिन एक मध्यमवर्गीय हिन्दुस्तानी लड़का कितनी लड़कियों को जानता है, जिनमें से वह अपनी पत्नी का चुनाव कर सकता हो? और एक मध्यमवर्गीय लड़की कितने लड़कों को जानती है, जिनमें से वह अपना पति चुन सके? और इस सीमित दायरे के अन्दर ही समझ-समझौते को सामाजिक क्रान्ति की संज्ञा देना हास्यास्पद नहीं तो क्या है?

'उखड़े हुए लोग' पढ़कर तो यही लगेगा कि मध्यमवर्ग के बारे में मार्क्सवादी स्थापनाएँ दुरुस्त ही हैं। शायद 'मार्क्सवादी' कहना उचित न होगा, यूँ कह लें कि यादव जी 'जिन्हें मार्क्सवादी' स्थापनाएँ समझते हैं, वे दुरुस्त मालूम होती हैं। उपन्यास के पात्र कहीं भी अपने व्यवहार में मध्यमवर्ग के दायरे के बाहर नहीं निकलते, लेकिन अपने वर्ग की ओर से बार-बार घिघियाते हैं, "मैं भी क्रान्तिकारी हो सकता हूँ। मैं भी क्रान्तिकारी हूँ। तुम मुझे क्रान्तिकारी क्यों नहीं मानते?"

उपन्यास का दूसरा अंश भी रोचक है, पात्र आकर्षक हैं। सूरज, जो प्रेम में असफल होकर मानवी सम्बन्धों पर विश्वास ही खो बैठता है, शरद और जया के सफल जीवन को देखकर पुनः विश्वास प्राप्त करता है। वह समाज के निम्नतम वर्ग का यतीम है, जो धीरे-धीरे ठोकरों और अनुभवों के बाद आस्थाहीन, मध्यमवर्गीय पत्रकार बन जाता है, लेकिन मजदूरों पर गोली चलते देख, फिर आस्थावान् हो, उन्हीं में मिल जाता है। मायादेवी, जो एक पाखण्डी के प्रेम में अपना सब-कुछ निछावर कर देती हैं, अपने पति की हत्या में भी भागीदार बनती हैं, और वास्तविकता का ज्ञान होने पर स्वयं भी उच्छृंखल हो जाती हैं। देशबन्धु, जो कायर है, पाखण्डी है, व्याभिचारी है, राष्ट्रीय आन्दोलनों में जो माफी माँगकर जेल से बाहर आता है, मायादेवी को धोखा देकर उनका सब कुछ छीन लेता है, जो ऐसा बहुरूपिया है कि कोई समझ न ही पाए वह क्या है। और मायादेवी की पुत्री पद्मा, जो सब-कुछ देखकर व्यथित है, माँ के अपराध जिसकी जिन्दगी में जहर घोल जाते हैं, और एक दिन जब देशबन्धु शराब पीकर उसके कमरे में घुस आता है, तो वह खिड़की से कूदकर मर जाती है।

किन्तु जो कठिनाई शरद और जया के प्रणय प्रसंग में है, वही इन सभी प्रसंगों में है। उपन्यास-लेखक के कन्धों पर विचारक का भूत उसी तरह सवार है, जैसे सिन्दबाद के कन्धों पर समुद्र का बूढ़ा शैतान। वह लेखक को चलने नहीं देता।

सूरज का उपन्यास में विशेष महत्त्व है, क्योंकि वह न केवल लेखक की दृष्टि को सबसे अच्छी तरह व्यक्त करता है, वरन् निर्वाह भी सबसे अच्छी तरह उसी का हुआ है। उसका व्यक्तित्व बहुत ही असामान्य है, यद्यपि लेखक ने अपनी ओर से इस बात की भरसक चेष्टा की है कि वह अस्वाभाविक न लगे। बुद्धि, विवेक, चरित्र, निष्ठा, भावुकता, लगन, मेहनत, सभी गुणों का उसमें विचित्र-सा मिश्रण है। वह जीवन आरम्भ करता है जेबकतरे के रूप में, किताबों की दुकान का एजेंट बनकर अपनी मेहनत से ही शिक्षित होता है, एक लड़की के असफल प्रेम में आवारा हो जाता है, आवारगी में पकड़ा जाता है और जेल में सन् '42 के क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में

धीरे-धीरे पत्रकार बन जाता है। अतीत की असफलताएँ और देशबन्धु की कारस्तानियाँ उसे आस्थाहीन बना देती हैं।

देशबन्धु-जैसे लोग, जिसमें चतुराई के अतिरिक्त और कोई गुण नहीं, और केशव-जैसे उनके सहायक भी दुनिया में मिल ही जाएँगे। लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि ऐसे पात्रों के जीवन को किसी ऐतिहासिक विश्लेपण का आधार नहीं बनाया जा सकता। उपन्यास में साम्यवाद के प्रति लेखक ने जो प्रेम प्रदर्शित किया है, मैं उसी से अनुमान लगता हूँ कि वे अपने को मार्क्सवादी मानते होंगे। किन्तु अगर यादवजी का विश्लेषण ही मार्क्सवाद है, तो भगवान् ही बचाए उसे। मार्क्सवाद के विश्लेषण का आधार ऊपरी, वैयक्तिक यथार्थ नहीं, वरन् वर्ग-यथार्थ की अन्तर्धारा है।

इस सिलसिले में और कुछ कहने की जरूरत नहीं है। यादवजी का दृष्टिकोण, मुमकिन है कुछ लोगों को न रुचे। मुझे नहीं रुचा, तो भी इसकी कोई शिकायत नहीं। है भी, तो केवल इतनी कि उपन्यास के कथाक्रम और पात्रों में, न इतनी गहराई है, न इतनी व्यापकता कि उनसे जो नतीजे निकाले जा सकें, जो यादव जी ने निकालने चाहे हैं। उनके बिना मेरे-जैसे पाठकों को उपन्यास कहीं अधिक रोचक लगता।

उपन्यास के वैचारिक स्तर के सम्बन्ध में केवल एक उदाहरण दूँगा। पृष्ठ 211 पर आपने लिखा है, "ठीक वैसे ही लोग इतिहास को मरोड़ते हैं, उसे सीधे वैज्ञानिक विकास-क्रम से देखने के बजाय उल्टी-सीधी तोड़-मरोड़ करते हैं और जैसे हर बार ऐसा करते समय वह पूछते हों—'निकाल आज की समस्या का हल—निकाल आज की समस्या का हल।' " दुनिया में ऐसे बहुत से लोग हैं, जो इतिहास के विकास-क्रम में कोई अर्थ नहीं देख पाते। यादवजी भी उनमें हों तो मुझे नहीं मालूम। लेकिन जो लोग मानते हैं कि इतिहास का कोई क्रम है और उसका कोई अर्थ भी है, वे तो उस क्रम में वर्तमान की समस्याओं का हल और भविष्य का दिशा-निर्देशन खोजने की चेष्टा करते ही हैं। यादवजी भी करते हैं, इसीलिए सूरज को पूँजीवाद का दुर्ग तोड़नेवाला भीम बनाने के उद्देश्य से, उसे हड़ताली मजदूरों का नेता बनाते हैं। लेकिन फिर इससे इन्कार क्यों करते हैं, यह नहीं मालूम। शायद चाहते हैं कि दूसरे लोग भी बिना प्रश्न पूछे, जिसे वे 'वैज्ञानिक विकास-क्रम' कहते हैं, उसे आँख मूँदकर मान लें।

मैं नहीं जानता कि यादवजी की उम्र क्या है। मुमकिन है राष्ट्रीय आन्दोलन के समय बहुत छोटे रहे हों और उसके बारे में न जानकारी हो न समझ। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ उनका वैचारिक या रागात्मक किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं रहा, इतना तो स्पष्ट ही है। राष्ट्रीय आन्दोलन और गांधीजी के बारे में उन्होंने जो फ़तवे दिए हैं, वे किसी ऐसे व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं, जिसका स्वाधीनता-संघर्ष से कुछ भी सम्बन्ध रहा हो—सन् '42 या उसके पूर्व के क्रान्तिकारियों के लिए भी नहीं।

वर्धा आश्रम में देशबन्धु की डायरी के कुछ अंश यादवजी ने दिए हैं और फिर

आगे चलकर कहा है, "लेकिन बेटा पड़ गया कांग्रेसियों के चक्कर में, पहले क्रान्तिकारियों के साथ भी गया, मगर वहाँ जान लेने और देने का सौदा था, सो भागकर गांधीजी की शरण में जाना पड़ा। अहिंसा का दर्शन इन सब बातों से बरी था। सत्याग्रह करना और जेल जाना।"

इसके साथ ही एक अन्य वाक्य भी उद्धृत कर देना चाहूँगा जो उपन्यास में बिल्कुल अनावश्यक है लेकिन जो लेखक की दृष्टि को समझने के लिए उपयोगी है—"ट्राट्स्की भी तो कहता था कि सारी दुनिया में क्रान्ति एक साथ हो जाए" सूरजजी ने चिढ़ाकर कहा, "पाँच की जगह पाँच हजार क्यों नहीं मरे!"

इस उद्धरण के दूसरे वाक्य में इशारा देशबन्धु की ओर है। अपनी ही मिल में गोली चलने के बाद मजदूरों के साथ झूठी एकात्मकता व्यक्त करने वाले पूँजीपति को और ट्राट्स्की को इस प्रकार एक ही जगह रखने का क्या तुक है? एक ही कारण हो सकता है कि यादवजी ट्राट्स्की को कोसे बिना उपन्यास समाप्त नहीं करना चाहते थे।

ट्राट्स्की को लेखक ने एक ही वाक्य में समाप्त कर दिया है। गाँधीजी के साथ कुछ अधिक दया दिखाई है। लेकिन जिन प्रसंगों की चर्चा मैं कर चुका हूँ, उसके अलावा और कुछ नहीं है।

हिंसक क्रान्ति के प्रति लेखक को ऐसा मोह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में सन् '42 और उसके पूर्व के क्रान्तिकारियों के अतिरिक्त, और कोई उन्हें श्रद्धा के योग्य नहीं लगता। लेकिन हिंसक और अहिंसक क्रान्ति में अन्तर क्या है? मूल रूप से केवल इतना ही कि एक में 'जान लेने और देने', दोनों का सौदा होता है, दूसरे में केवल जान देने का। यादवजी को शायद मालूम नहीं कि राष्ट्रीय आन्दोलन में हजारों व्यक्तियों को बिना किसी की जान लिए अपनी जान देनी पड़ी थी। और गांधी की अहिंसा के प्रतीक धरसाना के सत्याग्रही तो थे ही जिनमें से हर एक मार खाते-खाते बेहोश हो गया था पर अपनी जगह से हटा नहीं था, वे हज़ारों-लाखों अनपढ़ मूक भारतीय भी थे, जिन्हें उसने निहत्थे को बन्दूकों के सामने खड़े होने का साहस प्रदान किया था।

गांधी की ऐतिहासिक विकृति और ट्राट्स्की को अनावश्यक रूप से कोसना इनका कोई तर्क इस उपन्यास में मुझे नजर नहीं आता। गांधी और ट्राट्स्की के पक्ष में मुझे कुछ नहीं कहना। लेकिन विचारों और सिद्धान्तों की चर्चा करने के लिए वय से नहीं, तो बुद्धि से वयस्क होना आवश्यक है। गांधी के अनुयायियों में देशबन्धु-जैसे बहुतेरे लोग हो सकते हैं और हैं। ऐसा क्यों है, यह अपने-आप में एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर हल्के ढंग से फतवे देने का काम कोई नासमझ बुद्धि ही कर सकती है।

संक्षेप में, कथा की दृष्टि से 'उखड़े हुए लोग' एक अच्छा उपन्यास है, हिन्दी में ऐसे उपन्यास कम ही हैं। चरित्र अच्छे-खासे उभरे हैं, आकर्षक हैं। कथा रोचक है। लेकिन उसे ऐतिहासिक विश्लेषण का जामा पहनाने की चेष्टा यादवजी न करते

तो अच्छा था। मार्क्सवाद को भी उन्होंने एक बचकाना सिद्धान्त बना डाला है। मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ, लेकिन इतना जानता हूँ कि मार्क्स की रचनाएँ सोने से पहले कुछ देर मन बहलाने के लिए बिस्तर पर लेटकर नहीं पढ़ी जा सकतीं। भूल हुई, पढ़ी तो शायद जा सकती हैं, पर समझी नहीं जा सकतीं।

पुस्तक की भाषा के सम्बन्ध में भी कुछ कहना जरूरी है। ऐसा लगता है कि यादवजी ने यह उपन्यास उन लोगों के लिए नहीं लिखा जो केवल हिन्दी जानते हैं। उपन्यास को समझने के लिए हिन्दी के साथ अंग्रेजी का भी पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है। एक ही पृष्ठ पर, 'कम्प्लेक्स', 'मैनरली', 'कल्चर्ड', 'युनिवर्सिटी कनवोकेशन', 'क्लास-फेलो' का प्रयोग किया गया है। एक अन्य पृष्ठ पर 'ब्रेक', 'एडीटोरियल', 'डॉमीनेटिंग', 'क्रुएल', 'अबाउट-टर्न' का। कम-ज्यादा, सारी पुस्तक में इसी प्रकार अंग्रेजी के शब्दों का बेहिचक इस्तेमाल किया गया है। यह दोष अपने-आप में इतना बड़ा है कि इस पर और कुछ कहना अनावश्यक है।

मैंने यादवजी की सारी रचनाएँ नहीं पढ़ीं। यह उपन्यास और कहानियाँ ही पढ़ी हैं। उनसे मुझे लगा कि यादवजी लेखक के रूप में व्यक्तित्व के शिकार हैं। उनकी रचनाओं का एक पक्ष ऐसा है, जो अनुभूतियों को ग्रहण करने की क्षमता और उन्हें व्यक्त करने का कौशल प्रदान करता है, और दूसरा ऐसा, जो बिना पूरी तरह समझे-बूझे ही इन अनुभूतियों को एक विचारधारा के चौखटे में जबरदस्ती बिठा देना चाहता है। दोनों में मेल नहीं है। लेकिन जब तक यह मेल नहीं आता, उनके लिए प्रथम कोटि की रचनाओं की सृष्टि असम्भव है।

('विवेक के रंग' से साभार)

'हंस' संपादक के छलात्कार

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

राजेन्द्र यादव के लिए 'बलात्कार' के जोड़ पर 'छलात्कार' शब्द प्रसिद्ध कथालेखिका मन्नू भण्डारी का दिया हुआ है। (दे. तद्भव, अंक 6, अक्टूबर 2001, पृ. 23) जिनका पैंतीस वर्षों तक यादव के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध रहा है। यादव के सम्पूर्ण जीवन और लेखन के लिए इससे उपयुक्त कोई दूसरा शब्द शायद ही मिले। मैं राजेन्द्र यादव की व्यक्तिगत जिन्दगी में घुसकर साहित्यिक सीमा रेखा का उल्लंघन नहीं करना चाहता था पर अपनी आत्मकथा को स्वयं सार्वजनिक करके उन्होंने इसकी इजाजत दे दी है। अतः यह लेख 'हंस' की सम्पादकीय टिप्पणियों के साथ श्री यादव की आत्मकथा को भी आलोच्य बनाता है।

राजेन्द्र यादव इधर कुछ वर्षो से या कहें कि 'हंस' के उड़ान भरने के बाद से प्रायः जो वैचारिक टिप्पणियाँ लिख रहे हैं या दूसरों पर आक्रामक मुद्रा में प्रहार कर रहे हैं उनमें एक-दो अनुच्छेद ऐसा जरूर होता है जिसमें वे अपनी व्यक्तिगत नैतिकता, अपनी ईमानदारी, अपनी स्वार्थहीनता, अपनी प्रगतिशीलता और जनवादिता अर्थात् अपनी उज्ज्वल छवि प्रक्षेपित करते हैं। अपने ऊपर लगाए गए या लगाए जा सकने वाले आरोपों की सफाई भी देना नहीं भूलते। दूसरों को बेईमान और टुच्चा साबित करने की कोशिशें करते हुए किन्हीं कारणों से मीडिया की सुर्खियों में न आ सके लेखकों को अपमानजनक शब्दों से विभूषित भी करते रहते हैं। अर्थात् कुल मिलाकर अपने सामने सबको बेईमान, अपढ़, विचारशून्य और जनविरोधी समझते हैं। इसके उदाहरण तो पचासों हैं पर एक-दो उदाहरण दे देना उपयुक्त होगा। नीचे के इस एक ही अनुच्छेद में ऊपर कही गई सभी बातों का एक ही जगह उदाहरण मिल जाएगा और यह उनका अत्यन्त ताजा बयान भी है। 26 मई, 2002 के 'राष्ट्रीय सहारा' में वे लिखते हैं, ''हिन्दी में आज वैचारिक और सैद्धान्तिक कुछ भी नहीं रह गया है। पश्चिम में चूँकि विचार का अन्त हो चुका है इसलिए हम हर तरह के वैचारिक और व्यावहारिक स्वैराचार के लिए स्वच्छन्द हैं। अब सब कुछ व्यक्तिगत सम्बन्धों के बनने-बिगड़ने, व्यक्तिगत स्वार्थों के सधने-टूटने से तय होता है। छुटभैये कवियों-लेखकों का हाल यह है कि उनकी एक रचना या समीक्षा छाप दीजिए तो आप महान, न छापें तो टुच्चे-नीच। कोई गंवई गुण्डे की तरह बाँहें चढ़ाए देख लेने

की धमकी दे रहा है तो कोई कब किसने क्या किया या कहा के कच्चे-चिट्ठे खोल रहा है...ये ही लोग पिछले चालीस सालों से यह जानने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक किए हैं कि मैंने किस तिकड़म से कहाँ क्या पाया या उनके मुद्दों के खुले विरोध के पीछे वास्तविक व्यक्तिगत स्वार्थ क्या थे। इन लोगों के लिए यह अकल्पनीय है कि किसी के कुछ कनविक्शसन (विश्वास) भी हो सकते हैं। तिहत्तर साल की उम्र में एक सामान्य किफायती 'रहन' के अलावा मुझे अपनी कोई ऐसी उपलब्धि नहीं दिखाई देती जिसके लिए दुनिया भर की जोड़-तोड़, उठापटक करने की जरूरत पड़ी होगी—न बच्चों को फिट करने के लिए, न स्वयं मोर मुकुट धारण करने के लिए।"

एक और उदाहरण यादव की आत्मकथा से—"क्षमा करना, मैं उन लोगों के वर्ग में अपने को नहीं पाता, जिनके व्यक्तिगत विश्वास, व्यक्तिगत प्रतिबद्धता और जीवन—अर्थात् व्यक्तित्व, उनके कला-व्यक्तित्व से अलग होता है, और अजीब आध्यात्मिकता की धुंधभरी भाषा में जो गाहे-ब-गाहे कहते हैं, कि उनके कला-विश्वास और व्यक्तिगत विश्वास दो विरोधी बातें हैं—कि वे एक दूसरे से मुँह चुराते, दो विरोधी देशों के गुप्तचर हैं, और दोनों मिलकर आत्मा या परमात्मा के डिटेक्टिव हैं। काश, मुझे भी वे तर्क और युक्तियाँ मिल जातीं, जहाँ मैं कला में 'मनुष्य मात्र को समान' मानता—लेकिन व्यक्तिगत जीवन में कहता कि मेरे अपने गुट, जाति और प्रान्त के अलावा मनुष्य है ही कहाँ? चूँकि मैं उन्हें ही मनुष्य मानता हूँ, अतः 'समानता' का रिश्ता भी उन्हीं से रखता हूँ। इसलिए किसी से भेदभाव रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, उनसे कहीं दूरी रखनी हो तो गुनहगार हूँ...या फिर इतनी साफगोई भी क्यों नहीं मुझसे बनती कि 'मंच और माइक पर हम छुआछूत नहीं मानते, लेकिन घर पर हरेक हाथ का कैसे खा-पी लें?'—'हाँ यार, लव-वव तो ठीक है, लेकिन घर वाले पीछे पड़ गए तो शादी कर लेनी पड़ी।' या 'व्यक्तिगत रूप से मार्क्सवादी हों या गैर मार्क्सवादी, लेकिन कहानी-उपन्यासों में तो वह सब नहीं आने दिया...।' " (मुड़-मुड़ के देखता हूँ, पृ. 39)

ऊपर के दोनों उद्धरणों में दूसरे लेखकों के प्रति राजेन्द्र यादव की मानसिकता और उनका हिकारत भाव स्पष्ट है। स्वयं राजेन्द्र यादव की कथनी और करनी में कितनी खाई है इसे तो आप आगे देखिएगा, यहाँ तो आप उनके बयानों का स्वागत कीजिए कि वे वैचारिक ही नहीं व्यावहारिक स्वैराचार का भी विरोध करते हैं। कन्विक्शन की बात करते हैं। लेखक के कला विश्वास और उसके व्यक्तिगत विश्वास को एक मानते हैं। लेखक को उसके नागरिक कर्म की कसौटी पर भी कसा जाए, यह दुनिया के बहुत-से काव्यशास्त्रियों को स्वीकार नहीं होगा। पर राजेन्द्र यादव क्योंकि ऐसा आग्रह करते हैं और बड़े साहस के साथ आत्मस्वीकृतियाँ व्यक्त करते हैं अतः उन्हीं की कसौटी पर उनको कसने में कोई अवांछित चेष्टा नहीं होगी। फिर भी मैं राजेन्द्र यादव के किसी ऐसे कर्म को उनकी कसौटी पर नहीं कसूँगा जिसके बारे में उन्होंने स्वयं उद्घाटन न किया हो। अपनी ओर से उनके व्यक्तिगत शृंगार कक्ष में, या उनके

रहन-सहन, खान-पान, दुकान-दौरी, जमा-खर्च, ईनाम-एकराम, दान-दक्षिणा आदि के सम्बन्ध में कोई ताक-झाँक नहीं करूँगा।

पश्चिमी लेखकों की नकल पर इधर राजेन्द्र यादव जैसे कुछ लेखकों ने मान लिया है कि अपने छलात्कारों-बलात्कारों-अनाचारों आदि की स्वीकृति ही आत्मकथा है। 'ईमानदारी' शब्द का अर्थ व्याप्ति से अपरिचित ये लेखक यह सब ईमानदारी के नाम पर करते हैं। ईमानदार होने का दम्भ का प्रदर्शन और ईमानदारी को भुनाने का कौशल ईमानदारी नहीं है। क्या ईमानदारी का प्रदर्शन करनेवाला लेखक अन्ततः अपनी बेईमानियों को छिपा नहीं लेता? और सबसे बड़ी बात तो यह कि किसी लेखक के दारू पीकर नाली में गिर जाने या भोली-भाली लड़कियों को प्रेम के जाल में फँसाने या किसी चौराहे पर खड़े होकर गालियों की बौछार करने से पाठक को क्या मिलता है? आत्मकथाकार को उतना ही लिखना चाहिए जितने से पाठक को कुछ हासिल हो। अपनी हरमज़दगियों का बयान तो वह दारू गोष्ठियों में मौखिक भी कर सकता है। लेकिन बकौल मन्नू भण्डारी राजेन्द्र यादव के तो आदर्श (जीवन में भी और लेखन में भी) विदेशी लेखक ही हैं। बहरहाल लेखक चाहे अंग्रेज हो या फ्रांसीसी या नीग्रो अपनी आत्मकथा में अपने को धिक्कार कर क्या कोई उन अपराधों से मुक्त हो सकता है जो उसने दूसरों के प्रति किए हैं? अगर नहीं तो आत्मधिक्कार के द्वारा अपनी ईमानदारी का प्रदर्शन कर क्या पाठकों की वाहवाही एक ऐसे कार्य के लिए नहीं ले रहा है जो सचमुच अमानवीय था? शास्त्रों में पाप के लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है। संस्कृत की एक सूक्ति में कहा गया है—"सेतुबंध समुद्रस्य गंगा सागर संगमे। ब्रह्मा मुच्चयेत पापात् मित्रद्रोह न मुच्चयते।" अर्थात् सेतुबंध समुद्र और गंगासागर संगम पर स्नान करने से ब्राह्मण वध का पाप भी धुल जाता है, लेकिन मित्रद्रोह का पाप वहाँ भी नहीं धुलता। 'मित्रद्रोह' क्या है, वह सुधी पाठकों को बताने की जरूरत नहीं है। 'विश्वासघात और मित्र के साथ विश्वासघात' में अन्तर होता है। एक व्यक्ति कइयों से प्रेम कर सकता है, शरीर सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता है पर 'विश्वासघात' अलग चीज है। और मित्र द्रोह तो क्रूरता की पराकाष्ठा से उत्पन्न होता है। अच्छा है कि राजेन्द्र यादव शास्त्र में, पाप-पुण्य में, प्रायश्चित आदि में विश्वास नहीं करते। वैसे वे लक्ष्य कर सकते हैं कि संस्कृत सूक्तिकार ने 'मित्रद्रोह' को 'ब्राह्मण वध' से भी गम्भीर अपराध माना है।

अब यादव जी के मित्रद्रोह के कुछ प्रसंग देखिए। मीता और अपने सम्बन्धों को लेकर राजेन्द्र यादव आत्मविश्लेषण कर रहे हैं—"मैं आज भी समझ नहीं पा रहा कि इसके बाद भी अनेक बार जब हमने आपस में शादी की तारीखें तक तय कर लीं और उसने अपना एक घर होने के सारे सपने सँजो लिए, तो ऐन मौके पर खुद मेरे पीछे हट जाने के पीछे क्या बाधा रही होगी...अपने इस विश्वासघात ने शायद मुझे ही बार-बार तोड़ा है। हताशा, उदारता और क्षुब्ध शहीदाना भाव से जब मन्नू कहती कि क्यों अपनी और उसकी जिन्दगी बर्बाद कर रहे हो, उसी के साथ सैटिल हो जाओ तो शायद न उसे पता था, न मुझे कि यह क्यों सम्भव नहीं है। पिछले

पाँच सालों से तो मैं बिलकुल निर्बन्ध हूँ, कोई बाधा भी नहीं है, फिर कहाँ क्या छूट गया है कि साल में एकाध बार मुश्किल से देखादेखी हो जाती है। भूल तो आज भी नहीं पाता कि मीता ने मेरे लिए कितने लांछन, आरोप और असुविधाएँ झेली हैं। मैंने उसे कहाँ-कहाँ नहीं बुलाया। रात-बेरात, जगह-बेजगह वह उपस्थित रही है। एक बार तो मई की चिलचिलाती दोपहर के रेतीले मैदान में दो मील तक मेरे रिक्शे को धक्का देते हुए ले जाना पड़ा था। पाँव तपती रेत में धँस जाते थे। आज लगता है शायद वह भी एक रूपक ही रहा होगा जिसे मैंने जिया...क्या सारे रूपक अपना अर्थ दे चुकने के बाद अमूर्तनों में विलीन हो जाते हैं।" (मुड़-मुड़ के देखता हूँ, पृ. 116-117)

मेरे पाठक ध्यान दें कि यादव जैसा एक लेखक अपनी आत्मकथा लिख रहा है और आत्मविश्लेषण करते हुए यह नहीं बताना चाहता कि "ऐन मौके पर खुद उसके पीछे हट जाने के पीछे क्या बाधा रही" और "पिछले पाँच सालों से जब कोई बाधा नहीं है तो कहाँ क्या छूट गया है।" इसलिए मैंने शुरू में ही कहा है कि ईमानदारी का प्रदर्शन करने वाला लेखक अन्ततः असुविधाजनक सच्चाईयों को छिपा ही लेता है। और उपर्युक्त अनुच्छेद की आखिरी पंक्ति पर गौर कीजिए। जिस स्त्री ने मई की चिलचिलाती दोपहर के रेतीले मैदान में दो मील तक उनके रिक्शे को धक्का देकर आगे बढ़ाया, जिसने उनके लिए सारे लांछन, आरोप सहे वह एक निर्मम संवेदनहीन लेखक के लिए एक रूपक में बदल जाती है और अपना अर्थ दे चुकने के बाद अमूर्तन में।

अब सारे प्रसंग को मेरे पाठक मन्नू भण्डारी की कलम से ही पढ़ें तो ज्यादा उपयुक्त और प्रामाणिक होगा। मन्नू जी ने इतनी ईमानदारी के साथ इतने कम शब्दों में बयान किया है (दे. तद्भव, अंक 6, अक्टूबर, 2001, पृ. 18 से 27, देखा तो इसे भी देखते...) कि उनका एक भी वाक्य निकालने की हिम्मत नहीं होती। लेकिन उसे अविकल उद्धृत करने से मेरा सम्पादकीय बहुत लम्बा हो जाएगा। पाठक मन्नू जी की यह टिप्पणी जरूर पढ़ने की कोशिश करें जो राजेन्द्र यादव की पूरी आत्मकथा का संक्षिप्त उत्तर भी है। इसमें मन्नू जी ने उन अन्तरालों को भर दिया है और उन अन्तर्द्वन्द्वों को सुलझा दिया है कि जो कि यादव की आत्मकथा और उनके मन में विद्यमान हैं और जिन्हें वे छिपा लेना चाहते हैं। संक्षेप में, अभिधा में और मेरी सपाट भाषा में यह कथा कुछ इस प्रकार है—श्री यादव ने मन्नू जी की बहन सुशीला के सामने मन्नू जी का हाथ पकड़कर कहा था 'वी आर मैरिड' और विवाह के लिए अपना आर्थिक आधार बनाने हेतु दिल्ली चले गए थे। उधर दिल्ली में यादव के साथ मीता के प्रेम का पुराना अध्याय फिर खुल गया। यादव ने उसका भी हाथ पकड़कर कह दिया—'वी आर मैरिड'। राजेन्द्र जी के इस गोपन पुनर्नवा सम्बन्ध से बेखबर मन्नू जी ने जब उनसे अपने विवाह के बारे में जानना चाहा तो योजनानुसार वे मन्नू जी को राकेश जी के यहाँ प्रातः नाश्ते के समय छोड़कर चिट्ठी डालने के बहाने स्वयं बाहर चले गए।

राकेश जी (यादव जी के निर्देशानुसार) मन्नू को समझाते रहे कि वह लेखक नामक प्राणी से विवाह न करे पर साफ शब्दों में वे अपना प्रयोजन कह न सके और न मन्नू जी ही अन्दाज लगा पाईं। रात को स्टेशन पर गाड़ी चलने के पहले राजेन्द्र यादव ने मन्नू जी से कहा–'मैं सोच रहा हूँ कि पहले मीता सेटिल हो जाती तब मैं...' और वाक्य बिना पूरा किए चुप हो गए। जब मन्नू जी ने आश्चर्य से पूछा, 'अरे, अब यह प्रसंग कहाँ से उठ आया' तो राजेन्द्र जी ने इतना ही कहा, 'आखिर इतने वर्षों की मित्रता थी हमारी सो लगता है ही कि...' और बात वहीं पर छोड़ दी। मन्नू जी अजीब दिमागी परेशानी में इन्दौर पहुँचीं। दस-पन्द्रह दिन बाद उन्हें सुशीलाजी और ठाकौर साहब का पत्र मिला कि तुरन्त कलकत्ता पहुँचकर शादी की तारीख तय करनी है। मन्नू जी को यह नहीं बताया गया कि शादी का निर्णय ठाकौर साहब ने लिया है। बहरहाल 22 नवम्बर को शादी हो गई इसके बाद की स्थिति मन्नू जी के ही शब्दों में, "हम लोग आगरा पहुँचे तो दरवाजे पर आरती उतार-उतार कर बहनों ने द्वार रुकाई की रस्म करके अच्छी तरह बता दिया कि यहाँ इस शादी को लेकर पूरा उत्साह है। शाम को बीच आँगन में बाई (सास), बहनों और कुछ औरतों के बीच पटरे पर बैठी कुछ रस्में करवाती हुई मैं, और जिस स्थिति की मैं दूर-दूर तक कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती थी, उससे गुजरते राजेन्द्र–मीता की मित्र का कमरा...लगातार रोती हुई मीता... झूठ, छल, प्रपंच की धिक्कार भरी शब्दावली में फटकारती मीता की मित्र...मन में न जाने कितने तूफानों की हलचल झेलते हुए भी निश्चल, निस्पंद बैठे राजेन्द्र। आखिर कुछ देर बाद राजेन्द्र ने हिम्मत करके मीता के आँसू पोंछे और उसके हाथ में उम्मीद और आश्वासन का एक और पुर्जा थमाया–शादी मैंने जरूर मन्नू से कर ली है, पर हमारा तुम्हारा सम्बन्ध तो जैसा है, वैसा रहेगा। शादी में वैसे भी मेरा विश्वास नहीं...सो यह वन्धन मेरे तुम्हारे बीच कभी बाधा नहीं बन सकेगा।" ऐसा अमृत वचन उच्चरित करने वाले साधु पुरुष के साथ विवाहिता और संवेदनशील लेखिका पत्नी की मानसिक हलचलों की सिर्फ कल्पना की जा सकती है कि कैसे उसने आलमारी, बक्सों, दराजों के तालों की चौकसी करती निगाहों के बीच पत्रों और डायरियों को हस्तगत किया। कैसे बहते आँसुओं के बीच सारी घटनाओं, स्थितियों, संवादों और मानसिक दशाओं के विस्तृत ब्यौरों के रहस्यों से वाकिफ हुई। कैसे उसने बर्दाश्त किए अपनी जिम्मेदारियों से पलायन करके और किंचित अनुचित साधनों से प्राप्त धन-बल पर पहाड़ी प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच रोमांटिक दुनिया में मीता के साथ देह-सुख भोगते लेखक पति के प्रेम कौशल को। और कैसे काटे उसने नए-नए छलात्कारों के बीच एक नहीं, दो नहीं, जीवन के पूरे पैंतीस वर्ष। एक स्त्री की यह अकथ कथा है। और क्या उस स्त्री (मीता) की नहीं जिसने प्रेम के छलात्कार में अपना सब कुछ गँवा दिया? आगरे के ही कवि सूरदास से बिम्ब लें तो–'अधमुख रहति उरध नहि चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।' स्मरण करते रहने की बात है कि स्त्री के प्रति यह सलूक एक ऐसे

व्यक्ति का है जो लगातार स्त्री के पक्ष में बब्बर शेर-सा दहाड़ता रहता है।

स्त्री ग्रन्थि राजेन्द्र यादव में बहुत गहरी और प्रबल है। इसके प्रमाण उनकी आत्मकथा में भरे पड़े हैं। हेमलता उर्फ दीदी, मीता और मन्नू—इन तीन स्त्रियों के साथ और एक ही साथ उनका गहरा प्रेम-प्रसंग चल रहा है। वे कलकत्ते की एक जमाने की मशहूर एक्ट्रेस रमोला की एक झलक पाने को बेताब हैं (मुड़-मुड़ के देखता हूँ, पृ. 101) उन्हें कमल कश्यप नामक लम्बी स्मार्ट-सी लड़की के साथ अकेले फ्लैट में रहना अच्छा लग रहा है (वही, पृ. 105) लड़कियों के साथ पत्र संवाद को मैत्री में बदल लेने की अद्भुत कला (या छला) उन्हें ज्ञात है। कीर्ति प्रसंग ऐसा ही एक प्रसंग है जिसमें पत्र संवाद के बाद प्रत्यक्ष दीदार के लिए वे पहाड़ चढ़कर टी.बी. सैनेटोरियम पहुँच जाते हैं। पंगु चढ़ै गिरवर गहन (वही, पृ. 108-109) इतना ही नहीं एक विवाहिता का गुजराती मिश्रित हिन्दी में लिखा आमन्त्रण पाकर, उसकी गोद भरने के आग्रह से प्रेरित होकर उसके घर (शायद गुजरात) पहुँच जाते हैं (वही, पृ. 112)। इस घटना का जिक्र वे दीदी से तो नहीं करते और मन्नू से भी नहीं करते हैं पर आत्मकथा में लिखते ऐसा हैं जैसे कि स्वयं मन्नू से इसका जिक्र किया हो। देखिए—"हाँ मन्नू ने इस घटना पर कहानी जरूर लिखी 'तीसरा आदमी'। शादी के बाद यूँ ही मैं कभी जिक्र कर बैठा था। या शायद पत्र और फोटो देख लिए थे।" सच्चाई यही है कि मन्नू जी ने पत्र और फोटो देख लिए थे। लेकिन इस सच्चाई को वे 'या' के प्रयोग द्वारा लीप देना चाहते हैं। वहरहाल, यदि इस घटना की चर्चा श्री यादव ने ठाकुर साहब से की होती तो वे तुरन्त सही टिप्पणी करते—'साले तू क्या किराए का सांड़ है?' और उनकी यह टिप्पणी इस आत्मकथा के मूल स्वर को उद्घाटित करने वाली होती। कहना न होगा कि यह पूरी आत्मकथा राजेन्द्र यादव की स्त्री ग्रन्थि की कथा है। सहगल परिवार जो श्री यादव का आत्मीय बन चुका था, की स्नेहलता जी संकट के दिनों में यादव परिवार में शरणार्थी थीं। उनके साथ भी यादव छूट लेने लगते हैं। वे यादव को समझाती हैं—"राजेन्द्र जी, मुझे कुछ समय यहाँ निकालना है, उसमें अपने और मेरे लिए ऐसी स्थिति तो न आने दीजिए कि मुझे बीच में ही भागना पड़े...।" (वही, पृ. 120)। अब इससे अधिक शालीन ढंग से कोई स्त्री किसी पुरुष को क्या समझा सकती है? श्री यादव, तो एक बार दीदी के हाथ पर भी हाथ रख देते हैं। फिर दीदी भी उन्हें इसी प्रकार शालीन और सांकेतिक भाषा में सचेत करती हैं और प्यार से कंधे पर हाथ रखकर कहती हैं—"राजन, ये बेवकूफी की बातें मन में मत लाओ...।" (वही, पृ. 127) दीदी ने जिसे बेवकूफी की बात कहा है उसे ही लोक और शास्त्र दोनों ने 'लम्पटता' कहा है। यह लम्पटता राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व का स्थायी भाव है।

अब अपने इस स्थायी भाव पर देखिए स्वयं राजेन्द्र यादव के विचार। वे लिखते हैं, "अपने आप से पूछता हूँ कि स्वतन्त्रता की छूट का मेरा आब्सैशन सच ही कहीं 'लम्पटता की छूट' का ही तो दूसरा नाम नहीं है? मुझे घर भी चाहिए और निर्बन्ध

उत्तरदायित्वहीनता भी। यह अपनी रचनात्मक ऊर्जा और वैचारिक स्वाधीनता के लिए बार-बार किया जाने वाला नवीनीकरण (रिचार्जिंग) है या अधूरे होने की हीनताग्रन्थी से उत्पन्न दमित सेक्स की विकृत अभिव्यक्ति जो बार-बार दूसरे से अपनी पूर्णता का आश्वासन चाहती है? यह मेरी निजी कुंठा है या प्राक् ऐतिहासिक आदिम-पुरुष-वृत्ति, जहाँ वह अपने कक्षों में शत्रुओं और शिकारों के सिर सजा कर विजय के गर्व को बार-बार जीवित रखता है? या वह सामन्त जिसे हरम में अनगिनत भोग सामग्री चाहिए?" (मुड़-मुड़ के देखता हूँ, पृ. 150)

अब थोड़ी देर रुक कर पहले गद्य की इस शैली पर विचार कर लें। यह तर्क की छलात्कारी शैली है जिसमें कोई एक निष्कर्ष न देकर पाठक को अनेक निष्कर्षों की ओर गेंद की तरह उछालते रहा जाए ताकि वह किसी निष्कर्ष तक न पहुँच सके और स्वयं को सन्देह का लाभ मिल जाए। राजेन्द्र यादव की पूरी आत्मकथा में और पूरे लेखन में जहाँ कहीं दूसरे को दोषी ठहराना होता है वहाँ पूरे निश्चयात्मक और दो-टूक ढंग से उसकी लानत-मलामत की जाती है और ताल ठोंककर लेखक सामने आता है लेकिन जहाँ दोष अपने पर आ सकता है वहाँ 'या' 'क्या' 'अथवा' का प्रयोग करते हुए सन्देह और छल की भाषा में अपने को लगने वाला तीर दूसरी दिशाओं में ठेल देता है। 'अथवा' 'या' 'क्या' आदि का प्रयोग करके वह या तो अपने को डिफेंड करता है या दूसरों को भ्रम में डालता है। इस प्रकार का वाक्य विन्यास किसी सहज व्यक्ति का नहीं होता। बुद्धि का अहंकार और कपट-कपाट ही लेखक को छलात्कारी बनाता है। राजेन्द्र यादव इस गद्य-शैली के सबसे बड़े प्रयोक्ता हैं।

ऊपर उद्धृत अनुच्छेद में देखिए कि राजेन्द्र यादव एक सीधे से सच को स्वीकार कर लेने की बजाय किस प्रकार उसे मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ दे देते हैं। पाठक सोचें कि रचनात्मक ऊर्जा के नवीनीकरण के लिए क्या यह लम्पटता अपरिहार्य है? अगर यह अधूरे होने की हीनता ग्रन्थि है तो इस सृष्टि में कौन-सा मनुष्य पूर्ण है? यदि यह प्राक् ऐतिहासिक आदिम पुरुष वृत्ति है तो फिर इसे सहज-स्वाभाविक मानकर स्वीकार करना होगा। लेकिन दुनिया के सभी पुरुष ऐसा क्यों नहीं करते? यदि यह सामन्ती भोगवृत्ति है तो फिर राजेन्द्र यादव क्या हैं?

यादव यहीं नहीं रुकते, आगे लिखते हैं, "यदि सही है कि मुझे विरोधी सेक्स या महिलाओं की संगति अच्छी लगती है, वह प्रेरणा और ऊर्जा देती है, मगर प्रारम्भिक देह जिज्ञासा की उम्र गुजर जाने के बाद वास्तविक सेक्स मेरी दिलचस्पी का केन्द्र कभी नहीं रहा। इसलिए बीसियों सालों से वे मित्रताएँ आज भी मेरा सहारा हैं जहाँ खुलापन तो बहुत है मगर प्रचलित अर्थ में सेक्स बिल्कुल नहीं है। इसी भावनात्मक अकुंठ मैत्री की चाह हमेशा बनी रही है। वे पुरुष मित्रों की अपेक्षा ज्यादा निर्भरणीय होती हैं। ईसा डोरा डंकन ने कहा था कि हर नया प्रेम-सम्बन्ध संगीत की नई लय की तरह ताजगी देता है। मेरा कनाडियन मित्र हरिप्रकाश शर्मा कहता है कि हर नई स्त्री के साथ सम्पर्क पुरुष व्यक्तित्व के उन अनुद्घाटित आयामों को खोलता है जिन्हें उसने पहले कभी आविष्कृत नहीं किया था।" (वही, पृ. 151)।

अब सफाई पर विचार करें। क्या प्रारम्भिक देह जिज्ञासा की उम्र गुजर जाने के बाद वास्तविक सेक्स किसी की भी दिलचस्पी का केन्द्र रह जाता है? यह तो गाँव के लोग भी जानते हैं कि बुढ़ापे में सेक्स जुबान पर आ जाता है या स्पर्श में बदल जाता है। और भावनात्मक अकुण्ठ मैत्री की चाह किसे नहीं रहती? फिर देखें कि प्रमाण और समर्थन के लिए राजेन्द्र यादव को हमेशा या तो कोई विदेशी व्यक्ति होना चाहिए या यदि भारतीय हो तो विदेश में रह रहा हो। और फिर ताजगी प्राप्त करने के लिए या नए-नए आयाम खोलने के लिए पुरुष को कितने स्त्री सम्पर्कों की जरूरत है? स्त्री क्या पुरुष की प्रयोगशाला है? राजेन्द्र यादव ने जिसे 'अकुंठ मैत्री सम्बन्ध' या 'प्रेम सम्बन्ध' कहा है उसके बारे में हम आगे विचार करेंगे। पहले अपनी लम्पटता छिपाने के लिए राजेन्द्रजी द्वारा दी गई सफाइयों पर विचार करें।

आगे राजेन्द्र जी लिखते हैं, "लम्पटता क्या व्यक्तिगत नैतिक स्खलन है या अपनी स्वतन्त्रता का एसर्शन? पहली बात तो यही कि लम्पटता सिर्फ इकहरी और इकतरफा नहीं होती, दूसरा रजामन्द पक्ष भी वहाँ अनिवार्य है और यह आयाम उसे सामाजिक समस्या का रूप देता है। दुर्भाग्य से इस दूसरे पक्ष पर नैतिक वर्जनाओं की इतनी परतें हैं कि आज तक मैंने कम से कम अपने यहाँ तो इस सन्दर्भ में किसी स्त्री की बेबाक आत्मस्वीकृतियाँ (कनफैशंस) नहीं देखीं। शायद स्त्री की नाजुक सामाजिक स्थिति इसकी इजाजत नहीं देती।" (वही, पृ. 152)। पाठक विचार करें, अगर लम्पटता स्वतन्त्रता का एसर्शन है तो फिर स्वतन्त्रता की सीमारेखा क्या है? अगर वह एकतरफा नहीं है तो दूसरे पक्ष की रजामन्दी का ध्यान अनिवार्य है या नहीं? उल्लेखनीय है कि राजेन्द्र यादव के किसी स्त्री सम्बन्ध में दूसरे पक्ष का ध्यान नहीं रखा गया है। रही बात स्त्री की नाजुक सामाजिक स्थिति की तो वह भी विचारणीय है या नहीं? क्या देह में रहकर देह से और समाज से पूर्ण मुक्ति सम्भव है?

इसके बाद राजेन्द्र जी अपनी निर्दोषता के प्रमाण में लिखते हैं—"यहाँ मुझे अनायास ही फ्रेंक हैरिस की डायरियों के वे सारे प्रसंग याद आ रहे हैं जहाँ इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका के दर्जनों देव-पुरुषों के सेक्स-स्कैंडल भरे पड़े हैं—शैली, कीटस, बर्नार्ड शा सभी तो हैं। बाद में पाल जान्सन का 'इंटलैक्चुअल्स' नाम का लगभग शोधग्रन्थ भी देखा, जहाँ हर क्षेत्र के बुद्धिजीवियों की 'हरमजदगियाँ' बयान की गई हैं। हल्के से याद आते हैं, सुकरात-अरस्तू के बाद सबसे बड़े समाजचिन्तक रूसो के 'कन्फैशंस' जहाँ जीवन की सारी यात्रा एक स्त्री से दूसरी स्त्री तक की गई है।" (वही, पृ. 153) आगे यादव फिर कहते हैं, "मैं जानता हूँ इन नैतिक लम्पटताओं के लिए एक खास आर्यसमाजी धिक्कार का दण्ड-विधान है। वहाँ इसे कोढ़ जैसी घिनौनी बीमारी माना जाता है। मगर सवाल यह भी है कि कला और साहित्य अगर समाज और समय की व्यक्तिगत अभिव्यक्तियाँ हैं तो इस व्यक्ति को बनाने-ढालने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णायक तत्व और क्या है? अगर वह सारा स्खलन और विचलन सिर्फ मेरा ही था

तो पीढ़ी के सारे लेखकों की वे कहानियाँ कहाँ से आ रही थीं?" (वही, पृ. 154)। फिर कुछ छूटे हुए महान नामों को स्मरण करते हुए यादव लिखते हैं, "अगर मैं इन आत्मस्वीकृतियों को एक नास्तिक या अनास्थावादी के स्वयं अपने को, 'गिनी पिग' जानकर किए गए आत्म प्रयोगों का नाम दूँ तो क्या यह गांधी की आत्मा का अपमान है? स्वयं गांधी ने क्या अपने परम लम्पट गुरु टालस्टाय के इस कथन के साथ प्रयोग नहीं किए थे कि 'बड़ी लड़ाईयाँ युद्ध क्षेत्र के मोर्चो पर ही, बन्द कमरों के बिस्तरों पर लड़ी जाती हैं।'' (वही, पृ. 154)

देखिए, कि एक छलात्कारी व्यक्ति किस प्रकार अपनी एक सीधी-सी आत्मस्वीकृति से बचने के लिए दुनियाभर के साहित्यकारों-विचारकों-नेताओं और बड़ी हस्तियों की आड़ लेता है। वह अपने व्यक्तिगत स्खलन को सभी लेखकों-बुद्धिजीवियों का विचलन बताकर अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी से न केवल बचना चाहता है बल्कि अपने अमानवीय कर्मों को उचित ठहराने की भी कोशिश करता है। इतना ही नहीं वह अपने को गांधी के समकक्ष रखते हुए अपने छलात्कारों को 'आत्म प्रयोग' का दर्जा देता है। राजेन्द्र यादव जैसे लेखक नामक प्राणी को यह समझना चाहिए कि अनैतिक कर्म बड़े से बड़े व्यक्ति द्वारा किए जाने पर नैतिक नहीं बन जाते।

अपने को न्यायोचित साबित करना (जस्टीफाइ करना) ईमानदारी नहीं है। बुद्धि हमेशा अपने को सही साबित करने की कोशिश करती है। भाव पश्चाताप और प्रायश्चित की ओर ले जाता है। बुद्धि हिमखण्ड है, भाव विगलन। 'शैल निर्झर न बना हत भाग्य, गल नहीं सका जो कि हिमखण्ड'। यादव की आत्मकथा एक अति बौद्धिक, अतितार्किक व्यक्ति की आत्मकथा है जो अपने तूणीर में अपने हर अमानवीय कर्म के लिए बचाव का बाण रखता है। जहाँ वह आत्मस्वीकृति (कन्फेशन) भी करता है वहाँ सच को किसी भी प्रकार उलझा कर अपने को सन्देह का लाभ देना चाहता है। भाषा का जन्म अपने को व्यक्त करने के लिए हुआ था। बाद में उससे अपने आप को छिपाने का काम भी लिया जाने लगा। आज भी जिनके पास भाषा नहीं है जैसे अपढ़ आदिवासी और किसान, बच्चे, संत आदि वे भाषा से अपने को व्यक्त करने का ही काम लेते हैं। वे भाषा के व्यापारी नहीं होते। उनकी वाणी तोतली और अटपटी होती है। अधूरी लेकिन सीधी होती है। बौद्धिक और तार्किक तथा भाषा के पण्डित लोग भाषा से अपने को छिपाने का काम भी लिया करते हैं। उनकी भाषा का वक्र होना, सन्दर्भ बोझल-पाण्डित्य, कलात्मक होना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्री इसे रचना की विशेषज्ञता भी मानते हैं। सारा अप्रस्तुत विधान एक प्रकार से वस्तु के निकट जाने और उसे स्पष्ट करने का भ्रम पैदा करके उससे दूर होने और छिपाने का भी प्रयोजन सिद्ध करता है। रचना में तो यह एक जरूरत भी है पर आलोचना और वैचारिक लेखन में यह एक रोग है। राजेन्द्र यादव की भीतरी वक्रता और उनका पाखण्ड उनकी भाषा को एक छद्म में बदल देता है।

राजेन्द्र यादव जिसे प्रेम कहते हैं वह प्रेम नहीं है। प्रेम, रोमांस, काम, लम्पटता आदि शब्दों का अन्तर वे भली-भाँति जानते हैं। दुनियाभर के कवियों-लेखकों ने

प्रेम के विस्तार और उसकी गहराई को नापने की कोशिशें की हैं। कबीर ने 'अकथ' कहा है उसे—'अकथ कहानी प्रेम की, कहे न को पत्याय'। लेकिन कबीर, मीरा, विद्यापति, सूरदास, घनानन्द राजेन्द्र यादव की दृष्टि से ओझल हैं। उनके आदर्श इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका के देव-पुरुषों के सेक्स स्कैण्डल्स हैं। जिनकी सारी जीवन-यात्रा एक स्त्री से दूसरी स्त्री तक की गई है। इसलिए यादव का प्रेम न दीदी से है, न मीता से, न मन्नू से और ना ही स्नेह जी या अन्य स्त्रियों से। प्रेम प्रतिदान नहीं माँगता। वह देने को तैयार रहता है। 'उनको रुसवा न किया, खुद भी पसेमा न हुए।' इश्क की रस्म को इस तरह निभाया हमने। विदेशी साहित्य प्रेमी यादव इसे 'प्लेटोनिक' कहेंगे। मगर प्रेम की कोई कसौटी वन सकती है तो यही है। इस प्रेम की एक बूँद भी राजेन्द्र यादव की आत्मकथा में नहीं है। है तो केवल यौनेच्छा की तृप्ति और स्त्री देह की वासना। स्त्री को देखने की अनेक दृष्टियाँ हैं। लगता है राजेन्द्र यादव उसे सिर्फ सेक्स प्लांट के रूप में देखते हैं। जैसे कसाई बकरे में सिर्फ उसका माँस देखता है। चाहे वह संयुक्त परिवार की चचेरी बहन हो या क्लास की सहपाठिन या ट्यूशन पढ़नेवाली छात्रा (वही, पृ. 113, 114) सबको योन केन्द्र के रूप में। बाबा तुलसीदास ने सही कहा है—'कामहि नारि पिआरि जिमि...।' हे मदन देवता, पाँच ही शर तो है आपके तूणीर में। कितने बाणों से विद्ध किया है आपने मेरे आलोच्य नायक को कि वह आज 73 वर्ष की पकी आयु में भी आपकी शर-शय्या पर विद्ध पड़ा है। गो हाथ में जुम्बिश नहीं।

स्त्री शरीर को योन केन्द्र मानने वाली दृष्टि ही सन्तों-भक्तों को प्रेरित करती है कि वे नारी को 'नरक का द्वार' और 'महाठगिनि' आदि कुत्सित शब्दों से उपेक्षित करें। ऐसे लेखक जो स्त्री को कसाई की तरह देखते हैं, 'परिवार' नामक संस्था को कभी स्वीकार नहीं कर सकते। और अन्त में राजेन्द्र यादव इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं—"वस्तुतः औपनिवेशिक गुलामी ने हमें राष्ट्रचेतना तो दी लेकिन पारिवारिक या सामाजिक स्तर पर सामन्ती परिवर्तन को स्थगित किए रखा। बाहर स्वतन्त्रता के संघर्ष से थक-हार कर हम वापस परिवार के उसी पुराने ढाँचे में लौट आते थे और थोड़ी बहुत छटपटाहट के बाद उसी का हिस्सा बन जाते थे।—" (वही, पृ. 153) अन्यत्र यादव लिखते हैं—"मूलतः भारतीय परिवार का पुराना ढाँचा हर प्रकार के भ्रष्टाचार, घूसखोरी, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, अत्याचारों, देशद्रोह, नृशंसताओं, कूपमंडूकताओं के प्रश्रय और संरक्षण का एकमात्र केन्द्र है।" (हंस, अक्टूबर 1997)। राजेन्द्र यादव का 'विवाह' और 'परिवार' में न केवल विश्वास नहीं है बल्कि वे इन्हें ही सारी बुराइयों की जड़ मानते हैं। लेकिन वे मन्नू भण्डारी के इस प्रश्न का जवाब नहीं दे पाते कि जब उनका 'विवाह' में विश्वास नहीं था तो फिर विवाह क्यों किया? और मेरे पाठक स्मरण करें राजेन्द्र यादव की आत्मकथा में पृष्ठ 39 का, जिस पर वे दूसरे लोगों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—"हाँ, यार, लव-वव तो ठीक है, लेकिन घर वाले पीछे पड़ गए तो शादी कर लेनी पड़ी।" काव्यशास्त्र के पण्डित विचार करें कि दूसरों पर किया गया व्यंग्य कैसे स्वयं व्यंग्यकर्ता के लिए 'धिक्कार'

बन जाता है। बहरहाल, विवाह और परिवार के समाप्त हो जाने के क्या दूरगामी परिणाम हो सकते हैं इसे क्या राजेन्द्र यादव समझते नहीं हैं? विवाह और परिवार के साथ कुछ ऐसे उदात्त मूल्य जुड़े हैं जो मानव समाज को व्यवस्थित किए हुए हैं अन्यथा मनुष्य का समाज भी पशुओं की जीवनचर्या में तब्दील हो चुका होता। प्रेम, वात्सल्य, ममता उत्सर्ग, दायित्वबोध आदि मूल्य जो 'स्व' से ऊपर उठाते हैं, परिवार में ही और परिवार से ही पैदा होते हैं। ये मूल्य अगर न होते तो एक अबोध शिशु गृह और मूत में मड़िया मारते हुए दम तोड़ देता और एक अशक्त वृद्ध या वृद्धा भी। विवाह और प्रेम पर भी दुनिया भर में बहसें बहुत हुई हैं। 'काम' एक निजी जरूरत है, आत्मकेन्द्रित है। वह विवाह का स्थान कभी नहीं ले सकता। दुनिया के हर देश और जाति में विवाह तथा परिवार का अस्तित्व किसी न किसी रूप में है। जहाँ इनका अस्तित्व समाप्त हो रहा है वहाँ साहित्यकार चिन्तित हैं, समाजशास्त्री चिन्तित हैं, और वह इस व्यवस्था में लौटना चाहता है। यूरोप में जहाँ परिवार लगभग टूट चुका है, बूढ़ा सबसे दुखी प्राणी है। मानव जीवन में केवल जवानी की बहार ही नहीं होती है, बालक और वृद्ध की अशक्त अवस्थाएँ भी होती हैं। परिवार का स्वरूप तब गठित हुआ होगा जब व्यक्ति को उसकी जरूरत महसूस हुई होगी। विधि निषेध तब बने होंगे जब समाज को उनकी जरूरत महसूस हुई होगी। 'परिवार' संस्था के विरोधी अपने प्रचण्ड अभिमान में यह देख नहीं पाते कि परिवार ने ही उन्हें चलना और बोलना सिखाया है। उसके बिना वे राजेन्द्र यादव नहीं लखनऊ अजायबघर के रामू भेड़िया होते। परिवार का महत्त्व समझ में आता है जब सेक्स का नशा चढ़ा नहीं होता या वह उतर चुका होता है और एक बात पर राजेन्द्र यादव जैसे स्वघोषित स्त्री हितैषी को यह भी सोचना होगा कि पुरुष जिस आसानी से परिवार से मुक्त हो सकता है क्या स्त्री भी उसी सहजता से परिवार से मुक्त हो सकती है? क्या प्रकृति ने धारण करने जैसी अद्‌भुत शक्ति स्त्री को ही नहीं दी है और क्या प्रकृति के इस वरदान या अभिशाप ने स्त्री को बँधने के लिए मजबूर नहीं किया है?

राजेन्द्र यादव का विवाह विरोधी, परिवार विरोधी, सेक्स केन्द्रित, मुक्ति चिन्तन इस सन्दर्भ में भगवान रजनीश के चिन्तन से मिलता है। आचार्य शुक्ल ने सूर की गोपियों को पक्षियों की तरह स्वच्छन्द कहा था। यादव चाहते हैं कि संसार भर की स्त्रियाँ पुरुषों के लिए वैसे ही स्वच्छन्द हो जाएँ। लोक और समाज की दुहाई देने वाले राजेन्द्र यादव कितने व्यक्तिवादी, अहंवादी और निर्बन्ध हैं यह गौर करने की चीज है। उनका आदर्श और काम्य बोहेमियन जिन्दगी है। वे लिखते हैं, "मन्नू आरोप लगाती है कि मैं जिम्मेदारियों और जिन्दगी से भागता हूँ...मुझे लगता है, मैं जिन्दगी से नहीं, जिन्दगी में भागता हूँ। इसलिए मुझे भीड़भाड़, बड़े शहर और वहाँ की कैलेडोस्कोपिक—रंग-बिरंगी बहुत पसन्द है—कपड़ा, खाना, सोना, गप्पें सभी कुछ पसन्द हैं, जीवन का अच्छे से अच्छा रूप मोहता है, लेकिन बुरे से बुरे के साथ बिना खलिश निबाह किए जाता हूँ। चाहता हूँ, सारे संस्कारों को तोड़कर

अपने को इस समन्दर में निर्बाध छोड़ दूँ, और सच्चे अर्थों में बोहेमियन जिन्दगी जीकर देखूँ—यह क्या कि घर बसाए, मध्यवर्गीय मूल्यों को सहलाते बैठे हैं।'' (मुड़-मुड़ के देखता हूँ, पृ. 49)। राजेन्द्र यादव जो अपने लिए चाहते हैं वह दूसरों के लिए क्यों नहीं चाहते? यदि स्वयं बोहेमियन जिन्दगी जीना चाहते हैं तो फिर दूसरों की जीवन-शैली पर गुस्से में 'हंस' के धवल पंखों को बदरंग क्यों करते रहते हैं? और यदि सारा समाज उन्हीं के आदर्श पर जीना शुरू कर दे तो वह मानव समाज रह जाएगा या छुट्टा पशुओं का मैदान? हिन्दू चिन्तन में 'दमन' को 'धर्म' के दस लक्षणों में एक स्वीकार किया गया है—'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं...।' मनुष्य इतना स्वार्थी, आत्मलिप्त और इन्द्रिय-सुख के लिए स्वेच्छाचारी है कि उसके गिरने की कोई सीमा नहीं है। उसे नियन्त्रित करने के लिए ही 'दमन' का विधान किया है। क्या 'दमन' के बिना किसी भी 'व्यवस्था' की कल्पना सम्भव है? यह बात बहुत सीधी है मगर बहुत मुश्किल कि सत्य का प्रयोग अपने से शुरू होता है। ''जिसने अपना दमन नहीं किया है, अपने लिए अनुशासन को स्वीकार नहीं किया है, जो स्वयं शान्त नहीं है उसके लिए यह सम्भव नहीं कि वह दूसरे का दमन करे, दूसरे को शान्त करे।'' कहा था बुद्ध ने। देखिए, राजेन्द्र यादव अपनी परिचित छलात्कारी अदा में कैसा कुतर्क पेश करते हैं—'मैं जिन्दगी से नहीं, जिन्दगी में भागता हूँ।' 'से' और 'में' का यह छलात्कारी पाखण्ड पाठक को भ्रमित करने के लिए है। क्या जिन्दगी से भी कोई भाग सकता है? क्या जिन्दगी से भागने का दूसरा नाम 'आत्महत्या' नहीं है? क्या राजेन्द्र यादव यह नहीं जानते कि हर आदमी जो भगाता है, जिन्दगी में ही भागता है? जिन्दगी से बुद्ध भी नहीं भागे थे और शंकराचार्य भी नहीं। हाँ, राजेन्द्र यादव जरूर भाग रहे हैं।

रचनात्मक लेखन से अवकाश ग्रहण कर चुके राजेन्द्र यादव के तथाकथित वैचारिक लेखन के चार प्रमुख एजेण्डा हैं : 1. स्त्री, 2. हिन्दू धर्म, भाजपा-राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और साम्प्रदायिकता, 3. दलित, 4 अपनी क्रान्तिकारिता का प्रदर्शन। अच्छा होगा कि हमारे पाटक इन चारों मुद्दों पर एक दृष्टि डाल लें।

राजेन्द्र यादव के स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में उनकी आत्मकथा के हवाले से इस टिप्पणी में इतना कुछ कहा जा चुका है कि नारी मुक्ति का आन्दोलन चलाने वाली उनकी मानसिकता से पाठक पूरी तरह परिचित हो चुके होंगे। नारी मुक्ति का अर्थ उनके लिए सेक्समुक्ति और अपने लिए मुक्ति है, जिसे वे एक समानान्तर छलात्कारी जीवन जीते हुए मीता और मन्नू से प्राप्त करते रहे और आज भी 'हंस' के माध्यम से प्राप्त कर रहे हैं। 'हंस' के कुछ अश्लील कहानियों और चित्रों का तो पाठकों द्वारा विरोध भी हो चुका है। और मई '99 में प्रकाशित 'हंस' के अश्लील स्केचों के बारे में राँची के एक अखबार 'अपना मोर्चा आवाज' ने अपने 16 मई, 1999 के अंक में बाकायदा एक लेख ही लिखा है जिसका शीर्षक है—'राजेन्द्र यादव का पाखण्ड'। नारी मुक्ति का आन्दोलन चलाने वाले राजेन्द्र यादव मीता से इसलिए विवाह नहीं करते कि वह 'दबंग, अक्खड़ और डामिनेटिंग है।'' (तद्भव, अंक 6, पृ. 24) अब

पाठक जरा इन तीनों शब्दों के विपरीतार्थक शब्द ढूँढ़ें। "दब्बू, लिजलिजी और पिछलग्गू या अनुगामिनी"—यही हुआ न? अब आप देखें कि राजेन्द्र यादव के अपने मन में आदर्श स्त्री की क्या छवि है। नारी मुक्ति से इनका रूहानी मतलब ऐसे ही स्त्री समाज के निर्माण से है। क्या राजेन्द्र यादव को यह ज्ञात नहीं है कि प्रेम और रोमांस क्षुधा तृप्ति के बाद की स्थितियाँ हैं। और क्या यादव की आत्मकथा प्रमाण नहीं है कि आदमी तो रोमांस के आकाश में तैर रहा है। काहे का संघर्ष और काहे की क्रान्ति? यादव खुद इसे स्वीकार करते हुए लिखते हैं, "मैं ईमानदारी से अपने आपसे पूछता हूँ कि क्या सचमुच तेरी लेखकीय जिन्दगी का स्वर्णकाल सिर्फ मीता, स्नेह जी, दीदी, मन्नू या ऐसे ही दो-एक और सम्बन्धों के आसपास ही घूमता रहा है? क्या मेरे मानसिक क्षितिज पर केवल यही नारी नक्षत्र जलते-बुझते रहे हैं? कहीं और कुछ नहीं है? न जीवन और जीविका के संघर्ष, न पारिवारिक, सामाजिक और वैचारिक चिन्ताएँ, न लेखन और कला की समस्याएँ—आखिर वे सब भी तो थे ही। मगर क्या वे सिर्फ आती-जाती मायाएँ थीं? केवल बौद्धिक छलाँगें? या इस सारी भटकन के लिए जस्टिफिकेशन? मूल और स्थायी संचालक शक्तियाँ क्या यही चार-पाँच महिलाएँ हैं और इन्हीं के इशारों पर मैं मरकट की नाईं नाचता रहा हूँ? क्या हुआ देश, समाज और भविष्य को लेकर की जाने वाली रात-रात भर की बहसों, आन्दोलनों और सिरफोड़ लेखन का? अध्ययन और किताब-दर-किताब चाटने वाले पढ़ाके का, पत्र-पत्रिकाओं में चलने वाले सिरफुटौव्वल का? लिखने और छपने की आपाधापी का? क्या वह सब चेतना की ऊपरी सतहों पर आने और गुजरने वाली परछाइयाँ भर थीं? तब फिर अपने भीतर झाँकने पर क्यों यही दो-चार चेहरे उभर कर आते हैं?" (तद्भव, अंक 6, अक्टूबर 2001, पृ. 14-15) राजेन्द्र यादव की यह स्वीकृति एक बहुत ईमानदार स्वीकृति है। ऐसी स्वीकृतियाँ उनकी आत्मकथा में विरल हैं। मगर यादव के साथ मुश्किल यह है कि ऐसे ईमानदार क्षणों पर वे क्षण भर ही ठहर पाते हैं। असल में इस तह के नीचे भी उनके भीतर एक तहखाना है जहाँ एक छन्नाल्कारी रहता है। जो असली राजेन्द्र यादव है। जो अपने बचाव के लिए तत्काल अपने तरकश से एक तीर निकाल लेता है और अपना सारा दोष समाज पर, दूसरों पर बड़े लोगों का मढ़कर मुक्त हो जाता है।

राजेन्द्र यादव का दूसरा एजेण्डा है—धर्म, हिन्दूधर्म, भाजपा—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, साम्प्रदायिकता आदि। यादव अपने को मार्क्सवादी मानते हैं। मार्क्सवादी भौतिकवादी दर्शन है अतः धर्म से उनका बुनियादी विरोध है। मार्क्स ने धर्म मात्र को अफीम कहा, उनकी यह बात समझ में आती है। यहाँ मुझे मार्क्स की विचारधारा पर कुछ नहीं कहना है, वह एक अलग लेख का विषय है। हमारे आलोच्य नायक राजेन्द्र यादव अपनी टिप्पणियों में 'धर्म' पर बहुत ही कम बोलते हैं, ज्यादा से ज्यादा बड़बड़ाते हैं हिन्दू धर्म और हिन्दू धर्म से ज्यादा बौखलाते हैं भाजपा-राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर। उनकी इस सन्दर्भ की टिप्पणियों का जो समवेत स्वर उभरता है उससे जाहिर होता

है कि उनकी दृष्टि में 'धर्म' का अर्थ है 'हिन्दू धर्म' और हिन्दू धर्म का अर्थ है 'भाजपा-आर. एस. एस.' या 'हिन्दुओं का कर्मकाण्डी रूप'। अब यादव जी इस समझदारी का क्या करेंगे?

अव्वल तो यह कि राजेन्द्र यादव मार्क्सवादी नहीं हैं। यदि भीतर से मार्क्सवादी होते तो सारी दुनिया में मार्क्सवादी मॉडेल के ध्वस्त हो जाने के बाद कम से कम दो-चार लेख ऐसे आत्ममंथन के जरूर लिखते जिनमें मार्क्सवाद के पतन के कारणों की गहराई से जाँच-पड़ताल की गई होती। लाखों लोगों की हिंसा के बाद जो लौह मॉडेल बना वह सत्तर वर्षों में ही क्या ईंट-गारे की तकनीकी कमजोरियों से ढह गया या कि उसमें मार्क्स सिद्धान्तों की भी कोई खोट है? यह एक बहुत गम्भीर प्रश्न था और बहुत ही जरूरी जिस पर 'हंस' पर शेखी बघारने वाले राजेन्द्र यादव को जरूर लिखना चाहिए था। बहरहाल, काल अनन्त है, कोई तो इस पर विचार करेगा लेकिन राजेन्द्र यादव ने क्यों नहीं विचार किया, इसका कारण हमारे पाठक जान लें। पहला तो यह कि वे विचार कर ही नहीं सकते क्योंकि वहाँ विचार की उतनी स्वतन्त्रता नहीं है। दूसरे यह भी कि मार्क्स के विरोध में विचार करते ही लेखक और विचारक नहीं माने जाते। हिन्दी समाज में कुछ ऐसा ही रस्मोरिवाज है। यहाँ जो मार्क्सवादी है वही प्रगतिशील है, वही जनपक्षधर, वही विचारक और बुद्धिजीवी तथा वही क्रान्तिकारी। ययास्ति वित्तम् स नरः कुलीनः स पंडितः स श्रुतवान गुणज्ञः। भला राजेन्द्र यादव जैसा आत्मलिप्त व्यक्ति इतना बड़ा खतरा कैसे मोल ले सकता था। मटियानी प्रसंग में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, "मटियानी का हिन्दुत्ववादी होना कथाकार के रूप में उनके मूल्यांकन की सबसे बड़ी बाधा बन बैठा।" (हंस, जून 2001, सम्पादकीय) और मटियानी के साथ जो हुआ राजेन्द्र यादव स्वयं दूसरों के साथ किस हिमाकत से करते हैं, यह भी देख लीजिए।

'राष्ट्रीय सहारा' के 26 मई 2002 के अंक में राजेन्द्र यादव का एक लेख छपा है, 'चुनो, कि तुम किधर हो।' इसमें लिखते हैं, "राजकमल प्रकाशन की ओर से 'लेखक से मिलिए' कार्यक्रम हुआ। इस बार यह भीष्म साहनी के बाद निर्मल वर्मा पर केन्द्रित था। मैंने इसका विरोध ही नहीं किया, मित्रों से आग्रह किया कि हमें इसका बहिष्कार करना चाहिए।" श्री यादव ने आगे लिखा है कि उन्होंने फोन पर इस आयोजन के संचालक सुधीश पचौरी से कहा कि उन्हें इस संचालन के लिए तैयार नहीं होना चाहिए। अब पाठक इस घटना के सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव की तानाशाही मानसिकता पर गौर करें। क्या यह वही फासीवादी मानसिकता नहीं है जो लेखकों को देश से निष्कासित करती है और उनकी कृतियों को प्रतिबंधित करती है? अपने इसी लेख में वे राजकमल प्रकाशन के वर्तमान प्रबन्ध तन्त्र को भी दोषी ठहराते हैं। अगर अशोक माहेश्वरी के सरोकार उनके सरोकारों के विरुद्ध पड़ते हैं तो उनसे अपनी पुस्तकें क्यों छपाते हैं? क्यों 'हंस' में ऐसे पूँजीतन्त्र से पैसा लेते हैं जिनसे 'हंस' के सरोकार भिन्न हैं?

बहरहाल, मूल प्रसंग पर आइए। राजेन्द्र यादव यदि मार्क्सवादी होते तो सभी

धर्मों की समान रूप से भर्त्सना करते। उन्हें शायद ईसाई, इस्लाम, पारसी, सिख आदि सभी धर्मों का इतिहास भी ज्ञात है और उनका संघर्ष भी। वे सभी के मूल ग्रन्थों के बारे में भी मोटी-मोटी बातें जानते हैं। सबकी संकीर्णताओं और कट्टरता से भी परिचित हैं। लेकिन उनके एजेण्डा पर हिन्दू धर्म है। स्त्री ग्रन्थि की तरह यह भी उनकी ग्रन्थि है। अपने लगभग सभी सम्पादकीयों में वे इस पर इतनी बार प्रहार करते हैं कि उबकाई आने लगती है। क्या राजेन्द्र यादव अन्य धर्मों को हिन्दू धर्म से बेहतर मानते हैं? यदि नहीं तो सभी धर्मों को अपना निशाना क्यों नहीं बनाते? लेकिन उनके सामने तो मूल लक्ष्य भाजपा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ होता है। क्या 'हिन्दू' होने का अर्थ भाजपा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का सदस्य होना है? क्या भारत के लाखों-करोड़ों हिन्दू दंगाई हैं? क्या भारत का बहुसंख्यक हिन्दू कर्मकाण्डी और पोंगापंथी है? क्या उन सबकी जीवन पद्धति और भारत की समाज व्यवस्था मनुस्मृति से संचालित हो रही है? अगर नहीं तो फिर हिन्दू धर्म को गालियाँ न देकर वे सिर्फ उसके आडम्बरी-कर्मकाण्डी-कट्टरतावादी नकारात्मक पक्ष पर ही प्रहार करते और साथ ही इस्लाम-इसाई आदि अन्य धर्मों पर भी, तो उनके सम्पादकीय एक सन्तुलित लेखक के विचार लगते, किसी भीतरी राजनीति से प्रेरित बयान नहीं जैसे कबीर ने दोनों धर्मो के मौलवियों-पण्डितों और बाह्याडम्बरों पर प्रहार किया और उस समय किया जब देश में इस्लामी शासन था। राजेन्द्र यादव हिन्दू मिथकों और धर्मग्रन्थों को तो गाली देते हैं पर इस्लाम को इसलिए नहीं दे सकते कि फिर उनका दिल्ली में रहना मुश्किल हो जाएगा। फिर कैसे निकलेगा 'हंस' और कैसे सजेगा दरबार। यह बुनियादी कायरता जिसे अपनी आत्मकथा में उन्होंने 'असुरक्षाबोध' कहा है (दे. पृ. 133) उन्हें स्वतन्त्र विचारक नहीं बनने दे सकी। और अब तो बहुत देर हो चुकी है।

राजेन्द्र यादव अब बूढ़े हो चले हैं, उन्हें 'धर्म' का अर्थ समझाने की जरूरत नहीं है। फिर भी इतना स्मरण करा देना जरूरी है कि 'महाभारत' और 'मनुस्मृति' में धर्म की जो परिभाषा की गई वह यह है–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः
धीर्विद्याः सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।

अर्थात् धर्म के दस लक्षण हैं–धीरज, क्षमा, दमन, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, विद्या, सत्य और अक्रोध। अब राजेन्द्र यादव बतावें कि किसी भी मनुष्य के जीवन और समाज की व्यवस्था को चलाने के लिए ये दसों अनिवार्य हैं या नहीं? और यह भी बतावें कि इनमें कर्मकाण्ड, बाह्याडम्बर और कट्टरता कहाँ है? धर्म के इन दस लक्षणों में तो स्वयं 'ईश्वर' या 'वेद-विश्वास' भी नहीं है। तो फिर उन्होंने 'धर्म' का अर्थ क्या समझा है? कर्मकाण्ड? कट्टरता? बाह्याडम्बर? साम्प्रदायिकता? यदि उनकी 'धर्म' सम्बन्धी समझदारी यह है तो वे 'धर्म' और 'अधर्म' में अन्तर किस विवेक से करेंगे? यह बात बहुतों द्वारा और दूसरे धर्मों के विचारकों द्वारा भी स्वीकार की गई है कि संसार के सारे धर्मों में हिन्दू धर्म सबसे ज्यादा सहिष्णु, उदार और समावेशी है इसमें 'ईश्वर' को न मानने वाला भी 'हिन्दू' होता है और 'वेद' पर न

विश्वास करने वाला भी। इन्हीं विशेषताओं को मैं हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता मानता हूँ और यह भी स्वीकार करता हूँ कि जो लोग भी हिन्दू धर्म की इस विलक्षण विशेषता को नष्ट करने और उसे कट्टर बनाने में लगे हैं वे हिन्दुत्व के दुश्मन हैं। राजेन्द्र यादव बखूबी जानते हैं कि हमारे समय का भारतीय समाज 'मनुस्मृति' या धर्मग्रन्थों से नियन्त्रित संचालित नहीं हो रहा है। बल्कि वह विज्ञान, उपभोक्तावाद-बाजारवाद और अधकचरे पश्चिमी चिन्तन की आँधी में बह रहा है। उसके आदर्श धर्मग्रन्थ या मिथक नहीं हैं बल्कि अपने समय के राजनीतिक नेता, अर्थ पिशाच और गुण्डे हैं। इन सबके विरुद्ध यादव की आग उगलना चाहिए। किसी एक पार्टी का वकील बनकर लेखक की विश्वसनीयता खत्म नहीं करनी चाहिए।

दुनिया का हर मनुष्य किसी न किसी धर्म में पैदा हुआ है और यह भी सत्य है कि उसे मनुष्य भी धर्म ने ही वनाया है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन च...वाले श्लोक में 'धर्म' को ही विशेष बताया गया है जो मनुष्य और पशु में विभाजक रेखा का काम करता है। धर्म ही जीने और सोचने का सलीका सिखाता है। नीति-अनीति, सत-असत, मंगल-अमंगल, मनुष्यता और पशुता की अवधारणाएँ धर्म द्वारा ही रेखांकित की गई हैं। जो सचमुच धार्मिक है वह कभी भी साम्प्रदायिक, जातिवादी और पाखण्डी नहीं हो सकता। वह कभी वित्तेषणा और लोकेषणा के पीछे पागल नहीं हो सकता। कभी किसी सत्ता के आगे समर्पण नहीं कर सकता। कभी अपने अभिमान के नाग को फन उठाने नहीं दे सकता। इसके पर्याप्त उदाहरण हिन्दी के ही सन्त भक्त कवि हैं। उर्दू के तमाम शायर हैं। लेकिन राजेन्द्र यादव तो 'धर्म' का अर्थ वही समझते हैं जो मुल्ला-मौलवी और पोंगा पण्डित या चाकूबाज सिरफिरे लड़के समझते हैं। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में भी उन्हें वही-वही पंक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं जो मनुष्य विरोधी हैं। ठीक उस गृद्ध पक्षी की तरह जिसकी दृष्टि सभी पक्षियों से तेज होती है लेकिन इस अपूर्व प्रकृति में देखता है वह सिर्फ सड़ा हुआ माँस। हिन्दू मिथकों के बारे में जब राजेन्द्र यादव लिखते हैं तो लगता है कोई मंदबुद्धि बालक या गदहपचीसी वाला युवक लिख रहा है। जिस विषय पर दुनिया के बड़े-बड़े विचारक विचार कर चुके हों उस पर राजेन्द्र यादव की खिलवाड़ी टिप्पणियाँ हास्य भी नहीं पैदा करतीं। मिथकों ने मनुष्य को कितनी शक्ति दी है, कितनी बार उसने गिरने और टूटने से बचाया है, कितनों को हत्या से, आत्महत्या से, विक्षिप्तता से, अँधेरी गलियों में भटकने से रोका है और कितनों को महान क्रान्ति की प्रेरणाएँ दी हैं, अंधेरे में प्रकाश की किरण और अशरण को शरण दिया है यह गम्भीर अध्ययन का विषय है। राजेन्द्र यादव के लिए भले ही यह मजाक उड़ाने का विषय हो।

मार्क्स ने धर्म को अफीम इसलिए कहा कि उनके अनुसार, वह वर्ग-क्रान्ति में बाधक था। राजेन्द्र यादव क्या वर्ग की अवधारणा और उसके स्वरूप निरूपण को अन्तिम मानते हैं? क्या हर मानवीय सम्बन्ध के केन्द्र में वर्ग-भावना कारक होता है? क्या दुनिया का कोई भी समाज मार्क्सवादी व्यवस्था में भी वर्गविहीन रहा है? धर्म और जाति के आधार पर तो नहीं विद्या, पद, सत्ता, लिंग और कर्म के आधार पर

क्या सर्वत्र वर्ग भेद नहीं रहे हैं? ऐसा क्यों हुआ है? मैंने शुरू में ही लिखा है कि यदि राजेन्द्र यादव सचमुच मार्क्सवादी होते तो इन कारणों पर उन्होंने जरूर विचार किया होता।

राजेन्द्र यादव का तीसरा एजेण्डा है दलित। वैसे तो हिन्दू धर्म, धर्म ग्रन्थों और मिथकों को गाली देने से ही उनका यह एजेण्डा बहुत कुछ पूरा हो जाता है फिर भी क्रान्तिकारी दिखने और लेखकों के एक वर्ग की नेतागिरी करने के तीव्र आकर्षण में वे दलित साहित्य पर भी चर्चा करते रहते हैं। आजादी के बाद भारतीय राजनीति में जाति को आधार बनाकर जिस तरह वोट बैंक बनाकर जनता और लोकतन्त्र को छला गया है उसी प्रकार का प्रयास साहित्य में राजेन्द्र यादव ने करने की कोशिश की है। विडम्बना तो यह है कि स्वयं दलित लेखकों ने भी इसे राजेन्द्र यादव का पाखण्ड ही माना है। अपनी एक टिप्पणी में श्योराज सिंह बैचेन लिखते हैं, "यदि 'हंस' लोकतान्त्रिक है तो उसके हर अंक में 24 पृष्ठों के लेखक केवल दलित होने चाहिए और जो गैर दलित खुद को दलित बताकर दलितों के स्थान घेरते हैं तो उनसे मजिस्ट्रेट द्वारा जारी जाति-प्रमाणपत्र देखने की प्रथा होनी चाहिए। 'हंस' में छपने वाले दलित कहानीकार, कवि या टिप्पणीकार कुछ भी हो सकते हैं। परन्तु सम्पादकजी की कथनी जैसे 'हंस' में दलितों के लिए जगह का निर्धारण नहीं है।" (हंस, अप्रैल 20001, पृ. 52) 'हंस' पर यह टिप्पणी उचित है। अपनी शेखियों के अनुरूप यादव को हंस में स्त्री और दलित को समुचित प्रतिनिधित्व देना चाहिए और उनकी कसौटी रचना नहीं बल्कि जाति और लिंग होना चाहिए। या उन्हें स्पष्ट कर देना चाहिए कि उनकी कसौटी क्या है—रचना, जाति, लिंग या क्या?

केवल क्रान्तिकारी और अगिनबोटी विचारों से सामाजिक यथा-स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ करता। तर्क सरणियाँ अपने रास्ते चलती रहती हैं और लोकजीवन अपनी दैनंदिन जरूरतों से प्रेरित-परिचालित होता रहता है। दुनिया के बड़े-बड़े विचारकों के उपदेश इसीलिए निष्फल साबित होते रहे हैं। इस दुनिया में इतनी तरह की संस्कृतियाँ हैं, इतनी तरह की समाज व्यवस्थाएँ, इतनी तरह की जटिल मानसिक प्रवृत्तियाँ कि इन्हें बदलने में कोई एक विचार दर्शन कामयाब नहीं हो सकता। जब वनस्पतियाँ तक अपने लिए उपयुक्त मिट्टी, हवा, पानी चाहती हैं तो विचारों के पौधे प्रतिकूल जलवायु में कैसे पनप सकते हैं? दूसरी बात जिसे कई बार दुहरा चुका हूँ वह यह कि जो तत्वज्ञान कर्म में न बदला जा सके वह पाखण्ड के रूप में जीवित रहेगा। चाहे वह भारतीय हो या पाश्चात्य। एक छोटा-सा उदाहरण है कि काले और पपड़ी पड़े होंठों में भी सौन्दर्य देखने की जरूरत है। लेकिन ऐसा कहनेवाले को यदि अपनी प्रेमिका का चुनाव करना हो तो वह अपने लिए किसी काली-कलूटी, कुरूप, विकलांग, ठिगनी लड़की को नहीं चुनेगा? कहाँ गए उसके सौन्दर्य के परिवर्तित मानदण्ड? यह विचार और यथार्थ का अन्तर है। 'यथार्थ' की बात बहुत की जाती है पर व्यवहार सामन्ती और बुर्जुआ हुआ करता है। तीसरी बात यह कि लाखों की हिंसा के बाद संगीनों के साये में जो समाज व्यवस्था परिवर्तित हो वह स्थायी कैसे हो सकती है? स्थायी

परिवर्तन के लिए रास्ते दूसरे हैं मगर उनके लिए सन्तुलन, निरभिमान समर्पण और सविनय संघर्ष लम्बा तकलीफदेह रास्ता है। मनुष्य जाति के भीतर मनुष्यता अभी मरी नहीं है। यदि ऐसा न होता तो यह समाज चल नहीं सकता था। जरूरत उस मनुष्यता को जीवित रखने और जाग्रत करने की है। साहित्यकार, विचारक और समाजसुधारक की यही सबसे बड़ी जिम्मेदारी होती है। राजेन्द्र यादव आत्मपरीक्षण करें कि इस जिम्मेदारी को कितनी पूरी कर रहे हैं।

राजेन्द्र यादव पर पश्चिमी लेखकों और पश्चिमी विचारकों का भूत सवार रहता है। उत्तर आधुनिक चिन्तकों और एडवर्ड सईद आदि खास तौर से। उन्हें अब तक यह समझ में नहीं आया कि मीडियाई विद्वानों की तुलना में गाँव का एक निरक्षर सीधा-सादा किसान भी यदि सत्य कहता है तो वह सत्य ही होगा। राजेन्द्र यादव 'भारतीयता', 'परम्परा', 'महान' और 'शाश्वत' जैसे शब्दों की खिल्ली उड़ाते हैं। यादव के विरुद्ध भी दुनिया के बहुत से बड़े लेखकों-विचारकों और उनकी पुस्तकों के नाम गिनाए जा सकते हैं मगर मेरे पाठक ही विचार करें कि किसी देश, जाति या व्यक्ति को उसके अतीत की महानता के भ्रम में कितने दिन रखा जा सकता है? क्या किसी के पूर्वजों की सम्पन्नता का बखान करके उसे भूख, प्यास और नींद से मुक्त किया जा सकता है? आदमी को गौर से देखिए, हर आदमी अपने वर्तमान में रहता है। अतीत में कुछ देर के लिए ही उसे आप ले जा सकते हैं और अतीत में भी उसी व्यक्ति को ले जाया जा सकता है जिसका सचमुच कोई अतीत हो। क्या राजेन्द्र यादव की दृष्टि में भारत का कोई अतीत नहीं है? क्या इस तथ्य को स्वीकार करना अतीत राग है? अगर विदेशी पण्डितों ने भारतीय मूर्खों को अतीतजीवी बना दिया तो फिर आजादी की लड़ाई कैसे लड़ी गई? वह हासिल कैसे हुई? इतने सारे वैज्ञानिक विकास कैसे हुए? वह सचमुच 'महान' और 'शाश्वत' है। राजेन्द्र यादव का निष्कर्ष यह है कि भारत के लोग आध्यात्मिकता के चक्कर में भौतिकता की उपेक्षा करते रहे। यह बात कुछ सही है। मगर वे चाहते क्या हैं? क्या भारत को भी आज के उपभोक्तावादी भौतिक दौड़ में शामिल होकर भूमण्डलीकरण और बाजारवाद का हिस्सा बन जाना चाहिए? राजेन्द्र यादव का विकास का मॉडल क्या है? क्या अधिक से अधिक उत्पादन और अधिक से अधिक उपभोग? क्या यही उनके विकास की कसौटियाँ हैं? क्या भौतिक विकास के साथ आध्यात्मिक शून्य उनका आदर्श है? फिर इसमें उस मूल्यपरक नैतिक संवेदना का क्या होगा जो कि भारतीय मन की संरचना की विशेषता है। राजेन्द्र यादव का यह सोच किन निष्पत्तियों तक पहुँचता है? Life means more तक ही न? "हमें भोगने के लिए कोई और जीवन नहीं मिलने वाला। यही मिला है, इसलिए असीम भोग।" यही तो भौतिक उपभोक्तावादी दृष्टि है। यही दृष्टि तो नारी को और सब कुछ को भोग्य मानती है। यहाँ तक कि प्रकृति और पर्यावरण को भी। फिर क्या यही राजेन्द्र यादव का इष्ट और पक्ष है? वैसे सच्चाई यह है कि भारत उस अर्थ में आध्यात्मिक नहीं है जिस अर्थ में विदेशियों द्वारा उसे प्रचारित किया गया है और उनसे प्रभावित राजेन्द्र यादव द्वारा किया जा रहा है। राजेन्द्र यादव का चिन्तन यदि औपनिवेशिक

दासता से मुक्त होता तो उसका प्रस्थान और निष्कर्ष कुछ दूसरा होता।

राजेन्द्र यादव की तर्कशक्ति बहुत प्रबल है। वे झूठ को भी अपने तर्कों द्वारा सच साबित कर सकते हैं—करते ही रहते हैं। ठगों की कहानी आप जानते ही हैं कि किस प्रकार उन्होंने एक बकरे को कुत्ता साबित कर दिया। राजेन्द्र यादव के अधिकांश सम्पादकीय ठगी और कुतर्क के उम्दा उदाहरण हैं। उनके पास हर आरोप की काट है। मसलन, यदि आप उन पर आरोप लगाते हैं कि पुरस्कारों का विरोधी होने के बावजूद उन्होंने बिहार सरकार का पुरस्कार क्यों लिया, तो वे उत्तर देंगे "द्रोणाचार्य ने अपने बेटे की भुखमरी से व्यथित होकर कौरवों का आचार्य होना स्वीकार किया। राणा प्रताप ने जब देखा कि उनके बच्चे घास की रोटी खा रहे हैं तो उन्होंने अकबर को सन्धि के लिए पत्र लिखा। तो इस तरह की स्थितियों में कमजोरी आ सकती है। मैं 'हंस' के लिए दो-चार हजार के विज्ञापन और सहयोग माँगता रहता हूँ। मुझे लगा कि अगर मैं किसी माध्यम से एक साथ कुछ पैसा लेता हूँ तो बुरा क्या है? लगता जरूर है कि मैं गलत कर रहा हूँ, लेकिन अपने लिए नहीं कर रहा।" (अकार, पृ. 137) देखिए, कितनी ऊँचाई से उन्होंने अपने को द्रोणाचार्य और राणा प्रताप से जोड़ लिया और साथ ही बड़ी बारीकी से अपने को 'हंस' से अलग भी कर दिया। सवाल पुरस्कार लेने का नहीं है। पुरस्कार लेने के कारण राजेन्द्र यादव पर कोई आरोप नहीं लगता यदि वे पुरस्कार लेने वाले लेखकों को बेईमान न समझते और उनसे अलग अपनी एक निर्लोभी छवि गढ़ने की कोशिश न करते लेकिन वे तो अपनी अति परिचित अदा में अपने से यह सवाल करते हैं—"आप क्यों नहीं मानते हैं कि जरूरत न तो भीष्म को है, न नामवर को, न अजित कुमार को है, न कमलेश्वर को, न मनोहर श्याम जोशी को। सभी के बेहद संक्षिप्त परिवार हैं और वे सभी व्यवस्थित हैं। हाँ, शायद इन सबको न जाने कितने भाई-भतीजे फिट करने हैं, नाती-पोतों के भविष्य बनाने हैं, झूठ-सच, कंजूसी-कमीनापन और दुनियाभर की पंचायतें करनी हैं। वाइस चांसलर, गवर्नर, एम. पी., पी. एम. बनना है, यानी सभी कुछ वह करना है, जो हर्षद मेहता, नटवर लाल या हाजी मस्तान को करना है...इसलिए बेहद बचा-बचाकर बोलते हैं, हर सही-गलत के लिए दर्शन और दृष्टिकोण गढ़ते हैं, हर उठती हुई लहर पर सवार हैं और दौड़ रहे हैं अपनी ही पूँछ पिछुआते टामी या टीपू की तरह...यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ, हर पुरस्कार, हर सम्मान और हर कन्धा हमें चाहिए—चाहे इसके लिए कितनी ही नगेन्द्री ऊँचाई तक क्यों न जाना पड़े...अरे सब इतनी हाय-हाय क्यों मचाए हैं? मान लीजिए, दस-पचास लाख छोड़ भी गए तो क्या बच्चे आपके लिए ताजमहल बनवा देंगे?" (मुड़-मुड़ के देखता हूँ, पृ. 165)

देखिए, राजेन्द्र जी किस कुंठित निर्लज्जता से भीष्म साहनी, नामवर सिंह, अजित कुमार, कमलेश्वर और मनोहर श्याम जोशी जैसे लेखकों को हर्षद मेहता, नटवर लाल और हाजी मस्तान की बराबरी में बैठाते हैं तथा उन्हें टामी और टीपू कुतिया-कुत्ता से तुलनीय मानते हैं। इतना ही नहीं अपनी भीतरी लिप्सा भी व्यक्त कर देते हैं कि

हाय, कोई उनके मरने पर ताजमहल बनवा देता। दूसरी ओर देखिए कि राजेन्द्र जी किस बेशर्मी से अपने को इतिहास के किन महान पुरुषों के साथ जोड़ते हैं—"आप भी जानते हैं कि अपने सम्पादकीयों में आप कोई नया तीर नहीं मार रहे—सिर्फ आत्मालोचना और विश्लेषण के उसी सिलसिले को बनाए हुए हैं जिसकी शुरुआत, कबीर, राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिम, रवीन्द्रनाथ, विवेकानन्द, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, भगत सिंह, राहुल, लोहिया, महात्मा गांधी, फुले या अम्बेडकर ने की थी...देखकर ऐसा लगता है कि जड़ हिन्दू मानसिकता आज भी वहीं है।" (मुड़ मुड़ के देखता हूँ, पृ. 168) जब राजेन्द्र जी इतने महान पुरुषों के अधूरे कार्य को पूरा कर रहे हैं तो फिर शेखी बघारने की जरूरत नहीं थी लेकिन वे इसकी भी जरूरत महसूस करते हैं, "यह मैं शेखी से कहता हूँ कि पन्द्रह साल बिना एक इश्यू छोड़े हिन्दुस्तान की किसी भी भाषा में आज तक किसी ने ऐसी पत्रिका नहीं निकाली। कोई दो साल में, कोई पाँच साल में बन्द हो गई। 'हंस' को यह श्रेय सिर्फ मित्रों के बल पर है। इस पर मन्नू से बहुत बार बात होती है। मेरा कहना है बेग, बारो और स्टील...मुझे 'हंस' निकालना है, भीख माँगू, उधार लूँ या चोरी करूँ, मुझे तो हंस चलाना है। मेरे सामने साफ है कि मैं इस पत्रिका को जिलाए रखने के लिए सब कर रहा हूँ। 'हंस' के कारण प्रेमचन्द भी जाकर बम्बई में नौकरी करने लगे थे, उन्होंने भी फिल्मों के लिए लिखा...उस समय उन्हें पन्द्रह सौ महीने मिलते थे। उस समय बारह रुपये महीने में छोटा-मोटा परिवार चलता था। वे पन्द्रह सौ आज के डेढ़ लाख रुपये के बराबर हैं।" (अकार, नवम्बर 2001, पृ. 137)। राजेन्द्र यादव की शेखी नहीं जरा बेहयाई देखिए कि भारतेन्दुकाल की महान साहित्यिक पत्रकारिता को 'हंस' जैसे व्यावसायिक पत्र के सामने किस तरह खारिज कर दिया। क्या उन्हें पता नहीं है उस समय किस संघर्ष में पत्रिकाएँ निकल रही थीं, कैसे एक-एक लेख पर प्रेस ऐक्ट की मार सहनी पड़ती थी, कैसे सम्पादकों को जमानतें भरनी पड़ती थीं, क्यों बीच-बीच में पत्रिकाएँ बन्द हो जाया करती थीं। फिर भी वे कुछ-कुछ अन्तरालों पर शक्ति बटोर कर फिर शुरू हो जाती थीं। 'हिन्दी प्रदीप' इसी तरह 32 वर्षों तक निकला। आज भी बहुत-सी पत्रिकाएँ 'हंस' से ज्यादा दिनों से और नियमित निकल रही हैं। बिना कोई इश्यू छोड़े। और हिन्दी में ही। हिन्दुस्तान की तो बात ही छोड़िए। हाँ, उनके सम्पादक इस पर शेखी नहीं बघार रहे हैं। देखिए, कि अपने वक्तव्य के अन्त में चलते-चलते राजेन्द्र जी ने प्रेमचन्द को भी सन्देह के घेरे में ढकेल दिया। अब कोई पूछे कि आपको 'हंस' क्यों निकालना है तो राजेन्द्र जी कहेंगे क्योंकि "मुझे बुद्ध से लेकर अम्बेडकर तक के अधूरे कार्य को आगे बढ़ाना है।" पर असली सच्चाई यह है कि यदि 'हंस' बन्द हो जाए तो फिर उनके शेखी बघारने का आधार क्या होगा? फिर भी राजेन्द्र जी का आग्रह यही है कि वे और पत्रिका दोनों अलग-अलग हैं। खैर राजेन्द्र जी तर्कशास्त्री हैं, हर चीज के लिए उनके पास तर्क तैयार हैं। अपनी आत्मकथा में वे सही लिखते हैं, "आदमी शायद हर समझौते या नीचता के लिए पहले तर्क

गढ़ता है ताकि अपने सामने सही बना रह सके। हत्या करने के लिए भी उसे 'सत्य का पक्षधर' होने का आश्वासन चाहिए। मगर अपने ही अन्तर्विरोधों की कचोट लेखक को सबसे अधिक नहीं छीलती? क्या वह अपने से यह सवाल भी पूछना बन्द कर देता है कि उसे क्यों वह चाहिए जो उसे अपने ही आदर्शों के सामने झूठा कर देता है?" (मुड़ मुड़ के देखता हूँ, पृ. 165) राजेन्द्र जी को कौन बतावे कि सवाल वही पूछता है और कचोट भी उसी में उठती है जिसमें 'वह' जीवित रहता है जिसे आस्तिक 'आत्मा' कहते हैं। नास्तिक 'नैतिक संवेदनशीलता'। राजेन्द्र जी में दोनों नहीं हैं। यदि है तो केवल अपना स्व अर्थ जिसे स्वार्थ कहते हैं। हंस इसी का मूर्त रूप है। राजेन्द्र जी के साथ यही मुश्किल है। अब उस महाप्रकृति पर तो उनका विश्वास भी नहीं है जिसने उन्हें सहज हृदय दिया ही नहीं। तर्क के निरन्तर अभ्यास ने उन्हें त्रिभंगी लाल बना दिया है। 'दुःखी होहुँगें सहज चित् बसत त्रिभंगी लाल।" अपने अन्तर्विरोधों को डीफेंड करने वाले ऐसे लेखक हिन्दी में बिरले मिलेंगे।

राजेन्द्र यादव के सम्पादकीयों और वैचारिक टिप्पणियों की सबसे बड़ी विशेषता है उनके अहंकार का प्रदर्शन। वे दुनिया भर के लेखकों-पुस्तकों-किरदारों का हवाला देते हुए अपने पढ़ाकू होने का आतंक पैदा करते हैं। अपने को सबसे बड़ा विचारक, क्रान्तिकारी, जनता के पक्षधर मानते हैं और दूसरों को उतना ही मूर्ख। यह एक प्रकार का दिमागी रोग है। उसे हीनता ग्रन्थि कहें या प्रभुत्व ग्रन्थि, तानाशाही-सामन्ती संस्कार कहें या अहंकार का विस्फोट या लेखकीय काया में नेता की प्रेतात्मा या जैसे कि मन्नू जी ने कहा है 'अति विशिष्ट होने की चिरकामना' या इन सबका मिला-जुला रूप—इसे तय तो पाठक ही करेंगे। यादव जब कलम उठाते हैं तो आवेश में उनका दिमागी सन्तुलन इस कदर गड़बड़ा जाता है कि अनेक विषयों और प्रश्नों का घालमेल हो जाता है और उनके बयान स्वयं में अन्तर्विरोधी और अतार्किक हो उठते हैं। कभी-कभी वे स्वयं अपने मन में समस्याएँ गढ़ लेते हैं और दूसरे पक्ष को गलत ढंग से प्रस्तुत करते हुए अपना फैसला देने लगते हैं। धर्म, इतिहास, संस्कृति, मिथक, स्त्री, सवर्ण, दलित, गैरबराबरी, परिवर्तन, तालिबान, अमेरिका, आतंकवाद, पद-पुरस्कार, कश्मीर, बिहार, भाजपा, धर्म परिवर्तन, जातिवाद आदि सारी चीजों का घालमेल एक ही सम्पादकीय में एक उन्मादग्रस्त व्यक्ति के प्रलाप बनकर रह जाते हैं। अगर वे समस्याओं को एक-एक कर सुलझा कर कहते तो पाठक की विचार प्रक्रिया एक तर्कसरणि में सक्रिय रहती। लेकिन वे तो अपनी क्रान्तिकारिता का ऐसा आक्रामक तेवर दिखाने लगते हैं कि रेणु की 'अगिनखोर' कहानी के 'अगिनबोट' प्रतीत होते हैं। ऐसे अवसरों पर हड़बड़ी में उनके निष्कर्ष भी अजीब और ऊलजलूल हो उठते हैं। जैसे एक सम्पादकीय में उन्होंने कह दिया कि 'हिन्दी के प्रायः सारे कथा-लेखक या तो गैर ब्राह्मण हैं या स्त्रियाँ। इस पर जब किसी ने उन्हें लताड़ा और कथाकार के रूप में निराला, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, श्रीलाल शुक्ल जैसे ब्राह्मण

कथाकारों का नाम गिनाया तो फिर उन्होंने एक दूसरा निष्कर्ष झट से यह निकाला कि दो प्रकार के कथाकार हैं—ब्राह्मण प्रायः सैरिब्रल कथाकार हैं और गैर ब्राह्मण एम्पिरिकल। (दे., जून-जुलाई-अगस्त-सितम्बर-2001 के 'हंस' के सम्पादकीय) अब इस निष्कर्ष पर आप क्या कहेंगे? दरअसल बिना सोचे-समझे किसी भी बात या घटना को सामान्यीकृत करके झट से विचित्र निष्कर्ष निकाल देना यादव की विशेषता है। इस चमत्कार को वे अपनी मौलिकता समझते हैं। अपनी इसी मौलिकता के गुमान में वे हिन्दी के सारे प्राध्यापकों को मूर्ख कहते हैं और एक सम्पादकीय तथा 'अकार' (नवम्बर, 2001) के एक इण्टरव्यू में उन पर जमकर बरसते हैं। एक अन्य सम्पादकीय में हिन्दी प्रदेश को वैचारिक दृष्टि से दरिद्र और पिछले सौ वर्षों (1850-1950) के हिन्दी साहित्य को ब्राह्मणों का साहित्य वे कह ही चुके हैं। 'अकार' के ही उपर्युक्त इण्टरव्यू में इसी को दुहराते हुए वे लिखते हैं—"इन सौ सालों में हमारा साहित्य शुद्ध ब्राह्मणों का साहित्य रहा है। इस बीच केवल चार बनिये हैं—श्रीनिवास दास, हिन्दी के पहले उपन्यासकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद। कायस्थ सिर्फ प्रेमचंद, महादेवी हैं...।" अब उनसे कौन पूछे कि बालमुकुन्द गुप्त (1865-1907), सियारामशरण गुप्त (1895-1963), मन्मथनाथ गुप्त (1908), वासुदेवशरण अग्रवाल (1904), सरदार पूर्ण सिंह (1881-1931), धीरेन्द्र वर्मा (1897), वृन्दावनलाल वर्मा, (1889), शिवपूजन सहाय (1903), राधाकृष्ण दास (1865-1907), भगवतीचरण वर्मा (1903-1981), हरिवंश राय बच्चन (1907 ई.), सम्पूर्णानंद (1890), राम कुमार वर्मा (1905), रामधारी सिंह दिनकर (1908-1974), जगदीश चन्द्र माथुर (1910), शमशेर बहादुर सिंह (1911) आदि लेखक क्या ब्राह्मण थे? वैसे यह सूची बहुत लम्बी हो जाएगी। राजेन्द्र यादव के तथ्यहीन और गलत-बयानी वाले सम्पादकीयों पर दामोदरदत्त दीक्षित नाम के लेखक ने एक पूरा लेख ही लिखा था—शायद 'आधारशिला' नामक पत्रिका में—दो-तीन वर्ष पहले। लेकिन हंस के प्रचार तन्त्र में ऐसे लेख खो जाते हैं। आज मीडिया ही 'सन्देश' (मैसेज) है और उस पर जिन लेखकों का कब्जा है, वे झूठ को सच में बदल देते हैं। साहित्य का एक जरूरी संघर्ष इस मीडिया के झूठ से भी है जिस पर सत्ताधारियों और पूंजीपतियों और कुछ लेखकों का कब्जा है। 'हंस' भी उसी की एक कड़ी है। लेकिन दुखद है कि उत्तर-आधुनिकता में इसके विखण्डन का कोई कारगर तरीका नहीं सूझता।

दरअसल राजेन्द्र यादव इस दृष्टि से तो मौलिक हैं ही कि उन्होंने समकालीन साहित्य को पहली बार जातिवादी निगाह से देखने की कोशिश की है। राजेन्द्र यादव अपने सम्पादकीयों में जो छद्म क्रान्तिकारी और राजनीतिक तेवर दिखाते हैं उसकी सारी पोल उनकी भाषा खोल देती है। यह भाषा न आत्ममंथन की है, न आत्मानुभव की। यह फतवे की भाषा है, सामन्त और तानाशाह की। उनकी खिचड़ी भाषा उनके जीवन और सोच के अन्तराल तथा विक्षेप को व्यक्त करती है। वह उछलती-कूदती, भड़भड़ाती-भागी, भँवर बनाती, ताबड़तोड़ हवा में घूँसे चलाती भाषा है जो यादव के खोखलेपन से पैदा होती है एक भरे हुए विचार या भाव की भाषा

इस भाषा से बिल्कुल अलग होगी। अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में अपने प्रतिपक्षियों को नान-स्टॉप गालियों और मनबढ़ चुनौतियों की भाषा में सम्बोधित करने वाले राजेन्द्र यादव स्वयं अपनी प्रशंसा किस बेशर्मी से करते हैं, यह भी देख लीजिए। जुलाई 1996 के सम्पादकीय की शुरुआत करते हुए वे लिखते हैं—"इस अंक के साथ ही 'हंस' ने अपने नियमित प्रकाशन के दस वर्ष पूरे कर ही लिए। कभी-कभी खुद अपनी पीठ ठोंकने की खुजली भी तो होती है कि जो काम बड़े-बड़े न्यासों, ट्रस्टों, प्रेस-समूहों, सार्वजनिक संस्थानों से नहीं हो पाया, वह आखिर अपने से सम्भव कैसे हुआ? वह भी एक ऐसे अपन द्वारा, जिसने कभी बकायदा नौकरी की, न व्यवसाय, न पुरस्कार लिए, न फेलोशिप, न फिल्मों के लिए लिखा, न शेयरबाजारी की बददिमागी की, हालत यह कि लेखकीय स्वतन्त्रता के जोम में अपने-परायों सबको नाराज ही किया। शायद साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता के किसी पूर्व स्वीकृत ढाँचे को स्वीकारा भी नहीं। ऐसा नहीं है कि इन दस वर्षों में दबाव, मजबूरियाँ, प्रलोभन और धमकियाँ न आई हों मगर उस धार और डंक के साथ समझौता नहीं किया, जो आज 'हंस' को एक अलग व्यक्तित्व देता है। अगर कहीं कुछ गलत या घपले किए भी हैं तो सिर्फ इसलिए कि 'हंस' बचा और बना रहे। हिन्दी में अपने को इस तरह के सिर्फ तीन ही व्यक्ति दिखाई देते हैं और वे हैं—पण्डित बेचन शर्मा 'उग्र', बदरी विशाल पित्ती और किसी हद तक शानी।" इन पंक्तियों पर पाठक गौर करें तो ध्वनि समझ सकते हैं कि इन तीन के अलावा बाकी सभी सम्पादकों ने वह सब कुछ किए जो राजेन्द्र यादव ने नहीं किए। यह सम्पादकीय लम्बा है और इसमें आगे आत्मरति की अपनी मूल प्रवृत्ति के वशीभूत राजेन्द्र यादव जी शेष दो सम्पादकों को भी कुछ न कुछ 'लेकिन' लगाकर खारिज कर देते हैं और रह जाते हैं अकेले. राजेन्द्र यादव। इसी सम्पादकीय में वे आगे लिखते हैं, "विनम्रतापूर्वक ही कहना चाहूँगा कि मेरे भीतर शायद प्रेमचंद और यशपाल का 'सवाईवल इस्टिंक्ट' (अपने को बचाए रखने का तत्त्व) भी कुछ अंशों में रहा—बिना समझौतों के अपनी प्रतिबद्धता बचाए रखने का सयानापन" सवाईवल इंस्टिंक्ट तो हजारों लेखकों में है पर राजेन्द्र जी के मन की दबी इच्छा प्रेमचंद बनने की है अतः उन्हें वे कैसे भूल सकते हैं? यह इच्छा न रहती तो वे किसी और नाम से भी पत्रिका निकाल सकते थे जिसकी कूवत और आयोजन क्षमता उनके भीतर थी। लेकिन प्रेमचन्द न वे बन सके, न बन सकते हैं। प्रेमचन्द की चिन्ता समाज में समता की चिन्ता थी। राजेन्द्र यादव में सेक्स मुक्ति की चिन्ता है। प्रेमचंद में 'पर' बराबर उपस्थित रहता है, यादव में 'मैं' अहर्निश जागता रहता है। प्रेमंचद में सादगी और संतुलन है, यादव में बुनावट और आवेश। प्रेमचंद का जीवन, उन्हीं के शब्दों में, एक सपाट मैदान है। यादव के जीवन में गहरी-गहरी छलात्कारी खाइयाँ हैं। एक सुलझाना चाहता है, दूसरा उलझाना चाहता है। मेरा तेरा मनुआ कैसे एक होय रे।

इसी सम्पादकीय में आगे यादव लिखते हैं, "इन सारे शक-सुबहों,

शंका-आशंकाओं के बावजूद 'हंस' के पास कुछ ऐसे ऊर्जा स्रोत हैं ही कि दस वर्षों तक इसे निकाला जा सका—हो सकता है, अगले कुछ वर्षों की यात्राएँ भी तय की जा सकें, विश्राम-अविश्वास की चिन्ता किए बिना मैंने इन्हें छिपाने की कोशिश नहीं की। अक्सर पारदर्शिता सबसे अधिक अविश्वसनीय भी होती है। शायद वह आदमी सबसे ज्यादा चालाक होता है, जो जिन्दगी भर पारदर्शी होने का अभिनय निभाए चला जाता है। गांधी उनमें एक थे।" अब पाठक इन पंक्तियों पर विचार करें। अपनी 'पारदर्शिता' को 'अविश्वसनीय' बता कर यादव ने अपने अतिरिक्त शेष जनता को नासमझ या पक्षपाती या अविश्वसनीय बता दिया और गांधी की पारदर्शिता को एक 'चालाक' (धूर्त के अर्थ में) व्यक्ति का अभिनय कहकर उनको भी एक नेता की जगह 'अभिनेता' बना दिया। सन्दर्भ गांधी का है अतः मैं यदि कुछ लिखना शुरू करूँगा तो यह सम्पादकीय बहुत लम्बा हो जाएगा। फिर भी कुछ वाक्य जरूर लिखना चाहूँगा। दुनिया में जो भी विचारक या नेता गांधी का मजाक उड़ाता मिले उसे गौर से देखिए, आप उसकी कथनी और करनी में अन्तर अवश्य पाएँगे क्योंकि गांधी बीसवीं सदी में कथनी-करनी की एकता की सबसे बड़े प्रवक्ता और प्रयोक्ता रहे हैं और इसी आधार पर वे अपने समय के सभी नेताओं, विचारकों और व्यक्तियों से बड़े हैं। राजेन्द्र यादव 'हंस' के पन्द्रह वर्ष पूरे होने पर जुलाई, 2001 के अपने सम्पादकीय में जिन बूढ़ों पर बरसते हैं, स्वयं उन्हीं में से एक हैं। जिनकी कथनी और करनी में भेद है तथा जो अस्तित्व की नहीं, व्यक्तित्व की चिन्ताओं से ग्रस्त हैं। यादव जिन यथास्थितिवादियों पर बरसते रहते हैं यदि वे उनकी मदद करें तो यादव को दौड़कर उसे स्वीकार करने में कोई परहेज नहीं है। वे जिस सरकार को 'हंस' के अन्दर के पृष्ठों पर गाली दे रहे हों, आवरण पृष्ठों पर उसी सरकार की उपलब्धियों का बखान करनेवाले विज्ञापन छाप दे सकते हैं। (दे., हंस के अंक)। उत्तर में वे कहेंगे, यह तो मेरा ही पैसा है, कोई सरकार के बाप का नहीं है। सच्चाई यही है मित्रो, कि जहाँ निजी नैतिकता का सवाल आता है, वहाँ दुनिया के सभी बड़े-बड़े विचारक और क्रान्तिकारी टें बोल जाते हैं स्वयं के लिए भोजन चाहिए, बढ़िया वस्त्र, सुखद कमरा, गाड़ी, कार्यालय, फोन, अखबारों में चित्र आदि, तभी समाज की चिन्ता पैदा होती है। यह एक ऐसी तकलीफदेह सच्चाई है जिसे गांधी जैसे बिरले लोग ही स्वीकार कर पाते हैं। गांधी दूसरों के साथ अपने को भी शामिल करके देखते थे। ऐसी दृष्टि अपनी भी समीक्षा करती है, अपने दोषों को भी स्वीकार करती है, आत्मदण्ड और प्रायश्चित की व्यवस्था करती है। 'उपवास' और 'सत्याग्रह' का यही तो अर्थ है। राजेन्द्र यादव की दृष्टि इसके उल्टी है। वे दूसरों में अपने को शामिल करके विचार नहीं करते। अपने को जिम्मेदार न मानने के कारण ही, आज समाज की ऐसी स्थिति बनी हुई है। सब दूसरे को ही जिम्मेदार मानते हैं। इसीलिए साहित्यकार, विचारक, नेता, धर्माचार्य किसी का कोई असर नहीं है। जो गरीब, बेजुबान, और इतिहास के भोक्ता हैं वे सबको सुन लेते है और उसके बाद कह देते हैं—'सब

साले चोर हैं।' यदि राजेन्द्र यादव उन्हीं चोरों की जमात में अपनी भी गणना कर लेते तो सचमुच विश्वसनीय बन जाते। उन्हें एक मौका भी मिला था प्रायश्चित का, जब वे अपनी आत्मकथा लिख रहे थे, मगर वहाँ भी ठेंगा दिखा दिया उन्होंने पाठक को।

राजेन्द्र यादव की आत्मकथा के अन्त में अर्चना वर्मा ने एक अलग अध्याय लिखा है–'तोते की जान'। शायद ही आपको किसी अन्य आत्मकथा में आत्मकथाकार के बारे में दूसरे का लिखा इस प्रकार का उपसंहार दिखाई पड़े। खैर, पाठक से राजेन्द्र यादव के अपने छलात्कारों को सही प्रमाणित करने के लिए किया गया प्रयास न मानकर उनकी लोकतन्त्री दृष्टि ही मानें कि वे दूसरों की निगाह से अपने को देखना चाहते हैं–भले ही वह उनकी करीबी अर्चना वर्मा की ही निगाह क्यों न हो। अर्चनाजी बड़ी सहानुभूति के साथ राजेन्द्र जी के व्यक्तित्व का बारीक विश्लेषण करती हैं–उनके मुक्त व्यवहार, उनकी सक्रियता, बतरस, व्यंग्य-विनोद, मस्ती, लापरवाही, निडरता, आभिजात्य और शौकीनमिजाजी आदि का। साथ ही उनके सुविधाजनक फूहड़ प्रसंगों, विवाहेतर सम्बन्धों और अंतर्विरोधों आदि को तोपने-ढांपने का लेखकीय कौशल भी दिखाती हैं लेकिन फिर भी उन्हें संवेदनहीनता और दायित्वहीनता पर सवालिया निशान लगाना पड़ता है। वे पूछती हैं, "राजेन्द्र जी क्या राग-द्वेष के ऊपर हैं? उनकी दुनिया में क्या ऐसा कोई मौजूद नहीं जिसके दुःखों को लेकर वे ऐसी चरम असहायता का अनुभव कर पाएँ।" (मुड़ मुड़ के देखता हूँ, पृ. 194)। आगे वे लिखती हैं, "दुर्भाग्यवश राजेन्द्र जी समेत हिन्दी के अधिकतर रचनाकारों के लिए विस्मय, साहस और अभिमान सभी एक ही दुकान में मिलते हैं। और वह है स्त्री की देह, विवाहेत्तर सम्बन्ध। वह भी दायित्वहीन।" (वही, पृ. 199)। तोते की जान तलाशते अन्त में अर्चना जी को अपना पक्ष भी चुनना पड़ता है और वे लिखती हैं–"उनके (अर्थात् राजेन्द्र यादव के) बारे में मैं कोई फैसला नहीं सुनाती पर सहानुभूति मेरी शत-प्रतिशत मन्नू जी के साथ है।" (वही, पृ. 203)।

हालाँकि मुझे कहना चाहिए कि 'तोते की जान' शीर्षक उपयुक्त नहीं है। लोक कहावत इस प्रकार है कि राक्षस के प्राण तोते में बसते थे जिसे वह सात दरवाजों के भीतर एक पिंजड़े में टांगे हुए था। कथानायक उन सातों दरवाजों को तोड़कर जब तोते की गर्दन ऐंठता है तो राक्षस 'आह आह' करके छटपटाते हुए अपने प्राण छोड़ता है। अतः अर्चना जी का सही शीर्षक होना चाहिए–'राक्षस की जान'। अगर 'हंस' वह तोता है जिसमें राजेन्द्र यादव के प्राण बसते हैं तो फिर हंस निकालने के पहले अर्थात् लगभग साठ वर्ष की अवस्था तक राजेन्द्र जी ने अपने प्राण कहाँ छुपा रखे थे। दरअसल इतनी गहन विश्लेषण शक्ति या कहें कि लेखकीय भाषा का छल के बाद भी अर्चना जी यह जान नहीं पाईं कि राजेन्द्र यादव के प्राण किसी तोते में नहीं बल्कि स्वयं उन्हीं के भीतर बसते हैं। 'स्व' से ज़्यादा प्रिय उनके लिए कुछ भी नहीं है। वे ऐयारों के ऐयार नहीं हैं, न उनके पास कोई तिलिस्म और तहखाना है, न कोई रहस्य। इसके लिए कोई अनुमान लगाने की

भी जरूरत नहीं है। राजेन्द्र यादव की एक-एक अदा अकाट्य प्रमाण है कि वे आकंठ अपने में ही डूबे हैं। अपनी छवि में। आत्मबिम्ब में। नारसिसस की तरह अपने पर ही मुग्ध। दूसरे के प्रति दायित्वहीन। महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को पैसा और दरबारी मिलते रहें तो वह ऐसा ही हो जाता है, यारो! अपने लिए सफल और दूसरों के लिए संवेदनहीन।

मेरे इस निष्कर्ष की ताईद स्वयं राजेन्द्र यादव ने की है और जिन कुछ गिनी-गिनाई पंक्तियों में की है वे ही मेरी दृष्टि में उनकी आत्मकथा की सबसे ईमानदार स्वीकृतियाँ हैं। वे लिखते हैं, "आज लगता है कि मैं शायद अपने आप में ही इतना डूबा रहा हूँ कि न मन्नू को एक अच्छा पति दे पाया, न मीता को अच्छा प्रेमी या दीदी को अच्छा मित्र। बेटी को एक अच्छा बाप या बहनों को भाई भी कहाँ मिला? लगता है किसी से मेरा कोई संवाद ही नहीं है, सिर्फ औपचारिकता है। मगर अपने आपको भी मैंने क्या दिया? रातों की नींद, आँखों की रोशनी और दिमागी शान्ति सब कुछ तो कुछ अमूर्तनों में ही झोंकता रहा। शरीर और व्यक्ति को सिर्फ माध्यम बनाकर पानी पर लकीरें खींचता और सन्तोष निचोड़ता रहा कि कुछ विशिष्ट हो रहा है। यह कौन-सा फितूर है कि अपने आपको और दूसरों को आप सिर्फ इस्तेमाल करें और इस प्रक्रिया को ही 'रचना प्रक्रिया की अनिवार्य आवश्यकता' मान लें?" (पृ. 130)। जब अपने व्यक्तित्व की इस केन्द्रीय विशेषता के कारण श्री यादव सबसे अलग होकर अपने नौकर किशन के साथ अकेले रह जाते हैं जो उन्हीं के शब्दों में उनका सेवक, मालिक, संरक्षक, मित्र और सहयोगी सब कुछ है और उनकी हर जरूरत समझता है, तो वे फिर इस आत्मविश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं, "तब क्या मुझे सिर्फ ऐसा ही साथ चाहिए था जो सुविधाएँ सब दे, अधिकार किसी पर न जताए? लगभग धिक्कार की तरह यह भी लगता है कि न मुझे किसी की कमी लगती है, न अपने को अकेला या परित्यक्त महसूस करता हूँ। या तो इतना कुछ मिल चुका है कि और पाने की इच्छा ही मर गई है या संवेदनशून्यता के उस बिन्दु पर आ चुका हूँ जहाँ किसी से भी कोई फर्क नहीं पड़ता।" (वही, पृ. 131)। काश, राजेन्द्र यादव इसी बिन्दु पर रुक जाते क्योंकि वे 'अपूर्वदीप्ति के क्षण' (महिमा भट्ट) पर पहुँच चुके थे। किन्तु उनके भीतर का प्रेत फिर अट्टहास कर उठता है जिससे सहम कर उनकी लेखकीय ईमानदारी का यह नाजुक क्षण उनके विराट अहंकार और छलात्कार के अँधेरे में खो जाता है।

(दस्तावेज-95, अप्रैल-जून, 2002 से साभार)

तीसरा सवार : राजेन्द्र यादव

हरिपाल त्यागी

लीजिए, मिलिए—आप हैं भूतपूर्व नई कहानी आन्दोलन के तीसरे सवार। तीन सहसवारों में आपका स्थान घोड़े की पूँछ के पास सुरक्षित था। अपने से अगले सवार की पीठ से पीठ टिकाए आप तीनों में अलग ही दिखाई पड़ते थे। तब घोड़े की दुम आपके हाथों में हुआ करती थी और लगाम बीच वाले सवार के हाथ में। लोगों का मानना है कि तीसरा सवार अक्सर साथ के दोनों सवारों से दुखी रहता, खासकर पहले सवार से, क्योंकि वही इनमें सबसे अच्छा सवार था। इस गुण के अलावा, वह अच्छा नाटककार भी था और यही बातें तीसरे सवार के लिए दुखदाई थीं। उन दिनों आपके एकान्त क्षण आहों-कराहों में गुजरते थे। आपकी 'चिढ़' जायज थी और आप विमुख होकर भी उनके साथ थे, या फिर साथ होकर भी पीठ फेरे थे।

हमारा मानना है कि नई कहानी आन्दोलन में तीसरा सवार ही एक प्रयोगधर्मा कथाकार था। उसके सभी ढंग निराले थे। उसकी 'चिढ़' नए प्रयोगों का ही हिस्सा थी। और चिढ़ ही क्यों, वे ध्वनियाँ और बू-बास भी जो घोड़े की पूँछ के निकटवर्ती क्षेत्र में फूटती थीं, उसने स्वयं तो ग्रहण की ही, उन्हें साहित्य में भी समुचित स्थान दिलाया। इसी 'बोल्डनेस' के परिणामस्वरूप पाठक का ध्यान आपकी तरफ आकर्षित हुआ और आप चर्चाओं में रहे। आपके अथक प्रयत्नों से ही आज 'चर्चा' और 'चुतियापा' एक दूसरे के पर्याय हो गए हैं।

यह बात अब पुरानी हो गई है, जब आपने बैकडोर से नई कहानी के भीतर सशरीर घुसने का दुःसाहसी प्रयत्न किया था—यह एक खतरनाक प्रयोग साबित हुआ, क्योंकि दुर्भाग्यवश ठीक इसी अवसर पर घोड़े ने लात मार दी और तभी से आप न सिर्फ प्रयोगों से, बल्कि लेखन से भी बेजार हो गए। गनीमत समझिए कि पूँछ पर आज भी आपका कब्जा है, जबकि घोड़े का दूर-दूर तक कहीं अता-पता नहीं—तो आप ही हैं हमारे युग के महापुरुष नम्बर दो—भूतपूर्व कथाकार, अभूतपूर्व हमदम और दोस्त!

आप आगरा से उखड़े हुए लोगों में से एक हैं। आगरा की दर्शनीय इमारतों में एक तो ताजमहल है ही, कुछ छोटे-छोटे ताजमहल भी हैं। इन्हीं ताजमहलों में एक महापुरुष भी हैं। जाहिर है, दर्शनीय आप भी हैं।

आपने आगरा से उखड़ कर खुद को कलकत्ता में जमाने की कोशिश की, लेकिन

एकाध लड़की को जमाने के अलावा कोई खास सफलता आपको नहीं मिली। कलकत्ता में हिन्दी के लिए अनुकूल वातावरण नहीं था। बल्कि, कहना होगा—दो शहरों को छोड़कर, अन्य शहरों में, विकास की सम्भावनाएँ बहुत कम थीं। ये शहर थे—दिल्ली और इलाहाबाद। उन्हीं दिनों इलाहाबाद और शिमला में भी दो अतृप्त आत्माएँ स्वयं को कथा-साहित्य में जमाने के लिए बेकरार थीं। आपसी सहयोग के बिना यह सम्भव न था—इसके लिए कम से कम तीन महापुरुषों का संयुक्त मोर्चा बनाना आवश्यक था, जो पत्र-व्यवहार और मेल-मुलाकातों से मुमकिन हुआ और इसका परिणाम यह निकला कि तीनों विभूतियाँ अपने-अपने स्थान से उखड़ कर दिल्ली आ गईं और समझौते के अनुसार एक-दूसरे को जमाने लगीं। ये ही वे उखड़े हुए लोग थे, जिनके बारे में हमारे यह महापुरुष पहले ही जानकारी उपलब्ध करा चुके थे।

साहित्य में संयुक्त मोर्चा साहित्यकारों पर उतना निर्भर नहीं करता, जितना प्रकाशक पर करता है। प्रकाशक के सहयोग के बिना टूट-बिखर जाता है और जैसा कि हम जानते हैं, लेखक का जमना भी उसके अपने साहित्यिक स्तर से ही तय होता है, न कि संयुक्त मोर्चे से। मोर्चे के टूटते ही जमाया हुआ लेखक उखड़ जाता है। स्वयं जमने और दूसरों द्वारा जमाए जाने का निर्णय समय करता है। आज हम देखते हैं कि हमारे यह महापुरुष साहित्य से उखड़े हुए लोगों में से एक हैं। फिर भी इस तरह जमे हैं कि अब आपका कोई कुछ भी नहीं उखाड़ सकता।

उस जमाने में, जब आप नम्बर तीन पर दर्ज किए जाते थे, उर्दू के कुछ अफसानानिगार आपको नम्बर अव्वल पर रख कर देखते थे...और वजह इसकी महज यही थी कि ये लोग दाएँ से शुरू करके बाएँ को पढ़ने के आदी थे, जैसा कि आज भी हैं। फिर भी, हिन्दी वालों की नजर में आप हिन्दी कथा-साहित्य के तीसरे सवार ही रहे। तमाम बांस-बल्ली के सहारे के बावजूद, आप अपने ही स्थान पर इतने भारी थे कि ऊपर उठने के बजाय नीचे गिरने का खतरा ज्यादा था। महापुरुष अपने ही तीसरे स्थान पर स्थिर रहे। फिर, कालान्तर में, पहले महापुरुष के विमुख हो जाने के कारण, बिना किसी अतिरिक्त कोशिश के, दूसरे नम्बर पर आकर जाम हो गए। कोशिश फिर भी जारी रही कि किसी तरह अव्वल नम्बर पर आ जाएँ—जिन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा इसी कसमसाहट में गुजर गया, लेकिन नीच ट्रेजडी ने दुर्भाग्यवश कई रुकावटें पैदा कीं—आपकी प्रतिभा से परेशान शब्दों ने बिल्कुल ही साथ छोड़ दिया। संस्कार पहले ही लुढ़क कर गिरे थे। बाद में, विचारकों ने भी पीठ फेर ली। बावजूद इन अभावों के आपका संघर्ष लगातार जारी है और यह स्वयं में हैरत की बात है कि ऐसी विषम परिस्थिति में भी कोई, किस तरह, अपने नियत स्थान पर बना हुआ है। न केवल स्वयं बना हुआ है, दूसरों को बनाने में भी प्रयत्नशील है।

जहाँ तक विचारों का प्रश्न है—वे कभी-कभार दरबारे हुजूर में हाजिरी लगाने तो आ जाते हैं, लेकिन साले पकड़ में नहीं आ पाते...नहीं आते, तो जाए भाड़

में, बहुराष्ट्रीय बाजारवाद के स्वर्णिम दौर में उनकी जरूरत किसी बेवकूफ को ही होगी। फालतू बोझ सिर में लादे फिरना बेकार है। देशी-विदेशी हजारों पुस्तकों का अध्ययन-मनन करने के बाद भी सिर खाली-खाली-सा रहता है। रिक्त स्थान की पूर्ति करते-से कुछ खुराफत बेशक खिजाब के साथ भीतर प्रवेश कर चुके हैं और उन्हीं से महापुरुष के चरित्र की विशेषताएँ उजागर हो जाती हैं। कुल-परम्परा के विकास के लिए महापुरुष का जीवन धन्य है!

एक प्रचलित लोक-कथा में किसी दैत्य के प्राण एक तोते में रहते थे। दोनों प्राणियों का अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर था। यहाँ हम यह साफ कर देना जरूरी समझते हैं कि हमारे यह महापुरुष न तो दैत्य हैं और न ही आपके प्राण किसी तोते में रहते हैं। आपको महापुरुष के अलावा और किसी भी रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। दूसरे, आपके प्राण किसी तोते में नहीं, बल्कि अन्य पक्षी में बसते हैं, जो लक्ष्मी का नहीं, बल्कि सरस्वती का वाहन है। इसी पक्षी के कारण आप अपने स्थान पर सुरक्षित हैं।

महीने की पहली तारीख से किसी तरल पदार्थ में गैस जैसी कोई चीज दिमाग के कटोरे में घुमड़नी शुरू होती है। फिर जहाँ अट्ठाइस दिन हुए नहीं...या ज्यादा से ज्यादा उनतीस, तभी कटोरे का ढक्कन अचानक झटके से उछल कर कहीं दूर जा गिरता है, गैस की रासायनिक क्रिया से तरल पदार्थ में खदबदाहट होती रहती है, साथ ही बुलबुले से उठते रहते हैं—यही बुलबुले विचारों का स्थान ग्रहण करते हैं और इन्हीं से एक उम्दा किस्म का सम्पादकीय तैयार किया जाता है इसके साथ ही, कटोरा खाली कर चुकने के पश्चात् ऊंघने, ऊबासियाँ लेने, दलितों और स्त्रियों पर पुनः-पुनः विचार करते हुए स्वयं दुखी होने और उनके दुख बढ़ाने के काम ही शेष रह जाते हैं—जिन्हें महापुरुष मुस्तैदी से पूरा करते हैं। अपने तथाकथित सम्पादकीय को महापुरुष पक्षी की चोंच में अटका देते हैं। पक्षी 'स्त्री-विमर्श स्त्री विमर्श, दलित-चेतना दलित चेतना' चीत्कारता हुआ सारा आकाश रौंद डालता है।

एक सभा में किसी महापुरुष ने 'विमर्श' शब्द को भ्रामक कहा था। हमारे विचार में 'स्त्री' शब्द साथ जुड़ जाने से यह उतना भ्रामक नहीं रहता, बल्कि भ्रम को दूर करता है. खासकर उस समय जब महापुरुष इसका रचनात्मक प्रयोग करते हैं। बहरहाल, बावजूद सारी मशक्कत के दलित अपनी जगह बरकरार हैं और पहले से कुछ ज्यादा ही दलित हो गए हैं, स्त्रियों और बहू-बेटियों ने नग्नता में ही मुक्ति-मार्ग खोज निकाला है और चेतना गश खाकर गिर पड़ी है। जाहिर है, महापुरुष का सहयोग भी इस खोज में शामिल है। उद्धार के लिए दलन आवश्यक है। अगर दलित नहीं होगा तो उद्धार किसका होगा? और दोनों ही न हुए तो पक्षी की चोंच में होगा तो क्या होगा—ये ऐसे प्रश्न हैं, जो एक-दूसरे से गहरे जुड़े हैं। भगवान बुद्ध ने ठीक ही कहा है, 'हे भंते, यदि इस संसार से दुख ही विलुप्त हो जाएँ तो हमारी इस महाकरुणा का क्या होगा?' हम देख रहे हैं कि अमेरिकी साम्राज्यवाद ने पहले तो विश्व आतंकवाद को पैदा किया और अब अपनी ही सन्तान को फना करने पर तुला है।

जमाने का दस्तूर है यह पुराना
बना कर मिटाना, मिटा कर बनाना...

बावजूद तमाम कोशिश के, महापुरुष न तो किसी को मिटा पाए और न ही बना सके। वह स्वयं ही मिट-मिट कर बने हैं।

पिछले दशकों में प्रेमचंद की विरासत के दावेदारों की संख्या अच्छी-खासी रही है। स्वयं महापुरुष भी कुछ झेंपते हुए से इस कतार में शामिल हैं। हम समझते हैं कि इसमें संकोच करने की जरूरत नहीं है। सन् सत्तर के आस-पास हंसराज रहबर ने स्वयं को प्रेमचंद का वारिस घोषित किया और बगैर एक भी आदमी को विश्वास में लिए अन्त तक अपने ही विश्वास पर डटे रहे। हालाँकि, इस घोषणा के बीच उन्होंने स्वयं को भारतीय क्रान्ति की सांस्कृतिक सेना का कमांडर इन चीफ भी कहा था।

एक समकालीन आलोचक कई महत्त्वपूर्ण माने जानेवाले कथाकारों के सिर पर से उछलते हुए पहले रेणु के सामने आ खड़े होते हैं और उन्हें प्रेमचंद के वारिस के रूप में चिह्नित करके विनोद कुमार शुक्ल को भी पहचानने में देर नहीं लगाते। भाजपा के सत्ता में आने से पहले तक निर्मल वर्मा भी इस लिस्ट में शामिल हो सकते थे, लेकिन अब उन पर पुनर्विचार की जरूरत है।

रहबर की तरह शैलेश मटियानी ने भी स्वयं को प्रेमचंद की कड़ी बताते हुए वारिस होने की घोषणा की। उनके साहित्य के एक प्रेमी ने सोचे-समझे बिना ही इसे मान लिया, लेकिन पंकज बिष्ट ने कुछ सोच-समझ कर और कुछ किन्तु-परन्तु के साथ यह बात स्वीकार की—हाँ, जनपक्षधरता की समानता तो है, लेकिन मटियानी जी में कुछ दुर्जनपक्षधरता भी है, चेतना दृष्टि में गैप तो बहुत है...फिर भी अपने उत्तरांचल के हैं, इसलिए हैं। चलता है यार!

ऐसे ग्रेस मार्क्स भ्रामक तो हैं ही, हृदय-विदारक भी हैं। महापुरुष की व्यथा उनकी चुप्पी में झाँक रही है—साले हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में पाँच अपने न हों तो लानत है...हम क्या साले दूसरों की सेवा के लिए ही यहाँ मार्केट में बैठे हुए हैं...प्रेमचंद का पक्षी—जैसा जादुई चिराग अपने हाथ में हो और वारिस कोई लल्लू-पंजू हो जाए—ऐसी की तैसी। हिन्दी-साहित्य के पूरे इतिहास में ऐसा और कौन है, जिसकी सूरत ज्यां पाल सार्त्र से मिलती हो?

—लोग-बाग सभाएँ कराते घूमते हैं...जगह-जगह अध्यक्षता का ठेका जैसे उन्होंने ही ले लिया है...शलाका-पुरुष बने फिरते हैं...कोई मिथक पुरुष का पोज मारता है तो कोई पंडागिरी चला रहा है...एक हम ही बचे हैं, पिछले चालीस साल से दिल्ली में झक मारने को...

महापुरुष के कष्टों से हम भी दुखी हैं। कैसे समझाएँ—एक कमजोर लेखक अच्छी से अच्छी चीज को हाथ लगाते ही गोबर में बदल डालता है। महानता और क्या—कूड़े-करकट का एक पहाड़ खड़ा कीजिए और झण्डा लेकर चढ़ जाइए। पहाड़ के कद से ही महानता की ऊँचाई तय होती है। एक प्रयोगशील रचनाकार मूर्खताओं को भी इस ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है कि रचना न सिर्फ कलात्मक

हो जाती है, बहुत कुछ कह भी जाती है। सच्चे यथार्थवादी की मूर्खताओं से परहेज न करते हुए उनका खुलकर इस्तेमाल करना चाहिए। सोचने की बात है कि वे सभी तत्त्व, जो प्रेमचंद के कथा-साहित्य में वर्जित हैं और जिनके निषेध से वे आदर्शवाद की दहलीज नहीं लांघ सके—उन वर्जनाओं का साहित्य में समावेश ही क्या सच्चा यथार्थवाद नहीं है? दुनिया में हर इंसान के साथ कुछ न कुछ अगर-मगर लगा हुआ है, लेकिन नकली और ढोंगी लोग मूर्खताओं को छुपा जाते हैं और गम्भीरता को बाहर की तरफ फेंकते रहते हैं। जबकि सच्चा यथार्थवादी भीतर की तमाम गन्दगी को महीने में कम से कम एक बार जरूर उलीचता है और गम्भीरता को तह करके सुरक्षित रखता है। इससे आत्मा निर्मल हो जाती है। मनुष्य भोगी होते हुए भी योगी कहलाता है। मूर्खतापूर्ण बातों को जरा विश्वासपूर्वक कह कर तो देखिए, लोगों पर तुरन्त असर दिखाई देगा। इसके विपरीत, सीधी-सच्ची बातें कुछ चलताऊ ढंग से बोल जाइए, उन्हें कोई सुनने को तैयार नहीं होगा। इसीलिए, ज्यादा महत्त्वपूर्ण है प्रस्तुतिकरण। अगर कायदे से जूता भी परोसा जाए, वह भी खाया जाएगा। ये ही सब बातें हम महापुरुष से कहना चाहते थे, लेकिन यह मान कर कि रचनात्मक कार्यों से अब आपका सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया है, हमने खुद को रोके रखा। खुशी की बात है, आपने हमें निराश नहीं किया और शिकायत का कोई भी अवसर दिए बगैर इसी सिद्धान्त पर डटे हुए हैं तथा नई पीढ़ी के लिए प्रेरणा स्रोत के रूप में जाने जाते हैं।

जहाँ तक प्रेमचंद की विरासत पर भिन्न-भिन्न दिशाओं से आनेवाले दावों का सवाल है, इसे लेकर आपका दुखी होना न केवल आपके लिए, बल्कि सभी के लिए कष्टकर है। भला आपको इस पचड़े में पड़ने की क्या जरूरत है। आप तो जानते ही हैं कि प्रेमचंद कहानी क्षेत्र के अभ्यासकाल के लेखक थे। किसानों के अलावा उन्हें कुछ दिखाई नहीं दिया। जिन पशुओं पर उनकी कलम चली, वे भी किसानों के ही थे। उस जमाने में औरतें ज्यादातर परदे में होती थीं और उनकी तरफ से प्रेरणा की गुंजाइश न के बराबर थी। इस दिशा में जो कुछ लिखा जाता था, वह अनुभूत सत्य से दूर था—उँगलियाँ देखकर ही दूसरे अंगों की कल्पना कर ली जाती थी। प्रेमचंद की कल्पनाशीलता गोबर-कीचड़ से आगे नहीं जा पाई। कुल मिलाकर हमारे इस उपन्यासश्रमिक का जीवन इकहरा, नीरस और सपाट था और उसकी रचनाएँ भी ऐसी ही थीं। सेक्स समस्या को लेकर अनुभव के आधार पर कहानी लिखने के खतरे तब ज्यादा थे। प्रयोगों के वैरिएशंस का रिस्क प्रेमचंद नहीं ले सकते थे। हमारे विचार से प्रेमचंद को उपन्यास-सम्राट कहना विश्व सर्वहारा का अपमान है जिसे तत्कालीन आलोचकों ने समझा ही नहीं। लम्बी चली आ रही गुलामी का असर उन आलोचकों पर जरूर रहा होगा और वे सम्राट जार्ज पंचम को ही बड़ी तोप समझते रहे होंगे—शायद इसीलिए, उन्होंने प्रेमचंद को भी सम्राट बना दिया, जबकि वह कलम के मजदूर ही थे। आप निःसंकोच घोषणा कर सकते हैं कि हिन्दी कहानी में यथार्थवाद की शुरुआत आप से होती है।

हालाँकि महापुरुष भी शुरू में मजदूर ही थे। मजदूरों के ठेकेदार वह विकास-क्रम

में हुए। आरम्भ में, बेगार की रस्म को कायम रखना आपकी आदत नहीं, मजबूरी थी। जैसा कि सभी लघु पत्रिकाओं की होती है। लेखक की शक्ति का पता इसी से लगाया जा सकता है कि उसके गरीब होने पर भी करोड़पति प्रकाशक मजबूरी प्रकट करता है। जो पत्रिकाएँ लाखों के विज्ञापन बटोरती हैं और उत्सवधर्मिता पर लाखों खर्च कर डालती हैं, उनकी तिजोरी लेखकों के लिए खाली ही रहती है। अधिकांश मामलों में 'प्रगतिशीलता' और 'प्रतिबद्ध' जैसे उत्साहवर्धक शब्द भी लेखक के शोषण का हथियार बनते हैं। ऐसी स्थितियों से तंग आकर कौन अभागा लेखक भ्रष्ट नहीं होना चाहेगा? लेकिन दुःख यही है कि महापुरुष अपने अलावा अन्य किसी को भी भ्रष्ट होने का अवसर नहीं देते। अन्य हिन्दी लेखकों को यथास्थिति में रखकर साहित्य और भाषा की गरिमा को बनाए रखना न्यायसंगत नहीं है।

हाल ही में मालूम हुआ कि जहाँ लक्ष्मी कैद थी, वह कारावास आपका घर ही था। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि वह नारी लक्ष्मी नहीं, बल्कि साक्षात सरस्वती है। बहरहाल, इस बहस में न पड़ते हुए हम खुशी प्रकट करते हैं कि अब वह कैदमुक्त है लेकिन सरस्वती का वाहन महापुरुष के कब्जे में ही है। मुक्त महापुरुष भी हैं, लेकिन मुक्ति और श्रीविहीन मुक्ति में कुछ तो अन्तर है। जो लक्ष्मियाँ आज आस-पास देखी जाती हैं, वे पक्षी प्रेमी हो सकती हैं, महापुरुष प्रेमी नहीं। फिर भी, महत्त्वाकांक्षाओं का आवेग, तीव्रता के क्रम में, अशिष्टता और अश्लीलता को सहनीय बनाता चलता है, साथ ही इसे 'बोल्डनेस' के रूप में स्वीकार करके उत्तर आधुनिकता में उतार दिया जाता है। अश्लीलता, फूहड़ सन्दर्भों और निःसंकोच शर्तों का कलात्मक और यथार्थवादी प्रयोग करने में आप प्रेमचन्द के अगले कथाकार रहे हैं। प्रेमचंद, आदर्शवादी और सपाट थे लेकिन हमारे महापुरुष 'यथार्थवादी' और 'कलात्मक' कथाकार थे, जोकि अब नहीं हैं। लेकिन, न होते हुए भी, हैं। इसे ही दर्शनशास्त्र की भाषा में 'न होने का होना' कहते हैं। फिर भी, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि आपका यह मौजूदा 'न होना' अतीत के 'होने' से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह हिन्दी के पाठकों और लेखकों के हित में एक अच्छा कदम है। पिछली सदी के अन्त में महापुरुष ने न लिखने का जो कारण लिखित रूप में बताया था—फालतू समय के अभाव में वह हम जान तो नहीं पाए, लेकिन मानना होगा कि आप न लिखने से पहले जितना कुछ लिख चुके थे, वही जरूरत से ज्यादा है।

आपने व्यर्थ ही 'न लिखने का कारण' बताने की तकलीफ की। भला इसके लिए आपसे किसे शिकायत होगी? कैसे कहें, आपके इस पटाक्षेप से कितना सुकून मिला!

कथा साहित्य में दण्ड पेलने और मस्त रहने के सभी प्रयोगों के बावजूद आप अपने समय को नहीं पकड़ पाए, फिर भी, महत्त्वपूर्ण यह है कि एक नई पीढ़ी अवश्य ही आपकी सेवा में तैनात है, यह है कि एक नई पीढ़ी का हाथ कभी-कभी समय की नब्ज पर पड़ जाता है। यह एक अलग खुशी है कि आप समय को अपने तरीके

से जीने में सफल हुए हैं तथा अपनी गहरी पीड़ाओं, कुंठाओं और इन्हीं से उपजे परिणामों को साहित्यिक मूल्यों में शामिल करके देखने और दिखाने में माहिर हैं। इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं, लेकिन यह चिन्ता अवश्य है कि इस खतरनाक समय के कुछ और भी गम हैं। जिन महत्त्वपूर्ण मुद्दों को आप उठाते हैं, वे हमें आश्चर्य और शक के घेरे में डाल देते हैं। अपने खास हमसफर से आपकी नाराजगी और गाहे-बगाहे छेड़छाड़ चर्चा में रहने के लिए बहुत जरूरी है। यह सांसदों की प्रायोजित जूतमपैजारी को सामने ला खड़ा करती है। इससे जीवन में जीवंतता बनी रहती है और साहित्य-संघर्ष की सम्भावना का द्वार खुला रहता है।

हमारे विचार से साहित्य के भीतरी संघर्ष की अब कोई जरूरत नहीं है। भीतरी संघर्ष मीडिया के लिए गैरजरूरी तो है ही, मानसिक स्नायुओं के लिए भी मुफीद नहीं है—इससे ब्रेन हैमरेज का खतरा लगातार बना रहता है। धूमिल जैसे लोगों की गलतियों से शिक्षा प्राप्त करके आपने संघर्ष का जो स्वरूप तय किया है—उसे आज की नौजवान पीढ़ी हैरत से देखती है, लेकिन उसे अभी बहुत कुछ सीखना है।

आज हम महापुरुष को 'टूटना' कहानी के बॉस के रूप में देखते हैं। घूमनेवाली कुर्सी पर विराजमान, जब आप मुँह में पाइप लगाकर लाइटर जलाते हैं तो कई बिम्ब एक साथ उभर आते हैं—तब सचमुच ही आप एक यूरोपीय लेखक की-सी छवि प्रस्तुत करते हैं, जो जासूसी कथाकार है।

बहरहाल, दुनिया चाहे कुछ भी कहे—आदमी आप दिलचस्प हैं। हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ आपके साथ हैं। आपके सामाजिक संकटों में जिन-जिन सौन्दर्य प्रसाधनों ने मदद की है, वे जीवनपर्यंत उपलब्ध होते रहें। आप सौ वर्ष तक जिएँ और एक सौ एक वर्ष तक आपके बाल काले रहें। आप स्वयं ताउम्र किशोर बने रहें और किशोरों के लिए करने लायक कुछ भी न छोड़ें।

तोते की जान

अर्चना वर्मा

षड्यंत्र तो जरूर था लेकिन पूर्व नियोजित शायद नहीं ही रहा होगा। कम से कम लगा तो ऐसा ही कि यह मस्तिष्क लहरी मुझ पर नजर पड़ने के बाद या साथ राजेन्द्र जी को आई। अखिलेश राजेन्द्र जी को शायद तद्भव के अगले अंक में कुछ लिखने के लिए घेर रहे थे, राजेन्द्र जी बचने की कोशिश कर रहे थे। दुर्दैव से उसी समय मैंने दफ्तर में कदम रखा और जरा-सी देर में राजेन्द्र जी को यह कहते सुना कि इससे लिखवाओ, यह लिख सकती है। यह मुझको सन पैंसठ से (ठीक-ठीक कहा जाए तो छियासठ, इसमें 'पिछली सदी का' और जोड़ दिया जाए तो वाकई प्रागैतिहासिक) जानती है। उसके बाद इसकी टोपी उसका सिर को चरितार्थ करते हुए सारा घिराव इस ओर घूम गया और मेरे इन्कार और अखिलेश के आग्रह के बीच मुकाबिला शुरू हुआ। अखिलेश के बारे में मनोहर श्याम जोशी जी की राय बता कर राजेन्द्र जी ने समझाया कि यह एक व्यर्थ मुकाबिला है। राय यह थी कि खुद जोशी जी सम्पादक रह भी चुके हैं और बाकी सब बड़े-बड़े सम्पादकों को देख भी चुके हैं लेकिन अखिलेश जैसा बुलडोजर सम्पादक उन्होंने दूसरा नहीं देखा। लिखवा कर छोड़ेगा। हथियार डालते हुए मैंने जानना चाहा कि मामला क्या है। मालूम हुआ कि राजेन्द्र जी से आत्मकथ्य लिखने का आग्रह है।

आत्मकथ्य जैसी चीज में कोई दूसरा भला क्या कर सकता है?

पता चला कि जो चाहो सो करने की खुली छूट है। आत्मकथ्य वे खुद लिख देंगे और पूरक तौर पर बाकी कुछ अर्चना से लिखवा लो। (यानी जीवनीपरक ललित निबन्ध जैसा कुछ)

इस तरह के करतब राजेन्द्र जी ही कर सकते हैं। जिस आत्मकथा को जी कर वे पहले ही फाइनल कर चुके हैं उसमें जो चाहो सो कर देने की गुंजाइश ही कहाँ बचती है और जैसे चाहो वैसे लिख देने की पूरी छूट के बावजूद यह तो है ही कि मनचाहे तथ्य पैदा नहीं किए जा सकते। वे पहले से मौजूद हैं लेकिन मुझको उतने मालूम नहीं हैं। राजेन्द्र जी सुनते नहीं। कहते हैं, कुछ तो तुम जानती हो, कुछ सुन रखा है, बाकी सूंघ रखा है। तुम्हारी नाक बहुत तेज है। बेकार के बहाने मत करो।

तो शुरू करने से पहले आगाह कर दूँ। यहाँ जो कुछ भी लिखा जा रहा है

उसका आधार है थोड़ी-सी जानकारी, थोड़ा कुछ सुना हुआ, बहुत कुछ सूंघा हुआ। खतरा है कि नतीजा वही हो जो राजेन्द्र जी के सम्पादकीयों में अक्सर हो जाया करता है। यानी अनुमानित निष्कर्षों को प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों की जगह पर बिठा कर मान लेना कि सच यही है। सच आखिर एक पाठ ही तो है। जैसे चाहो पढ़ लो।

लेकिन खतरा तो खुद राजेन्द्र जी ने चुना है। उनके लिए यह अपनी उदारता साबित करने का एक मौका है या फिर मेरे लिए अपनी निष्पक्षता साबित करने की एक चुनौती? (सन्दर्भ कथादेश के अगस्त अंक में प्रकाशित राजेन्द्र जी के साक्षात्कार पर कथादेश के ही सितम्बर अंक में प्रकाशित मेरी प्रतिक्रिया) इस सन्दर्भ में निष्पक्षता का मेरा कोई दावा नहीं, न किसी की उदारता साबित करने का उपलक्ष ही मैं बनना चाहती हूँ। यह मैं कहाँ आ फँसी लेकिन इस फेर में आ पड़ना खुद मेरा अपना ही तो किया हुआ है वैसे ही जैसे राजेन्द्र जी का खुद का यह खतरा चुनना। तो खैरियत इसी में है कि जीवनी और प्रामाणिक वगैरह के चक्कर में पड़े बिना व्यक्तिपरक जैसा कुछ लिख मारा जाए जो ललित जैसा भी कुछ बन पड़े तो अच्छा पर ऐसा तो न ही हो कि मेरे दुराग्रहों की अभिव्यक्ति को कोई भावी शोधशूर राजेन्द्र जी की प्रामाणिक जीवनी समझ बैठे। यानी अब जो प्रस्तुत है उसका आधार है जैसा मैंने जाना के अलावा जैसा राजेन्द्र जी ने जहाँ-तहाँ लिखा और उसे जैसा मैंने पढ़ा।

इस परिचय को भारी-भरकम तौर पर सम्मानीय बनाना हो तो जैसा कहा पिछली सदी के सन् छियासठ में मिरांडा हाउस के हिन्दी विभाग में नौकरी शुरू करने के बाद मन्नू जी की सहकर्मिणी और मित्र की हैसियत से उस घर में आना-जाना शुरू हुआ था। बचपना था। समझ कोई खास नहीं थी। मन्नू जी की ममता थी। मातृत्व भाव उनमें हमेशा से ही प्रबल था। टिंकू, उनकी बिटिया, का नाम रचना है। उसके साथ खेलते हुए मजाक में मैं कहा करती थी, यह रचना मैं अरचना। टिंकू के साथ राजेन्द्र जी को कभी-कभी मैं पप्पू भी कहा करती। कभी-कभी इसलिए कि घर में वे होते ही कभी-कभी थे। उतने मशहूर लोगों के आस-पास फटक सकने के एहसास में भी तब एक आतंक था जिसे मैं बहुत चुप रहकर छिपाती थी। चुप रहकर दिखता कुछ ज्यादा है लगता था कि इस घर में जब-तब कभी बेमौसम बादल घिरे होते हैं तो कभी आँधी चढ़ी होती है। लेकिन बस लगता ही था। सन् उन्नीस सौ छियासठ में समझने लायक अकल नहीं थी, न पूछने लायक हिम्मत ही। मेरे वहाँ होने के दौरान राजेन्द्र जी अक्सर घर पर नहीं होते थे। मटरगश्ती के लिए निकल जाने का समय शायद वही रहा होगा। राजेन्द्र जी की सूरत जब पहले पहल राजेन्द्र जी में ही देखी थी तो किसी पत्रिका, शायद धर्मयुग, शायद भारती के सम्पादक काल में प्रकाशित उनकी तस्वीर की याद आई थी जिसका शीर्षक दिया गया था 'ऐय्यारों के ऐय्यार'। पता नहीं तब भी वे पाइप पीते थे या नहीं। तस्वीर में शायद ऐसा न भी हो लेकिन मुझे उनका चेहरा हमेशा धुएँ के गुबार से घिरा हुआ ही याद आता है। धुएँ से धुंधलाया और कुछ बड़े भारी चश्मे

के पीछे छिपा, न खुलने वाले तिलिस्म जैसा—शीर्षक बिल्कुल दुरुस्त था। वाकई ऐय्यारों के ऐय्यार। उन दिनों राजेन्द्र जी को बस इतना ही जाना।

थोड़ा-सा अधिक जानना-सा शुरू किया 'हंस' के संपादन से विधिवत जुड़ने के बाद सन छियासी में। बीस बरस बीत चुके थे। इस दौरान मन्नू जी से सम्पर्क तो बना रहा लेकिन जिन्दगी के बहुत से उतारों, चढ़ावों, मोड़ों, चौराहों के बीच एक दूसरे को भीतर से जानने और साथ सहारा देने का मौका प्रायः नहीं रहा। दूर-दूर से पता तो चलता रहा कि बीच-बीच में कभी कोई तूफान उठा लेकिन बिना किसी विशेष ध्वंस के बैठ गया। निशान तो छोड़ ही जाता रहा होगा।

इस बीच मैं अपनी जिन्दगी में बड़ी होने के अलावा और भी बहुत कुछ कर बैठी थी। जिसमें से यहाँ काम की बात महज इतनी है कि 'दिनमान' के लिए नियमित रूप से लिखते हुए बिना किसी योजना या उद्देश्य के ही समीक्षा के तन्त्र में फँस और साहित्य से जुड़ चुकी थी। और जब राजेन्द्र जी ने 'हंस' शुरू किया तो मेरा सहयोग समीक्षा स्तम्भ को नियमित रूप से, विधिवत चलाने के लिए ही लिया था। यानी सिर्फ समय बिताने के सामान की तरह शुरू किया गया काम अब जी का जंजाल बन चुका था। साहित्यिक बताने लगे थे कि समीक्षा ही वह सबसे ज्यादा मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण कर्म है जो मुझे करते रहना चाहिए। पढ़ने का शौक मुझे है और यह पता भी कि लिखने वाले को एक 'फीड बैक' की आकांक्षा और अपेक्षा होती ही है। मित्रों की अपेक्षाओं को टालना आसान काम नहीं इसलिए बार-बार यह प्रण करने के बावजूद कि अब बस, यह आखिरी समीक्षा थी, फिर खुद ही उस प्रण को तोड़ भी बैठती हूँ। इसलिए तब 'हंस' को मेरी और मुझको 'हंस' की जरूरत का मूलाधार यह समीक्षा ही थी। फिर पता नहीं कैसे पहला अंक निकलने के पहले ही इस मूलाधार का तरह-तरह से बंटाधार हुआ जो अपनी शाखा प्रशाखा निकालता चला गया और मैं वहाँ प्रूफ रीडिंग से लेकर रचनाओं की पहली छंटनी और जब जरूरत तब वैसा माल—कविता, कहानी, छोटी कहानी, लम्बी कहानी, समीक्षा एक बार का तो सम्पादकीय भी, वगैरह सप्लाई करने जैसे तरह-तरह के धन्धों से फँसी पाई गई। यानी कुल मिला कर शुरू के सालों में टाइम टेबिल का काफी हिस्सा 'हंस' के दफ्तर में बीतने लगा। इसमें मेरी अपनी भी कमजोरी रही ही होगी। और कुछ नहीं तो अपेक्षाओं को टाल न पाने फिर अटक भीर और अड़ी-भिड़ी के समय बावजूद अनिच्छा और आलस्य के बरबस उठ खड़े होने की निहायत औरताना आदतें जो अपने आप से बेहद लड़ाई के बावजूद छूटती ही नहीं और भुनभुनाने की मनःस्थिति में इस फंसावड़े की सारी जिम्मेदारी (पढ़िए गलती और गुनाह) मैं राजेन्द्र जी पर डालना पसन्द करती हूँ। मुझे भी इस तरह अपने लिए एक स्थायी बहाना मिला हुआ है कि 'हंस' की फाइल दर फाइल कहानियाँ पढ़ते हुए और रहे-सहे वक्त में तथाकथित बाकी धंधे निपटाते हुए न वक्त बचता है न दिमाग कि मैं सचमुच जो लिखना चाहती हूँ वह लिख सकूँ। इस सिलसिले में भुनभुनाना एक किस्म की क्षतिपूर्ति ही समझिए। यह अलग बात है कि बीच-बीच में जब कुछ अरसे के लिए समीक्षा वगैरह से हाथ समेटा तब कुछ

और भी नहीं ही लिखा। थोड़ा बहुत जो लिखा गया वह कभी न लिखा गया होता यह फँसावड़ा अगर न होता। राजेन्द्र जी यह कला जानते हैं। वे जानते हैं कि मैं सिर्फ दबाव और मजबूरी में ही काम करती हूँ। वे मुझे यह भी बताते हैं कि मेरे बहानों का असली नाम आलस्य है। कभी चुनौती से, कभी धिक्कार से, कभी अपनी असहायता और अन्यत्र व्यस्तता के प्रदर्शन से और इस सबसे बढ़कर इस जानकारी से कि किस पर किस वक्त कौन-सा हथियार काम करेगा, वे लोगों को प्रेरित, उत्तेजित करके काम के लिए धकेलना जानते हैं। उनकी इन्हीं युक्तियों (पढ़िए हथकंडे) का नतीजा है कि आज मैं अखिलेश के चंगुल में फँस कर खुद राजेन्द्र जी को इस ललित निबंधनुमा चीज का विषय बनाकर इस चिन्ता में बैठी हूँ कि यह ऐय्यार जो खुद ही तिलिस्म भी है, खुद ही तहखाना भी, इसकी चाभी है कहाँ। और विषय ऐसा फिसलवां साबित हो रहा है कि आसानी से पकड़ में आने की बजाय अवांतर भटकाता ही चला जा रहा है। शायद ऐसा भी होता हो कि जहाँ आसानी से कोई रहस्य पकड़ में न आए वहाँ दरअसल रहस्य हो ही नहीं, सिर्फ रहस्य के लक्षण होने की वजह से मान लिया जाए कि रहस्य भी है। अब आज के जमाने में विवाहेतर प्रेम प्रसंग या स्त्री हृदय संग्रह जैसे शौकिया शिकारों को रहस्य की कोटि में रखने की तुक तो कोई है नहीं। उन्हें लेकर छोटा-मोटा स्कैण्डल तक खड़ा करने के लिए भी बिल क्लिंटन चाहिए। उनकी आदत अलग है जिनके संस्कार आधी सदी पहले पड़ चुके थे या फिर जिनके भीतर भय है जिनमें स्त्रियाँ ही प्रमुख हैं जो भुगतती आई हैं और जो अब बहादुरी के कारनामों में स्वयं भी पीछे नहीं हैं और जो अब प्रतियोगिताओं में पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक फायदे में हैं क्योंकि देने वाली कुर्सियों पर जब तक अधिकतर पुरुष हैं तब तक इनके पास देने के लिए ऐसा कुछ है जो पुरुष प्रतियोगियों के पास नहीं है और जो उन स्त्रियों के लिए भी एक संकट खड़ा करती हैं जो इन शर्तों पर प्रतियोगिता में शामिल होना नहीं चाहतीं। पर यह भी यहाँ एक अवांतर प्रसंग है। इसे आगे के लिए स्थगित करते हुए रेखांकित यहाँ मैं सिर्फ यह करना चाहती हूँ कि 'कथादेश' के पूर्वोक्त साक्षात्कार में उल्लिखित राजेन्द्र जी के इकबालिया प्रेम-प्रसंगों के अतिरिक्त—जो अब रहस्य नहीं रहे—अन्य रहस्य कहीं हैं या नहीं? वह तोता कहाँ है जिसमें राजेन्द्र जी की जान है?

फिलहाल वह तोता शायद 'हंस' है। बरसों के पाले हुए सपने का सच। और उनके इच्छा जगत में सम्पादक का जैसा होना चाहिए वैसे ही सम्पादक की भूमिका उन्होंने अपने लिए तय की है। अपनी सारी भुनभुनाहट के बावजूद इतना तो मैं भी जानती हूँ कि यह एहसास उन्हें शायद बहुत गहराई तक तृप्त करता है कि किसी की रचनाशीलता को खाद-पानी देने में उनका भी हाथ है। 'हंस' के साथ जुड़े गए लेखकों की लम्बी जमात का स्नेह और लगाव इसी का फल है लेकिन इसके कुछ अवांतर नतीजे भी हैं ही। जैसे कि राजेन्द्र जी का यह आग्रह कि वापस जाने वाली रचना में अगर थोड़ी भी गुंजाइश दिखे तो उस पर टिप्पणी और साथ में संशोधन की सलाह जरूर नत्थी की जाए पहली छंटनी का काम इससे बढ़ता और मुश्किल

होता है यह स्थिति का सिर्फ एक ही पहलू है। यह भी होता रहता है कि सलाह के नतीजे खुद को ही भुगतने पड़ें। लेखक अगर सलाह को अमल में लाकर सचमुच संशोधन कर डाले और हंस को सलाह और संशोधन के बीच कोई तालमेल नजर न आए तो गलती जाहिर है, हमारी होगी। संशोधन के कारण अगर कहानी और भी बिगड़ गई-सी पाई जाए तो इस सत्यानाश की जिम्मेदारी भी जाहिर है हमारी ही होगी। विचारार्थ दुबारा भेजते समय अगर लेखक मान चुका हो कि इस बार तो रचना स्वीकृत होगी ही तो उचित ही यह उसका अधिकार है। लेकिन दुर्भाग्य से यदि रचना को लौटाना पड़ा तो मामला सम्पादकीय तानाशाही का और लेखकीय अधिकार में हस्तक्षेप का बन जाता है। स्नेह और लगाव धरा का धरा रह जाता है और नाराजों की गिनती में एक और का इजाफा होता है। जितनी आसानी से राजेन्द्र जी दोस्त बनाते हैं उतनी ही आसानी से दुश्मन भी लेकिन प्रकाशन की शुरुआत के चौदह वर्ष बाद, आज भी यह सम्पादकीय नीति बरकरार है और राजेन्द्र जी यथासम्भव लेखकों को पत्र भी स्वयं ही लिखा करते हैं।

पत्रों का किस्सा भी खासा दिलचस्प है। 'हंस' के दफ्तर में वे ढेर के हिसाब आते और बेहद चाव से पढ़े जाते हैं। डाक राजेन्द्र जी खुद अपने हाथों से खोलते हैं और सबसे ज्यादा मजा नाराज पत्रों को पढ़ कर पाते हैं जो कभी-कभी सचमुच इतने नाराज होते हैं कि बाकायदा गोली से लेकर गाली तक ही समूची रेंज संभाले होते हैं। और गालियाँ भी गोली से कतई कम नहीं, शायद कुछ बढ़ कर भले हों। इस मामले में राजेन्द्र जी का प्रिय शगल यह है कि खुद पहले पढ़ चुकने के बावजूद निहायत भोले और अनजान बन कर कोई ठेठ माँसाहारी किस्म का खत मुझे या वीना (सुश्री वीना उनियाल, हमारी कार्यालय सहयोगिनी) को थमा कर वे उसके सामूहिक सस्वर पाठ की फर्माइश करेंगे कि देखो तो जरा, क्या कहता है, मेरी समझ में नहीं आ रहा है, पढ़ कर सुना दो और इस काम में मेरी या वीना की भद्र महिला सुलभ आत्मछवि को खतरे में डाल देंगे। यानी कि होगा यह कि 'सम्पादक साले उल्लू के पट्ठे, तू अपने को समझता क्या है' जैसी अपेक्षाकृत विनम्र वचनावली से शुरू होने वाला पत्र जरा दूर चल कर माँ की, बहन की शान में अकथनीय इजाफा करता हुआ मिलेगा और पढ़ने वाली पढ़ती जाए तो अपनी स्त्रीजनोचित सुशीलता की शान में और न पढ़ पाए तो तथाकथित बौद्धिकता के गुमान में बट्टा लगते हुए पाएगी ही। एक दिन खीझ कर मैं भी खेल ही गई। अन्त तक पढ़ ही डाला। थोड़ी देर सन्नाटा रहा। फिर राजेन्द्र जी ने ठहाका लगाया। उस दिन के पहले तक के पुरुष प्रधान 'हंस' जगत में पुरुषोचित विमर्श के आकांक्षी होने पर मुझसे कमरा छोड़ देने की प्रार्थना की जाती थी। उस दिन से मैंने स्वयं को पूर्णकालिक सदस्य की हैसियत से स्वयं को दाखिल पाया और 'हंस' के साथ मेरे सम्बन्ध में सबसे अधिक मूल्यवान बात मुझे यही लगती है कि वहाँ अपने स्त्री होने के एहसास का कोई प्रतिबंधक दबाव मुझे अपने मन पर महसूस नहीं होता। प्रेमी पुंगव के रूप में राजेन्द्र जी की ख्याति के सार्वजनिक होने के पहले और स्वयं इस ख्याति से

अपरिचित होने के कारण मैं इस आशय का प्रमाणपत्र जब-तब प्रसारित किया ही करती थी। बिना माँगे। इसके पीछे अपनी आश्वस्ति और निश्चिन्तता की अभिव्यक्ति है कि ऐसी दोस्ती और ऐसा दफ्तार भी सम्भव है। वह प्रमाणपत्र अब भी अपनी जगह बरकरार है। लेकिन उसे अब मैं पहले की तरह प्रसारित प्रायः नहीं करती। वजह बचकानी और हास्यास्पद है। एक तो यह धारणा कि यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है, सामान्यीकरण का आधार नहीं बन सकता। दूसरे यह आशंका कि जनता की मनोवृत्ति को देखते हुए मेरे अनुभव की तुलना में राजेन्द्र जी ख्याति ज्यादा विश्वसनीय साबित होगी।

लेकिन बात पत्रों की हो रही थी। मत और सम्मत से प्रकाशन के लिए पत्रों का चुनाव करते समय उन पत्रों की जगह सबसे ऊपर होती है जिनमें 'हंस' और राजेन्द्र जी की सख्त आलोचना हो। लेखकों के अलावा पाठक भी ऐसे पत्र काफी खुले दिल और इत्मीनान से लिखते हैं। बल्कि कुछ ज्यादा ही इत्मीनान से। शायद वे भी जान चुके हैं कि वैसे पत्र जरूर छापे जाएँगे। सम्पादक की डाक में बहुत से व्यक्तिगत पत्र भी होते हैं। उनमें स्त्रियों के पत्रों की संख्या भी अच्छी-खासी होती है। कई बार ये साहित्यिक मसलों से जुड़े होते हैं तो कई बार लिखने वाले की बिल्कुल निजी दिक्कतों और समस्याओं के बारे में भी। लिखने वाले भी ऐसी पृष्ठभूमि के कि सोचना मुश्किल लगे कि इन्हें 'हंस' और राजेन्द्र जी के बारे में मालूम कैसे हुआ होगा। एक पत्र उत्तर प्रदेश के किसी गाँव की किशोरी का था। उसकी समस्या लड़की होने के कारण परिवार में अपनी उपेक्षा से जुड़ी हुई तो थी ही, इस समय और भी विकट हो उठी थी क्योंकि वह अपनी दसवीं तक की पढ़ाई पूरी करना चाहती थी जब कि घर वाले उसकी शादी कर देने पर तुले हुए थे। राजेन्द्र जी से उसकी अपेक्षा यह थी कि दिल्ली में उसके लिए एक नौकरी का प्रबन्ध कर दें तो वह शादी के पहले ही घर से भाग निकले। कुछ पत्र भावना और कर्तव्य के चिरंतन द्वन्द्व से फँसी विवाहिताओं के होते हैं जो अपनी नैतिक दुविधाओं का समाधान राजेन्द्र जी से माँगती हैं। एक दिवंगत विधुर लेखक की अविवाहिता समर्पिता के इस आशय के पत्र पिछले दिनों राजेन्द्र जी की चिन्ता के विषय बने रहे कि अब वह अपने जीवन का क्या करें और दिवंगत की सम्पत्ति में से अपने गुजारे लायक कुछ पा सकने का उसका कोई कानूनी अधिकार है या नहीं। राजेन्द्र जी को ये पत्र लेखक क्यों अपना विश्वासपात्र चुनते हैं, उनके साथ कैसे इतने निस्संकोच हो उठते हैं, कैसे ऐसी असम्भव-सी अपेक्षाएँ उनसे रखने का अधिकार ले लेते हैं, मालूम नहीं लेकिन इतना मालूम है कि राजेन्द्र जी हर पत्र को गम्भीरता से लेते और भरसक हर समस्या को समझने सुलझाने की कोशिश के साथ जवाब लिखते हैं। कम-से-कम जवाब तो लिखते ही हैं, बाकी समस्याओं का उलझना सुलझना उनके हाथ में कहाँ। पर उनका विश्वास है कि और कुछ किसी को न भी दिया जा सके 'टी एण्ड सिम्पैथी' तो दी जा सकती है।

लेखक जाति के जन्तु से थोड़ा बहुत साबका तो 'हंस' के साथ जुड़ने के पहले

भी पड़ता रहा था लेकिन अब का देखना उन्हें झुण्ड का झुण्ड देखना था, और उनके बीच राजेन्द्र जी को देखने का मतलब उन्हें उनके प्राकृतिक आवास में, स्वाभाविक व्यक्तित्व और अस्तित्व में देखना था। जो न बल्ख में पाया न बुखारे में उस किसी दुर्लभ तत्त्व की तलाश में दिल्ली से होकर गुजरने वाला अमूमन हर लेखक रज्जू के चौबारे तक आ ही पहुँचता है। वह दुर्लभ तत्त्व है बतरस। 'हंस' का दफ्तर वह प्रदेश है जहाँ इसकी बरसात का कोई मौसम नहीं। या कहें कि हर मौसम इसी बरसात का है।

जुए और शराब जैसी कोई चीज है बतरस। अपने आप में भरा-पूरा एक नशा और निस्सन्देह राजेन्द्र जी सिद्ध कोटि के नशेड़ी हैं। यह मानसिक भोजन है लेकिन सिर्फ सात्विक और निरामिष किस्म का। वैसा मानसिक भोजन नहीं जो सिर्फ पेट भरता है स्वास्थ्य को सुरक्षित रखता है ऊपर से देखते हुए किसी को जितना जाना जा सकता है उतनी-सी अपनी जानकारी के बल पर कहूँ तो ऐसा लगता है कि संगत अगर मन की हो तो राजेन्द्र जी के लिए शायद बिल्कुल निजी तौर पर जिन्दगी की प्राकृतिक और बुनियादी किस्म की अनिवार्य जरूरतों के अलावा बाकी हर चीज का स्थानापन्न है यह बतरस। बल्कि कहना यह चाहिए कि वह उनकी प्राकृतिक और बुनियादी जरूरतों में से एक तो है ही, जरूरत से बढ़कर एक नशा भी है। उसकी जगह हर चीज से ऊपर और पहले है, शायद उन जरूरतों के भी ऊपर और पहले जो उनके स्वयं स्वीकृत प्रेम सम्बन्धों से पूरी होती है। यह जीवन के साथ उनका सम्पर्क, लेखन के लिए सामग्री का स्रोत और न लिख पाने के दिनों में स्वयं सृजन का स्थापन्न है। बतरसियों का शायद सभी जग यही हाल हो।

बतरस में शामिल संगत के हिसाब से सामग्री और स्तर बदलते रहते हैं। लेकिन केवल परनिन्दासुख का टॉनिक पीकर पुष्ट होनेवाली गोष्ठी यहाँ प्रायः नहीं होती। यानी अगर होती है तो निन्दनीय की उपस्थिति में, आमने-सामने, सद्भाव सहित टाँग खिंचाई के रूप में, जिसका मजा उसे खुद लेने को मजबूर होना पड़ता है। इन सरस आत्मीय प्रसंगों के शिकारों में 'हंस' का पूरा स्टाफ भी शामिल है जो राजेन्द्र जी के मुँह से ऐसी बातें सुनकर निहाल हो लेता है जिन्हें कोई और कहे तो अपना सिर फुड़वाए। कभी वीना का परिचय देते हुए किसी से वे कह बैठेंगे, "पिछल बारह वर्षों से यह मेरी संगिनी है" और वीना का चेहरा देखने लायक होगा। कभी कविता (नवोदित समीक्षिका, कवयित्री और कथाकार, इन दिनों 'हंस' के शीघ्र प्रकाश्य कथा संचयन में सहायक) की स्वाद सम्बन्धी रुचियों का बखान होगा। 'हंस' का हर आगंतुक उसके एकाग्र आलू प्रेम से परिचित है। कभी किशन का प्रशस्ति गान चल रहा होगा, "यह तो अगर बिड़ला के यहाँ भी नौकरी कर रहा हो तो साल भर में उसे दीवालिया बनाकर सड़क पर निकाल दे।" या फिर यह कि "घर का मालिक तो असली यही है, जो करता है सब अपने लिए। जो खाना हो सो बनाता है। खा-पीकर ठाठ से मस्त रहता है। सब इसी का है। हम साले कहाँ। हमारा क्या।

एक रोटी खा लेते हैं। एक कमरे में पड़े रहते हैं। बाकी सारा घर तो इसने दबा रखा है।" इत्यादि और किशन सुनी-अनसुनी करता हुआ व्यस्त भाव से दफ्तर के इस कमरे से उस कमरे में होता रहेगा और खाने के समय अभिभावक के रोब से डाँट कर सारी कसर निकाल लेगा। चुपचाप खा लीजिए। यह दवा लीजिए। नहीं तो मैं दीदी (टिंकू) से शिकायत कर दूँगा और राजेन्द्र जी बच्चों की तरह ठुनकते रहेंगे। देखकर लगेगा कि यही इनका असली आनन्द है कि इसी तरह उल्टे पलटे, उठाए धरे, झाड़े तहाए जाते रहें। नाज-नखरे उठते रहें। यह भी सच है कि किशन लम्बी छुट्टी पर चला जाएगा तो दो-चार दिन परेशान दिखने के बाद उसी मुफलिस मिस्कीन मुद्रा के ऐसे अभ्यस्त दिखाई देंगे जैसे सदा से ऐसे ही रहने के आदी हैं। अनमेल कपड़े, अगड़म खाना, अनूठी धजा। बताएँगे कि आखिर घर का मालिक अनुपस्थित है तो इतना फर्ज तो राजेन्द्र जी का भी बनता ही है कि उसकी अनुपस्थिति को सलामी दें फिर बीना, हारिस, दुर्गा, अर्चना सबके डिब्बों से राजेन्द्र जी के लिए इतना खाना निकलेगा कि दोपहर में दफ्तर में खाने के बाद वे रात के लिए घर ले जाएँगे और अगले दिन दफ्तर में बताएँगे कि उसी में मेहमान भी खिला लिए। यानी दफ्तर में किसी दिन मेहमान कोई आए या न आए, रौनक के लिए राजेन्द्र जी अकेले ही काफी हैं। छेड़-छाड़ का ताना-बाना आत्मीयता का एक वितान बुनता है। यह सबको अपने साथ लेकर चलने का उनका तरीका है। कहीं दूर-दराज से एक दिन को दिल्ली आया हुआ कोई अपरिचित पाठक भी घंटे-आध घंटे की अपनी मुलाकात में इस आत्मीयता का प्रसाद पाकर गद्गद् हो उठता है।

आने वालों की न पूछिए। किस्म-किस्म के लोग। लोगों का ताँता। लेखक और आलोचक तो खैर प्रतीक्षित और प्रत्याशित ही हैं, अप्रत्याशित का स्वागत और सामना करने को भी हंस जगत तैयार रहना सीख गया है। राजेन्द्र जी के दफ्तर के कमरे में प्रवेश का दरवाजा मेरी कुर्सी के पीछे है। एक दिन झपटकर वे सज्जन (नाम नहीं मालूम) भीतर घुसे और पीठ पीछे से हाथ का वस्ता मेरे सामने पटका। झपट्टे का झोंका मेरे बाये कंधे पर भी लगा लेकिन उनका असल निशाना राजेन्द्र जी थे। जब तक कोई कुछ समझे, वे कस-कस कर दो घूँसे राजेन्द्र जी को जमा चुके थे और बाकायदा सुसज्जित भाषा में गरज रहे थे, कहाँ छिपा रखी है मेरी चन्द्रमुखी। निकाल साले। वरना खून पी जाऊँगा। अरविंद जैन, हारिस, दुर्गा, किशन वगैरह ने मिलकर मुश्किल से किसी तरह काबू किया और उनको बाहर निकाला वरना दुनिया भर के अन्याय के खिलाफ मुहिम पर निकला अकेला बांकुरा अभी पता नहीं क्या-क्या गुल खिलाता। हालत अमिताभ बच्चन की फिल्म के सेट जैसी होते-होते बची। बल्कि थोड़ी-बहुत तो हो ही गई। देर तक किस्से-कहानियाँ चलती रहीं।

मैं काफी देर स्तब्ध रही। अन्तर्कथा यूँ थी कि कवियशः प्रार्थी उन सज्जन को असफल प्रेम के दंश ने इस दशा को पहुँचाया था। उनकी चन्द्रमुखी का कोई सम्बन्ध राजेन्द्र जी की पूर्वोक्त ख्याति से नहीं था। राजेन्द्र जी से उनकी शिकायत थी कि 'हंस' के सम्पादक के रूप में अपनी सर्वशक्तिमान हैसियत का इस्तेमाल उन्होंने

चंद्रमुखी को वापस दिलवाने के लिए क्यों नहीं किया था। आखिर वे भी तो रचनाकार होने के नाते उनकी बिरादरी के सदस्य थे। राजेन्द्र जी से लोगों की अपेक्षाओं के आकार-प्रकार की सचमुच कोई हद नहीं और उसी वजन पर अपनी रचनाकार बिरादरी का भी कोई जवाब नहीं।

लेकिन मुद्दा था बतरस। बतरसिया का स्वभाव भी उसके नशे के जरूरत के सांचे में ढल जाता है। इस सांचे का बुनियादी तत्त्व है भाषा के साथ एक खास किस्म का रिश्ता। राजेन्द्र जी को बोलते हुए सुनिए। वे बात नहीं करते, संवाद अदा करते हैं। उधर से किसी ने टेलीफोन पर पता नहीं क्या कहा। इधर से राजेन्द्र जी बोल रहे हैं, "तो इंतजाम करना और इंतजार भी।" दूसरे मिसरे का इन्तजार मत कीजिए महाशय। यह कोई गजल नहीं, सिर्फ एक बात है। वैसे मौके के हिसाब से मौजूं शेरों का भी पूरा भण्डार उनके पास है और ठीक मौके पर सही शेर उनको याद भी पता नहीं कैसे लेकिन जरूर आ जाता है। यही हाल चुटकुलों का भी है। 'फूल्स रश इन व्हेयर एन्जिल्स फियर टु ट्रेड' के उनके इस अनुवाद की सानी कहाँ मिलेगी, 'चूतिये धंस पड़ते हैं वहाँ, फरिश्तों की फटती है जहाँ।' 'टार्च' का उनका हिन्दीकरण है 'ज्योतिर्लिंग'। भाषा के साथ एक बेहद अंतरंग, लचीला और घनिष्ठ रिश्ता उनके लेखन से भी ज्यादा उनकी बातचीत से फूटा पड़ता है।

ये एक अच्छे 'कनवर्सेशनलिस्ट' के जरूरी औजार हैं लेकिन ज्यादातर मशक्कत तत्काल और तत्क्षण होती है। यह तत्कालता या प्रत्युत्पन्नमतित्व बतरसिया की अंतरंग योग्यता है। इसका मतलब शब्दों के इस्तेमाल में—अपने भी और दूसरे के भी—केवल शब्दों के प्रति—एक चौकन्नापन है। मौका मिलते ही मुहाविरे को पलट दिया जाए। बात बदल जाएगी। दो उस्तादों के बीच कभी ऐसा मुहाविरा महासमर देखने का मौका मिला हो तभी उसके असर का पूरा अंदाजा लगाया जा सकता है। बरसों उसके उद्धरण चुटकुलों की तरह हिन्दी जगत में सुने-सुनाए जाते हैं। ऐसी ही एक सुनी-सुनाई यूँ है कि—पर सुनाने के पहले ही साफ कर दूँ कि गुजरे जमाने की बातें हैं, वह भी सुनी-सुनाई, सो कापीराइट संदिग्ध है। यानी संवादियों के नाम तो शायद सही हैं पर किसकी पंक्ति कौन-सी है यह पूरी तरह से निश्चित नहीं है। पहले उदाहरण के संवादी हैं स्वर्गीय श्री मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव। मोहन राकेश अपना लेखन टाइपराइटर पर करते थे। किसी पत्रिका के बहुत शॉर्ट नोटिस पर दोनों से रचना की फर्माइश थी। लेखकोचित नखरे से राजेन्द्र ने कहा कि इसका क्या है, यह तो दे ही देगा। यह तो टाइपराइटर से लिखता है। दिक्कत हमारी है। हम दिमाग से लिखते हैं।

छूटते ही राकेश ने कहा कि पन्द्रह साल से हम दोनों लिख रहे हैं। मैं टाइपराइटर से और यह दिमाग से। मेरा टाइपराइटर तो भाई पन्द्रह साल में खचड़ा हो गया है। राजेन्द्र जी के दिमाग के बारे में राकेश ने कुछ नहीं कहा। दूसरी एक घटना के संवादी शायद कमलेश्वर के साथ राजेन्द्र यादव हैं जिसमें एक ने दूसरे के दिमाग में गोबर भरा होने की घोषणा की तो दूसरे ने जानना चाहा कि फिर पहला उसे इतनी देर

से चाट कर क्या साबित कर रहा है। एक बार ऐसा हुआ कि कविवर श्री अजित कुमार, उनकी पत्नी कवयित्री श्रीमती स्नेहमयी चौधरी यादव दम्पत्ति के साथ यात्रा पर गए। अजित कुमार के सन्दर्भ में राजेन्द्र जी की नामकरण प्रतिभा अपने चरम शिखर पर पाई जाती है। उनके दिए गए 'गोल-मोल', 'खिटखिट' तथा 'घपलाकर' जैसे नाम मित्रों के बीच स्थायी रूप से स्वीकृत हो चुके हैं। इस यात्रा में अजित कुमार ने नया नाम पाया पतिदेव। स्नेहजी के प्रति उनकी अतिरिक्त चिन्ता शायद इसके मूल में रही हो पर जल्दी ही यह नाम से ज्यादा टाँग खिंचाई का साधन बन गया। बताया जाता है कि अजित कुमार ने यह कहकर हिसाब बराबर किया कि जहाँ बाकी सब विपत्तिदेव हों वहाँ कम से कम एक का पतिदेव होना ठीक ही नहीं जरूरी भी है। इन्हीं अजित कुमार के विषय में राजेन्द्र जी की एक प्रिय छेड़ यह भी है कि उनके प्रेम प्रसंग कभी पकड़े न जाएँगे क्योंकि वे इतने चतुर हैं कि प्रमाण कभी छोड़ते ही नहीं। उनकी प्रेमिकाओं के घर में उनके पत्र नहीं मिलते कि कोई उन्हें ब्लैकमेल कर सके, पुत्र मिलते हैं जिनके बारे में कोई कह नहीं सकता कि किसके हैं।

शब्दों के साथ इस किस्म के खिलवाड़ की क्षमताएँ केवल खेल में खत्म नहीं हो जातीं। खेल के अतिरिक्त वे केवल रचना के समय में ही सक्रिय होती हों ऐसा भी नहीं है। जितनी देर यह खेल चलता है, उतनी देर वह अद्वितीय है। उसका स्थानापन्न दूसरा कुछ नहीं हो सकता। लेकिन खेल के बाहर वे उसे मानसिकता की अभिव्यक्ति जान पड़ती है जिसके लिए सारी संवेदनाएँ जैसे शब्दों में रहती हों, उन सचमुच के एहसासों में नहीं जिन्हें शब्द पैदा करते हैं। वे 'एक दुनिया समानांतर' के वासी हैं जो शब्दों में रचित हैं। अजीब विरोधाभास है कि रचना के सन्दर्भ में तो आग्रह यह हो जाए (जो कि पहले नहीं था) कि भाषा और यथार्थ के बीच का फासला न्यूनतम हो, लगभग कलाहीन और सपाट जबकि जीवन के साथ सीधे सम्पर्क में भाषा एक आड़ बन जाए, एक फासला। हर देखे-सुने को, व्यक्ति हो या घटना या फिर अनुभव, सूक्तियों और सूत्र वाक्यों में बदलकर मनोकोष में दर्ज कर लेने की मजबूरी-सी हो जाती है जो केवल लेखन तक बाकी नहीं रहती, जीने की प्रक्रिया का हिस्सा बल्कि पर्याय बन जाती है। राजेन्द्र जी के अनुभव कोष में हम सब शायद इसी तरह दर्ज हैं एक सूक्ति, एक सूत्र वाक्य या एक परिभाषा बनकर। यह आदमी और अनुभव के अमूर्त्तन का तरीका है। एक स्तर पर यह खुद अपना भी अमूर्त्तन है यानी अपने आपे के साथ भी केवल एक वैचारिक रिश्ता। क्या यह एक तरह का कवच है?

इस जगह आकर उस दूसरे स्तर के बतरस की बात शुरू की जा सकती है जिसे राजेन्द्रजी भी गम्भीरता से लेते हैं और उनके प्रशंसक पाठक भी। गोष्ठियाँ भी होती हैं पर उनके सदस्य और इलाके 'हंस' के दफ्तर के बाहर हैं, वे विद्वत्‌जन हैं। ये गोष्ठियाँ केवल शगल नहीं हैं, उनमें एक गम्भीर सोद्देश्यता है और वहाँ बीते वक्त में एक स्वयंसिद्ध सार्थकता का भाव है। नहीं है अगर तो अपने सोचे-समझे के प्रति एक सप्रश्नता। इसी का एक और प्रकार अपने पाठकों के साथ 'मेरी तेरी उसकी

बात' में उनका सीधा संवाद है। साहित्य और साहित्यकारों के बारे में कुछ बेहद स्मरणीय और संग्रहणीय सम्पादकीय उन्होंने लिखे हैं। लेकिन इन्हीं में कुछ किताबों के बारे में वे सम्पादकीय भी हैं जिनके लेखक जीवन भर 'हंस' के सम्पादकीय के लिए अपनी किताब के चुन जाने के सौभाग्य से आहत और रुष्ट रहेंगे। इसलिए कि सम्पादकीय दरअसल किताब के बारे में होगा ही नहीं, किताब के बहाने से राजेन्द्रजी के अपने किसी मंतव्य, धारणा या निष्कर्ष को स्थापित कर रहा होगा लेकिन इसी क्रम में किताब या तो रद्द हो जाएगी या फिर रद्द कर दी गई सी प्रतीत होगी। किसी किताब या किताब के अंश को केवल प्रस्तान की बिन्दु की तरह इस्तेमाल करते हुए उससे बिल्कुल अलग अपनी रुचि, विचार, सनक या मनस्तरंग की घाटियों में भटक या बहक जाना उस तथाकथित आलोचना की पद्धति है जो स्वयं को रचना का स्थानापन्न मानती है और अपने डंक से रचना को घायल करती है। इधर राजेन्द्र जी इस किस्म की आलोचना या रचना पर अक्सर हाथ आजमा रहे हैं और अपने आहतों और रुष्टों की गिनती बढ़ा रहे हैं। लेकिन इससे वे डरते कब हैं? वे तो प्रतिक्षण अपनी निडरता प्रमाणित करने को तत्पर बल्कि लालायित रहते हैं। इतने कि अगर कश्मीर के रास्ते में निकलकर किसी के साथ अपनी असहमति दर्ज करानी याद आई तो दुलत्ती झाड़ने के लिए कन्याकुमारी होते हुए कश्मीर जाएँगे। आपको लाख लगता रहे कि यह अप्रासंगिक विषयान्तर है पर उनका तो रास्ता ही उधर से है। क्षमा करें, ये सारे सम्पादकीय गुण हैं। और राजेन्द्र जी अपने सोचे-समझे की मूल्यवत्ता और सत्यता के प्रति पूरी तरह से आश्वस्त हैं। यहीं से तो उस आत्मविश्वास का सोता फूटता है जो मूल्यांकन के लिए अपने को प्रतिमास पाठक के सामने परोसने का बल देता है। लेकिन जिस किताब के सहारे वे अपने आत्मविश्वास का उद्घाटन कर रहे हैं वह भी किसी के आत्मविश्वास की अभिव्यक्ति है जिसे वे अकारण अपनी सम्पादकीय पीठ की सुरक्षित और अनुकूल स्थिति से ध्वस्त करने को उद्धत हैं, इस बात की ओर उनका ध्यान स्वयं न जाता है और न वे ध्यान दिलाने पर भी देने को उत्सुक या तत्पर दिखाई ही देते हैं। किताब मैदान में उतरने के पहले ही मारी जाती है जबकि स्वयं किताब के साथ उनकी अपनी कोई खास असहमति भी नहीं और अपनी बात वह बिना किताब के हवाले के यूँ भी कह सकते थे अगर एक बना-बनाया सन्दर्भ पा जाने की सुविधा का लोभ न होता तो।

समस्या उन सम्पादकीयों के साथ ज्यादा टेढ़ी है जिनमें उनके इतिहास, समाज और राजनीति के विश्लेषण हुआ करते हैं और जिनमें राज, समाज और इतिहास की समझ की कोई खास या आम तैयारी नामौजूद है। पाठक जानते हैं कि आज का 'हंस' वही हंस नहीं है जो चौदह वर्ष पहले प्रकाशित होना शुरू हुआ था। हालाँकि तब शुरू होने के लाभ आज भी उसके पास हैं। आज भी वह अन्य पत्रिकाओं की अपेक्षा ज्यादा दूर तक जाता है। तब क्योंकि अपेक्षाकृत लम्बे सन्नाटे के बाद शुरू होने वाली पहली और काफी समय तक अकेली साहित्यिक पत्रिका थी इसलिए सहज स्वीकार और स्वागत का लाभ इसे मिला। उम्मीद है कि अब तक पाठक इसके आदी

हो चुके हैं। 'हंस' की अपनी खासियत भी कुछ न कुछ रही ही होगी। वह एक खुला मंच था जिसे किसी एक पक्ष की वकालत की तरह नहीं, अनेक पक्षों की अदालत की तरह प्रारूपित किया गया था। आज का 'हंस' अपेक्षाकृत बन्द और रूढ़ आयोजन है। राजेन्द्र जी इसे विकास मानेंगे। इसका एक पक्ष रचनाओं का चुनाव है। इस विकास योजना के तहत सौन्दर्यशास्त्र की राजनीति का संशोधन चल रहा है, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के अधिकारों का जातिवादी आरक्षण प्रायोजित किया जा रहा है। लेकिन जरा दूसरे सिरे से देखिए। यह अभिव्यक्ति के जनतान्त्रिक अधिकारों के सदियों के हनन का मुआविजा है। राजेन्द्र जी अपनी 'कान्स्टीट्यूएन्सी' को पोस रहे हैं। वे समझते हैं कि इस तरह मुआविजा दिया जा सकता है। दिक्कत यह है कि उनके पाठक ऐसा नहीं समझते। मुआविजे के तौर जात गोत कर 'हंस' में छापा तो जा सकता है कि लेकिन लेखक के रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता। 'हंस' में छपे होने के बावजूद नहीं। मुख से कहने के बावजूद राजेन्द्र जी क्या भीतर से स्वयं यह विश्वास नहीं करते कि प्रतिभा किसी की बपौती नहीं और प्रतिभाशाली को किसी आरक्षण की जरूरत नहीं चाहे वह जात से कितनी ही सदियों का सताया हुआ दलित क्यों न हो। इस वक्त लिख रहे पिछड़े वर्गों के अनेक रचनाकारों का कृतित्व इस बात का प्रमाण है कि रचना पर मुग्ध होने के लिए रचनाकार की जात पूछने की जरूरत नहीं पड़ती। इस बारे में हमारी बहसों के अनंत सिलसिले में राजेन्द्र जी का आधारभूत तर्क यह है कि 'अक्करमाशी' क्या कोई सवर्ण लिख सकता था? मेरा सवाल यह कि हर दलित क्या दलित होने मात्र से 'अक्करमाशी' लिख सकता है? बहस अनिर्णीत है और हर बार वहीं से शुरू होती है। राजेन्द्र जी के नेक इरादों के बावजूद रचनाओं के चुनाव से पाठकों की असहमति बढ़ती जा रही है। कहा जाता है कि इसकी वजह यह है कि उनकी सौन्दर्य संवेदना और रुचि जड़ हो चुकी है। देखना है कि पाठकों की सौन्दर्य संवेदना संशोधित होती है याकि राजेन्द्र जी ही नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि साहित्य अप्रासंगिक हो चुका है।

उनकी अपनी समझ से 'हंस' आज खुल गया है। जबकि सच्चाइयाँ सीमित और निर्धारित हो चुकी हैं। नतीजे लाए जा चुके हैं। सिर्फ तर्क खोजने बाकी हैं और वे आंकड़ों, तथ्यों के अपने पक्ष में होने पर ही उनका सहारा लेंगे। अन्यथा मामला ठेठ सृजनात्मक किस्म की व्याख्या विशेषज्ञ कल्पनाओं का बन जाएगा। वे पढ़ने में रोचक, अनुमान में सम्भाव्य और इसी पूँजी के बल पर इतिहास को चुनौती देने का हौसला रखती हैं। कभी-कभी घिर जाने पर जब न तर्क होंगे, न तथ्य होंगे तब गोष्ठी में वे मौन से सबको हराएँगे या फिर उन तथ्यों का सहारा लेंगे जो उनके पक्ष की राजनीति ने उत्पादित करके रखे हैं। उनके मित्रों, परिचितों और परिवारियों में जो इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्र के जानकार हैं वे इन सम्पादकीयों के प्रति असहिष्णु, क्षुब्ध और अधीर होते हैं। और राजेन्द्र जी उनकी आलोचनाओं के प्रति उतने ही उदासीन और बधिर। शायद यह असहमति उन्हें इस बात का प्रमाण भी लगती हो कि वे कोई ऐसा जलता हुआ सच बयान कर रहे हैं जिसके

साथ व्यापक असहमति उसकी ज्वलंतता का प्रमाण है। कोई बात तथ्यों, प्रमाणों की बजाय केवल रचनात्मक अन्तर्दृष्टि के सहारे कही जाए तो यह अंतरंग आश्वस्त भाव उसका अनिवार्य स्वभाव है। कहने वाले को लगता है कि वह अपने विश्वास की कीमत चुका रहा है। भले ही अन्तिम सत्यापन में वह बात गलत ही क्यों न साबित होने वाली हो। एक सिरे से देख कर इसे अपने सत्य में आस्था कहा जा सकता है और दूसरे सिरे से देख कर एक खच्चर किस्म का अड़ियलपना और विद्वानों की गोष्ठी के बाहर जहाँ तक सम्पादकीयों का मामला है, ऐसे पाठक तो हमेशा उन्हें मिलेंगे ही और बहुतायत में, जिनका राज, समाज और इतिहास का ज्ञान उनके ज्ञान से मेल खाता होगा या प्राप्त ही उनके सम्पादकीयों से हुआ होगा। उनकी प्रशंसा राजेन्द्र जी के लिए एक तरह का सत्यापन होगा। किसी दूसरे शहर की गोष्ठी में सभाओं के बीच के समय में उन्हें घेरे प्रशंसकों, पाठकों और युवा लेखकों को देखिए, राजेन्द्र जी की नजर के लिए, एक बात के लिए, एक मुस्कान, एक आश्वासन के लिए उनकी उत्सुकता, बेचैनी और तड़प को देखिए। राजेन्द्र जी को कहाँ धरें, कैसे उठाए-बिठाएँ। या फिर दिल्ली से आते-जाते पाठकों, प्रशंसकों, युवा लेखकों का उत्सुक दर्शनार्थी भाव से 'हंस' के दफ्तर में प्रवेश—इनमें कभी-कभी खास इसी मकसद के लिए भी दिल्ली तक आने वाले भी होते हैं—फिर भी राजेन्द्र जी का दिमाग अगर अपनी जगह है तो यह ताज्जुब की बात है। उस प्रश्नहीन सहमति और समर्पण से घिरे हुए राजेन्द्र जी उस पार, बहुत दूर दिखते हैं। असहमति तुच्छ और नगण्य-सी मालूम हो, यह अस्वाभाविक नहीं। मसला उनका है जो असहमत हैं पर उनसे मिलेंगे नहीं। 'हंस' के पहले वाले प्रशंसकों में भी आज असहमतों और नाराजों की गिनती खासी बड़ी है। लेकिन राजेन्द्र जी इसे यूँ समझेंगे कि या तो उसकी कहानी 'हंस' ने लौटा दी होगी (जो कई बार सच भी होगा) या फिर वह भाजपाई होगा (जो कि अक्सर और ज्यादातर गलत होगा)। क्या वह उनके कवच की अछेद्यता अभेद्यता का एक प्रमाण है—हर असहमति की यूँ अपने पक्ष में कोई न कोई व्याख्या ढूँढ़ कर उसे रफा-दफा कर देना? असहमति का प्रसिद्ध उदाहरण आलोचक प्रवर नामवर सिंह के साथ उनके मतभेद हैं जिसका उपयोगी इस्तेमाल प्रायः साहित्यिक गोष्ठी, मंच और सभागार को रोचक बनाने के लिए किया जाता है। ये हिन्दी साहित्य जगत के 'दो बांके' (संदर्भ : भगवतीचरण वर्मा की इसी शीर्षक की कहानी) हैं जिनके जोड़ के अन्त में श्रोता उल्लिखित कहानी के अन्त की तरह यही सोचता पाया जाता है, "मुला स्वांग खूब भरयौ।"

बात उस तोते की है जिसमें राजेन्द्र जी की जान है तो उस सन्दर्भ का जिक्र भी कर दूँ जिसके कारण यह सवाल मेरे मन में आया कि राजेन्द्र जी के कवच में कहीं कोई सुराख है या नहीं। सन्दर्भ हिन्दी साहित्य का वह नवीनतम स्कैण्डल है जिसके नायक राजेन्द्र जी हैं। यानी 'कथादेश' में प्रकाशित वह साक्षात्कार और उसके सन्दर्भ में मन्नू जी की और मेरी वह प्रतिक्रिया जिसने रातोंरात राजेन्द्र जी को खलनायक बना दिया है। एक तो स्त्री विमर्श के जमाने में 'खांटी घरेलू औरत' वाला उनका

बयान ही हल्ला मचवाने को काफी था, ऊपर से विवाहेतर प्रेम प्रसंगों का खुल्लमखुल्ला स्वीकार (मानना पड़ेगा कि वे सच बोल सकते हैं) और तुर्रा यह कि ये रचनात्मकता की शर्तें हैं। गुस्सा तो आता ही। प्रतिक्रिया के प्रकाशन के बाद मैं पहली बार दफ्तर गई। मेरे हाथ में तहमीना दुर्रानी की किताब 'कुफ्र' थी जो राजेन्द्र जी से ही मैंने उधार ली थी। गर्मी काफी तेज थी। राजेन्द्र जी ने काला कुरता पहना हुआ था जो वैसे तो उन पर फब रहा था लेकिन मौसम के हिसाब से देखकर परेशानी-सी हो रही थी। मैंने शायद इसी अभिप्राय की कोई बात कही। यह मौसम और यह रंग या शायद यह लबादा या लिबास किसलिए जैसा कुछ। कि राजेन्द्र जी ने दोनों भुजाएँ लहरा कर बाकायदा घोषणा की 'पीर साईं हाजिर है।' (पीर साईं 'कुफ्र' के उस दुष्ट पापी नायक का नाम है जिससे हरम के अन्दर किसी किस्म का व्याभिचार और अन्याय छूटा नहीं है। स्वैर यौनाचारों से लेकर अनगिनत हत्याओं तक) और यह कहते हुए ठहाका लगाया कि अब जब तुमने बना ही दिया है तो वर्दी भी पहन लूँ। यह वही दिन था जब अखिलेश बैठे राजेन्द्र जी को आत्मकथ्य लिखने के लिए घेर रहे थे और राजेन्द्र जी ने बदले में मुझे घिरवा दिया था। फिर बाद में फोन पर राजेन्द्र जी से मैंने कहा भी कि यह कहाँ मुझे फँसवाया। उन्होंने कहा अब तो बचाओगी। मैंने कहा बचाऊँगी क्यों? मुझे तो यह देखना है कि आपके कवच में सुराख कहाँ है तो फिर वही ठहाका।

सच है कि प्रायः उन्हें लापरवाह, तनावरहित और मस्त ही पाया जाता है। कभी-कभी यह नौबत भी आई कि छपा हुआ है 'हंस'। मुद्रक के यहाँ से उठा लाने का पैसा भी नहीं रहा और इंतजाम करने में देर हुई। पर ये क्षणिक परेशानियाँ हैं जिनके सुलझ जाते ही वे फिर मस्त होते हैं और अपनी एक खास ताल जो ताली और चुटकी के योग से सम्पन्न होतीं है बजा-बजाकर गाते पाए जाते हैं (तामपिटकपिट तामपिटकपिट—यह बजती हुई ध्वनि है) बाबा मौज करेगा, बाबा मौज करेगा। पिछले चौदह-पन्द्रह बरसों में शायद दो या तीन बार ऐसा हुआ कि वे कुछ सुस्त और पस्त से परेशान बैठे मिले और इस आशय का एक वाक्य उनसे सुनने को मिला कि इस वक्त हर तरफ से घिरा हुआ हूँ। इस हर तरफ में एक तो जगजाहिर थी—'हंस' की आर्थिक दशा, शेष के बारे में उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। एक बार तो तब हुआ जब वे अपने मित्र गिरीश अस्थाना के यहाँ रह रहे थे। विख्यात कारण था कुछ लिखने की योजना के तहत अज्ञातवास। वास्तविक कारण का अब इतने बरसों बाद कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है। कंठ स्वर लेकिन ऐसा था मानों यह इस तरह घिरे होने के बावजूद निश्चिन्त बने रहने की अपनी क्षमता पर स्वयं विस्मित हो रहे हों। ऐसा विस्मय उन्हें अपने ऊपर अक्सर होता है। खुद को देख कर लगता है कि मैं भी साला क्या चीज हूँ। कानपुर जाते हुए राजधानी की दुर्घटना के अपने अनुभव को याद करते हुए और सकुशल लौट आने के बाद जमा हुए चिन्तित मित्रों, प्रशंसकों और शुभेच्छुकों को सुनाते हुए वे इस बात पर भी चकित होते रहे थे कि उन्हें एक मिनट को भी, रत्ती भी डर नहीं लगा जबकि उनके ठीक साथ की सीट वाला सीधे

ही सिधार गया था और यही हश्र उनका अपना भी हो सकता था। इसी गर्वमिश्रित विस्मय का एक विषय यह भी है कि उन्हें आज तक ईश्वर की जरूरत कभी पड़ी ही नहीं। बल्कि किसी चीज से अगर चिढ़ है तो ईश्वर से और अध्यात्म से।

दूसरी बार, लगभग पाँच-छः वर्ष पहले, किसी प्रकाशक मित्र की ओर से उनके जन्मदिन का उत्सव आयोजित किया गया था। मन्नू जी उस उत्सव में शरीक नहीं थीं। पूछा तो पता चला कलकत्ता गई हुई हैं। उत्सव का अन्त था, मेहमान जा चुके थे। उठने की तैयारी थी। लम्बी चुप्पी के बाद 'हंस' के साथियों परिवारियों से उन्होंने कहा, बिल्कुल अकेला हूँ। कम से कम तुम लोग मुझे मत छोड़ना। पहली और अकेली बार उनकी इतनी करुण और कातर आवाज मैंने सुनी। सन्दर्भ से सिर्फ मैं ही अपरिचित थी। बाकी सब जानते थे। और राजेन्द्र जी की करतूत से असहमत होने के बावजूद उनकी प्रियता में कोई कमी नहीं आई थी। बल्कि उनकी असहायता के क्षण में सब के सब कुछ अधिक ही उदार और संरक्षणशील हो उठे थे और मैं खुद भी उनमें शामिल थी। बाद में पता चला कि मन्नू जी के साथ बरसों पहले कभी रुक गए संवाद के दोबारा पूरी तरह से खुल चुकने और मेरा सारा प्यार और सहानुभूति उनके साथ होने के बावजूद राजेन्द्र जी के साथ दोस्ती अपनी जगह पर कायम थी। राजेन्द्र जी के रहस्यों में एक यह भी है। कैसे वे लोगों के भीतर यह भाव जगा पाते हैं? आखिर मन्नू जी को भी अपने फैसले पर पहुँचने में पेंतीस साल लगे—एक पूरी जिन्दगी। जबकि सिलसिला पहले दिन से ही यही और ऐसा ही था।

राजेन्द्र जी का कातर भाव शायद हफ्ता-दस दिन चला होगा। स्थितियों का अभ्यस्त हो जाने में वे इतना ही समय लेते हैं और शायद इस बात को लेकर भी अपने ऊपर स्वयं ही विस्मित रहते हैं। इस विस्मय का खास विस्तृत मौका उन्हें पिछले दिनों अपनी बीमारी और अस्पतालीकरण के दौरान मिला। पिछले डेढ़-दो वर्षों से लगातार उनका वजन घट रहा था। इतनी तेजी से कि उन्हें रोज देखने वाले भी देख पा रहे थे कि घट रहा है। चेकअप की सलाह से वे चिढ़ते थे और हर आदमी यही सलाह देता नजर आता था। यहाँ तक कि सलाह जब बढ़कर दबाव में बदल गई और दबाव असहनीय होने लगा तो बजाय चेकअप करवा लेने के, मैत्रेयी पर जाने किन हथकंडों का इस्तेमाल करके, उसकी गवाही से, दफ्तर में उन्होंने घोषणा कर दी कि चेकअप वे करवा चुके हैं और सब ठीक-ठाक है। सबने मान लिया सिवाय उस रोग के जो भीतर था और एक दिन उनके सारे हथकंडों के बावजूद फूट ही पड़ा। शुरू में जिसे वाइरल समझा जा रहा था, फिर कंपकंपी छूटने पर मलेरिया, वह असहनीय हो उठने पर उन्हें अस्पताल ले जाना पड़ा। अरविंद जैन ने राजेन्द्र जी के लाख विरोध के बावजूद, शुक्र है कि, यह फैसला किया और विरोध भी ऐसा कि अरविंद बताते हैं कि वे और सुधीश पचौरी उन्हें लगभग बाँध कर अस्पताल ले गए। राजेन्द्र जी को मौत से डर नहीं लगता लेकिन चेकअप और अस्पताल से जरूर लगता है। एक बार अस्पताल पहुँच जाने और दर्द के थोड़ा हल्का पड़ जाने के बाद वे इसके भी अभ्यस्त हो गए, वहीं कमरे में महफिल भी जमने लगी जो उनके लिए पूरक उपचार

सरीखी थी और रात की तीमारदारी के लिए खास इसी उद्देश्य से आने और ठहरने वाले शिव कुमार 'शिव' को बोलकर सम्पादकीय और पत्रों के उत्तर भी लिखवाए जाने लगे। अतिरिक्त उपचार की कोशिशों के खिलाफ उनका संघर्ष फिर जारी हो गया। उनकी भूख बिल्कुल मर गई थी और कमजोरी बहुत बढ़ गई थी। मेरी मौजूदगी में एक दिन उन्हें एक सेब खिला पाने की मन्नूजी की कोशिश के सामने सविरोध समर्पण का नमूना यह था, "सेब है कि साला तरबूज है। खाते-खाते उम्र गुजर गई। साला खत्म ही नहीं होता।"

एक सच अगर यह है कि प्रायः वे मस्त, लापरवाह से दिखते हैं तो एक सच यह भी है कि इतनी भीड़, इतने तामझाम से हर वक्त घिरे रहने के बावजूद किसी-किसी वक्त के भीतर से बिल्कुल असम्पृक्त और अकेले से लगते हैं जैसे ये ठहाके, यह वाक्चातुरी, यह खुशमिजाजी किसी कुशल अदायगी का सारा लाभ मित्रों-परिचितों और बाहर वालों के ही लिए है। पता नहीं क्यों घर वाले अधिकतर इसके दायरे के बाहर ही रहे हैं। उनके साथ नातों-रिश्तों के नाम से जुड़े शायद सभी लोगों के पास अपनी अपनी-निराशा का कोई न कोई अनुभव और स्मृति मौजूद हो। लेखकीय दायरे के भीतर भी ऐसे लोगों को कभी नहीं जिनसे एक समय बहुत बेहद गहरी छनी लेकिन उन्हीं से किसी और समय बात ब्योहार का रिश्ता भी नहीं रहा। या रहा तो बिल्कुल औपचारिक। मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानती लेकिन शायद शानी, योगेश गुप्त, प्रभाष जोशी और सम्भवतः से. रा. यात्री आदि कुछ उदाहरण हैं जिनके पास ऐसी दुखद स्मृतियाँ होंगी। शायद मैं गलत होऊँ। मेरी बात का आधार केवल राजेन्द्र जी और इन लोगों के दफ्तर में और अन्यत्र परस्पर किंचित आत्मसजग व्यवहार हैं। गिरिराज किशोर के साथ दोस्ती में ठण्डक आते मैंने अपनी आँखों से देखी है और शैलेश मटियानी के बारे में उनके सम्पादकीय की क्रूरता ने मुझे बहुत गहराई तक खिन्न किया है। अगर अपनी आँखों से न पढ़ा होता तो विश्वास न होता। हरिनारायण का 'हंस' से अलग होना भी एक तकलीफदेह प्रसंग था। अन्तकथाएँ होंगी। राजेन्द्र जी के पास अपने कारण होंगे। उन कारणों का अपना औचित्य भी होगा। लेकिन ये कोई इक्का-दुक्का घटनाएँ नहीं। बार-बार दोहराया जानेवाला पैटर्न है। क्या इसके पीछे उनकी अन्दरूनी बनावट का कोई दबाव है? क्या इस बनावट का कोई सम्बन्ध उनके रचनाकार होने के साथ है कि जैसे की कोई रिश्ता अधिकार का दावा पेश करने लायक हदों को पहुँचता है, वैसे ही उसकी चंगुल से निकल भागना उनके लिए जरूरी हो जाता है? क्या वे एक बार भी नहीं सोचते कि 'टी एंड सिम्पैथी' का उनका फार्मूला लोगों में एक भावात्मक निर्भरता भी जगाता है जिसका खण्डित होना किसी किस्म की तकलीफ का भी पर्याय है? ईश्वर की जरूरत अगर उन्हें नहीं पड़ती तो इसका अर्थ क्या है? ईश्वर की जरूरत न पड़ती हो जिसके संसार में अपने बल्कि शायद अपने आप के भी अमूर्तन के सिवा और किसी का न दाखिला है, न दखल। ऐसी असहायता का अनुभव उसे होता है कि जिसके वजूद के राग तंतु नसों-नाड़ियों के जाल की तरह फैले हों। राजेन्द्र जी क्या राग-द्वेष

से ऊपर हैं? उनकी दुनिया में क्या ऐसा कोई मौजूद ही नहीं जिसके दुःखों को लेकर वे ऐसी चरम असहायता का अनुभव कर पाएँ? असहायता—क्योंकि उसके बदले में खुद सह लेना सम्भव नहीं और उसे सहते हुए देख पाना और भी असम्भव है इसीलिए एक निःशब्द प्रार्थना के सिवा और कोई चारा नहीं बचता और ईश्वर के सिवा कोई काम नहीं आता। काम तो दरअसल ईश्वर भी नहीं आता, फिर भी उसका होना जरूरी होता है। अकेले अपने आपको लेकर निडर, निश्चिन्त निरीश्वर—कुछ भी होना आसान है।

इस बनावट के दूसरे भी होंगे पर लेखकों के लिए खासतौर से सच है कि घर उनके लिए रहने ही नहीं, लौटकर आने की जगह है जिसके पहले बाहर जाना जरूरी है। लौटना फिर शायद न भी हो। सम्भावित कारण अनेक हो सकते हैं। सभी अनुमानित हैं और सामान्य हैं। इनमें राजेन्द्र जी का अपना कारण कौन-सा है, कोई है भी या नहीं, कहना मुश्किल है। जैसे कि शुरू में ही कहा गया, इस लेख में अनुमान का तत्त्व अधिक है और प्रमाण का कम। पहली बात यह हो सकती है कि स्वाधीनता रचनाकार की सतत मानसिक सक्रियता के लिए एक ऐसी बुनियादी जरूरत है जो दायित्व के आभास मात्र से बाधित होती और उसके मन में आक्रोश और अवरोध पैदा करती है। घरवालों की अपेक्षाओं में अधिकतर का यह असहनीय भाव होता है जिसका तत्काल प्रतिरोध जरूरी है। कहीं वे भावुक दुर्बलता के एक क्षण में सिन्दबाद के बूढ़े की तरह कंधों पर सवार न हो बैठें। यह नहीं कि देने की सामर्थ्य ही नहीं पर वह अपनी इच्छा के अतिरेक का फल है, किसी की अपेक्षा का प्रत्युत्तर नहीं। दूसरी बात ठीक इसकी उल्टी भी हो सकती है। लेखक जैसे अन्तर्लीन प्राणी के लिए एक छोर पर अपने भीतर के ताने-बाने को थामे रखना और दूसरी छोर पर दीन-दुनिया की खबर को संभाले रहना दरअसल एक लम्बे फासले के दोनों सिरों को एक ही डग में भर रखने का निरन्तर पराक्रम है। सन्तुलन मुश्किल है इसलिए वह अपने बोझ की निर्मम छंटाई करता है और छंटनी में एकमात्र कसौटी उसका स्वार्थ है यानी अपना, अपने होने का वह अर्थ जिसके कारण उसे अपनी सारी करतूतों का स्याह-सफेद स्वतःसिद्ध रूप से न्यायोचित लगता है। घरवालों के स्नेह और संभाल को अपना सम्बन्धसिद्ध अधिकार मानने की आदत उसे शायद इतना निश्चिन्त कर देती है कि वह भूले से भी उस दिशा में दायित्व के बारे में सोचता भी नहीं। अपने आप की लागत वह लगाता ही सिर्फ उन्हीं मामलों में है जहाँ अभीष्ट को प्राप्य बनाने के लिए अर्जित करने की मजबूरी अनिवार्य होती है। यानी घर में दूसरे पर अधिकार तो वह सहज रूप से लेता है पर अपने ऊपर देता रत्ती भर भी नहीं। एकाध टुच्चा-सा कारण और सोचा जा सकता है। टुच्चा इसलिए कि उसमें सृजनात्मक स्वभाव की गठन के पर्याय की तरह निर्ममता और स्वार्थ महिमा मंडन की गुंजाइश तो नहीं लेकिन फिर भी वह कारण हो सकता है क्योंकि किसी किस्म की समझ उसमें मौजूद है। परिवार की पहली सन्तान, वह भी पुत्र (संयोग से राजेन्द्र जी दोनों ही हैं) को इतना ध्यान और लाड़-दुलार मिलता है कि अपने चारों ओर महफिल की मौजूदगी उसकी एक

स्थायी जरूरत बन जाती है। केन्द्र में रहने के लिए परिधि भी तो चाहिए। हर बात पर दाद चाहिए। हर अदा पर तारीफ चाहिए। यही जो न चाहिए होता तो कौन भकुआ लेखक बनने चलता। घर में कौन इस तरह सब काम-धाम छोड़कर हर वक्त दाद देता फिरेगा और घर से चाहिए भी किसे। घर तो वह जंगल है जहाँ मोर का नाचना बेकार है। महफिल से चाहिए और इस कदर चाहिए कि दाद देने वाले अगर मौजूद न हुए और कंठ से आधा निकल चुका वाक्य भी लगा कि सुन्दर है, सुनाने लायक, तो भाई उसे बिना पूरा किए वापस गले में ठूँस लेगा।

मस्ती, फक्कड़पन और लापरवाही का ही एक पक्ष पैसे के लिए निर्मोह भी है या कम से कम वे ऐसा सोचना पसन्द करते हैं। सुना या शायद कहीं पढ़ा है कि स्वतन्त्र लेखन के संकल्प के साथ जीवन की शुरुआत करते हुए उन्होंने प्लेटफार्म पर सो लेने, फुटपाथ पर खा, नहा लेने और कंघी-शीशा बेचकर रोटी कमा लेने परन्तु लेखन के स्तर पर पूरी तरह से स्वतन्त्र ही बने रहने का सपना देखा था। तब और अब के बीच तय किया गया एक लम्बा फासला है। आर्थिकता के प्रति लापरवाही राजेन्द्र जी की आत्मछवि का सबसे जरूरी हिस्सा है। हर आत्मछवि को दूसरों का सत्यापन भी चाहिए। वरना वह विश्वसनीय नहीं होती। राजेन्द्र जी अपनी बाकी हर आलोचना को सहज भाव से लेते हैं, बल्कि मतसम्मत में छपने के लिए आलोचना को ही प्रोत्साहित भी करते हैं लेकिन इस पक्ष को लेकर आत्म छवि के विरुद्ध जाने वाली हर बात से विचलित हो उठते हैं। विचलित करने वाली बातों का घिराव उनके आस-पास बढ़ता भी गया है। लोग-बाग उन्हें यह जताने को तुले हैं कि वे अपने संकल्प और आदर्श से डिग चुके हैं। कि वे पैसे से प्रभावित और पैसे वालों के तामझाम से चकाचौंध होते हैं। कि पद और प्रतिष्ठा पर वे रीझने लगे हैं। प्रमाण के तौर पर कहा जाता है कि उनके रहन-सहन और रखरखाव में एक शौकीनी और आभिजात्य दिखाई देता है। डिजाइनर कुर्ते, कमीज और कोट उनके पहनावे का स्थायी अंग बन चुके हैं। घर कहीं से भी किसी छुट्टे छड़ंग का नहीं दिखाई देता। खूबसूरत फर्नीचर और महंगी नाजुक क्रॉकरी। कहा जाता है कि दोस्तों का उपहार है। यानी कि एक और प्रमाण। यानी कि दोस्तों की सूची में लोग भी ऐसे ही शामिल हैं जो ऐसे उपहार दे सकते हैं। बिहार सरकार का लखटकिया पुरस्कार और प्रसार भारती का सरकारी अनुग्रह भी प्रमाणों की सूची में गिनाए जा सकते हैं। राजेन्द्र जी के पास हर बात का जवाब मौजूद है लेकिन आरोप की मंशा के आगे ये जवाब अपनी सफाई से ज्यादा कुछ नहीं। व्यक्ति के रूप में राजेन्द्र जी की दुर्बलता पैसे के लिए कितनी और क्या है, मेरे लिए कहना मुश्किल है। दिखता तो है कि वे शौकीन मिजाज हैं लेकिन उतने ही जितने अपने साधनों से हो सकते हैं। आखिर हिन्दी में उच्चतम रायल्टी पाने वाले लेखकों की सूची में उनका स्थान दूसरा है। जहाँ तक पुरस्कार की बात है, यह मेरी व्यक्तिगत जानकारी है कि वह पूरी तरह से 'हंस' के आर्थिक संकट से जुड़ा हुआ फैसला था। संयोग की बात है कि इसके पहले उत्तर प्रदेश सरकार का इक्कीस या शायद

पच्चीस हजार का पुरस्कार वे लौटा चुके थे। 'हंस' के लिए वह भी ले लेना चाहिए था, यह सही है कि लेकिन किसी खास वक्त पर कोई फैसला आदमी क्यों कर पाता है और कभी क्यों करने से रह जाता है इसके पीछे बहुत-सी स्थितियाँ और कारण हुआ करत हैं। मसलन यही कि तब सूझा ही नहीं कि पुरस्कार ले लेना भी एक तरीका हो सकता है इस सतत् समस्या को अंशतः सुलझाने का। जब तक किसी तरह से गुजरते नहीं तब तक वहाँ का दृश्य दिखाई भी नहीं देता। दोनों पुरस्कारों के बीच के अरसे में एकाध बार इस समस्या का सामना किया जा चुका था कि छप चुके 'हंस' को मुद्रक के यहाँ से उठाने भर के पैसे भी नहीं थे। पहले पुरस्कार के पहले यह हो चुका होता तो ले लेने का फैसला भी शायद तभी हो जाता। प्रसार भारती की सदस्यता के बारे में भी शायद सच यही हो कि 'यहाँ से देखो' की स्थिति से गुजर कर राजेन्द्र जी ने तय किया हो पर वहाँ से गुजर कर क्योंकि मैंने देखा नहीं तो बात यहीं छोड़ती हूँ। सोचने की बात लेकिन यह है कि इस सबके लिए उन्होंने कोई समझौते किए हैं? संवादकुशल, सभा चतुर, सलीकेदार, पढ़े-लिखे लोगों की संगति अधिक आकर्षक होती है और अपने दायरे में लोगों का होना, खुद उनका प्रिय और प्रशंसित होना अच्छा लगता है। सोचने की बात यह भी है कि क्या इस कारण उनके दायरे से फक्कड़, फाकेमस्त और फटीचरशाह रचनाकार बिरादरी को निष्कासित होना पड़ा? जाहिर है कि नहीं। दायरा फैला और बढ़ा है और उसका रेंज भी। वैसे भी फाकेमस्ती और फटीचरशाही अपने आप में कोई रचनात्मक मूल्य तो नहीं।

दम्पत्ति के रूप में दो रचनाकारों का साथ एक असहयोग-सा प्रतीत होता है (असहयोग) दोनों के लिए काम्य शायद परस्परता और स्वाधीनता का कोई दोतरफा समीकरण हो। पर सिद्धान्त के स्तर पर कह देना आसान है, व्यक्तिगत धरातल पर सचमुच ऐसा समीकरण खोज पाना दो अलग-अलग लोगों की अलग-अलग भावात्मक जरूरतों और अनुकूलन क्षमताओं के एक ही बिन्दु पर समायोजित हो जाने का लगभग असम्भव पर्याय है। मन्नू भंडारी और राजेन्द्र यादव समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर अगर अकेले नहीं तो कुछ बेहद गिने-चुनों में से एक ऐसे रचनाकार दम्पत्ति हैं जिनमें दोनों की ही रचनात्मकता एक दूसरे के सृजन सार को निगले बिना अपने-अपने कृतित्व के महत्त्वपूर्ण मुकामों तक पहुँची है। सम्बन्ध अगर वहाँ तक नहीं भी पहुँचा तो भी किसी किस्म की परस्परता या समझदारी वहाँ बिल्कुल ही नहीं रही होगी ऐसा सोचना मुश्किल है। राजेन्द्र जी के पूर्वोक्त साक्षात्कार में इस विषय के कुछ संकेत मौजूद हैं और मन्नू जी की प्रतिक्रिया में उनका सत्यापन भी। दो के बीच की बात को अब दोनों स्वयं सार्वजनिक बना चुके हैं अतः यहाँ चर्चा की जा सकती है। सृजन के सन्दर्भ में राजेन्द्र जी का (पढ़िए—विवाहेत्तर) सम्बन्धों (पढ़िए—सेक्स) की अनिवार्यता का सैद्धान्तिक दावा और व्यावहारिक कार्रवाई सारे फसाद की जड़ मालूम होती है। स्त्री विमर्श को भी यह एक सनसनीखेज मुद्दा मिला और राजेन्द्र जी के रूप में पुरुष की खलनायकता का अगला उदाहरण भी लेकिन इस उदाहरण के हवाले से मैं स्त्री

की ओर से बराबरी का दावा इन शब्दों में पेश भी नहीं करना चाहती कि राजेन्द्र जी या कोई और पुरुष रचनाकार अपनी पत्नी, बेटी या बहन को सेक्स के कन्धों पर सवार होकर सफल या सार्थक रचनाकार होने की इजाजत देगा या नहीं (सन्दर्भ--राष्ट्रीय सहारा में मनीषा का वक्तव्य)। सफलता या सार्थकता की तलाश करने वाले इजाजत नहीं माँगा करते। पुरुष भी यह (राजेन्द्र जी के शब्दों में) 'हरमजदगी' स्त्री की इजाजत से नहीं करता। पुरुष के लिए प्रेम, सेक्स, सम्बन्ध और परिवार का अर्थ वही नहीं है जो स्त्री के लिए होता है। 'अगर मैं भी ऐसा ही करती तो' कह कर दरअसल वह पुरुष को उसकी ज्यादती का एहसास कराना चाहती है, उन उच्छृंखलताओं की इजाजत उसे अपने आप ले लेनी होगी और पुरुष के निषेध के बावजूद लेनी होगी। स्त्री के दायित्वबोध और भावात्मक दुर्बलता से पुरुष के लिए एक सुविधाजनक स्थिति का जन्म होता है। स्वार्थ संधान में इसका लाभ वह लेता है, लेगा ही। सम्बन्धों का अर्थशास्त्र और भावनाओं की राजनीति उसे इसी दिशा में ले जाएगी। समय ही अर्थशास्त्र और राजनीति का है। उसे अभी उसी स्त्री के प्यार की आदत पड़ी है जिसका समर्पण आर्थिक निर्भरता की विवशता से नियन्त्रित था और जो उसके विवाहेतर सम्बन्धों के झगड़े-झंझटों से बड़ी समझदारी से सुलटती थी। आर्थिक आत्मनिर्भरता ने स्त्री को सम्बन्ध में प्रतिबद्धता और एकनिष्ठता को अपना हक समझना सिखा दिया है। सिर्फ यही नहीं कि पुरुष को अभी इसकी आदत नहीं है बल्कि यह भी कि प्यार हक का मामला ही नहीं है। सामान्य सामाजिक, पारिवारिक सन्दर्भों में भी वह एक विकट स्थिति है। रचनाकार की स्थिति तो फिर है ही विशेष।

बात दरअसल इतनी सीधी-सपाट और स्थूल ढंग से आसान नहीं है। घरबारी व्यवहार और परिवारी मूल्यों के तराजू पर तोल कर यह मुकदमा पता नहीं कब से—सदियों से--रचयिता जात के जंतु के खिलाफ अनिर्णीत ही दायर चला आ रहा है। उसके फेर में पड़ने वाले उसे गैरजिम्मेदार, भरोसे के अयोग्य, उचक्का और लफंगा किस्म का जीव पाएँगे। वे भुक्तभोगी हैं। लेकिन उसे प्यार करने वालों की गिनती में कमी नहीं पाई जाएगी। निस्संदेह रचनाकार किसी घरबारी भलेमानुस की तरह लीक पर चलनेवाला बैल तो नहीं ही हो सकता। विस्मय उसका मूल मनोभाव है, अनुभव संचय उसकी व्यावसायिक योग्यता है और साहसिकता और अभियान उसकी जीवन पद्धति है। सेक्स और प्रेम के प्रति उसका रवैया भी इसी जीवन पद्धति का एक आयाम है। दुर्भाग्यवश राजेन्द्र जी समेत हिन्दी के अधिकतर रचनाकारों के लिए विस्मय, साहस और अभियान सभी एक ही दुकान में मिलते हैं। और वह है स्त्री की देह। विवाहेतर सम्बन्ध। वह भी दायित्वहीन। संदिग्ध लगता है कि 'दर्जन के हिसाब के सस्ते' का नुस्खा आजमाते हुए ये प्रेमी जीव जितने-जितने प्रेम प्रसंगों का दावा करते हैं उतने सचमुच कभी घटित भी हुए होंगे? ये किस्से भी शायद उनकी उसी सृजनात्मक कल्पना की ही रचनाएँ हों जिसके बारे में बताया जाता है कि विवाहेतर सम्बन्धों से पैदा होती है।

अपने अस्तित्व के भोक्ता अंश के माध्यम से ऐसे सम्बन्धों के यंत्रणामय पक्ष

को जाने बिना सृजन के इस नुस्खे का कारगर होना भी संदिग्ध ही है।

पर यह शायद मेरी ज्यादती है। व्यक्ति—राजेन्द्र को सचमुच जाने बिना यह फतवा दे देना कि यंत्रणा को उन्होंने नहीं जाना। हो सकता है बचपन की या शायद कैशोर्य की ऐसी ही किन्हीं यंत्रणाओं में उनके व्यक्तित्व की इस बनावट की जड़ हो जिससे मैं अपरिचित हूँ, जिसे अब वे आच्छादन की तरह या किसी रूमानी किस्म के मोहवश या फिर सचमुच अनजाने में सृजनात्मक जरूरत का नाम दे रहे हैं। एक बार याद नहीं किसके दुर्घटनाग्रस्त होने पर दफ्तर में दुर्घटनाओं की चर्चा चल पड़ी और जैसा कि ऐसे मौकों पर होता है, सभी अपना-अपना अनुभव सुनाने लगे। राजेन्द्रजी ने कहा किसी भी किस्म की दुर्घटना का नाम लो, वह मेरे साथ हो चुकी है। मैं अपनी समझ से बड़ी दूर जाकर कौड़ी लाई जो कहा कि आपको किसी ने गोली तो नहीं मारी होगी। पता चला, मारी थी। यानी ठीक-ठीक मारी तो नहीं थी पर गलती से चल कर लग गई। पैर, आँख सब किसी न किसी दुर्घटना का ही नतीजा हैं। खेल दुर्घटना से लेकर रेल दुर्घटना तक की कहानियों में पता नहीं ऐसी कितनी कहानियाँ हों जो उन्होंने सुनाई ही न हों। पर जो उनकी असम्पृक्त-सी बनावट में अपनी भूमिका निभा गई हों।

प्रसंग राजेन्द्र जी की षष्ठीपूर्ति के उत्सव का है जो आगरा से लौट कर आने वाले लायक सपूत के स्वागत में मनाया था। आयोजन हरिनारायण और जितेन्द्र रघुवंशी का था। दो दिन की रिहाइश में राजेन्द्र ज़ी ने अपने घर जाने का कार्यक्रम रखा ही नहीं था। घरेलू सम्बन्धों में ठण्डक या उदासीनता या कटुता के जो भी कारण रहे हों पर जाना अन्ततः हुआ जब भूपेन्द्र—उनके भाई—सुबह की जलेबी-कचौड़ी का निमन्त्रण लेकर आए। यह राजेन्द्र जी का बचपन का घर था। अन्दर का आँगन और कमरे वगैरह तो खूब बड़े थे, विशालकाय महलनुमा, लेकिन बैठक जहाँ हम बैठे छोटी ही थी। यह उस जमाने की इमारत थी जब बैठक की जगह मध्यवर्गीय परिवारों में केन्द्रीय महत्त्व की न रही होगी और वह आए-गए के स्वागत के लिए निश्चित, बाकी समय बन्द रहनेवाले मरदानखाने का दर्जा रखती होगी। रिहाइश का व्यापार भीतर के आँगन कमरों में फैलकर चलता होगा। यह चर्चा इसलिए कि वहाँ बैठे अचानक राजेन्द्रजी ने बताया कि यही वह कमरा है जहाँ मैं साल-डेढ़ साल लगातार लेटा रहा। खेल दुर्घटना में पैर की हड्डी टूट गई थी। वह सारा समय कुछ एक निकट मित्रों और घर वालों के अलावा साहित्य की संगत में गुजरा। बाहर की दुनिया बस दरवाजे भर खुली जगह के फ्रेम में बन्द दूर से नजर आती रही होगी। सड़क से गुजरने वालों में क्या वह लड़की भी हुआ करती थी जिसके बारे में उन्होंने लिखा है, "एक सम्बन्ध जिसे लेकर मन्नू खांटी घरेलू स्त्री की तरह उग्र हो उठी।" सत्रह-अठारह बरस का खूबसूरत नौजवान जिसकी आँखों पर काला चश्मा बचपन के खेल की रामलीला के तीर-कमान के सिलसिले में पहले ही चढ़ चुका था, आखिर उठकर खड़ा हुआ होगा बैसाखियों पर। जिस कमरे में बन्द पूरा बरस-डेढ़ बरस बीता था, उसके बाहर निकलने का हौसला कैसे जुटाया होगा? उस

उम्र में स्त्री के लिए अपनी आकर्षकता के प्रति विशेष सजगता की किशोर सुलभ मनोवृत्ति से वह कैसे निपटा होगा? तब जब वह लेखक सम्पादक समीक्षक वगैरह कुछ भी नहीं था, सिर्फ बैसाखियों के सहारे खड़ा, काले चश्मे वाला एक साधारण लड़का था, उसे जिन लोगों से स्वीकृति, साथ और सहारा मिल रहा होगा उनके प्रति कृतज्ञता के भाव का मुकाबला क्या बाद के जीवन में मिलने वाले किसी भी व्यक्ति के प्रति किसी भी भाव के साथ कभी हो पाया होगा? उन लोगों में क्या वह लड़की भी रही होगी? क्या ऐसा हुआ कि आहत मन की जटिल जरूरतों की अनुकूलता या फिर कैरियर के रूप में लेखन को चुन लेने के बाद एक रचनाकार के साथ की योग्यता और पर्याप्तता की कसौटी पर वही लड़की खरी नहीं उतरी? क्या मन्नू जी के पक्ष में भावनात्मक और व्यावहारिक रूप से उपयुक्त फैसला कर लेने के बावजूद वे इधर या उधर का साफ दो टूक फैसला नहीं कर पाए? न पूरा ले पाने न पूरा छोड़ पाने की दुविधा के साथ जुड़े ध्वंस ने उन्हें क्या अछूता दिया? दो-टूक फैसले क्या हमेशा सम्भव होते हैं? या सिर्फ अपनी इच्छा और भावना के अतिरिक्त कुछ सोचना और किसी अन्य के दिल-दिमाग का बोझ उठाना उन्हें अपनी सामर्थ्य से ज्यादा भारी प्रतीत हुआ? या एक कटु बात न कह पाने की करुणामय दुर्बलता अन्ततः क्रूर साबित हुई? फैसले की जिम्मेदारी दूसरे पर छोड़ कर क्या उन्होंने अपने सिर की बला टाली? और अलग होने का फैसला किया भी अन्ततः मन्नू जी ने ही। राजेन्द्र जी ने तो ऐसे किसी फैसले की जरूरत से इंकार किया। दूसरे के पक्ष से देख पाने की ऐसी असमर्थता क्या लेखक के सन्दर्भ में विश्वसनीय है? या ऐसा हुआ कि उसी असुरक्षित हद तक जीवन्त उम्र में अपने घावों को ढंक लेने का ऐसा कौशल उन्होंने अर्जित किया कि उन्हें छू पाना ही असम्भव हो गया। अब वे अतीत का बोझ लादे नहीं घूम सकते। समस्याओं का हल न हो तो उन्हें जीवन का पर्याय मानकर झींकना छोड़ देते हैं। वे अभी इसी क्षण और सामने मौजूद समस्या में निवास करते हैं।

शंख की जो जातियाँ अशान्त समुद्रों की धाराओं में रहती हैं वे क्रुद्ध लहरों के जितने सख्त थपेड़ों को झेलती हैं उनका अपना खोल उतना ही सख्त होता जाता है कि देह से लेकर मन तक की पता नहीं कितनी सीमाओं के साथ लड़ते जूझते, हर एक का अतिक्रमण करते उन्होंने इस कवच का अर्जन किया हो जो आज अभेद्य अछेद्य-सा जान पड़ता है और इस बात की तरफ नजर भी नहीं जाती कि इस कवच की जरूरत उन्हें पड़ी ही क्यों बल्कि मन करता है कि कुरेद कर देखा जाए कि सुराख कहाँ है। अपने सोचे-समझे को लेकर ऐसी जिद के जैसे अस्तित्व ही खतरे में हों। छोटा-सा तर्क भी उनके लिए जान-जोखिम का सवाल बन जाता है। हो सकता है कि नकारात्मक और विध्वंसात्मक लहरों से लड़ते हुए वे इतने सख्त हुए हों। अन्यथा क्या दुख को सहे बिना कोई दुःख से इतना अछूता रह सकता है जितना उन्होंने इस साक्षात्कार में अपने को बताया है? दुःख से ऊपर होना एक अर्जित शक्ति है या बुनियादी स्वभावगत असमर्थता? हो सकता है कि उनके लिए प्रेम का अर्थ किसी पर

स्वयं को इतना निर्भर छोड़ पाना हो कि इस बात का एहसास भी न होने पाए कि उन्होंने लिया—और याचक बने। हो सकता है कि प्रेम की अपनी ऐसी असम्भव अपूरणीय आकांक्षा के कारण या दूसरे को निर्भरता का आश्वासन दे पाने की असमर्थता के कारण उन्होंने यही तय कर लिया कि प्रेम की उन्हें जरूरत नहीं है। और सेक्स के संधान में लगे। हो सकता है कि उन्होंने रचनाकार के जीवन की पढ़ी-पढ़ाई धारणा को अपना रोल मॉडल बनाया हो और हर आचरण के पहले वही नियमावली खोलकर देखते हों। हो सकता है कि किसी समय की असहायता और असुरक्षता ने उन्हें बिल्कुल निडर कर दिया हो। हो सकता है कि डर कहीं हो पर अपनी दीनताओं, दुर्बलताओं को दिखाना या उन पर रोना उन्हें असहनीय हो।

हो तो यह भी सकता है कि भाषा के साथ खास रिश्ते का इस्तेमाल करते हुए जब पूर्वोक्त साक्षात्कार में उन्होंने उस दुष्ट वाक्यांश 'खांटी घरेलू औरत' का प्रयोग किया हो तो उनका मतलब 'खांटी घरेलू' की शान में गुस्ताखी करना रहा न हो। इनके दावे और उनकी दायित्वहीनता की टकराहट के किसी क्षण में मन्नू जी के दुख ने तो उग्र आक्रोश का रूप धारण किया हो, क्षण विशेष में उसकी कोई छवि, कोई मुद्रा उकेरना ही उसका अभीष्ट रहा हो। पर अभीष्ट चाहे जो रहा हो, किया तो उन्होंने यह है कि एक दम्पत्ति के बीच के निहायत निजी प्रसंग को बहुत फूहड़ और क्रूर ढंग से सार्वजनिक कर दिया है। भावनाओं पर चोट तो यह है ही, उससे कहीं ज्यादा गरिमा के क्षय का मामला है। क्षमा कीजिए, जो हुआ वह अक्षम्य है। मैं राजेन्द्र जी की तरफ से सोच सकती हूँ, उनके माध्यम से यह पहचान सकती हूँ कि रचनाकार की मानसिकता कैसे सक्रिय होती है, यह भी मान सकती हूँ कि अपनी भीतरी बनावट के सामने आदमी बेबस होता है और एक रचनाकार को तोलने का तरीका दूसरे पलड़े पर घरबारी, परिवारी कायदे-कानूनों के बटखरे चढ़ाना नहीं है। लेकिन मैं साथ जुड़े लोगों और जिन्दगियों के ध्वंस को अनदेखा नहीं कर सकती। उनके बारे में मैं कोई फैसला नहीं सुनाती पर सहानुभूति मेरी शत-प्रतिशत मन्नू जी के साथ है।

हुआ यह भी कि इस बार उनकी वाक्चातुरी उन्हें दगा दे गई है। उनके कवच के भीतर उनका क्या हाल है इसका अन्दाजा लगाना आसान नहीं। क्योंकि सुराख अगर कहीं है तो बड़ी होशियारी से छिपाए गए हैं और भीतर का कुछ दिखता ही नहीं है। तस्वीर तो अब भी उनकी वही याद आ रही है जिस पर शीर्षक था ऐय्यारों के ऐय्यार लेकिन जो सोचा था कि तिलिस्म और तहखाना भी यही है तो सच है कि इतनी देर की कोशिश के बाद भी इस तिलिस्म के तहखानों के दरवाजे भी नहीं दिखे, ताले-चाभियाँ तो बाद की बात हैं। अनुमान प्रमाण पर आधारित निष्कर्षों का सच, हो तो यह भी सकता है कि न तिलिस्म हो, न तहखाना, न कोई रहस्य बस अनुमान ही अनुमान हो। उस दशा में इस कार्रवाई की अकेली जिम्मेदार मैं हूँ। जवाबदेह राजेन्द्र जी को न समझा पाए।

('तद्भव' से साभार)

करतूते मरदां

मन्नू भंडारी

बरसों पहले अलग-अलग लोगों से सुने इन किस्सां को (शत प्रतिशत सच पर आधारित) मैं अपने कच्चे माल के गोदाम में आँकती रही थी कि कभी इन पर कुछ लिखूँगी पर कलम ही कुछ ऐसी कुंद हुई कि ये सब मेरी डायरी के पन्नों में ही सिमट कर रह गए। अब जब लिखने की स्थिति बनी तो खुद आश्चर्य हुआ कि इन्हें सुना मैंने चाहे लम्बे-लम्बे अन्तराल पर हो पर आज तो ये तीनों मुझे एक ही नतीजे पर पहुंचाते हैं। सो तीनों को एक साथ नत्थी करके मैंने एक ही शीर्षक में फिट कर दिया। घटनाएँ, पात्र तो सब जस के तस हैं, मैंने जो थोड़ा-सा अलोथन-पलोथन लगाया है, वह केवल अन्दाजे बयां में।

किस्सा नम्बर एक

नायक—प्रसिद्धि की सीढ़ियाँ चढ़ता अपने जमाने का एक युवा गीतकार।

जमाना—जब गद्य के आक्रमण ने कविता के क्षेत्र से गीत और छन्द को झाड़-पोंछ कर पूरी तरह बाहर नहीं कर दिया था और गीतकारों की कवि सम्मेलनों में तो खूब पूछ थी ही...निमन्त्रण पाकर वे स्कूल-कॉलेजों में भी रंग जमाने, धूम मचाने पहुँच जाया करते थे।

ऐसे ही किसी निमन्त्रण पर नायक अपने गीत सुनाने के लिए एक महिला कॉलेज पहुँचा तो उन्होंने कार्यक्रम में थोड़ा-सा उलटफेर कर दिया। हुआ यह कि इससे गीत सुनने से पहले, वहीं की एक प्राध्यापिका ने अपना स्वरबद्ध किया इसी का एक गीत ऐसी तन्मयता से सुनाया कि सब विभोर और नायक के मुँह से तो अचानक ही निकल गया—'तुम गा दो मेरा गान अमर हो जाए'। इसके बाद उसका गीत सुनाने का हौसला भले ही पस्त हो गया हो पर मन में अमर होने की एक निराकार-सी इच्छा जरूर कुलबुलाने लगी।

चाय के समय नायक नायिका के स्वर की गहराई, गले की मिठास और लोच की प्रशंसा के पुल बाँधने लगा। नायिका तो निहाल। झेंपती-झिझकती बड़े ही कृतज्ञ

पर गद्गद् भाव से वह भी नायक के गीतों की प्रशंसा के पुल बाँधने लगी। अब जब दोनों ओर से पुल बँध गए तो समझो मिलने के लिए रास्ते भी खुल गए।

जल्दी ही एक बदलाई शाम और खुशनुमा मौसम को बिल्कुल अनुकूल समझ कर अमरता के आकांक्षी इस नायक के पैर नायिका के घर की ओर मुड़ गए। दस-बारह गीत उसने जेब में सरकाए और वहाँ क्या-क्या करेगा...कैसे-कैसे करेगा की ढेर सारी योजनाएँ भेजे में।

घर में प्रवेश करते ही स्वागत करने आ बैठे मातुश्री, बड़ा भाई और छोटा भाई। और फिर तो उनकी बातें...बातें...बातें। बेहद नीरस और उबाऊ। परिचय करवा कर नायिका वहीं एक ओर बैठ गई...गुड़ी-मुड़ी होकर बिल्कुल मिट्टी के माधो की तरह। एकान्त में बैठने का सही मौका तलाश कर अपनी योजना का पहला सिरा नायिका के हाथ में थमा देने का सपना तो वहीं ध्वस्त हो गया। फिर भी हिम्मत करके उसने आग्रह तो कर ही डाला—"देखिए, मैं यहाँ आपका गीत सुनने आया हूँ। उस दिन वाला तो सुनूँगा...एक-दो नए गीत भी सुनाने होंगे आपको।"

बड़े भाई का हस्तक्षेप—"अरे, मजमा तो आपका गीत सुनने के लिए जमता है...ये क्या गीत सुनाएगी भला?"

नायक का प्रतिवाद—"वाह! क्या गाती हैं...मेरे गीत में तो जैसे जान ही डाल दी थी। कहते हैं न कि घर की मुर्गी दाल बराबर। सो आप लोग चाहे कदर न करें, मैं तो इनके गीत सुनने ही आया हूँ इतनी दूर से।"

दुनियादारी में पगी माँ ने नीयत भाँपी और बात लपक ली—"अरे सुल्ली, देख तो यह इतनी दूर से चल कर आए और तू बैठी मुँह ही ताक रही है इनका टुकुर-टुकुर! चाय नहीं पिलाएगी मेहमान को? जा जल्दी से चाय बनाकर तो ला गरमागरम... ।"

नायिका रसोई में और बेतुकी बातों की बौछार करते माँ भाई नायक की खोपड़ी पर!

चाय का स्वाद ही कसैला हो गया।

इतने में असली बौछार शुरू हो गई। हिम्मत करके नायक ने फिर एक बार अपना आग्रह दोहराया—"अब तो आप इस मौसम के अनुकूल कोई गीत सुनाइए ...कोई वर्षा गीत...रिमझिम...रिमझिम..." वह अपने एक गीत की पंक्ति...

"एल्लो! बरसात में कोई गीत गावे कि पकौड़ी खावे। जा तो सुल्ली, तू तो गरमागरम पकौड़ी बना ला। मैं तो सोच ही रही थी कि मेहमान को सूखी चाय भी क्या पिलानी तो बरसात ने सुझा ही दिया।"

"नहीं, नहीं। मैं पकौड़ी-वकौड़ी नहीं खाता, मेरा गला वैसे ही खराब रहता है। तली चीजें... ।" नायक का अन्तिम प्रयास, जिसे हाथोंहाथ ध्वस्त किया माँ ने—"गला खराब है तब तो तुम हमारे यहाँ की मिर्च की पकौड़ी खाओ...ऐसा गला खुलेगा कि बस! सुल्लीऽऽ, एक घान मिर्च की पकौड़ी का भी लेती आइयो।" सुल्ली फिर किचन में और माँ भाई फिर खोपड़ी पर। बिना मिर्च खाए ही नायक का तो रोम-रोम सुलगने लगा।

पकौड़ी की प्लेट के आते ही दो-तीन बच्चे और प्रकट हो गए और जुट गए। वे सब पकौड़ी भकोसते रहे और नायक बेचारा ठण्डी साँसें। बरसात बन्द होते ही बड़े भाई ने सुझाया—"आपके पास तो छाता भी नहीं है, तुरन्त निकल जाइए आप, वरना फिर कहीं बारिश...।" यानी कि 'गेट आउट'। भन्ना कर उठा नायक और उसने बाहर कदम रखा ही था कि उसके सिर पर ही भड़ाक से दरवाजा बन्द किया भाई ने और घुड़का सुल्ली को—"इसे घर बुलाने की क्या जरूरत थी?...दिमाग फिर गया है तेरा? ये लोग मजमों के लिए ही ठीक हैं। कान खोल कर अच्छी तरह सुन समझ ले कि मिलने-जुलने और घर बुलाने का सिलसिला बिल्कुल नहीं चलेगा इसके साथ...महालुच्चों की जात होती है इनकी।"

इधर बेचारे नायक के जो पैर आते समय थिरक रहे थे लौटते समय मन-मन भर भारी हो गए। होते ही, एक कंधे पर सपनों की और दूसरे कंधे पर योजनाओं की लाशें जो लदी थीं। सीधा पहुँचा अपने संकटमोचन मित्र के पास। मित्र का पेशा था आकाशवाणी में नाटकों का निर्देशन करना और शगल था मित्रों की जिन्दगी के नाटकों का निर्देशन करना। उसके पास अपना एक कमरा था जो उसके दफ्तर जाने के बाद गाहेबगाहे मित्रों के लिए रंगस्थली की भूमिका भी अदा करता था। अब जब कमरा देता था तो उस रंगस्थली में होनेवाले क्रियाकलापों का राजदार भी बन ही जाता था और समस्या संकट आने पर (जिसकी भरमार रहती थी) केवल सुझाव ही नहीं देता, मदद भी करता था। इसके चलते उसे महारत हासिल हो गई थी ऐसे लपड़ोंझपड़ों को सुलझाने-सलटाने में। गुस्से से बौखलाए नायक ने अपनी आकांक्षा और योजना के साथ शुरू से सारी बात बताई और उपसंहार किया उस खूँखार भाई की जल्लादी हरकत से जिसने इसकी खोपड़ी पर ही दरवाजा दे मारा था। मित्र केवल हँसा, बिना शब्दों के ही जिसमें बहुत कुछ निहित था।

पर नायक तो अपनी ही रौ में बोले चला जा रहा था—"देख इतना तो तू भी मानेगा कि बच्चन, नीरज, मुकुल से कोई कम नहीं है मेरी कलम का हुनर पर बस, यह गला पूरी तरह साथ नहीं देता। अगर किसी तरह मेरे हुनर को इस लड़की के सुर की सवारी करने को मिल जाए तो समझ हुए मेरे गीत अमर...बस, अब तू निकाल कोई रास्ता।"

खिलखिला पड़ा मित्र—"अबे स्साले, आज तू सुर की सवारी की बात कर रहा है...लड़की पर सवारी करने की माँग रखेगा और कहेगा—'निकाल रास्ता'।"

बिफर गया नायक—"देख मैं बिल्कुल मजाक के मूड में नहीं हूँ।"

"मैं भी नहीं। दो लफड़ों में से एक बिचारी तो जैसे-तैसे ठिकाने लगी... तूने नए लफड़े का चक्कर शुरू कर दिया?"

"कोई लफड़ा-वफड़ा नहीं, मैं सिर्फ चाहता हूँ कि वह मेरे गीत स्वरबद्ध करे ...गाए...।"

"और तू अमर हो जाए। अबे चुगद, बच्चन जी ने लिख दिया कि 'तुम गा

दो मेरा गान अमर हो जाए'; और तू उसे जिन्दगी में ढालने बैठ गया। सीधे-सीधे बोल ना कि लड़की पटानी है।"

बहरहाल, दो दिन चली लम्बी नोकझोंक, कहासुनी के बाद परमार्थी मित्र ने नायक का स्वार्थ साधने के लिए एक योजना बना डाली। नायिका को आकाशवाणी में लाया जाए। गाती अच्छा है तो ऑडिशन में तो निकल ही जाएगी...अनुबंध दिलवाते रहने की जिम्मेदारी मित्र की। शर्त रहेगी कि बस, वह मेरे ही गीत गाएगी। अब आकाशवाणी से जब-तब मेरे गीत गूँजेंगे तो अमरता की दिशा में कुछ तो... हँस पड़ा मित्र।

योजना तो बड़ी माकूल पर नायक के मन में उठी एक शंका, "एकाएक आकाशवाणी का प्रस्ताव जाएगा कैसे उसके पास? कॉलेज के सिवाय बाहर तो वह कहीं गाती ही नहीं।"

"उसका भी रास्ता है। घर में कहेगी कि एक कुलीग के भाई...नहीं नहीं, भाई नहीं पिता...पिता आकाशवाणी में काम करते हैं सो उसी ने सुझाव दिया कि वह आकाशवाणी में क्यों नहीं गाती?"

"अगर उन्होंने आकाशवाणी के नाम से ही अड़ंगा लगाया तो? इसका भाई ...तू एक बार देख लेता तो...।"

"अरे छोड़। आकाशवाणी से मिला नाम जब सारी दुनिया में और नामा जेब में सरकने लगेगा तो सारे अड़ंगे दूर हो जाएँगे।"

सचमुच सारे अड़ंगे दूर हुए और योजना शुरू ही नहीं हुई बल्कि छः महीने बीतते न बीतते ऐसी गति भी पकड़ी कि नायक तो लहालोट। आकाशवाणी में जब-जब सुल्ली का गाया अपना गीत सुनता तो उसी जोम में एक-दो गीत और लिख डालता। धीरे-धीरे जिसकी संख्या बढ़ती जा रही थी। यानी कि प्रेरणा भी बन गई अब तो वह उसकी। इधर सुल्ली घर की दमघोटू चौहद्दी और भाई के आतंकवादी रवैये से निकल कर नायक के करीब क्या पहुँची कि उसकी तो दुनिया ही बदल गई। आकाशवाणी से प्रसारित होता अपना नाम और नायक की आँखों से छलकती प्रशंसा...उसके मन में तो बस, उमंग और उत्साह की लहरें दौड़ती रहतीं सारे दिन। इसी उमंग में एक दिन उसने नायक से कहा, "मैंने सोचा है कि अगली बार मैं एक लोकगीत गाऊँगी ...क्या जमते हैं लोकगीत। और भजन कीर्त...अभी हमारे कॉलेज में कीर्तन का एक प्रोग्राम हुआ। ऐसा जमा कि सब झूमने लगे..."

माथा ठनका नायक का। इस जमने में उसे अपने उखड़ने का सिलसिला दिखाई दिया। पर अब रोके कैसे। सो रोका तो नहीं उसने पर प्यार का कोई चौका लगाने की जुगत बिठाने लगा। किसी तरह एक कमरा छाप मुलाकात हो पाती तो प्यार की वो हैवी डोज देता कि भूल जाती सारे भजन कीर्तन। पर कमरा क्या—ये कमबख्त तो कभी पार्क के पेड़-पौधों, झाड़ियों से ढंके किसी सुनसान से कोने तक में मिलने को तैयार नहीं। अब आकाशवाणी के इस भीड़ भरे कैण्टीन में, जहाँ सारे समय भीड़भड़का और चाऊं-चाऊं मची रहती है, कोई क्या कर ले? बहुत हुआ तो जरा-सा

हाथ मसल सहला दिया या टेबिल के नीचे टांग से टांग टकराते रहे। प्रेम की इस नामालूम-सी डोज के बाद तो भजन-कीर्तन ही सूझेगा। सो नायक ने हिम्मत करके बड़े सांकेतिक शब्दों में कमरा मुलाकात के अपने आग्रह को दुहराया। नायिका तो लाल गुलाब। और पहली बार उसने इंकार के साथ एक वाक्य भी जोड़ा—"धत्। अभी ऐसा कुछ नहीं करते...ये सब तो शादी के बाद।" और कहने के साथ ही शर्म से उसकी आँखें झुक गईं।

लोऽऽ। तो ये शादी का सपना देख रही है? पर ऐसा संकेत तो उसने कभी दिया ही नहीं क्योंकि ऐसा तो उसका कोई इरादा ही नहीं है। शादी का लड्डू खाकर पछताने का खतरा वह मोल ही क्यों ले जबकि बिना खाए अभी तक तो उसकी जिन्दगी में पछताने का कोई सिलसिला शुरू हुआ नहीं। गीतों पर मुग्ध होते-होते गीतकारों पर मुग्ध होने वाली अभी कई हैं, जिनमें से कुछेक की मौखिक प्रशंसा निमन्त्रण देती हुई धीरे-धीरे शरीर से भी झरने लगती है यानी कि कुछ-कुछ सिलसिला चलता ही रहता है। फिर एक मामला तो वक्त जरूरत के लिए हमेशा तैयार रहता ही है। पर इसे अब भजन कीर्तन से घसीट कर वापस अपने गीतों पर कैसे लाया जाए? आखिर निकाला एक रास्ता। प्रेम में सराबोर दो गीत निकाले। एक लिफाफे में रखकर लिखा—'सुल्ली के लिए' और पहुँचा दिए उसके पास। बस, हो गई सुल्ली तो प्रेमदीवानी।

अब लड़कियों के साथ एक मुसीबत। प्रेम का बीज सब तरफ से दाबढांप कर बिल्कुल चुपचाप बोया भले ही मन में जाए पर उसके अंकुर तो कम्बख्त रोम-रोम से फूटने लगते हैं—सबके बीच 'कुछ हो गया है', 'कुछ हो गया है' का डंका चोट ऐलान करते हुए। सो अब भाई से तो छिपने से रहा कि कहीं गलत जगह पाँव पड़ गया है सुल्ली का सो उन्होंने भी उसे सुनाते हुए अपना डंका चोट ऐलान कर दिया—"अम्मा, मैं अपनी रजामंदी की चिट्ठी लिख रहा हूँ कानपुर वालों को। अब डिग्री नहीं है तो क्या हुआ...डिग्री से आदमी पैसा ही तो कमाता है सो पैसा तो वह अपनी दुकान से भी खूब कमा लेता है। बाकी सब भी अच्छा ही है। फिर ऐसा लड़का मिलेगा कहाँ जो खाली कंकु कन्या लेने को तैयार हो। पन्द्रह दिन बाद तो छुट्टियाँ हो रही हैं गर्मी की...इसी में निपटा दो यह काम। सो ठिकाने लगे सुल्ली भी। आजकल न जमाने का भरोसा है, न इस जमाने में पल रही लड़कियों का।" अम्मा ने तो अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी पर सुल्ली के पाँव के नीचे की तो जैसे जमीन ही सरक गई। उससे न कुछ पूछा, न बताया और फैसला कर डाला उसकी जिन्दगी का।

कॉलेज से एक पीरियड कट करके नायक के पास पहुँची और हिचकियाँ ले-लेकर उसे भी अपना फैसला सुना दिया—"देखो, भैया तो मेरी एक नहीं सुनेंगे पर ऐसा वैसा कुछ करते ही मैं भाग कर वस, तुम्हारे पास आ जाऊँगी। बालिग हूँ अब मैं... क्या कर लेंगे मेरा?"

नायक हैरान...अवाक। सामने बैठी इस निहायत दब्बू...भीगी बिल्ली की हिम्मत

देखकर तो अब उसके पाँव के नीचे की जमीन सरकने लगी। कहीं सचमुच ही भाग आई तो क्या करेगा वह? कैसे निपटेगा इस मुसीबत से? उसके अपने रहने का तो कोई ठिकाना नहीं...किसी के यहाँ पेईंग गेस्ट की तरह रह रहा है...इसे कहाँ ले जाएगा? अब करे तो क्या करे? सो सीधे पहुँचा संकटमोचन मित्र के पास। उसने दो-टूक फैसला सुना दिया—"जल्दी से जल्दी तुम लोग शादी कर लो।"

"शादी? पर...पर।" कुछ कन्नी-सी काटने लगा नायक।

"पर...पर...क्या? कोई अनहोनी बात है शादी करना?"

"नहीं यार, पर ऐसे कैसे कर लूँ शादी? मुझे भी अपने घर वालों से बात करनी होगी...अनुमति लेनी होगी उनकी।"

"अरे वाह रे माँ बाप के आज्ञाकारी सपूत, ये जो दुनिया भर की खुराफातें करता रहता है तू यहाँ। वे सब घर वालों की अनुमति लेकर करता है? तुझे यही चिन्ता है न कि मेरे पुराने लफड़ों का क्या होगा...छुट्टे सांड सा कैसे घूम सकेगा तू? सो अब जरा अपनी आदतों पर लगाम लगा वरना तेरी प्रेरणा का क्या होगा. ..तेरी अमरता का क्या होगा? शादी कर लेगा तो फिर शहर के हर सांस्कृतिक कार्यक्रम में भी वह तेरे ही गीत गाया करेगी। आकाशवाणी में, शहर में हर जगह तेरे ही गीत गूँजा करेंगे...सोच लो सारी बात।" मित्र ने नायक की कमजोर नस पकड़ते हुए फैसले की बात, उसके गीतों पर लाकर टिका दी।

"पर यार, उसके घर वाले मुझसे शादी करने को कभी राजी ही नहीं होंगे।"

"ऐसी शादियाँ माँ बाप की रजामंदी से नहीं, अपने हिम्मत हौसले से होती हैं। वह तो भागकर आने को तैयार है और तू..."

सुल्ली का दुःख...मित्र का दबाव और अपना भी नफा-नुकसान तौल कर आखिर राजी हो गया नायक शादी के लिए। ऐसे शुभ काम में दो चार मित्र और जुट गए ...शादी की तारीख ही नहीं, मन्दिर, पण्डित सब तय कर डाले। एक सप्ताह बाकी था शादी को कि पता नहीं कैसे भाई को पता लग गया। आगबबूला हो गया वह तो...आगा सोचा न पीछा, बस कॉलेज में पढ़ाने वाली, आकाशवाणी में गाने वाली बालिग बहिन तक को भरपूर हाथ का एक झन्नाटेदार झापड़ रसीद कर दिया।

"अम्मा, कमरे में बन्द करो इसे और अच्छी तरह खबर लो इसकी।" सारी बात जान अम्मा ने भी 'मुँह दिखाने लायक मत रखना...नाक कटवा देना हमारी. ..इससे तो होते ही मर गई होती...' ऐसे अवसरों पर बोले जानेवाले वाक्यों का पूरा सेट राग, लय और आँसुओं की झड़ी के साथ दोहराते हुए दो-चार घूँसे जमा दिए और कमरा बन्द। यानी कि सुल्ली के मनचाहे भविष्य के आगे दरवाजे ठुक गए। ऐसे में दिदिया का हमराज बना उसका छोटा भाई। उसने जाकर मित्र को सारी बात बताई और पूछा, "दिदिया को किस दिन निकाल कर लाना है और कहाँ लाना है?" आज से पाँचवें दिन सवेरे जहाँ लाना था वहाँ का पता समझा दिया मित्र ने और कहा कि सुल्ली को हिम्मत बँधाकर रखना...कहना बिल्कुल चिन्ता

न करे, इधर का सब इंतजाम तो बिल्कुल ठीक है।

दूसरे दिन मित्र ऑफिस जाने लगा तो मुँह लटकाए हुए नायक आया, "यार, आज कमरे की चाबी छोड़ जाना उसी जगह...मुझे जरूरत है।"

"कुछ जुगाड़ बैठा सुल्ली को निकालने का? अच्छा है, उसे हिम्मत बँधा। जब से सुना है बहुत तकलीफ हो रही है बेचारी...इतने ही दिनों में उसने बहुत जगह बना ली मेरे मन में तो।"

अजीब संयोग। नाटक का रिहर्सल करवाने का समय आया तो मित्र ने देखा कि वह गलती से दूसरी स्क्रिप्ट ले आया है। सबको बिठाकर उल्टे पैरों दौड़ा, दरवाजा खुलवाने में उसे संकोच जरूर हो रहा था पर मजबूरी थी। दरवाजा खुलने में थोड़ी देर तो लगी पर खुला तो क्या देखता है कि कोई और ही लड़की शायद लफड़ा नम्बर दो छुईमुई-सी कुछ अस्त-व्यस्त से कपड़ों में पलंग के एक ओर बैठी है। गुस्से से फनफनाते हुए स्क्रिप्ट के साथ नायक को भी बाँह से घसीट कर बाहर ले आया मित्र।

"शरम नहीं आती तुझे। वो वहाँ बेचारी कुटपिट रही है और तू यहाँ गुलछर्रे उड़ाने ले आया इसे। चार दिन बाद शादी है तेरी।" झापड़ मारने का मन कर रहा था मित्र का।

"क्यों बिगड़ रहा है यार...चार दिन बाद ही तो है न? अभी हुई तो नहीं। अब क्या बताऊँ इसे भी तो समझाना सम्भालना है आखिर? अच्छा तू अभी जा...तुझे देर हो जाएगी।" और बाँह छुड़ाकर मित्र को धकियाते हुए उसे समझाने संभालने के लिए अन्दर घुसकर नायक ने भड़ाक से दरवाजा बन्द कर दिया।

किस्सा नम्बर दो

नायक—एक नामी-गिरामी फिल्मी हस्ती। अभिनेता नहीं, निर्देशक। कुछ फिल्मों ने सिल्वर जुबली मनाई तो कुछ के गाने ऐसे हिट हुए कि हर किसी की जुबान पर। जमे हुए अभिनेता उसकी फिल्मों में काम करने को उत्सुक रहते पर वह जहाँ तक होता, नए लोगों को ही चुनता। इसके फायदे जो थे—

फायदा नम्बर एक—सौदा सस्ते में हो जाता।

फायदा नम्बर दो—बड़े गर्व से सबके सामने यह कहने का अवसर मिलता कि नई प्रतिभाओं को खोजकर माँजना-सँवारना उसके जीवन का लक्ष्य है।

फायदा नम्बर तीन और सबसे बड़ा फायदा—दिन में ये नई अभिनेत्रियाँ उसकी फिल्म में नायिका की भूमिका अदा करतीं और फर्माइश करने पर रात में उसकी जिन्दगी की नायिका बनने में भी इन्हें कोई उज्र नहीं होता।

अब फायदों का पलड़ा जब इतना भारी हो तो पागल कुत्ते ने तो काटा नहीं था उसे जो वह बड़ी-बड़ी हस्तियों की तरफ मुँह करता और यह उसकी फितरत ही थी कि अपनी फिल्मों के लिए वह कुछ सुन्दरियों को खोज लाता और ठोक-पीटकर

उन्हें अपनी फिल्म के लायक तो बना ही लेता...बाद में चाहे उन्हें कभी किसी ने दो टके को भी न पूछा हो, सो अब उनके पूरे भविष्य का ठेका तो उसने लिया नहीं था। हाँ, उसका अपना द्विपक्षीय वर्तमान जरूर बन जाता था, यही क्या कम है। सो आलम यह हुआ कि मात्र शगल में शुरू किया उसका यह धंधा धीरे-धीरे उसका चस्का बन गया और फिर तो जिन्दगी की जरूरत। बगलगीर करने के लिए जब-तब उसे कुछ नया चाहिए—नया माँस, नया स्वाद...नया साथ। पर अब सारे समय तो फिल्में नहीं बनती रहती थीं...बनीं तो साल में मुश्किल से एक...बाकी समय? वैसे पत्नी तो थी, पर तौबा! उससे तो मन कभी का अघा चुका था। बस, अपनी माँ की सेवा सुश्रुषा, बच्चों की देखभाल...आए-गए कि खातिर तवज्जह यानी कि घर-गृहस्थी के सारे प्रपंचों के लिए ठीक थी वह! हाँ, सज्जनता की एक सामाजिक छवि बनाने-निभाने के लिए दिन में जब-तब ओढ़ना भी पड़ता था उसे। सब बाखुशी ओढ़ लेता था, पर रात? सो रात के लिए उसे अब दल्लों के दरवाजे खटखटाने पड़ते। और यह रास्ता तो ऐसा कि जल्दी ही उसकी गिनती फिल्मी दुनिया के चुनिन्दा औरतबाजों में होने लगी। पर फिल्मी दुनिया में यह कोई ऐब तो माना नहीं जाता है बल्कि मर्दानगी का तमगा लगने से कुछ सुविधा ही रहती है तो फिर इसे लेकर झिझक-संकोच कैसा? इसीलिए अगर कभी किसी फिल्मी पत्रिका की कोई गप्प-ठोकू सम्पादिका साक्षात्कार के दौरान इस बारे में कुछ पूछ ही बैठती तो मुस्करा कर कुछ इस भाव से स्वीकृति देता कि चाहो तो तुम भी आजमा कर देख लो।

सो हमारा ऐसा ही नामीगिरामी नायक एक दिन अपनी किसी स्क्रिप्ट पर काम कर रहा था कि एक दल्ले का फोन आया, "अरे साहब, इस बार तो आपको मुझे डबल दलाली देनी होगी...मैं माँगूँगा नहीं, आप खुद देंगे। वो चीज देने जा रहा हूँ...एकदम फ्रैश...एकदम...एकदम..." उसने तारीफों के पुल बाँध दिए और "पेशगी दीजिए तो रात के लिए बुक कर दूँ" से अपनी बात का उपसंहार किया। थोड़ी देर में पेशगी लेने के लिए वह खुद हाजिर। नायक रुपये लेने के लिए अपने शयन कक्ष में गया तो लाल पाड़ की साड़ी पहने, माँग में सिन्दूर भरे, पूजा पर बैठी पत्नी दिखाई दी। उसकी पूजा शायद समाप्त हो चुकी थी क्योंकि जैसे ही उसने अलमारी खोली प्रसाद की थाली लिए वह सामने आ खड़ी हुई। एकाएक ही खीज गया नायक। लगा जैसे सगुन ही बिगड़ गया। झल्लाए से स्वर में उसने पूछा, "सारे दिन पूजा कर-करके क्या माँगती रहती हो तुम भगवान से? अब और क्या चाहिए तुम्हें? गहने कपड़ों से अलमारी भरी पड़ी है। ऐश-आराम के सामान से घर भरा हुआ है...बच्चे तुम्हारे..." खीज के मारे वाक्य ही अधूरा छोड़ दिया उसने। पत्नी अवाक्-सी उसका मुँह ही देखती रह गई फिर बड़े सहज भाव से बोली, "अपने लिए मैं क्या माँगूँगी भला? अपने लिए तो मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। मैं तो बस, यही माँगती रहती हूँ कि तुम खूब फलो-फूलो...तुम्हारा नाम...तुम्हारा यश फैल जाए चारों ओर।"

भावुकता भरी ऐसी बेवकूफाना बातों से जहाँ उसकी खीज हमेशा दस गुना बढ़ जाया करती थी वहीं आज एक अजूबा घट गया। मैं जानती हूँ कि आप विश्वास नहीं करेंगे और सोचेंगे कि मैंने ही कोई किस्सा गढ़ दिया है। मैंने भी यदि अपने ही कानों से सुना होता तो मैं ही कौन विश्वास करती? सो आप भी विश्वास कर लीजिए...अब झूठ बोलकर काले कव्वे से तो कटवाना नहीं मुझे अपने को, सो जो भी लिख रही हूँ अक्षरशः सच है। तो अजूबा यह हुआ कि पत्नी का जवाब सुन कर नायक का हाथ जहाँ का जहाँ ठिठक गया। ऐसा तो नहीं कि पत्नी के मुँह से उसने ऐसी बातें पहले कभी नहीं सुनी थीं, पर आज! फिल्मी संवादों का आदी उसका मन निश्छल समर्पण की इस प्रतिमूर्ति को देखता ही रह गया। मेरी हरकतों को जान झेल कर भी यह मेरे लिए...सिर्फ मेरे लिए...और मैं? पत्नी के सच्चे सहज मन से निकली बातें एकाएक उसके मन को चीरती चली गईं। उसे खुद लगने लगा कि कुछ अनहोनी-सी हो रही है उसके साथ। पत्नी के प्रति जिस नैतिकता को उसने बरसों पहले कूट-पीस कर बिल्कुल मार दिया था, वह जैसे एकाएक साँस लेने लगी। बिना रुपये निकाले ही उसने झटके से अलमारी बन्द की और बाहर निकल आया। बार-बार के आग्रह और आकर्षक प्रलोभनों के बावजूद दल्ले को तो उसने दिया टल्ला...स्क्रिप्ट परे सरकाई और सोफे पर ही आँखें मूँद कर लेट गया।

अजूबे पर एक और अजूबा। अब हुआ क्या कि आँख मूँदते ही इस नायक के भीतर से एक नया नायक...नहीं नहीं, पुराना नायक फिर से जीवित हो गया और जा पहुँचा अठारह साल पहले की दुनिया में यानी फिल्मी दुनिया में प्रवेश करने से पहले की दुनिया में जिस पर बरसों से उसने 'डोर क्लोज्ड' के मजबूत पट्ट ठोक रखे थे। फिल्म की रंगबिरंगी दुनिया और सफलता की जगमगाती सीढ़ियाँ. ..पागल तो था नहीं जो यहाँ पहुँचकर वह अतीत के कुएँ में झाँकता। पर इस समय उस कुएँ की गुनगुनाती ऊष्मा उसे केवल सहला ही नहीं रही थी पश्चाताप के आवेश में भी भर रही थी। कदम-कदम पर पत्नी का साथ...हर संकट के समय उसके भरपूर सहयोग के न जाने कितने चित्र बिगड़ने लगे। अपने प्रति धिक्कार और पत्नी के प्रति सदाशयता की लहरें हिलोरें मारने लगीं।

कायाकल्प होना शायद इसे ही कहते हैं।

असमय की लम्बी गहरी नींद से उठा तो सिर बहुत भारी लग रहा था और बदन की नस-नस जैसे चटख रही थी। अपने बार से उसने एक बोतल खींची ...आदत और जरूरत के मुताबिक रफ्ता-रफ्ता चार पैग चढ़ाए। खाने की मेज पर हमेशा की तरह कुछ खाया, कुछ गिराया। बिस्तर पर लेटा तो चार पैग के सुरूर ने धीरे-धीरे उसे वापस अपने में लौटाया और अपने में आते ही शरीर की मीठी ऐंठन और बढ़ता तनाव 'कुछ' की माँग करने लगा। पर बगल का बिस्तर तो खाली। धिक्कारने लगा वह अपने को...क्या हो गया था उसे? किस चूतियापे का भूसा भर लिया उसने अपने भेजे में? आज की जो रात बेहद रंगीन हो सकती थी, अब करवटें बदलते ही काटनी पड़ेगी। तभी माँ की दवाई-दारू करके, बच्चों को

ढाँप-ढूँपर कर पत्नी बगल में आकर लेटी तो भारी कोफ्त हुई उसको लेकर। इसकी वजह से...सिर्फ इसकी वजह से...और सौ-सौ लानत भेजी उसने अपने पर और बगल में लेटी इस पत्नी पर और करवट बदल कर सो गया! पर नींद कहाँ? दल्ले के वर्णन कानों से टकरा-टकरा कर आँखों के आगे उस हसीना के एक से एक दिलकश चित्र खींच रहे थे! भारी पछतावे के साथ उसने सोचा अब आज की रात तो गई पर कम से कम कल के लिए तो उसे बुक कर ही ले। झल्लाया हुआ वह उठा और बाहर आकर दल्ले का नम्बर मिलाने लगा।

किस्सा नम्बर तीन

नायक--एक प्रसिद्ध कथाकार।

उस समय के कथाकारों में आम प्रचलन था...नहीं नहीं प्रचलन नहीं, बकौल उनके जिन्दगी की अनिवार्यता थी कि एक अदद बीवी के साथ एक प्रेमिका भी रहे। एक प्रेमिका तो स्थाई, बाकी अपनी-अपनी औकात और हैसियत के हिसाब से--यानी वो सब आनी-जानी माया। सो नायक बड़ी निष्ठा, लगन और ईमानदारी से अपनी बिरादरी की परम्परा का अक्षरशः पालन कर रहा था। पर यहाँ एक संकट था। अब लेखकों के पास फिल्मकारों की तरह अटाटूट पैसा तो होता नहीं कि दे दनादन कपड़े, गहने और ऐश-आराम के सामान से बीवी का मुँह इस तरह ठूँस दें कि बेचारी के मुँह से विद्रोह; विद्रोह का स्वर तो दूर...बिल्कुल आवाज ही न निकल पाए...हाँ, आँसू जरूर निकलते रहते हैं पर उनसे घर की शान्ति भंग होने का खतरा तो होता नहीं, सो उसकी कौन चिन्ता करे? पर अब लेखकों की बीवियों के खाली मुँह से तो केवल विरोध का स्वर ही नहीं, बाकायदा विद्रोह का बिगुल भी बजता ही रहता, जिससे घर की शान्ति तो भंग होती ही...परिवार परिचितों के बीच भी...जिनके लिए लेखन की ही कोई औकात नहीं तो लेखक की क्या होती...उसे जब-तब कठघरे में खड़ा होना पड़ता। पर अब इन सबको खुश करने के चक्कर में वह अपने लेखन की तो ऐसी की तैसी कर नहीं सकता सो उनको तो रखता ठेंगे पर ...पत्नी का क्या हो? वैसे इसके संगी-साथियों में पत्नी छोड़ने का कीर्तिमान स्थापित करने वाले पराक्रमी भी थे तो पत्नी की आहत भावनाओं की धेले भर चिन्ता किए बिना खम ठोक कर यह ऐलान करने वाले सूरमा भी कि भई, इसमें कोई शक नहीं कि बहुत औरतों के साथ सोया हूँ मैं। पर इसका संकट था कि इससे न तो यह पत्नी छोड़ते बनती थी और न पत्नी से अपने इधर-उधर के सम्बन्धों की स्वीकृति मिलती थी। अब समझौता हो तो कैसे? क्योंकि उसको अपनी जिद--निहायत गैर वाजिब जिद तो अपनी जरूरत लगती थी और पत्नी की जरूरत उसकी जिद--एक निहायत बेतुकी जिद लगती थी, जिसके आगे झुकना न उसे उचित लगता था, न ही उसके लिए सम्भव था।

यह तो हुई भूमिका--अब असली कथा!

शादी के दो साल के भीतर ही नायक के दुचित्ते व्यवहार और झूठ-सच के हथकंडों से घायल पत्नी और उस पर कई बार झगड़े हुए। पर मन पर पड़े घावों की मरहम पट्टी करने में कुछ ऐसी महारत हासिल कर रखी थी उसने कि हर बार सुलह। वैसे पत्नी प्रेमिका के बीच संतुलन बना कर...दोनों को साध कर चलना तलवार की धार पर चलने से कम कठिन काम तो नहीं पर अपनी चंटई चालाकी से गढ़े...झूठ में सने चुग्गे डाल-डाल कर वह साल तक तो यह किला भी फतेह करता रहा पर एक बार जब वह प्रकाश से मिलने का वहाना बनाकर प्रेमिका से मिलने शहर से बाहर गया तो पत्नी ने असलियत जान ली और अपना सामान बटोर कर उसी शहर में रहने वाली अपनी माँ के यहाँ चली गई—दो पंक्तियों में इस सम्बन्ध की इतिश्री करके अपने अलग होने की सूचना देकर। अब? समझ गया इस बार बात छोटे-मोटे चुग्गे से निपटने वाली नहीं, कोई बड़ा प्रलोभन डालना होगा। खुद तो जाएगा नहीं...उसकी अपनी ठसक। सो मित्रों को लगाया। पहले दो मित्र गए। थोड़ा आक्रामक रवैया अपना कर फटकारा—चलो, ये क्या बचपना लगा रखा है...शादी कोई बच्चों का खेल है कि कल की और आज तोड़ दी। पर पत्नी पत्थर बनी बैठी रही। पहला वार खाली। अब दूसरा वार—'प्यार दुलार से फटकार के साथ तुम्हें ले ही जाएँगे यहाँ से' के दृढ़ संकल्प की घोषणा के बावजूद पत्नी तो पत्थर की ही बनी बैठी रही।

एक मित्र ने नायक को सलाह दी कि छोड़ यार, अब अपनी ही इच्छा से गई है तो तू भी छुट्टी कर...प्रेमिका को ही पत्नी बनाकर ले आ पर नायक राजी नहीं। पत्नी तो उसे यही चाहिए और उसे पूरा भरोसा भी था...अपने हथकंडों से ज्यादा, आपादमस्तक अपने प्रेम में डूबी पत्नी की कमजोरी पर। बस, थोड़े धीरज और तीर निशाने पर लगने की जरूरत थी।

सो अब प्रयास का दूसरा दौर शुरू हुआ।

बारी-बारी से एक-एक दो-दो मित्र जाकर नायक के दुःख की, व्यथा की और खासकर पश्चाताप की करुण कथाएँ गढ़-गढ़ कर सुनाने लगे। पत्नी ने माँ का घर तो नहीं छोड़ा पर उसकी छलछलाई आँखों ने यह तो बता ही दिया कि उसके पथराए दिल में दरारों का जाल बिछना शुरू हो गया है।

आधा किला तो फतह। अब फाइनल स्ट्रोक।

मित्र लोग चाय-कॉफी का चक्कर फैला कर उसे घर से बाहर ले आए और नायक के हवाले करके चलते बने। अब आँसू बहाने की बारी नायक की थी सो उसने बाकायदा—ग्लसरीनी आँसू नहीं, असली आँसू और इतने तो बहा ही दिए कि पत्नी के दरारों पड़े मुट्ठी भर दिल में बाढ़ ला दे। बाढ़ आई और पत्नी का गुस्सा और निर्णय सब उसमें धराशायी।

किला फिर फतह—पत्नी घर में, नायक आसमान में।

पर इस घटना ने नायक को बहुत अधिक चौकस, बहुत अधिक सावधान जरूर कर दिया। उसने प्रेमिका के पत्र एक मित्र के पते पर मँगवाने शुरू कर दिए—अब

पत्नी की खोजी कुत्ते वाली नाक वहाँ तो घुसने से रही। पाँच महीने तक वह शहर से बाहर भी नहीं निकला यानी कि बिल्कुल राजा बाबू बना एक आज्ञाकारी पति की भूमिका निभाने लगा। पत्नी परम प्रसन्न—पति की सुख-सुविधाओं में और अधिक इजाफा करने में तत्पर मगन। इधर पत्नी ने तो पहली बार पाँव के नीचे रिश्ते की ठोस जमीन महसूस की। उधर सम्बन्धों का संतुलन गड़बड़ाने से प्रेमिका की ओर से नायक पर वो दुलत्तियाँ झड़नी शुरू हुईं कि उसके पाँव के नीचे की जमीन ही सरकने लगी। समझ गया कि इधर भी अब जल्दी ही कोई धांसू कार्यक्रम चलाना पड़ेगा जिससे उसके बिगड़े मिजाज और चढ़े मुँह को सहेजा-संवारा जा सके। वरना अगर कहीं...आगे की बात तो वह सोच भी नहीं सकता था।

नायक ने पत्नी के सामने प्रस्ताव रखा—डार्लिंग, एक महीने बाद तुम्हारी छुट्टियाँ शुरू हो रही हैं...इस बार क्यों नहीं हम कहीं पहाड़ पर चलें? शादी के बाद हम कहीं गए ही नहीं।

पत्नी तो निहाल।

वह अपनी जमापूँजी टटोलने बढ़ाने में लग गई—नायक जगह तय करने में।

इधर पत्नी का उल्लास चरम पर। उधर एक उपन्यास की थीम के आकार लेने से पति का उत्साह चरम पर।

"एकाएक एक उपन्यास कुलबुलाने लगा है दिमाग में। कुछ-कुछ आकार भी लेने लगा है। जिस तरह सोच रहा हूँ अगर उसी तरह लिखा जाए तो धूम मचा देगा यह उपन्यास।" पत्नी उस धूम में गोते लगाने लगती। उस बेचारी के सात पुरखे भी नहीं समझ सके कि धूम मचाने वाला यह उपन्यास उसके लिए धूमकेतु होने जा रहा है।

पत्नी की छुट्टी शुरू होने के कोई पन्द्रह दिन पहले ही पति ने प्रस्ताव रखा कि जाने की जगह तो तय हो गई पर वहाँ ठहरने की जगह तय करने के लिए वह पहले ही चला जाता है। अपनी औकात का कोई होटल देखेगा...नहीं जमा तो कोई और जगह देखेगा। लाड़ लपेट कर पत्नी की आपत्ति को खारिज किया..."देखो डार्लिंग, वहाँ ले जाकर मैं तुमको तिल भर भी कष्ट नहीं दे सकता। एकाध दिन जगह नहीं मिली तो मेरा क्या है, मैं तो मैदान में भी रात गुजार लूँगा...पर तुमको...नो ...नो।" लाड़ से पत्नी फिसल गई और नायक चलता बना।

पाँच दिन बाद पहला पत्र मिला। प्राणपूर्ण सम्बोधन के साथ कमरा मिलने की सूचना। दूसरे पत्र में उसकी प्रतीक्षा में छटपटाते मन की व्यथा। तीसरे पत्र में सूचना—कमरे में एक बढ़िया राइटिंग टेबिल भी है, इस पर बैठकर ही तो तुम्हें पत्र लिखता हूँ। बढ़िया टेबिल पर बैठकर लिखने का सुख ही कुछ और है। लौट कर किराए की उस खटारा टेबिल को निकाल कर एक बढ़िया टेबिल खरीदेंगे इस बार।

अगला पत्र—"जानती हो, अचानक उपन्यास शुरू हो गया। यहाँ अकेले बैठे-बैठे दिमाग में वही तो चलता रहा सारे समय और बस एकदम...क्या बताऊँ तुम्हें..." शब्दों में ही उल्लास थिरक रहा था।

हर दिन मिलनेवाले ये चार पत्र और फिर तीन दिन के अन्तराल से। पत्नी के रवाना होने के दो दिन पहले एक लम्बा पत्र—खूब सोच-सोच कर ढेर सारे प्यार-दुलार में डुबोकर लिखा गया एक-एक शब्द। लम्बी भूमिका के बाद मन के उस द्वन्द्व को उजागर करने में अपनी लेखकीय चातुरी का सारा कौशल झाड़ दिया कि कैसे जहाँ एक ओर उसके यहाँ होने की प्रतीक्षा उसे पगलाए दे रही है, वहीं उसका लेखन अंकुश लगा-लगा कर उसे रोक रहा है...अभी नहीं, पहले उपन्यास पूरा कर लो। शुरू किया हुआ उपन्यास एक बार जो हाथ से निकल गया तो फिर कभी नहीं लिखा जाएगा...कभी नहीं। तुम ही बताओ मैं क्या करूँ? पहले बिल्कुल अकेले में, एकान्त में लिखना मुझे मात्र मेरी आदत लगती थी...आज मुझे मेरा दुर्भाग्य लग रहा है, तो मुझे दूर कर रहा है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ, मेरे लेखन को जिन्दा रखने के लिए तुम तो सहर्ष अपना मन मार लोगी पर मैं अपने को कैसे माफ करूँगा? इसमें भी तुम्हें ही मेरी मदद करनी होगी। जानता हूँ तुम मुझे कमजोर नहीं पड़ने दोगी...तुम्हीं तो मेरी शक्ति हो...तुम...तुम्हीं...तुम। हर चार-पाँच पंक्तियों के बीच तकियाकलाम की तरह प्राण...डार्लिंग चिपका कर पूरे चार पेज का खर्रा। बड़ी होशियारी से पत्नी की सारी कमजोर नसों की घेराबंदी करता हुआ।

पत्नी पस्त...विजयी नायक अलमस्त।

पूरे एक महीने बाद उपन्यास लिख कर नहीं, वरन उपन्यास जीकर नायक लौटा तो स्वागत के लिए पत्नी स्टेशन पर हाजिर। छककर उपन्यास जीने की परम तृप्ति। 66 का भाव उसके चेहरे पर चमक बनकर छलक रहा था। टैक्सी में बैठते ही पत्नी ने पूछा, "उपन्यास पूरा कर लिया न? तुम्हारा चेहरा ही बता रहा है।"

"फर्स्ट ड्राफ्ट तो पूरा कर लिया...फ़ाइनल ड्राफ्ट तो अब यहाँ बैठकर करना होगा।"

"खूब अच्छा बन गया न...तुम्हारे मन लायक।"

"अभी तो खुश हूँ...आगे देखो। पता नहीं, तुम्हें कैसा लगेगा?"

"तुमने लिखा है तो अच्छा ही होगा और अच्छा होगा तो मुझे अच्छा ही लगेगा।"

नायक के लौट आने की खुशी में डूबी पत्नी अपनी ही रौ में बोलती चली जा रही थी।

"छपने पर खूब धूम मचेगी न...। जैसा तुम सोच रहे थे।"

"देखो, क्या मिलता है।" असमंजस में डूबा नायक कुछ अटक-अटक कर जवाब दे रहा है, पर पत्नी का ध्यान ही नहीं गया इस पर।

अपने कमरे में घुसते ही नायक के पैर जहाँ के तहाँ ठिठक गए। सामने ही एक बेहद बेहद खूबसूरत-सी राइटिंग टेबिल मय टेबिल लैम्प, कलम स्टैण्ड, कैलेण्डर के साथ जमी हुई है।

"पसन्द आई? मैंने खुद डिजाइन बना कर दिया था।" अवाक-सा वह पत्नी का मुँह ही देखता रह गया।

"पहाड़ पर जाने के लिए जो पैसे जमा किए थे, वो तो खर्च हुए नहीं...उससे टेबिल बना दी। अच्छी टेबिल के बिना तुम्हें लिखने में दिक्कत होती थी न? अब अपने उपन्यास का फाइनल ड्राफ्ट इसी पर बैठकर लिखना।"

एकाएक पता नहीं क्या हुआ कि नायक के पैर डगमगाने लगे। ऐसे-ऐसे कई झटकों को झेल जाने वाली उसकी मजबूत कदकाठी शायद पहली बार इस तरह लड़खड़ाई कि वह धम्म से कुर्सी पर बैठ गया। नायक के भीतर सारी उथलपुथल से बेखबर पत्नी को लगा जैसे वह बैठकर लिख रहा है मेज पर।

खाने की मेज पर उसकी पसन्द का सारा खाना जमा हुआ था और पत्नी थी कि खाने के साथ-साथ ढेर सारे प्रश्न भी परोसे जा रही थी—जगह कैसी थी... लिखने के बाद क्या करते थे...मेरी याद कितनी बार आती थी...साथ घूमने के लिए तो जरूर तुमने कोई छोकरी-वोकरी पटा ली होगी...एकाएक उसका ध्यान गया कि वह बोले चली जा रही है...पति तो जब से आया है चुप्पी साधे ही बैठा है तो खीज कर बोली, "तुम इतने चुप-चुप क्यों हो...क्या हो गया है तुम्हें?" नायक सावधान हुआ और आदत के अनुसार बड़ा माकूल-सा जवाब दिया, "देखो, इस समय मेरे दिमाग में उपन्यास घुसा हुआ है। जब तक यह पूरा नहीं हो जाता (मन ही मन में कहा—'या परे नहीं हो जाता।') तुम्हें मेरी चुप्पी...मेरा यह एब्नार्मल व्यवहार बर्दाश्त करना होगा।"

"ओऽह! मैं तो बिल्कुल भूल ही गई...अब बिल्कुल डिस्टर्ब नहीं करूँगी।"

पत्नी के दिमाग में सन्देह का कीड़ा घुसे बिना ही बात सम्भल गई।

रात में साथ सोने की रस्म अदायगी के बाद पत्नी तो सो गई पर नायक का मन जोड़ बाकी, गुणा भाग में अटक गया। यह क्या कर आया वह? कसमे-वादे प्यार वफा के सारे बटखरे प्रेमिका की झोली में डालकर उसे अपनी अर्द्धांगिनी बना कर इसका सूपड़ा पूरी तरह साफ करने की योजना बना कैसे डाली उसने? भेजा खराब हो गया था उसका? पर नहीं, उसको एक महीने तक अपने साथ, अपनी शर्तों पर रखने के लिए जरूरी हो गया था वह सब, वरना भरपूर आनन्द देने पाने के लिए इस तरह बिछा देती क्या वह अपने को? शादी करने के पहले दिन से ही 'ब्याह करो जी...ब्याह करो जी' की जो आठ पहरी झख लगा रखी थी—इसने उसके जवाब मे 'ब्याह करो जी' का सोलह पहरी आश्वासन भी तो जरूरी था उसके लिए। सो बाँध दिया गाँठ से। पर अभी सब जबानी जमा खर्च ही तो है, किया धरा तो कुछ नहीं सो इस जबानी जमा खर्च को तो वह बड़ी सिफत के साथ दूसरी दिशा में मोड़ देगा। हाँ, इस बार तिकड़म कुछ ज्यादा लगानी पड़ेगी। और इसी चक्कर में सिगरेट फूँकते-फूँकते रात के दो बज गए तो वह उठा और पत्नी द्वारा उपहार में दी गई उस खूबसूरत-सी टेबिल का श्रीगणेश करने के लिए प्रेमिका को पत्र लिखने

बैठ गया। मन में टंगे हुए तीन-चार पेटेण्ट सम्बोधनों में से एक को चिपकाया और चालू हो गया—"रात के दो बजे हैं, पर मेरी आँखों में नींद नहीं। तुम्हारे साथ गुजारी रंगीन रातों के बाद अब तुम्हारे बिना सोया जा सकता है क्या? तुम... तुम्हारा साथ...तुम्हारे साथ बिताया एक-एक क्षण...वियोग की छटपटाहट छलकाती हुई शब्दावली में उसके साथ बिताए एक महीने के क्रिया-कलापों को एक पन्ने में फिर दोहरा दिया उसने...मात्र एक पन्ने में। फिर चालू हुआ—"तुम्हारी मदभरी आँखें...तुम्हारे रसीले होंठ...तुम्हारे...तुम्हारे..." कभी पढ़ा सारा नखशिख वर्णन झाड़ दिया जम कर। अपनी विरह व्यथा की धाँसू गाथा जब काफी हो गई तो धीरे-से उसने एक संशय रखा—"तुम्हारे उतरने के बाद अगले स्टेशन पर मेरी बगल वाली सीट पर जो आकर बैठे वह एक वकील थे। पत्नी की तरफ से तलाक का कोई केस लड़कर आ रहे थे। और बड़े जोम में थे। कैसी-कैसी कानूनी पेचीदगियों से उन्होंने पति के छक्के छुड़ा दिए। आसान है क्या बिना किसी गुनाह के पत्नी को छोड़ देना? उनका जोम मेरा नशा उतारने लगा। हमारी सारी योजना के बीच कानून भी है, इस पर तो हमने सोचा ही नहीं..." और धीरे से प्रेमिका के पलड़े से खींचकर एक बटखरा वापस पत्नी के पलड़े में डालने की चतुराई पर उसने खुद ही अपनी पीठ थपथपाई।

"चिन्ता मत करना, कल ही मैं किसी कानूनी सलाहकार से मशविरा करके कोई रास्ता निकालूँगा" की शाब्दिक आश्वस्ति उसे थमाई और पत्र समाप्त किया। फिर एक बदनतोड़ अंगड़ाई लेकर अपने को भी आश्वस्त किया कोई चिन्ता नहीं जल्दी ही वह तीन चार बटखरे और खींच कर सन्तुलन बराबर कर लेगा...करता ही तो रहा है अभी तक और निश्चिन्त हो, टाँगें फैला कर सो गया।

थोड़ी ही देर में उसके खर्राटे कमरे में गूँजने लगे।

निष्कर्ष

अब इन तीन घटनाओं को सुन लिख कर मुझे भी सुल्ली के बड़े भाई के स्वर में स्वर मिला कर हर बात पर गद्गद् होकर बिछ जाने को तैयार बैठी नासमझ (मूर्ख) लड़कियों औरतों से कहना है कि देखो, अगर किसी गीतकार के गीत पसन्द आए तो मजमे में बैठकर सुन-सराह लो, कोई अच्छी फिल्म देखनी हो तो हॉल में देख लो, घर में बैठकर टीवी पर, कहानी-उपन्यास पत्रिका/किताब में पढ़ कर ही प्रसन्न हो लो—बस, इसके आगे कभी मत बढ़ना। इनको रचनेवालों के पास तो कभी भूलकर भी मत जाना और बहुत घेराबंदी करने पर भी इन्हें अपने पास तो फटकने तक मत देना।

महालुच्चों की जात होती है इनकी।

('तद्भव' से साभार)

हिन्दी उपन्यास के इतिहास (गोपाल राय) में राजेन्द्र यादव

गोपाल राय

नगरों और कस्बों की पृष्ठभूमि पर रचित सभी उपन्यासों में, चाहे उनका केन्द्रीय कथ्य जो भी हो, मध्यवर्ग किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है। पर मध्यवर्गीय जीवन के चित्रण के लिए जिन उपन्यासकारों को विशेष रूप से स्मरण किया जा सकता है उनमें कालक्रम की दृष्टि से उपेन्द्रनाथ अश्क, धर्मवीर भारती, अमृतलाल नागर, नरेश मेहता, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, गिरिधर गोपाल, रामदरश मिश्र, मोहन राकेश, शानी, राही मासूम रजा, गिरिराज किशोर, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, हृदयेश, ममता कालिया, देवेश ठाकुर, रमेशचन्द्र शाह, महीप सिंह, योगेश गुप्त, विनोद कुमार शुक्ल आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें उपेन्द्रनाथ अश्क के लगभग सारे उपन्यास मध्य वर्ग से सम्बद्ध हैं। उनके *गिरती दीवारें* (1946) से लेकर *निमिषा* (1980) तक सभी उपन्यासों में शहरी या कस्बाई मध्यवर्ग के जीवन का चित्रण किया गया है। निम्न मध्यवर्ग के आर्थिक संघर्ष, इस वर्ग के युवकों की आकांक्षाओं, सपनों और नैतिक मूल्यों से पैदा हुई कुण्ठाओं, पुरानी पीढ़ी से उनके संघर्ष, भटकन, निराशा, प्रेम के क्षेत्र में असफलता, दाम्पत्यजीवन की कटुता और असन्तोष तथा समाज द्वारा निर्धारित मूल्यों की लक्ष्मणरेखा में घुटती और तड़पती स्त्रियों का चित्रण इन उपन्यासों की विशेषता है। इन उपन्यासों का केन्द्रीय पात्र चेतन अपने चारों ओर की विषम परिस्थितियों, पारिवारिक समस्याओं, शोषण की शक्तियों तथा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, सपनों और मानसिक कुण्ठाओं से लड़ता हुआ कशमकश की जिन्दगी व्यतीत करता है। नागर जी से पहले ही, और साथ-साथ, लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती, कृष्ण बलदेव वैद, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, रमेश बक्षी आदि ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन के विविध पक्षों का अंकन किया। लक्ष्मीनारायण लाल के *बयां का घोंसला और साँप, काले फूल का पौधा* (1951), *रूपाजीवा* (1959) आदि में मध्यवर्गीय नागरिक जीवन की विषमता, असन्तोष, अशान्ति और सूनेपन को दर्शाने का प्रयास किया गया है। धर्मवीर भारती के *सूरज का सातवाँ घोड़ा* (1952) में नगरीय निम्न मध्यवर्ग की जिन्दगी अपने कटु यथार्थ रूप में प्रस्तुत हुई है। इस उपन्यास में छोटे दूकानदार, दफ्तरों के बाबू, अदालत के मुंशी, पेशकार, बैंक के क्लर्क आदि अन्दर से हताश और निरन्तर टूटते हुए लोगों की जिन्दगी सामने आती है, जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पैदा हुई आशा की लहर के

साथ गहरे मोहभंग का प्रभाव छोड़ती है। आजादी के साथ आशापूर्ण भविष्य का जो सपना जुड़ा था, वह उपन्यास में एक गहरी खामोशी में डूबता दिखाई देता है। कृष्ण बलदेव वैद ने *उसका बचपन* (1957) में एक बच्चे की संवेदना की आँखों से निम्नमध्यवर्गीय परिवार की तस्वीर प्रस्तुत की है। गरीबी, अशिक्षा और संस्कारहीनता से जकड़े निम्न मध्यवर्गीय परिवार के नरक को उपन्यासकार ने काले धुएँ के प्रतीक के माध्यम से, जो उस समूचे परिवेश पर एक प्रेत की तरह छाया हुआ है, प्रस्तुत किया है। राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में भी मध्यवर्गीय असन्तोष, निराशा, कुंठा और यथार्थ से पलायन की प्रवृत्ति का अंकन हुआ है। उनके *सारा आकाश* (1960) में मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियाँ अपनी सारी कुरूपताओं के साथ चित्रित हुई हैं। इसमें एक ऐसे किशोर वय के युवक की घुटन और निराशा का चित्रण किया गया है, जिसके सारे सपने मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक तंगदस्ती और संकीर्ण मानसिकता की चक्की में चूर-चूर हो जाते हैं।

राजेन्द्र यादव ने *सारा आकाश* में और नरेश मेहता ने *यह पथ बन्धु था* (1962) में मध्यवर्गीय परिवार के सदस्यों की कमीनेपन की हद को छूती स्वार्थपरता और स्त्री के प्रति अमानवीय क्रूरता का बेहद दहला देने वाला चित्रण किया है। इन उपन्यासों के प्रमुख नारी पात्र, प्रभा और सरस्वती, मध्यवर्गीय परिवारों की उन बहुओं का प्रतिनिधित्व करती हैं जो किन्हीं कारणों से पति की उपेक्षा या अनुपस्थिति के कारण परिवार के सदस्यों द्वारा अनेक प्रकार से पीड़ित, अपमानित और शोषित होती हैं। कृष्णा सोबती ने *मित्रो मरजानी* (1967) में एक पुराने मूल्यों को जीते हुए मध्यवर्गीय पंजाबी परिवार का चित्रण किया, पर इसकी मुख्य विशेषता इस परिवार की एक स्त्री, मित्रो, का विद्रोह है। मित्रो नारी-संहिता की उन सारी धाराओं को ध्वस्त कर देती है, जिनके कारण किसी स्त्री का जीवन नरक हो जाता है। ममता कालिया ने भी *बेघर* (1971) में मध्यवर्गीय संस्कारों और मूल्यों की मार झेलती स्त्री की नियति का अंकन किया है। परम्परागत धार्मिक-नैतिक संहिताओं के चलते मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन के नरक वन जाने के यथार्थ का अंकन इस उपन्यास में हुआ है।

राजेन्द्र यादव के प्रायः सभी लघु उपन्यासों में प्रेम और दाम्पत्य जीवन का द्वन्द्व किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। इन उपन्यासों के प्रेमी-प्रेमिका बिना विवाह सम्बन्ध में बँधे एक साथ रहने का निश्चय करते हैं, पर इसकी अन्तिम परिणति क्या होगी, लेखक के पास इसका कोई उत्तर नहीं है।

राजेन्द्र यादव ने *उखड़े हुए लोग* (1956) में 'नेता भैया' के रूप में राजनीतिज्ञों की उस नस्ल का चित्रण किया है, जो आज देश में खूब फल-फूल रही है। ये 'नेता भैया' त्याग, तपस्या, सेवा, सज्जनता आदि की रामनामी चादर ओढ़कर जनता को लूट रहे हैं, प्रच्छन्न पूँजीपतियों के रूप में मजदूरों और बेकार युवकों का शोषण कर रहे हैं तथा भ्रष्टाचार में आकंठ निमग्न हैं।

(हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय से साभार)

मोहन राकेश की डायरी में राजेन्द्र यादव

मोहन राकेश

जालंधर : 13.8.58

'सुप्रभात' में राजेन्द्र यादव का लिखा रिव्यू पढ़कर एक बार सिर भन्ना गया।
शाम को काम नहीं किया।
डायरी खाक लिखें।
तो आप रिव्यूज की चिन्ता करते हैं?
हाँ-हाँ-हाँ!
नहीं भाई साहब ऐसा नहीं।
तो म्यां मस्त रहो।
अच्छी बात है।
काम करने का मन नहीं तो रेडियो सुनो।
अच्छी बात है।
पहले एक गिलास ठण्डा पानी पियो।
अच्छी बात है।
...और प्यारे दुनिया को हेच समझो।
ओ. के.।

नई दिल्ली : 31.1.59

राजेन्द्र यादव के आ जाने के बाद कई दिन उसी व्यस्तता में निकल गए। उसके सैटिल हो जाने के बाद ही अपना कुछ होश हुआ।

इस बीच 'सुहागिनें' शीर्षक कहानी को रिराइट करने के सिवा कुछ नहीं किया।

...आज जाने कैसा दिन था। सुबह राजेन्द्र पाल की बात पर गुस्सा आ गया। शाम को कॉफी हाउस में कुछ अजब-सा लगा। हबीब, कुमुद, चमन, सन्तोष और श्याम साथ आए। 'आषाढ़ का एक दिन' का पहला अंक पढ़ा, खाना खाया—

कैसा लगता है, कह नहीं सकता। देयर इज एक्साइटमेंट इन दि माइंड, व्हाई? आई डू नाट नो।

नाउ आई मस्ट ट्राइ टु गेट सम गुड, ओनेस्ट स्लीप।
रेस्ट, लेटर।

श्रीनगर : 14.4.59

...और दिल्ली से श्रीनगर। फिर वही आकस्मिक निश्चय, वही अफरा-तफरी—वही यात्रा!

दिल्ली में रहकर पौने चार महीने में बहुत-बहुत कुछ जाना। बहुत से लोगों के असली चेहरे सामने आए। कई बार कोफ्त हुई—कई बार मनोरंजक लगा। खैर—हर अनुभव व्यक्तित्व को निखारता है—अपने भी चेहरे को समझने में मदद देता है।

दिल्ली में रहकर जिस व्यक्ति को सबसे ज्यादा पहचाना है, वह है राजेन्द्र यादव। यह तो कहना शायद ठीक न हो कि वह मूलतः ही घटिया आदमी है—उसमें अच्छाइयाँ भी हैं निःसन्देह—मगर वह इन्फीरियरिटी काम्प्लेक्स से ग्रस्त है। उसी वजह से शायद उसमें इतनी ईर्ष्या की भावना है। वह हमेशा ऐसी ही बात करेगा जिससे तुम्हें चोट लगे, दुःख पहुँचे। He cannot make you feel happy! तुम उसके लिए कुछ भी करो—वह अपनी आदत से लाचार वैसे ही हरकतें करता जाएगा।

उसकी दूसरी आदत जिसकी वजह से कई बार परेशानी हुई, वह है रुपये-पैसे के मामले में उसका रवैया। अगर शक्ति गुप्ता वाली बात सच हो तो कितनी शरम की बात है। ...और यह आदमी है जिसकी लगभग लाख रुपये की जायदाद है आगरा में—घर में नकदी है, गहने हैं। और दूसरी तरफ हम लोग हैं कि घर में एक रत्ती सोना नहीं, कोई जायदाद नहीं, पैसा नहीं। मगर इन्सान बिना किसी चीज के भी तो dignity से जी सकता है!

दादी और बुआ का दबाव—ब्याह कर लो, ब्याह कर लो! मगर मेरी समस्या का यह निदान कैसे है? The girl I wanted to marry, refused me. What now? I do not know anyone else with whom I can spend a happy married life And then there is the consciousness of this emptiness in life. Then?

कल बेसाखी थी—और कल ही मैं पहली वायु यात्रा करके यहां पहुँचा—यह नया साल गर्भ में क्या लिए है?

27.8.64

स्थान—कमलेश्वर का कमरा। अवसर—बियर की तीन बोतलें। भोक्ता—राकेश, कमलेश्वर। भोजन : राजेन्द्र। विशेष : राजेन्द्र की बेईमानी।

विषयारम्भ : राकेश के कन्फेशन्ज। स्थिति का विश्लेषण।

मध्य : राजेन्द्र द्वारा भलमनसाहत से कथ्य का आरम्भ। परन्तु शुरू करते ही

कुण्ठा। फिर बेईमानी। ...आखिर स्वीकृति।
अन्ततः एक लेख की योजना।

12.9.64
परसों।
दोपहर को निकलने पर बस में महेन्द्र भल्ला। यात्रा की समस्या। भाषा लिखना किसी को आता ही नहीं। कॉफी हाउस में घण्टा भर। फिर जनपथ लेन से चमन को लाने। रेखा। टहलते हुए हबीब के बारे में बात। वह उसे भिलाई बुलाना चाहती है।
चमन के साथ कॉफी हाउस में। विषय : उसकी नौकरी। स्टील प्लांट और स्टील फनेंस। मैनेजमेंट।
वहीं रमेश पाल। उसे छोड़ने शंकर मार्केट तक। रास्ते में हबीब। रेखा की बात।
पाल का विषय–किसी भी तरह 'थोड़ी-बहुत एकस्ट्रा आमदनी।'
कॉफी हाउस में शरद देवड़ा और राजेन्द्र यादव। राजेन्द्र अवस्थी, मनोहर श्याम जोशी और एक और जर्नलिस्ट।
'लघु कहानी' की बात। लौटते हुए रेलिंग के पास भारती उपाख्यान। उसका रिवीजन कि रविशंकर वाले डिस्कशन को लेकर क्या-क्या हुआ। वह थोड़ा डाउन हो गया। रात को कमलेश्वर के साथ मार्कण्डेय की बात। बारिश में गली में।
कल–
शरद देवड़ा और राजेन्द्र घर पर। मार्कण्डेय का पत्र। टैरेस पर चाय और राजेन्द्र के लॉजिक से पैदा एक लतीफा–
'...तो कहानीकार कुल तीन?'
उसने हाथ मिलाया।
'उपन्यासकार दो?'
उसने फिर हाथ मिलाया।
'और नाटककार सिर्फ एक?'
उसने हाथ हटा लिया। बोला, 'स्साला, कहाँ से बात निकालकर लाया है।'

ला बोहीम में राजेन्द्र और शरद देवड़ा के साथ कॉफी। शरद की तलखी 'ज्ञानोदय' छोड़ने की बात को लेकर। हम लोगों के लिखने की बात को लेकर। उसकी आँखों में आँसू आ गए।
स्थिति का स्पष्टीकरण।
साली बेल्जियम फिल्टर ने बुरी तरह परेशान किया। बहकर। बैरे ने बताया 'आपने टाप गलत रखे हैं।'
चलने तक शरद देवड़ा की मुस्कुराहट लौट आई थी।
सड़क पर हुल्लड़बाजी और रीगल से स्कूटर...

सुबह-सुबह कमलेश्वर ने बताया, 'मुक्तिबोध की मृत्यु हो गई।'

मौत का दिन था यह...जैसे कि होता है कोई-कोई दिन...!

दोपहर को राधास्वामी सत्संग के स्टाप के पास बस से उतरा; तो एक शव सामने से आ रहा था...

दोपहर को निगमबोध घाट पहुँचे, तो मुक्तिबोध की अर्थी वहाँ पहुँच चुकी थी। चिता जलाने से पहले पूजा हो रही थी।

खामोश लोग एक-दूसरे की तरफ देख रहे थे, या मण्डप में रखे शव की ओर।

पूजा हुई। लकड़ियाँ रखी गईं। आग लगा दी गई।

सब कुछ धुआँ हो गया। न जाने कितने संकल्प, कितने विचार, कितनी अनुभूतियाँ, कितनी आकांक्षाएँ...जो सब कुछ घंटे पहले साँस रुकने के साथ जड़ हो गई थीं।

सुना, मामा वरेरकर की हालत नाजुक है। हिचकी बन्द नहीं हो रही।

राजकमल में सुरेश अवस्थी, श्री शिवदान सिंह चौहान। वहाँ से उठकर 'स्टैण्डर्ड' में। तीन घंटे बातचीत। लगा दीवार से सिर पटक रहे हैं—पत्थर की भुरभुरी दीवार

'स्टैण्डर्ड' से कनाट प्लेस। बात पौने आठ तक चलती रही—फुटपाथ पर।

टी हाऊस। दिनेश, दो अलम्बरदार। चड्डा (हरिदत्त?)। बोगस कानखाऊ किस्से।

सत सोनी, रवीन्द्र कालिया।

सत सोनी की बात 'दायरा' के बारे में।

रवीन्द्र कालिया 'ज्ञानोदय' के इण्टर्व्यू को लेकर। घर तक छोड़ गया।

25.9.64

पाँच बजे राजेन्द्र यादव। बारिश के बावजूद। वक्त का और जवान का पक्का है यह आदमी।

ऊपर नहीं आया। मानो को भेजकर नीचे बुला भेजा।

चार घंटे बात करते रहे। पहले दिनों से लेकर आज तक की। उसके सेल्फ पोर्ट्रेट को लेकर धुनाई की। माना कि झख मारी है।

'नई कहानियाँ' लेने की बात करता रहा। को-आपरेटिव बनाने की। हर तीन वाक्यों के बाद, 'मैं कलकत्ता हो आऊँ।' वही बचकाना बातें, विज्ञापनों की, कर्ज की, प्रकाशन खोलने की।

बाद में अपनी कहानियों की बात करते रहे। सामान्यतः कहानी की। आधुनिकतम कहानी के अन्तर्निहित फार्मूलों की।

कमलेश्वर पहुँचा पाँच बजे की जगह नौ बजे।

नया दौर शुरू हुआ तो बारह बजे तक चला। खाना वहीं खाया। ऊपर से खाना नीचे ले गया।

बातें ज्यादातर दोहराई गईं। राजेन्द्र थोड़ी देर रेसिस्ट करके ट्रेक पर आ गया।

फिर गहरी आन्तरिकता से बात होती रही।

तय किया कि मंगल को मिलेंगे। एक-दूसरे को अपनी चीजें सुनाएँगे।

उससे कहा कि कलकत्ता जाकर उसके मध्य-वित्तीय संस्कार अधिक जागृत हो आए हैं, जिसका असर उसके लेखन पर भी पड़ा है—तो उसने बुरा नहीं माना।

बहुत दिनों के बाद इस तरह बैठकर अच्छा लगा।

26.9.64

ग्यारह बजे कमलेश्वर मानो के साथ। 'नीचे मन नहीं लग रहा था, सोचा तुम्हें देख लूँ।'

थोड़ी देर बैठकर वह चला गया। बात हुई राजेन्द्र यादव के बारे में। 'मैंने कहा तू कलकत्ते जाकर बीस हजार ले आ। जिस दिन ले आएगा, उसी दिन 'नई कहानियाँ' में तुझे दिला दूँगा।'

'इस चुगद को जाने कब अक्ल आएगी?'

'और क्या? सोचो...अगर तुझे बीस हजार ऐसे ही आसानी से मिल सकता था तो तूने कलकत्ते से ही पत्रिका क्यों नहीं निकाल ली?'

डॉक्टर मल्होत्रा की दुकान। मरीजों की लम्बी पंक्ति। मशीन की तरह डॉ. मल्होत्रा का काम किए जाना।

('मोहन राकेश की डायरी' से साभार)

सुनो, हिन्दी कहानी के अकालवृद्ध तोतामास्टर!

शैलेश मटियानी

('हंस' अगस्त, 1989 के सम्पादकीय पर 'हंस' में प्रकाशनार्थ लिखा गया शैलेश मटियानी का यह पत्र राजेन्द्र यादव ने वापस कर दिया। इसे मटियानी जी ने साहित्यनामा-8 में प्रकाशनार्थ दिया था। इस पत्रात्मक लेख को प्रकाशित करने की घोषणा भी साहित्यनामा-7 में की गई थी। लेकिन साहित्यनामा-8 अब तक प्रकाशित नहीं हो सका—मटियानी जी दिवंगत हो गए। प्रस्तुत है राजेन्द्र यादव की सम्पादकीय कलई खोलता शैलेश मटियानी का महत्वपूर्ण अप्रकाशित पत्र—सम्पादक)

राजेन्द्र भाई,

'हंस' के नए अंक का सम्पादकीय कुछ जमा नहीं। उचित होगा कि आप 'हंस' के अनुभवों का रोना-गाना कुछ कम करें। कभी बाद में विस्तार से लिखिएगा। संस्मरण इतनी जल्दी शुरू करना ठीक नहीं।

'हंस' को लेकर लोग क्या-कुछ कहते फिरते हैं, इससे इतना बिदकना जरूरी क्यों लगता है आपको? मैं कहता हूँ कि 'हंस' के पीछे बोफोर्स का पैसा लगा हुआ है—देन, सो व्हाट? 'हंस' को अगर चोरी-डकैती-तस्करी करके निकाला जा रहा होता—या आगे इस तरह कुछ किया जा सके—तो इससे 'हंस' का (और आपका भी) महत्व घटेगा नहीं, क्योंकि इस तरह के कामों के लिए 'हंस' कोई नहीं निकालता।

कुछ भी महत्वपूर्ण करने को उसमें पूरी तरह जुटना जरूरी है। आपके कान 'हंस' की जगह, लोगों के कहने-सुनने की तरफ क्यों लगे रहते हैं? लोग टांग खींचने में लगे हैं, फिर भी हम पूरी रफ्तार से आगे बढ़ रहे हैं, इस आत्मप्रशस्ति में कुछ नहीं रखा। पूरा ध्यान 'हंस' पर लगाइए और सिर्फ उन्हीं की नहीं सुनिए, जो आपको अपनी गरिमा बखानने का मसाला देते हों। 'हंस' का निकलना चमत्कार है, यह आपको बताना पड़े, तो कहना होगा कि चमत्कार में कुछ ज्यादा दम नहीं। यह हम कहेंगे। और अगर नहीं भी कहें, तो आपको कहने की जरूरत नहीं, वक्त कहेगा; क्योंकि इसमें कोई शक नहीं कि 'हंस' सचमुच एक चमत्कार है और मौजूदा

हालातों में, एक लेखक के तौर पर यह चमत्कार. सिर्फ आप ही कर सकते थे।

'हंस' व्यावसायिक पत्रिका कतई नहीं है। न प्रस्तुति और न ही सामग्री में। जब सामग्री व्यावसायिक न हो, तब प्रस्तुति का आकर्षक होना ज्यादा जोखिम का काम हो जाता है। 'हंस' को प्रस्तुति में इससे भी भव्य निकलना चाहिए, अगर कि सम्भव हो सके। जरूरी साधन जुटाना व्यवसाय नहीं, अध्यवसाय है। सच बात तो यह है कि 'हंस' जैसी पत्रिका से व्यवसाय असम्भव है और अगर कोई ऐसी पत्रिका से व्यवसाय भी कर दिखाए, तो उसको सचमुच चमत्कारियों की श्रेणी में ही रखना होगा। उसका नाम, हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में, स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा लेकिन, शहीदी बाना खुद ओढ़ने से बचें। 'हंस' को सिर्फ निकालना ही नहीं है आपको। 'हंस' एक बहुत बड़ा अवसर है। इसे छोटा मत करिए।

लगता है प्रेमचन्द के 'हंस' को भी आपने सचमुच अपना 'भूत' बना लिया है। क्यों जरूरी लगता है आपको बार-बार यह बताना कि वह 'हंस' और था, यह 'हंस' और है? किसने और कब कह दिया आपसे कि आप वही प्रेमचन्द वाला 'हंस' क्यों नहीं निकाल रहे हैं? परम्परा की पहली पहचान यही है कि वह हमें स्वाधीन करती है, लेकिन स्वाधीनता के भी कुछ बन्धन होते जरूर हैं और इन्हें खुद निभाना होता है। परम्परा और रूढ़ि एक वस्तु नहीं। श्यामाचरण दुबे कब से सारे हिन्दी जगत के प्रवक्ता हो गए? गड़े मुर्दे उखाड़िएगा, तो भूत-भूत चिल्लाते ही काल व्यतीत होगा। ...लेकिन अगर 'हंस' को आप 'जनवादी सेक्स' या 'सेक्सी जनवाद' के प्रवर्त्तन का मंच बनाना चाहेंगे, तो आईना देखते चित्त डरेगा जरूर! तब हड़बड़ाहट में यह ध्यान भी नहीं ही रहेगा कि भूत को गवाह बनाना ठीक नहीं!

काल को खण्डित करना उसे 'भूत' बनाना है और निरन्तरता में देखना अतीत। 'हंस' को 'साहित्यिक पत्रिका से नत्थी जोखिम कम करने' का निमित्त बनाने का भी एक अपना जोखिम होगा जरूर, यह ध्यान आपको रहना ही चाहिए था। जिसे परम्परा के मनमाने चीथड़े करने का शौक हो, उसे पूरी तरह स्वच्छन्द होना जरूरी है। जहाँ तक हमारा स्वार्थ सिद्ध हो सके, वहाँ तक परम्परा को रखेंगे इसके आगे उसे 'आखिरी सलाम' बोल देंगे, यह सावधानी साहित्य में ज्यादा दूर तक साथ नहीं दे सकती, क्योंकि यह एक तरह की चालाकी है।

प्रेमचन्द वाले 'हंस' से आपके 'हंस' की तुलना में संकट प्रस्तुति की सादगी और भव्यता नहीं बल्कि चरित्र में अन्तर्विरोध का है और यही आपको चौकन्ना किए रहता है। और यहीं एक सवाल जरूरी हो जाता है कि जिस तरह 'साहित्यिक पत्रिका से नत्थी जोखिम को किसी हद तक कम किए जा सकने' ('हंस' : स. टि. : अगस्त 89) की सावधानी में 'हंस' का नाम लिया गया, क्या लगभग कुछ इसी तरह की सावधानी में 'हंस' के साथ 'जनवादी चेतना का प्रगतिशील मासिक' का टप्पा भी नहीं जोड़ा गया, ताकि 'हंस' में कामोद्दीपक किस्म की कहानियाँ और यौन चर्चाओं की प्रस्तुति से नत्थी हो सकने के जोखिम को बचाया जा सके? सावधानी और खामोशी के बीच की सीमारेखा का फर्क साहित्य में छिपाना असम्भव है, इस सच्चाई

से आप बेखबर होंगे, यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन जाने क्यों लगता यही है।

नाम और अन्तर्वस्तु के बीच का फर्क कोई सामान्य फर्क नहीं होता। लगता है कि लोकप्रियता को लेकर कहीं-न-कहीं आपकी धारणा भी यही है कि इसके लिए 'सेक्स' की चाशनी जरूरी है और चूँकि 'प्रेमचन्द की विरासत' में इस वस्तु का प्रावधान है ही नहीं, और इसलिए अगर 'हंस' में कामोद्दीपकता लानी है, तो बीच में 'जनवादी चेतना की प्रगतिशील पुष्करिणी' जरूर मौजूद रहे, इसे सावधानी नहीं चालाकी की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। अब यह बात और कि साहित्य में बेवकूफी से ज्यादा नुकसानदेह चालाकी हुआ करती है।

'हंस' प्रस्तुति में भव्यता और अन्तर्वस्तु में वैचारिक तथा साहित्यिक उत्कृष्टता में समन्वय के कारण ही व्यावसायिक अथवा लघु, दोनों प्रकार की पत्रिकाओं के बीच अपनी एक प्रभावी छवि बना सका है, इसमें कोई शक नहीं, लेकिन यह भी तय है कि तीन वर्षों के बाद भी आप लेखकों से अपनी अपेक्षाओं में पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाए हैं। पाठकों को पकड़ने के लिए कमोद्दीपन भी कहानी में होना चाहिए, कहीं-न-कहीं खुद के इस अनुभव से आप ग्रस्त (आब्सेस्ड) हैं जरूर और इस ग्रन्थि को आपके सम्पादन में भी साफ-साफ देखा जा सकता है। हाल ही में प्रकाशित आपकी खुद की कहानी 'हनीमून' भी इसी मनोग्रन्थि की उपज है और जाहिर है कि 'तिरिया चरित्तर' के बाद, इसके द्वारा भी आपने, अपनी तरफ से, हिन्दी के कहानीकारों को इतना संकेत बिल्कुल किया है कि 'हंस' को वास्तविक जरूरत किस तरह की कहानियों से हो सकती है।

साफ बात कि आप 'हंस' के लिए ऐसी कामोद्दीपक कहानियों की तलाश में चले आए हैं, जो यौनरस से भरपूर हों, ताकि पाठकों को बड़े पैमाने पर पकड़ा, और इस प्रकार साहित्यिक पत्र से नत्थी आर्थिक जोखिम को कम किया जा सके, लेकिन साथ में 'हंस' में कामोद्दीपक कहानियाँ छाप रहे होने के जोखिम को भी बचाया जा सके! यानी ऐसी कहानियों पर 'जनवाद की झिल्ली' चढ़ाने का चोर रास्ता भी खुला रहे।

बात को इतनी स्पष्टता से कहना इतना जरूरी हो गया है कि 'पहली दिक्कत' 'हंस' से प्रेमचन्द का नाम जुड़ा होने के कारण पेश आए होने का जिक्र करते हुए, (हालाँकि 'कहाँ बिहारीलाल है और कहाँ दुलारेलाल', निराला ने नहीं पद्मसिंह शर्मा ने कहा था!) आपने हिन्दी के कहानीकारों को खुली चुनौती इन शब्दों में दी है—

'दूसरी दिक्कत आई स्वयं लेखकों की ओर से। हम चाहते थे कि ऊबाऊ, रूखी, एकरस लघु-पत्रिकाओं और भेल-पूड़ी छाप ने-चेहरा व्यावसायिक पत्रकारिता के बीच 'हंस' को ऐसा क्या रूप दिया जाए कि उन प्रबुद्ध-क्षुब्ध पाठकों को अपने साथ जोड़ सकें, जो सारे देश में बिखरे हैं। साहित्य कला से उदासीन न होकर दूसरी दिशाओं में मुड़ गए हैं या शब्दहीन कुढ़न में सिनिक होते चले जा रहे हैं, लेकिन लेखक थे कि या तो राजनैतिक फार्मूलों की निहायत ही पूर्वानुमेय, नकली और झूठी कहानियाँ

लिख रहे थे—या कला और अध्यात्म की बारीक उलटबांसियों के भोपाली संस्करण पेल रहे थे। दोनों के पास महान क्रान्तिकारी सिद्ध करने वाले 'जागरूक या कलादग्ध' समीक्षक थे। एक राजनैतिक नारे लिख रहा था, तो दूसरा शाश्वत किस्म की और अमर-सूक्तियाँ। पाठक दोनों के पास नहीं था। मूलतः दोनों पाठकों से डरते थे या घृणा करते थे। हाँ, इस दौरान दोनों प्रकार के लेखक इतने महान् जरूर हो चुके थे कि उन्हें पाठक की अनुपस्थिति की याद दिलाना, अपना घर जलाना था। कलात्मकता के अभिजात अहंकार और जन-प्रतिबद्धता की सैद्धान्तिक धमकियों में फँसे, पैरेनोइया के शिकार ये दोनों लेखक अपने आस-पास की इस सच्चाई को नहीं देख पा रहे थे कि पड़ोस में ही सिनेमा और नाटक में निरन्तर प्रयोग करते जाने की ऊर्जा कहाँ से आ रही है?' ('हंस' : स. टि. : अगस्त 89)

हालाँकि बिल्कुल साफ शब्दों में आप भी नहीं ही कह पाए हैं कि ज्यादा मात्रा में दरअसल किस तरह की कहानियाँ चाहते हैं, लेकिन आपकी खीझ इस बार काफी हद तक खुलकर सामने आई जरूर है। ऐसे में कुछ सवाल आपसे भी जरूर होंगे।

हमें आपके इस सम्पादकीय घोषणापत्र से पहली दिक्कत यह अनुभव हो रही है कि आप स्वयं उन्हीं स्थापित महान् कलाकारों में से एक हैं, जिनकी ओर इसमें उंगली उठाई गई है। और दूसरी दिक्कत, हमारी भी, कुछ ज्यादा बड़ी ही है; क्योंकि जहाँ एक ओर खुद के भी कहानीकार (ही) होने (यानी खुद के भी सवालों के घेरे में आ जाने) से नत्थी जोखिम से वचने की सावधानी में आपने खुद कहानियाँ लिखना छोड़, दूसरों को कहानी कला सिखाने की तोतामास्टरी सम्भाल ली है—दूसरी ओर बाकी के कहानीकारों को 'राजनैतिक फार्मूलों' से होशियार रहने की सलाह देते हुए, खुद 'जनवादी चेतना का प्रगतिशील मानसिक' का फार्मूला 'हंस' से इस प्रकार नत्थी कर रखा है कि जनवाद और सेक्स के बीच का फर्क करना ही असम्भव हो जाए!

जबकि प्रबुद्ध-क्षुब्ध पाठकों को 'जनवाद' में 'सेक्स' की चाशनी से बड़े पैमाने पर लुब्ध-मुग्ध कर सकने की उम्मीदों में कुछ ज्यादा दम इसलिए नहीं कि कोई वेवकूफ-से-बेवकूफ पाठक भी 'सेक्स' के लिए 'हंस' को पढ़ने की बेवकूफी कभी नहीं करेगा। रह गया सवाल इस बात का कि क्या जनता के जीवन में 'सेक्स' नहीं होता? तो सवाल यह भी होगा कि कहानियों में कितना 'जनवाद' हो, कितना 'सेक्स' इसकी मिकदार आप क्यों तय करते घूमें? 'पशु-पक्षियों में सेक्स' की तर्ज पर 'जनता में सेक्स' की तलाश की ऐसी ऐतिहासिक जरूरत आखिर अचानक क्यों पड़ी आपको? कुछ हमें भी बताएँगे कि आखिर 'जनवाद' और 'सेक्स' का आपस में क्या रिश्ता माना जाए? अगर आप दूसरों को इतना बेवकूफ समझते हों कि लोग 'जनवाद और सेक्स' की बहस चलाने के पीछे के वास्तविक मन्तव्य को भाँप नहीं सकेंगे, तो इस बेवकूफी पर सिवा अफसोस जाहिर करने के और किया भी क्या जा सकता है। अफसोस इस बात पर भी कि जनवाद और सेक्स—जैसी हद दर्जे की वाहियात, ऊल-जलूल और गलत बहस के लिए आपको पिछलगुए भी ढेरों मिल गए।

'हंस' को आज के अनुरूप निकालने और उसकी मूल प्रकृति को विकृत करने के बीच का फर्क जिस दिन आपकी समझ में आ जाएगा, तब आपको अपने अपराधबोध के बार-बार प्रक्षालन की जरूरत नहीं होगी। प्रेमचन्द को तो जनवाद या प्रगतिवाद का लेबिल चस्पां करने की जरूरत महसूस हुई नहीं?

अगर आप सचमुच चाहते थे कि उबाऊ, रूखी, एकरस लघु पत्रिकाओं और बे-चेहरा व्यावसायिक पत्रिकाओं के बीच 'हंस' साहित्य-कला से उदासीन होकर, दूसरे रास्ते की तरफ मुड़ते चले जा रहे पाठकों को साहित्य से फिर ला जोड़े, तो आपको 'हंस' के चेहरे पर 'जनवादी चेतना का प्रगतिशील मासिक' ठप्पा लगाना जरूरी क्यों हुआ? पत्रिका को बे-चेहरा, या कि एकरस, उबाऊ अथवा घटिया बनाने का काम सिर्फ व्यावसायिक ही नहीं, राजनैतिक ठप्पा भी करता है। कहानी पर 'जनवादी चेतना और प्रगतिशीलता' का 'एगमार्ग' लगाने के चक्कर में ही तो आपको 'बहूभोग की रसलीला' को जनवादी बताना पड़ा? 'तिरिया चरित्तर' को जनवादी सिद्ध करने के लिए 'तिरिछ' को कलावादी सिद्ध करने की जरूरत पड़ी?

पहाड़ों पर कई जगह जब शराबबन्दी लागू हुई, तो 'डाबर' आदि कम्पनियों द्वारा 'मृतसंजीवनी सुरा' से दूसरे रास्तों की तरफ मुड़ रहे लोगों को अपनी तरफ मोड़ा जा सकता है, तब आपको खुला ऐलान करना चाहिए कि 'हंस' को 'तिरिया चरित्तर' जैसी कहानियों की ही जरूरत है। 'सेक्सी जनवाद' या 'जनवादी सेक्स' के चोर-दरवाजे के इस्तेमाल की जरूरत अनुभव करना, लेकिन इसे छिपाना, डरना है और डरकर साहित्य नहीं किया जा सकता।

आप अगर 'तिरिया चरित्तर' को मानें कि वह कहानी को पाठकों से जोड़ने की आपकी जो अवधारणा है, और जिसका कि आप बार-बार जिक्र उठाते रहते हैं, उसे पूरी तरह प्रतिबिम्बित करती है, तो यह बात आपको जोर देकर कहनी चाहिए। हम असहमत हो सकते हैं लेकिन यह हक सम्पादक का है कि वह किस तरह की रचनाएँ चाहेगा; क्योंकि सम्पादन का जोखिम उसका है। शाश्वत किस्म की सूक्तियों अथवा खोखले राजनैतिक नारों से भरी कहानियाँ छापने से इंकार करने में आपको बाधा क्या है? लेकिन जब आप पत्रिका के नाम के साथ खोखला राजनैतिक नारा जोड़ेंगे, तो लेखकों को इससे बचने की सलाह देना 'मियाँ फजीहत की दीगरों को नसीहत' के सिवा कुछ नहीं होगा।

आप खुद में ही इतने गोल-माल हैं कि दूसरों को समझाना कठिन होगा। पहले अपनी धुंध दूर करिए। यह सब कहना जरूरी इसलिए हो गया है कि आप अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में बार-बार कहानी-कला सम्बन्ध नुस्खे पेलने के बाद भी यह स्पष्ट नहीं कह पाए हैं कि 'हंस' के लिए आप किस तरह की कहानियाँ चाहते हैं।

यह आपकी चिन्ता भ्रान्ति-मात्र है कि प्रबुद्ध पाठकगण एकरस लघु-पत्रिकाओं या बेचेहरा व्यावसायिक पत्रिकाओं से ऊबकर, साहित्य कला से दूसरे रास्तों की तरफ रुख करते गए हैं। जनाब गिरावट सिर्फ लेखकों के लिखने में नहीं, पाठकों के पढ़ने में भी उतने ही बड़े पैमाने पर आई है। संवेदन और विचारशीलता का

उजाड़ कायम करने की व्यवस्था की मुहिमें पूरे देश में जारी हैं और वह हर वस्तु हाशिये पर फिंकती चली आ रही है, जो इसके आड़े आती हो।

एक तरफ अशिक्षा और दूसरी तरफ कुशिक्षा का जोर होने से साहित्य की सामाजिक प्रासंगिकता के सवाल ही फालतू हो गए हैं। आप 'हंस' का रोना रो रहे हैं? खुद को 'सारिका', 'धर्मयुग' और 'दिनमान' जैसे पीठ-पीछे पूँजीवादी मशीनरी वाली पत्र-पत्रिकाओं का हश्र क्या हुआ? अगर दावा इस समझदारी का हो कि 'सारिका' के पाठक इसमें छपने वाली बेचेहरा व्यावसायिक कहानियों के कारण ऊबकर रास्ता काट काट गए तो मानना जरूरी होगा यह भी कि 'हंस' की हकीकत इससे दीगर नहीं! अन्यथा 'सारिका' जैसी बेचेहरा व्यावसायिक पत्रिकाओं से पिण्ड छुड़ाने वाले सारे पाठक 'हंस' की तरफ दौड़े चले आए होते! तब 'हंस' से पाठकों की ऊब क्यों है?

एक तरफ सनसनीखेज पत्रिकाबाजी, दूसरी तरफ 'दूरदर्शन' के जिन्दा डांस और तीसरी तरफ संवेदना तथा सोच-विचार का बढ़ता अकाल इन वास्तविकताओं से इंकार करके पाठकों की हवाई अवधारणाएँ बनाने से कुछ नहीं होगा! राजनैतिक पार्टियों के झूठ ने पूरे देश में एक ऐसी धुंध उत्पन्न कर दी है, जिसने लोगों को बेरास्ता कर दिया है। इस हकीकत के सामने घुटने टेक देना ठीक नहीं, तो साथ ही जरूरी है यह भी कि ख्याली पुलावों से बचा जाए। आपको अब चाहिए कि 'हंस' के कुछ अंकों में वही कहानियाँ छापें, जो आपके 'मॉडल' के हिसाब से खरी हों और जिसके द्वारा 'दूसरी दिशाओं में' मुड़ते चले जा रहे पाठकों, उनका गिरेबान पकड़कर, 'हंस' की तरफ खींचा जा सके कि–'लो जैसी कहानियाँ नहीं मिलने से तुम शब्दहीन कुढ़न में सिनिक बने दूसरी दिशाओं में भागे जा रहे थे, वो ये रहीं!' ...अगर ऐसी कहानियाँ आप नहीं जुटा सकते, और उद्देश्य शब्दहीन कुढ़न में 'सिनिक' हुए प्रबुद्ध पाठकों को पकड़ना ही है, तो 'हंस' का प्रकाशन बन्द कर दीजिए।

आपने कैसे जान लिया कि जो लेखक आपके 'मॉडल' की कहानियाँ नहीं लिखते, वो सब पाठकों से डरते और घृणा जरूर करते होंगे? (हालांकि 'शब्दहीन कुढ़न में सिनिक' पाठकों से तो दूरी ही ठीक होगी!) ...आप तो नहीं और घृणा नहीं, बल्कि बहुत प्यार-मुहब्बत करते हैं शब्दहीन कुढ़न में सिनिक पाठकों से? तब आप क्यों नहीं लिखते वैसी लुब्धक कहानियाँ? 'इण्डिया टुडे' में जो आपकी 'हनीमून' कहानी छपी थी, उसने कितना जोड़ा आपको ऐसे पाठकों से? और आपकी कहानी ने जोड़ा कि 'इण्डिया टुडे' के सरक्युलेशन ने?

आँख पलटकर, हुक्का पीने मत बैठ जाइएगा, तोतामास्टर! जवाब दीजिएगा। नहीं तो आगे से कहानी कला सम्बन्धी हितोपदेश झाड़ना बन्द करवा दिया जाएगा और तब आप चिल्लाते फिरेंगे कि हवाई अध्यात्मवादी कहानीकार यथार्थवादी गुण्डई पर उतर आए हैं!

जो साहित्य की प्रासंगिकता को समझ सकें, जिन्हें इस बात की चेतना कराई जा सके कि कैसे एक निहायत पारिवारिक प्रसंगों की कहानी भी पढ़नेवाले को मनुष्यता की सार्वभौम तथा सार्वकालिक अवधारणा से जोड़, और उसे स्वाधीनता की पहचान

करा सकती है; अथवा जिन्हें समझाया जा सके कि साहित्य तथा कला के सामाजिक स्रोतों से कटकर, पूँजीवादी चेतनामुण्डन–माध्यमों के गुलाम हो जाने के खतरे क्या हो सकते हैं–ऐसे लोगों की संख्या आज भी लाखों में होगी, लेकिन इन्हें अपने से जोड़ना, जंगल में खोये हुओं को ढूँढ़ना है। 'हंस' को दस-बीस-तीस-चालीस-पचास-साठ हजार पाठकों से जोड़ना असम्भव नहीं, लेकिन यह काम सिर्फ कहानियाँ छापने से नहीं सधेगा। कैसी भी रोचक, उत्कृष्ट तथा सामाजिक सरोकारों से भरपूर कहानियाँ छापते चले जाने से भी कुछ नहीं होगा, अगर कि साथ में युद्धस्तर पर पाठक जुटाने का काम भी न किया गया। हमें दिक्कत आई दरअसल लेखकों की ओर से, कहने का मतलब तो यही निकला कि पाठकों की ओर से कोई दिक्कत न थी और न है? आपको शायद, पता नहीं कि बन्दर की बला तबेले के सिर मढ़ने वालों से तबेले नहीं सम्भला करते।

'हंस' के साथ हिन्दी की लघु-पत्रिकाओं की तुलना में, कई सकारात्मक बिन्दु हैं। सम्पादक एक बड़ा लेखक है। प्रस्तुति में पत्रिका आकर्षक है और पाठक को इसे सिर्फ 'लघु पत्रिकाओं के प्रति सदाशयता' के भाव से नहीं लेना है। सम्पादक का नाम बड़ा होने से, लेखकों को पकड़ना आसान है। जरूरत दोनों मोर्चों पर समान रूप से संघर्ष की होगी। लेखकों का हेडमास्टर होने का मुगालता सिर्फ नुकसान ही करेगा।

अगर मानें कि आपकी चिन्ता हिन्दी में ऐसी कहानियाँ नहीं लिखे जा रहे होने की है, जो कि पठनीयता की कसौटी पर भी खरी उतर सकें, जिनमें पढ़ने वालों की चेतना ही नहीं, बल्कि स्मृति और संवेदना के तार भी झनझना सकने की क्षमता हो, तो कहना जरूरी होगा यह भी कि कहानियाँ नहीं लिखे जा रहे होने के वास्तविक कारणों का जिक्र आप खुद भी जान-बूझकर नहीं करते हैं; क्योंकि इससे 'जनचेतना का प्रगतिशील मासिक' निकाल रहे होने का दावा खटाई में पड़ सकता है।

आप अच्छी तरह जानते हैं कि भारत भवन की छत्रछाया में कला और अध्यात्म की बारीक उलटबांसियों के भोपाली संस्करण पेलने वाली कहानियों की तुलना में, उन जनवादी-प्रगतिवादी कहानियों की संख्या बहुत बड़ी रही है, जिन्हें विचारधारात्मक राजनैतिक फार्मूले पेलने की होड़ ने ही निहायत उबाऊ, एकरस और कृत्रिम–यानी पठनीयता और विश्वसनीयता, दोनों से कोसों दूर–बना दिया।...लेकिन *'कामरेड का कोट'* छापने का चाहे जितना, लेकिन 'जनवादी चेतना की प्रगतिशीलता' का लेबिल हटाने का साहस आप में नहीं है, जबकि मूर्द्धन्य जनवादी आलोचक *डॉ. शिवकुमार मिश्र* जी के *'हंस'* में सिर्फ जनवादी प्रगतिवादी लेखकों की ही रचनाएँ छापी जानी चाहिए' की चेतावनी के बावजूद, शुद्ध कलात्मक से लेकर विशुद्ध कामोद्दीपक, जाने कितने मेल की कहानियाँ आप 'हंस' में पेलते ही चले गए है और आखिर *शिवकुमार* जी को ही समझ लेना पड़ा है कि *राजेन्द्र यादव* आखिर *राजेन्द्र यादव* हैं और उन पर सवारी गाँठना किसी राजनैतिक पार्टी के लिए भी इतना आसान नहीं।...लेकिन यहाँ भी आप सावधान नहीं रह रहे हैं। आपकी पूरी कोशिश यही है कि रिंद-के-रिंद रहे और हाथ से जन्नत भी न जाए।

आप चाहते हैं, तो राजनैतिक फार्मूलों का साहित्य लिखवाने में जी-जान से जुड़े सन्धियों के छद्म पर सीधे प्रहार कर सकते थे, लेकिन तब 'जनवाद में सेक्स' की बहस चलाने की छूट कहाँ होती? क्या आप इस बात से सचमुच इन्कार करना चाहेंगे कि यह बस आपने यों ही चलाने को नहीं, बल्कि *'हंस'* में छापी गई (तथा आगे प्रकाश्य) कामोद्दीपक किस्म की कहानियों का रास्ता निष्कंटक कर सकने के पक्के इरादे में ही चलाई थी? लेकिन...अब दोनों प्रकार के लेखकों को खुली लताड़ लगाने के पीछे कहीं-न-कहीं यह मलाल भी काम जरूर कर रहा है, कि फतह हासिल हुई नहीं!

सच्चाई है यह कि आप और *नामवर* जैसे तोतामास्टरों के कारण हिन्दी कहानी पर बहस एक ऐसी अन्धी गली की ओर मुड़ती गई, जहाँ से बकवाद के सिवा और कुछ सम्भव न हो। एक ने सालों तक *नई कहानी* का पाखण्ड फैलाए रखा; दूसरे के 'जनवाद और सेक्स' का शिगूफा, बस, अभी टाँय-टाँय फिस्स हुआ है। एक से *नई कहानी* का मतलब पूछो, तो कॉलेज-यूनीवर्सिटी के सर्टीफिकेट दिखाने को कहता है—दूसरे से 'जनवाद और सेक्स' की हकीकत जानना चाहो, तो अपने विलायती हुक्के के धुएँ से काल में नैरंतर्य को उड़ाना शुरू कर देता है।

'हंस' से जुड़े कहानीकारों को तो पहला सवाल यही करना चाहिए कि जो शख्स खुद सात वर्षों में *'हनीमून'*—जैसी वाहियात कहानी लिखे, उसे क्या हक है कि वह दूसरे कहानीकारों के बीच लाल-पीला लंगोट फटकारता घूमे?

नामवर जी ने जिस-जिस कहानीकार के कंधे पर सवारी की उसे रसातल में धंसा कर ही दम लिया। अब राजेन्द्र बाबू 'सेक्सी जनवाद' की झूमरी तलैया में हिन्दी कथा साहित्य के मोती निकाल लाने को गोते लगवाएँगे 'हंस-छाप' जनवादी कहानीकारों को! जाहिर है आप लोगों ने अपनी नेतागिरी बरकरार रखने को कहानी की बहस को ऐसे मुद्दों से जोड़ दिया, जिनका कहानी से दूर-दूर का भी कोई वास्ता कतई नहीं। 'हंस' वाली 31 जुलाई, 89 की गोष्ठी में *सुधीश पचौरी* के द्वारा नई कहानी के दौर को 'नेहरू युग के यूटोपिया' की उपज करार दिए जाने की पैरवी आप भी कर रहे थे। गोष्ठी के दूसरे दिन की भेंट में, आप यह समझाने में लगे थे कि उस दौर को 'नेहरू-युग' के रूप में पहचाना जाए, तो इसमें बुराई क्या है? यह भी कि घटनाओं और स्थितियों से कट कर कैसे लिखा जा सकता है?

मैं आपसे जानना चाहता रहा कि जब तक काल के समतोल व्यक्ति न हों, तब तक, उसके नाम पर 'युग' कैसे चलाया जा सकता है? और अगर आजादी के बाद के दो दशकों को 'नेहरू-युग' और बाद के दशकों को इसकी परछाइयों के तौर पर ही देखा जा सकता हो, तो इससे बेहतर आजादी के बाद के अब तक के सारे दशकों को 'टाटा-बिड़ला युग' के रूप में पहचानना क्यों नहीं होगा? देश के सामाजिक आर्थिक नियोजन में इनकी भूमिका नेहरू से छोटी या भिन्न है? मैंने सवाल गोष्ठी में भी उठाया था कि 'नेहरू युग के यूटोपिया' या *पं. नेहरू* से कहानी का सम्बन्ध क्या हो सकता है?

आपने विपय-प्रवर्तन करते हुए, हिन्दी के कहानी के भविष्य की बात की थी। सुधीश पचौरी और कमलेश्वर भाई की सारी बातें भटकाने और बरगलाने वाली थीं। इन दोनों का 'दूरदर्शन' का राग अलापना समझ में आ सकता है। मगर आपके भी इसमें सुर मिलाने को क्या समझा जाए? क्या यह कि *डॉ. नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव* और *कमलेश्वर* जैसे तोतामास्टरों के साथ-साथ अब 'दूरदर्शन' भी कहनी (कारों) के भविष्य के निर्णायक की हैसियत रखता है?

आपने किसी बात का जवाब नहीं दिया। आप काल के नैरंतर्य की बात को लेकर, मेरा मखौल उड़ाते रहे। मुझे काल के नैरंतर्य के तर्क से ही कहना है कि 'नेहरू-युग' की स्थापना साहित्य में असम्भव है। इसमें दोष *नेहरू* का नहीं, आप जैसे उन सिद्धान्त प्रतिपादकों का है, जो 'तत्काल' का वजन उठाने में ही भचक जाते हैं। दूरदर्शन की गोष्ठी की 'वीडियो-फिल्म' तैयार करने को आई टीम को ध्यान में रखकर बोलना लेखकों को जरूरी क्यों हो?

सवाल यह भी है कि एक ही समय को कितने युगों में गिनना होगा? हिन्दी की बुद्धिजीवी जमात में 'स्टालिन-युग', 'माओ-युग' से लेकर गांधी युग, 'नेहरू युग' और 'इन्दिरा युग' के बाद, अब 'राजीव गांधी युग' शुरू हो चुका।

काल की इस तरह की अवधारणाओं के नाना प्रकार के गुटके चलाना गुटबाजी के लिए जरूरी हो सकता है, कहानी से इसका कोई ताल्लुक नहीं; क्योंकि युग बीतते एक वक्त लगता है और इससे पहले ही 'युगबाजी' पर उतर आना ठीक नहीं।

साहित्य में 'नेहरू युग' स्थापित करना, काल का मखौल उड़ाना है। वशिष्ठ ने 'रघुवंश' की जगह 'रामवंश' चलाने के मुरीदों को मूर्ख करार दिया था। सतयुग को 'हरिश्चन्द्र युग', त्रेता को 'रामयुग' और द्वापर को 'कृष्ण युग' के रूप में जानने से इन्कार किया गया, तो इसके पीछे काल का विवेक ही था। *नेहरू* बहुत बड़े राजनेता हो सकते हैं, लेकिन उनके नाम पर साहित्य में भी युग चलाने का तर्क क्या होगा, जबकि *वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास* अथवा *कबीरदास-जायसी, सूरदास, तुलसीदास,* और *मीरा* तक के नाम पर कोई युग नहीं?

शब्द का अर्थ साहित्य में भी सिर्फ वहीं तक नहीं जाता, जहाँ तक कि राजनीति या इतिहास में। राजनीति और इतिहास की भाँति, साहित्य 'तत्काल' की वस्तु नहीं। साहित्य में 'शब्द का वृत्त उसकी अनुगूँज की परिधियों तक जाता है। नगाड़े पर चोट करिए तो पहले गूँज और फिर अनुगूँज उत्पन्न होती है। शब्द भी मनुष्य की चेतना में बजता है, तो इसी भाँति गूँजता है और जितनी गहरी दृष्टि, वेदना या प्रीति में से उपजा हो, उतनी ही देर और दूर तक गूँजता है। शब्द और काल दोनों एक दूसरे से बँधे हैं और एक की निरन्तरता ही दूसरे की निरन्तरता को सम्भव बनाती है। युग की अवधारणा करने में विवेक जरूरी है कि काल और शब्द कभी भी, किसी व्यक्ति तक सीमित नहीं होते, फिर चाहे वह पृथ्वी पर महानतम ही क्यों न हो। *काल और शब्द समाज के प्रत्यय हैं। इनकी कोई भी सम्यक् अवधारणा सिर्फ और सिर्फ समाज को केन्द्र में रखकर ही की जा सकती है। चूँकि मूल्य समाज के आधारभूत सारतत्वों*

का संवहन करते हैं, इसलिए 'सतयुग' या 'त्रेता' अथवा 'द्वापर' या 'कलियुग' कहने का कोई मतलब होता है और यह विवेक, काल तथा भाषा को व्यक्तियों के नाम बन्दरबाँट की छूट नहीं देता।

समाज को ही काल नहीं, बल्कि काल को भी समाज की छलनियों में छानना होता है और तब ही उसकी भी सही अवधारणा की जा सकती है। नियम से ऊपर कोई नहीं। साहित्य में 'नेहरू युग' का प्रक्षेपण इस नियम का अतिक्रमण है, लेकिन समाज और काल के नियम तोड़ना इतना आसान होता नहीं। कहानीकारों को यह समझाना कि नई कहानी का पूरा दौर 'नेहरू युग' के यूटोपिया की देन था, उन्हें बरगलाना है।

साहित्य के मानदण्ड इतिहास और राजनीति के मानदण्डों से भिन्न होते हैं। यहाँ व्यक्तियों या घटनाओं की महानता का तर्क नहीं चलता, जबकि इतिहास और राजनीति का सारा तामझाम ही इसी तर्क पर टिका होता है। *'रामायण'* राम नहीं, *वाल्मीकि* के कारण कालजयी महाकाव्य है। वहाँ मूल्यों को महानता का तर्क काम करता है।

साहित्य में व्यक्ति और घटनाओं को तत्काल या व्यक्तिगत महानताओं के दायरे में नहीं देखा जाता *'पूस की रात'* में भी एक महान् घटना है, क्योंकि उसके तार मनुष्य की संवेदना के सार्वकालिक क्षितिजों तक जाते हैं।...लेकिन अगर उसमें *हल्कू* और *झबरा* की जगह *नेहरू-स्टालिन* को रख दिया जाए तो कहानी नष्ट हो जाएगी। कहानी को 'नेहरू युग के यूटोपिया' से जोड़ना प्रकारान्तर से कहानीकारों को समाज के विस्तार की जगह, राजनीति के बाड़ों की तरफ आने का इशारा करना है और कहना जरूरी क्यों हो कि ऐसे इशारेबाजों ने हिन्दी कहानी की दिशाओं को धूमिल बनाया है। लेखक को यह बताना कि वह जो भी अवधारणा करे, राजनीति और इतिहास के फार्मूलों के दायरे में करे, यह उसे बरगलाने के सिवा कुछ नहीं।

देश काल या मनुष्य की टुच्ची अवधारणा व्यक्ति के खुद के छोटेपन की सबूत होती है। साहित्य इस कोटि के छोटे चित्त और पित्त वालों से आगे नहीं बढ़ता क्योंकि देश, काल और मनुष्य के विस्तार को प्रतिबिम्बित करना ही साहित्य का मुख्य लक्ष्य होता है। *मनुष्य को यह बताना ही काव्य रचना है कि वह विराट से अभिन्न है।* कहानी भी वही टिकती है, जिसमें मनुष्य के विस्तार को कहा, और उसे सोच-विचार और संवेदन की गहराइयों में उपस्थित किया गया हो। 'नेहरू-युग' 'नेहरू-युग' टर्राने से कहानी बनना असम्भव है। काल के महासागर में मेंढ़कों का स्थान नहीं हुआ करता।

मैं उस दिन सचमुच नहीं बोलना चाहता था। गाड़ी में आरक्षण की तिथि को लेकर भी आपाधापी थी मन में, किन्तु *सुधीश पचौरी* और *कमलेश्वर भाई* की इन धमकियों के कारण बोलना जरूरी लगा कि—*जो कहानीकार दूरदर्शन से कटे रहेंगे, उनका साहित्य इतिहास के तहखानों में मुँहबन्द बोरों की शक्ल में पड़ा रह जाएगा।*

सुधीश पचौरी यह भी समझा रहे थे कि हिन्दी के कहानीकार दूरदर्शन से अपनी कहानियों के प्रसारण को भीतर-भीतर लालायित रहते हैं और बाहर-बाहर कैसे 'दूरदर्शन' से दूर ही खड़े होने का नाटक करना चाहते हैं। अब *सुधीश पचौरी* को कौन समझाए कि हिन्दी के कहानीकारों को दूरदर्शन के प्रति आकर्षण ठीक उन्हीं कारणों से है जिन्होंने खुद उन्हें टी. वी. टावरों और टी. वी. सेटों की गिनती में जोत रखा है अन्यथा 'दूरदर्शन' के लिए लिखना या उसके कार्यक्रमों में हिस्सा लेना एक बात है और उसे साहित्यिक मूल्यांकन की 'मानिक संस्था' बनाना बिल्कुल दूसरी बात और यह दूसरी बात ही खतरनाक है। 'दूरदर्शन' से प्रसारण को हिन्दी कहानी के मूल्यांकन का प्रतिमान बनाने की मूर्खता सिर्फ वही कहानीकार करेंगे जो देश, काल और समाज के विस्तार से घबराकर 'दूरदर्शन' के डिब्बों में अपना भविष्य खोजना चाहेंगे क्योंकि 'दूरदर्शन' की मौजूदा मुहिम यही है—देश, काल और समाज को डिब्बा बन्द करना!

यहाँ जिक्र इसलिए कि आप भी कहानी की बहस को भटकाने में ही रुचि रखते हैं। जनवाद में सेक्स और सेक्सी जनवाद की आपकी सारी मुहिम इसी भटकाव की देन थी। कहानी बालू-सीमेंट के अनुपात से तैयार होने वाली वस्तु नहीं है। स्थितियों, घटनाओं अथवा ब्योरों से कहानियाँ बनाई जा सकती, तो आप भी लगातार कहानियाँ बना रहे होते, क्योंकि इसके तोताज्ञान की कमी आप में कतई नहीं।

किसी भी स्थिति, घटना या ब्यौरे को कहानी के साँचे में ढालने को लेखक के भीतर संवेदन और सोच-विचार का वह ताप जरूरी है, जो लोहे को गलाता है आकृति देता है। संवेदना का यह ताप भी कच्चे मसाले को कलाकृति में बदलने की भूमिका भी अदा करता है। जिस लेखक की भीतर की भट्टी सूख, अथवा देश काल और मनुष्य को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता नष्ट हो जाती है, वही स्थितियों, घटनाओं तथा ब्यौरों के तोताज्ञान के बावजूद सात वर्षों में '*हनीमून*'—जैसी साढ़े तीन महीने में भ्रूण सरीखी लिजलिजी कहानी लिखता है।

आपको यह बात फिर बहुत स्पष्ट रूप से लिखना जरूरी लग रहा है कि लेखकों पर सवारी गाँठने की हविश छोड़िए। अगर आपको दूसरों को अच्छी कहानियों के नुस्खे बताने और उनके 'हुरो-हुरो' कहने का इतना शौक है, तो पहले या खुद उस तरह की कहानियाँ लिखकर दिखाइए, तो 'मॉडल' आपके पास है, और या बताइए यह कि अपने आदर्श के अनुरूप कहानियाँ लिखने में आप खुद असमर्थ क्यों हैं? क्या *पं. नेहरू* आपके कहानीकार को भी साथ उठा ले गए कि आपके बिना स्वर्ग में 'नेहरू युग' कौन चलाएगा?

हिन्दी कहानी के स्वयंभू तोतामस्टर जी,

ऊपर के सवालों के जवाब देने की कोशिश करेंगे, तो समझ में आ जाएगी यह बात भी कि काल का नैरंतर्य किसे कहते हैं और कि अकाल ही सूख गए को काल के नैरंतर्य का मतलब बताने की चुनौती नहीं उछालनी चाहिए।

आश्चर्य ही नहीं अफसोस हो रहा था देखकर कि काल के सवाल पर आप

अरविन्द जैन की *'घूसयार्ड'* कहानी के ज़िक्र पर गर्दन हिला रहे थे। अरविन्द समझा रहे थे कैसे रचना को सिर्फ उसके अपने समय और सन्दर्भ में ही रखकर देखा जा सकता है और कि वो कैसे *कफन* नहीं लिख सकते और प्रेमचंद कैसे *'घूसयार्ड'!* वो, आज की कहानियों का मूल्यांकन प्रेमचंद की परम्परा से जोड़ कर नहीं किया जा सकता, का तर्क उपस्थित कर रहे थे और आपका कहना था कि—'यार, यह काल के नैरंतर्य का प्रवक्ता सामने बैठा है, इससे पूछो।'

...और मुझे बताना पड़ा। बताना पड़ा कि जो एक स्थिति या कालखण्ड से ही बँधी रचनाएँ होती हैं, जिनके तार आगे-पीछे कहीं नहीं जाते, जिनमें परम्परा का बोध नदारद होता है, वो पैदा होने के साथ खत्म भी हो जाती है। सिर्फ अपने समय, यानी तत्काल से जुड़ी कहानी साहित्य में विचार का विषय कभी नहीं हो सकती। *अरविन्द* को शायद इस बात का एहसास नहीं कि *'घूसयार्ड'* का *'ग्रेवयार्ड'* में भी तत्काल ही पहुँच जाना किस बात का सबूत है।

परम्परा से जोड़कर देखे जाने से सिर्फ उन्हें ही इन्कार होता है, जिनमें काल का नैरंतर्य झेलने की ताब नहीं होती। जो संवेदना के विस्तार से जोड़ते ही सागर में डाल दिए जा रहे कूपमंडूकों की भाँति घबरा उठते हैं। जो जानते हैं कि काल (समय) के धूप गुबरैलों के सेंकने की वस्तु नहीं होती।

काल मनुष्य के शब्द, यानी उसकी आवाज में बँधा है और यह बात फिर दोहराई जाए कि आवाज जितनी गहरी हो, उतनी ही दूर तक उसकी अनुगूँज भी जाती है। यह देर तक, और दूर तक टिकनेवाली अनुगूँज ही काल के नैरंतर्य की पहचान होती है। अनुभव, या कहिए कि किसी भी घटना या स्थिति को काल, स्थान तथा संवेदना के विस्तार तक ले जाकर ही *'कफन'* या *'टूटना'*—जैसी कहानियाँ लिखना सम्भव हो सकता है।...और जब देश, काल तथा संवेदना के नैरंतर्य की चेतना नष्ट हो जाए, तब सात सालों में पैदा हो पाती है, *'हनीमून'* जैसी *'पुच्ची'* कहानी जिसे पढ़ते ही 'छिच्छी' के सिवा कुछ कहना मुश्किल हो जाए!

काल की निरन्तरता सिर्फ काल नहीं, बल्कि स्थान और संवेदन से भी गुम्फित होती है; क्योंकि काल भी किसी स्थान और मनुष्य में ही विद्यमान रह सकता है। अगर स्थितियों, घटनाओं और इतिहास से ही कहानियाँ बनती होतीं, तो कौन-सा समय होता है जबकि ये सब नहीं होते? पंजाब और दिल्ली में घटित नरमेधों पर कितनी कहानियाँ छापीं थी आपने *'हंस'* में? एक भी कहानी ऐसी नहीं जो कि पढ़ने के एक घंटे भर बाद तक भी कोई अनुगूँज पीछे छोड़ सके। क्यों? इसलिए कि जो संवेदन में उथले हों, उनमें काल के संवहन की क्षमता भी नहीं होती। चूँकि उनके घाव बहुत जल्दी भर जाते हैं, इसलिए घटित की अनुगूँज भी उतनी ही जल्दी मर जाती है।

कैसी भी हृदयविदारक या स्तब्ध करनेवाली घटना का कहानी में कुछ नहीं बन सकता, जब तक कि वह लेखक की चेतना और संवेदना में भी उतनी ही दूर और देर तक घटित नहीं हो और घटित की कँपकँपी उसी व्यक्ति में देर तक टिकती है,

जिसकी संवेदना का व्यास बड़ा हो। जिसमें लहरें कुएँ नहीं बल्कि सागर की तरह उठती हों। जो बुधिया के मृत्यु प्रसंग से हमारी चेतना को इस भाँति उद्वेलित कर दे कि हमें जान पड़े, खून के कुछ छींटे हमारी हथेलियों में भी मौजूद हैं जरूर! जो हमें विषाद से कँपकँपी छुड़ा दे कि सामाजिक हत्या किसे कहते हैं—और कि मनुष्य के पापों की छाया कितनी लम्बी होती है। जाने कब से यह हमारे बीच मौजूद है—और अगर यही हमारा हाल रहा, तो जाने कब तक यों ही मौजूद रहेगी—*काल के इस नैरंतर्य के आलोक में ही हम अपनी चेतना पर पड़े कफन को देख सकते हैं।*

आदमी के बाहर ही नहीं, भीतर भी स्थान होता है और यह जितना विस्तृत हो, उतना ही होता है उसमें समाव भी। घटित के आघात उसी में लम्बे समय तक बने रह सकते हैं, जिसे चीजें दूर तक और देर तक व्याप सकती हों। जिसमें स्थिति या इतिहास के संघातों को शास्त्रीय आलापों की तरह झेलने, यानी घटित को दूर और देर तक सुनने की क्षमता हो।

घटना का इतिहास में घटित हुआ होना भी लिखने में कतई काम नहीं आ पाता, जब तक कि उसकी लेखक के साथ और उसकी चेतना—संवेदना में घटित से संयुति (द्वन्द्व?) नहीं हो जाए। *रचना इतिहास नहीं, लेखक के चित्त में घटित से बनती है। 'क्रौंचवध'* इतिहास में नहीं, बल्कि *वाल्मीकि* के साथ और *वाल्मीकि* घटित की अनुगूँज से जुड़कर महाकाव्य का आधार बना।...और तब *वाल्मीकि* को सिर्फ व्याध का तीर ही नहीं दिखाई पड़ता, बल्कि सारा जगत प्रकम्पित हुआ जान पड़ता है, उसके संघात से।...*क्योंकि अगर जगत के समतोल कोई वस्तु इस जगत में है, तो मनुष्य के चित्त के सिवा कुछ नहीं।*

कुछ भी सिर्फ तत्काल में, या तत्काल के लिए, घटित नहीं होता; क्योंकि काल के तत् के तन्तु भी, सदैव विगत और आगत से निबद्ध होते हैं; इसलिए घटित को देश, काल और मनुष्य के नैरंतर्य के आलोक में ही ठीक-ठीक देखा जा सकता है। तभी आता है उसमें स्थान और समय का विस्तार भी। आपको और आपके शलाकापुरुष *बाबा साहेब अम्बेडकर* को '*रामायण*' एक निहायत सामान्य-सी ('पैलेस-इंट्रीग्ज' की) कहानी दिखाई पड़ता रहा है, लेकिन काल और देश का कोई अंग या रंग ऐसा नहीं, जो उस महाकाव्य के आलोक में समुद्र में झिलमिलाती चाँदनी की भाँति नहीं दिखाई पड़ जाए।

आप कहेंगे कि फिर आ गए न अपने उसी पुराने हवाई अध्यात्मवाद की इमरतियाँ छानने पर? किन्तु मुझे कहने दीजिए यह भी कि *'टूटना'* इतिहास अथवा *स्टालिन-नेहरू-माओ-युगो* के यूटोपियाओं, मार्क्स-फ्रायड-डार्विन के जैविक, भौतिक दर्शनशास्त्रों, या इतिहास में घटित के परिणामस्वरूप लिखी गई कहानी नहीं है। 'टूटना' राजेन्द्र यादव के साथ और राजेन्द्र यादव में घटित की कहानी है और चूँकि इसके संघात ने *राजेन्द्र यादव* को वर्षों तक, और हर जगह, विदीर्ण रखा था, इसीलिए *'टूटना'* में एक ऐसी गहरी अनुगूँज है, जिसमें हमें अपना आपा भी बोलता जान पड़ता है।

सिर्फ बुद्धि या सिर्फ भावना के धरातल पर घटित हुए से कुछ नहीं होता। घटना

जब तक बुद्धि और भावना (चेतना और संवेदना) दोनों धरातलों पर साथ-साथ और दूर तथा देर तक घटित नहीं होती, तब तक न बादल बनते हैं, न गरजते हैं और बरसते ही हैं। यह तो हमें रचना बताती है कि वह किन तूफानों और सोपानों से गुजरती हम तक पहुँची है। 'वरणांजलि' पढ़िए और खुद जान जाइए!...संवेदना कैसे काल का भी माप बन जाती है, और प्राणों की विदीर्णता का एक-एक पल कितना कठिन हो जाता है, इसे '*वरणांजलि*' में साफ देखा जा सकता है; क्योंकि वह संवेदना और काल दोनों के सातत्य के आभास की रचना है।

यहीं आपसे कहना है कि लेखक को प्रक्रिया की जगह, सिर्फ मसालों की तरफ ले जाना, उसे भटकाना और भ्रमित करना है। *नामवर* जी और आप, दोनों यही करते चले जा रहे हैं; क्योंकि इसी में आप लोगों को अपनी सुरक्षा भी दिखती है। अफसोस की नई पीढ़ी के लेखकों में आप लोगों के इस मायामण्डल को विदीर्ण करने की चिन्ता नहीं है। जिन्हें *'हंस'* के सम्पादक की कहानी-लेखन-कला सैम्बन्धी बकवास की चिंदियाँ उड़ा देने की जगह 'हंस' में किसी तरह छपा लेने की चिन्ता ज्यादा हो; तो छपास की व्याकुलता में सम्पादक के इशारे पर 'जनवाद में सेक्स' और 'सेक्स में जनवाद' घोलते हुए भूल ही जाते हों कि अगर इस फार्मूले से ही कहानियाँ श्रेष्ठ बनती होतीं, तो खुद *'हंस'* का सम्पादक कहानियाँ बना रहा होता, वो घटनाओं स्थितियों इतिहास दर्शनों से कितना सबक ले पाएँगे, इसका अनुमान कठिन नहीं होना चाहिए।

संघर्ष जीवन का हो कि लिखने का, इसमें दूसरे के थमाए हुए 'कवच' काम नहीं आते; क्योंकि आदमी की कोई स्थिर नाप नहीं हुआ करती है। विचारधाराओं अथवा स्थितियों-इतिहासों-यूटोपियाओं के टोटके 'आदमी की एक स्थिर नाप' थमाने को ही इस्तेमाल किए जाते हैं। जबकि कुछ भी, आदमी के साथ, उसकी खुद की बनावट और चेतना तथा संवेदना के माप से भी घटित होता है। साहित्य की एकमात्र सिद्धि ही इसमें है कि वह आदमी की नसबन्दी नहीं होने दे। *चेतना और संवेदना की नसबन्दी के औजार लिए घूमने वाले ही साहित्य के क्षेत्र में विचारधाराओं की धुंध उत्पन्न करते हैं, ताकि 'अपने को सौंपे गए काम' को पूरे इत्मीनान और सहूलियत से कर सकें। इसलिए जब आप एक तरफ 'जनचेतना की प्रगतिशील मासिकता'* का लेबल चिपकाते हैं और दूसरी तरफ 'हाय जैसी कहानियों से *'हंस'* को देश-भर के प्रबुद्ध-विक्षुब्ध पाठकों को जोड़ा और उन्हें 'हंस' की तरफ मोड़ा जा सकता था, वैसी कहानियाँ तो आकाश-कुसुम हो गई हैं!' का रौला मचाते हैं तो यही कहना होगा कि—भंते, यह 'चुक्कड़'—नाटक बन्द करो!

जिन दोनों प्रकार के लेखकों के जागरुक 'कलासिद्ध' अथवा 'अन्तर्राष्ट्रीय समीक्षकों' के द्वारा महान् सिद्ध कर दिए होने का रोना आप रो रहे हैं, उनमें क्या आपका खुद नाम शामिल नहीं? अगर नहीं, तो महानों को जो होना था, हुआ—मगर आपको क्या हुआ? आपकी नौबत यह क्यों आ गई कि मियां फजीत का गला दीगरों को नसीहत में ही रुंधता चला जाए? अगर आपने 'हंस' के हर दूसरे-तीसरे सम्पादकीय में

अपनी कहानी-कला सम्बन्धी बकवास और भंड़ास निकालने का यही सिलसिला जारी रखा, तो आखिर हर गैरतमंद कहानीकार को यह सोचना ही पड़ेगा कि वह 'हंस' के लिए कहानी भेजे भी, या नहीं!...मुझे सचमुच कोई उम्मीद नहीं कि अपनी इस तरह की अमूर्त लफ्फाजियों से आप हिन्दी के कहानीकारों में कोई सकारात्मक उद्वेलन उत्पन्न कर पाएँगे। इसलिए आपको यह बताना जरूरी है कि 'हंस' में छापी गई किन कहानियों को आप ऐसा मानते हैं, जो 'शब्दहीन कुढ़न' में सिनिक होते जा रहे प्रबुद्ध-क्रुद्ध पाठकों को, 'क्षेत्र' छोड़कर जाने से रोक सकते हैं।

अस्तु, हे हिन्दी कथा साहित्य के अकालवृद्ध तोताचार्य जी, हमें पाठ पढ़ाने से पहले, जरा अपने गिरेबान में भी झाँकने की कृपा करो! हमको पाठकों से घृणा करने और उनसे डरने या अध्यात्म की उलटबांसियों के भोपाली संस्करण पेलने वाला करार देने से पहले, जरा यह भी तो बताओ कि *'तिरिया चरित्तर'* में जनवादी चेतना की प्रगतिशील मासिकता का कौन-सा संस्करण पेला गया था?

सच्चाई है यह कि आप *'हंस'* के लिए बड़ी मात्रा में *'तिरिया चरित्तर'* जैसी कहानियाँ ही चाहते हैं, जो 'जनवादी सेक्स' के मलमली आवरण में स्त्री के 'आजादलोकी' संस्करण पेल सकें! अगर सच्चाई हमारी बातों में कहीं नहीं, तो बताइएगा कृपा करके यह भी जरूर कि आखिर वह है कहाँ?

अगर आप बताएँगे कि 'हंस' में छपी किन कहानियों को आप मानते हैं कि इन्हें प्रबुद्ध-क्रुद्ध पाठक वर्ग से जुड़ने की सम्भावनाओं वाली कहानियाँ माना जा सकता है, तो उम्मीद है, हिन्दी के आपके द्वारा बार-बार लताड़ित उन दो प्रकार के कहानीकारों को भी यह समझने में मदद मिलेगी कि आखिर किस तरह की कहानियों से आपको तसल्ली हो सकती है।

उम्मीद है हिन्दी कहानी का अकालवृद्ध तोतामास्टर कह दिए जाने का ज्यादा बुरा नहीं मानेंगे; क्योंकि जो सम्पादक अपने को गोली मारे जाने की धमकी छाप सकता हो, उसे बोली मार गए होने से कितना फर्क पड़ेगा?

(लेखन-6 से साभार)

रेणु क्रमशः विश्वासहीनता और आस्थाहीनता की तरफ बढ़ते हुए लेखक हैं : राजेन्द्र यादव

दिसम्बर, 2001 के प्रथम सप्ताह में आयोजित पटना राष्ट्रीय पुस्तक मेले में प्रख्यात कथाकार और 'हंस' पत्रिका के सम्पादक राजेन्द्र यादव का आगमन हुआ था। कुछ कथाकार मित्रों के आपसी विमर्श से तय हुआ कि रेणु को केन्द्र में रखकर राजेन्द्र यादव से बातचीत की जाए। रेणु राजेन्द्र यादव के समकालीन ही नहीं थे, वे यादव जी से व्यक्तिगत और रचनात्मक रूप से भी जुड़े हुए थे। इस रूप में रेणु के कृतित्व पर राजेन्द्र यादव की टिप्पणी नगर-बोध के एक वरिष्ठ लेखक और चिन्तक की, आँचलिक बोध के शीर्ष कथाकार पर टिप्पणी के अतिरिक्त रेणु से सम्बन्धित कई वैचारिक अवगुंठनों को खोलने वाली हो सकती थी। सोचा यही गया था और वैसा हुआ भी।

बातचीत के सूत्रधार बने युवा कथाकार नरेन और उसमें शामिल हुए कथाकार हेमन्त, युवा कवि अविनाश, कथाकार प्रेम कुमार मणि और दैनिक हिन्दुस्तान, पटना के फीचर सम्पादक और विचारक सियाराम यादव। बातचीत गेस्ट हाउस के एक कमरे में बिल्कुल अनौपचारिक माहौल में हुई जिसे ध्वन्यांकित और बाद में आलेखिक करने का काम नरेन ने किया।

रेणु जी तो आपके समकालीन रहे हैं। रेणु की याद दिलाते ही आपके जेहन में उनके सम्बन्ध में सबसे पहली बात क्या कौंधती है?

यादव जी : बहुत ही खुराफाती दिमाग का आदमी था वह। मैं बताता हूँ क्यों। वह लोगों को तीन अलग-अलग नामों से चिट्ठियाँ लिखा करता था। मुझको भी अलग-अलग नामों से दर्जनों चिट्ठियाँ लिखी हैं। गौरा मुखर्जी के नाम से इमोशनल, पर्सनल किस्म की चिट्ठियाँ लिखता था। सुधीर कुमार के नाम से बहुत बौद्धिक किस्म की, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर खत लिखा करता था और रेणु के नाम से तो लिखता ही था। भारत यायावर आया मेरे पास और रेणु की चिट्ठियों का फोटो-स्टेट माँगा। फोटो-स्टेट दिया मैंने उसको। इसके बाद पता नहीं क्या हुआ कि वो चिट्ठियाँ मिल ही नहीं रही हैं मुझे। हो सकता है ओरिजनल भी उसने धीरे-से समेट लिया हो। साक्षात्कार में छपवाई थी उसने सबसे पहले उनको, लेकिन ओरिजनल पता नहीं कहाँ गायब हो गए।

बहुत बाद में मैंने डिस्कवर किया था खत पाने के बाद कि यार लगता है तीनों नामों की चिट्ठियाँ तो लगता है एक ही आदमी की हैंड राईटिंग में लिखी हुई हैं। बाद में आमना-सामना होने पर इसके बारे में रेणु को कहा भी कि यार तुम बहुत बदमाश आदमी हो, तो वह हँसने लगा।

रेणु का 'मैला आँचल' आपने कब पढ़ा था एवं उसको आपने किस प्रकार ग्रहण किया था?

यादव जी : 'मैला आँचल' मैंने तभी पढ़ लिया था, जब रेणु ने उसे स्वयं समता प्रकाशन से छपवाया था। मुझे रेणु को लेकर हमेशा यह द्वन्द्व बना रहा है कि आखिरकार रेणु में वो क्या चीज है कि वह निर्मल और अज्ञेय सबको प्रिय लगती है और हम सब लोगों के मन में भी उनके प्रति आदर है? ये दोनों चीजें क्या हैं? या मुझे लगता है कि रेणु एक खास तरह के रोमांटिक लेखक हैं, यह तो बहुत साफ है। जो रोमांस वाला हिस्सा है और उनमें थोड़ा-सा जो सोफिस्टिकेशन है जो उनको कलात्मक और भावनात्मक और संवेदना के धरातल पर उनको छूता है। हमें शायद उनकी स्थितियाँ और कैरेक्टर छूते हैं। जिस तरह के चरित्र उन्होंने लिए हैं और जिस तरह की परिस्थितियों को उन्होंने रखा है और जो विकास किया है उनके आलोक में मुझे लगता है कि यह कहना चाहिए कि रेणु धीरे-धीरे क्रमशः विश्वासहीनता की तरफ आस्थाहीनता की तरफ बढ़ते हुए लेखक हैं। एक किताब आई है 'क्रान्ति का विचार' नाम से, जिसमें अज्ञेय, यशपाल एवं रेणु को लिया गया था, तो इसमें मुझे लगा कि इन दोनों की तुलना में क्रान्ति का विचार रेणु तक आते-आते खत्म हो जाता है। अज्ञेय में क्रान्ति व्यक्तिगत स्तर से अधिक ऊपर नहीं उठती है। एक व्यक्तिगत विद्रोह से अधिक कुछ नहीं होता। यशपाल में क्रान्ति को एक आधार देने की कोशिश की गई-सी दीखती है, लेकिन वो जो जिसे कहते हैं कि 'एसिमिलेशन' और 'रियलाईजेशन' चरित्र में होना चाहिए कि उसकी नसों में जज्ब हो जाए एक विचार, वो यशपाल में नहीं है। यशपाल में ऊपर से सोचा हुआ, बौद्धिक रूप से थोपा गया-सा मुझे लगता है। यह अन्तर मुझे दिखाई देता है। रेणु ने तो सब चीजों को उस समय पकड़ा है, जब चीजें टूट रही थीं, बिखर रही थीं, खत्म हो रही थीं, लोग एक प्रकार से मोहभंग की स्थिति के बाद डूबते चले जा रहे थे। रेणु पर मैंने 'परती परिकथा' पर लिखा था, ताजमणि की तरफ से चिट्ठी।

आपको क्या ऐसा लगता है कि उस समय राजनीति में जो मिथ्याचार था, रेणु ने उसको बहुत जबरदस्त ढंग से पकड़ा था?

यादव जी : हाँ! राजनैतिक भ्रष्टाचार और उसके सामने असहाय होता एक आदमी। रेणु की एक कहानी है, जिसमें पार्टी का एक आदमी है...।

'आत्मसाक्षी'?

यादव जी : हाँ, 'आत्मसाक्षी'। जिसमें कांग्रेस कार्यकर्त्ता गनपत धीरे-धीरे किस तरह अकेला और व्यर्थ होता चला जाता है। मुझे उसकी ट्रेजेडी बामनदास से ज्यादा बड़ी दिखाई देती है, व्यक्तिगत रूप से। इसी तरह के समाप्त होते हुए

चरित्र, फालतू कर दिए गए चरित्र, अपनी वैचारिक निष्ठा के कारण जो कभी केन्द्र में थे या जो यह समझते थे कि वो केन्द्र में हैं, वे किस तरह धीरे-धीरे आज की राजनीति में बाहर कर दिए गए।

बामनदास, कालीचरण और गनपत इन सभी पात्रों में लगता है कि कोई एकसूत्रता है?

यादव जी : हाँ है! एक सूत्र है, डूबते चले जाने का। ये 'सिंकिंग' लोग हैं, जो डूबते चले जा रहे हैं। कहीं पर भी इनको तिनकों का भी सहारा मिलता हुआ नहीं दिखता है। एकदम असहायता की स्थिति में ये लगभग बाहर फेंक दिए गए लोग हैं।

यह लगता है कि आजादी के बाद भारत में जो नया लोकतन्त्र आया था, एक नई समाज व्यवस्था बनती नजर आ रही थी यह जो नवजात शिशु एवं संसदीय लोकतन्त्र अस्तित्व में आया है, यह समाज को किस तरह से उद्वेलित कर रहा है। क्या रेणु ने उसको पकड़ने में सफलता नहीं पाई?

यादव जी : रेणु ने इसकी विराटता को भी पकड़ा और असफलता को भी पकड़ा। दोनों चीजों को एक साथ पकड़ा। मैं समझता हूँ कि एक विशेष समय का, एक डाक्यूमेंटेशन अगर हो, तो शायद उस मामले में रेणु बहुत महत्वपूर्ण रचनाकार हैं।

प्रेमचन्द की रचनाओं में जिस प्रकार भारतीय समाज या गाँव रिफ्लेक्ट हुआ था, तो रेणु तक वह परम्परा आते-आते रेणु की रचनाओं में उनका क्या स्वरूप रहा? कैसे वे प्रेमचन्द से भिन्न हैं या प्रेमचन्द के साथ वे कैसा रिश्ता रखते हुए से परिलक्षित होते हैं?

यादव जी : नहीं, इस तरह से मत देखो। प्रेमचन्द का द्वन्द्व भी वही है, जो गाँधी जी का है। आखिरी वक्त तक परिवार से मुक्त नहीं हैं प्रेमचन्द। बार-बार कभी हृदय बदलने से, कभी किसी तरह से, परिवार उनके साथ है। परिवार का मतलब है एक विशेष प्रकार के 'वैल्यू सिस्टम' जो होरी की जान से भी लगा हुआ है, जो होरी की जान से भी चिपका हुआ है। एक ऐसी आस्था मूल्यों में जो कहीं-कहीं अन्धविश्वास जैसे लगते हैं। होरी की शक्ति उसकी रूढ़ियों से चिपके रहना है। अजीब चीज है। कोई विद्रोह या क्रान्ति का विचार नहीं है। बल्कि वो हमारे लिए एक वैचारिक उत्तेजना पैदा करता है कि क्यों यह आदमी नेक-सा बना रहता है? क्यों यह इस तरह का काम करता है? जो अन्धविश्वास हैं, रूढ़ियाँ हैं, उनसे क्यों चिपका रहता है? मैं इसे प्रेमचन्द की खूबी मानता हूँ कि जो चीज साधारणतः तिरस्कार किए जाने लायक है, उसी को उन्होंने होरी की शक्ति बनाया है। रेणु में इस परिवार से या मूल्यों से लगभग मुक्ति की कोशिश है।

आपने अज्ञेय में व्यक्तिगत विद्रोह की बात कही। जैसे शेखर का विद्रोह। एक राजनैतिक विद्रोह समूचे हिन्दुस्तान में छिड़ा हुआ था और संस्कारगत विद्रोह या शेखर का। आपके उपन्यास 'सारा आकाश' का नायक एक परिवार से विद्रोह करता है। परिवार हमारी भारतीय संस्कृति में एक पवित्र चीज माना जाता है और आपका नायक उसके मिथ्याचार को सामने रखता है, उसके विद्रूपताओं

को उजागर करता है और उसे तोड़ने की बात करता है। रेणु में न तो व्यक्ति है, न परिवार है बल्कि उसके गनपत सरीखे पात्र पार्टी से विद्रोह करते हैं और इनके विद्रोह को उनके राजनैतिक सहकर्मी जो पार्टी के नायक थे उन्होंने 74 में आकर उसे जे. पी. ने दल विहीन जनतन्त्र कहा। यानी पार्टी से मुक्ति का मुद्दा था। 'पार्टीलेस डेमोक्रेसी' की बात थी, तो यह सूत्र स्पष्टतः दीखता है क्या?

यादव जी : बिल्कुल दीखता है! देखो, पार्टी का मतलब ही है एक 'वैल्यू सिस्टम'। जहाँ परिवार के रूप में इसे एक 'मेटाफर' के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है कि पार्टी वह परिवार है, जहाँ व्यक्ति घुट रहा है। उसका महत्व नहीं है कोई, यानि 'सारा आकाश' में जो समर है, वह नहीं जानता है कि उसे परिवार से विद्रोह करना है। वह वहाँ घुट रहा है और उसे वहाँ से भागना है। तो वे 'रिजेक्शन' था परिवार का। वो 'फ्युडल सिस्टम' था। पार्टी भी लगभग उसी तरह से एक परिवार बन जाती है जो आदमी के विद्रोह करने की शक्ति को या आदमी की महत्त्वाकांक्षाओं को कुचलती है। लेकिन परिवार से भाग कर आप बाहर चले जाते हैं। और हो सकता है कि परिवार से भाग कर निकल जाने पर आप एक 'गिल्ट' महसूस करें कि हमने अपने भाइयों-बहनों को पढ़ाने के लिए कुछ नहीं किया, माँ-बाप का सहारा बने रहने के लिए हमने कुछ नहीं किया—ये सारी बातें आ सकती हैं दिमाग में, एक अपराध बोध की तरह से। पार्टी छोड़ने के बाद क्या ऐसी बातें दिमाग में आती हैं?

पार्टी छोड़ने की बात नहीं की जा रही है। पार्टी से मुक्त होने की बात की जा रही है....

यादव जी : नहीं...बट, जो पार्टी से छूटने की कोशिश है उसमें रेणु की एक दूसरी कहानी है न! जिसमें इस तरह के लोगों को जिस तरह से धिक्कारते हैं। ये वही लोग हैं, जो मध्य वर्ग के ठीक-ठाक किस्म की स्थिति के लोग हैं और जो घरेलूपन का शिकार हो गए हैं और उससे जो नक्सलाइट किस्म के दो-तीन लड़के मिलने आते हैं और उसे गालियाँ देते हैं—'अगिनखोर' कहानी की बात कर रहा हूँ मैं। वह मुझे रेणु की कहानियों में बहुत 'सिग्निफिकेंट' लगता है। क्योंकि इन नए लोगों को वो समझते नहीं हैं लेकिन इनके धिक्कार को वे बर्दाश्त करते हैं। जो बात मैंने शुरू में कही थी कि मुझे यह बात समझ में नहीं आती कि रेणु में कहाँ क्या घपला है...घपला शब्द शायद गलत हो गया। मेरे कहने का मतलब यह है कि रेणु में क्या चीज है कि सबसे पहले अज्ञेय उसे स्वीकृति देते हैं। जब निर्मल बात करते हैं, तो रेणु की बात करते हैं। यशपाल भी बात करते हैं। ये क्या चीज है, मेरी समझ में नहीं आती यह बात!

रेणु ने जिस ढंग से ग्राम्य संवेदना को बहुत ही नाजुकी के साथ समेटा है अपनी रचनाओं में....

यादव जी : उनकी ग्रामीण संवेदना का, जिसकी तुम बात कर रहे हो, रेणु ने उसका शहरीकरण किया है। एक तरह से कहना चाहिए कि उसको रेणु ने शहर के लिए स्वीकृत बनाया है।

एक रोमांटिक अंदाज में?

यादव जी : हाँ! बिल्कुल सही कह रहे हो।

सवाल : अच्छा रेणु ने यदि ग्राम्य संवेदना के प्रति नागर भाव बोध पैदा किया, तो इसको क्या आप बुरा समझते हैं?

यादव जी : नहीं! मैं उसे बुरा नहीं समझता हूँ। मैं कोई 'वैल्यू जजमेंट' नहीं देता। मैं सिर्फ जानना चाहता हूँ। सिर्फ एक जिज्ञासा है मन में कि वह गलत है या सही है।

जैसा कि आपने कहा कि आप समझ नहीं पाते कि रेणु में आखिर कौन-सी चीज है जो अज्ञेय या निर्मल को बेहद आकर्षित करती है। लेकिन मैं स्पष्टतः आपकी राय जानना चाहता हूँ कि जब आपने 'मैला आँचल' या 'परती परिकथा' या 'जुलूस' या रेणु की अन्य रचनाएँ पढ़ीं तो आपको उनमें कौन-सी चीज नजर आई, जिसने आपको बेहद आकर्षित किया?

यादव जी : मैं साफ बताऊँ कि सही बात तो यह है कि मेरे भी तो संस्कार वही थे जो निर्मल या अज्ञेय के या अन्य समकालीनों के रहे होंगे। मैं कोई शुरू से ही शुद्ध-वुद्ध-प्रबुद्ध अद्वितीय व्यक्ति तो नहीं था। एक प्रक्रिया रही है। इसलिए जो रेणु का 'रोमेंटिसिज्म' था, मुझे आकृष्ट करता था, अच्छा लगता था। मुझे कभी-कभी ये भी लगता है कि जैसे कि लोग पेड़ों के 'बोन्साई' बनाते हैं, तो उसमें पेड़ के सारे गुण होते हैं, लेकिन उसके 'डिसएडवांटेज' नहीं होते हैं। सारे अवांछित हिस्सों को काट-तराश के, छील-छाल के पौधों को 'बोन्साई' के रूप में पनपा कर उसे ड्राइंगरूम में रख देते हैं, जिसमें पेड़ तो दिखाई देता है, लेकिन पेड़ के साथ जो दूसरी चीजें हैं कि चिड़ियाँ नहीं आतीं, बीट नहीं करती, गन्दगी नहीं फैलाती; ये सब नहीं होता है। तो रेणु की कहानियाँ एकदम साफ-सुथरी किस्म की, पूरी रोमांटिक अंदाज में, शहरी मानसिकता को भा जाने के लिहाज से सायास तैयार की गई कहानियाँ हैं। जो उनकी संवेदना को, उनके 'रोमांटिसिज्म' को अपील करती हैं।

इस मुद्दे को क्या इस रूप में देखा जा सकता है कि रेणु अपनी नागर-चेतना के धरातल पर खड़े होकर तत्कालीन ग्रामीण समाज को अरख-परख रहे थे एवं उसी अनुभूतियों को अपनी रचनाओं में समेट रहे थे?

यादव जी : नहीं, मेरा ख्याल है कि रेणु की उस नागर चेतना को जो ग्राम्य चेतना के साथ एक रोमांटिक लगाव है, 'परती परिकथा' में इसे स्पष्टतः देखा जा सकता है कि उसकी सहानुभूति ज्यादा जतन के साथ है। वो जो नेहरू का सुधारवादी अभियान है, उससे कहीं गहरे सम्मोहित हैं।

क्या आपको ऐसा नहीं लगता है कि रेणु की रचनाओं में, चाहे वो बड़े या छोटे हों, सम्पन्न या गरीब हों; सबके भीतर अपने-अपने किस्म का एक आभिजात्यपन है? पात्र गरीब है, दलित है—कुछ भी हैं। उसका एक अपने किस्म का आभिजात्यपन है। 'मैला आँचल' के नायक प्रशान्त का आभिजात्यपन साफ तौर पर शहरी आभिजात्यपन है। दोनों वर्गों का अपना-अपना आभिजात्यपन है।

इस सन्दर्भ में आपकी क्या राय है।

यादव जी : 'तीसरी कसम' के हीरामन की जो प्रेम कहानी है वह मध्य वर्ग के किसी भी व्यक्ति की प्रेम कहानी हो सकती है। ठीक है कि रेणु के पास कथानक को अत्यन्त कलात्मक ढंग से पेश करने की अद्‌भुत कला है और उसे शब्दों में उसने स्पष्ट नहीं किया है लेकिन उसके जो 'रेस्पांसेज' हैं, वे लगभग वही हैं, जो मेरे हो सकते थे, जो बड़े शहरों में रहा है। मुझे इसमें वो चीज बहुत अच्छी लगती है, जिसकी तरफ लोगों ने ध्यान नहीं दिया। रेणु की चीजों को, उसकी कला को समझने के लिए—उसकी 'तीन बिंदियाँ' एक कहानी है, जिसमें संगीत का एक 'क्लासिकल फार्म' है और एक 'फोक फार्म' है, जिसको मिलाकर एक नई ऊर्जा लाई गई है, जिसमें क्लासिकल संगीत की सारी चीजें, सारे तत्व सुरक्षित हैं, उसके सारे 'ट्रेन्डस' सुरक्षित हैं; उसके साथ जो सबसे बड़ी बात है कि एक खास तरह का अनुशासन है एक रचनात्मक 'एप्रोच' है, वो है। और लोक कला की जो खूबसूरती है, जो ऊर्जा है, उसको मिला कर जो किया जाता है काम संगीत में; वह मुझे एक तरह से रेणु का मुख्य सूत्र दिखाई देता है। उसकी रचनाओं में 'क्लॉसिक' का भी तत्व है और लोक कला की उन्मुक्तता भी।

रेणु की रचनाओं में जो उत्तरी बिहार की भूख है, त्रासदी है बाढ़ की, टूटते सामन्तवाद की परख है, इन सबों का एक सांगीतिक विवरण प्रस्तुत करते हैं वे। इस सन्दर्भ में आप क्या सोचते हैं?

यादव जी : देखो, यह तो कला की खूबसूरती होती है, जो हम सब 'एडाप्ट' करने की कोशिश करते हैं। रेणु को पढ़ते समय हमेशा यह पाता हूँ कि रेणु जैसे शब्दों को सुनते हैं। उनमें शब्दों की गन्ध से ज्यादा उसके स्वाद की अधिक पकड़ है।

शब्दों की ध्वन्यात्मक सत्ता या उसके 'फोनेटिक स्ट्रेन्थ' की बात कह रहे हैं। शायद आप?

यादव जी : हाँ, 'फोनेटिक' अन्तर्वस्तु की काफी गहरी पकड़ है रेणु के पास! रेणु की कोई पूरी कहानी संगीत का एक छोटा-सा टुकड़ा भी लग सकती है कभी-कभी। वे शब्द लिखते नहीं हें उसकी ध्वनि-लिपि तैयार करते हें। रेणु की दूसरी सबसे बड़ी खूबी है जो मुझे बहुत अपील करती है कि वे अलग से किसी पात्र के बारे में नहीं बोलते हें। कोई पात्र किसी को किस तरह से देख रहा है। वो जो हम लोग होते हैं—सर्वज्ञ किस्म के कहानीकार कि फलाँ पात्र ने यह कहा और उसका बौद्धिक विश्लेषण करना आरम्भ कर दिया...। रेणु यह नहीं करते। रेणु का कोई पात्र उसे कैसे देखता है उसी के बहाने वे अपनी बात कहते हैं और उसी के आधार पर कहानी में ड्रामा पैदा होता है एक अजीब तरह का। रेणु के कान, मेरा ख्याल है कि रेणु की सबसे बड़ी शक्ति हैं। संवाद से लेकर विवरण तक। रेणु पेड़ का भी वर्णन करता है, तो उसको सजगता से सुनता है।

आपने कहीं लिखा है कि रेणु ने अपनी रचनाओं में परिवेश पर अत्यधिक जोर दिया है। इससे आपका क्या तात्पर्य है?

यादव जी : परिवेश जैसा रेणु के प्रमुख पात्र ने उनकी रचनाओं में आत्मसात किया जैसा उसके मानसिक जगत में जो भी बना हो, उस परिवेश से मेरा तात्पर्य है। जैसे हीरामन ने मेरे को देखा। मेरे लिए अलग से वर्णन नहीं है।

रेणु ने 'परती परिकथा' को '57-58 में लिखा है और उसमें उन्होंने दलित पात्र के मार्फत दलित चेतना का मुद्दा उसी कालखण्ड में उठाया था। इसकी ओर आपका ध्यान गया है क्या?

यादव जी : नहीं, मेरा ध्यान उस ओर नहीं गया है। एक और बात है। कुछ लोगों की नकल कर लेना बहुत आसान बात है। जैसे प्रसाद की नकल बहुत आसान है। क्योंकि उनके यहाँ शब्दों का खेल है। उस तरह के शब्द आप सीख लीजिए और रचते चले जाइए। बढ़िया-बढ़िया तराशा हुआ 'डायलाग' बना लीजिए। शायद सबसे ज्यादा नकल हिन्दी में निर्मल वर्मा की हुई है। खासकर भावुक किस्म के लड़के-लड़कियों ने खूब जम कर निर्मल की नकल की है। चाहे 'गीतांजलि' हो या 'प्रियवंद' हों। इन लोगों की रचनाओं में एक खास किस्म की रहस्यात्मकता और 'रोमांटिसिज्म' आपको अनायास ही देखने को मिलेगी। जया जादवानी भी इससे सफर करती हैं। दिक्कत यह है कि सबसे कम नकल प्रेमचन्द की हुई है। क्योंकि वहाँ शब्दों की बात नहीं थी। वहाँ 'लाईफ' की बात थी। रेणु की कितनी नकल हुई है हिन्दी में, मैं इस मुद्दे पर नहीं जाता। लेकिन यहाँ के साहित्य पर रेणु का प्रभाव कितना है और रेणु का 'बौद्धिक एप्रिसियेशन' कितना है, यह मेरी समझ में नहीं आता है। यह ठीक है कि रेणु बहुत अच्छे हैं, बड़े व्यापक हैं आदि-आदि-इत्यादि। लेकिन क्या उसकी नकल हुई? रेणु के बाद बिहार में जो कुछ भी साहित्य रचा गया, उस पर रेणु का कोई प्रभाव दीखता है क्या?

रेणु ने स्वयं को एक आँचलिक कथाकार के रूप में बताया। इस सन्दर्भ में पता नहीं उनका क्या आग्रह था। बाद में लोगों ने भी उनके दावे को मान लिया कि वे आँचलिक कथाकार थे। शायद आँचलिक कथाकार से भी अलग हटकर उनका एक बड़े रचनाकार के रूप में कद दिखता है कि वे संसदीय लोकतन्त्र के एक बड़े रचनाकार हैं। संसदीय लोकतन्त्र की विद्रूपताओं को उन्होंने जिस तरह से देखा, वह जो उनका बौद्धिक आवेग था, जो कालीचरण को पकड़ता है, बामनदास को पकड़ता है; यह क्षमता अन्य रचनाकारों में नहीं आई। यह बड़ा मुश्किल काम है। दूसरा पक्ष आसान था कि रेणु की तरह कपड़ा पहन लिया, बाल बढ़ा लिया, शब्दों को चुन लिया। गाँधी की तरह खादी पहन लेना बड़ा आसान है! गाँधी की तरह आचरण करना बड़ा मुश्किल है। शायद यही हुआ होगा। क्यों?

यादव जी : इसकी पड़ताल तो तुम लोग करो कि वस्तुतः क्या हुआ और क्यों हुआ?

मुझे ऐसा लगता है कि रेणु को जो लेखक पढ़ता है और उनके समान लिखने का प्रयास करता है, तो उस लेखक के सामने एक बड़ी चुनौती आ जाती है। नकल न करने की चुनौती। उन्होंने जो आचरण किया और जो लिखा, उसमें

ये चुनौती दिखती है बराबर कि अन्य लेखकों की कहानियों में 'एंगर' जब क्लाइमेक्स पर पहुँचता है, तो कहानी खत्म हो जाती है। लेकिन छोटे पात्रों में– कि 'एंगर' को 'एनर्जी' बना लिया जाए यह प्रयास रेणु में दीखता है और रेणु का पात्र 'एंगर' को 'एनर्जी' बनाने का प्रयास-सा करता दीखता है और वहाँ चूकता है और यह बड़ा चैलेंज बन जाता है इसलिए शायद नकल कर पाना रेणु का शायद बहुत ही मुश्किल काम है....।

यादव जी : मुझे रेणु में 'एंगर' ऐंग्स्ट नहीं दिखाई देता। जिसे तुम 'एंगर' बता रहे हो उसे 'एंगर' भी कहा जा सकता है और 'डेस्परेट' और हताश स्थिति भी कहा जा सकता है। गुस्से में आदमी जब अपने आपको व्यक्त नहीं कर सकता है तो वह उसे अपने भीतर जिस प्रकार दोस्तोवस्की के पात्र अपने आपको खाते हैं, बाहर नहीं व्यक्त कर पाते हैं और अपने भीतर ही अपने आपको काटते हैं। वह रेणु में मुझे नहीं दिखाई देता।

मासोकिस्टिक (आत्मपीड़क) जैसा?

यादव जी : हाँ! बल्कि बहुत साफ-साफ वो भी नहीं है। बल्कि मुझे साफ-साफ लगता है कि रेणु से ज्यादा आँचलिक जीवन की समझ शैलेश मटियानी में है। आप लोगों ने शायद मटियानी को कायदे से पढ़ा नहीं है, कम पढ़ा है। शैलेश मटियानी की एक-एक कहानी, एक-एक चीज याद रखने की चीज है। फर्क सिर्फ यह है कि मटियानी में वो 'पोलिटिकल कांशसनेस' नहीं है, जो रेणु में है। वरना मटियानी मुझे हमेशा बड़ा कहानीकार नजर आता है। जैसे 'तीसरी कसम' जैसी कहानी लिख कर कोई लेखक अपने को धन्य समझ सकता है, मटियानी ने वैसी कई अविस्मरणीय कहानियाँ लिखी हैं। मटियानी की कहानी 'अर्धांगिनी' सचमुच अद्‌भुत है और किसी भी भाषा को ऐसी कहानियों पर हमेशा गौरव हो सकता है। इस तरह की दस-बारह कहानियाँ मटियानी के पास हैं। मुझे अपने आसपास की चेतना एवं परिवेश की चीजों को पकड़ने की ताकत रेणु की अपेक्षा मटियानी में अधिक दीखती है। रेणु की राजनीति ने रेणु को 'प्रोमिनेंस' दी, मटियानी की राजनीति ने उनके सारे लेखन का भी सत्यनाश कर डाला। उसका भी 'डिवैल्यूएशन' हो गया। मटियानी की ताकत जबरदस्त है जो रेणु में 'मिसिंग' है। रेणु की कहानियों में महज 'ऐंगर' शायद इसलिए है कि 'रियलिटी' की पकड़ उनके पास ज्यादा है उसका दंश उन्होंने भोगा नहीं है। लेकिन मटियानी के पास जो जिन्दगी का 'रॉ' अनुभव है, वह बहुत भयंकर है। शायद मटियानी ने स्वयं अपना जीवन जैसे भयावह ढंग से जिया है वैसा हिन्दुस्तान में सम्भवतः इक्के-दुक्के लेखक ने जीया होगा।

अभी आप रेणु और मटियानी की रचनाओं में राजनैतिक चेतना की चर्चा कर रहे थे। हम लेखक अपने आस-पास घट रही घटनाओं को 'फिक्शन' के लेवल पर देखते हैं। आप यह बताएँ कि इस प्रक्रिया में भी एक रचनाकार के पास एक राजनैतिक सचेतनता होनी चाहिए कि नहीं?

यादव जी : देखो, ऐसा दो तरह से हो सकता है। एक तो ऐसा कि जिस प्रकार रेणु में खुद अपने किस्म की राजनैतिक चेतना थी, वैसा हो। एवं दूसरा यह कि हम उसी रचनाओं से वह समझ हासिल कर सकें। जैसे 'उमराव जान अदा' में कोई राजनैतिक चेतना नहीं है, लेकिन उससे जो समझ पैदा होती है राजनीतिक, उसके वातावरण को देखकर, यह महत्त्वपूर्ण है। मटियानी भी आपको सारा 'रॉ मैटिरियल' देता है जिससे आप उस स्थान-काल को राजनैतिक पर्सपेक्टिव के तहत समझ सकें। मीरा कुछ नहीं देती, लेकिन मीरा एक बड़ी राजनीति समझने में मदद देती है अपने समय की। लेकिन रेणु का 'साफिस्टिकेशन' मुझे हमेशा इनके प्रति सन्देह से भर देता है। कीमती शैम्पू है, कीमती कुर्त्ता...तमाम लटके-झटके...यानी अज्ञेय जो इनके ऊपर 'हावी' हो गए थे। मुझे एक सवाल परेशान करता है, जिसे मैंने 'कथाक्रम' में उठाया था। उन्होंने ओमप्रकाश वाल्मीकि को सम्मानित किया लखनऊ में। उनके चुनाव में श्रीलाल शुक्ल थे, मुद्रा (मुद्राराक्षस) भी थे, तो मैंने यही सवाल पूछा था कि यह हमारा ओमप्रकाश वाल्मीकि के लिए 'एप्रिसियेशन' है या 'एप्रोप्रियेशन' है? हम उसे लाकर अपनी तरह से बनाना चाहते हैं, अपनी तरह से लिखवाना चाहते हैं। यानि एक 'इनडायरेक्टर' प्रलोभन और स्थितियाँ ऐसी बना रहे हैं कि वह उसी तरह लिखे, जो हमें स्वीकृत हो। या क्या सचमुच हम उसे एक तटस्थ ढंग से 'एप्रिशियेट' कर रहे हैं? रेणु को 'एप्रोप्रियेट' किया गया, रेणु को 'एप्रिशियेट' हम लोगों ने किया। दूसरों ने किया। इन लोगों ने उसको 'एप्रोप्रियेट' किया।

अभी आपने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया उसके आलोक में क्या आप कुछ कहना चाहेंगे कि वो क्या चीज है, जो किसी लेखक को महान बनाती है?

यादव जी : भइया, यह कहना तो बहुत मुश्किल है कि क्या चीज है, जो किसी लेखक को महान बनाती है। कभी-कभी कोई लेखक इतिहास बना देता है। इसका बहुत दयनीय उदाहरण अगर देखना हो, तो गोर्की को देखें। जो उस समय की ऐतिहासिक और सामाजिक स्थितियाँ थीं उसमें लिखकर वे महान बन गए और त्रासदी यह है कि आज उनका कोई नाम भी नहीं लेता। और सारी कोशिशों के बावजूद नरेन्द्र कोहली जहाँ थे, वहीं रह गए। हालाँकि आज सरकार उनकी ही है। जबकि कायदे से इस समय राष्ट्रीय लेखक नरेन्द्र कोहली को होना चाहिए।

कोई लेखक महान कैसे बनता है, इसको छोड़ दें। लेकिन चलिए यह चर्चा करें कि कोई रचना महान कैसे बनती है? 'क्लासिक' कैसे बनती है? उसके क्या तत्त्व हो सकते हैं?

यादव जी : भई देखो! उसका कोई फाइनल नुस्खा या तत्त्व नहीं हो सकते। मुझे दूर से देखने में समझ में आता है...जिसे कहते हैं, एक 'ले मैन' की तरह से कि जो रचना ज्ञान-विज्ञान के जितने अनुशासनों के लिए चली है; जैसे—रामचरित-मानस। सिर्फ भक्तों के लिए नहीं, भाषा-विज्ञानियों के लिए, साहित्यकारों के लिए, समाजशास्त्रियों के लिए—सबके लिए एक केन्द्रीय रचना है। आप उसे किसी भी ढंग से 'एप्रोच' कर सकते हैं। आप 'वार एंड पीस' को व्यक्तिगत मनोविज्ञान के

आलोक में ग्रहण कर सकते हैं, तत्कालीन समय के इतिहास के रूप में उसे देख सकते हैं। यानी जो रचना जितने ज्यादा स्तरों पर चुनौती बनती है या अपनी तरफ आकर्षित करती है, शायद वही रचना महान होती होगी, ऐसा मैं सोचता हूँ। मैंने कभी अमरकान्त के ऊपर लिखते हुए कहा था कि जो रचनाकार बड़े लेखकों को 'इमिटेट' करने की कोशिश करते हैं वो मर जाते हैं। लेकिन जो लेखक उनको 'क्रास' करने की कोशिश करते हैं, वो अपनी राह अलग बनाते हैं। उसे यदि पुरानी भाषा में बोला जाए, तो यूँ कहा जा सकता है कि जो भूत के आगे झुक जाते हैं। वे मारे जाते हैं और जो भूत को पार कर लेते हैं तो भूत उनकी शक्ति बन जाते हैं। हिन्दी में भी लोगों ने रेणु की नकल करने की कोशिश की, रेणु के पार जाने की कोशिश नहीं की, जिन्होंने भी रेणु की लाईन पर लिखा। मुझे लगता है कि रेणु की एक और शक्ति है कि जिस 'कैरेक्टर' के बारे में वो लिखते हैं, उसको वहुत देर तक अपने भीतर जीते हैं। उसके एक-एक भाव 'रेस्पांस' हर चीजों को; चाहे वो थोड़ी देर के लिए ही आए; लेकिन वह पूरी तरह से रेणु की आन्तरिक प्रक्रिया से गुजर कर आता है। शायद रेणु की तरह हमारे पास धैर्य नहीं है अपने पात्रों की तमाम बारीक भाव-भंगिमा, मनोभावों आदि को समझने का। रेणु 'मल्टीडायमेंशनल' अंदाज में अपने 'कैरेक्टरों' को पकड़ते हैं। हालाँकि यह बड़ा मुश्किल काम है कि आखिर एक रचनाकार पूरी 'अथेंटिसिटी' के साथ कितने 'कैरेक्टरों' को जीये? जबकि 'कैरेक्टर' का एकमात्र गुण होता है उसकी विश्वसनीयता। सामाजिक विकास वगैरह तो आप 'सेकेंड स्टेज' पर पकड़ते हैं। रेणु और मटियानी—दोनों ही बहुत लम्बे समय तक अपने जेहन में अपने पात्रों को जीते हैं। यह उनकी रचनाओं को देखने से साफ-साफ पता चलता है।

अच्छा रेणु का नागरबोध कथ्य और शिल्प, दोनों ही स्तर पर उजागर होता है?

यादव जी : हाँ। कथ्य और शिल्प, दोनों स्तरों पर। रेणु की भाषा तो बहुत साफ-सुथरी और परिमार्जित लगती है। बल्कि आज रेणु की भाषा को देखें तो वह बहुत ही 'सोफिस्टिकेटेड' और 'पोयेटिक' लगेगी।

उसकी वजह यह भी हो सकती है कि रेणु को जानने वाले लोग बताते हैं कि रेणु अपनी एक-एक कहानी पर पन्द्रह-बीस बार तक काम करते थे। उसकी नोक-पलक दुरुस्त करते रहा करते थे। इसीलिए उनकी भाषा एकदम तराशी हुई लगती है शायद?

यादव जी : भई! रेणु के पास शब्द की शक्तियों की जो पहचान है, वह बहुत कम लोगों के पास है। जो रेणु में है, एक खास तरह की चेतना-राजनीतिक भी और कलात्मक भी; वह अपने बहुत 'रिच कंटेंट' के बावजूद मैत्रेयी पुष्पा में नहीं है। शब्द की ताकत और सत्ता समझनी हो, तो इसके लिए रेणु को देखें। इस मामले में रेणु अद्भुत रूप से ताकतवर था।

('परिषद् पत्रिका' के जुलाई-दिसम्बर, 2001 अंक से साभार)

दूसरा खंड

उखड़े हुए लोग
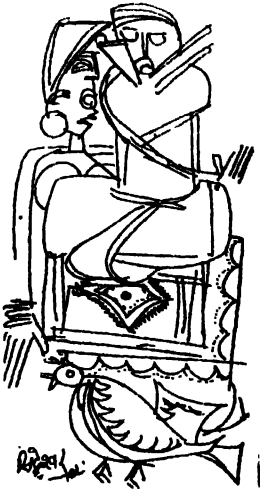
राजेन्द्र यादव और प्रेमचन्द की विरासत

परमानन्द श्रीवास्तव

प्रेमचन्द की परम्परा या विरासत के सवाल पर लम्बे समय से बहस होती आ रही है। कई साल पहले लखनऊ दूरदर्शन की बहस में मैंने *प्रेमचन्द की परम्परा* का सवाल उठाया था और कहानी के ढाँचे या अन्तर्वस्तु में नवीनता पर विचार करते हुए कहा था—" 'कफन' हिन्दी की पहली नई कहानी है और उर्दू की भी पहली नई कहानी है।" इस पर तीखी प्रतिक्रियाएँ सामने आई थीं। जैसे, क्या दूसरी परम्परा या परम्पराएँ नहीं हैं! जैसे, *यशपाल* की? पूछा गया—'पर यशपाल किसकी परम्परा में आते हैं?' 'क्या प्रेमचन्द की परम्परा में नहीं!' इस पर मित्र चुप हो गए थे। एक साल पहले ही कलकत्ता (कोलकाता) जनवादी लेखक संघ के प्रेमचन्द-समारोह में जब मैंने कहा—"आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य की एक ही 'परम्परा' है और वह प्रेमचन्द की है, शेष 'प्रवृत्तियाँ' हैं, अर्थात् परम्परा नहीं।" वस्तुतः जिस अर्थ में प्रेमचन्द की परम्परा पर हम बल देना चाहते हैं, तो इसलिए कि वह एक महान परम्परा है। निस्सन्देह दूसरी परम्पराएँ हो सकती हैं। पर जिस अर्थ में, प्रेमचन्द की परम्परा एक महान गतिशील प्रेरणाप्रद जीवित परम्परा है, वह अनुकरण नहीं, आविष्कार की ओर इशारा है। आज जब प्रेमचन्द को निर्वासित करके और केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा महान कृति 'निर्मला' (जिसे स्त्रीवादी विमर्श के लिए चुनौती कहा जा सकता है) को हटाने के सवाल पर देश-दुनिया के लेखकों-पाठकों की गहरी चिन्ता प्रकट है, क्या प्रेमचन्द की ही स्मृति को बचाना राष्ट्रीय स्वप्न और फासीवाद-विरोध की महान लड़ाई की प्रतिरोधी चेतना को बचाने जैसी कार्यवाही या मुहिम नहीं जान पड़ती? ये सवाल जितने पुराने हैं, उतने ही नए भी हैं।

इतिहास के एक विशेष मोड़ पर प्रेमचन्द की परम्परा ही दूसरी परम्परा भी कही जा सकती है। इस परम्परा या दूसरी परम्परा को हम यों ही नहीं प्राप्त करते, प्रयत्न करके, संघर्ष करके, नई अंतर्वस्तु, नए शिल्प के बल पर अर्जित करते हैं। विचारणीय यह भी है कि जिस अर्थ में हम प्रेमचन्द की परम्परा का सवाल उठाते हैं क्या उसी अर्थ में जैनेन्द्र-अज्ञेय की परम्परा की कल्पना कर सकते हैं? क्या निर्मल वर्मा को जैनेन्द्र या अज्ञेय की परम्परा से सीधे जोड़ सकते हैं? या रेणु या

मनोहर श्याम जोशी को! बगैर इनकी निजी रचनात्मक छवियों को परिभाषित किए? प्रेमचन्द की परम्परा को परम्परा और दूसरों को प्रवृत्ति के आधार पर अलगाने की कोशिश न प्रेमचन्द का 'भूत' खड़ा करने के इरादे से की जा सकती है न किसी दूसरे महत्त्वपूर्ण नए-पुराने लेखक के महत्त्व को कमतर बताने के प्रयत्न से। भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव और निर्मल वर्मा जैसे कथाकार जब प्रेमचन्द की विरासत का सवाल उठाते हैं तो वह जरूर ही गम्भीर विश्लेषण की माँग करता है।

सबसे पहले राजेन्द्र यादव के निबन्ध *'प्रेमचन्द की विरासत'* की प्रमुख स्थापनाओं को देखें, जो उसी नाम से संकलित पुस्तक में शामिल है। राजेन्द्र यादव के अनुसार, "जो चीज परम्परा और विरासत के रूप में विकसित होती है, वह है कथाकार की संवेदना और दृष्टि—उसके सरोकार और उसकी सम्बद्धताएँ। इस स्थापना से भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती है! उनके इस तर्क से भी असहमत होना कठिन है कि लेखक के विषय, क्षेत्र, पात्र या चरित्र, वातावरण और रचना संसार बाद वालों के लिए अनुकरणीय नहीं होते। राजेन्द्र यादव चालाकी से इस तर्क या कुतर्क को खारिज कर देते हैं कि रेणु, मार्कण्डेय या भैरवप्रसाद गुप्त ही ग्रामीण यथार्थ के प्रतिनिधि लेखक होने के नाते प्रेमचन्द की विरासत के हकदार हैं और 'मुर्दाघर' या 'धरती धन न अपना' या 'उनका फैसला' के लेखक नहीं हैं। इतना अधूरा आत्मविरोधी वक्तव्य किस काम का! मुख्य समस्या कुछ और है—कहीं और! शायद उन्हीं की ओर ध्यान खींचने के लिए राजेन्द्र यादव कुछ कल्पित प्रश्न (या भ्रम) उठा रहे होते हैं। विदग्ध आनन्द भी बौद्धिक विलास के दायरे में आता है जिसके लिए 'हंस' के कार्यालय-नुमा परम्परा खिंचाई-दरबार में अवसर ही अवसर है। इससे राजेन्द्र जैसे लेखक के सार्वजनिक एकान्त में फर्क पड़ता होगा, ऐसा मैं नहीं मानता।

अब राजेन्द्र यादव के इसी निबन्ध से एक और टिप्पणी पर गौर करें : "और अगर बात प्रेमचन्द के सरोकार, रवैये और यथार्थ-दृष्टि की ही है तो मेरा सचमुच विश्वास है कि नगर-कथाकार (?) ने अपने आसपास को जिस गहराई और विविधता में देखा है, सम्बन्धों, सन्दर्भों और अस्तित्व की जिन जटिलताओं भरी स्थितियों में अपने समय के आदमी को पकड़ा है, वैसा शायद विषय और क्षेत्र को ही लेकर प्रेमचन्द की विरासत का दावा करनेवाले लेखकों ने नहीं किया। इनका काम अधिक इकहरा रहा है। अपेक्षाकृत कम गतिवाले फलक को पकड़ना आसान होता है।" टिप्पणी न सिर्फ दिलचस्प है बल्कि तह में जाएँ तो अनर्थकारी है। कहना न होगा, यहाँ राजेन्द्र यादव के अपने पूर्वाग्रह प्रकट हैं। नगर-कथा और ग्राम-कथा जैसी कैटेगरी को तो खुद राजेन्द्र यादव विश्वविद्यालीय आलोचना या शोध का दारिद्रय बताना चाहेंगे। उनके कुतर्क पर हँसी आएगी कि रोना, कहना मुश्किल है। पर जैसी कथा आलोचना को खुद 'हंस' में कभी-कभी दुखद बढ़ावा या तरजीह देते हैं उसके लिए फिराक का शेर ही काफी है—'जो हमको बदनाम करे हैं/ वो क्या इतना सोचे हैं/ मेरा पर्दा खोले हैं या अपना पर्दा खोले हैं'।

अजब है कि आधी सदी के कथा सृजन की खूबियों को नजरअन्दाज करके कभी वे ग्राम कथा बनाम नगर कथा वाली कमलेश्वर की बरसों पहले की थकी-हारी युक्ति अपनाते हैं कभी कविता बनाम कहानी का निरर्थक राग छेड़ते हैं। छेड़ने वाले तो कुछ भी छेड़ सकते हैं या कोई शिगूफा ही छोड़ सकते हैं। जिसे वे अनिवार्यतः '*कम गति वाला फलक*' मानते हैं और इस भयानक सच्चाई से डरते हैं कि कई बार शहरी जीवन यथार्थ और जटिल स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर लिखने वालों ने सीमित एहसासों या संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं की ऐसी रूढ़ियाँ बना रखी हैं कि वे भी क्षेत्रीय या कुलीनतावादी या अतियथार्थवादी दृष्टि का ही पता देते हैं—विश्वदृष्टि का नहीं। प्रेमचन्द की ताकत का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि वे ग्रामीण यथार्थ पर लिखते हुए भी विश्वदृष्टि सम्पन्न लेखक होने का प्रमाण देते हैं। जब-तब वे ही हिन्दी के ताल्स्ताय, चेखव या तुर्गनेव भी हो सकते हैं। और कोई आलोचक (उत्तर आधुनिकों समेत) दावा नहीं कर सकता कि उसने प्रेमचन्द को पूरी तरह परिभाषित ही कर लिया है। अनाम प्रतिमानों के लिए अभी भी उनके यहाँ गुंजाइश बची हुई है। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के पाठ्यक्रम से उनका निर्वासन साहित्यिक इतिहास से उनका निर्वासन नहीं है। बल्कि राष्ट्रीय और वैश्विक विमर्श के अनेक प्रसंगों में अब भी वे विचारणीय बने रहेंगे। जिस 'निर्मला' को हटाकर सत्ता वर्चस्व का दंभ समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्ष मृदुला सिन्हा का उपन्यास 'ज्यों मेंहदी को रंग' लगा चुका है उसे दो कौड़ी की साहित्यिक मान्यता नसीब नहीं होने वाली है, जबकि 'निर्मला' को आलोक राय जैसे गम्भीर आलोचक 'फेमिनिस्ट टेक्स्ट' की तरह भी पढ़ने का प्रस्ताव कर सकते हैं।

'गोदान', 'पूस की रात', 'सद्गति', 'कफन' प्रेमचन्द सरीखे विश्वदृष्टि सम्पन्न कथाकार की ही कृतियाँ हो सकती हैं। अब अगर यही प्रामाणिक या विश्वसनीय यथार्थ है, तो राजेन्द्र यादव को चिन्ता होगी कि प्रेमचंद किस तरह के यथार्थवाद की कोटि में गिने जा सकेंगे। जैसे कोई अबोध पाठक पूछे—समाजवादी यथार्थवाद या आलोचनात्मक यथार्थवाद! राजेन्द्र यादव यह तो स्वीकार करके चलते हैं कि प्रेमचन्द की कथा-संवेदना का विकास आदर्शवाद से यथार्थवाद की दिशा में हुआ पर 'पूस की रात' और 'कफन' जैसी कहानियों में व्यक्त यथार्थवाद का निहितार्थ उन्हें आश्वस्त नहीं करता। वे बहुत चतुराई से सवाल करते हैं—"क्या मोहभंग आदमी को हमेशा ही वास्तविक और सही जमीन पर छोड़ जाता है! क्या वह उसे स्तब्ध या असन्तुलित नहीं कर डालता? या ये दोनों ही स्थितियाँ उतनी ही अवास्तविक और 'अनरियल' नहीं है?" बहुत चकित होकर वे सवाल करते हैं—"'कफन' और 'पूस की रात' की तारीफ करते समय क्या हमने कभी यह भी सोचने की जरूरत महसूस की, कि हृदय परिवर्तन का आदर्शवाद छोड़कर प्रेमचन्द हृदय-स्तब्धता या विजड़ित संवेदना के बिन्दु पर साँस तोड़ते हैं?" इस जिज्ञासा का चतुर निष्कर्ष यह है : "आज लगता है कि यह सम्बन्ध-संवेदना की वैसी ही स्थगित स्थिति है जैसे फ़िल्म में फ्रीज दृश्य! यानी बात चाहे 'नमक का दारोगा', 'बड़े घर की

बेटी', 'शंखनाद' के हृदय परिवर्तन की हो, या 'कफन' और 'पूस की रात' की स्तब्ध संवेदना की, प्रेमचन्द एक बिन्दु के बाद अपने को विचित्र अन्धी गली में बन्द पाते हैं।" राजेन्द्र यादव की यह तर्क-शृंखला इस दुर्भाग्यपूर्ण निरूपण तक जाती है—"ठीक वैसे ही, जैसे गाँधीवाद से टूटे हुए सभी लोग मार्क्सवादी नहीं हुए थे, कुछ अरविन्द के पास गए थे, कुछ गोलवलकर के, और कुछ अधिक जोर-जोर से व्यवस्था के।" जैसे मार्क्सवाद की ओर जाने और अरविन्द, गोलवलकर की ओर जाने में कोई तात्विक फर्क नहीं है। कहना कठिन है, यह अपनी स्वायत्तता को एक अतिवादी स्थिति तक ले जाने की तर्क-पद्धति है या दृष्टिकोण की वास्तविक सीमा!

पहला सवाल यह है कि क्या प्रेमचन्द हृदय परिवर्तन के आदर्श से चलकर सीधे स्तब्ध विजड़ित संवेदना तक जा पहुँचे! स्तब्ध विजड़ित संवेदना से राजेन्द्र यादव क्या कहना चाहते हैं, कहना मुश्किल है। क्या *'पूस की रात'* और *कफन* स्तब्ध विजड़ित संवेदना की हताश स्वीकृति की कहानियाँ हैं या वे एक बनी-बनाई व्यवस्था में अपने ढंग से हस्तक्षेप भी करती हैं? क्या राजेन्द्र यादव हंसराज रहबर की तरह इन कहानियों के पात्रों के संसार को महज नकारात्मक विजड़ित या स्तब्ध मानते हैं? क्या इनमें व्यक्त विच्छिन्नता बोध के गहरे सामाजिक अभिप्राय उनका ध्यान आकृष्ट नहीं करते? 'सद्गति' में प्रेमचन्द लिखते हैं—"आधी रात तक रोना-पीटना जारी रहा। देवताओं का सोना मुश्किल हो गया। पर लाश उठाने कोई चमार न आया और ब्राह्मण चमार की लाश उठाते कैसे! भला ऐसा किसी शास्त्र-पुराण में लिखा है?" *'पूस की रात'* में मुन्नी कहती है—"मर-मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई है, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिए तो हमारा जनम हुआ है। पेट के लिए मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आए।" *कफन* में कहा गया है—"जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनसे कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।" या "फिर भी उसे यह तस्कीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है, तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।" गरज यह कि बहुत उदाहरण देने की जरूरत नहीं है। राजेन्द्र यादव के प्रौढ़-मन का तर्क जरूर उन्हें छोड़कर दूसरों को गाहे-ब-गाहे दिशाहीन कुतर्क की ओर ठेल सकता है। और नहीं तो हमारे कतिपय दलित भाष्यकारों को, जो प्रेमचन्द को दलित विरोधी तक मानने लगे हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों में व्यक्त उपर्युक्त मानसिकता क्या स्तब्ध विजड़ित संवेदना की उपज है या इन्हीं स्थलों में कोई अलग तरह का विरोध या विद्रोह भी छिपा है! दिलचस्प है कि जिस *'कफन'* को *राजेन्द्र यादव स्तब्ध विजड़ित संवेदना* तक सीमित मानते हैं, वही *निर्मल वर्मा* को *'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता* का चरम संकेत

जान पड़ती है। उनकी दृष्टि में, 'कफन' हिन्दी साहित्य की पहली 'ब्लासफेमस' कहानी है। निर्मल वर्मा की टिप्पणी है—"जिस क्षण बाप-बेटे ने घर की औरत के कफन के पैसों से शराब का कुल्हड़ मुँह में लगाया था, उस क्षण पहली बार हिन्दी साहित्य में व्यक्ति ने अपनी स्वतन्त्रता का स्वाद भी चखा था। यह क्षण वह था जब प्रेमचन्द के समाज में व्यक्ति का जन्म हुआ था। यह जन्म मृत्यु और श्मशान की छाया में हुआ था—दो पियक्कड़ हिन्दुस्तानियों का मुक्ति समारोह।" (ढलान से उतरते हुए)

यह देखना न सिर्फ दिलचस्प, बल्कि चौंकाने वाला है कि नई कहानी आन्दोलन को मान्यता दिलाने वाले या नई कहानी को महज 'अँधेरे में एक चीख' मानने वाले दो प्रमुख कथाकार प्रेमचंद की दो तरह की व्याख्या कर रहे हैं पर आश्चर्यजनक रूप से सहमत होने के लिए। जो स्थिति राजेन्द्र यादव को स्तब्ध विजड़ित संवेदना का संकेत जान पड़ती है, वही निर्मल वर्मा के लिए चरम मुक्ति का क्षण है। त्रासद मृत्यु को जिसकी पृष्ठभूमि में आर्थिक शोषण का घना अँधेरा है उसे मुक्ति का समारोह बताने के पीछे जो राजनीति है वह रोशनी की तरह स्पष्ट या अचूक है। *'प्रेमचन्द की विरासत'* निबन्ध में राजेन्द्र यादव लिखते हैं—'मुझे लगता है कि दो युद्धों के बीच का भारतीय मानस मूलतः वैसा ही जटिल कन्फ्यूज्ड रोमांटिक था जैसा हर किशोर का होता है।' उन्हें लगता है कि 'स्वतन्त्रता से पहले की हमारी सारी छटपटाहट सिर्फ किन्हीं अन्धी दीवारों से टकराकर लौट रही थी और हम टूट-टूट कर बिखर रहे थे—कभी आश्रमों में, कभी अतीत में, कभी अध्यात्म में, कभी अपनी कुण्ठाओं में और कभी व्यवस्था या व्यवसायों में—अलग-अलग रूप में वर्तमान से, अपने आप से, अपनी पराजयों से भागने का था—आत्महत्या कर लेने या अपने आपको स्थगित कर देने का था।' अपने ही गढ़े हुए पूर्वग्रहों का कुछ ऐसा दबाव राजेन्द्र यादव के मन पर है कि उन्हें शरत्-प्रेमचन्द में फर्क नहीं दिखाई देता। शब्द उन्हीं के हैं—'शरच्चंद्र जैसी ही स्थिति में प्रेमचन्द आदर्श का मर्फिया इन्जेक्शन देते हैं और जब इन्जेक्शन से विश्वास उठ जाता है तो स्तब्ध संवेदना या हिस्टैरिक ऐंठन की डूबती संज्ञा है।'

राजेन्द्र यादव की दृष्टि में उस दौर में खतरे को सूँघने वाले लेखक और थे। प्रेमचन्द जहाँ दीवार से सिर टकरा रहे थे, वहाँ वे अपने भीतर लौटने में सक्षम थे। जैसे जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी। आगे राजेन्द्र यादव इस प्रसंग को इतिहास से जोड़ते हैं—"उस समय नेहरू ही अपने व्यक्तिगत या राष्ट्रीय अतीत (मेरी कहानी/भारत की खोज) में नहीं लौट रहे थे, सारा भारतीय मानस इसी प्रक्रिया से गुजर रहा था, क्योंकि वर्तमान ठहर गया था...।" आज तो हम एक ऐसे समय से गुजर रहे हैं कि इतिहास और अंध इतिहास-पाठ या कुपाठ में फर्क करना मुश्किल है, ऐसे समय में नई कहानी आन्दोलन के एक प्रवक्ता के रूप में उसे एकदम नया प्रस्थान बताने के लिए प्रेमचन्द की विरासत से ही इनकार जरूरी न था। मुक्तिबोध ने जब प्रेमचन्द को उत्थानशील भारतीय सामाजिक क्रान्ति का पहला और अन्तिम

महान कलाकार कहा तो उनकी परम्परा से इनकार उन्हें जरूरी नहीं लगा। कहा उन्होंने भी : "प्रेमचन्द के पात्र आज भी हमारे समाज में जीवित हैं। किन्तु अब वे भिन्न स्थिति में रह रहे हैं। बहुतेरे पात्र सम्भवतः नए ढंग से सोचने लगे हैं।"

अन्त में, प्रेमचन्द की विरासत पर विचार करते हुए जब राजेन्द्र यादव यह दलील देते हैं कि प्रेमचन्द 'किस्सागो' इसलिए थे कि उनके पास विश्वास ही विश्वास थे, प्रश्न न थे, संशय या संदेह न थे, जबकि नई कहानी आन्दोलन के साथ जो लेखक उभरे, वे प्रश्नाकुल और संशयशील थे। अतः वे सूक्ष्मता और वक्रता की दिशा में गए। यह उनके लिए ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। अब पूछने के लिए तो यही सवाल बचा रहता है कि प्रेमचन्द, जो समाजशास्त्री चिन्तक पूरनचन्द्र जोशी तक को इतिहास बोध और साहित्यिक संवेदनशीलता के लिए हर समय मूल्यवान लगते हैं—गाँधी के आदर्शवाद और भारतीय ग्रामीण समाज के भयावह यथार्थ के बीच की खाई को पहचानने में सक्षम—क्या इस हद तक प्रश्न विमुख कथाकार थे? क्या 'कफन' और 'गोदान' एक प्रश्नविमुख कथाकार की कृतियाँ हैं?

'सिंस्मरण' राजेन्द्र यादव के संस्मरण लिखने की पहिली शर्त है

कान्तिकुमार जैन

(एक)

राजेन्द्र यादव से वह मेरी सबसे लम्बी मुलाकत थी। ढाई घंटों से भी लम्बी। मैं अगस्त 2003 में दिल्ली गया था विश्वविद्यालयीन कार्य से। विश्वविद्यालय का कार्य निपटाकर जब मैं 'हंस' कार्यालय पहुँचा तो वहाँ भारत भारद्वाज थे, मैत्रेयी पुष्पा थीं, प्रेमकुमार मणि थे। राजेन्द्र यादव के 'पंज पियारे' कहे जानेवालों में से तीन। साधना अग्रवाल भी थीं। मेरी पत्नी का नाम भी साधना है। राजेन्द्र मेरी पत्नी को जानते हैं पर उन्होंने चुहल की—आपका परिचय। मेरी पत्नी ने कहा—मिसेज कान्तिकुमार। पर इससे तो चुहल की शर्त पूरी नहीं हुई। बोले, नहीं, मैं आपका नाम पूछ रहा हूँ। साधना। पर यहाँ तो साधना दो-दो हैं। कहकर उन्होंने मेरी ओर देखा और मुस्काए। रहस्य रोमांस की सृष्टि करने वाली अपनी जेम्स बांडीय मुस्कान। रहस्य की सृष्टि करना उनकी कथा शैली का पुराना गुण रहा है। मैं उनके इस गुण से परिचित था। मैं समझ गया। मैं न पुलकित हुआ, न 'एमबरास'। मैंने कहा—यहाँ साधना भले दो-दो हों पर मेरा क्लेम तो एक ही साधना पर है। मजाक मिजाजी राजेन्द्र यादव की विशेषता है, वे मजाक करते हैं और मजाक समझने वालों को पसन्द करते हैं। उन्होंने मुझसे पूछा कि अब आप किस पर संस्मरण लिख रहे हैं? या पृथ्वी वीर विहीन हो गई। मैंने कहा, नहीं पृथ्वी कभी वीर विहीन नहीं होती। अभी तो मेरे तरकश में बहुत स तीर हैं और सामने धीरोदात्त से लेकर धीर ललित तक वीर भी कम नहीं हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो. श्यामाचरण दुबे, राजा प्रवीरचंद भंजदेव। मैं और नाम गिनाता कि राजेन्द्र बोले—अगला संस्मरण आप वाजपेयी जी पर लिखें। वे तो आपके गुरु भी रह चुके हैं। मैंने हामी भरी। मैं सागर में वाजपेयी जी का प्रिय शिष्य रह चुका हूँ और प्रिय शिष्य के नाते उनका श्राद्ध करना मेरा उत्तरदायित्व बनता है। राजेन्द्र जी वाजपेयी जी की साहित्यिक महत्ता से परिचित हैं, उनकी सांस्थानिक महत्ता से भी। 1953 में वे सागर आए थे। वाजपेयी जी के निर्देशन में पी-एच.डी. के लिए शोध करने के पुनीत इरादे से। अपने एक पुराने सहपाठी के आमन्त्रण पर। शिव नारायण चतुर्वेदी राजेन्द्र का पुराना मित्र था, सम्भवतः सहपाठी था। दोनों आगरे के थे।

शिवनारायण बड़ा प्यारा आदमी है। बेहद खुशमिजाज, गोल गुथना। उसके गाल चमकते। उन दिनों सागर विश्वविद्यालय में लिपिस्टिक लगाने वाली लड़कियाँ कम ही थीं, हिन्दी विभाग में तो एक भी नहीं थी। यदि होती तो वह अपना लिपिस्टिक ठीक करने के लिए पर्स से आइना नहीं निकालती, चौबे के पास आकर खड़ी हो जाती और अपने लिपिस्टिक की कोरें चौबे के गालों के आइने में देखकर ठीक कर लेती। विभाग के दूसरे शोध छात्र शिवनारायण से मन ही मन जलते। वह बहुत मोटा था। हर दिल अजीज। सब उसे मोटू कहते पर वह बुरा नहीं मानता था।

हम लोग कहते, यार, तू किसी पर नाराज नहीं होता। न ही किसी को नाराज करता है। कहता—मोटे आदमी को किसी को नाराज नहीं करना चाहिए क्योंकि यह बड़े रिस्क की बात है। फिर वह इस उलटबांसी की व्याख्या करता। कहता—मैं किसी को नाराज कर दूँ और वह मुझे मारने दौड़े तो मैं भाग नहीं पाऊँगा और पिट जाऊँगा। तो भैये, अपन पिटने के डर से किसी को नाराज नहीं करते। राजेन्द्र एम. ए. कर चुके थे—कुछ कहानियाँ वगैरह भी लिख चुके थे और 'प्रेत बोलते हैं' के कारण काफी चर्चा में थे। नई कहानी के अखाड़े में बड़ी दंड-बैठकें हो रही थीं। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार और विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं आचार्यगण इस धमाचौकड़ी से प्रकंपित थे। नई कविता की तरह वे सारे नवलेखन को स्कूल खत्म होने के बाद घर का रास्ता भूल गए लड़कों द्वारा मचाए जाने वाले ऊधम से कुछ ज्यादा मानने को तैयार नहीं थे। ऐसे में यह राजेन्द्र यादव की खामख्याली ही थी कि वे समझ रहे थे कि छायावाद का स्वागत करने वाले आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी उन्हें अपने शोध छात्र के रूप में प्राप्त कर प्रसन्न होंगे। उस समय तक राजेन्द्र को जिद की सीमा तक पहुँची परम्परा-भंजन की अपनी आदत का ठीक-ठीक पता नहीं था, न ही यह पता था कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद के बाद के सारे हिन्दी साहित्य को कोई दर्जा देने को तैयार नहीं हैं। न ही बच्चन को, न भगवतीचरण वर्मा को, न नागार्जुन को, न अज्ञेय को, न मुक्तिबोध को। फिर उनके दरबार के अपने कायदे-कानून थे। राजेन्द्र को कायदे-कानूनों से एलर्जी थी, चाहे वे साहित्य के कायदे हों, चाहे समाज के। दरबार यदि अकबर का भी होता तो वे उसके नवरत्न बनने से इंकार कर देते। वे अकबर तो बन सकते थे, अकबर के दरबारी नहीं। अपने दोस्त मोटू के कहने से वे सागर आ तो गए थे पर मोटू चौबे में जैसे दूसरों को प्रसन्न करने का सहज गुण था, राजेन्द्र में वैसे ही दूसरों को नाराज करने का आसाधारण कौशल। वे दोस्तों को तो तब भी बर्दाश्त कर लेते थे उनके सारे अवगुणों के साथ या उनके बावजूद पर कोई यदि स्वयं को उनका शास्ता माने तो वे ऐंठ जाते। पहिले ही दिन राजेन्द्र आगरी ने देखा कि हिन्दी के सारे शोध सागरी शाम को आते-जाते वाजपेयी जी की चरण वन्दना ही नहीं करते, आरती भी गाते। 'तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी' मार्का। पंडिज्जी, पंडिज्जी सुनते-सुनते पंडित जी के कान पक जाते, पैर छुवाते-छुवाते उनके पैरों में सूजन रहने लगी। पंडित जी, मैं तीन बत्ती तक जा रहा हूँ, कहते और

पैर छू लेते। तीन बत्ती विश्वविद्यालय से चार-पाँच किलोमीटर दूर सागर का हृदय स्थल है। घंटे भर बाद लौटते तो फिर वही चरण वन्दना—पंडित जी, मैं तीन बत्ती से आ गया। और तो और पंडित जी के बंगले से दस कदम दूर पैंटागान पान खाने जाते तो शोध बिहारी पालागन करते और दस मिनट बाद लौटकर फिर वही पालागन। पंडित जी के पैरों की सूजन बढ़ने लगी थी। राजेन्द्र यादव उस समय 23 बरस के गोरे-चिट्टे, ऊँचे-पूरे गबरू जवान थे। 'हीमैन' मार्का काला चश्मा तब भी लगाते। काले चश्मे से उनका गोरा रंग और लेडी किलर मार्का मर्दानगी में इजाफा होता। उनकी रीढ़ की हड्डी उन दिनों आज की तुलना में और भी कड़ी रही होगी। सीधी और बेझुक। उन्हें झुकने में तकलीफ होती। पंडित जी के पैर न छूना उन दिनों बड़ा अनैतिक माना जाता—ब्लासफेमी। पंडित जी के पैर न छूने वालों की लिस्ट बनाई जाती और उनकी सिखटोली इस असांस्कृतिक कार्य की विवेचना करती। इस सिखटोली ने तीन-चार दिन तो राजेन्द्र की इस चरण-चुम्बन-अनासक्ति का अवलोकन किया फिर 'अवसर पाय', 'कछु कलुष कथा चलाय' इस विद्रोह की व्याख्या की—पंडिज्जी, यह जो राजेन्द्र है न, आगरे से आया है। रामविलास शर्मा के बहुत निकट रहा है। रामविलास नाम से पंडित जी छड़कते थे। नास्तिक, परम्पराद्रोही, कौमनष्ट। पंडित जी, फिर ये चेले-चतुर अपना मुँह पंडित जी के कान के और पास ले जाकर मिस्कौट करते। पंडित जी, यदि रामविलास का यह चेला सागर में रह गया तो हिन्दी विभाग को बिलटाकर रख देगा। यहाँ की सारी परम्पराएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँगी। पंडित जी इस विश्लेषण से और भविष्य कथन से प्रभावित होते। नहीं, आपका विषय शोध कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है। आप तो वहीं कहीं शोध कीजिए। उन्होंने राजेन्द्र यादव को शोध छात्र के रूप में स्वीकार नहीं किया। उन दिनों कोई दूसरा मान्य शोध निर्देशक हिन्दी विभाग में नहीं था। होता भी तो अध्यक्ष तो वाजपेयी जी ही थे। शोध छात्र का पंजीयन करना न करना उन्हीं का अधिकार था।

सागर से जाने का एक कारण और था। नन्द के दुलारे के प्रति यदुकुल भूषण राजेन्द्र का अनुराग सहज होना चाहिए था। परम्परा पोषित। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसके लिए जितने उत्तरदायी नन्ददुलारे जी थे, उससे कम यादव राजेन्द्र नहीं थे। यादव जी देख रहे थे कि आचार्य जी के पैरों की सूजन दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। उनके शोध छात्र सूजन को कम होने ही नहीं देते थे। मैं भी सूजन वृद्धि में कारण बनूँ तो यह तो उचित नहीं। यादव को नन्ददुलारे के हित की, स्वास्थ्य की चिन्ता थी। वैसे भी उन्हें अपनी कड़ी रीढ़ के कारण झुकने में असुविधा होती थी। पंडित जी के पैरों को छूने के लिए बहुत नीचे तक और बहुत देर तक झुकना और झुका रहना पड़ता था। राजेन्द्र यादव को चरण स्पर्श जैसे कार्य के लिए इतना समय देना सम्भव नहीं था। वे सागर से लौट गए। वे डॉक्टर नहीं हो पाए। हो गए होते तो किसी विश्वविद्यालय के, कम से कम किसी महाविद्यालय के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हुए होते पर जैसा कि कहते हैं न, भगवान जी जो करते हैं, अच्छे के लिए ही करते हैं।

विश्वविद्यालय भी बच गए और राजेन्द्र यादव भी बच गए। हिन्दी के विद्यार्थियों का जो भला हुआ वह अलग। राजेन्द्र यादव ने कहानियाँ लिखीं, उपन्यास लिखे, संस्मरण लिखे, अनुवाद किए, सम्पादन भी किया। वे जिद्दी हैं और दुस्साहसी भी। अपनी जिद में और दुस्साहस में वे साँप के बिल में हाथ डाल देते हैं, भले उन्हें बिच्छू उतारने का मन्त्र न आता हो। अक्षर प्रकाशन की स्थापना ऐसी ही जिद का परिणाम थी। 'हंस' का प्रकाशन भी। बिना किसी सुदृढ़ आर्थिक आधार के यार मुद्दत से 'हंस' निकाल रहा है। निकाल ही नहीं रहा, पूरे हिन्दी जगत् में हाहाकार मचाए हुए है। असल में राजेन्द्र यादव को पता है कि अभिव्यक्ति का माध्यम बदल देने से रचनात्मकता की (और वैचारिकता की भी) थकान मिटती है। राजेन्द्र यादव के लिए 'हंस' का सम्पादन अपनी रचनात्मकता की थकान मिटाने का उपक्रम है। उनका दलित विमर्श और स्त्री विमर्श अपनी वैचारिकता को नित नई ऊर्जा देने का करतब है। राजेन्द्र मध्यम मार्गी नहीं हैं। वे जानते हैं कि जो सड़क के बीचोंबीच चलता है, रौंदे जाने का खतरा सबसे ज्यादा उसी को रहता है। अगर आप तिपहिया वाहनों से या फोर व्हीलर से बच भी गए तो कालचक्र तो आपको कुचल ही डालेगा। इसी रौंदे या कुचले जाने के भय से वे अतिरेकी रास्ता अपनाते हैं। चाहे प्रेम हो, चाहे दाम्पत्य, चाहे लेखन ही क्यों न हो, वे इस पार या उस पार में विश्वास करते हैं। एक फ्रेंच दार्शनिक कहा करता था कि उस आदमी से मेरा परिचय मत कराओ क्योंकि मैं उससे नफरत करना चाहता हूँ। यदि उसको जानने लगूँगा तो उससे प्रेम करने लगूँगा। राजेन्द्र को जानना उससे प्रेम करना है। 'हंस' के पाठक उससे प्रेम करते हैं। जो 'हंस' से प्रेम नहीं करते, वे भी 'हंस' पढ़े बिना नहीं रहते। राजेन्द्र के सम्पादकीय तो पढ़ते ही हैं। राजेन्द्र यादव सम्पादित 'हंस' हिन्दी की एकमात्र पत्रिका है जिससे उसका पाठक एक लव हेट रिलेशनशिप से बँधा रहता है। 'हंस' ने पिछले वर्षों में वह कर दिखाया है जो बड़ी-बड़ी संस्थाएँ सौ वर्षों में नहीं कर पाईं। लोग कहते हैं कि 'हंस' का अपना गुट है। है। राजेन्द्र यादव 'हंस' के लिए रचनाकारों का संधान ही नहीं करते, उनका निर्माण भी करते हैं, उनका सम्मान भी करते हैं। मैंने सागर से 'हंस' के सम्पादक को टेलीफोन किया। राजेन्द्र यादव ने उठाया। उधर से आवाज आई, "क्या प्राण ही ले लोगे"। मैंने तो प्राण लेने लायक कोई बात कही ही नहीं थी। अपना नाम तक नहीं बताया था। वे 'हंस' के किसी सहायक पर बिगड़ रहे थे। मैंने सोचा गलत समय पर मैंने टेलीफोन किया। नाम बताया तो आवाज आई, हाँ, कान्तिभाई, कहिए। अरे! यह स्वरान्तरण, यह भावकल्प। मैंने पूछा—ओशो रजनीश पर मेरे पास डेढ़ेक सैकड़ा पत्र तो आए ही होंगे—देश से, विदेश से भी। मैं उनके आधार पर हिन्दी पाठकों की मानसिकता, उनकी आस्था, उनकी यथार्थ-पलायन-लोलुपता का विश्लेषण करना चाहता हूँ। आप कहें तो लिखूँ। जरूर, जरूर पर अभी तो आपके तरकश में और भी तीर हैं। सो तो हैं। फिर मैंने कहा—लोग मुझसे पूछते हैं कि बहत्तर सालों तक आप कहाँ थे? मैं क्या बताऊँ। मैं आपका कृतज्ञ हूँ—आपने मुझे अखिल भारतीय

बना दिया। मैंने क्या किया? आप में दमखम नहीं होता तो मैं क्या करता। अरे! यह तो वह राजेन्द्र यादव नहीं है जिसकी लोग बुराई करते नहीं थकते। घमंडी, अहंकारी, दम्भी, शत्रुकामी, लुच्चा, चरित्रहीन, लंपटेन्द्र, खलनायक। न कोई संरक्षण वाला भाव, न कोई 'पजेसिव' मुद्रा। सफल सम्पादक को कोई बना-बनाया गुट नहीं मिलता, उसे अपना गुट बनाना पड़ता है। गुट का विस्तार करना पड़ता है, गुट के सदस्यों की दृष्टि स्वच्छ करनी पड़ती है। 'हंस' पत्रिका 'एट्रोपीन' की तरह हर माह पाठकों की दृष्टि को स्वच्छ करती है। पाठक 'हंस' की जितनी प्रतीक्षा करते हैं, शायद हिन्दी की किसी अन्य पत्रिका की नहीं।

पर 'हंस' का सम्पादन तो बाद की बात है। सागर से 1953 में राजेन्द्र यादव तो आगरा लौट गए, सागर में रह गए उनके सखा और आमन्त्रक—शिब्बू चतुर्वेदी। वाजपेयी जी की सिख टोली बड़ी जागरूक थी—जागरूक और तत्पर। वे राजेन्द्र यादव का तो कुछ नहीं बिगाड़ पाए पर अभी उनका शरणदाता, मितू हितू तो सागर में ही था, वह भी विभाग में। उसको खदेड़ना आवश्यक था। वह कहानियाँ भी लिखता था—अनन्त चतुर्वेदी नाम से। उस समय सागर के हिन्दी विभाग में कहानियाँ लिखना अच्छा नहीं माना जाता था। हिन्दी विभाग के सारे शोध छात्र कविताएँ लिखते। एक इसी अनन्त को छोड़कर। सो हंसों के बीच से इस बक को खदेड़ना आवश्यक था। अनन्त का खेदा हुआ। वड़ी व्यूह रचना हुई। सिख टोली के एक सीनियर सदस्य ने इस पुनीत अनुष्ठान के लिए अपनी सेवाएँ मुहैया कीं। पंडित जी, यह जो मोटू है न, उतना सीधा है नहीं, जितना दिखता है। इसका चरित्र भी अच्छा नहीं है। आजकल यह डिपार्टमेंट भी देर से पहुँचता है। पंडित जी की जिज्ञासा जागती, क्यों क्यों। अब पंडित जी, क्या बताएँ। मैं जब विभाग चला जाता हूँ तो यह मोटू किसी-न-किसी बहाने मेरे यहाँ ताक-झाँक करता है। भाभी जी, माचिस होगी, भाभी जी, धोबी आए तो मेरे कपड़े रख लीजिएगा। सिख टोली के वे शिकायतकर्त्ता मोटू चौबे के पड़ोसी थे—एकदम पड़ोसी। लकड़ी के पार्टीशन की झिरी से झाँककर देखो तो सब कुछ दिख जाता। आवाजें तो यों भी पार्टीशन का एलओसी नहीं मानती। उनका नया-नया विवाह हुआ था। पत्नी शाम को पतिदेव के लौटने पर प्रसन्न भाव से बतातीं कि चौबे जी यह माँगने आए थे, वह माँग रहे थे। कितने हँसमुख हैं। पड़ोसी यह सब सुनते तो उन्हें शक करने की प्रेरणा मिलती। शक करना जायज था। भाषा कभी-कभी न चाहते हुए भी वक्ता के मन का भेद खोल देती है। बात बोलेगी, हम नहीं। उन्होंने एक दिन पंडित जी को बताया कि पंडित जी, मानस में कहा गया है, 'अनुज वधू भगिनी सुत नारी' पर कुदृष्टि डालने वालों का वध करना ही चाहिए। उन्होंने तुलसी की अर्धाली भले ही पूरी न कही हो पर उनका मन्तव्य था कि अनुज वधू, भगिनी, सुतनारी कन्या के समान होती हैं। उनकी पत्नी अभी भी कन्या ही थी। गो विवाह हुए पूरा साल वीत रहा था। और उनकी कन्यावत् पत्नी पर यह मोटू कुदृष्टि डाल रहा है। किसी दिन कुछ अघटित घट गया तो पंडित जी, मैं तो कहीं का न रहूँगा।

पंडित जी रामचरित मानस के विशेषज्ञ थे। गीता प्रेस, गोरखपुर में रहकर

रामचरित मानस का सम्पादन कर चुके थे। सो अब विलम्ब केहि कारण गुरुवर। मोटू चौबे का खेदा हुआ। राजेन्द्र सखा को भी सागर छोड़ना पड़ा। भले थोड़ा समय लगा हो।

इस प्रसंग का मैं उल्लेख करने ही वाला था कि समुपस्थित मंडली में विद्यमान साधना अग्रवाल को एक तात्कालिक प्रसंग याद आ गया। उस प्रसंग की चर्चा के लिए यह सम्भवतः स्वर्णिम अवसर था। वे 'हमारे युग का खलनायक' नाम से राजेन्द्र यादव पर एक पुस्तक के सम्पादन की योजना बना रही थीं। वे मुझसे भी राजेन्द्र यादव पर एक संस्मरण चाहती थीं। उन्होंने मुझको याद दिलाया—आपने अपनी संस्मरण योजना में जिनके नाम गिनाए हैं, उनमें राजेन्द्र जी का नाम नहीं है। मैं कुछ कहूँ कि राजेन्द्र बोले—कान्तिकुमार जी, आप मुझ पर संस्मरण बिल्कुल मत लिखिएगा। आप मुझको जानते ही कितना हैं। आज आपसे पहिली बार मेरी इतनी लम्बी आत्मीय बातें हो रही हैं। संस्मरण लिखने के लिए जब तक संस्मरण लेखक संस्मृत के साथ 'सिन' में भागीदार न हो तब तक वह संस्मरण लिख ही नहीं सकता है। मैं 'सिन' की ठीक-ठीक व्याप्ति समझ पाता कि यह कमसिन का जिक्र है या सिने शबाब का कि 'सिन' का हिन्दी पर्याय प्रस्तुत किया गया—संस्मरण के लिए पाप में बराबरी की भागीदारी अनिवार्य है।

तो यह बात है। जनाब सिन रसीदा हो रहे हैं पर सिने शबाब—सोते और जागते—हिन्दी के इस ययाति का पीछा ही नहीं छोड़ रहा। राजेन्द्र स्वयं को बूढ़ा नहीं मानते। यौवन से बिहारी के ढेरों दोहे उनको याद हैं। बिहारी का एक दोहा उनको प्राण प्रिय है—

इक भींजै, चहले परे, बूढ़े बहे हजार
किते न अवगुन जग करत वय नय चढ़ती बार।

चढ़ती जवानी और बाढ़ में आई नदी, कौन-कौन से ऐब नहीं करती। कोई इसमें भींगता है, कुछ इसमें लथपथ हो जाते हैं और हजारों इसमें डूब जाते हैं और बह जाते हैं। राजेन्द्र यादव की वय-नय (जीवन-सरिता) अभी भी चढ़ी हुई है। वे अभी भी अपने को ऐब करने की, 'अवगुन' करने की उम्र से बाहर नहीं मानते। राजेन्द्र यादव अपने जीवन में, अपने लेखन में, अपने विचारों में अभी भी स्वयं को 'सिने तमीज' की आयु की गिरफ्त से बाहर मानते हैं और सिने शबाब यानी सिने 'सिन' के दरवाजे पर दस्तक देने का कोई मौका नहीं चूकते।

अब सारी चीजें मेरे सामने साफ हो गईं—राजेन्द्र यादव ने 'वे देवता नहीं हैं' नामक अपनी संस्मरण पुस्तक में जिन-जिनका स्मरण किया है, वे कौन से लोग हैं—राजेन्द्र यादव के मित्र, आत्मीय, अन्तरंग, शरीके 'सिन' यानी संस्मरण उन्हीं पर लिखे जाने चाहिए जो देवता नहीं हैं, जो पाप कर सकते हैं, पाप करते हैं और पाप की पोल खुलने पर बुरा नहीं मानते।

सिंस्मरण (सिन स्मरण) संस्मरण लेखन की पहिली शर्त है—पापाचार्य राजेन्द्र यादव ऐसा मानते हैं। (पापाचार्य का सन्धि विग्रह करने के लिए आप स्वतन्त्र हैं)।

बाबूजी, दादा, पापा—राजेन्द्र यादव को लोग कई नामों से पुकारते हैं।

मैंने मन ही मन शब्द गढ़ा—सिंस्मरण। 'वे देवता नहीं हैं' पुस्तक का नाम रखने का रहस्य भी समझ में आया और इस नाम से पैदा होने वाला रोमांच भी और आत्म स्वीकृति का भाव भी। राजेन्द्र यादव जो भी करते हैं, उसमें रहस्य भी होना चाहिए और रोमांच भी। जब मैंने 'अकार' के लिए राजेन्द्र यादव की संस्मरण पुस्तक की समीक्षा लिखी थी तब उसको शीर्षक दिया था—'वे देवता क्यों नहीं हैं?'। अब मैं उसको नया शीर्षक देना चाहता हूँ—"सिंस्मरण राजेन्द्र यादव के संस्मरण लेखन की पहिली शर्त है।"

(दो)

हिन्दी के प्रसिद्ध व्यंग्य कवि जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' की एक वहुउद्धृत कविता है—"काग भुसुंडि गरुड़ से बोले, आओ होलें दो दो चोंचे, चलो किसी मन्दिर में चलकर प्रतिमा का सिन्दूर खरोंचें।" काग भुसुंडि जैसे ज्ञानी का मन्दिर में स्थापित प्रतिमा का सिन्दूर खरोंचने का अभियान हमारे दौर की उस सत्यान्वेषी प्रवृत्ति का द्योतक है जो आडम्बरी प्रदर्शनप्रियता, कलफ लगी क्रीज और 'सर्फ एक्सेल' धुली सफेदी को अन्तिम न मानकर भीतर के दाग-धब्बों को उजागर करने को अपना नैतिक और सामाजिक दायित्व मानती हैं। तहलका डॉट कॉम जैसे उपक्रम हमारे राजनीतिक जीवन के दुहरे चरित्र को उद्घाटित करने के नव्यतम उदाहरण हैं। साहित्य में हमारे कथाकार और व्यंग्य लेखक चीजों के भीतरी रंग को उद्घाटित करने में काफी समय से लगे हुए थे पर संस्मरण लेखकों ने इधर इस क्षेत्र में बाजी मार ली है। प्रतिमा का सिन्दूर खुरच जाने पर जो सामने आता है वह पत्थर होता है। कभी मामूली, कभी-कभी थोड़ा-सा गैर-मामूली। हमारे समाज में और सांस्कृतिक परम्परा में 'हिप्पोक्रेसी' का ऐसा विकट वितान तना है कि न जाने कितने सिन्दूर पोत-पोत कर, पुतवा-पुतवा कर महान बने बैठे हैं और गैंडी पर चढ़-चढ़कर आदम कद से ऊँचे दिखाई पड़ते हैं। राजेन्द्र यादव का बड़े आक्रोश से यह लिखना गौरतलब है—"एक नम्बर का झूठा, बेईमान, हरामी, हत्यारा मरते ही 'महान आत्मा' हो जाता है जिसकी शान्ति के लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं, केवल निन्यानवे वर्ष की कच्ची उमर में उसके असामयिक और आकस्मिक निधन पर, अपूरणीय क्षति पर आठ-आठ आँसू रोये जाते हैं, शोक सन्तप्त परिवार को बिलखने के लिए अपने कन्धे पेश किए जाते हैं। काश, वह दिवंगत उठकर कह पाता कि अबे उल्लू के पट्ठो, ये सब क्या बकवास किए जा रहे हो। मैं वह सब बिल्कुल नहीं था जिसे सिद्ध करने के लिए तुम खून-पसीना एक कर रहे हो—मैं भी तुम्हारी ही तरह का हाड़-माँस का इंसान था।"

राजेन्द्र यादव ने 'वे देवता नहीं हैं' के संस्मरणों को उस दिवंगत लाचार आदमी का प्रतिवाद कहा है जिसे हम देवता बनाने पर तुले हुए हैं। पर स्थिति इससे भी अधिक शर्मनाक है। जो जीवनभर अपने जन्मदिन प्रायोजित करते रहे हैं, अपने जीवन

काल में ही अपनी प्रतिमाएँ स्थापित करवाते रहे हैं, अपने ऊपर अभिनन्दन ग्रन्थ निकलवाते रहे हैं, उनसे मरने के बाद अपने महान घोषित किए जाने का प्रतिवाद करने की अपेक्षा करना थोड़ी खामख्याली है। दक्षिण के एक विश्वविद्यालय के कुलपति ने अपने कार्यकाल में ही परिसर में अपनी आदमकद प्रतिमा स्थापित करवा ली थी। जब उनके इस कृत्य पर लोगों ने एतराज किया तो वे बिना खेद के बोले कि 'अभी मेरे ससुर शिक्षा मन्त्री हैं और दामाद शिक्षा सचिव है। मेरे मरने के बाद कौन मुझे याद रखेगा सो मैंने अपने कार्यकाल में ही, अपने जीवित रहते हुए, अपनी प्रतिमा स्थापित कर अपना भविष्य सुनिश्चित कर लिया है। इस युग में यही बुद्धिमानी है।' अतः जो यह 'बुद्धिमानी' कर अपना वर्तमान और भविष्य सुरक्षित करने के लिए सारे जोड़-तोड़ करते हैं, राजेन्द्र यादव स्वयं को उनके इस राक्षसी षड्यन्त्र के खिलाफ पाते हैं, "जिसके कारण हम धो-पोंछ कर, काट-छीलकर हर किसी को एक ही सांचे में घोंट-पीस डालते हैं कि उसकी सारी अद्वितीयता समाप्त हो जाती हैं।" 'वे देवता नहीं हैं' के संस्मरणों में राजेन्द्र यादव संस्मृतों की अद्वितीयता स्थापित करते हैं, उन्हें रूढ़ सांचों से मुक्त करते हैं और उन्हें आदमी बनाते हैं। स्वभावतः उनका यह प्रयास उन्हें विवादास्पद बनाता है पर ऐसा कौन-सा सार्थक लेखक है जो सर्वस्वीकृत और सर्वमान्य हो? विवादास्पद होना किसी भी लेखक की महत्ता और सार्थकता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरोप में मूल्यों और मर्यादाओं में ऐसा बिखराव आया कि साहित्य के किसी एक मुकम्मल फार्म में उनका अटना सम्भव नहीं रह गया। फलतः गद्य में संस्मरण, यात्रा विवरण, रिपोर्ताज, डायरी. रेखाचित्र, जीवनी जैसी विधाओं का अभ्युदय हुआ। भारत में स्वतन्त्रता के बाद जीवन में ऐसा बदलाव आया है, मूल्यों का ऐसा क्षरण हुआ है, मर्यादाओं का ऐसा अवमूल्यन हुआ है कि उसके लिए एक 'गोदान' या एक 'शेखर : एक जीवनी' पर्याप्त नहीं रह गए। कथा-साहित्य के परम्परित ढाँचे में भी परिवर्तन हुआ। जिन्हें गद्य की इतर विधाएँ कहा जाता है, उनमें संस्मरण को व्यापक स्वीकृति मिली। बीसवीं शताब्दी का अन्तिम दशक तो हिन्दी में संस्मरणों का ही दशक कहा जा सकता है। इनमें भी उन संस्मरण लेखकों ने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जो चतुर्दिक व्याप्त छल, छद्म, पाखंड, दोगलेपन और कदर्थता को उद्घाटित करने का संकल्प लेकर आगे बढ़े। उर्दू में ऐसा बहुत पहिले हो चुका था, हिन्दी में कुछ देर से हो रहा है। इन संस्मरण लेखकों में जो जीवन के जितना पास था, वह उतना ही स्वीकृत हुआ। राजेन्द्र यादव, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, हरिपाल त्यागी की स्वीकार्यता और लोकप्रियता का कारण उनके छद्मभेदी प्रक्षेपास्त्र रहे हैं। ये समकालीन परिवेश और साहित्यकारों के संस्मरणकार हैं। भारतीय परम्परा की अजीब विडम्बना रही है कि जीवितों के बारे में अप्रिय सत्य का बखान मत करो और जो दिवंगत हैं उनकी बुराइयाँ मत गिनाओ। 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' भी जीवन और जीवनी-सत्य के उद्घाटन में बड़ी बाधा

रही है। जीवित व्यक्ति के बारे में सच बोलने में कोर्ट-कचहरी का डर तो बाद में आता है, पहिले तो यही डर होता है कि आपका स्थानान्तरण हो जाएगा, आपको निलम्बित कर दिया जाएगा, आपकी पुस्तक थोक में नहीं खरीदी जाएगी, आपको पदोन्नति नहीं मिलेगी, आपकी रचना हमारे पत्र में नहीं छपेगी, आपको किसी पुरस्कार या अलंकरण के योग्य नहीं समझा जाएगा। कौन झंझट में फँसे। और जो मर गया, उसके बारे में सच कहना? राम-राम—यह हमारी भारतीय परम्परा नहीं है। तो व्यक्ति के बारे में सच कब बोला जाए? इसी से हमारे यहाँ सच बोलने की परम्परा नहीं रही। दूसरी परम्परा में साहित्यकार कम ही हुए हैं—संस्मरण लेखकों में तो और भी कम। कभी कोई 'उग्र', कभी कोई 'अश्क'। इधर हिन्दी में चरबा उतार, सिंदूर खुरच, ठक्कम ठक्का संस्मरणों की बाढ़ आई है। यह हिन्दी के वयस्क होने का प्रमाण है—चीजों को उनके सही नाम से पुकारने की हिम्मत वाले साहित्यकारों का दौर।

'वे देवता नहीं हैं' के संस्मरण समय-समय पर 'हंस' में प्रकाशित होते रहे हैं। उन्हें 'हंस' के विभिन्न अंकों में समय के अन्तराल के साथ पढ़ना कुछ और बात थी, एक पुस्तक के रूप में पढ़ना कुछ और है। इनसे राजेन्द्र यादव के विचारों की अन्विति, साहित्यकार के उत्तरदायित्व के प्रति उनकी धारणा, अपने समकालीनों के साथ उनके सम्बन्ध, नई कहानी को स्थापित करने में उनकी भूमिका, हिन्दी गद्य को भाषा को जीवन के समानान्तर लाने की उनकी साहसिकता और छद्म अनावृत्त करने की उनकी लगभग जिहादी जिद उन्हें एक महत्त्वपूर्ण और खतरनाक संस्मरण लेखक के रूप में स्थापित करती है। तहलका डॉट कॉम का संक्षिप्त साहित्यिक संस्करण। वे अश्लीलता को अपना प्रिय विषय मानते हैं और कहते हैं। पर अश्लीलता के सीमित अर्थ से हटकर उनके लिए वह सब अश्लील है जो झूठा है, भोंडा है, बेहूदा है, छलपूर्ण है, पाखंड पोषित है और संवेदना विहीन है। गुजरात के भूकम्प के दिनों में दिल्ली में आयोजित साहित्य-समारोह इसीलिए उनकी दृष्टि में टुच्चा और असामयिक ही नहीं, अश्लील भी है। 'वे देवता नहीं हैं' में राजेन्द्र यादव 17-18 समकालीन साहित्यकारों के जीवन के ग्रीन रूम में झाँकते हैं। सिन्दूर खुरची हुई प्रतिमाएँ कैसी लगती हैं—उसका आभास इन संस्मरणों में है। वे मोहन राकेश के 'मेथड इन मैडनैस' का विश्लेषण करते हैं, राकेश से अपनी बोलचाल बन्द होने का विवरण देते हैं, नामवर सिंह की 'बीच की ऊँची कुर्सी की लालसा' की आवाज-ए-बुलन्द में सूचना देते हैं—''क्या फर्क पड़ता है उसके पीछे कमल है या चर्खा, हल है या हँसिया। मुर्गी चोंचित ठाकुर मनमोहन सिंह का मजाक उड़ाते हैं, धर्मवीर भारती के 'पदमद या जोड़तोड़ को' कंडम करते हैं और कमलेश्वर के गुब्बारे में पिन चुभाते हैं।'' कमलेश्वर के सम्बन्ध में राजेन्द्र जरा ज्यादा कटु हैं—शायद अपने साहित्यिक कैरियर में कमलेश्वर ने ही उनको सबसे ज्यादा सल्ल दी है—'जिन पै तकिया था, वही पत्ते हवा देने लगे' की मार्मिक पीड़ा। 'कमलेश्वर मूलतः मेगालो मैनियक हैं'—इस तथ्य के ढेर सारे उदाहरण प्रस्तुत करते हुए राजेन्द्र, कैलाशचन्द्र सक्सेना तक जा पहुँचते हैं—कमलेश्वर के एटा की 'अप्सरा'

में कलम पकड़ने के दिनों तक। राजेन्द्र यादव जिसको डिसलाइक करते हैं—करते हैं और जिन्हें लाइक करते हैं, उनके सौ तो नहीं, पर बहुत से खून माफ करने को तैयार रहते हैं। जैसे शानी के।

'वे देवता नहीं हैं' तो जैसे नई कहानी आन्दोलन की अन्तर्धाराओं का इतिहास ही है, नई कहानी के नामकरण से लेकर नई कहानी के बिखराव तक की भीतरी दास्तान। नई कहानी की इ ई ने—उसके इन्द्रों, ईशों और ईश्वरों ने—नई कहानी को अपनी रचनात्मक ऊर्जा से, अपने करतबों से और अपनी व्यवसाय प्रवन्धन क्षमता से स्थापित ही नहीं किया, उसे शास्त्रीयता की वर्दी पहना कर इतिहास के चल-परेड में जाने लायक भी बनाया। नई कहानी के विक्टरी स्टेंड पर कौन-कौन खड़ा हो और किस क्रम से खड़ा हो—यह सब जानना बड़ा रोचक और उपयोगी है। नई कहानी ने अपने समय और समाज को पहिचान कर परम्परागत कथा-साहित्य को जो करारा झटका दिया था, वह ऐतिहासिक साबित हुआ पर इस करारे झटके में क (मलेश्वर), रा (केश), और रा (जेन्द्र) द्वारा लगाए गए झटकों में कौन-सा ज्यादा भारी था और कौन-सा कम—इसके बारे में विवाद है। राजेन्द्र यादव ने नई कहानी की सभी प्रतिमाओं का सिन्दूर खरोंच कर उनको अपनी असली सूरत में पेश किया है, जो जितना चालू था, उसका सिन्दूर उतनी ही शिद्दत से खुरचा गया है। राजेन्द्र यादव इस पुण्य कार्य में अपने आपको भी नहीं बख्शते, यह अच्छी बात है। 'वे देवता नहीं हैं' में बहुत-सी पोलों के संकेत हैं जो और खुल जाएँ तो हिन्दी की एकरसता टूटेगी और हिन्दी सभा-सेमीनारों, कक्षा, शोध प्रबन्धों से बाहर निकल कर थोड़ी सांस लेती हुई लगेगी। निर्मला जैन, शरद जोशी, भैरव प्रसाद गुप्त आदि को और जानने की इच्छा पैदा करने वाले ये संस्मरण कुछ और लेखकों को इनके संस्मरण लिखने की प्रेरणा दे सकें तो अच्छा। शानी पर देखते-देखते दो-तीन वर्षो में ही पाँच-छैः बहुत पठनीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते संस्मरण आ चुके हैं। ऐसे संस्मरणों से संस्मरण लेखक की सीरत और नीयत का भी काफी कुछ पता चलता है।

नजीर अकबराबादी पर भी इस पुस्तक में एक संस्मरण है। नजीर समकालीन नहीं हैं पर उनका सेक्यूलर बोध, आम आदमी के प्रति उनकी संवेदना, बोलचाल की खड़ी बोली का प्रयोग, उन्हें हिन्दी का पहिला आधुनिक कवि बनाती है। नजीर पर लिखने का एक कारण शायद यह भी है कि नजीर अकबराबादी की तरह राजेन्द्र भी अकबराबादी ही हैं। नई कहानी आन्दोलन में जिस आम आदमी को साहित्य की धुरी माना गया, वह नजीर में पहिले से उपलब्ध थी। नजीर ताजमहल के पिछवाड़े के कवि हैं। ताजमहल बनने में इतना समय लगा कि ताजमहल के पिछवाड़े ताजगंज में एक बस्ती ही बस गई—नान बाइयों, भिश्तियों, दिहाड़ियों, चरकटों, चिड़िमारों, मल्लाहों, भिखारियों, परचूनियों और टकैलों की। नजीर इन सबके कवि हैं। हिन्दी में रोटी पर पहिली कविता नजीर ने ही लिखी। 'यहाँ और अभी' को महत्त्वपूर्ण मानने वाले राजेन्द्र यादव को किसी प्राचीन कवि से स्वयं को बावस्ता करना हो तो नजीर उनके मनपसन्द

रचनाकार होंगे। इसलिए उनके समकालीनों में एक समकालीन नजीर भी हैं।

'वे देवता नहीं हैं' एक तरह से राजेन्द्र यादव की आत्मकथा का रफ ड्राफ्ट है। "एक तरह से देखा जाए तो सारा ईमानदार लेखन औरों के बहाने अपनी ही बात कहता है"—राजेन्द्र यादव की यह बात काफी सच है। अश्क जी ने राजेन्द्र यादव को एक पत्र में लिखा था—"संस्मरण तुम कहानियों से भी बेहतर लिख सकते हो।" पता नहीं, राजेन्द्र यादव ने अश्क जी के इस अभिमत पर गौर किया या नहीं। शायद नहीं किया। हमारे यहाँ साहित्य में कविता को सर्वश्रेष्ठ विधा मानने का पूर्वग्रह रहा है, गद्य में कथा को। साहित्य के संविधान निर्माताओं की दृष्टि में संस्मरण ओ.बी. सी. में आता है। सन् 62 में कभी अश्क जी जबलपुर आए थे। उनके सम्मान में नर्मदा प्रसाद खरे ने साहित्य संघ के तत्त्वावधान में एक गोष्ठी रखी थी। अश्क जी ने अपने रचना-कर्म पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला था। मैं उस गोष्ठी की अध्यक्षता कर रहा था। मैंने कहा कि अश्क जी के अपने साहित्य के बारे में किए गए 'सेल्फ एसेसमेंट' से मैं सहमत नहीं हूँ। वे कविता को अपने साहित्य कर्म का सर्वश्रेष्ठ अंश मानते हैं जबकि मेरी दृष्टि में उनकी कविता केवल 25 वर्ष ही याद की जाएगी, उनके उपन्यास 50 वर्ष, उनकी कहानियाँ 75 वर्ष, उनके नाटक 100 वर्ष और उनके संस्मरण—उनके संस्मरण हमेशा-हमेशा याद किए जाएँगे। पर अश्क जी मेरे मूल्यांकन से सहमत नहीं हुए थे। वे संस्मरण को अपनी कविता और कथा साहित्य की तुलना में महत्त्व देने को तैयार नहीं थे। राजेन्द्र यादव भी अश्क जी के इस मूल्यांकन से कि "तुम संस्मरण कहानियों से भी बेहतर लिख सकते हो" शायद ही सहमत हों। पर शायद मैं अश्क जी के संस्मरणों के बारे में गलत नहीं था और राजेन्द्र यादव के संस्मरणों के बारे में अश्क जी। संस्मरण साहित्य पर हमें नए सिरे से विचार करना चाहिए। उसकी शक्ति और क्षमताओं के दोहन की असीम सम्भावनाएँ हैं। यदि गालिब मुझे माफ करें तो मैं उनके एक चर्चित शेर को कुछ इस तरह पेश करने की गुस्ताखी करना चाहता हूँ :

क्यों न संस्मरण को सिंस्मरण से मिला दे या रब
सैर के वास्ते थोड़ी सी फिजा और सही।

सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे

मैनेजर पांडेय

हिन्दी में आत्मकथा के लेखन की कोई विकसित परम्परा नहीं है और एक साहित्यिक विधा के रूप में आत्मकथा के स्वरूप पर विचार-विमर्श की स्थिति भी कोई बहुत अच्छी नहीं है। आत्मकथा से सम्बद्ध पत्र, डायरी और संस्मरण आदि का भी संग्रह तथा सम्पादन बहुत कम ही हुआ है। पिछले एक दशक से हिन्दी में आत्मकथा के लेखन की ओर लेखकों का ध्यान गया है और उसके महत्त्व पर भी बहस की शुरुआत हुई है।

आत्मकथा का लेखक अपने पाठकों को अपने नितान्त निजी संसार, अपने निजी जीवन और अनुभवों का सहभागी बनाने के लिए आमन्त्रित करता है, इसलिए उसके सामने यह समस्या होती है कि वह जो कुछ कह रहा है उसे पाठक सच मानेगा या नहीं और सच मानेगा तो कैसे। सन्त ऑगस्ताइन ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "वे (पाठक) जब मुझसे मेरे बारे में सुनते हैं तो यह कैसे मानेंगे या जानेंगे कि मैं सच कह रहा हूँ; क्योंकि एक मनुष्य के मन में क्या चल रहा है यह उसकी चेतना के अलावा और कौन जान सकता है!" आत्मकथा का लेखक अपने जीवन के बारे में कही हुई अपनी बातों को सच साबित करने या सच मनवाने की कोशिश करता है और उसके लिए वह कभी-कभी कुछ कौशलों का प्रयोग भी करता है। जो आत्मकथाएँ आत्मस्वीकार या कन्फेशन के रूप में लिखी गई हैं उनमें भी पाठकों के सन्देहों को दूर करने और अपनी बातों को सच के रूप में रखने के कौशल का प्रयोग दिखाई देता है। ऐसा ही प्रयोग रूसो ने अपनी प्रसिद्ध आत्मकथा के अन्त में किया है। उन्होंने अपनी आत्मकथा के अन्त में एक प्रबुद्ध श्रोतावर्ग के सामने अपनी आत्मकथा को पढ़कर सुनाने की बात लिखी है और यह भी लिखा है कि उनकी आत्मकथा सुनने के बाद श्रोताओं पर क्या प्रभाव पड़ा। रूसो को इस कौशल से भी सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने अपनी आत्मकथा के अन्त में यह भी लिखा है कि "मैंने सच लिखा है। अगर कोई व्यक्ति मैंने जो कुछ लिखा है उसके विपरीत कुछ सुनता है तो वह सब झूठ है। ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह मेरी बातों से सुनी हुई बातों की तुलना करे और वह भी तब तक जब तक मैं जिन्दा हूँ। अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह न तो न्याय का मित्र है, न सच का। मैं बिना किसी भय के यह घोषणा करता

हूँ कि अगर कोई व्यक्ति मेरे स्वभाव, चरित्र, व्यवहार और आदतों को ठीक से जाने बिना मुझे बेईमान कहता है तो वह स्वयं बेईमान है और उसकी बातों पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है।"

अच्छी आत्मकथा लिखने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक में अप्रिय सच कहने का साहस हो और उसके पाठकों में वैसे सच को सहने तथा स्वीकार करने का धैर्य भी हो। भारतीय साहित्य में आत्मकथा के अभाव का एक कारण शायद यह भी है कि यहाँ लगातार यह उपदेश दिया जाता रहा है कि सच बोलो, पर अप्रिय सच नहीं। ऐसे उपदेशों से जो मानसिकता बनती है वह अप्रिय सच कहने के साहस का नाश करती है और उसे स्वीकार करने के धैर्य का भी। इस मानसिकता ने भारतीय समाज में सच कहने पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। इसीलिए भारतीय साहित्य में आत्मकथा की परम्परा विकसित नहीं हुई है। आत्मकथा का लेखक सच कहने का दावा करता है, पर वह सच को छुपाने की कोशिश भी करता है। मार्क ट्वेन ने ठीक ही लिखा है कि "आत्मकथा सर्वाधिक सच्ची किताब होती है; यद्यपि उसमें सच को छुपाने, उससे बचने और उसको आंशिक रूप से ही सामने लाने की कोशिश होती है, फिर भी उसमें पंक्तियों के बीच में निष्ठुर सत्य छिपा रहता है। इसलिए लेखक की कोशिश के बावजूद पाठक उसके जीवन के सच को पहचान ही लेता है।" भाषा से परे सच का अस्तित्व नहीं है, लेकिन शब्द सच को छिपाने में जितनी मदद करते हैं उससे अधिक सच को खोलने का काम भी करते हैं। शमशेर जब कहते हैं कि "बात बोलेगी/ हम नहीं।" तब वे शब्द की उसी क्षमता की ओर संकेत करते हैं जो सच कहने से जुड़ी होती है।

प्रत्येक आत्मकथा लेखक के सामने सामाजिक मुखौटा और व्यक्तिगत ईमानदारी का द्वन्द्व होता है। यह बात कहने और सुनने में अच्छी लगती है कि व्यक्तिगत चेहरे को सार्वजनिक चौराहे पर लाना महत्त्वपूर्ण है, लेकिन आत्मकथा लिखते हुए ऐसा करना आसान नहीं होता। मुखौटे से अस्मिता का द्वन्द्व आत्मकथा लेखन में बार-बार प्रकट होता है और लेखक को उस द्वन्द्व का सामना भी करना पड़ता है। एक अच्छी आत्मकथा यह बताती है कि जीवन जीना कितना मुश्किल काम है। हर व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध होते हैं और उन अन्तर्विरोधों के बीच से ही उसका आत्म बनता-बिगड़ता है। जो लेखक ऐसे अन्तर्विरोधों पर पर्दा डालकर अपने स्वत्व की कथा कहने का प्रयत्न करते हैं वे खुद को धोखा देते हैं और अपने पाठकों को भी। जो लोग अपनी सामाजिक छवि की चकाचौंध के शिकार होते हैं, अपनी सामाजिक छवि के प्रभामंडल या प्रभाव को बढ़ाने तथा फैलाने के लिए आत्मकथा लिखते हैं वे झूठी आत्मा की कथा कहते हैं। लेखक की सामाजिक छवि और अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदारी की जो कशमकश होती है वह आत्मकथा में जितनी ज्यादा उभरती है, उतनी ही ज्यादा आत्मकथा की कला चमकती है।

जो व्यक्ति अकेला, निरावरण, सहज और साधारण होने के सुख और महत्त्व

को नहीं जानता, वह अच्छी आत्मकथा नहीं लिख सकता। इसका अर्थ आत्मा की स्वायत्तता के नाम पर आत्यंतिक व्यक्ति की वकालत करना नहीं है और न वैयक्तिक की बलि-वेदी पर सामाजिकता का बलिदान करना है। इसका मतलब केवल यह है कि अपनी सामाजिक छवि की चिन्ता के अतिरेक के कारण व्यक्तिगत और निजी के महत्त्व को आत्मकथा का लेखक अस्वीकार न करे तभी आत्मकथा में आत्म का नैतिक विश्लेषण सम्भव होता है और अपनी दुविधाओं की अभिव्यक्ति भी हो पाती है। 20वीं सदी का अधिकांश साहित्य विभाजित स्वत्व का साहित्य है। इसीलिए आत्मकथा आधुनिकता की प्रतिनिधि साहित्यिक विधा है; क्योंकि उसमें विभाजित व्यक्तित्व या स्वत्व के द्वन्द्व को पूरी जटिल समग्रता के साथ अभिव्यक्ति मिलती है। मुक्तिबोध के सम्पूर्ण काव्य में यह सच्चाई बार-बार सामने आती है। इसलिए उनकी कविता गहरे अर्थों में आत्मकथात्मक कविता है, जिसमें 'मैं' से 'वह' के अलगाव तथा द्वन्द्व में स्वत्व के विभाजन के सच और एकीकरण की आकांक्षा व्यक्त हुई है।

स्वत्व के विभाजन की अनुपम अभिव्यक्ति रोलां बार्थ की आत्मकथा में हुई है। उन्होंने एक किताब लिखी है, जिसका नाम है 'रोलां बार्थ के बारे में रोलां बार्थ'। उसमें रोलां बार्थ के जीवन और लेखन का तटस्थ और निर्मम आकलन है। आत्मकथात्मक होने के बावजूद वह प्रचलित अर्थ में आत्मकथा नहीं है। उसमें बार्थ के जीवन से अधिक उनके लेखन की कथा है और लेखन से लेखक के सम्बन्ध की भी कथा है। यह किताब आख्यानपरक नहीं है। उसमें परस्पर सम्बद्ध, फिर भी स्वतन्त्र टुकड़ों को अक्षरादि क्रम से संकलित किया गया है, जिनमें कुछ टुकड़े प्रथम पुरुष में लिखे गए हैं और कुछ तृतीय पुरुष में। शीर्षक भी आकस्मिक हैं। रोलां बार्थ ने स्वयं लिखा है कि यह उनके विचारों की किताब नहीं है, बल्कि अपने ही विचारों के उनके द्वारा प्रतिरोध की किताब है। वे यह भी लिखते हैं कि मैं अपने बारे में जो भी लिख रहा हूँ वह अन्तिम नहीं है। मैं जितना अधिक ईमानदार हूँ उतना ही व्याख्या के लिए तैयार भी। इस पुस्तक को पढ़ते हुए लगता है कि बार्थ अपना विश्लेषण नहीं कर रहे हैं, बल्कि अपनी विभिन्न छवियों को उलट-पुलटकर जाँचने-परखने और पाठकों के सामने रखने की कोशिश कर रहे हैं। इसी प्रक्रिया में उन्होंने अपने लेखन का आत्मसजग विश्लेषण भी किया है।

आत्मकथा पर विचार करते समय यह ध्यान देने की बात है कि आत्मकथा के लेखक ने अपने जीवन के किस मोड़ पर आत्मकथा लिखी है और क्यों। प्रायः आत्मकथाएँ वे ही लिखते हैं जिनको समाज में अपने महत्त्वपूर्ण होने का बोध या कभी-कभी भ्रम होता है; क्योंकि जो महत्त्वपूर्ण होता है उसी की जिन्दगी में दूसरों की दिलचस्पी होती है। लोग उसके जीवन के सच और झूठ को जानना भी चाहते हैं। एमएफ हुसैन ने अपनी आत्मकथा 'एमएफ हुसैन की कहानी अपनी जुबानी' तब लिखी है, जब वे चित्रकला की दुनिया में लगभग शीर्ष पर पहुँचे हुए हैं। उनकी आत्मकथा में मकबूल के हुसैन बनने की कथा तो है ही, हुसैन के मकबूल (=हरदिल

अजीज) होने की भी कथा है। महात्मा गांधी ने अपनी आत्मकथा तब लिखी थी जब वे 'महात्मा' घोषित हो चुके थे। इसीलिए उनकी आत्मकथा में सत्य के साथ प्रयोग की·जो कथा है वह गांधी के महात्मा बनने की भी कथा है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "मैं इतना ही चाहता हूँ कि मैंने जिन प्रयोगों की चर्चा की है, उनको दृष्टान्त रूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें। इस संकुचित क्षेत्र में मेरी आत्मकथा के लेखों में से बहुत कुछ मिल सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।" ज्यां पाल सार्त्र ने अपनी आत्मकथा तब लिखी जब वे केवल फ्रांस और यूरोप ही नहीं, बल्कि दुनिया के जाने-माने बुद्धिजीवी और लेखक बन चुके थे। इसीलिए उनकी आत्मकथा 'शब्द' में एक ओर अपने समय के सवालों से मुठभेड़ की कोशिश है तो दूसरी ओर अपनी चेतना की जाँच-परख की ऐसी कोशिश भी है, जिसके माध्यम से उसके बनने का ब्यौरा सामने आता है। उसमें अपने युग के बेचैन मानस का प्रतिबिम्बन है और अपने अस्तित्व की समस्याओं से जूझने के प्रयत्नों का आकलन भी। जुलियस फ्यूचिक और रामप्रसाद 'बिस्मिल' की आत्मकथाएँ जीवन की देहरी लाँघकर मृत्यु के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले व्यक्तियों की आत्मकथाएँ हैं जो जीवन का अर्थ बताती हैं और मृत्यु की सार्थकता का रहस्य भी खोलती हैं।

आत्मकथा के रूप और शिल्प पर कम ध्यान दिया गया है। आत्मकथाएँ अनेक रूपों में लिखी गई हैं। उनमें से सबसे जाना-पहचाना रूप है—जीवन के इतिहास के रूप में आत्मकथा का लेखन। राहुलजी की आत्मकथा 'मेरी जीवन-यात्रा', स्वामी सहजानन्द सरस्वती की आत्मकथा 'मेरा जीवन संघर्ष' और यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' का लेखन जीवन के इतिहास के रूप में ही है, जिसमें व्यक्ति के साथ-साथ समय और समाज का इतिहास भी सामने आता है। कुछ आत्मकथाएँ आत्मस्वीकार के रूप में लिखी गई हैं, जैसे कि सन्त ऑगस्ताइन, रूसो और गांधी की आत्मकथाएँ। प्रायः आत्मकथाएँ आत्म के बनने-बिगड़ने की आत्मकथाएँ होती हैं, उनमें स्वत्व की खोज और पहचान का आख्यान होता है। लेकिन ऐसी आत्मकथाएँ तभी महत्त्वपूर्ण होती हैं जब उनमें आत्मविश्लेषण हो और अपने नैतिक द्वन्द्वों-दुविधाओं और सन्देहों की अभिव्यक्ति भी हो। जहाँ आत्मकथा में आत्मविश्वास का अतिरेक होता है, वहाँ विवेक गायब हो जाता है। आत्मकथा को आत्मा की कथा के रूप में देखते समय यह जानना भी जरूरी है कि उसमें कैसी आत्मा की आवाज व्यक्त हुई है। क्या वह बेचैन आत्मा है या आश्वस्त आत्मा? संघर्षों में विकसित आत्मा बेचैन होती है, जबकि सुविधाओं में पली हुई आत्मा आश्वस्त होती है। बेचैन आत्मा की कथा में उसकी छटपटाहट और चीख सुनाई दे सकती है, जबकि आश्वस्त आत्मा सुविधा के लिए दुविधा की भाषा बोलती है। कुछ लोग पुराना हिसाब चुकाने या अपना पाप धोने के लिए आत्मकथाएँ लिखते हैं। कभी-कभी यह भी दिखाई देता है कि आत्मक़था का उपयोग खुद को सही साबित करने, अपनी सफाई देने और दूसरों को गलत सिद्ध करने के लिए किया जाता है। बच्चन की आत्मकथा में ऐसी कोशिशें

हैं। जो लोग आत्मकथा का उपयोग अपने बारे में मिथक गढ़ने के लिए करते हैं वे आत्मकथा के नाम पर अपना स्मारक बनाते दिखाई देते हैं।

दुनिया में वही आत्मकथाएँ महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं जिनमें अपने जीवन और समाज में फैले पाखण्ड को अनावृत्त करने या उनकी पोल खोलने की कोशिश है। इसी दृष्टि से 'उग्र' की 'अपनी खबर' विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। लेकिन ऐसी आत्मकथा लिखने के खतरे भी हैं। जब उग्र की आत्मकथा छपकर आई तो बनारस के पंडों ने उनको जान से मारने की धमकी दी थी। अभी हाल में तसलीमा नसरीन ने अपनी आत्मकथा द्विखंडित (भाग-3) और वे अंधेरे दिन (भाग-4) में साहित्यिक समाज में व्याप्त पाखंड और कदाचार का ब्यौरा दिया है तो उसके विरुद्ध बांग्लादेश और भारत में हंगामा पैदा हो गया है और तसलीमा का आत्मकथा लिखना गुनाह बन गया है।

हिन्दी में पिछले कुछ वर्षों में ऐसी आत्मकथाएँ आई हैं जो आत्मकथा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भले ही न हों, परन्तु वे आत्मकथा पर विचार करने की प्रेरणा जरूर देती हैं। ऐसी ही एक आत्मकथा है राजेन्द्र यादव की 'मुड़-मुड़ के देखता हूँ'। यह पूरी आत्मकथा वास्तव में असमंजस कथा है। इसका उपशीर्षक है 'लगभग आत्मकथ्य'। यही नहीं पुस्तक के अनेक निबन्धां के शीर्षक आत्मविश्वास के अतिरेक से भरे हुए हैं; जैसे कि 'हम न मरै मरिहैं संसारा', लेकिन प्रायः निबन्धों का अन्त कहीं प्रश्न और कहीं असमंजस में होता है। लेखक को यह प्रश्न लगातार परेशान करता है कि "क्या यह सारी जिन्दगी यों ही व्यर्थ गई?" राजेन्द्र यादव अपने-आप से बहुत सारे सवाल पूछते हैं—"स्वतन्त्रता की छूट का मेरा ऑब्सैशन सच ही कहीं 'लंपटता की छूट' का ही तो दूसरा नाम नहीं है? मुझे घर भी चाहिए और निर्बंध उत्तरदायित्वहीनता भी। यह अपनी रचनात्मक ऊर्जा और वैचारिक स्वाधीनता के लिए बार-बार किया जाने वाला नवीनीकरण है या अधूरे होने की हीनताग्रन्थि से उत्पन्न दमित-सेक्स की विकृत-अभिव्यक्ति जो बार-बार दूसरे से अपनी पूर्णता का आश्वासन चाहती है। यह मेरी निजी कुण्ठा है या प्राक्ऐतिहासिक आदिम पुरुष-वृत्ति, जहाँ वह अपने कक्षों में शत्रुओं और शिकारों के सिर सजाकर विजय के गर्व को बार-बार जीवित रखता है? या वह सामन्त जिसे हरम में अनगिनत भोग-सामग्री चाहिए?" ये प्रश्न जिस निबन्ध में हैं उसमें ऐसे और भी अनेक प्रश्न हैं। राजेन्द्र यादव उनमें से किसी का उत्तर नहीं देते। वे प्रायः ऐसे सवालों को अपने-आप से अलग रखकर समझना चाहते हैं। राजेन्द्र यादव ने पुनर्नवा नामक पत्रिका द्वारा 'आत्मकथा' पर आयोजित परिचर्चा में यह कहा है कि "मैं श्रेष्ठ आत्मकथा का एकमात्र गुण मानता हूँ उन अन्तरंग अनछुए और लगभग अकथनीय प्रसंगों का अन्वेषण जो व्यक्ति की कहानी को विश्वसनीय और आत्मीय बनाते हैं।" राजेन्द्र यादव की आत्मकथा इस कसौटी पर खरी उतरती नहीं लगती। वे प्रायः अपनी सामाजिक छवि की चिन्ता और व्यक्तिगत ईमानदारी के द्वन्द्व में फँसे दिखाई देते हैं। उसी परिसंवाद में उन्होंने यह भी कहा है कि "मैंने अभी तक अपने हरामीपने को स्वीकार करने वाली आत्मकथा शायद ही पढ़ी हो।" राजेन्द्र

यादव जी ने अपनी आत्मकथा में इस दिशा में कुछ कोशिश जरूर की है, लेकिन वे बहुत सफल हुए नहीं लगते।

राजेन्द्र यादव की आत्मकथा की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण सवाल सामने आता है कि हमारे जीवन में स्मृति का कोई महत्त्व है या नहीं। वे अतीतजीवी और स्मृतिजीवी को लगभग एक मानकर दोनों का विरोध करते दिखाई देते हैं। वे कहते हैं कि अतीतजीवी व्यक्ति स्मृतिजीवी निठल्ला होता है और राष्ट्र सांस्कृतिक राष्ट्रवादी बन जाता है। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि स्मृतियाँ कई तरह की होती हैं। कुछ स्मृतियाँ संघर्ष की होती हैं, यातना की होती हैं, दमन की होती हैं तो कुछ सफलता, सुख, ऐश्वर्य और विलासिता की भी होती हैं। दोनों तरह की स्मृतियों से छुटकारे की चिन्ता समान नहीं होती। संघर्ष यातना और दमन की स्मृतियों से भविष्य में संघर्प का संकल्प प्राप्त होता है, इसीलिए दुनिया भर के संघर्षशील समुदाय संघष की पुरानी स्मृतियों को भविष्य की शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। यह अकारण नहीं है कि आज नारी-मुक्ति के आन्दोलन से जुड़ी हुई स्त्रियाँ पंडिता रमाबाई के जीवन-संघर्ष की स्मृतियों को इतिहास के पुनर्लेखन के माध्यम से सामने ला रही हैं और आज के दलित आन्दोलन में ज्योतिराव फुले तथा डॉ. अम्बेडकर के संघर्षों की स्मृतियों को विस्तार से जानने-समझने की कोशिशें हो रही हैं। जो लोग समाज और संस्कृति पर कब्जा करते हुए पराधीनता की पुरानी व्यवस्थाओं के विरुद्ध संघर्षों की स्मृतियां को मिटा देना चाहते हैं। कभी-कभी स्मृतियाँ अतीत के अन्यायों और अत्याचारों के बारे में समाज को सजग बनाने का भी काम करती हैं। इसीलिए 1946-47 के हिन्दू-मुस्लिम दंगे के शिकार उर्दू के एक शायर कलीम आजिज ने लिखा है :

वो जो शायरी का सबब हुआ वो मुआमला भी अजब हुआ
मैं गजल सुनाऊँ हूँ इसलिए कि जमाना उसको भुला न दे।

आत्मकथा के प्रसंग में भी व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में स्मृतियों के बारे में सोचते और बात करते समय स्मृति के मोह और स्मृति के विवेक में फर्क करना जरूरी है। दूसरी बात यह है कि कभी-कभी स्मृति के नाम पर झूठ का प्रचार-प्रसार भी होता है, जैसा कि आजकल सांस्कृतिक राष्ट्रवादी करते दिखाई देते हैं। तीसरी बात यह भी है कि उपनिवेशवादी और सांस्कृतिक राष्ट्रवादी समाज को विस्मृति की दशा में रखना चाहते हैं या फिर चुनी हुई और गढ़ी हुई स्मृतियों तक सीमित रखकर अपने उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में स्मृति मात्र से बचने की कोशिश के बदले झूठी और सच्ची स्मृतियों के बीच फर्क करना जरूरी है और स्मृति के सम्मोहन से स्मृति के विवेक को अलगाना आवश्यक है।

आत्मकथा का लेखन एक स्तर पर विस्मृति के विरुद्ध स्मृति के लिए संघर्ष से जुड़ा होता है। असल में आत्मकथा में स्मृतियाँ प्रायः वैसी नहीं होतीं जैसी वे वास्तव में होती हैं। आत्मकथा का लेखक जिन्हें याद करता है, वही स्मृतियाँ आत्मकथा में आ पाती हैं। यही नहीं आत्मकथा में जीवन भी वैसा नहीं होता जैसा वह जिया जाता

है, बल्कि जिया गया जीवन जैसा याद आता है या जैसा याद किया जाता है, वही आत्मकथा में व्यक्त होता है। वाल्टर बेंजामिन ने ठीक ही लिखा है कि आत्मकथा स्मृति और विस्मृति के द्वन्द्व से पैदा होती है। उन्होंने यह भी लिखा है कि जीवन में घटनाओं का अनुभव सीमित होता है। वह देशकाल से बँधा हुआ भी होता है, जबकि याद किए जाने पर वह स्मृति के रूप में असीम बन जाता है; क्योंकि वह अतीत को वर्तमान से जोड़ता है।

यहाँ इतिहास और स्मृति का सम्बन्ध भी विचारणीय है। प्रायः इतिहास उनका होता है जो विजयी होते हैं। जो पराजित होते हैं वे और उनकी आवाज भी, यहाँ तक कि उनकी चीख भी इस तरह दबा दी जाती है कि इतिहास और भविष्य उसे भूल जाए। स्मृति की जरूरत और सार्थकता उन दबी हुई, कुचली हुई और भुला दी गई आवाजों को खोजने, पहचानने और आमने-सामने लाने में हैं। जार्ज स्टाइनर ने ठीक ही लिखा है कि अन्याय और झूठ से मुक्त स्मृति से ही सच्चा भविष्य निर्मित हो सकता है। जो लोग ऐसे भविष्य की चिन्ता करते हैं वही लोग रामप्रसाद 'बिस्मिल', जुलियस फ्यूचिक और स्वामी सहजानन्द सरस्वती जैसों की आत्मकथाएँ पढ़ते हुए संघर्ष की स्मृतियों से शक्ति प्राप्त करते हैं। प्रायः कर्मवीरों के जीवन की स्मृतियाँ शब्दवीरों के जीवन की स्मृतियों से भिन्न होती हैं। इसीलिए उनकी आत्मकथाएँ भी एक जैसी नहीं होतीं।

पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी में दलितों और स्त्रियों की जो आत्मकथाएँ आई हैं उन्होंने आत्मकथा लेखन की दृष्टि और दिशा को या कि आत्मकथा की संस्कृति को बदल दिया है। दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाओं ने इस विधा के लेखन को आत्मबद्धता से मुक्त किया है और 'मैं' की केन्द्रीयता से भी। आप कुछ गैर दलित पुरुषों की लिखी आत्मकथाओं के शीर्षकों पर ध्यान दीजिए तो उनमें 'मैं' की केन्द्रीयता स्पष्ट दिखाई देती है। गांधी की आत्मकथा का नाम है *सत्य के साथ मेरे प्रयोग*, राहुलजी की आत्मकथा है *मेरी जीवन यात्रा*, सहजानन्द सरस्वती की आत्मकथा है *मेरा जीवन संघर्ष* और राजेन्द्र यादव की आत्मकथा का नाम है *मुड़-मुड़ के देखता हूँ... (मैं)*। अब आप कुछ दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाओं के शीर्षकों को देखिए—*अपने-अपने पिंजरे* (मोहनदास नैमिशराय), *तिरस्कृत* (सूरजपाल चौहान), *जूठन* (ओमप्रकाश वाल्मीकि) और *कस्तूरी कुंडल बसै* (मैत्रेयी पुष्पा)। दलितों की आत्मकथाओं में केवल आत्म की कथा नहीं होती, बल्कि उससे अपने समुदाय के शोषण, दमन, यातना और जीवन-संघर्ष की कथा होती है। इन आत्मकथाओं के माध्यम से भारतीय समाज का जो अमानवीय रूप सामने आया है और उसकी जैसी आलोचना विकसित हुई है, वैसी पहले कहीं शायद ही मिले। दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाओं में प्रतिरोध और आक्रोश की भी अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है, इसलिए उनका आत्मकथा लेखन अपनी अस्मिता और स्वाधीनता के दावों को समाज के सामने लाने का प्रयत्न भी है। कुछ लोग इन आत्मकथाओं को कला की कसौटी पर कसकर अस्वीकार करने की कोशिश भी करते हैं; उनसे गालिब के शब्दों में यही कहा जा सकता है :

फरियाद की कोई लै नहीं है
नालः पाबंद-ए नै नहीं है।

जो लोग फरियाद को किसी विशेष लय में सुनना चाहते हैं और आर्त्तनाद को बाँसुरी के स्वर में ही वे कला-पारखी तो क्या, सच्चे इन्सान भी नहीं हैं।

मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी आत्मकथात्मक रचना 'कस्तूरी कुंडल बसै' में एक भारतीय स्त्री के रूप में स्वयं को और अपने समय के स्त्री जीवन को समझने की कोशिश की है। किताब का शीर्षक भारतीय स्त्री में उपजे आत्मविश्वास और आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। यह एक प्रकार से भारतीय स्त्री के जागरण की कथा है और जड़ संस्कारों से मुक्ति के लिए संघर्ष की कथा भी। इस जागरण और मुक्ति की ओर स्पष्ट संकेत कस्तूरी कुंडल बसै के आखिरी वाक्यों में है, "आकाश का अनन्त विस्तार बच्ची ने आँखें खोलकर देखा तो मैत्रेयी नरम धूप की लहरों में चक्राकार नाचने लगी। सारी दुनिया उसके आस-पास घूमती है। घर का कारागार टूट रहा है।"

बेबी कांबले मराठी की लेखिका हैं और दलित भी। उनकी आत्मकथात्मक रचना है—'जीवन हमारा'। उसमें महाराष्ट्र की दलित स्त्रियों की जिन्दगी की असह्य यातनाओं का सच हर पन्ने पर उभरकर पाठकों के सामने आता है। 'जीवन हमारा' में महाराष्ट्र के एक गाँव की महार जाति की स्त्रियों की गुलामी और यातना की तस्वीरें हैं और अनुभूतियाँ भी। इसमें गुलामी का वह पेचीदा मन्त्र सामने आता है जिसका शिकार दलित स्त्री समाज में होती है और अपने घर में भी। महात्मा ज्योतिराव फुले ने 'गुलामगीरी' में लिखा है कि "जो सहता है वही जानता है" और वही ऐसा सच अपनी आत्मकथात्मक रचना में लिख सकता है। जब कोई दलित अपने समुदाय के जीवन के बारे में संवेदनशीलता और समझदारी से लिखता है तो उसकी दृष्टि में जैसी आग, उसके चित्रों में जैसी आभा और उसकी भाषा में जैसी ऊर्जा होती है वैसी ही 'जीवन हमारा' में है। इसमें दलित स्त्रियों का जीवन-संघर्ष ही नहीं है उनके मुक्ति-संघर्ष की प्रेरणा और प्रारम्भ की कथा भी है।

दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाओं से इस विधा के लेखन को व्यक्तिवाद से मुक्ति मिली है और रचनाशीलता के स्तर पर सामाजिकता का विस्तार हुआ है। यहाँ रचना के स्तर पर आत्म की स्वायत्तता से अधिक उसकी प्रतिनिधिकता की चिन्ता है, इसीलिए दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाएँ अपने समुदायों की कथाएँ भी हैं। यहाँ पाठ रचने की प्रक्रिया में ही आत्मान्वेषण की प्रक्रिया भी चलती दिखाई देती है। आत्मकथा उपन्यास की तरह अपने समय और समाज से स्वतन्त्र नहीं होती, इसीलिए आत्मकथालेखन इतिहास-बोध के निर्माण और विकास की दिशा में एक प्रयत्न की तरह हमारे सामने आता है।

शताब्दी के महाखलनायक का चश्मा

असगर वजाहत

शताब्दी का महाखलनायक आँखों पर काला चश्मा लगाए और मुँह में पाइप डाले डॉन वाली मुद्रा में अपनी छः पाया कुर्सी पर बैठा रहता है। महाखलनायक अगर चश्मा उतार कर किसी लड़की को देखभर लेता है तो गर्भ ठहर जाता है। पाइप का एक कश लेता है तो किसी कहानीकार की हत्या हो जाती है। पाइप में तम्बाकू भरने लगता है तो लखटकिया पुरस्कार इधर से उधर खिसकने लगते हैं। महाखलनायक जब उठता है धरती काँपने लगती है। जब कलम उठा लेता हे तो सैकड़ों कलमें टूट जाती हैं। महाखलनायक में कौन-सी बुराई है जो नहीं है। अपराध, हिंसा, बलात्कार, नशीली दवाओं का व्यापार, राजनैतिक हत्याएँ, अपहरण, अन्तर्राष्ट्रीय माफिया के साज-बाज, भू-माफियाओं से सांठ-गांठ वह सब करता है। शताब्दी के महाखलनायक को जितना लोग जानते हैं उससे ज्यादा उसे नहीं जानते। महाखलनायक पर सबसे बड़े आरोप सिद्ध हो चुके हें और वह उससे बड़े आरोप लगाए जाने की माँग करता है। उसे मजा आता है महाखलनायक बनने में। कहा जाता है वह झूठा, मक्कार, चार सौ बीस, वेईमान, पापी, दुराचारी और पड्यन्त्रकारी है तो खलनायक खुश होता है क्योंकि इन सभी आरोपों के पीछे जो 'सक्रियता' छिपी है वह खलनायक में एक अजीब तरह का उत्साह पैदा कर देती है। वह कल्पना की उड़ानें भरने लगता है और अदृश्य धागों के माध्यम से क्षितिज तक की सैर कर आता है। वह खलनायकत्व के कवच में अपने को सुरक्षित महसूस करता है।

खलनायक यह कोशिशें लगातार करता रहता है कि वह खलनायक ही बना रहे और उसका यह कवच पूरी तरह उसे बचाता रहे लेकिन इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि खलनायक का कवच अक्सर टूट जाता है और उसका गंजा सिर सामने आ जाता है और गंजे सिर को देखकर किसके हाथ हैं जो नहीं मचलते।

गिरोहबन्दी के आरोपों में भी खलनायक को मजा आता है। गिरोह का मतलब भी सुरक्षा है, कवच है। स्वार्थी होना भी कवच ही है। खलनायक को चालाक बनने का भी शौक है। वह चालाकी करता हे, अपने कवच के रूप में उसका प्रयोग करता है। कहीं-कहीं कवच उसे बचा लेता है और कहीं-कहीं कवच टूट जाता है और वह पिट जाता है। दरअसल खलनायक कमजोर है। कमजोरी उसकी बीमारी है और वह

बीमारी से भागता रहता है। उसे मालूम है कि बीमारी क्या होती है और आदमी को कितना दयनीय बना देती है। खलनायक दयनीय नहीं बनना चाहता। शराफत में छिपी दयनीयता भी खलनायक को पसन्द नहीं है। वह कमीना होना चाहता है ताकि दयनीय न बन सके। दरअसल महाखलनायक की त्रासदी यही है कि वह लगातार अपने को महाखलनायक बनाए रखना चाहता है और अक्सर उसका गंजा सिर सामने आ जाता है।

महाखलनायक के और मेरे सम्बन्ध विशेष हैं। महाखलनायक को यह विश्वास है कि मैंने अब तक कम से कम सौ लड़कियों से प्रेम किया है। खलनायक यह बात मुझसे स्वीकार कराना चाहता है, मैं कर लेता हूँ। खलनायक के चेहरे पर आभा आ जाती है। खलनायक जिनको पसन्द करता है उनको भी खलनायक के रूप में देखना चाहता है। खलनायक मुझे झूठा, मक्कार, बदमाश और न जाने क्या-क्या कहता है। मैं पता नहीं हूँ या नहीं पर मैं मान लेता हूँ। इससे खलनायक का आत्मविश्वास बढ़ता है।

खलनायक से पहली मुलाकात। गर्मियों के दिन थे। कमरे में कुछ अँधेरा था। पंखा चल रहा था। खलनायक काला चश्मा लगाए बैठा था। मेरा परिचय हुआ या कराया गया। खलनायक ने पहला वाक्य बोला और सारी दीवारें तोड़ दीं। खलनायक नंगा रहता है, नंगा करता है और नंगई को बहुत बड़ी उपलब्धि समझता है। वह दूरी बनाकर नहीं रह सकता। जो भी उसके पास आते हैं उन्हें वह अपनी नंगई से नंगा कर अपनी बिरादरी में शामिल कर लेता है। कभी-कभी हैरत होती है कि खलनायक सत्तर-पचहत्तर पार कर लेने के बावजूद नंगई के मोह में कैसे जकड़ा हुआ है। वह कहता है मैं तो नंगा हूँ, शर्म आ रही है तो अपनी आँखें बन्द कर लो। मैं अपनी आँखें क्यों बन्द करूँ; क्योंकि मेरे पास भी और क्या है?

महाखलनायक के साथ के दूसरे महाखलनायक देवता बन गए हैं। सम्भल कर, मुस्कुरा कर, सन्तुलित ढंग से, तहजीब के जामे में और संस्कृति के चोले में रहते हैं। एक ऐसी दूरी बनाए रखते हैं जो उनके वरिष्ठ होने को रेखांकित करती है। खलनायक यह नहीं करता। महाखलनायक जब साठ-पैंसठ साल का था तो कुछ लोगों ने उसका सम्मान किया। कुछ अजीब-सी हालत थी उसकी। एक तरफ सम्मान हो रहा था दूसरी तरफ महाखलनायक अपने आपको और सम्मान करने वालों को गालियाँ दे रहा था। वह खुश भी हो रहा था और दुःखी भी। कहते हैं हाँ और नहीं के बीच में भी कुछ है; वह है 'हन' तो खलनायक 'हनहनाता' रहता है।

लोग आत्मालोचना करते हैं। महाखलनायक आत्मालोचना कभी नहीं करता। वह आत्मालोचना को शरीफ लोगों का गुण मानता है। इसलिए उसे दूसरे से अपनी आलोचना ही नहीं गाली-गलौज सुनने तक में मजा आता है। महाखलनायक किसी पुलिस आफीसर का लाड़ला पुत्र है जो सिपाहियों की गोदी में पला है। तो जाहिर है गालियों से उसका जन्म-जन्म का रिश्ता है। हिन्दी साहित्य में नहीं हिन्दी समाज में ऐसे महाखलनायक कहाँ हैं जो अपने को दी गई गालियों से परहेज नहीं करते।

यह तो उन्हें छाप देता है और मजे लेता है क्योंकि उससे खलनायक सिद्ध होता है। इसी में उसकी मुक्ति है।

लड़कियाँ और औरतें—मतलब खूबसूरत औरतें महाखलनायक की कमजोरी हैं। और किसी की नहीं है। लड़कियों और औरतों की संगति के कारण महाखलनायक बदनाम है। उसके मित्र यानी हम लोग महाखलनायक की बदनामी में और चार चाँद लगाते रहते हैं। चार-पाँच दोस्तों ने तय कर लिया है कि रात देर से जब शराब के नशे में धुत्त घर पहुँचेंगे और पत्नी पूछेगी कि कहाँ से आ रहे हो तो हमेशा यही बताएँगे कि महाखलनायक के पास से आ रहे हैं। हमारी कई साल की मेहनत फल लाई है और अब महाखलनायक हमारी सोसाइटी के गेट पर ही गाड़ी रुकवा कर हमें बुलाता। घर के अन्दर नहीं आता। महाखलनायक की उम्र जैसे-जैसे छलाँगें मार रही है वैसे-वैसे वे हम युवा लोगों को जलाने के लिए कन्याओं को पालने-पोसने लगा है। कुछ महीनों-सालों तक तो कन्या विशेष महाखलनायक के साथ दिखाई पड़ती है फिर गायब हो जाती है। महाखलनायक इसका कारण नहीं बताता। एक बार जब उसका महाखलनायकत्व अपने चरम पर था तब उसने कारण बताया—'जिसे पर दिए हैं उसे उड़ने का अधिकार भी तो देना चाहिए।'

महाखलनायक के नौ रत्न हैं। हर रत्न में महाखलनायक ने एक-एक ऐसा गुण देखा है जो उन्हें अपना रत्न बनाया है। नवरत्न महाखलनायक की छवि को निखारते रहते हैं। एक रत्न ठगी में माहिर है। एक रत्न साहित्यिक चोरी और सीनाजोरी की कला का विशेषज्ञ है। तीसरा रत्न व्यभिचारी है, चौथा रिश्तों में सेंध लगाने का आर्ट ही नहीं जानता है, तीरन्दाज भी है,. पाँचवाँ पुरस्कारों की राजनीति का माहिर है, छठा राजनेताओं की चमचागीरी में निपुण है और सातवां उद्योगपतियों को फँसाने की कला जानता है, आठवाँ घूसखोरी के सभी गुर जानता है। नवाँ लड़की सप्लायर है। महाखलनायक रोज रात इन नवरत्नों को बुलाता है। वे अपनी-अपनी उपलब्धियाँ बयान करते हैं और महाखलनायक के साथ आगे की योजनाएँ बनाते हैं। महाखलनायक के नवरत्न अकबर बादशाह के नवरत्नों की तरह कभी-कभी महाखलनायक को लाजवाब कर देते हैं यही नहीं दो-चार नवरत्न तो महाखलनायक को चूना भी लगा चुके हैं। पर महाखलनायक यह बात नहीं मानता क्योंकि इसमें उसकी हेठी है। उसका खलनायकत्व कम होता है।

महाखलनायक को जड़ता से एक और चीज तोड़ती है वह है गिरोहबन्दी। महाखलनायक जानता है कि गिरोह बनाए बिना भगवान तक नहीं मिलता—यही वजह है कि वह गिरोह बनाकर छापे मारता है। उसके गिरोह बना लेने से दूसरे गिरोहबन्द लोग परेशान हो गए हैं। गिरोहयुद्ध चलता रहता है। महाखलनायक की सवारी 'हंस' है जिस पर बैठकर वह युद्ध के क्षेत्र में जाता है और शत्रुओं का नाश करता रहता है। लेकिन 'हंस' की सवारी कठिन काम है। प्रेमचन्द नहीं कर पाए थे। हंसराज कॉलिज वाले नहीं कर पाए थे। क्योंकि 'हंस' के पर चिकने होते हैं और लोग उस पर से फिसल जाते हैं। पर महाखलनायक अपनी बुद्धि और प्रतिभा से अपने शत्रुओं

को 'हंस' पर बैठा लेता है और फिर उन्हें हल्की-सी कोहनी मारता है और वे सरसराते नीचे चले जाते हैं। खलनायक 'हंस' पर से नहीं फिसलता क्योंकि उसने अपना शरीर और मन सूखा बना रखा है। महाखलनायक में पानी नहीं है।

महाखलनायक को विवाद खड़े करने में भी महारत हासिल है। वह विवादों के घेरे पर 'हंस' पर सवार तलवारें चलाता रहता है। कभी तलवार दूसरों को लग जाती है और कभी उसे खुद लग जाती है। महाखलनायक विवादों का जो जाल बनाता है वह उसे कभी-कभी भारी भी पड़ जाता है यही कारण है कभी 'हंस' पर उसके साथ सुरक्षाकर्मियों को भी सवार होना पड़ता है। कभी 'हंस' की उड़ान में रुकावटें आ जाती हैं तो कभी-कभी 'हँस' को 'इमरजेन्सी लैण्डिंग' करना पड़ती। 'हंस' आमतौर पर ऊँचे घरों की छतों पर लैण्डिंग करता है। महाखलनायक ने 'हंस' को समझा दिया है कि दलितों-शोषितों के लिए सब कुछ कर गुजरो...लेकिन उनके घरों में मोती नहीं होते ...'लैण्ड' करना है तो...

रात में जब नवरत्न चले जाते हैं। फ्लैट के अकेलेपन में महाखलनायक अपनी कई भूमिकाओं की गिरफ्त में आ जाता है। वह आइने के सामने खड़ा हो जाता है। अकेली और उदास हवा उसे थपकियाँ देती है। सन्नाटा जाले बुनता है। खामोशी बोलने लगती है। दूर से आती-जाती पदचापें सुनाई देती हैं। शताब्दी का महाखलनायक अपने फैसलों पर गौर करता है। कभी उसका सिर तन जाता है, कभी झुक जाता है। कभी उसके चेहरे पर इत्मीनान की लहर दौड़ती है तो कभी वह पश्चाताप के धुँधलके में डूब जाता है। महाखलनायक देर तक आइने के सामने खड़ा रहने के बाद बिस्तर पर गिर पड़ता है। बीते हुए दिन का बोझ और आने वाले समय के अंदेशे उसे बेचैन कर देते हैं। वह अनिश्चय के अथाह सागर में डूबता चला जाता है।

महाखलनायक की लाइफ लाइन है टेलीफोन। सुबह या तो वह फोन करता है या उसके पास फोन आता है। फोन सुनकर उसे लगता है कि वह जीवित है। जीने और जिन्दा रहने के लिए बेचैन महाखलनायक दिन में की जाने वाली हत्याओं, अपहरणों, बलात्कारों और चोरी-डकैतियों की गोटें फिट करने लगता है और सूरज निकल आने के बाद शताब्दी का महाखलनायक काला चश्मा लगाकर फिर सो जाता है।

सबसे बड़ा अपराधी

प्रभा खेतान

राजेन्द्र यादव एक नाम! इस नाम के साथ जोड़ा गया है एक शब्द—खलनायक! स्वाभाविक है इस नाम में नायक होने की सम्भावना है। और यह नाम पूरी जद्दोजहद के साथ नायक होने की जरूर चेष्टा करता रहा होगा या फिर इस पूरी सम्भावना को कुचलते हुए राजेन्द्र यादव नाम पर खलनायक का बिल्ला चिपका दिया गया है। अतः राजेन्द्र यादव पर लिखते हुए एक द्वन्द्व से गुजरना है। बाइनरी चिन्तन पद्धति मुझे नायक या खलनायक में से किसी एक का चुनाव करने पर बाध्य करती है—लेकिन मुझे तो अपनी सोच की इस पद्धति से उबरना है। राजेन्द्र यादव को केवल नायक के रूप में स्वीकारने का धोखा मैं खा चुकी हूँ। लेकिन यह नाम पूरी तरह एक खलनायक होने लायक भी तो नहीं। आखिर इतने बड़े साहित्यकार हैं, दलितों और स्त्रियों के घोर समर्थक, भला ऐसे मानव हितैषी व्यक्ति को खलनायक समझने की जुर्रत कैसे की जाए, लेकिन कहीं कुछ तो इस आदमी ने गलत जरूर किया है, अन्यथा साहित्य जगत में उन पर इतनी रसभरी चर्चाएँ न हुई होतीं। अतः उन पर कुछ लिखने का अर्थ हुआ एक दोहरा कार्यभार एवं दोहरी जिम्मेवारी ताकि नायक में खलनायक को खोजा जा सके और खलनायक में नायक को।

हाँ तो बात शुरू की जाए। अपनी स्मृतियों में पीछे लौटती हूँ तो इस व्यक्ति से जुड़ी बहुत-सी यादें ताजा हो जाती हैं। पूरी तरह से नहीं, कुछ-कुछ बिखरी हुई। कुछ यादें मरी हुईं, कुछ आधी जिन्दा, कुछ एकदम तरोताजा। राजेन्द्र यादव इस नाम से पहले-पहल मेरा परिचय तब हुआ जब इन्होंने एक नायक के रूप में मन्नू भंडारी का हाथ थामा। मन्नू भंडारी का मेरे जीवन में एक विशेष स्थान है, आज तक उस स्थान पर कोई और दखल नहीं कर सका। कल्पना कीजिए एक बेसहारा मासूम लड़की की, जिसको अपने घर में कोई मार्गदर्शन नहीं मिलता पर जो पढ़ना चाहती है, अपने जीवन को समझना चाहती है, ठीक वैसे ही जैसे और सभी बच्चे चाहते हैं। आखिर चौथी क्लास से इस लड़की को मन्नूजी ने ही तो माँ की तरह उंगलियाँ पकड़ चलना सिखाया, बोलना सिखाया, हिन्दी साहित्य से परिचित कराया। इन्हीं यादों में एक याद और जुड़ती है जब मन्नूजी ने ऐलान किया कि वे राजेन्द्र यादव से शादी कर रही हैं। चूँकि मन्नू बाइसा ने इन्हें जीवनसाथी के रूप में स्वीकारा था। अतः मेरी नजर

में तो ये महानायक थे। शादी के बाद जब मन्नूजी ने रोते-रोते इनके कारनामे सुनाएँ, तब उस दिन इस नायक के बारे में मेरा पहला सपना टूटा था। मुझे लगा यदि राजेन्द्र यादव के जीवन में कोई और थी या है तो उन्होंने फिर मन्नूजी का हाथ क्यों थामा। जान-बूझकर उन्होंने किसी को धोखा क्यों दिया? ऐसे दगाबाज आदमी पर बेहद गुस्सा आया था। अपनी इस माँ-शिक्षिका को मैंने पहली बार रोते हुए देखा था। गलत पुरुष के हाथों में पड़कर औरत कितनी वलन्रेबल होती है, यह भी उसी दिन समझा था। खैर, उस दिन जब मैं उनके घर से निकली तो राजेन्द्र यादव साथ हो लिए। सीआईटी रोड से गरियाहाट तक बस में साथ बैठे-बैठे वे मुझे समझाते रहे, अपने पक्ष में दलीलें देते रहे पर उन दलीलों का मेरे ऊपर कोई असर नहीं हुआ था। चोट मन्नूजी को लगी थी मगर दिल मेरा भी दुख रहा था। यादवजी से मैं कुछ बोल ही नहीं पाई। राजेन्द्र यादव अपने घर लौट गए। पर उसके बाद दस साल तक यादवजी जब भी मुझसे मिलते तो उनका कहना रहता कि, प्रभा मुझसे नाराज है। और मैं सच में उनसे नाराज थी, उनकी इस गैर-जिम्मेदार हरकत से। समय और उम्र ने मुझे भी बदला, दुनिया देखते हुए मैंने यादवजी जैसे अन्य पुरुषों को भी देखा। यह भी समझा कि यौन नैतिकता के मापदंड प्रत्येक समाज में अलग-अलग हुआ करते हैं। फिर विवाह संस्था तो यों भी एक ओवररेटेड संस्था है, सामाजिक स्तर पर यह संस्था स्त्री-पुरुष से चाहे जितने बड़े-बड़े वादे करे या करवाए, मगर झूठ, फरेब, धोखा तो इस संस्था की आन्तरिक स्थिति है। ज्यां पॉल सार्त्र पर शोध करते हुए मैंने पाया कि सार्त्र ने विवाह संस्था को एक बुर्जुआ अभिव्यक्ति के रूप में देखा है। स्त्री-पुरुष के प्रेम को उन्होंने स्थायी एवं अस्थायी प्रेम के रूप में वर्गीकृत किया, यानी एक ही व्यक्ति एक साथ दो स्त्रियों से प्रेम सम्बन्ध रख सकता है एक स्थायी प्रेम सम्बन्ध जैसा कि सार्त्र ने सीमोन द बोउवार के साथ रखा था। दूसरा अस्थायी प्रेम सम्बन्ध। ऐसे अस्थायी प्रेम सम्बन्धों का एक लम्बा सिलसिला सार्त्र के जीवन में चलता रहा था। लेकिन राजेन्द्र यादव सार्त्र नहीं हैं और न वे फ्रांस में रहते हैं। वे तो एक खालिस मध्यमवर्गीय बुर्जुआ परिवार के बाई-प्रोडक्ट हैं। अपने तमाम मध्यमवर्गीय मूल्यों के साथ। उन्हें बाई-प्रोडक्ट इसलिए कह रही हूँ क्योंकि जब पहले-पहल धरती पर उनके पैर पड़े, उन्होंने अपनी माँ का आँचल थामा और आशा भरी नजरों से पिता की ओर देखा, तो विरासत में उन्हें मध्यमवर्गीय संस्कार थमा दिए गए। लेकिन खेलते-खेलते यही बच्चा एक दिन अपनी एक टाँग की हड्डी तुड़वा बैठता है। महीनों बिस्तर पर रहता है और अन्त में डॉक्टर पिता की निगरानी में मथुरा के नामी सिविल सर्जन उनकी टाँग का ऑपरेशन करते हैं और घुटने से नीचे की एक हड्डी निकालने पर विवश होते हैं। बालक राजेन्द्र यादव समझ जाते हैं कि उनकी टाँग हमेशा के लिए कमजोर हो गई, कि उसका स्वर्ग उसके लिए हमेशा के लिए खो गया है। उस दिन उनके भीतर बहुत कुछ टूटा होगा। हालाँकि उस टूटन पर राजेन्द्र यादव ने खुद कभी कुछ कहा ही नहीं। हाँ, हँसते हुए एक दिन

उन्होंने इतना जरूरी कहा था, मेरी टाँग की एक हड्डी न जाने किस हव्वा की पसलियों में लगी हुई है। तभी से उसे खोज रहा हूँ।

खैर उनके नैराश्य पर ऊँगली रख कुछ कहना मेरे लिए सम्भव नहीं। पर उन्हें जो झटका लगा था वह झटका उनका मूड, उनके जीवन की सारी सम्भावनाओं को कहीं स्थितिग्रस्त तो करता ही है। उनका जीवन दो फाँकों में कट जाता है। इस एक घटना के पहले के राजेन्द्र यादव और घटना के बाद के राजेन्द्र यादव में गहरा अन्तर होने की पूरी सम्भावना है और ऐसा होना गलत भी नहीं। उस एक क्षण में जब उनके पैर की हड्डी निकाली गई होगी तब एक साधारण आदमी की सारी सम्भावनाएँ हमेशा के लिए खतम हो गईं। अब वे अन्य और बालकों की तरह दौड़ नहीं सकते थे, लोगों की दृष्टि में यह बालक अपंग और लंगड़ा था। और तब बड़े होते हुए इस बालक को यह भी लगा कि व्यवस्था और परम्परा के कानूनों को मानने से क्या लाभ? व्यवस्था तो उन्हें अपनाने से रही क्योंकि व्यवस्था को तो दौड़ने वाला युवक चाहिए और यह बालक तो एक टाँग पर खड़ा बैशाखियों को टटोल रहा था। एक बार तो उनके सारे सपने मर गए, सारी सम्भावनाएँ खतम हो गई होंगी। और मुझे लगता है राजेन्द्र यादव आज भी अपने भीतर उस एक क्षण के निषेध को लिए चल रहे हैं। एक मासूम बच्चा उनके भीतर मर जाता है और एक अराजक, गैर-जिम्मेवार व्यक्ति, किसी भी कायदे-कानून को न माननेवाला राजेन्द्र यादव बड़ा होने लगता है। पर इस राजेन्द्र यादव का बचपन हमेशा उनका पीछा करता है। और वे तमाम आरोपित सीमाओं का अतिक्रमण करना चाहते हैं। एक अंग जब कमजोर हो जाता है, डाई-फंकर्शनाल हो जाए, तब उस आदमी के पूरे अस्तित्व के दो टुकड़े हो जाते हैं। बचा हुआ टुकड़ा अपने मानवीय आकार और चेहरे के साथ हमेशा दूसरों से एक आश्वासन चाहता है। सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से वह पूछना चाहता है—मैं ठीक तो लग रहा हूँ? मैं चल तो पा रहा हूँ। कहना चाहता है—देखो मैं तुम दो पैरों वालों से ज्यादा मस्ती में जिन्दगी जीता हूँ, मैं अपनी शर्तों पर जिन्दा रहता हूँ। रूपान्तरण की जो पहली संक्रान्ति घटी थी, उसके कारण एक शरीफ बच्चा अचानक बड़ा होते-होते चोर या डकैत तो नहीं हुआ मगर व्यवस्था को चुनौती देने वाली एक अराजक मानसिकता का परिचय जरूर देने लगा। अपने इस रूपान्तरण से, इस नए चेहरे से वे प्यार भी करते हैं और नफरत भी। वे हर क्षण आतंक में जीते हैं कि कहीं कुछ फिर न घट जाए। इसलिए ऊपर से हँसोड़, जिन्दा-दिल, बेफिक्र इंसान भीतर बेहद डरा हुआ रहता है। जिस स्वरूप को लेकर वे जन्मे थे उनका वह रूप ही विरूपित हो गया। अपने अतीत पर मुस्कुराते हैं, उस पर लिखते हैं। अतीत जो विडम्बनापूर्ण है और उन्हें आतंकित करता है। इस व्यक्ति में अपनी माँ के प्रति भयंकर आक्रोश भी रहा होगा। जबकि राजेन्द्र यादव का कहना है कि उन्हें माँ नहीं बल्कि पिता से निराशा हुई थी। पितृसत्ता के प्रति इस निराशा में माँ के प्रति भी निराशा अन्तर्निहित रहती है, मैं कमजोर हूँ पिता के कारण, मेरी माँ भी कमजोर है पिता

के कारण, मैं तो चूँकि बच्चा हूँ, नादान हूँ अतः तमाम दोषों से बरी हूँ लेकिन माँ तो वयस्क है, उसे क्यों पिता से डर लगता है, पिता उसकी क्यों उपेक्षा करते हैं? पिता पर किया गया क्रोध अन्ततः माँ पर प्रक्षेपित होता है, क्योंकि जन्म देनेवाली माँ है, पिता नहीं। पिता पर किया गया क्रोध एक सीखा हुआ व्यवहार है जबकि माँ से की गई अपेक्षाएँ जन्म से हैं। जो माँ उन्हें बचा नहीं सकी, पिता से डरती रही भला ऐसी माँ की किसे जरूरत है? शायद इसीलिए स्त्री से वे बेहद प्यार भी करते हैं और नफरत भी। स्त्री की तरफदारी भी और वस्तुरूप में उसका उपभोग भी। माँ के बाद, एक पुरुष अपनी माँ के स्थान पर पत्नी को रखता है, लेकिन उसे पीड़ा भी देता है। (कुछ लोग ऐसा करते हैं मगर सब नहीं।) और मन्नूजी को जितनी पीड़ा राजेन्द्र यादव ने दी है, उसका पता समय-समय पर प्रकाशित मन्नू बाइसा की आत्मस्वीकृतियों में झलकता है।

खैर यह बात मेरे लेखन के दायरे और चर्चा से बाहर की बात है। पर यह जानती हूँ कि राजेन्द्र यादव ने बचपन से दुनिया में अकेले होने का, परित्यक्त होने का, पंगु होने का दर्द झेला है और इस प्रारम्भिक घटना ने उनके मानस के भीतरी जलवायु को उसकी ताप और उष्णता को हमेशा के लिए एक अलग तरह से निर्मित किया है। ज्यां जैने अपनी डायरी में लिखते हैं—"भीड़ में कहीं अचानक मैं नंगा न हो जाऊँ और लोग मेरी नग्नता को देख न लें, इसके लिए मैं सजग भी हूँ। मेरे हाथ पेड़ की टहनियाँ और हथेलियाँ पत्तों में न बदल जाएँ, यदि ऐसा घटता है तो इस बदलाव के साथ मैं जीने को मजबूर भी हूँ। पत्ते जैसी हथेलियों से मुझे जूते का फीता बाँधना पड़ेगा, सिगरेट पकड़नी पड़ेगी, दरवाजा खोलना पड़ेगा। सम्भव है कि औचक दोस्ती के भाव से कोई मेंढ़क मुझसे कहेगा कि मेरी पीठ थपथपाओ। कोई लाश कहेगी कि मुझसे लिपट जाओ, सम्भव है इससे मुझे चरम आनन्द का बोध हो।" मृत्यु आदमी का रूपान्तरण है। लेकिन जीते-जी जब मौत घटती है तब मौत के एहसास से अधिक शर्म का एहसास आदमी को परेशान करता है। पुरुष होने तक राजेन्द्र यादव ने बहुत कुछ झेला होगा। उन्होंने नौकरी नहीं की या उन्हें नौकरी मिली नहीं होगी, यदि मिलती भी तो वे टिकते नहीं क्योंकि समाज के स्थापित प्रतिमानों के अनुसार तो वे बड़े नहीं हो रहे थे। केवल साहित्य ही ऐसा जगत है जहाँ वे खुद को खोज पाते हैं। साहित्य ऐसा क्षेत्र है, जहाँ हाथों में पहने दस्ताने को आप उलट कर देखने में समर्थ होते हैं। आप लोगों को समझा सकते हैं कि दस्ताने का भीतरी पक्ष चिकना है या खुरदरा। यदि हमें राजेन्द्र यादव को समझना है तो इस समझ के लिए उन्हें पुनः निर्मित करना होगा। हमें उन सारे मिथकीय बुनावट को टटोलना होगा, जिनकी सहायता से वे अपनी दुनिया को प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसमें वे जीते हैं।

रूपान्तरण का फल है कि इन्होंने परिवार की जिम्मेवारी नहीं उठाई, कुछ संचय नहीं करना चाहा, कोई स्थायी नौकरी नहीं अपनाई, कोई स्थायी भरोसेमन्द दोस्त नहीं बनाया क्योंकि यह बालक एक बड़े क्रूर अफवाह का शिकार हुआ। इसके सन्दर्भ में इसके बड़े बेहद मासूम साबित हुए बचपन की नादानी और अर्जित मिथक वास्तव

में एक दोगलाकृत विधेयक और काम आने लायक खोये हुए स्वर्ग का मिथक है। लेकिन कुछ ऐसे अर्जित मूल्य भी होते हैं जो सम्हलाए गए इस मिथक को तार-तार करते रहते हैं। राजेन्द्र यादव के नए मूल्यों ने उनके हर पुराने मिथक को तोड़ा है। उन्हें जो कुछ भी आस्था और विश्वास के रूप में विरासत में दिया गया उसे उन्होंने कभी सम्भाल कर रखना नहीं चाहा। इसकी जरूरत ही नहीं समझी। जब जन्म से ही मिले हुए दो पैरों को आप संभाल कर साबुत नहीं रख पाए तो बाकी किसी अन्य उपलब्धि की चिन्ता ही क्यों की जाए?

विरासत की इन्होंने चिन्ता की भी नहीं। अतः ये किसे परिभाषित करें, किस कुंठा का जिक्र करें। अपनी कुंठा को वे समझ भी नहीं पाते। अजानी, अनुभवित, परिधिकृत उनकी पीड़ा और त्रासदी का कोई स्पष्ट चेहरा नहीं। अपनी कमजोरी को इसीलिए इन्होंने इसे अपने बेपरवाह मूड का हिस्सा बना लिया है। यादवजी अपनी आत्मकथा में इस हिस्से को पहचानना नहीं चाहते जबकि उनका यही हिस्सा, उनके रोजमर्रा के यथार्थ के विरोधाभास को उभारता है, उनके सत्य को नकारता है। वे एक सिथेंटिक उत्पादन हैं, एक फेक, नकल बच्चा, एक ऐसे व्यक्ति जो अपनी निर्मिति को, अपने स्वरूप को खुद बुनता है। किसी और को अपने चेहरे पर वे हाथ भी नहीं लगाने देते। अपने इस रूप को वे वाक्-वितंडा में खोजते हैं। पर जो कुछ भी साधारण है उसका उनके जीवन में कोई स्थान नहीं। किशोरावस्था में साधारण नवयुवक की तरह वे खेल नहीं पाए, साधारण जीवन, प्रेम, विवाह, सन्तान का भरण-पोषण कभी उनके मानस का हिस्सा नहीं रहा।

बड़ा होता हुआ बच्चा समझ जाता है कि माँ ने कैसे उसे अपने गर्भ से नोंच कर धरती पर फेंका था। कैसे अपने ही माँस के लोथड़े का परित्याग किया था। मनोविज्ञान, ट्रॉमा के यथार्थ को अब भी स्वीकारता है। ट्रॉमा से निकलने का आदमी भले ही प्रयास करे पर यह ट्रॉमा उसका पीछा नहीं छोड़ता। ट्रॉमा उसके व्यक्तित्व को बनाता है, कुछ भी हो बच्चा अपने पर लगाए गए आरोपों को झेलने को विवश है और अपने प्रति अपराधबोध भी उसे सताता है क्योंकि यह अपराधबोध ही उसे बार-बार कुछ नहीं के निषेध में बदलता है। राजेन्द्र यादव अपने इस निषेध, इस अव्यवस्था से ही छुटकारा पाना चाहते रहे हैं और इसके लिए ही अपने अँधेरे क्षणों में उन्होंने सहारे के लिए औरत को चुन लिया है। औरत की उन्हें इसलिए जरूरत है क्योंकि अपनी पूरी देह और उसकी माँसलता के साथ किसी कोमल परिचय का भाव औरत से ही मिलता है। इसमें कोई शक नहीं कि वे हमेशा भविष्य में जीते हैं। जिस माँ ने उन्हें परित्यक्त किया, जो माँ इस कठिन हादसे में उन्हें बचा नहीं सकी, उस माँ को वे फिर से पाना चाहते हैं, उस माँ को शायद वे हर औरत में खोजते हैं और खोज कर फिर उससे बदला भी लेते हैं। इसीलिए शायद मन्नू बाईसा को उन्होंने इतनी पीड़ा दी। वे जानते हैं कि अतीत लौटकर नहीं आएगा और जो माँ अनुपस्थित है, उसकी जगह ईश्वर नहीं ले सकता कि जो घटना घट गई उसकी पूर्ति अब नहीं हो सकती। हाँ, समय-समय पर पूर्ति का आश्वासन मिल सकता है

और सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति में यह सम्भावना है कि वह उनका साथ दे। स्त्री को वे ज्यादा टटोल पाते हैं क्योंकि स्त्री स्वयं उनकी तरह संवेदनशील है, खुलने को आतुर है। अपनी नजर में राजेन्द्र यादव गलत नहीं। उन्होंने कोई लूटमार नहीं की। उन्हें पता भी नहीं कि उनकी गलती क्या है इसलिए वे होना-सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ जैसा Punk लिख पाते हैं।

जिस क्षण वे दुनिया में आए उस क्षण वे साबुत थे, आधे-अधूरे नहीं। समाज एक विकलांग व्यक्ति को अजीब नजरों से देखता है। उनका बालक मन आज भी खुद से पूछता होगा—मैं कौन हूँ? मुझे अकेले ही इतनी पीड़ा क्यों मिल रही है, पहले पैर, फिर आँख? आखिर मैं क्यों आया दुनिया में और वह भी किसलिए? उनके पास अपने हर सवाल का उत्तर है, उत्तर देने में वे चूकते भी नहीं। हर क्षण वे अपने-आपको देखते हैं, अपना अवलोकन करते हैं, मानों उनका यह पेशा है या कोई ऐसी अपेक्षा जिसको वे पूरी करना चाहते हैं। कोई ऐसा वायदा जिसे ना नहीं किया जा सकता। यह सामाजिक रिजेक्शन है जो बार-बार राजेन्द्र यादव को परिधिकृत लोगों का पक्षधर बनाता है। वे दलित के घोर समर्थक हैं और अन्त तक रहेंगे। मगर उनका स्त्री समर्थन मुझे बहुधा ओढ़ा हुआ लगता है। इस समर्थन में एक विरोधाभास है।

आखिर कौन नहीं नायक बनना चाहता। आदमी की कीमत ही क्या यदि वह किसी महत्त कार्य के लिए अपनी जान की बाजी न लगा दे। राजेन्द्र यादव के लिए उनका यह महत्त (कॉज) साहित्य है मगर साहित्य भी उन्हें उनकी अन्दरूनी अव्यवस्था से नहीं उबार पाता। हम सभी कहीं बच्चे हैं, हर बच्चा सबसे पहले पूर्णता चाहता है, सब कुछ ठीक-ठाक हो। बच्चा चाहता है कि वह भी एक महान कैप्टन बने, सरदार बने, डॉक्टर बने लोगों के बीच मशहूर हो और लोग उसे पहचानें। राजेन्द्र यादव का रहस्य है कि इस मानवीय व्यवस्था को कहीं उनकी परिस्थिति, उनकी अपनी अव्यवस्था (अपंग होना) खारिज करती है। वह ईश्वर को नकारते हैं क्योंकि ईश्वर ने उन्हें नकारा है और अपने भीतर वे उस प्रकृति के विपरीत अप्राकृतिक को पकड़े रहना चाहते हैं क्योंकि इसी अप्राकृतिक घटना ने ही सदा के लिए उन्हें साधारण से भिन्न स्वरूप प्रदान किया। उनके जीवन में दो ही सम्भावनाएँ थी या तो वे सन्त बनते, भगवा पहनते, ब्रह्मचारी होने की चेष्टा करते या फिर बिना किसी दुराव-छिपाव के वे जो हैं जैसे हैं, उसी देह को सबके सामने रखते। कम-से-कम उनका जो अन्तर्मन है वह सामाजिक नियमों और व्यवस्था को मानने से साफ इंकार करता है। किसी की दृष्टि वह चाहे भगवान ही क्यों न हो उनके आन्तरिक निकटता को छू नहीं पाती।

अब यह अलग बात है कि पहला अपराध उन्होंने कब किया? कब किस लड़की की अस्मत पर डाका डाला। साहित्य समाज उनके स्त्री प्रेम को गलत मानता है, लेकिन क्या राजेन्द्र यादव इसे गलत मानते हैं? सामान्य सामाजिक व्यवस्था में वे एक बाहरी व्यक्ति हैं। अतः जब भी वे सामाजिक मूल्यों को टटोलते हैं, तो निषेध उनका प्रमुख स्वर है, स्थापित व्यवस्था को चुनौती देना उनका स्थायी तेवर है। वे घोर

यथार्थवादी हैं, कलावाद में उनकी कोई आस्था नहीं। साहित्य के सारे नाज-नखरों, सौन्दर्यबोध पर उनके मन में सबसे बड़ा आक्रोश है। इसी कलावाद के लिए वे कह पाते हैं कि, "पिछले 20 साल के उपन्यास महज बूढ़ों की, मरते हुए लोगों की कथा है। यह पीढ़ी पंगु लोगों की है। इन उपन्यासों में कोई जीवन नहीं धड़कता।" राजेन्द्र यादव इसलिए ऐसा कह पाते हैं क्योंकि मौत की इस खामोशी से ही वे स्वयं ताउम्र लड़ते रहे हैं। उन्हें इस लड़ाई का अनुभव है। आदमी कैसे जीवन को चाहकर भी छू नहीं पाता। इसी बोध से तो वे परिचित हैं, इसी की आपूर्ति के लिए तो वे साहित्य में आए, कलम का सहारा लिया और जिन्दगी को चखा। और साहित्य जब अपने इस मिशन से चूकता है तो वे बेहद चिढ़ते हैं। राजेन्द्र यादव खुद की ओर लौटते हैं वैसे ही जैसे हम टोस्ट पर प्रेम से मक्खन लगाते हैं, चिकने नरम मक्खन की परत में दाँत गड़ाते हैं, इसी भाँति वे खुद से सहमत होकर अपने में डूबते हैं। जीवन को भोगकर जो सुख मिला, यह उनका यथार्थ है। ऐसा यथार्थ जिसे चबाया जा सके, निगला जा सके। वे इस यथार्थ के साथ एक होना चाहते हैं। वे खुद ही अपना दर्शक बनना चाहते हैं ताकि अपने जीवन जीने को देख सके।

यथार्थ उनको अपनी तरह उलटने-पलटने को प्रेरित करता है। उनका सारा काम एक व्यवस्थात्मक तरीके से असम्भव को पाने की चाह है। उनकी यह आन्तरिक गति है जो समय-समय पर उनसे लफँगाई (मध्यमवर्गीय नैतिक भाषा में करवाती है) क्योंकि ऐसें बहुत से लोग हैं और बहुत-सी जातियाँ हैं जो इसी लफँगाई को बड़ा मासूम मानती हैं। राजेन्द्र यादव का स्त्री प्रेम उनकी यथार्थ की कविता है। हम उनके व्यक्तित्व में कोई स्थायी पार्टीशन नहीं देखते जिससे उनके गुणों को अवगुणों से अलग करे। अपने किए को वे अपराध मानते ही नहीं क्योंकि अपने इन कर्मों के माध्यम से वे अपनी नियति को चुनौती दे रहे हैं। मानवीय मूल्यों के प्रति जबर्दस्त आस्था के बावजूद चाहे-अनचाहे अपनी हैसियत को डांवाडोल कर रहे होते हैं। ऐसा लगता है वे अपना कोई भीतरी अपराध कम करना चाह रहे हैं। और उन लोगों के करीब होना चाहते हैं समाज ने जिनकी अवज्ञा की, उपेक्षा की।

जब वे किसी से दोस्ती कर लेते हैं और अकेले में उससे अन्तरंग होते हैं तो शायद एक बार कुछ क्षणों के लिए दुश्चिन्ता से उन्हें मुक्ति मिल जाती है। एक बार पुनः अपने-आपको भरा-पूरा साबुत पाते हैं। एक बार फिर जीवन के प्रति आश्वस्त होते हैं। उनका यह सारा आचरण इस एक ही ग्रन्थि की उपज है। एक जिन्दगी है जिसे वे साहित्य-समाज के सामने जीते हैं और इस जिन्दगी से बाहर जो कुछ भी है उसे एक बुरा सपना मानते हैं। और इस दुःस्वप्न से वे बचना चाहते हैं। इससे बचने का रास्ता उन्होंने खोज भी निकाला है। बचपन में चलते हुए लोगों की दृष्टि को उन्होंने आकर्षित किया था, लोगों की दृष्टि उनके पैरों पर पड़ती रही थी। मगर अकेले में यह दृष्टि उनका पीछा नहीं करती। समाज का उनके लिए कोई अस्तित्व नहीं। सच्चाई तो यह है कि जिस नैतिकता में हम सबों की आस्था है इसका पाठ

उन्हें भी सिखाया गया होगा लेकिन इसी औपचारिक आस्था को उन्होंने नकारा है। तब क्या हम यह कहें कि वे दुखी हैं? नहीं उनसे ज्यादा जिन्दादिल, हँसोड़, दूसरों से लगाव रखने वाला आदमी हिन्दी साहित्य में कम हैं। एक छोटी-सी चोरी, थोड़ी-बहुत नोंक-झोंक। थोड़ी मस्ती, दो पेग शराब की उनके आन्तरिक सन्तुलन को बनाए रखने के लिए काफी है। बड़ी जल्दी वे अपने स्वाभाविक उलझन में फँसे रहकर भी मुस्कुराने लगते हैं।

माना कि चिन्ता उन्हें भी घेरती होगी पर इन सबके बीच जीवन जीने की यह दुर्दान्त लालसा उन्हें बचा लेती है। यदि जिन्दगी ने उन्हें पूरी तरह तोड़ कर नहीं रख दिया तो इसका कारण यह है कि ये सिर्फ जिन्दगी में आस्था रखते हैं, जिन्दगी से ऊपर अन्य किसी भी रोशनी में आस्था नहीं रखते। उन पर निर्णय देने वालों ने सोचा कि वे इनके खिलंदड़े, मनचले आदमी के स्वभाव से परिचित हैं—लेकिन वे गलत हैं। हो सकता है कि राजेन्द्र यादव ने अपने बचाव में कुछ कहना चाहा भी होगा और अपने इस बचाव में अपंगताजनित नपुंसकता (इम्पोटेंसी) की सम्भावना को (मेडिकली यदि लम्बे समय तक कोई व्यक्ति बैशाखियों पर चले तो नपुंसकता का भय रहता है और अतीत में शायद कभी वे बैशाखियों पर चलते थे ऐसा मुझे याद पड़ता है) वे चुनौतियाँ दे रहे होते हैं। नियति द्वारा, समाज द्वारा आरोपित सभी सीमाओं का वे अतिक्रमण करना चाहते हैं। आखिर हर व्यक्ति का अपना अहम होता है। राजेन्द्र यादव चूँकि साहित्यकार हैं अतः उनका साहित्यिक दृष्टिकोण भी एक जिद्दी किस्म के अहम से संचालित है। बिना किसी अपराधबोध के अहम को पालना सम्भव नहीं। अहम और स्वाभिमान एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है, जो सम्पूर्ण निर्भरता को एक सम्पूर्ण आत्मनिर्भरता में बदल देती है। चुनौतियों का सिलसिला शुरू हो जाता है। चाहे कुछ भी हो उनके मानस का एक ढाँचा तो बन ही चुका है।

'हंस में कौन स्त्री लेखिका प्रकाशित नहीं होना चाहेगी और इसके लिए राजेन्द्र यादव का शिकार होना होगा।' ऐसा कुछ लोग ऐसी ही चटखारेदार बातें कहते हैं और लोगों के इन ख्यालों में कुछ नए ख्यालों को जोड़ने का काम राजेन्द्र यादव खुद करते हैं। चूंकि साध्वी स्त्रियाँ और बहुतेरे पुरुष उन्हें दैन्य निगाहों से देखेंगे, उनकी चरित्र चर्चा-परिचर्चा में आनन्द लेंगे अतः राजेन्द्र यादव जानबूझकर इन चर्चाओं को उकसाते भी रहते हैं। सम्पर्क में आने वाली हर स्त्री के कन्धे पर हाथ रखते हुए वे आत्मीयता की मुहर लगाना नहीं भूलते क्योंकि अब तो वे हड़बड़ी में हैं उनके पास पहले वाला समय कहाँ? अतः जितना ज्यादा लोगों को परेशान किया जा सके उतना ही अच्छा है।' मानने दो सालों को कि मैं एक बहुरूपिया हूँ यानी वे अब किसी तरह की पारस्परिकता की चाह नहीं रखते। अपना खेमा वे स्वयं हैं। एक अछूत की तरह मनु महाराज से वे कहना नहीं भूलते कि मैं अछूत हूँ, ब्राह्मण देवता! तुम तुम्हारी जगह मैं अपनी जगह। और जो उनसे थोड़ा-बहुत भी सुधार की अपेक्षा रखते हैं उनसे वे यह कहना नहीं भूलते कि यारो, तुम भी देख लो, स्वीकार लो कि औरत मेरी कमजोरी

है। अपने बचाव में शायद इतने खुले रूप से इतने आक्रामक रूप से वे कुछ न भी कह पाते रहे हों लेकिन भीतर ही भीतर पूरी व्यवस्था को गरियाने से बाज नहीं आते। अब बहुत देर हो चुकी है, उनके सुधरने की कोई आशा नहीं। उनका दिया हुआ पान चबाते हुए हम पाएँगे कि पान में सौंफ की जगह मच्छरों को भर दिया गया है। मुझे नहीं मालूम कि राजेन्द्र यादव पान खाते हैं या नहीं। पर लोगों के प्रति उनका भाव कुछ-कुछ ऐसा ही रहता है। वे जब अपना प्रतिरोध व्यक्त करते हैं, अपना पैंतरा बदलते हैं तब तक वह दूसरा वहाँ से खिसक चुका होता है। आरोपों का खण्डन करने के बदले राजेन्द्र यादव स्वीकार लेते हैं, हाँ मुझे इस खूबसूरत दुश्मन का साथ पसन्द है।

राजेन्द्र यादव एक बड़े साहित्यकार हैं, चर्चा के केन्द्र में वे हमेशा रहे हैं और दबी जबान से या कभी खुल्लम-खुल्ला उनके आचरण की चर्चा भी होती रही है। मैंने इसको केवल एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने की कोशिश की और यह भी समझा कि व्यक्ति को उसकी सम्पूर्णता में समझने के लिए कभी-कभी उसे पारम्परिक नैतिकता के सन्दर्भ से काटकर अलग रखना पड़ता है। हो सकता है कभी हठात् एक दुर्घटना की वजह से वे कुचले गए हों, पर इसके बाद अपने-आप पर पड़ने वाले तमाम दबावों को उन्होंने धीरे-धीरे पचाया है और यह भी साबित किया है कि कोई जन्म से जीनियस नहीं होता बल्कि जीनियस होना तो वह 'हीरा' है जिसे चरम निराशा के क्षणों में व्यक्ति अकेला अपने बलबूते पर खोज निकालता है। चुनाव का अर्थ हुआ कि लेखक स्वयं को अपनी जिन्दगी को अपनी दुनिया को किस रूप में पेश कर रहा है। उसकी मुक्ति का इतिहास भी उसका लेखन है। अब यह तो पाठकों को समझना होगा कि वे क्या सच ही अपनी सीमाओं को लाँघ पाए हैं? कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि स्त्री को वे किस रूप में देखते हैं? कम से कम अब और इस उम्र में इतने अनुभवों से गुजरने के बाद, क्या उन्हें स्त्री अपने जैसी मनुष्य लगती है? इन सवालों के साथ मेरे मन में यह सवाल भी उठता है कि राजेन्द्र यादव पर आरोप लगाते हुए या उन्हें इस रूप में समझते हुए क्या मैं उनके प्रति निष्पक्ष रह पाई हूँ? पक्षधरता अनिवार्य है और मैंने चाहे-अनचाहे मन्नूजी का पक्ष लिया है, लेकिन मैं लेखक राजेन्द्र यादव की भी पक्षधर रही हूँ। सम्भव है मेरे विचारों से लोग सहमत न हों और कहें कि राजेन्द्र यादव की ये सारी हरकतें खूबसूरत दुश्मनों को पटाना उनकी अपनी निर्धारित साजिशें हैं। अपनी कमजोरियों को नया चेहरा प्रदान करने की चेष्टा। समाज के नियमों को कुचलकर वे मुक्ति हासिल करते हैं। और शब्दों के सहारे हमें झाँसा-पट्टी देते हैं। मैं स्वीकारती हूँ कि राजेन्द्र यादव न केवल स्त्री को बल्कि अपने पाठकों को भी एक साधन की भाँति काम में लेते हैं। एक माध्यम के रूप में ताकि इस माध्यम के सहारे वे अपने-आप से बातें कर सकें और यह खासियत ही उन्हें औरों से अलग करती है। वे जब खुद से पूछते होंगे कि क्या अब भी मुझे किसी औरत पर डोरा डालना है या उसे अपनी वाक्-वितंडा में उलझाना है तो सम्भव है यह सवाल उनका अपना निजी पक्ष हो मगर इसका सार्वजनिक उत्तर होगा कि वे अपने कर्मों को चाहे

जैसे भी जायज ठहराएँ, किन्तु सारी चर्चा-परिचर्चा आसानी से गले उतरती नहीं। मजे की बात तो यह है कि राजेन्द्र यादव जानते हैं कि वे गलत कर रहे हैं और गलती करने के लिए या गलत बने रहने के लिए वे बार-बार ऐसी हरकतें करते हैं पर उनकी हमसे तो कोई अपेक्षा नहीं। यादवजी दूसरे से संवाद स्थापित करने का नाटक करते हैं, वास्तव में वे अपने सच को खुद से दोहराते रहते हैं किन्तु इसके बाद भी उनका लेखन हमें प्रेरित करता है। कम से कम मुझे तो करता ही है। जो नैतिक हैं, वे शायद राजेन्द्र यादव के करीब होने की चेष्टा ही नहीं करें, लेकिन मेरी जैसी अन्य बहुत-सी महिला लेखिकाएँ आज भी उनके करीब हैं। हमारे उनसे आत्मीय सम्बन्ध हैं, क्या इसीलिए हम सभी महिलाएँ अनैतिक हैं?

राजेन्द्र यादव और मुझमें काफी वैचारिक दूरी है, हम दोनों ही शुरू से एक-दूसरे के प्रति शंकित रहे हैं—अतः हमारा आपसी सम्बन्ध वह चाहे भिन्नता पर आधारित ही क्यों न हो—कई मायनों में स्थापित होता है। क्रमशः विकसित होते हुए हमारे सम्बन्ध का आधार 'हंस' रहा है। सम्बन्धों का आधार केवल देह नहीं हुआ करती, बल्कि अन्य और आपसी योजना-परियोजनाएँ भी होती है। 'हंस' उनकी उड़ान है मेरी नहीं, पर इस उड़ान को देखने का शौक मुझमें भी था। ये वे दिन थे जब सार्त्र, कामू और सीमोन से मैं बेहद प्रभावित थी, प्रतिवद्ध लेखन किसे कहा जाए इस पर मैं घंटों सोचती रहती थी। राजेन्द्र यादव एक पत्रिका निकालना चाहते थे। शुरू में मुझे भी लगा अन्य ढेरों असफल प्रयोगों की तरह, यह भी एक प्रयोग बनकर रह जाएगा। लेकिन 'हंस' निकलता रहा। जहाँ जिससे जो भी सुविधाएँ लेनी हैं उससे एक गरिमा के साथ उन सुविधाओं एवं धन को माँगने-छीनने-झपटने में राजेन्द्र यादव ने कोई कोताही नहीं की। बिना इस गहरे लगाव के 'हंस' जिन्दा भी नहीं रहता। खैर मुझे हंस में नारीवाद का भविष्य दिख रहा था। एक अकेला सम्पादक था जो अस्सी दशक के अन्तिम दौर में स्त्री के कॉज को, उसकी आवाज को अपनी पत्रिका में स्थान देने को तैयार था। जिन दिनों आरक्षण की चर्चा जोरों पर थी उन्हीं दिनों मेरा दिल्ली जाना हुआ, हंस के कार्यालय में बैठे-बैठे मैंने राजेन्द्र यादव से कहा कि "आप पहले स्त्री को तो हंस में आरक्षण दीजिए उसके बाद हंस में दलितों के आरक्षण की चर्चा कीजिएगा।" उनका उत्तर था—"क्या बात करती हो यार! सबको आरक्षण देते-देते मेरा हंस तो कहीं का नहीं रह जाएगा।" खैर, उस वक्त तो बात मजाक में टाल दी गई मगर वाद के दिनों में हंस ने स्त्री लेखन का साथ दिया। ये वे दिन थे जब बहुतेरे सम्पादक स्त्री लेखन के नाम मात्र से चिढ़ते थे। उनकी नजर में नारीवाद सिर्फ कुछ शहरी पढ़ी-लिखी स्त्रियों के कैरियरपरस्ती का मामला था।

यादवजी से पिछले पाँच-सात वर्षों में जितनी खुलकर बातें होती हैं उतनी पहले कभी नहीं। राजेन्द्र यादव को मन्नू बाईसा से काटकर अलग से समझने की चेष्टा मैंने काफी बाद में की। मेरे लिए राजेन्द्र यादव मन्नू बाईसा के पति रहे हैं, और इस पतिनुमा चीज में खोट है इस भावना से उबरने में मुझे काफी समय लगा। नारीवाद चिन्तन से सम्बन्धित उनकी राजनैतिक मासूमियत पर मुझे बहुधा क्षोभ हुआ, आखिर

वे मेरी बात समझ क्यों नहीं पाते, वे क्यों दलितों और स्त्रियों को एक ही तराजू में तौलते हैं—अपने दोहरे-तीहरे दमन के बावजूद भी दलित से स्त्री अलग है। मेरा कहना है कि स्त्री समस्या को अलग नजरिए से देखने की कोशिश की जानी चाहिए और इस नजरिए को विकसित करने के लिए न केवल सैद्धान्तिक अध्ययन की आवश्यकता है बल्कि आपको एक्टिविस्ट भी होना पड़ेगा। सिद्धान्त और कार्य जगत का मेल कैसे हो, इस पर सोचना होगा। सक्रिय राजनीति भी बहुधा एकाडेमिक जगत के सवालों से लड़खड़ा जाती हैं। और सैद्धान्तिक समझ से अछूते अनगढ़ यथार्थ केवल मुँह बाये आपकी ओर देखते भर रह सकते हैं मगर आपका साथ नहीं दे पाते। आप उन्हें काम में नहीं ले पाते। यादवजी जैसे शीर्षस्थ लेखक भी समाजवादी आलोचना के प्रतिमानों का विश्लेषण तो करते हैं मगर वे जैंडर वर्चस्व और स्त्री की अधीनस्थता के आनुभविक पक्ष को समझ नहीं पाते। स्त्री का यथार्थ अपने-आप में बेहद जटिल है, हुआ यह है कि साहित्य जगत में निरन्तर स्त्री दमन की चर्चा जारी रही है तो इससे दमित स्त्री की पहचान तो बनती है मगर यह कोई सशक्त पहचान नहीं है। अच्छा होता पुरुष—राजेन्द्र यादव एवं स्त्री—प्रभा खेतान एक-दूसरे की सामाजिक कन्स्ट्रक्ट के रूप में स्वीकारते। चूँकि मैं एक बुर्जुआ हूँ अतः राजेन्द्र यादव मेरे प्रति शुरू से संदेहग्रस्त रहे हैं और हमारे व्यक्तिगत सम्बन्ध की इस कमी के प्रति मैं बेहद सजग भी हूँ, अतः विडम्बना तो यह है कि इससे हमारा लेखकीय सम्बन्ध भी विकसित नहीं हो पाता पिछले पाँच-सात वर्षों में शायद हमने अपने-अपने विचारों में एक-दूसरे को जगह दी है—लेकिन फिर भी...हम दोनों ही बड़े कट्टर किस्म के प्राणी हैं। अपनी बोहेमियन अदा में लुभाने की चेष्टा में राजेन्द्र यादव कभी बड़े हल्के हो जाते हैं। ऐसे में उनका कहना रहता है यार तुम तो एकदम पत्थर हो, मेरा उत्तर होता है पत्थर क्यों हिमशिला कहिए ना...शरमा कर यादवजी अपनी पाईप चबाने लगते हैं और हम वापस राजेन्द्र यादव और प्रभा खेतान हो जाते हैं।

अपनी पीढ़ी के साहित्यकारों पर राजेन्द्र यादव ने बहुत कुछ लिखा है जिन्हें पढ़ते हुए मुझे हमेशा लगा कि यह एक प्रकार की आत्मवर्णना है, जिसे नीम की छोटी गोली की तरह घी-चावल के साथ खाया जा सकता है। राजेन्द्र यादव के चिन्तन की विकासयात्रा के सम्बन्ध में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वे केवल अपने लेखन के माध्यम से ही अपने हक में नहीं बोल रहे होते, बल्कि वे जो कुछ भी बोलते हैं इसे ही वे न्यायोचित व्याख्या के रूप में पेश करते हैं। विवादों में घिर जाना उनके लेखन की आवश्यक परिणति है। अपनी इस वैयक्तिकता से वे उबर नहीं पाए हैं। यहाँ तक कि एक सीमा के बाद उनके लेखन को उनकी आत्मव्याख्याओं से अलग करना सम्भव नहीं होता। अपने लेखन की चर्चा-परिचर्चा में राजेन्द्र यादव स्वयं हस्तक्षेप करते हैं। ऐसा हस्तक्षेप हिन्दी के कम लेखकों ने किया है। साक्षात्कार देने में वे अग्रणी हैं और साक्षात्कार देते हुए वे दूसरों पर हावी रहते हैं। आलोचक को उनके तराशे हुए उत्तर मिलते हैं। आलोचनाओं का उत्तर वे कई रूपों में देते हैं। कभी 'मेरी-तेरी उसकी बात'

के माध्यम से तो कभी खुली चिट्ठियों से। (अब यह बात अलग है कि वे यह चिट्ठी मुलायम सिंह यादव को लिखते हैं या हम जैसे मित्रों को। पर विभिन्न मुद्दों पर उनके दृष्टिकोण 'काँटे की बात' में प्रस्तुत हैं, जिसे पढ़ते हुए लगता है कि इतना आत्मचिन्तन करने वाला व्यक्ति अपनी जिन्दगी के अँधेरे कोने को आखिर क्यों नहीं स्पष्ट कर पाया) अपने समकालीन लेखन में बहुधा वे सपाट रहे होते हैं और किसी भी तात्कालिक विषय-वस्तु पर भी उनका व्यक्तिगत चिन्तन छाया रहता है। एक प्रकार से देखें तो 'काँटे की बात', 'मेरी-तेरी उसकी बात' में आत्म व्याख्या को किस सतह पर प्रस्तुत करना चाहिए, लेखक का अपने-आप में यह एक बेमिसाल प्रयास है। राजेन्द्र यादव की खोज है कि सीमाओं को समझा जाए। अब यह सीमा चाहे व्यक्ति की हो या किसी संस्था की या फिर समाज की, वे बिना किसी समझौते के जाँच-परख शुरू करते हैं। इस प्रयास में वे चाकू की सहायता से चीर-फाड़ करते-करते मुर्दे की हड्डियों तक पहुँच जाते हैं। उनकी सारी चेष्टा होती है कि उस मुर्दे की प्राणशक्ति का पता लगाया जाए। मजा तो यह है कि लेखक राजेन्द्र यादव जानते हैं कि मुर्दे में प्राण शक्ति है ही नहीं, और अपनी इस तमाम चीर-फाड़ के बाद वे अपने-आप को अपनी जीवन्तता के साथ अलग बचा ले जाते हैं। अपने को बचाने की चेष्टा, उनके निजी रिश्तों में भी झलकती है। यूँ तो हर कोई अपने को बचाता है पर उनसे बातचीत करते हुए उनसे सम्बन्धित होते हुए पता चलता है कि आपका सामना एक फनकार से हो रहा है जो अपने पक्ष में बड़े-बड़े तिलिस्म खड़ा करना जानता है। सम्पर्क में आते ही उनका फनकार जागृत हो जाता है और वे सम्बन्ध को अपने अनुसार अपनी जरूरत के अनुसार निर्मित करने लगते हैं। यहाँ अन्य के होने की उसकी निर्मिति का कोई स्कोप नहीं। दूसरे शब्दों में किसी भी वक्त अपनी स्थिति के प्रति वे पूरी तरह प्रतिबद्ध हैं। स्वाभाविक है कि प्रतिबद्धता के नाम पर पिछले प्रभावों को वे तौलना चाहेंगे। समस्याओं से जुड़ने का यह एक अस्तित्ववादी तरीका है। अपनी स्थिति के बचाव में जद्दो-जहद के साथ वे अपना तर्क पेश करते हैं। उनके लिए ऐसा करना जरूरी भी है क्योंकि बिना इसके कोई भी योजना मौलिक रूप से सफल ही न हो। अपनी विशिष्ट समस्याओं से वे पूरी तरह जुड़ते हैं, अपनी व्याख्या को वे एक स्पष्ट दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके विकास की विभिन्न स्थितियों को हम समझ भी पाते हैं। पर अन्ततः इन सबका सीमित मूल्य है। क्योंकि हमारा मूल्यांकन भी एक विशेष स्थिति का ही जायजा ले पाता है। बहुधा उनकी आलोचना करनेवाले उनके लेखन को पढ़ते ही नहीं।

लेकिन उनके गुणों को कौन तौलेगा? उनके बारे में हम कुछ भी सोचें पर हमारे सोचते ही वे दूसरे छोर पर होते हैं। अपनी व्यक्तिगत खामियों पर उन्हें आश्चर्य नहीं होता बल्कि यह उनकी आत्मस्वीकृति का हिस्सा है जिसे वे बड़े गर्व के साथ पेश करते हैं। उनके लिए हर घटना का अपना अर्थ है। मिथ ऑफ सीसीसिफस में कामू ने कुछ ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं का जिक्र किया था जो कभी-कभी हमारी परिस्थिति के मौलिक बेतुकेपन को उजागर करती है। राजेन्द्र यादव का जीवन एक निरन्तर

अनुभव है। उनके लेखकीय अनुभवों में आतंक है, आश्चर्य है, आशा-निराशा है अपनी पवित्रता है और शायद कुछ ऐसा है जिसे समझने में हम असमर्थ हैं, क्योंकि हमारी अपनी समझ बेहद अनुकूलित है, स्थितिग्रस्त है और परिधिकृत है। उनके व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष पर निरन्तर प्रहार करने का परिणाम होगा कि हम एक विशेष पक्ष का ऐतिहासिक प्रोजेक्शन करेंगे, जो किसी विशेष दौर का और सीमित उपलब्धियों का ही परिचायक हो सकता है और जो उनकी कुछ बातों को हमेशा के लिए फ्रीज कर सकता है और पूरे व्यक्तित्व को बिना वजह डिस्टोर्ट भी। इसके विपरीत एक समूचे व्यक्तित्व को उसकी पूरी गतिशीलता के साथ समझना चाहिए ताकि विभिन्न निर्मितियों के आपसी सम्बन्ध को निर्धारित करने में सफलता मिले।

उनका सबसे बड़ा अपराध होगा यदि वे लोगों का सामना करना भूल जाएँ और उस जेल को स्वीकार लें जिसकी चाबी औरों के पास है। वैसे जेल की चर्चा करते हुए मुझे पार लागर क्विस्ट के बाराबॉस लघु उपन्यास की याद आती है जिसका अन्त देना बहुत जरूरी है। जेल के कैदियों को एक दिन अचानक छोड़ दिया जाता है, जेल की सारी खिड़कियाँ और दरवाजों को खोल दिया जाता है और जेल की रंगाई-पुताई जोरों से की जाती है। इन कैदियों में बाराबॉस नामक एक खूँखार कैदी भी है। उसे भी छोड़ दिया गया है। स्वयं बाराबॉस को इस पर आश्चर्य होता है, क्या बात है अचानक यह मुक्ति क्यों? वह जेल के अधिकारियों से पूछता है वह कौन-सा ऐसा खूँखार अपराधी लाया जा रहा है जो हमसे भी ज्यादा नृशंस और अत्याचारी है और जिसके लिए जेल को नए सिरे से व्यवस्थित किया जा रहा है? अधिकारी का जवाब है—यह नया कैदी खुद को ईश्वर का बेटा कहता है, इसने रोम के गुलामों को भड़का कर विद्रोह करा दिया है, उसे ही सूली पर लटकाया जाना है।

और उस अपराधी का नाम है—ईसा मसीह।

राजेन्द्र यादव उर्फ मूर्तिभंजन के 'लास्ट समुराई'

रामशरण जोशी

प्री-स्क्रिप्ट

(एक)

अप्रैल-6/वर्ष-2004/स्थान : प्रभा खेतान का निवास/कलकत्ता/शाम सात बजे।

"रामशरण जी, यादव जी पर आपका लेख पूरा हो गया?"

"नहीं। दिल्ली लौटकर शुरू करूँगा। वैसे पायंट्स तैयार कर लिए हैं। आपने क्या लिखा है?"

"बहुत कुछ। मैं राजेन्द्रजी और मन्नूजी को लम्बे समय से जानती हूँ। दोनों के बाहरी और भीतरी संसारों से गहराई तक परिचित हूँ।"

"तब तो आपका लेख मास्टरपीस होना चाहिए।"

"कह नहीं सकती। यह तो पाठक तय करेंगे। लेकिन मैंने ईमानदारी के साथ लिखा है। रियायत से बची हूँ। क्या हमें खुलकर नहीं लिखना चाहिए? यादवजी नाराज होते हैं, तो हों"

"देखिए, प्रभाजी, राजेन्द्रजी खांटी डेमोक्रेट हैं। उनके यहाँ मिनी महाभारतों की महामारी फैली रहती है। यह उनका सबसे मजबूत पक्ष भी है, और कमजोर भी। वे स्वयं सवालों के लिए दोस्तों को उकसाते हैं। विवादों को जनते हैं। फिर उनमें घिर जाते हैं। उसकी पीड़ा और आनन्द, दोनों को भोगते हैं। जी-भर। कई विवादों से लहूलुहान हो जाते हैं। मजाल है, वे अपनी इस फितरत से बाज आ जाएँ!"

"रामशरण जी, आपको ऐसा नहीं लगता कि राजेन्द्रजी अपनी अपंगता के कारण कई प्रकार की कुंठाओं के शिकार हो गए हैं? उनका स्त्री-विमर्श भी, इन कुंठाओं का ही एक नतीजा है। क्या उनकी माँ बेटे की अपंगता को लेकर दुःखी नहीं रही होंगी?"

"सम्भवतः आप सही कह रही हैं। मुझे कभी-कभी महसूस होता है कि राजेन्द्रजी अपने इस 'शारीरिक दोष' को 'डिफेंस मैकेनिज्म' के रूप में भी इस्तेमाल करते हैं। इस दोष के प्रभावों को निष्प्रभावी बनाने के लिए वे अपने व्यवहार में किन्हीं 'अतिरेकों'

का भी परिचय देते हैं। ये अतिरेक एक तरह से उनकी ढाल का काम करते हैं।''

''मैं भी ऐसा ही महसूस करती हूँ। यह दोष 'पोटेंसी' को भी प्रभावित करता है, शायद।''

''शायद आप ठीक कहती हों। मुझे इसका अनुभव नहीं है। लेकिन हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि शारीरिक दोषों से ग्रस्त व्यक्ति बड़े-बड़े लेखक-कवि हुए हैं। उदाहरण के लिए सूरदास, मिल्टन, लॉर्ड बॉयरन आदि। शारीरिक दोष या अपंगता व्यक्ति में या तो हताशा पैदा करती है या स्थितियों को 'डिफाई' करने के लिए प्रेरित करती है। एक प्रतिवाद व प्रतिशोध की 'स्ट्रीक' व्यक्ति की जीवन शैली का हिस्सा बन जाती है। मैं राजेन्द्रजी के जीवन में यह स्ट्रीक देखता हूँ।''

''मुझे भी ऐसा लगता है। शायद आप ठीक कह रहे हैं।''

''अच्छा यह बताइए, राजेन्द्रजी के सन्दर्भ में। वैसे मैं स्वयं भी चाहता हूँ कि यह पहेली सुलझे। आप तो नारीवादी हैं। स्त्री-विमर्श में आपकी गहरी दिलचस्पी है। आपने इस सब्जेक्ट पर काफी लिखा भी है।''

''लिखती भी रही हूँ। नई पुस्तक तैयार हो रही है।''

''जी हाँ। क्या वास्तव में औरत पुरुष के लिए 'लाइफ फोर्स' होती है जैसा कि बर्नाड शॉ ने 'आर्म्स एण्ड द मैन' में कहा है—क्या यह अवधारणा कोरी मिथ है? पुरुषों द्वारा फैलाया गया जाल?''

''मुझे यह मिथ ही लगती है—औरतों को फँसाने के लिए पुरुषों द्वारा फेंका गया जाल।''

''और औरतें इस जाल में आसानी से फँस भी जाती हैं?''

''बिल्कुल!''

''क्या यह सही नहीं है कि औरत को उसकी सैक्सुअलिटी के लिए पुरुष उसको विशेष दर्जा देता है? इसी के साथ पुरुष के वर्चस्व और स्त्री के शोषण का सिलसिला शुरू हो जाता है। औरत को एक 'मानव ईकाई' के रूप में क्यों नहीं देखा जाता है?''

''रामशरण जी, यदि ऐसा होता है तो यह पुरुष के चिन्तन व व्यवहार की उच्चतम अवस्था होगी। लेकिन यह कठिन मार्ग है। पर क्या आप ऐसा करते हैं?''

''मेरा प्रयास यही रहता है। मैं औरत को उसकी सैक्सुअलिटी और कोमलता के आधार पर 'स्पेशल प्रिवीलेज' देने के खिलाफ हूँ। लेकिन कई लेखक ऐसा करते हैं। औरतें भी पुरुषों से रिझाने व मनुहार वाले व्यवहार की अपेक्षा रखती हैं। और यहीं से सब बखेड़ा शुरू होता है।

''मैं समझता हूँ राजेन्द्रजी ने पुरुष के दोगलेपन को बड़ी जोखिम के साथ चीरा है। पूरी निर्ममता से काम लिया है।''

''शायद आपका इशारा उनके सबसे अधिक विवादास्पद लेख—'होना-सोना, दुश्मन के साथ' की ओर है?''

''जी हाँ। इस लेख ने उन्हें 'सुपर खलनायक' का खिताब दिलवा दिया। लेकिन

मेरे मत में यह उनका बेहतरीन लेख था। इसमें उन्होंने 'पन' (श्लेष) का प्रयोग कर मर्द के भीतर औरत को लेकर मौजूद 'गटर' को सरासर बेरहमी के साथ उघाड़ दिया है। और यही बात नागवार लगी हम सभी को। सच मानिए, लेख में वही है जो पुरुष सोचता है और दारू के चन्द घूँट लेने के बाद असलियत की उबकाई करने लगता है। न जाने हम हिन्दी समाज के लोग पाखण्ड से क्यों लौ लगाए रखते हैं? लेख को लेकर राजेन्द्रजी को काफी 'मिसअंडरस्टूड' किया गया है।''

''शायद आप सही हों। मैं उन्हें अपने लेख में एक्सपोज कर रही हूँ।'' (कमरे में दोनों के ठहाके गूँजने लगते हैं।)

(दो)

नौ अप्रैल। दिल्ली। स्थान—मयूर विहार का रिवर साइड क्लब। राजेन्द्र जी, मैं और स्टीम्यूलेट करने के लिए साथ में वोदका व बीयर। बैकग्राउण्ड में चित्रा-जगजीत सिंह।

''पंडित जी।''

''इस सम्बोधन पर मेरी गहरी आपत्ति है। मैं पहले भी विरोध कर चुका हूँ।''

''अरे यार निकल आता है। इसे लेकर इतने भावुक मत बनो। फिर भी मैं ध्यान रखूँगा।''

''तो कहिए क्या कह रहे थे?''

''मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है?''

''किसलिए?''

''मैं समझता हूँ तुमने औरतों का छक कर भोग किया होगा?''

''बिल्कुल नहीं।''

''अजी हाँ...छोड़ो...झूठ मत बोलो। तुम्हारी जैसी शक्ल-सूरत रंग होता तो न जाने क्या कर डालता?''

''अभी भी आपने क्या बाकी छोड़ा है? हर उम्र की औरतें आप पर मँडराती रहती हैं...चाहे जिससे पूछ लो!''

''यह सब बकवास है। मैं हरेक के साथ नहीं सो सकता...और न ही सोया हूँ। मुझे औरत की बौद्धिकता निश्चित ही आकृष्ट करती है। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि मैं उसके साथ सैक्स करूँ। यह सच है कि मेरे सम्पर्क में कई औरतें आईं हैं लेकिन एक सीमा तक ही उनके सम्बन्ध मेरे साथ रहे हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि सिर्फ तीन औरतों के साथ ही मेरे अन्तरंग सम्बन्ध रहे हैं। (इसी क्षण तीन दिन पहले कलकत्ता में 'सबड्यूड टोन' में उछला प्रभा खेतान का वाक्य दिमाग में कौंधता है—राजेन्द्र जी, सेक्स नहीं कर सकते। बाकी सब कुछ कर सकते हैं!) लेकिन तुमने तो किसी को नहीं छोड़ा होगा?''

''यह बात तब सही रहती जब आपकी तरह मुझे अवसर मिले होते?''

''अजी हाँ...बनते हो या मुझे बना रहे हो...''

''मैं सच कह रहा हूँ। सेक्स और प्रेम, दोनों के मामले में मुझे आप निराशों

की श्रेणी में रख सकते हैं। मैं इस क्षेत्र में बिल्कुल फिसड्डी और अनाड़ी हूँ। एक सीमा के बाद सेक्स और प्रेम 'फालतू' से लगने लगते हैं। शायद इसीलिए औरतों ने मुझमें दिलचस्पी नहीं ली, या मैं उनमें नहीं ले सका।''

"यह सब कुछ अजीब है। लेकिन, मुझे यकीन नहीं होता कि औरतें तुम पर मरी नहीं होंगी?''

"मैं नहीं जानता, आप कहाँ तक सही हैं। लेकिन इस मामले में मेरे अनुभव बहुत सुखद नहीं हैं। बस, ऐसे ही हैं। कोई चमत्कार नहीं है। इस मामले में आप काफी 'लक्की' हैं।''

"यह सही है, मैं औरतों के मामले में लक्की रहा हूँ। शायद तुम 'अनलकी' हो।''

"इसकी वजह? आप तो सेक्स और प्रेम, दोनों के डॉक्टर हैं!''

"जहाँ तक मैं समझता हूँ तुम औरत को अपने पर हावी नहीं होने देना चाहते। तुम्हें यह भय लगा रहता है कि यदि तुमने औरत के साथ सेक्स किया तो वह तुम पर हावी हो जाएगी। इसलिए, एक दूरी बनाए रखते हो। मेरे साथ भी कभी-कभी यह समस्या रहती है। गहरी अंतरंगता, रागात्मकता के बावजूद यह आशंका रहती है कि अपोजिट सेक्स का व्यक्तित्व मुझ पर हावी न हो जाए। मैंने यह प्रयोग करके देखा है, अपनी एक मित्र के साथ। अन्त में, हम दोनों ने तय किया कि नहीं हम दोनों को स्वतन्त्र रहना चाहिए। किसी औपचारिक बंधन में नहीं बँधना चाहिए। जबकि यह मित्र अति बौद्धिक है। मैं इसकी बौद्धिकता का कायल हूँ। दिल और दिमाग दोनों को यह भाती है। पर वर्चस्व की आशंका से हम दोनों ही त्रस्त हैं इसलिए साथ नहीं रह सकते।''

"मेरे लिए वर्चस्व की कभी समस्या नहीं रही। बल्कि मैं वर्चस्वता के लिए औरत को उकसाता रहा हूँ। लेकिन फिर भी हाथ से अवसर फिसलते रहे हैं।''

"फिर तो तुम्हारा जीवन अकारथ गया।'' (ठहाके और थ्री चीयर्स)

"दुष्ट! पापी!! अभी तक सो रहा है! तेरा नाश हो!!!''

राजेन्द्र जी का यह तकिया कलाम कानों को सप्ताह में दो-तीन बार इस तरह सहलाए नहीं तो समझो हंस के सम्पादक दिल्ली से फरार हैं, और दूर किसी गोष्ठी में औरत, दलित, अल्पसंख्यक, साम्प्रदायिकता जैसे सनातनी और हर ऋतु प्रिय मुद्दों पर अपना शाश्वत उवाच जमाए हुए हैं। जब बाहर से लौटेंगे तो उवाच के विवरणों से आपके कान लबालब होंगे। वरना, आप राजेन्द्रजी के प्रातः स्मरणीय मंगल उवाचों का स्वागत करने के लिए सावधान मुद्रा में रहिए। मुझे पक्का यकीन है, यदि स्व. राजकपूर को राजेन्द्रजी के इन उवाचों की जानकारी रहती तो वे फिल्म 'जागते रहो' में लताजी से 'जागो मोहन प्यारे...' कभी न गवाते। फिल्म के अन्त में, भोर बेला में, नरगिस व राजकपूर पर इन्हीं संवादों का फिल्मांकन हो जाता!

यह था करटेनरेजर, राजेन्द्र जी को खलनायक साबित करने के लिए। अभी

सिलसिला शुरू हुआ है, कहाँ तक पहुँचेगा पटाक्षेप तक, अभी से कैसे कहा जा सकता है? बस! साथ-साथ चलते रहिए। खलनायकत्व के 'बॉटम' तक। तभी इस शख्स को बेनकाब किया जा सकेगा। पर बेनकाब होता क्या है, यह भी जान लें क्योंकि यह भी बहुरंगी होता है। बेनकाब का एक रूप है नहीं, लोग इसे अपने-अपने ढंग से लेते हैं। मसलन, एक; राजनीति में बेनकाब का अर्थ है भ्रष्टाचार का भण्डाफोड और सत्ता लिप्सा के लिए षड्यन्त्रों की रचना; दो, साहित्य में लेखकों के अंतरंग व रागात्मक सम्बन्धों का उजागर होना; तीन, पत्रकारिता में पत्रकार व राजनीतिज्ञों व उद्योगपतियों के गठबन्धन का खुलना; चार, अपराधजगत में माफिया व डॉनों और नेताओं की यारी का पर्दाफाश होना और सामान्य जन के लिए अनैतिक, अमर्यादित और अवैध व निषेध सम्बन्धों का सार्वजनिक होना। बेनकाबों के किस साँचे में राजेन्द्रजी को ढाला जा सकता है, यह देखना है।

वैसे तो मैं यह बता दूँ कि मैंने नायक और खलनायक की पहचान फिल्मों से सीखी थी। कोई आठ-दस साल का रहा हूँगा तब से पिक्चर जाना शुरू किया था। उन दिनों हीरो और विलेयन, ये दो अंगरेजी शब्द हुआ करते थे जो अक्सर कानों से टकराया करते थे। हीरो के रूप में बॉलीवुड की तिकड़ी—दिलीप-देव-राज प्रसिद्ध थी, तो विलेयन के रूप में के. एन. सिंह, प्राण और जीवन या कन्हैयालाल के नाम चर्चित रहा करते थे। जहाँ तक राष्ट्रनायक का सवाल है, मैं और मेरी उम्र के लोग एक ही नाम से परिचित थे और वह था जवाहरलाल नेहरू। लेकिन जयपुर से दिल्ली पहुँचने पर लेखकों-कवियों की दुनिया का एक्सपोजन जरूर हुआ। शायद यह 1962 का साल था। एक नहीं, अनेक किस्से साहित्यकारों के सुनने को मिले, फलां लेखक फलां लेखिका से चिपका हुआ है, फलाँ कवि ने फलां कवयित्री को फांस रखा है, अमुक आलोचक अपनी अमुक शिष्या को एक्सप्लोइट कर रहा है। इस तरह के किस्सों के नायक या खलनायक नामी-गिरामी साहित्यकार, आलोचक आदि हुआ करते थे। इनमें से कई अपनी कर्मभूमि से सदैव के लिए कूच कर गए, और कुछ आज भी अपनी दैहिक लीला में लिप्त हैं।

सो राजेन्द्र जी अपवाद हैं, ऐसा नहीं है। वे तो विरासत के परचम को हिफाजत के साथ थामे हुए हैं। जब उन्होंने यह परचम थाम रखा है तो वे कुछ के लिए नायक होंगे तो अनेकों के लिए खलनायक भी हो सकते हैं। वे नायक और खलनायक, दोनों छोरों के बीच शटलिंग करने के लिए अभिशप्त हैं। वे इस नियति से बच नहीं सकते। बचने या पलायन का अर्थ है उनका 'अस्तित्व-संकट' में धँसना। इसलिए अस्तित्व-संकट से बचने के लिए राजेन्द्रजी के लिए जरूरी है कि वे खलनायक के करतब दिखाते रहें। क्योंकि यह वह काल है जब मीडिया की बदौलत खलनायक हीरो के रूप में स्थापित हो रहे हैं। तब खलनायकी से परहेज कैसा? लेकिन इस खलनायकी का अपना आनन्द है। एक थ्रिल है इसमें। यह तभी महसूस हो सकता है जब आपको राजेन्द्र यादव की सोहबत नसीब हो। सोहबत में हुड़दंग हो, शब्दों-फिकरों से सिर-फुटव्वल हो, जाम छलकें और व्यवस्था की ऐसी-तैसी की जाए, यादवजी के यहाँ, यादवजी की

मौजूदगी में गजेन्द्रजी की भीतर-बाहर से बखिया उधेड़ी जाए, तब खलनायकत्व का थ्रिल सिर पर चढ़कर बोलता है। इस थ्रिल का ताण्डवी दृश्य एक बार नहीं, मैंने कई बार देखा है। राजेन्द्र यादव के सौजन्य से।

राजेन्द्र जी से पहला परिचय पाठ्यपुस्तक के माध्यम से हुआ था। शायद कोई कहानी लगी हुई थी। यह किस्सा 1959-60 का है। तब मैं मेट्रिक का छात्र हुआ करता था। इसके पश्चात् 'सारा आकाश' फिल्म देखी और इस लेखक के दृष्टि फलक को गौर से देखा। यदा-कदा सभा-गोष्ठियों में चलताऊ मुलाकातें होती रहीं। लेकिन कभी समीप जाने का अवसर नहीं मिला। कोई जरूरत भी महसूस नहीं की। पत्रकारिता-कर्म से जुड़े होने के कारण मुझे नेताओं से फुरसत नहीं थी। प्रायः राजनीतिक व संसदीय पत्रकार लेखक को अपेक्षित महत्त्व देने में संकोच करते हैं। वे सत्ता-नायकों व खलनायकों की लतरानियों को कवर करने के इतने अभ्यस्त होते हैं कि उन्हें स्वयं में सत्ता की अंगड़ाइयाँ महसूस होने लगती हैं। तब लेखक-वेखक की बिसात क्या है उनके लिए? ऐसे में हम दोनों के बीच फासला रहना स्वाभाविक ही था। लेकिन इस फासले को समेटा अरविन्द जैन ने। मैं क्या देखता हूँ एक शाम राजेन्द्रजी को लेकर अरविन्द ने मेरे घर धावा बोल दिया। मैं चौंका, माजरा क्या है? देश का एक बड़ा लेखक मेरे यहाँ इस तरह नमूदार होगा, यह मैंने नहीं सोचा था। वैसे राजनीतिज्ञ प्रकट होते ही रहते थे। कथाकार राजेन्द्रजी का आना मेरे लिए सुखद आश्चर्य से कम नहीं था। जब लेखक अवतरित हो ही गया तो उसकी मेजबानी करनी ही थी।

यह नवें दशक का अन्तिम क्वार्टर रहा होगा। उन दिनों मैं जंगपुरा एक्सटेंशन रहा करता था। एक पॉश कॉलोनी। इसी कॉलोनी में नेमिचन्द्र जैन के अलावा राजेन्द्र अवस्थी, कन्हैयालाल नन्दन जैसे सदाबहार व हर मौसम अजीज साहित्यिक-पत्रकार भी रहा करते थे। वैसे मैं तीनों के सान्निध्य से वंचित रहा, यह मैं स्वीकार करता हूँ। ऐसे में 'सारा आकाश' के लेखक का पदार्पण मेरे लिए विस्मयकारी घटना ही थी। मैं देखता हूँ अरविन्द मुझे इशारे से कुछ कहना चाहता है। हम दोनों बगलवाले कमरे में जाते हैं। वह कहता है भाई साहब! माल निकालो। माल? मैं समझा नहीं। मैं अचरज से पूछता हूँ। विदेशी व्हिस्की भाई साहब। कल ही तो विदेश यात्रा से लौटे हो। अभी है ना? हाँ...हाँ है। चलो बैठ जाते हैं। हम तीनों बैठ जाते हैं। चन्द मिनटों में इन्तजाम, पूरा ब्लैक लेबल और गिलास। अरविन्द के लिए बीयर। करीब एक घण्टा बैठक जमती है। सामान्य राजनीति की बातें होती हैं। उपराष्ट्रपति के वेस्टइंडीज के दौरे को कवर करके लौटा था इसलिए सूरीनाम, गयाना आदि देशों में बसे प्रवासी भारतीयों के इर्द-गिर्द चर्चा केन्द्रित रहती है। बैठकबाजी लगभग एक-डेढ़ घंटे चलती है। अरविन्द इशारे से फिर कुछ कहता है। मैं भीतर कमरे में जाता हूँ और एक बॉटल व सिगरेट के कुछ पैकेट के साथ लौटता हूँ। लेखक के प्रथम घर आगमन के उपलक्ष्य में मैं उन्हें यह विदेशी सौगात भेंट चढ़ाता हुआ कार में बैठा देता हूँ। वैसे मैं यहाँ कनफैस कर लूँ यह सौगात मेरे लिए भी फोकट की ही थी। वी.वी.आई.पी. की विदेश यात्राओं के दौरान मीडियाकर्मियों का इस तरह के उपहारों से मालामाल होना आम

बात है। तो मैं जब भी विदेश यात्रा से लौटता, हर बार चार-पाँच बोतलों और सिगरेट कार्टन से लदा रहता। यह दौर चला, खूब चला और 1998 में इसकी हठात् मौत भी हो गई। पत्रकारिता छोड़ मीडिया शिक्षक जो बन बैठा। लेकिन राजेन्द्रजी को 30 अप्रैल, 2004 तक यही इम्प्रेशन है कि मेरे यहाँ विदेशी सुरा की अक्षत सुराही है जिससे जब चाहो गले को तर कर लो, और बने रहो 'रिंदे शाहिदबाज'।

इस तरह हुआ खलनायक उर्फ राजेन्द्र यादव से मेरा पहला एनकाउण्टर। माध्यम बने खलनायक के एडवोकेट जनरल अर्थात् अरविन्द जैन 'आंसू'। पिछले एक-दो सालों से अरविन्द भूतपूर्वों की श्रेणी में शामिल हो चुके हैं। उनका उत्तराधिकारी कौन है? यह लाख टके का सवाल है। शायद अब वे खुद अपने पैरोकार हैं। औरों पर से उनका भरोसा उठ गया है, यह कह नहीं सकता। लेकिन स्वयं के द्वारा स्वयं की पैरोकारी में सबसे बड़ा फायदा यह जरूर है कि कहाँ फँसना है, कहाँ किसे फँसाना है, किस विवाद को कितना तूल देना है और कहाँ उसे खत्म करना है, यह कर्म सुविधापूर्वक किया जा सकता है! जब दूसरे पैराकारी करेंगे तो वे कीमत वसूलेंगे और अपने इरादों के मुताबिक उसमें पेंच पैदा करेंगे, और मंसूबों को ध्यान में रखकर उन्हें सुलझाएँगे। तब राजेन्द्रजी ऐसा जोखिम क्यों मोल लें?

जंगपुरा से शुरू हुआ राजेन्द्रजी की सोहबत का सिलसिला कभी रुका नहीं। इससे यह यमुना क्रास कर मयूर विहार तक पहुँचा। आज हम दोनों ही यमुनापारी मयूर विहार वासी हैं। पिछले एक दशक से। राजेन्द्रजी से एक-दो साल पहले मैं मयूर विहार पहुँच चुका था। तब मेरे लिए सुधीश पचौरी 'इमाम-ए-मयूर' विहार हुआ करते थे। एक दिन खबर फैली कि राजेन्द्र यादव दक्षिण दिल्ली से अपना टीनटप्पर समेट कर मयूर विहार आ पहुँचे हैं। कवि केदारनाथ सिंह के पुत्र के मकान में किराये पर आबाद हो गए हैं। बस! क्या था? राजेन्द्रजी जहाँ हों वहाँ भूकम्प न आए, यह कैसे मुमकिन है? मयूर विहार में राजेन्द्रजी के दक्षिण दिल्ली से पलायन की दास्तान के नए-नए संस्करण फैलने लगे। मयूर विहार की बौद्धिक व साहित्यिक दुनिया इस खलनायक के इर्द-गिर्द घूमने लगी। कभी सुनने को मिलता राजेन्द्रजी और मन्नू भंडारी में नूरा कुश्ती चल रही है। किसी ने कहा सम्पत्ति को लेकर अनबन हो गई है। कोई कहता कि यह सब नाटक आयकर वालों से बचने के लिए रचा गया है। उड़ानेवाले यह भी उड़ाते कि मन्नूजी ने यादवजी को अर्धरात्रि में घर से निकाल दिया है। आखिर कब तक उनके मानसिक अत्याचारों को झेलतीं? राजेन्द्रजी ने मन्नूजी के घर को नरक बना रखा था। बेइन्तिहा रंगरेलियाँ हुआ करती थीं। बेचारी, वे कब तक सहन करतीं? संस्कारशील महिला हैं। यादवजी ठहरे छुट्टा सांड! आखिर कब तक बाँधे रखती सांड को? शिष्टता की तमाम सीमाओं को भंग करने वाले फिकरे मयूर विहार के एपार्टमेंटों में गूँजा-करते थे। तब...मैंने तय किया कि राजेन्द्रजी को खलीफा-ए-मयूर विहार कहना ज्यादा ठीक रहेगा। आज खलीफा और इमाम, दोनों आजू-बाजू रहते हैं, एक ही अपार्टमेंट में। पर अजनबी से।

मयूर विहार में आने से सोहबत लगातार गाढ़ी होती गई। ऐसा नहीं है कि

मन्नूजी के घर में उनकी गैरमौजूदगी में मेरी राजेन्द्रजी के साथ बैठकबाजी कम हुई थी? वहाँ भी हुआ करती थीं बैठकबाजियाँ जिनमें शरीक हुआ करते थे कृष्ण कुमार, सुदीप बैनर्जी, नामवर सिंह, जे. पी. दास, सीमा मुस्तफा, राजी सेठ, सुरभि पांडे आदि। मन्नूजी के साफ-सुथरे मकान में बौद्धिक मस्ती खूब छना करती थी। लेकिन मन्नूजी की उपस्थिति में सब कुछ सयाने ढंग से होता था। लेकिन मयूर विहार में बसने के बाद राजेन्द्रजी खुद को 'लिबरेटेड सोल' महसूस करने लगे। ऐसा मुझे लगता है। शाम की बैठकबाजी और राजेन्द्र यादव, एक-दूसरे के पर्याय कहलाने लगे। इन बैठकबाजियों के स्थायी सदस्य बने रवीन्द्र त्रिपाठी, अनिल मिश्रा, टोडरमल ललानी, श्रीनन्द झा, बिजरंजन मणि, संजय सहाय, जोसफ गार्थिया, इब्बार रब्बी, शिवनारायण सिंह समेत अनेक। बैठकबाजी भी एक नहीं, कई प्रकार की होती है। सूफीयाना बैठकबाजी को ही लें। इसके स्थायी निमन्त्रित सदस्यां में पंकज बिष्ट, सुधीश पचौरी जैसों को रखा जा सकता है जिनके लिए सुरा और सुन्दरी, दोनों ही त्याज्य हैं। कभी-कभार वाली बैठकबाजी में प्रभा खेतान, ज.पी. दास, सत्येन्द्र, सीमा झा, अनामिका, मैत्रेयी पुष्पा, जौकी, दूर्वा सहाय, ओम थानवी, कुलदीप बडोला जैसे लोग आते-जाते रहते हैं। वैसे राजेन्द्र यादव, बैठकबाजी, अतिथियों और अवसरों के चयन के मामले में काफी सतर्कता बरतते हैं। बेमेल घालमेलों से वचते हैं। अवसर के अनुकूल एक्सक्लयूसिव बैठक भी वे जमाते हैं, जिनमें मुझ जैसे खुरदरे शख्स निमन्त्रित नहीं होते हैं। बस! ऐसी कुलीन व नफासतभरी बैठकों की चर्चाएँ छन-छन कर पहुँचती रहती हैं। कई दिनों तक। सुबह की बैठकें अलग होती हैं, नाश्ते पर। सुना जाता है, ये बैठकें प्रोफेशनल किस्म की होती हैं। गुरु-गम्भीर।

वैसे राजेन्द्रजी नाश्ता छक कर कराते हैं। बैठकबाजी का लुब्बे-लुआब यह है कि इसकी रौनक और रंगत प्रायोजक तय करते हैं। जैसा सखीदाता, वैसी दावत। अगर सखीदाता ढंग का है तो साथ में डिनर भी, वरना शराब के साथ चना-चबेना नक्की। लेकिन सखीदाता या प्रायोजक को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि महफिल उसके बाप की हुई। जब महफिल पर राजेन्द्रजी का खुद का हक नहीं होना है तो दूसरे का वे क्यों होने देंगे, भला? सखीदाता का रोल इन्तजाम तक सीमित रहता है। बस! इसके संचालन की लगाम सभी के हाथों में होती है। लोकतन्त्र और अराजकता, दोनों के फर्क मिट जाते हैं। कोई अपने ही घर में लोगों को बुलवा कर अपने ही पुर्जे उड़वाए, अगर यह तमाशा देखना है तो किसी रोज शरीक हो जाइए इस बैठकबाजी में। सच मूर्तिभंजन की कला सीखनी है तो राजेन्द्रजी की बैठकबाजी से बेहतर कोई जगह नहीं हो सकती। स्वयं के और दूसरों के मूर्तिभंजन के मामले में राजेन्द्र यादव मुझे मूर्तिभंजकों के 'लास्ट समुराई' प्रतीत होते हैं।

पर यहाँ यह गौरतलब है कि मूर्तिभंजन और मूर्तिमंडन राजेन्द्रजी के लिए 'शगल' नहीं हैं और न ही ये बेमकसद होते हैं। इन दोनों करतबों के पीछे उनकी वैचारिक दृढ़ता और मूल्य आस्था रहती हैं। इस मामले में वे निर्ममता के साथ अपनी स्कीम पर अमल करते हैं। फिर चाहे उनके लक्ष्य-रथ तले अपने कुचले जाएँ या पराए,

वह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर ही रुकेगा। इसके निजी अनुभव मुझे है। इस अनुभव के कारण हम दोनों के बीच करीब दो वर्ष तक 'शीत युद्ध' की स्थिति बनी रही। बिल्कुल कोई संवाद नहीं रहा।

घटना 1995 की है। मैंने एक पुस्तक सम्पादित की थी—अगला प्रधानमन्त्री कौन? इसके दो भाग थे। पहला भाग सीमित सर्वेक्षण पर आधारित था। सर्वेक्षण नतीजों के अनुसार, 1996 के आम चुनावों में भारतीय जनता पार्टी, सबसे बड़े दल और अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमन्त्री के रूप में उभरने वाले थे। पुस्तक का दूसरा भाग वरिष्ठ राजनीतिक व चुनाव विश्लेषकों के लेखों पर केन्द्रित था। राजेन्द्र यादव प्रथम भाग से कतई सहमत नहीं थे। वे चाहते थे कि सर्वेक्षण के भाग को पुस्तक से निकाल दिया जाए। लेकिन मैं इसके लिए तैयार नहीं हुआ। हम दोनों के बीच कई बार हंगामी बहसें हुईं। मैंने हथियार नहीं डाले और राजेन्द्र जी ने भी हमले जारी रखे। अन्ततः राधाकृष्ण प्रकाशन ने पुस्तक छापी। इसके बाद राजेन्द्रजी का लावा फूटना ही था। हंस के मार्च अंक (1996) के सम्पादकीय में मेरी प्रगतिशील छवि के परखच्चे पूरी शिद्दत के साथ उड़ाए गए। पुस्तक की बिक्री पर इसका असर पड़ा और मुझे कठघरे में खड़ा होना ही था। यार-दोस्तों ने मेरा अघोषित रूप से बहिष्कार शुरू कर दिया। सभा-आयोजनों में मैं स्वयं को अलग-थलग पाने लगा। राजेन्द्रजी के सम्पादकीय के कारण पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षकों ने पुस्तक की जरूरत से अधिक खाल उतारी। मेरे देखते-देखते मुझे भाजपा समर्थक पत्रकार घोषित कर दिया गया। मैं निःसहाय, निरुपाय, अकेला खड़ा स्वयं की छवि-ध्वंस का तमाशा देखता रहा। मेरे लिए वे बेहद मानसिक पीड़ा के दिन थे। इसके सूत्रधार थे राजेन्द्र यादव।

लेकिन इस पीड़ा के दौर में संवाद टूटा नहीं था। बैठकबाजियाँ चलती रहीं। मन में टीस लिए मैं इनमें शामिल होता रहा। राजेन्द्रजी के चेहरे पर एक मदमस्त योद्धा की चमक दमकती रही क्योंकि मैं एक मोर्चा हार चुका था। राजेन्द्रजी यह कभी नहीं चाहते थे कि उनके खेमे का सदस्य भाजपा जैसी साम्प्रदायिक व फासीवादी पार्टी को जिताए। "इसे हराना ही चाहिए। इस पर कोई समझौता नहीं हो सकता। तुम्हारा सर्वे और नतीजे गलत हैं। मैं कुछ नहीं सुनूँगा। तुम बिक गए हो।" राजेन्द्र जी ने अपना फैसला सुना दिया था। प्रकाशक अशोक माहेश्वरी स्वयं राजेन्द्रजी के क्रोध से चिन्तित थे। वे पुस्तक को प्रकाशित करने से घबरा रहे थे। उन्हें भय था कि कहीं राजेन्द्र यादव उनके प्रकाशनों का लेखकों से बहिष्कार न करवा दें। यह है राजेन्द्र यादव की वैचारिक प्रतिबद्धता का करिश्मा!

प्रतिबद्धता के मामले में राजेन्द्रजी सबजेक्टिव और मनोगत व्यवहार करते हैं। सर्वेक्षण के नतीजों के सन्दर्भ में मेरा तर्क था कि सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक शक्तियों को निजी पसन्द या नापसन्द के चश्मे से नहीं देखा जाना चाहिए। समाज की व्याधियों का वैज्ञानिक ढंग से 'डाइगनोसिस' किया जाना चाहिए। यदि यह हिन्दुत्व एड्स से ग्रस्त है तो इसे परीक्षण के माध्यम से उघाड़ा जाना चाहिए। तभी इसका सही उपचार सम्भव है। लेकिन राजेन्द्रजी कहाँ सुनने वाले थे तर्कों को? यहाँ तक

कि पुस्तक की भविष्यवाणी सही निकलने के बावजूद वे मेरे निष्कर्षों को पचा नहीं पाए। चुनावों में भाजपा सबसे बड़ी पार्टी हुई और वाजपेयी पहली बार तेरह दिन के प्रधानमन्त्री बने। राजेन्द्रजी ने फिर से सम्पादकीय तोप दागी—"रामशरण जोशी एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें इस बात का दुःख नहीं है कि उनकी झोंपड़ी जल गई। लेकिन इस बात की खुशी है कि उनकी जलने की भविष्यवाणी सही निकली।"

इस टिप्पणी ने मुझे बेहद 'अपसेट' कर दिया। क्रोध के क्षणों में राजेन्द्रजी का सहजभाव से फोन आ गया। मैं भरा हुआ बैठा था। फोन पर पूरी आग उगल दी। इससे पहले कि राजेन्द्र जी मुझे नॉरमल करते, मैंने झटके से फोन काट दिया। इसके पश्चात् संवादहीनता का दौर शुरू हो गया। संवादहीनता उसी दिन टूटी जब कथाकार सुरेन्द्र वर्मा ने राजेन्द्र जी के घर से फोन किया और शाम की बैठकबाजी के लिए इनवाइट किया। उन्हें उस रोज 'मुझे चाँद चाहिए' के लिए साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला था। वे अपनी खुशी के क्षणों में मुझे भी शामिल करना चाहते थे। लेकिन राजेन्द्रजी ने सुरेन्द्र वर्मा को उकसाया भी कि मैं भी इस सीमित आयोजन का गवाह बनूँ। वैसे अरविन्द जैन से मुझे खबरें मिलती रहती थीं कि राजेन्द्रजी इस संवादहीनता से कितने दुखी हैं। "पंडित जी, बेकार में नाराज हो गए। खेल भावना से टिप्पणी को नहीं लिया।" अरविन्द ने मुझे राजेन्द्रजी की इस भावना से अवगत भी कराया था। इस शीत युद्ध के कारण मैं दो वर्ष तक राजेन्द्रजी के जन्म दिवस आयोजनों से दूर रहा। इसका गहरा दुख उन्हें हुआ। मित्रगण मुझे बतलाते रहे। लेकिन सुरेन्द्र वर्मा की पहल से शीत युद्ध का अन्त होने पर ऐसा लगा ही नहीं कि कभी हम दोनों के मध्य सम्बन्धों का सूखा पड़ा था। उस रोज भी जम कर बहस हुई और राजेन्द्रजी की धज्जियाँ उड़ाई गईं। राजेन्द्रजी की हरचन्द कोशिश रहती है कि मित्रों के साथ बनी रहे, सहमति और असहमति निर्मल भाव से मुखरित हो, परिपक्व लोकतान्त्रिक व्यवहार का सुबूत बैठकबाज दें और फिर मिलने के लिए बैठकबाजी को रात ग्यारह बजे से ज्यादा न चलने दें। इसके बाद खलनायक का निद्राकाल शुरू हो जाता है।

मैंने राजेन्द्रजी को व्यक्तिगत स्तर पर नाराज होते या गठाने पालते हुए लगभग नहीं देखा है। उनके वैचारिक व विचारधारात्मक मतभेद निश्चित ही पूर्वाग्रह की हद तक होते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि वह अतिथि बैठकबाज का अनादर करें या उसे अपमानित होने दें। इसका अधिकार वह किसी को नहीं देते हैं। कई बार ऐसे मौके आए हैं जब उनके यहाँ बहस के दौरान एक निमन्त्रित मित्र ने दूसरे निमन्त्रित मित्र का अपमान किया। राजेन्द्रजी ने तुरन्त ही ऐसी हरकत के खिलाफ गहरी नाराजगी जाहिर की। ऐसा भी हुआ है जब कतिपय मित्र उनके अप्रत्याशित रवैये के विरोध में शामे-बैठकों से उठकर भी चले गए हैं। इतना समझ लें, राजेन्द्रजी मेजबानी और मेहमानवाजी, दोनों को लेकर संवेदनशील व सावधान रहते हैं। वरिष्ठ व कनिष्ठ की ग्रन्थियों से मुक्त रहते हैं। इसके विपरीत हिन्दी के छोटे-मोटे लेखक, कवि और आलोचकों के लिए ये ग्रन्थियाँ उनके 'अस्तित्व वियाग्रा' का रोल अदा करती हैं। ऐसा मेरा अनुभव व अवलोकन रहा है।

राजेन्द्र यादव को ऐसी उन तमाम हरकतों व प्रवृत्तियों से सख्त चिढ़ है जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र या मनुष्यता को प्रतिगामी बनाती हैं तथा मध्ययुग की खंदकों में धकेलती हैं। जाहिर है, उन्हें कतिपय क्षेत्रों में निषिद्ध माना जाता है। उन्हें परास्त करने के लिए उन पर जातिवाद के अमोघ शस्त्र से प्रहार भी किया जाता है। पिछले कुछ वर्षों में दिल्ली और प्रादेशिक साहित्यिक ठिकानों के स्वयम्भू वीर राजेन्द्रजी पर दलित और पिछड़ों का साहित्यिक जातिवाद फैलाने का आरोप चस्पाते रहे हैं। सवर्ण क्षेत्रप लेखकों में उनके प्रति गहरी जुगुप्सा की झलक भी मुझे मिली है। यद्यपि, स्त्री-विमर्श के मामले में उनके जुनूनी करेक्टर ने उन्हें दुशासन या प्राण का चोला पहनवा दिया है। पर यह इंसान पिछले डेढ़ दशकों से बगैर कुछ सर्जनात्मक लेखन के साहित्यिक फलक पर छाया हुआ है, बल्कि इसने इसकी सरहद को ट्रांसेन्ड भी कर दिया है! यह कैसे हो सकता है? राजेन्द्र यादव की यही हिमाकत सवर्ण सर्जकों को हजम नहीं हो पा रही है। इसलिए चलिए इसे जातिवादी साँचे में ही क्यों न ढाल दिया जाए? "राजेन्द्र अब 'यादव लेखक' हो गए हैं। पिछड़ों को प्रोमोट करते रहते हैं।" इस तरह के फिकरे मुझे प्रायः सुनने को मिल जाते हैं। सच्चाई इसके विपरीत है। राजेन्द्रजी के मित्रों व परिचितों के कुनबे में बामन, ठाकुर, जैनी, वैश्य, कायस्थ, खत्री, भूमिहार जातियां के लोग ही जमे हुए दिखाई देते हैं। दलित और पिछड़ों के लेखक सजावटी या कैजुअल अन्दाज में ही उनके यहाँ आते-जाते हैं। इन चीखट, सूखे और खुरदुरे मिनखों के साथ राजेन्द्रजी की अन्तरंगता है, ऐसा मुझे देखने में नहीं आया। राजेन्द्र यादव के चौक, चबूतरा और चौबारा तक ही ये लोग सीमित रहते हैं। अलबत्ता, इनके लिए यह लेखक पूरी दीवानगी के साथ लड़ता है। अब राजेन्द्रजी के एजेण्डे पर सबल्टर्न समाज अर्थात् आदिवासी भी नजर आते हैं। शायद इसीलिए रमणिका गुप्ता के साथ राजेन्द्रजी सोहबत की पेंगें खूब जमाने लगे हैं। दलित और आदिवासी लेखक-लेखिकाओं की गोष्ठियों में सम्पादक हंस की सक्रियता काफी बढ़ गई है। लेकिन आसमान में पत्थर उछालना है, कभी तो सुराख होगा, यही सोच कर यह 'अनलहकी लेखक' भोर साढ़े 4 बजे से रात ग्यारह बजे तक पत्थर आसमान में उछालता रहता है। पत्थर नीचे भी गिरते हैं और लेखक खुद भी लहूलुहान होता है। पर वह सुराख करने की तड़प से बाज नहीं आता है।

दिल्ली ही क्या, जयपुर, भोपाल, लखनऊ, पटना, कलकत्ता या जहाँ कहीं लेखक, कवि जीव बसते हैं, मुझे लगातार यह सुनने को मिलता है कि राजेन्द्र यादव की अंटी में कई सेठ-सेठानियाँ बँधे पड़े हैं। यह अंटीबाज इन सबका सुनियोजित तरीके से दोहन करता है। इन शोषित व उत्पीड़ितों में प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, कुसुम अंसल, जया जादवानी, दूर्वा सहाय, संजय सहाय, टोडरमल ललानी, अरुंधती राय जैसों को शुमार किया जाता है। वैसे नौकरशाहों, प्रकाशकों, प्राध्यापकों, प्राध्यापिकाओं आदि की बटालियन अलग से दूसरी अंटी में लिपटी हुई है। जरूरत के मुताबिक सम्पादक हंस अंटी ढीली करते हैं, तिजोरी स्वतः खुल जाती है। यह चर्चा कम नहीं रहती कि हंस में 'सीरत से अधिक सूरत' देखकर लेखिकाओं की रचनाएँ प्रकाशित होती हैं। कतिपय दोस्त

यह कहने से भी नहीं चूकते कि राजेन्द्रजी की निजी जमा-पूँजी व एसेट्स एक करोड़ से कम नहीं है। यही वजह है कि राजेन्द्रजी हर तीसरे-चौथे बरस अपनी कार बदल डालते हैं। गरज यह कि राजेन्द्र यादव का चारों तरफ जलवा ही जलवा है। राजेन्द्र यादव के साथ इन तमाम चर्चाओं, अफवाहों, सत्यताओं आदि पर जम कर बहस होती है। उनके घर में दो एयर कंडीशनर हैं, वीडियो सिस्टम है, फ्रीज है, वातानुकूलित इंडिका है और मौसम व अवसरानुकूल ठसकेदार पोशाकें हैं। और साथ में है पचहत्तर वसन्त-पतझर का इतिहास।

मैंने कई बार राजेन्द्र यादव को अपराधबोध से पीड़ित भी देखा है। सच! राजेन्द्रजी के मन में इन सुख-सुविधाओं को लेकर गहरा सन्ताप पलता है। मेरे सामने यह कई बार फूटा भी है। यह कितना जेनुइन है या प्रपंची, यह मैं नहीं जानता। इसे केवल...केवल राजेन्द्र यादव या रब्ब ही जानते हैं। मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि क्या पचास-पचपन सालों से अहर्निश लेखन व सम्पादन कर्म से जुड़े इंसान को आधुनिक जीवन की इन सामान्य सुविधाओं का हकदार नहीं होना चाहिए? मेरा मत है, निश्चित रूप से होना चाहिए। यदि वह नहीं है तो यह लेखक की नहीं, हिन्दी समाज की दरिद्रता है। सुविधाओं की दृष्टि से राजेन्द्र यादव अपवाद नहीं हैं। अब हिन्दी में लेखन व शिक्षण कर्म से जुड़े अनेक परिचित चेहरे दिखाई दे जाएँगे जिनके पास यह सामान्य मध्यवर्गीय सुविधाएँ हो गई हैं। कुछेक नाम गिनाए जा सकते हैं : कमलेश्वर, अशोक चक्रधर, असगर वजाहत, निर्मला जैन, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, डॉ. नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, श्रीलाल शुक्ल, पंकज बिष्ट, मनोहर श्याम जोशी, हिमांशु जोशी, उदयप्रकाश, राजकिशोर आदि। मध्यवर्गीय सुख-सुविधाओं व इलेक्ट्रॉनिक तन्त्र से सम्पन्न हिन्दी की इस पीढ़ी का स्वागत किया जाना चाहिए। निःसन्देह, हिन्दी मीडियाकर्मियों की मध्यवर्गीय पीढ़ी, लेखकों की पीढ़ी की तुलना में अधिक हॉरिजॉन्टल है।

दरअसल, भारत और विशेषतः हिन्दी समाज मूलतः अभावग्रस्त व गतिहीन व्यवस्था का प्रतीक है। फॅनोन का यह कथन सही ही है कि धरा के अभागे, उत्पीड़िकों की तुलना में, आपस में अधिक लड़ते हैं। जब कोई अभावों की दुनिया को अलविदा करता हुआ दीखता है तो अभागे उसकी लंगोटी खींचने के लिए दौड़ पड़ते हैं। इसे एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में लिया जाना चाहिए। वैसे राजेन्द्रजी अभावों के संस्कारों से पूरी तरह मुक्त नहीं हुए हैं। यद्यपि वे अभावग्रस्त परिवार से नहीं हैं लेकिन अभावजनित परिवेश ने उनके दृष्टि जगत को प्रभावित अवश्य किया है।

राजेन्द्रजी की एक बेहद गन्दी आदत है। जब वे किसी के साथ खाना खा रहे होंगे तो उनका उपक्रम रहेगा यह देखने का कि कौन कितना खा रहा है? किसने कितनी चपाती या सब्जी खाई? यदि किसी ने तीसरी या चौथी चपाती ले ली तो उसे टोक देंगे—अरे कितना खा रहे हो? दूसरे की थाली को घूरते रहना संस्कार-दरिद्रता का प्रतीक है। इस आदत का मैंने कई बार विरोध किया है। राजेन्द्रजी की सफाई होती है : "क्या करूँ मैं दो ही चपाती खा सकता हूँ। दूसरे इससे अधिक क्यों खाएँ?

दूसरे की थाली पर नजर गड़ाने की मेरी पुरानी आदत है।'' मैं भी मजाक में कह देता हूँ : ''राजेन्द्रजी नजर जरूर गड़ाएँ रखें, पर नजर न लगाएँ।''

राजेन्द्रजी की एक और कचोटने वाली प्रवृत्ति है। वे इस जुगाड़ में रहते हैं कि उन्हें लिफ्ट मिलती रहे और वे अपना पैट्रोल बचाते रहें। अरविन्द जैन को उनकी यह प्रवृत्ति काटने को दौड़ा करती थी। ''ताऊ अपना एक लीटर बचाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं।'' इस लीटर-बचाऊ लत को लेकर अरविन्द ने ताऊ के कई किस्से जमा कर रखे हैं। हर किस्सा दिलचस्प भी है और चिढ़ भी पैदा करता है। अरविन्द जैन हरियाणा के हैं इसलिए पचपन से ऊपर सभी के लिए 'ताऊ' का सम्बोधन चल निकला है। इस पर मोहर डॉ. रमेश सक्सेना की एक हरकत ने और पुख्ता कर दी। दो साल पहले सक्सेना ने राजेन्द्रजी को उनके जन्म दिवस पर ठेठ हरियाणवी अन्दाज का लगभग आदमकदी हुक्का भेंट किया था। यह नायाब तोहफा था। इसके बाद 'ताऊ' सम्बोधन लेजीटीमेसी से लैस हो गया। वैसे पिछले कुछ समय से पैट्रोल-बचाऊ लत में अभूतपूर्व सुधार हुआ है!

पते की बात यह है कि राजेन्द्रजी अपने उपलब्ध सीमित संसाधनों का अधिकतम उपयोग बेहतरीन ढंग से करने के चक्कर में रहते हैं। इसी रणनीति को ध्यान में रखकर वे अपनी अंटी को ढीली या टाइट करते रहते हैं। यही सबसे बड़ी वजह है कि पिछले डेढ़ दशक से मासिक 'हंस' नियमित धर्म के रूप में निकल रहा है। कभी नागा नहीं होती। गैर-प्रतिष्ठानी पत्रिका के लिए इसे ऐतिहासिक उपलब्धि ही कहा जाएगा। इस उपलब्धि की पृष्ठभूमि में ताऊ की अंटी में स्वेच्छापूर्वक बंधक प्राणियों की भूमिका को परखा जाना चाहिए। यह सही है कि जब ताऊ दूसरे की थाली पर नजर गड़ाए रख सकते हैं तो दूसरे भी उनकी वातानुकूलित इंडिका और यूनिक पोशाकों को अपना निशाना बना सकते हैं। पाइप को उनकी ऐश के रूप में देखा जा सकता है। अब इतना तो ताऊ को झेलना ही होगा। इतना याद रखें, यादवजी का चटोकड़ापन केवल खाद्य पदार्थो तक ही सीमित नहीं है। यह कई हदों को लाँघता हुआ गुजरता है।

राजेन्द्र यादव अपनी निजी बैलेंस शीट को लेकर काफी 'टची' रहते हैं वे अपना साफ-सुथरा बजट रखना चाहते हैं। चुनाव प्रत्याशी की भाँति अपने दोस्तों के सामने खर्च-आमदनी और सम्पत्ति का बेहिचक खुलासा करने से यादव जी चूकते भी नहीं हैं। उनकी सॉलीलॉकी शुरू हो जाती है। प्रस्तुत है बानगी :

''आज भी मेरे खर्चे का केवल तीस प्रतिशत 'हंस' या अक्षर प्रकाशन वहन करता है। शेष खर्च मेरी रॉयल्टी से चलता है जो लगभग पन्द्रह हजार प्रतिमाह है। हाँ, मेरी परिवार सम्बन्धी कोई जिम्मेदारी नहीं है।''

''आज पचास साल साहित्य की नौकरी के बाद भी मेरे पास उतना नहीं है जो कोई भी तीस साल नौकरी करने के बाद सहज ही प्राप्त कर लेता है—गाड़ी, फ्रिज, फ्लैट, ए.सी इत्यादि। आज मेरा बैंक बैलेंस बताने वाले यह क्यों नहीं बताते कि 75 की उम्र में भी मेरा अपना निवास स्थान नहीं है। अगर मेरे पास पैसा होता तो मैं

सबसे पहले लगातार की असुरक्षा और अनिश्चितता से मुक्ति पाने के लिए अपना फ्लैट लेता।"

"मेरा एक ए.सी. मेरी बेटी रचना ने मुझे आठ साल पहले दिया था। इसी तरह पिछले पन्द्रह-बीस सालों से मैंने चार पैंटों के सिवाय कभी कोई कपड़ा नहीं खरीदा। उसमें अधिकांश टिंकू (रचना) के जन्मदिन पर दिए गए हैं।"

"एक इण्डिका गाड़ी आज मेरे पास है। इससे पहले मारुति थी। चालीस साल मैंने भी बसों और स्कूटरों पर दिल्ली नापी है।"

"मैंने कभी किसी से पद और पैसे के कारण मित्रता नहीं की। हाँ, मेरे कुछ मित्र चालीस-पचास साल पहले अपनी जिन्दगी शुरू कर रहे थे। वे अपनी-अपनी लाइन में ऊँचे पद तक आज पहुँचे हुए हैं। उनमें उद्योगपति हैं, सरकारी-गैर सरकारी नौकर हैं या मुझ जैसे रचनाकार हैं। हमारे बीच आज भी साहित्य और विचार केन्द्र में हैं।"

"मेरे यहाँ होने वाली पार्टियाँ अधिकांश 90 प्रतिशत तक, मित्रों की मेहरबानी से ही होती है। मुझे सिर्फ स्थान की सुविधा प्रदान करनी होती है।"

"मैं पार्टियों में कभी रोटियाँ और शराब के पैग नहीं गिनता। जब तक हमारे दुर्गा की तरह सामने वाला बीस तन्दूरी रोटी का भोग न लगाता हो। हाँ, तीन या चार आइसक्रीमों वाले (निशाने पर मैं हूँ) पर जरूर टिप्पणी करने का मन करता है।"

"मेरी कंजूसी बताने वाले यह क्यों नहीं देखते कि बीसियों बार मैं खुद सोडा-नींबू पीते हुए मित्रों को अच्छी से अच्छी शराब पिलाता हूँ (जो निश्चय ही दूसरा मित्र बाहर से लाया होता है)।"

इस 'पचरंगी चदरिया' को जस की तस छोड़ बैठकबाजों (आलोचकों व प्रशंसकों) से अन्तिम विदाई ली जाए, अब राजेन्द्रजी की यह गुरुचिन्ता प्रतीत होती है। इसलिए वे कभी 'सयाना...सयाना' का खेल भी खेलते हैं। सच, इस समुराई को आसानी से परास्त नहीं किया जा सकता।

पोस्ट स्क्रिप्ट

योद्धा अशक्त और निस्तेज पड़ा हुआ है। जीवनलीला के पटाक्षेप की आशंकाएँ समर क्षेत्र में चील-गिद्ध की भांति मंडरा रही हैं। कब इसके प्राण-पखेरू उड़ें और कब इसकी देह को दबोच कर चिरक्षुधा को शान्त किया जाए? कौन योद्धा का वारिस होगा? कौन बनेगा उसके अस्त्र-शस्त्र और समर कौशल का स्वामी? किसके हाथ लगेगी योद्धा की घोषित-अघोषित सम्पदा? क्या योद्धा अन्तिम विदाई से पहले अपने उत्तराधिकारी के नाम की घोषणा करेगा या खामोशी ओढ़कर विवादों को जन्म देकर चला जाएगा? कुछ भी तो तय नहीं है, सिर्फ कयासी घोड़ योद्धा के आस-पास दौड़ाए जा रहे हैं। योद्धा के मित्रगण इन पर सवार हैं।

राजेन्द्र यादव की सोहबत में अनुभव कई प्रकार के हुए हैं। कई अजीबोगरीब घटनाओं का गवाह रहा हूँ। लेकिन एक घटना ने मुझे भीतर तक हिला दिया था,

और सोचने पर मजबूर कर दिया था कि बौद्धिक कर्म से जुड़े लोग क्या मामूली लोगों से ऊपर होते हैं या उनसे गिरे हुए रहते हैं? सर्जनात्मकता का दावा करनेवालों की संवेदनशीलता क्या यान्त्रिक व निहितार्थ होती है? इस तरह के सवालों ने मुझे तब झकझोरा जब राजेन्द्र यादव अपने कमरे में हठात् बेहोशी की स्थिति में पहुँच गए। ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ले जाने की तैयारियाँ होने लगीं। मन्नू जी और राजेन्द्रजी की पुत्री को गम्भीर हालत से अवगत करा दिया गया। सभी की आँखें नम हो गईं, और किशन (राजेन्द्रजी का सेवापुत्र) तो सबसे अधिक व्याकुल हो गया।

राजनीतिक पत्रकारिता की लम्बी पारी मैंने खेली है। कई दिग्गज नेताओं की ईहलीला के इति क्षणों को कवर किया है। इन क्षणों में नेताओं की पैंतरेबाजी, षड्यन्त्र और लपलपाती महत्त्वाकांक्षाएँ मैंने देखी हैं। देखा है किस तरह छुटभैये परम आस्तिकता के साथ नेताजी के स्वर्ग-सिधारने की कामना ईश्वर से करते हैं, गद्दी खाली होगी तभी उस पर बैठा जा सकता है ना? जाहिर है, गद्दी एक, बैठने वाले अनेक हों तो आशंकाओं की चीलें भी हजार होंगी।

ऐसा ही मेलोड्रामा राजेन्द्र जी के घर पर मंचित हो रहा था, उस दिन। ताऊ अपने बेडरूम में अर्धबेहोशी की हालत में पलंग पर जोर-जोर से साँसें ले रहे थे। डबडबाई आँखें लिए किशन उनकी तिमारदारी में लगा हुआ था। बैडरूम से सटा कॉमनरूम आशंकाओं का खामोश गवाह बना हुआ था। यह वही कॉमनरूम है जहाँ लबरेज चषकों के तलों से क्रान्तियाँ उठती हैं; मनुवादी व्यवस्था को हिमालय में दफनाया जाता है; बुर्जूआ निजाम की मौत की कामना की जाती है; ईश्वर के अस्तित्व पर सवालिया निशान लगता है; पूर्ववाद व उत्तर-आधुनिकता का पोस्टमार्टम होता है; कलावादियों की ऐसी-तैसी होती है; पूर्ण मानव और वैकल्पिक व्यवस्था को लेकर गलाफाड़ व दिमाग तोड़ कवायदें होती हैं; और भाषा पांडित्य (विशेष रूप से अंगरेजी) का ताण्डव होता है।

उस दिन यह एक एबसर्ड मेलोड्रामा था। चूँकि मैं भी इसमें एक पात्र हूँ इसलिए मेरी आँखों में यह कैद हो चुका है। यह किस्सा अगस्त 1998 का है। मैं और राजेन्द्रजी कार से अलीगढ़ गए हुए थे। कुंवरपाल सिंह और शायद शहरयार का कोई कार्यक्रम था। मुझे तानपूरे की भूमिका निभानी थी। कार से गए थे। कार से ही लौटे। लेकिन, सड़क के कारण राजेन्द्रजी की हड्डियाँ भी ठुमरी गाने लगीं। इस शेरशाह सूरी मार्ग पर यह मालूम करने में दिक्कत हो रही थी कि गड्ढे में सड़क समाई हुई है या उसमें गड्ढे खोदे हुए हैं! कार में ही यादवजी को बेचैनी महसूस होने लगी। खैर! अर्ध रात्रि को जैसे-तैसे मयूर विहार ठिकाने लगे और इसके साथ ही राजेन्द्रजी की चहकें ठण्डी पड़ने लगीं। अगले दिन जब फोन नहीं आया तो चिन्ता हुई। फोन किया तो मालूम हुआ कि ताऊ अपने कमरे में लस्त पड़े हुए हैं। स्थिति बिगड़ रही है। सभी मित्रों को बता दिया गया कि राजेन्द्रजी के दर्शन करने पहुँच जाएँ। उन्हें किसी भी समय ऑल इण्डिया मेडीकल इंस्टीट्यूट में दाखिल कराया जा सकता है। मैत्रेयी पुष्पा और सुषमा स्वराज प्राइवेट नर्सिंग होम में कमरे की व्यवस्था करवा रही हैं। शेष

इन्तजाम डॉ. अनूप सराया देख रहे हैं। कई और भी होंगे जो मुझे याद नहीं।

खैर! हम लोग राजेन्द्र जी के घर पर जुट गए। ताऊ की हालत देखकर मैं भी घबरा उठा। सभी के चेहरों पर आशंकाएँ पसरी हुई थीं। चिन्ताएँ थीं। अनिश्चिताएँ थीं। सवाल थे। चलिए, ड्राइंगरूम के मेलोड्रामा का परदा मैं ही उठाता हूँ :

मैं स्वयं से मन में कहता हूँ (ताकि दूसरे न सुन लें) : बुढ़ऊ नहीं रहे तो मेरे उपन्यास का क्या होगा? कौन उसे ठीक-ठाक करेगा? यदा-कदा हंस जैसी साहित्यिक पत्रिका में छपता रहता है, वह भी बन्द हो जाएगा। ताऊ को अभी नहीं मरना चाहिए। राजेन्द्रजी सालों से उकसाते आ रहे हैं कि अपने राजनीतिक पत्रकारिता के अनुभवों को आधार बनाकर एक लम्बा उपन्यास लिख दूँ। उन्हें विश्वास है कि मैं अनेक हैरतअंगेज घटनाओं को दबाए बैठा हूँ। अब इन पर से परदा उठना चाहिए। वे 'मेरे विश्वासघात' शीर्षक से हंस में स्तम्भ भी शुरू करना चाहते हैं जिसमें मैं रूसो के अंदाज में अपनी 'हरमजदगियों' को परत-दर-परत खोल कर रख दूँ। राजेन्द्र जी की सागरो-मीना और पाइप के साथ साँसें अभी तक उछल रही हैं। (मेरे सौभाग्य से) लेकिन न उपन्यास के आसार हैं और न हरमजदगियों को एक्सपोज करने की हिम्मत जुट पाई है (ताऊ के दुर्भाग्य से)।

दूसरा : राजेन्द्रजी का कोई वसीयतनामा है या नहीं?

तीसरा : जहाँ तक मुझे याद है एक 'विल' तैयार कराई गई थी।

चौथा : कोई कह रहा था ट्रस्ट भी बनवा रखा है?

तीसरा : ट्रस्ट की बात लम्बे समय से चल रही है। लेकिन, अभी बना नहीं है। राजेन्द्रजी, किसी पर विश्वास करें तब ना?

दूसरा : तुम तो इतने बरसों से राजेन्द्रजी के साथ लगे हुए हो बेटा। उनकी रग-रग से वाकिफ हो। उनकी तमाम पोलपट्टियाँ जानते हो। तुम पर ट्रस्ट नहीं करेंगे तो किस पर करेंगे?

तीसरा : अजी हाँ...? ताऊ बड़ी कुत्ती चीज हैं। किसी पर भरोसा नहीं रखते हैं। रचना (बेटी) को ही सम्हलाकर जाएँगे।

चौथा : आखिर ट्रस्ट का हुआ क्या?

तीसरा : कागजात तैयार करवा रखे हैं, लेकिन बदलते रहते हैं। मेरा नम्बर कहाँ आने वाला है। पहले उनकी बेटी है, फिर मैत्रेयी पुष्पा, इनके बाद प्रभा खेतान, संजय सहाय, पंकज बिष्ट, ललानी आदि हैं। आपका भी नाम बताया जाता है?

चौथा : एक बार चर्चा हुई थी। मैत्रेयी जी ने भी की थी। इसके बाद सब शान्त!

दूसरा : मालपानी कितना है?

तीसरा : मालपानी तो है, लेकिन जगह का है। आज राजेन्द्रजी हंस का दफ्तर खाली कर दें तो बीस-पच्चीस लाख रुपये कहीं नहीं गए। अक्षर प्रकाशन का पैसा अलग से है। अशोक माहेश्वरी इसे लेना चाहते थे लेकिन ताऊ को तगड़ी पगड़ी चाहिए।

चौथा : पर कुछ तो करना पड़ेगा?

तीसरा : मुझे भी यही चिन्ता है। साँस कब रुक जाए, कौन जानता है। हंस और उसकी ज।' पर सबकी निगाहें गड़ी हुई हैं। ताऊ के मरने के बाद हंस बन्द समझो!

दूसरा : कोई कह रहा था, इसे संजय सहाय ले लेगा?

तीसरा : मुझे भी यही लगता है। संजय और पंकज मिल कर चलाएँगे। ताऊ का असली विश्वासपात्र पहाड़ी ही है। पर मैं बतला देता हूँ। राजेन्द्रजी की लड़की और मन्नूजी किसी को हाथ नहीं रखने देंगी। बुढ़ऊ बुरी से बुरी हालत में सत्तर-अस्सी लाख का आसामी तो है ही। कौन छोड़ता है?

दूसरा : मैं तो कहता हूँ तुम आगे बढ़ो। हंस के स्टॉफ पर तुम्हारा रुआब है ही। सब तुम्हें जूनियर राजेन्द्र यादव मानते हैं। फिर देरी किस बात की?

तीसरा : मैं भी यही सोचता हूँ। कुछ इन्तजाम करना होगा। आखिर इतने साल भाड़ थोड़े ही झौंकी है। सेवा की मेवा का अवसर अब आया है।

इसके बाद मेलोड्रामा बर्खास्त हो गया। शायद राजेन्द्रजी की पुत्री ने सीन में प्रवेश ले लिया था। लेकिन जब ताऊ को मेडीकल में दाखिल कराया गया तो वहाँ भी प्राइव्हेट वार्ड के गलियारे में यही मेलोड्रामा नए दृश्य, नए पात्र और नए संवादों के साथ मंचित होता रहा। मेलोड्रामा के मंचकों को क्या मालूम था कि एक रोज राजेन्द्र यादव मौत को ही विवादास्पद (क्षमा के साथ चूतिया) बनाकर सम्पादक की सीट पर पाइप के साथ आ धमकेंगे : स्त्री विमर्श, मुस्लिम विमर्श और दलित विमर्श के मुद्दे उछालकर 'एंटी हीरो' तथा 'एंटी आइकोन' का प्रेत बनेंगे। प्रेत से वही लोग, वही ठिकाने आतंकित होते हैं जिनके जिस्म व दिमाग और बुनियाद 'भुरभरे' होते हैं। वरना कौन डरता है राजेन्द्र यादव उर्फ खलनायक से?

एक और दोज़ख़ी

मुशर्रफ़ आलम ज़ौकी

कॉलेज के दिनों की बात है तव इस्मत चुग़ताई का, अपने सगे भाई के निधन पर एक 'ख़ाका' पढ़ा था। क्या सचमुच 'दोज़ख़ी' इतने खुशकिस्मत होते हैं? इतने नसीब वाले, कि इन्हें इस्मत जैसी बहन मिल जाती है।

1985, दिल्ली आने से पहले सोचता था, ये दोज़ख़ी कैसे होंगे? क्या दिल्ली के मशीनी-जीवन में ऐसे दोज़ख़ियों से मुलाक़ात सम्भव है?

—सिर पर सींग होंगी?

हाँ

—चेहरे से कुछ-कुछ खलनायक जैसा?

हाँ

—बात-बात में क्रोध का शिकार?

हाँ

आरा से दिल्ली, महानगर-तीर्थस्थल तक जिन लोगों का दर्शन करना चाहता था, उनमें से एक थे श्री राजेन्द्र यादव आरा में तब कितनी बातें होती थीं। कमलेश्वर, यशपाल, अज्ञेय और नामवर जी की। कभी-कभी कुछ दिलचस्प बयानात भी हमारे संवाद का एक हिस्सा बन जाते। जैसे—मृदुला गर्ग के उपन्यास 'चितकोबरा' की बातें। 'काश कि मेरा पूरा शरीर एक स्तन होता'। याद है, उस समय भी हमारी बातें घूम-फिर कर 'सारा-आकाश' या 'राजेन्द्र यादव' पर केन्द्रित रहतीं।

हद तो ये थी कि रात नींद में भी चेहरे की बुनावट से लेकर तीखे शव्दों का मायाजाल हमें परेशान करता रहता। नींद में भी किसी तिलिस्मी कहानियों की तरह हम साहित्य के 'अज़ीमुश्शान' महल में होते। महल में अलग-अलग सिंहासनों पर ये साहित्य-सम्राट विराजमान होते। कहीं दावे। कहीं फ़तवे। कहीं आदेश। साहित्य पढ़ने वाली जनता या रिआया, सहमी हुई इन कठ-साहित्यकारों का तमाशा देख रही होती।

कभी-कभी सिंहासन-घमासान के भी दृश्य हमें जड़वत् कर देते।

—इनमें बड़ा कौन है?

सभी बड़े हैं।

—नहीं सब नहीं। युद्ध तो कभी न कभी थम जाता है। लेकिन यह साहित्य

की रणभूमि है। यहाँ एक सुर में सबको बड़ा मान लोगे तो फिर इनका घमासान कभी थमने का नाम न लेगा।

—तो फिर?

—जो सबसे बड़ा दोज़ख़ी हो। इस युग का सबसे महान खलनायक। उसी को बड़ा मान लो।

दिल्ली आने के बाद, 'हंस' पत्रिका निकलने के एक साल बाद यादव जी से पहली मुलाक़ात हुई थी। याद है तब भी उनको घेरे हुए काफ़ी लोग बैठे थे। तब मैं हिन्दी के लिए बहुत नया था। लेकिन उर्दू में मेरी छवि बन चुकी थी। पहली मुलाकात में कुछ औपचारिक संवादों के इलावा मैं ज़्यादा ख़ामोश ही रहा। 'सपने' का सिंहासन जीवन्त हो उठा था। गोरा-चिट्टा रौबदार काफ़ी बड़ा चेहरा। चौड़ी चमकती पेशानी से ज़हानत की किरणें निकलती हुईं। आँखों पर काला चश्मा। बातों में रौब। चेहरे पर जलाल। बीच-बीच में चुभती हुई बातें और ठहाकों पर ठहाके पूरा माहौल—"राजेन्द्र भैया इसे 'हंसमय' भी कहा जा सकता है।"

जैसे हम किसी 'ख़ानक़ाह' से लौटे हो। पहली मुलाकात का जादू मेरे सर पर चढ़ कर बोल रहा था।

—'ये आदमी...'

"नहीं ये आदमी दोज़ख़ी नहीं हो सकता। ऐसा तेज, ऐसी आभा तो बेचारे कार्ल मार्क्स के नसीब में भी नहीं होगी। वहाँ तो 'दार्शनिक दाढ़ियों' का एक जंगल था, और यहाँ—सफेद चमकते चेहरे में मुझे मृदुला गर्ग के अनगिनत चितकोबरे दिखाई दे रहे थे। पता नहीं क्यों?"

धीरे-धीरे 'हंस' और यादव जी से मुलाकातों के सिलसिले तवील होने लगे। मुझे कभी-कभी वह दोज़ख़ी नहीं, जन्नती दिखाई देने लगे। जन्नत के बारे में मशहूर है कि वहाँ 'हूरें' मिलेंगी, यानी इन्तेहाई हसीन औरतें। लेकिन हमारे यादव जी को जन्नत जाने की कभी ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी। वो औरतों के पास नहीं जाते, मेनकाएँ खुद उनके पास आती हैं। वो श्रीकृष्ण की मुरली की तरह अपना बसन्तराग छेड़ते हैं। और मधुवन की राधाओं में हलचल मच जाती है। स्त्री-विमर्श आरम्भ से ही उनका पसन्दीदा विषय रहा है। औरत—यानी इस काइनात की सबसे हसीन रचना। वे इस मामले में अपने आपको छिपाने के कायल नहीं। वे दूसरे रचनाकारों या आलोचकों की तरह तिरछी दृष्टि से चोरी-चोरी औरत को देखने के कायल नहीं। वे औरत में जीवन के सच्चे अर्थों को ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं और इसके लिए उन्हें सार्तरे या सीमोन द बोउवार की जरूरत नहीं। चाहे मनु जी का विवाद रहा हो या सोलह साल की लड़की को भाभी कहने का मामला। चाहे उनकी आँखें सोनी टी.वी. देखकर ख़राब होती रही हों या 'हंस' में 'कविता' की ताकत को जगह देने का मामला हो। या फिर हंस में केवल लड़की होने के नाम पर रचना छाप देने का आरोप हों मैत्रेयी पुष्पा को साहित्य जगत में चमचम चमकाने का आरोप हो, या फिर अपने जन्मदिन समारोह में राधाओं से घिरे होने का आरोप हो, या फिर अपनी कहानी 'हासिल' में

दफ्तर में आई हुई लड़की से, महात्मा बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति का रहस्य जानना हो, वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जो कभी नहीं घबराते। जो अपनी जिल्लत, बदनामी और रूसवाई को भी अपने होने, सोने और खोने का एक आम रास्ता मानते हैं, इस मामले में वे एक छोटे से बच्चे की तरह हैं। हम हैं, इसलिए ये होगा, बल्ले से बॉल लगेगी तो खिड़की का शीशा टूटेगा। पुरुष हैं तो महिला ही आकर्षण केन्द्र में होगी—शराफ़त के बेजा स्वांग से उन्हें नफ़रत है। और विवादों से घिरे रहना उनकी सबसे बड़ी मज़बूती। उनके चेहरे की मुस्क़ान का राज़। .

वास्तव में कभी-कभी स्वयं मुझे उनसे ईर्ष्या होती है। वे हर बार मुझे जवानों से बढ़कर जवान लगते हैं। उनमें अद्भुत ऊर्जा है। चेहरे पर थकन नाम को नहीं। शायद इसीलिए वे शब्दों के तीर पर तीर छोड़े जाते हैं। और आरोपों की परवाह नहीं करते। मैंने इस पन्द्रह साल की लम्बी मुलाक़ात में उन्हें एक ऐसे युद्धनायक के रूप में देखा और महसूस किया है जिसे परवाह नहीं है कि सामने कौन है। उर्दू, मुसलमान, दलित, स्त्री, हनुमानजी, मनुजी या फिर प्रसार भारती। हनुमान जी को पहला आतंकवादी बनाने का मामला हो या उर्दू रस्मुलखत बदलने का मामला—वे अपने अड़ियल रवैये से कभी परेशान नहीं होते।

मेरे छोटे से 'थ्री मस्कीटियर्स' गिरोह में एक आचार्य महोदय का निवास है। नाम है—आचार्य सारथी। 'वन्स ऑपान ए टाइम' एक ज़माने में आचार्य महोदय ने 'शेष दुनिया' नाम की एक पत्रिका निकाली थी। अल्लाह जन्नत नसीब करे। मेरी शामत आई। यादव जी से बोले—"ज़ौक़ी आप पर उपन्यास लिखना चाहते हैं।" दूसरे दिन 'हंस' के दफ़्तर में, मैं था। अकेला।

फ़तवा सादिर हुआ—तुम मुझ पर नहीं लिख सकते ज़ौक़ी।

पूछा—क्यों?

उत्तर मिला—'कितना जानते हो मुझे? जितना जानते हो वह मुझे जानने का एक अंश भी नहीं है।'

मैं चाहता तो इस पर बहुत कुछ बोल सकता था। लेकिन सच्चाई यही थी कि मैं कितना जानता था। या थोड़े बहुत संवाद, थोड़ी बहुत यात्राओं के माध्यम से उन्हें कितना जान सका था। विवाद से अलग का भी एक चेहरा रहा होगा। मैं इस चेहरे को कितना पहचानता था। अपने प्रोग्राम 'किताबों के रंग' के पहले ही एपिसोड में मनु जी की पुस्तक 'नायक, खलनायक, विदूषक' पर बोलते हुए वे ज़ोर से हँसे थे। ये तीनों मैं ही हूँ। नायक भी, खलनायक और विदूषक भी। पहले मैं नायक था। एक स्वप्न नायक। फिर खलनायक बना और फिर विदूषक फ्यूदोर दोस्तोविस्की का—The story of a ridiculous man. एक इडियट, लेकिन ये ज़माना तो विदूषक का ही है। आपको बार-बार अलग-अलग स्वांग भरना है। घर से बाहर और राजनीति से समाज तक। जो जितना बड़ा विदूषक होगा वो उतना ही बड़ा नायक होगा। आम जीवन से राजनीति तक इन्हीं विदूषकों की हुकूमत है।

मगर, होता क्या है। साहित्य के विदूषक यदि स्वांग भरते हैं तो स्थिति जटिल

हो जाती है। स्थितियाँ यहाँ भी कई बार जटिल हुईं। हिन्दी साहित्य में होने वाली कोई भी घटना सीधे यादव-विवाद से जोड़ दी जाती है।

स्त्री-विमर्श—जिम्मेदार यादव जी दलित-विमर्श—ज़िम्मेदार यादव जी। हाशिये पर मुसलमान—ज़िम्मेदार यादव जी। हिन्दी साहित्य पतन की ओर क्यों? —यादव जी से पूछो।

अब तो ऐसा लगता है जैसे साहित्य से प्राकृतिक आपदाओं तक सबमें यादवजी का ही हाथ है। भूकम्प क्यों हुआ, बारिश क्यों हुई, फसाद का कारण क्या है? कौन-सी हुकूमत बनेगी। राजनीति का ऊँट किस करवट बैठेगा, अश्लीलता क्यों बढ़ी है, समाज किधर जाएगा—आगे चलकर इन सारे कारणों के पीछे एक अकेला हाथ यादव जी का ही पाया जाएगा।

सोलह-सत्रह साल की इन मुलाकातों में कितनी ही ऐसी बातें हैं जिन्हें अभी खोलना नहीं चाहता। कभी लिखना नहीं चाहता। लेकिन लिखने का फ़ैसला कर चुका हूँ। हाँ, यदि कभी-कभी कोई एक बात चुपके से डस जाती है तो बस वही।

"ज़ौक़ी तुम मुझ पर नहीं लिख सकते। कितना जानते हो मुझे"।—

लेकिन शायद अपने अनुभव के आधार पर नहीं, अपनी 'भावुकता' के आधार पर मैंने इस आदमी को जाना है। साहित्य में भावनाओं का कोई दख़ल नहीं, लेकिन साहित्य के बाहर तो भावनाओं का दख़ल होता है। साहित्य के बाहर तो भावनाओं का दखल होता है। मैंने इस व्यक्ति को अन्दर तक जिया है। मारर्वीज़ के 'वन हंड्रेड ईर्यस ऑफ सॉलीट्यूड' की तरह एक बार—शायद पहली बार जब यादव जी से मिलने उनके हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट में गया था। डाइनिंग टेबुल की एक तिरछी कुर्सी पर सुबह नौ बजे आमलेट लगाते हुए—विवाद चींटी की तरह बिल में घुस गया था। कमरे में रखे बड़े से हुक्के और बड़े आकार के टी.वी. के साथ एकाएक सारी चीजें तीव्र गति से घूम गई थी। एकाएक मुझे 'गोगोल' के 'डेड सोल' की याद आ गई। ये घुप्प अन्धेरा, सुबह के झरोखे में सिमटी वीरानी। सौ-साल की उदासी और वीरानी सिमट कर केवल एक वजूद में क़ैद हो गई थी।

मैंने भी ब्रेड लिया, आमलेट खाया, चाय पी। फिर आवाज़ आई।

"अब यहाँ कोई नहीं होगा। पानी देने वाला भी नहीं। अब मैं एक घण्टा आराम करूँगा। तुम्हारा क्या प्रोग्राम है ज़ौक़ी?"

मैंने धीरे-से कहा—"मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा।"

ये मेरे लिए जीवन के अनमोल क्षणों में से एक क्षण था। बचपन में एक किताब पढ़ी थी। 'तिलिस्म होशरूबा'। हँसने वाली आवाज़ की ओर मुड़ने वाला व्यक्ति पत्थर का हो जाता है। लेकिन यहाँ हँस कौन रहा था। यहाँ तो तीन कमरों के फ्लैट के एक उदास बिस्तर पर एक व्यक्ति सो रहा था। व्यक्ति नहीं, एक ऐसा साहित्य-सम्राट जिसके हर शब्द से विवाद के नगाड़े बजने लगते थे। जो अपने समय का महान खलनायक था। वो एक घंटे के लिए सो गया था। बेफ़िक्री की नींद। मुझे यकायक ही उनके शब्द एक बार फिर से याद आए। लेकिन शायद, यहाँ इस एक क्षण में,

मैंने विवादों का असली चेहरा देख लिया था ये चेहरा किसी खलनायक का नहीं था।

एक मासूम और बेहद कमजोर बच्चे का था। जिसे, उसके अपने घरवाले छोड़कर कुछ देर के लिए बाहर चले गए हों।

मैंने इस एक अमिट लम्हे को अपने मन के फ्रेम में फ्रीज़ कर लिया है। यक़ीनन वो मेरी बात पर अभी भी हँसेंगे।

"तो, सोने से क्या होता है!"

वे अपने तर्कों पर ठहाके लगाएँगे। लेकिन काश, मैं अपनी भावनाओं से उस एक लम्हे की तस्वीर बना सकता। शायद इसी एकान्त को, वे बाहर के हंगामों और विवादों से दूर करते हैं। ऐसा व्यक्ति जन्नत की उदासी कहाँ तस्लीम करेगा। उसे तो 'बाहर' का दोज़ख़ चाहिए।

दोज़ख़ी कहीं का।

राजेन्द्र यादव को कितना जानता हूँ...

कृष्ण बिहारी

मेरी एक कहानी है 'अन्ततः पारदर्शी'। उसकी नायिका नायक से पूछती है, "तुम राजेन्द्र यादव को जानते हो?"

नायक का उत्तर है, "किसी को पूरा-पूरा नहीं जाना जा सकता।"

आज जब मैं 'सदी के सबसे बड़े खलनायक या महानायक' पर लिखने बैठा हूँ तो यह सोच रहा हूँ कि खलनायक की भूमिका साहित्य में तो होती है मगर उसकी अपनी जिन्दगी में ऐसा कुछ भी नहीं होता कि वह 'खलनायक' हो। आमतौर पर होता यह है कि दूसरों की तरह उसकी ज़िन्दगी में भी तमाम लोग, स्त्री-पुरुष, आते हैं और उसके साथ उनके नितान्त अपने अनुभव होते हैं। उन्हीं अनुभवों के आधार पर लोग उसे अपने-अपने विशेषणों से विभूषित करते हैं।

मैं राजेन्द्र यादव को खलनायक नहीं मान सकता। ऐसा इसलिए नहीं है कि राजेन्द्र यादव मुझे बहुत 'मानते' हैं। यादव बहुत लोगों को बहुत मानते हैं। वह मुझे न भी मानते होते तो भी मैं उनके बारे में अपनी राय नहीं बदलता।

राजेन्द्र यादव के साथ मेरी पहली मुलाकात दिलचस्प थी। बात सन् 1985 की है। आई. आई. टी. कानपुर के रचनात्मक लेखन केन्द्र की ओर से एक आयोजन था जिसमें राजेन्द्र यादव मुख्य वक्ता थे। उसी दिन बी. एड. के छात्र-छात्राओं का विदाई समारोह कार्यक्रम भी था जिसके संचालन की ज़िम्मेदारी मुझ पर थी। दोनों कार्यक्रमों के बीच एक घंटे का अन्तराल था। पहले आई.आई.टी. में राजेन्द्र यादव का कार्यक्रम था उसके बाद इण्टरनेशनल सेण्टर फॉर बी. एड एजूकेशन का। दोनों लोकेशन के बीच लगभग आठ-नौ किलोमीटर की दूरी थी जिसे मैं अपनी राजदूत मोटरसाइकिल से आधे घंटे में तो तय कर ही सकता था। उत्साह दोनों कार्यक्रमों के लिए था। आई. आई. टी. में गिरिराज किशोर थे। मुझे आई. आई. टी. में कार्यक्रम को क़वर करने का कोई आदेश गिरिराज जी से नहीं मिला था। अखबार में आई विज्ञप्ति ही वह जरिया बनी कि मैं अगले दिन कार्यक्रम स्थल पर पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि कार्यक्रम पाँच मिनट पहले खत्म भी हो गया। मुझे नहीं मालूम कि यादव ने उस कार्यक्रम में क्या कहा। मुझे उनसे मिलना था और एक इंटरव्यू करना था। कई लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि जो सज्जन गैलरी में खड़े

पाइप पी रहे हैं, वही राजेन्द्र यादव हैं। फुल पैण्ट पर कुर्ता। आँखों पर घना काला चश्मा। एक हाथ में पाइप। गैलरी की बालकनी की दीवार से पीठ लगाए और दूसरे हाथ से एक छड़ी का सहारा लिए हुए जिस आदमी को मैंने देखा वह लोगों द्वारा बताए गए राजेन्द्र यादव थे।

मैंने उनसे कुछ बातें उसी गैलरी में खड़े-खड़े कीं। उन्होंने एक टालू-सा साक्षात्कार दिया। मुझे लगा कि उन्होंने मेरा कोई नोटिस भी नहीं लिया। फिर भी मैंने सोचा कि एक संक्षिप्त साक्षात्कार तो बन ही जाएगा। मैं अब इण्टरनेशनल सेण्टर फॉर बी. एड एजूकेशन पर पहुँचने की जल्दी में था। आई. आई. टी. से कल्यानपुर रेलवे स्टेशन की दूरी दस मिनट की भी नहीं है। मैं सतर्कता से मोटरसाइकिल चला रहा था। ठीक कल्यानपुर रेलवे क्रॉसिंग से बीस मीटर पहले एक यजदी मोटरसाइकिल मेरे सामने आकर इस तरह मुड़ी कि मुझे सिर्फ उससे भिड़ना ही याद रहा। मैं बीच सड़क पर जब गिरा तो मेरे सिर का माथा सीधे सड़क से टकराया। मुझे इतना ही समझ में आया कि मेरे सिर से खर-खर खून बह रहा है जबकि मेरे उस जगह हाथ लगाने पर कुछ भी दिख नहीं रहा था। दो-तीन पलों के बाद मुझे होश नहीं रहा। जहाँ दुर्घटना हुई थी उसके पास ही कल्यानपुर रेलवे क्रॉसिंग के पीछे थाना था। थाने से कुछ सिपाही सड़क पर आ गए। पानी के छींटे डालकर वह मुझे होश में लाए और मुझे खड़ा किया। जब मैं होश में आया तो मेरे सामने यजदी मोटरसाइकिल सवार खड़ा था। वह मुझसे अपनी मोटरसाइकिल में हुए नुकसान की भरपाई चाहता था। मैंने सिर्फ इतना ही कहा कि यमराज बनकर मेरी हत्या करने के आमादा व्यक्ति को मैं क्या दूँ? पुलिसवालों को देखकर वह चुपचाप चला गया बहरहाल, होश में आने पर जब मैंने अपनी मोटरसाइकिल देखी और उसके एक्सीलेटर वॉयर और हेड लाइट्स को टूटा और फूटा हुआ पाया तो दिल बुरी तरह से क्षत-विक्षत हो गया। किसी तरह एक्सीलेटर वायर को रूमाल से बॉधकर दाँतों में फँसाए हुए किसी तरह मैं मोटरसाइकिल को चलाते हुए इण्टरनेशनल सैण्टर पहुँचा। चोट काफी लगी थी। साथ पढ़ने वाला एक लड़का मुझे पास के क्लीनिक में ले गया। शरीर कई जगहों से छिल गया था। मरहम पट्टी हुई। सिर पर लगे भीतरी घाव से ललाट पर दाहिनी आँख के ऊपर काफी सूजन आ गई थी। उसे काफी देर तक बर्फ से दबाए रखना पड़ा। एक सुई लगी। कुछ पेन किलर दवाएँ लेनी पड़ीं। उस दिन का सारा कार्यक्रम बिगड़ जाने से मूड खराब हो गया और राजेन्द्र यादव का साक्षात्कार जो उस दिन न लिखा जा सका वह फिर कभी नहीं लिखा गया।

बात आई-गई हो गई। 'आज' की नौकरी छोड़कर मैं एक बार फिर से अध्यापन से जुड़ा और अबूधाबी आ गया। मूलतः कहानीकार था लेकिन अबूधाबी आने पर एक लम्बे समय के लिए लिखना भी बन्द हो गया। एक अव्यक्त-सा भय था कि लेखन में अगर एक वाक्य भी दाएँ-बाएँ हुआ तो इस इस्लामिक दुनिया में सलमान रूश्दी या तसलीमा नसरीन की तरह फतवा पाने से बच नहीं सकूँगा। बचाने तो खैर कोई आएगा ही नहीं। कई साल निकल गए। लगभग एक दशक। कुछ ठीक-ठाक

लिखा ही नहीं। उन्हीं दिनों दुबई में अध्यापकों के लिए 'इन सर्विस ट्रेनिंग' का एक सेमिनार हुआ जो लगभग दस दिनों तक चला। उस सेमिनार में एन.सी.ई.आर.टी. के प्रोफेसर डॉ. रामजन्म राम शर्मा से परिचय हुआ जो घनिष्ठता में बदलता गया।

ग्रीष्मावकाश में जब मैं प्रोफेसर रामजन्म राम शर्मा से मिला और उन्हें बताया कि मैंने दो कहानियाँ 'कहानी' को दी हैं वे मुझे 'कहानी' के दफ्तर में ले गए। 'कहानी' का दफ्तर जिस गली में था उसी में 'अक्षर प्रकाशन' भी है जहाँ से 'हंस' पत्रिका का प्रकाशन होता है, यह बात शर्मा जी ने बताई। शर्मा जी के साथ मैं पहली बार 'हंस' के दफ्तर में गया। शर्माजी ने यादव जी से मेरा परिचय कराया यादवजी को मैंने सन् 1985 में कानपुर में हुई अपनी मुलाकात की याद दिलाई लेकिन उन्हें उसकी कोई याद नहीं थी। जाहिर है कि वह मुलाकात उनके लिहाज से याद रखने लायक हुई भी नहीं थी।

इस दूसरी मुलाकात में जो कि यादवजी के लिए पहली ही थी, उन्होंने मुझसे पूछा, "आप क्या लिखते हैं?" उनके प्रश्न के पूरा होने के पहले या बाद में बड़े ही सहज ढंग से जो प्रश्न मैंने उनसे किया वह उन्हें चौंका गया, "यादव जी, मैं आपको बीस साल से पढ़ रहा हूँ...मैंने आपसे कभी नहीं पूछा कि आप क्या लिखते हैं...आप मुझे केवल बीस मिनट पढ़ें...जान जाएँगे कि मैं क्या लिखता हूँ..." मैंने अपनी 'दो औरतें' कहानी की एक फोटोकॉपी उन्हें दी। मुलाकात संक्षिप्त थी मगर यह पहली मुलाकात जैसी नहीं थी। इस संक्षिप्त मुलाकात में उन्होंने मेरा 'नोटिस' लिया। कहानी उन्हें देकर मैं शर्मा जी के साथ 'हंस' कार्यालय से बाहर आ गया।

दो माह बाद जब अवकाश की समाप्ति पर मैं वापसी में दिल्ली पहुँचकर 'हंस' कार्यालय पहुँचा और दरवाजे के सामने पहली मेज के पीछे कुर्सी पर बैठी महिला से पूछा, "मिस्टर यादव हैं?" वह कुछ कहतीं इससे पहले ही जो आवाज मेरे कानों तक पहुँची वह राजेन्द्र यादव की थी, "आओ, आओ कृष्ण बिहारी...तुम्हारी कहानी का अनाउंसमेण्ट आज ही गया है..." मैं चौंका। यादव कार्यालय के पहले कमरे से कनेक्टेड दूसरे कमरे में थे। उनके बैठने की जगह से मैं पिछली मुलाकात में ही परिचित हो गया था। वहाँ से किसी आगंतुक को देख पाने का सवाल ही नहीं है। फिर कोई कैसे किसी की उपस्थिति को अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे महसूस कर सकता है या किसी की आवाज को सुनकर ही उसके व्यक्तित्व को तुरन्त अपने जेहन में उतार सकता है। क्या आवाज की फ्रीक्वेंसी किसी के दिमागी कम्प्यूटर में इस कदर फीड हो सकती है? मैं उनके कमरे की ओर बढ़ा। 'हंस' में आज तो मैं सुश्री वीना उनियाल, मित्र हारिस, प्यारे किशन, आत्मीय दुर्गा प्रसाद और भाई गौरीनाथ जो यादव के शब्दों में 'अंतिका' के सम्पादन के हर अंक के साथ क्रान्तिकारी लहजा अपनाए जा रहे हैं, सभी के साथ मेरे बहुत अच्छे रिश्ते हैं। लेकिन उस दिन तो मैं जिसे जितना कुछ जानता था, वह यादव ही थे। उनके कमरे में घुसा तो फिर उनकी ही आवाज, "तुम्हारी कहानी का अनाउंसमेण्ट आज ही गया है...एक लम्बी कहानी रोककर तुम्हारी कहानी छाप रहा हूँ...बैठो..."

मैंने उनसे हाथ मिलाया। मैं यादव के पैर नहीं छूता। लोग छूते हैं। पैर मैं भी कई लोगों के छूता हूँ। ऐसा करने में कोई बुराई भी नहीं है। रिश्ते बनने का एक क्षण होता है जो तय करता है कि सामने वाले के साथ आपका क्या कद तय हो रहा है। यादव ने अपनी उस मुलाकात में मुझे खुद से इस तरह मिलवाया कि उनकी ओर मेरे हाथ उनके हाथों की तरफ ही बढ़ सकते थे। श्रद्धा की तुलना में आत्मीयता का दायरा बड़ा होता है।

उन्होंने आगे जो कहा उससे मैं थोड़ी देर के लिए असामान्य हुआ, "बहुत दिनों से जूते नहीं खाये...जूते खाने का मन कर रहा है...इसलिए तुम्हारी कहानी छाप रहा हूँ।" मैं चुप ही रहा। मुझे कुछ अटपटा भी लगा कि यह क्या बात हुई।

उन्होंने आगे कहा, "कृष्ण विहारी 'दो औरतें' बहुत विस्फोटक कहानी है...मगर मैं इसे छापूँगा..." कहानी विस्फोटक है, यह मैं भी जानता था मगर 'हंस' में छपने के बाद वह मेरी पहचान बन जाएगी, इसका अनुमान नहीं था। उस दिन 'हंस' कार्यालय में ही खाना खाया और दुर्गा ने चौंकते हुए बिना दूध की चाय कई बार पिलाई। पानी के कई गिलास मगर सादे। फ्रिज से नहीं। वह दिन और आज का दिन 'हंस' मेरी चाय और मेरा पानी जानता है। 'हंस' कार्यालय पहुँचकर कभी ऐसा हुआ ही नहीं कि मैंने खाना बाहर खाया हो। कभी-कभी तो मैंने वही खाना खाया जो घर से किशन बनाकर लाया था। 'हंस' से जुड़ा हर व्यक्ति जो आत्मीयता मुझे देता है वह किसी और अखबार और पत्रिका के दफ्तर में कहीं और कभी नसीब नहीं हुई। 'हंस' का दफ्तर मुझे घर लगता है जहाँ आदमी अनौपचारिक ढंग से रहता है। जब भी पहुँचा किसी संकोच से गुजरना नहीं पड़ा।

हिन्दुस्तान में बहुत-से सम्पादकों से मिला हूँ लेकिन डॉ. जयनारायण और यादव के अलावा कोई भी ऐसा नहीं मिला जिसके साथ छत-फाड़ ठहाके लगा सकूँ। सब इतने आत्मकेन्द्रित मिले कि उनके सांमने शालीनता ओढ़े बैठना मजबूरी हो गई या फिर वे किसी दबाव से ग्रस्त लगे। मैंने एक बार यादव से पूछा भी, "दूसरी पत्रिकाओं के दफ्तरों में इतना दमघोटू और उबाऊ वातावरण क्यों होता है...एक चाय के प्याले से अधिक का वक्त गुजारना भी मुश्किल होता है...मैं ऐसे लोगों के पास देर तक बैठ भी नहीं सकता?"

"कृष्ण बिहारी...तुम यह बताओ कि मालिक और नौकर में फर्क है या नहीं ...बहुत-सी पत्रिकाओं के सम्पादक नौकर हैं...वहाँ खुलापन कैसे हो सकता है...?"

मुझे उनकी बात सही मालूम होती है। अपनी चौहद्दी अपनी ही होती है। यादव की चौहद्दी 'अक्षर प्रकाशन' है। उसके भीतर कुछ भी हो सकता है।

मैंने डॉ. जयनारायण को बताया तो वे बहुत खुश हुए। शर्माजी को भी जानकारी दी कि 'हंस' के अगले अंक में कहानी का अनाउंसमेण्ट आ रहा है। क्या विचित्र संयोग बना कि मेरी तीनों कहानियाँ उन पत्रिकाओं में नहीं छपीं जहाँ वे पहले स्वीकृत हुई थीं। 'कहानी' के सम्पादक श्री श्रीपत राय का निधन हुआ और पत्रिका ही बन्द हो गई। 'कल के लिए' के सम्पादक डॉ. जयनारायण ने स्वेच्छा से चाहा कि 'दो

औरतें', 'हंस' में ही छपे। अक्टूबर 1995 में कहानी प्रकाशित हुई। उसके बाद जो हुआ वह साहित्यिक दुनिया के लोग जानते हैं।

मैंने कुछ लोगों द्वारा यादव पर लगाए आरोप पढ़े हैं कि यादव अपने चहेतों को छापते हैं। या यह कि यादव ने नई पीढ़ी के बहुत से लेखकों को बरबाद कर दिया। मैं कहना चाहूँगा कि ये आरोप निराधार हैं। यादव ने नए से नए कहानीकारों को छापा है। कभी-कभी तो किसी रचनाकार की पहली ही कहानी 'हंस' में छपी है। यह अलग बात है कि 'हंस' में छपते ही रचनाकार इतना बड़ा और इतना बददिमाग हो गया कि वह स्वयं बरबाद हो गया। रचनाकार स्वयं बनते और बिगड़ते हैं। उन्हें न तो कोई बनाने की क्षमता रखता है और न बिगाड़ने की कला उसके पास होती है। जहाँ तक चहेतों को छापने की बात है तो मेरे सामने ही कई बड़े और स्थापित लेखकों की रचनाएँ उन्होंने अपनी स्पष्ट राय के साथ वापस की हैं। मेरी कई कहानियाँ उन्होंने नहीं प्रकाशित कीं। उन पर जो टिप्पणी उन्होंने की उन पर लम्बी बहस भी हुई है। लेकिन इन अस्वीकृतियों तथा तमाम वैचारिक स्थितियों में आपसी अस्वीकृतियों के बाद भी हमारे सम्बन्धों की ऊष्मा निरन्तर बढ़ती ही रही है।

शायद यादव ने मेरी पारिवारिक प्रतिबद्धता और सामाजिक मजबूरी के उस दायरे को समझ लिया जिसमें अपने इर्द-गिर्द मैं कतई नहीं था। लोग थे। अपने लोग। जो मेरी किसी भी प्रगतिकामी सांचे के हमेशा खिलाफ रहे। वैचारिक स्तर पर मेरे परिवार के सभी सदस्य मेरे खिलाफ हैं। तो क्या करूँ? उन्हें छोड़ दूँ? मैं ऐसा नहीं कर सकता। मैं मानता हूँ कि यादव ने दोहरी जिन्दगी नहीं जी, जो चाहा वह किया। ऐसा करने में निश्चित रूप से सन्तोष मिलता है। कभी-कभी आप जिन्दगी के साथ खेलने लगते हैं और खेल का परिणाम हमेशा आपके हक में होता जाता है लेकिन यह सबके साथ नहीं होता। एक बरगद बन जाने के बाद तो यह सम्भव है लेकिन उससे पहले इसके जोखिम बहुत हैं। जहाँ तक मेरा मामला है मैंने भी जो चाहा वह किया है लेकिन जहाँ लगा कि कुछ आँखें मेरी ओर केवल अपना वजूद देखते हुए आशाभरी निगाहों से देख रही हैं तो मैंने अपने सपनों को दफन कर दिया। कभी-कभी तो उन आँखों में निरंकुशता थी। मगर क्या करूँ, वे आँखें अपनों की थीं। और, मैं बरगद भी नहीं हूँ। होता भी तो शायद वैसा कर पाना मेरे लिए मुश्किल होता।

मैं मानता हूँ कि हर किसी का व्यक्तिगत जीवन उसका नितान्त अपना है। यादव और मन्नूजी के मामले उनके अपने हैं। न तो लोगों को उनमें रुचि लेनी चाहिए और न 'इन्हें' अपने मामले पब्लिक में लाने चाहिए। लेकिन दोनों ने यह गलती की है। मैंने मन्नूजी को इस साल 2003 में 31 जुलाई को 'प्रेमचन्द जयन्ती' पर पहली बार देखा। एक बार किसी पत्रिका में कुछ ऊल-जलूल पढ़ने के बाद मैंने फोन पर यादव से कहा, "प्लीज, यह सब बन्द होना चाहिए..." उन्होंने वायदा किया कि आगे ऐसा नहीं होगा। मुझे नहीं मालूम कि यादव कब तक अपने वायदे पर कायम रहेंगे?

1999 की बात है। मैं अपनी छुट्टियों में दिल्ली में जहाँ पिछले 9 वर्षों से रुकता रहा था, उस परिवार में उसी तारीख को शादी थी। शादी के लिए कोई गेस्ट-हाउस

लिया गया था। फोन से पता चला कि घर पर तो उस समय कोई होगा ही नहीं। फ्लॉइट भी रात के दो बजे दिल्ली पहुँच रही थी। बाद में पता चला कि फ्लॉइट सीधे दिल्ली न जाकर बैंगलौर जाएगी और वहाँ से दिल्ली सुबह पाँच बजे पहुँचेगी। यह समय मेरे लिए अनुकूल था। मैंने यादव को फोन किया कि क्या मैं एयरपोर्ट से सीधे उनके घर आ सकता हूँ? उनका जवाब था, "बिना संकोच..."

वह फ्लॉइट बैंगलौर ही नहीं गई। वहाँ से मुम्बई और तब दिल्ली। क्रॉफ्ट भी बदलना पड़ा। ट्रांजिट भी रहा। तीन घण्टों की यात्रा पन्द्रह घण्टों की हो गई। यात्रा तकलीफदेह हो गई। वह इतवार था। जब मैं यादव के फ्लैट पर पहुँचा, वे सो रहे थे। डॉक्टरों ने उन्हें सुबह व्यायाम के बाद आराम की सलाह दी है, यह मुझे मालूम नहीं था। खैर, मैंने उन्हें जगाया नहीं। किशन ने मेरी देख-भाल की। सोकर उठने के बाद यादव ने मेरी यात्रा का न केवल पूरा विवरण सुना बल्कि यह भी जाना कि उनके फ्लैट में मुझे कोई परेशानी तो नहीं हुई। करीब से उन्हें देखने का यह पहला मौका था।

दोपहर के बाद वहाँ शिव कुमार 'शिव' अपनी बेटी के साथ आए, उसके बाद पंकज बिष्ट। वहीं मुझे हीरालाल नागर भी मिले। घर में किशन की हैसियत का भी पता चला। जब से यादव को स्वास्थ्य के बारे में जरा ज्यादा ध्यान रखने की हिदायत डॉक्टरों ने दी है तब से किशन उनका 'दुश्मन' हो गया है। शराब वगैरह पीने पर उसका लगाया प्रतिबन्ध है। किशन उस घर का नौकर तो कतई नहीं है। वह यादव का ऐसा शुभचिन्तक है जो बेटे भी बाप के लिए नहीं हो पाते। उसकी उपस्थिति से घबराते हुए उन्हें कहते कई बार सुना है कि यह सब कुछ मन्नू को बता देगा। यादव और मन्नूजी के बारे में मतभेदों और अलगाव के बारे में स्वाद लेने वालों को सोचना चाहिए कि जो आदमी केवल इस डर से ही अधमरा हो जाता है कि मन्नूजी जान जाएँगी, उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि रिश्तों में नमक बचा हुआ है...इस नमक को बचाए रखने का जिम्मा अब दोनों पर है। ईश्वर क्रियाशील और लम्बी जिन्दगियाँ बहुधा बहुतों को नहीं देता। इस जोड़े को मिली है। इन्हें कायदे से जीना चाहिए। यह कलाकार जोड़ा है। दोनों के कद, आदमकद हैं...फिर क्या परेशानी है लोगों को और इन दोनों को?

सन् 1999 जुलाई की बात है। शायद 11 जुलाई। मैं सुबह जल्दी उठा। दिन में और शाम को शराब पी थी। यादव के घर में ही। दबे पाँवों उस कमरे में पहुँचा जिसमें रोशनी थी। वक्त यही कोई पाँच बजे का रहा होगा। मैंने देखा कि यादव लिखने के टेबल पर पूरी तन्मयता से डूबे हैं। बहुत पास पहुँचने पर ही उन्होंने मेरी निकटता को महसूसा। उस समय मैंने उनके पास बैठकर केवल उनके पारिवारिक जीवन के बारे में ही पूछा और उन्होंने जो कहा यदि मेरी स्मृति दगा न दे तो वह यह था, "कृष्ण बिहारी, मन्नू से मेरे सम्बन्ध खराब नहीं हैं...हम दोनों ने मिलकर अलग रहने का फैसला तो लिया है लेकिन एक-दूसरे की कठिन स्थितियों में एक-दूसरे से मुँह मोड़ लेना उसमें शामिल नहीं है...जब मैं अस्पताल में भर्ती था तो वह बराबर

मेरे पास बनी रही...जो दुनिया समझती है वह बात नहीं है...'' मेरे मन में प्रश्न था कि दुनिया गलत क्यों समझती है? आप मौका क्यों देते हैं?

उस सुबह यादव ने विस्तार से अपने पारिवारिक जीवन के बारे में बताया। उस वक्त वे गम्भीर थे। ठहाकों में सब कुछ उड़ा देने वाला इनसान वहाँ नहीं था।

मैं दो दिन और दो रातें यादव के घर में रहा। एक दिन उन्होंने कहा कि वे शाम को किसी पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के कारण देर से आएँगे...

मैंने उनसे कहा कि कोई बात नहीं। मैं वह समय घूमते-घामते काट लूँगा लेकिन उन्हें मेरे खाना खाने की चिन्ता थी। मैंने उसका भी निदान बता दिया कि दिल्ली में खाना खाने की कोई समस्या किसी के लिए नहीं है यदि कोई खाना चाहे...

दिन-भर दिल्ली में अपने साहित्यिक मित्रों और परिचितों से मिलने के बाद शाम को करीब आठ बजे मैं लौटा तो मैंने उनके फ्लैट के पास एक दक्षिण भारतीय रेस्तरां में खाना खा लिया और फिर उनके फ्लैट के सामने सार्वजनिक उद्यान में बैठकर उनकी प्रतीक्षा करने लगा। नौ बजने से पहले ही यादव लौट आए मैंने पूछा, ''आप तो देर से आने वाले थे...?''

''मुझे तुम्हारी चिन्ता थी...खाना खा लिया या...?''

मैंने बताया कि कुछ देर पहले खा लिया...

यादव ने अपने पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम को निरस्त कर दिया था...

घर आए एक अतिथि के प्रति उनका यह दृष्टिकोण क्या बताता है, यह उनके आलोचकों या निन्दकों को तय करना चाहिए। बाद में मैंने कहीं यह सुना भी और पढ़ा भी कि यादव अपने फ्लैट में किसी की भी उपस्थिति से परेशान हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वह किसी के पदचाप की आवाज से भी अपने घर में स्वयं के लिए एक बाधा महसूस करते हैं। मुझे वह सब सुन और पढ़कर अपने अज्ञान पर खीझ हुई कि यह सब मुझे पहले जानना चाहिए था। लेकिन जो हो चुका है उसे मिटाया तो नहीं जा सकता। एक बात और...कि यदि कभी भविष्य में मुझे यादव के फ्लैट पर ठहरना पड़ा तो मैं झिझकूँगा नहीं...मैं अपने रिश्तों की जमीन पहचानता हूँ...

ओमा शर्मा द्वारा लिया गया उनका साक्षात्कार उस सुबह मेरी उनकी लम्बी बातचीत के बहुत बाद में आया और वह भी विवादित हुआ।

'वर्तमान साहित्य' में यादव का लेख 'होना/सोना...' छपा तो एक तहलका बरपा हो गया...

हनुमान के बारे में उन्होंने कुछ लिखा तो हंगामा हो गया...

दोनों लेख सन्दर्भ से काटकर पढ़े, और समझे गए...

मैंने हनुमान वाले लेख पर जब 'बीच बहस में' एक नजरिया लिखा तो कई लेखकों ने मुझसे व्यक्तिगत मुलाकातों में पूछा, ''राजेन्द्र यादव से बहुत प्रभावित दिखते हो...उनका बचाव कर रहे हो?'' उन्हें नहीं मालूम कि मैं दुनिया में किसी भी लेखक से कतई प्रभावित नहीं हूँ...और, मैं राजेन्द्र यादव का बचाव क्या करूँगा...? उन्हें कब से मेरे बचाव की जरूरत पड़ने लगी...?

'हंस' के दफ्तर में मेरी मुलाकात कमला प्रसाद, मैत्रेयी पुष्पा, वीरेन्द्र जैन, अर्चना वर्मा, प्रभा दीक्षित, शीबा, चन्द्रकिशोर जयसवाल, महुआ मांझी, विष्णु नागर या कि खरे, अरविन्द जैन, ओमा शर्मा, कविता, राकेश बिहारी, मुशर्रफ आलम जौकी, महेश दर्पण, इब्बार रब्बी, लता शर्मा के अलावा न जाने कितने नए-पुरानों से हुई है। इसके बाहर के परिदृश्य में जहाँ यादव मुझे ले गए हैं वहाँ मार्क टुली, नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, मंगलेश डबराल, देवेन्द्र राज 'अंकुर', प्रभा खेतान, अनामिका, मधु किश्वर के अलावा सैकड़ों लोगों को देख सका। कई साहित्यकारों से परिचय भी हुआ। जब भी मैं दिल्ली पहुँचता हूँ तो उनकी कोशिश होती है कि मैं उनके उन कार्यक्रमों में जरूर साथ रहूँ जिनमें दिल्ली और बाहर के साहित्यकार आ रहे हों। मेरी मजबूरी यह है कि मैं साल में केवल दो महीने ही भारत में रहता हूँ और उसमें केवल दिल्ली में रह सकना सम्भव नहीं होता।

यादव के अलावा अन्य बहुत से शुभचिन्तक जानते हैं कि फोटोग्राफी मेरा शौक है। हर बार यादव यह पूछना नहीं भूलते...अपना कैमरा लाए हो न...?

मेरी कहानियाँ यादव ने पढ़ी जरूर हैं लेकिन कभी उन्होंने मुझे प्रमोट नहीं किया। वी.एस.एस.डी. कॉलेज के प्रोफेसर डॉ. रमेश दत्त शर्मा के अलावा मुझे जिन्दगी में साहित्य के क्षेत्र में प्रमोट किसी ने भी और कभी नहीं किया। मैंने सुना है कि यादव ने कई लेखकों की कहानियाँ स्वयं न छाप सकने की अवस्था में स्तरीय पत्रिकाओं के सम्पादकों को दी हैं और कहानियाँ छपी भी हैं। मेरे साथ ऐसा कभी नहीं हुआ। मेरे कई बार कहने पर उन्होंने मेरे पहले कहानी-संग्रह 'दो औरतें' का ब्लर्ब लिखा। 'हंस' के दफ्तर में मुझे किसी से परिचय कराते हुए यादव यह कहना नहीं भूलते, "ये कृष्ण बिहारी हैं..."

दूसरा व्यक्ति मुँह खोलता है, "अबूधाबी वाले...?"

"हाँ, वही...मैंने इनकी बहुत अच्छी कहानियाँ 'हंस' में छापी हैं...बड़ी अश्लील कहानियाँ लिखते हैं..." उसके बाद एक ठहाका फूटता है। जाहिर है कि ठहाकों में यादव का स्वर सबसे ऊँचा होता है। मुझे कतई आपत्ति नहीं है कि यादव मेरा परिचय इस तरह क्यों कराते हैं...।

पिछले वर्ष अपने बेटे अनुभव का दिल्ली में नाम लिखाने और उसके रहने की व्यवस्था के दौरान राजेन्द्र यादव बराबर चिन्तित रहे।

कुछ कहकर अपने मित्र जी.डी. का सम्मान ही घटाऊँगा। एहसान का उत्तर शब्दों में नहीं देना चाहिए। उन्होंने जो कुछ अनुभव का नाम लिखाने के लिए किया और सहा उसके लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं...

यादव को विवादों में, चर्चा में बने रहने का शौक है। यह आरोप भी वही लगाते हैं जो किसी विवाद को जन्म नहीं दे पाते। मुझे आश्चर्य होगा अगर कोई कहे कि वह चर्चा में रहना नहीं चाहता। कौन है जो महिलाओं का साथ नहीं चाहता? अपने आस-पास भीड़ नहीं चाहता? कितनी नवोदित लेखिकाएँ होंगी जो यादव से मिलना नहीं चाहतीं? नए लेखक कितने हैं जो उनसे दूर रहना चाहते हैं? हाँ, स्थापित हुए

कई लेखकों को जानता हूँ जो अब इस कुण्ठा से पीड़ित हैं कि 'हंस' में उनकी रचनाएँ न छापकर यादव न जाने किस जन्म का बदला निकाल रहे हैं।

मैंने शुरू में ही एक वाक्य लिखा है कि किसी को पूरा-पूरा नहीं जाना जा सकता। स्वयं को भी आदमी कितना जान पाता है?

लेकिन जितना जान पाया हूँ वह इतना कहने का अधिकार तो देता है कि यादव हमेशा क्रियाशील रहने वाले उस व्यक्तित्व का नाम है जो अध्ययनशील, मित्र-प्रिय और अपनी बेबाक राय देने के मामले में अपने समकालीनों में सबसे आगे है। लोग उसे खलनायक कहें या कुछ और...क्या फर्क पड़ता है...।

एक लेखक का यूटोपिया

संजीव

सन् 1980 की कोई तपती दोपहरी रही होगी। मैं दिल्ली 'सारिका' के दफ्तर में था। बलराम ने पूछा, 'राजेन्द्र यादव से मिलोगे?' 'हाँ, क्यों नहीं!' मैंने कह तो दिया मगर एक संशय हावी होने लगा, इतने बड़े लेखक हैं, पता नहीं, मेरा इस तरह से जा धमकना उन्हें अच्छा लगेगा या नहीं। खैर, सारिका के पुराने दफ्तर से निकल कर दरियागंज की सड़कों को नापते हम जा पहुँचे 'अक्षर' कार्यालय। अन्दर एक रोबीला चेहरा, बाल काले, चश्मा काला, वातचीत में विद्वता, गम्भीर आवाज! 'आप से मिलिए आप हैं राजेन्द्र यादव!' बलराम ने हम दोनों का परिचय कराया। साहित्य का अभी ककहरा ही सीख रहा था, सो उनका रोब गालिब हो गया।

उन्होंने ऐसे पूछा जैसे वर्षों से मुझे जानते रहे हों, 'मैं और मन्नू 'अपराध' के निर्णायक मंडल में थे। आगे वताओ, क्या लिखने की योजना है।'

'मुझे कोयला आकर्षित करता है।' मैंने कहा।

'और?'

'और समुद्र, सर्कस भी, मनुष्य की आखेट वृत्ति भी।'

बहुत सहज भाव से उन्होंने बताना शुरू किया कि कोयले पर कहाँ-कहाँ क्या-क्या लिखा गया है। एमिल जोला का 'जर्मिनल', सेंट लारेंस के उपन्यास, इरविन स्टोन की 'लस्ट फॉर लाइफ' और जाने क्या-क्या। इसी तरह सर्कस, समुद्र और आखेटप्रियता पर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गहरी से गहरी बातें...। वह मेरी प्रथम दीक्षा थी। बाद में उनसे जब भी मिला, वे वेहतर से वेहतर लिखने को प्रोत्साहित करते रहे, पिता जैसा अभिभावकत्व, मित्र जैसा सुलूक...उनकी सबसे बड़ी खासियत यह लगी कि अपने तमाम बौद्धिक आतंक के बावजूद उनमें एक आत्मीय खुलापन है जो सामने वाले को छोटा महसूस होने नहीं देता। इसके पूर्व जिन बड़े साहित्यकारों से मिला था, उनमें कमलेश्वर जी थे, स्नेह और प्रोत्साहन वहाँ भी था, मगर जैसे ही मैंने उनके नाम से चल रही एक फिल्म के बावत पूछा, वे चिढ़ गए थे, यहाँ ऐसी बात न थी।

आखिर क्या है राजेन्द्र जी के व्यक्तित्व के चुम्बकीय आकर्षण का रहस्य? सबसे पहले इसे उनकी रचनाओं में ढूँढ़ने का उपक्रम शुरू हुआ! 'सारा आकाश' और कुछ कहानियाँ मैं पढ़ चुका था, बाकी रचनाएँ भी एक-एक कर पढ़ डालीं। कहानियाँ मुझे

ज्यादा बाँध न पाईं, 'टूटना', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और उस जैसी कुछ अन्य को छोड़कर। उपन्यास मुझे अच्छे लगे 'उखड़े हुए लोग' आदि। पर जिस चीज ने मुझे खासा प्रभावित किया वह था 'अठारह उपन्यास', उनके संस्मरण, उनके लेख? कहानियों में उनका विचारक अचानक उठकर खड़ा हो जाता और कथारस का रंग जमने न देता। प्रयोगाग्रही भी लगे। ऐसा ही एक प्रयोग 'एक इंच मुस्कान' में—एक अध्याय राजेन्द्रजी लिखते तो दूसरा अध्याय मन्नूजी। व्यावसायिक ग्लैमर और कौतुकप्रियता ने उन्हें ललकार कर रेस में जोत दिया। मगर मन्नू जी के लिखे जहाँ प्रायः सारे ही अध्याय अपने साथ बहा ले जाते हैं, राजेन्द्र जी के कथाप्रवाह में उनका अधीर विश्लेषक सहसा ही उभरने लगता और कथा की समांगता फटकर क्रिस्टलाइज होने लगती। पत्नी से पंगा लेना अच्छा नहीं हुआ। कोहबर की शर्त! जुआ हार गए ज्वायंट वेंचर में।

'हासिल' का ही हासिल क्या रहा? पर वह तो बाद में, पहले उनकी एक समीक्षा, किसी विदेशी कहानी 'ओ' की कहानी पर, जिससे मेरा प्यूरिटन जा टकराया। कहानी औरत मात्र को एक बड़े विवर या अंग्रेजी के 'ओ' में तब्दील कर उसके कई कुत्सित रूपक तैयार करती थी भले ही उसका निहितार्थ स्त्री के प्रति मर्दवादी दृष्टिकोण और जघन्य शोषण को ही व्यक्त करता रहा हो। यह विवाद 'हंस' में 'जनवाद और सेक्स' के नाम से विमर्श के रूप में आया जिसे कात्यायनी, प्रेमकुमार मणि आदि ने ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। कई सांस्कारिक पर दब्बू लोग पीठ पीछे खीं-खीं करते हुए कुत्सा प्रचार करते रहे। ऐसे जनवादियों की तुलना में मुझे राजेन्द्र ज्यादा बहादुर लगे जिन्होंने विरोध को आमन्त्रित ही नहीं किया, बल्कि विकल्प देने की चुनौती भी उछाल दी।

विवादप्रियता उनका पुराना शगल है। ज्यादा देर तक शान्ति से बैठे रहना उनकी फितरत में नहीं है। कुण्ठितों को छेड़े बिना वे रह नहीं सकते। वह आदमी भी भला कोई आदमी हुआ जिसके शत्रु न हों! ततैया के छत्ते में हाथ डालकर उन्होंने कम जोखिम नहीं उठाए। ऐसा ही एक विवाद पैदा हुआ 'हंस' में 'कामरेड का कोट' (सृंजय) के छपने पर। जलेस का उपाध्यक्ष 'माकपा' को कंडेम करने वाली ऐसी कहानी अपनी पत्रिका में छापे! (माकपा ने जाने क्यों इसे अपने ऊपर ले लिया था) इस माने में माकपा और भाकपा घोर कट्टर और इमोशनल! कलकत्ते की जलेस की मीटिंग में लोग लगे लताड़ने। शिवकुमार मिश्र तो आवेग में कटु होते-होते रो ही पड़े। राजेन्द्र की आँखें भी भीग गई थीं। उन्होंने मीर के एक शेर से इतनी जल्दी सम्बन्ध तोड़ लेने की बात पर क्षोभ व्यक्त किया। मीर के ही दूसरे शेर से समन्वय का सन्देश आया, मिश्र जी की तरफ से नहीं, इसराइल की तरफ से। सींगें लड़ा कर लौट आए योद्धा। पर उस रात जब कालका मेल से वापस लौट रहे थे, मैं और सृंजय उनसे आसनसोल स्टेशन पर मिले तो वही उद्वेगहीन हँसी—जैसे कुछ हुआ ही न हो?

घबराहट उन्हें पराभूत नहीं करती, कानपुर संगमन में बन्द कमरे में आग लगने पर जहाँ ज्यादातर लेखक भाग चुके थे, उन्हें उनकी कुर्सी पर मैंने बैठे हुए पाया था—उद्वेग रहित। राजधानी एक्सप्रेस की कानपुर के पास एक्सीडेंट हो जाने पर भी

सुरक्षित लोग जहाँ भाग चुके थे, प्रियंवद जब गाड़ी लेकर अपने किसी रिश्तेदार को लेने गए तो वे डब्बे पर चढ़े डब्बे पर इत्मीनान से बैठे हुए मिले।

सबसे ज्यादा हंगामा उनके 'वर्तमान साहित्य' में छपे एक लेख 'होना, सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ' पर हुआ। नारी मुक्ति को हवा देने वाले इस लेख का लहजा ही कुछ ऐसा था कि नारी मुक्ति की प्रबल पैरोकार लेखिकाओं को भी न पचा। यही लेख किसी विदेशी ने लिखा होता तो वे 'वाह-वाह' करते न थकते, पर इसे तो कुजात राजेन्द्र ने लिखा था, दूसरी ओर अगर विवाद न उभरा होता तो राजेन्द्र जी को भी चैन की नींद न आती। फोन पर मुझे बड़ी प्रसन्न मुद्रा में बताया, 'कल देखा, टी. वी. पर मेरे और चित्रा के बीच इस पर झाँय-झाँय होती रही।'

'तुम्हारे गले में यह किसकी आवाज है उमा भारती?' लिखकर उमा भारती के बहाने दलित, स्त्री को उन्हें गुलाम बनाए रखने वाली शक्तियों को ललकारा तो आतंकवादियों द्वारा 11 सितम्बर के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के ट्विन टावर्स पर हुए हमले के परिप्रेक्ष्य में 'हनुमान जी भी लंकावासियों की नजर में आतंकवादी करार दिए गए होंगे।' का सच लिखकर किसी कपीश भक्त का मुकदमा झेल रहे हैं। मंडल कमीशन का समर्थन कर सवर्ण मानसिकता की नजर में गंवार ग्वाला जातिवाद का जहर घोलने वाला और जाने क्या-क्या गालियाँ झेल रहे हैं। दलित विमर्श को उठाकर गैर दलितों के कोपभाजन बने हुए हैं, मुस्लिम अल्पसंख्यकों के प्रति होने वाले भेदभाव पर लिख कर मुस्लिम विरोधियों की और मुसलमानों की कट्टरता पर लिखकर मुसलमानों की नजर में खटके। हिन्दू धर्म और समाज की रूढ़ियों पर बराबर प्रहार करते रहे और उग्र धर्मान्ध हिन्दुओं की धमकियाँ झेलते रहे। मुझे याद है, बाज मौकों पर उन्हें जान से मार डालने की भी धमकियाँ मिली हैं। लिबरल हिन्दू भी उनसे इस बात पर असन्तुष्ट हैं कि क्यों फटे रेकॉर्ड की तरह वे बार-बार हिन्दू समाज पर ही बजते रहे। और तो और, वामपन्थियों को भी उन्होंने नहीं बख्शा, 'क्या वामपन्थी बुद्धिजीवियों को अब इस पर विचार नहीं करना चाहिए कि समाज को समझने की उनकी दृष्टि में कहाँ, क्या कमी है कि वह धार्मिक अंधविश्वास और वर्णवादी संरचनाओं को नहीं बदल पाती?' इन सारे विवादों, विमर्शो को हवा देते हुए उसके धनात्मक पक्षों को न उन्होंने कभी नजरंदाज किया, न उनके चिकने जातिवादी साम्प्रदायिक जड़वादी चेहरों को बेनकाब करने में कोई कोताही बरती। लोग आक्षेप पर आक्षेप मढ़ते रहे, धमकियों पर धमकियाँ देते रहे कि वे लोगों को भड़का रहे हैं। यह उनकी जीत थी, उनके चिन्तक-लेखक की जीत।

निर्बंध जीवन की चाहना अश्वघोष, कबीर, तुलसी से लेकर हमारी पीढ़ी के प्रियंवद तक प्रायः एक-सी चली आई है। वे समाज और परम्पराओं के सुरक्षा-जाल को उठाकर फेंक देना चाहते हैं। सेक्स सबको चाहिए पर स्त्री या पत्नी का सबने विसर्जन किया है। एक ही काम्य था, बिना किसी दबाव के मुक्त अकुंठ लेखन। इस क्रम में राजेन्द्र जी का ग्राफ खासा दिलचस्प है। एम. ए. में प्रथम श्रेणी में प्रथम आने और अच्छी-खासी नौकरियों के ऑफर को दरकिनार किया। क्या, तो उनके लेखक

को ब्रंधन नहीं चाहिए। विबाह में बँधे जरूर, मगर कसमसाकर बंधन ढीले कर लिए, भले हीं शीला से स्नेह और मीता से मन्नू तक भटकता रहा मन। फ्री-लांसिंग की, फिर मन्नू जी की कमाई से गृहस्थी चलने लगी। मुक्ति का पहला पड़ाव 'अक्षर प्रकाशन', दूसरा पड़ाव 'हंस' जहाँ उनके लेखक का दोबारा जन्म हुआ। परिवार और पत्नी और मित्रों के बिना यह सब सम्भव न था। राजेन्द्रजी को इसकी कचोट भी सालती होगी, काश किसी के दाय से बँधे बिना यह सब हो गया होता। सुविधाएँ हों पर ये उन्हें बाँधें नहीं। कर्म करके कर्म से, कर्म के परिणाम से विरत हो जाओ (कृष्ण दर्शन—गीता)। लेखन, जिनके चलते उनका अस्तित्व है, उसकी भौतिकता भी उन्हें न बाँधे (एक तीन सौ पेजी उपन्यास और कुछ रचनाएँ अधूरी पड़ी धूल फाँक रही हैं।) मार्क्सवादी हैं, जलेस के प्रभारी भी मगर मुक्ति की राह में उसका ठहराव उन्हें गँवारा नहीं। नामवर जी, मनमोहन ठाकौर, शैलेश मटियानी, गिरिराज किशोर... दुनिया जहान भर के मित्र हों पर उनसे उनकी स्वतन्त्रता में खलल न पड़े। दुनिया भर की किताबें उन्हें चाहिए अच्छी भी, बुरी भी, पर वे गले न पड़ें, 'जी करता है सब कुछ छोड़-छाड़ कर किसी ऐसी जगह चला जाऊँ जहाँ किताबें न हों, मगर एक दिन किताब न मिले तो लगता है कहाँ फेंक दिया गया हूँ।' यहाँ तक कि जिस 'हंस' को वड़े अरमान से फिर से शुरू किया वह भी उनकी जान को लगा हुआ सा मालूम पड़ता है मगर उसे छोड़ दें तो जाएँ कहाँ? वही तो है जो उन्हें जवान और तरोताजा बनाए रखता है और उनके होने का बोध कराता रहता है।

मैंने पूछा था, 'आपके बाद हंस का क्या होगा?'

वोले, 'क्या होगा, बन्द हो जाएगा।'

'और किताबें-विताबें, कागजात?'

'वही तो सोचता हूँ। किसी को भी इसमें रुचि नहीं, बेटी-दामाद को भी नहीं।'

पत्नी भी न बाँधे, बेटी भी नहीं, मित्र भी नहीं, किताबें, पत्र-पत्रिकाएँ भी नहीं, हंस भी नहीं। हों सब मगर किसी के होने मात्र से उनकी आजादी में खलल पड़ता है। एक संशयात्मा का बंधन और मुक्ति का द्वन्द्व। यहाँ तक कि सेक्स और इतर सेक्स सम्बन्ध भी नहीं जो उनके शब्दों में एक सीमेंटिंग फैक्टर है, जिसके चलते मन्नूजी से खटास बढ़ी वह भी बंधन बनकर न आए। बुरा हो मन्नू जी का, उनको टोक देती हैं 'शादी की ही क्यों?' राजेन्द्रजी की शिकायत, 'मन्नू को खतरनाक मौकों पर ही सत्य कथन के महत्त्व का पता चलता है। ...मन्नू इसे easily क्यों नहीं लेतीं? क्यों खांटी घरेलू औरत की तरह इतनी उग्र हो जाती हैं? (कितना मासूम सवाल!) एक विरासतहीन अन्त की आशंका भी है...''क्या यही अन्त चाहा था मैंने?'' हाय रे मेरा लेखक! कितना है बदनसीब जफर दफ्न के लिए...। मनुष्य आजाद जन्मता है पर वह हर कहीं बंधनों में है। (रूसो) अकारण नहीं कि उनके आदर्श कृष्ण, द्रोपदी एवं कर्ण रहे—अपने पूरे रेंज और डायमेंसन में। (एकलव्य, घटोत्कच, अभिमन्यु या बर्बरीक नहीं।)।

किशोरावस्था में पाँव की चोट एक बड़ी गाँठ है जिसने जीवन और व्यक्तित्व

को मोड़ दिया, वरना वे दूसरे ही राजेन्द्र होते? बाहर की यात्राओं पर लगाम लग गया, अन्दर की यात्राएँ बेलगाम, नियन्त्रण था तो सिर्फ आत्मानुशासन का। इस सन्दर्भ में मन्नू जी का विश्लेषण बिल्कुल बेबाक है, 'अपनी नाजुक किशोरावस्था में स्वस्थ और सुन्दर होने के बावजूद बैसाखियाँ सम्भालते ही कैसे इनके मन का विश्वास चूर-चूर होकर बिखर गया होगा कि लड़कियाँ कभी इनकी ओर आकृष्ट भी होंगी—और तब इन्होंने संकल्प लिया होगा कि अपनी इस कमी की पूर्ति वे दूसरी दिशा से करेंगे...सबको बता देंगे कि वे क्या हैं।' राजेन्द्र जी प्रकारान्तर से खुद इसे स्वीकारते हैं, '...शायद व्यक्तित्व के इन अन्तर्विरोधों की जड़ें मेरे अधूरे होने के असुरक्षाबोध में हैं...मुझे आश्रित और याचक किसी का नहीं होना। दया मुझे चिढ़ाती है। ... आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र होने की वह चेतना जैसे व्यक्तित्व की मूलभूत कुंठा बन गई है। हर पुराने और पवित्र को निर्मम होकर जाँचना चाहता हूँ। ...मुझे मेरा एक ऐसा कोना डार्करूम चाहिए जहाँ मैं दिन भर में खींचे गए चित्रों के नेगेटिव्स को जाँच-परख सकूँ, अपनी स्वतन्त्रता में कैद कर सकूँ। शायद मैं घर के लिए बना ही न था', पर उन्हें घर भी चाहिए, सुविधाएँ भी, जवानी भी; और निर्बंध उत्तरदायित्वहीनता भी।

दूसरी गाँठ थी जाति। यूँ तो ऐसे निम्न वर्ण में भी न जन्मे थे। मगर वर्चस्ववादी सवर्ण जातियों को हर सम्भावनाशील व्यक्ति या जाति से खतरा बना रहता है अतः वे उसमें हीनता भरने की किसी भी कोशिश से बाज नहीं आतीं। इस चीज ने उन्हें खुद को तो ऊपर उठाया ही अन्य अपमानित वर्ग, वर्ण, लिंग की यातना से जोड़ा। दुर्ग द्वार के वज्र कपाट पर प्रहार करने लगे टूटे भी। यह यातना का उदात्तीकरण उनकी खास प्रवृत्ति बन गया।

हीनताबोध प्रायः सभी पहुँचे हुए लोगों की कारक-प्रेरक शक्ति बनता है, उदात्तीकरण कोई-कोई ही कर पाता है।

एकांतभरी स्वाधीनता उनकी एक पनाहगाह है तो नींद दूसरा। कथाक्रम-1 के मंच पर एक बार शैलेश मटियानी उन्हें और नामवर जी पर चुन-चुनकर प्रहार कर रहे थे और मेरी बगल में बैठे जनाब हल्के-हल्के खर्राटे ले रहे थे। वीरेन्द्र जैन कुंठित होने पर कटु आरोपों पर उतर आते हैं और अक्सर उन्हें शाम को राजेन्द्र जी का हमप्याला बनते देखा है। यही हाल नामवरजी, कमलेश्वर जी, या दूसरे दोस्तों के साथ है। लाख वाकयुद्ध हो, युद्ध के बाद महाभारतीय शैली में बैठकर साथ-साथ जश्न मनाना दिल्लियाइट लोगों की खास शैली है और राजेन्द्र जी की खासमखास!

नामवरजी की भाषा में कहें तो इस 'गरबीली गरीबी' में जो अच्छा या बुरा बना, वह तो हुआ उनका व्यक्तित्व और कालकूट पचाकर जो क्रीम निकला वह उनका कृतित्व! कृतित्व का रेट्रोस्पेक्टिव देखने पर जो खास बात नजर आती है, वह यह कि राजेन्द्र जी में कथाकार, अध्येता और चिन्तक तीनों स्रोत शुरू से ही उनके कृतिकार को रचते-सिरजते रहे और जैसा कि मैंने पहले ही कहा, अन्तिम दो ने कभी भी उनके कथाकार को शान्ति से काम करने नहीं दिया। खेल में खुच्चड़ करने में

उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा। जब तक उनका कथाकार सशक्त रहा, वह उनके हस्तक्षेप को एडजस्ट करता रहा, बच-बच कर निकलता रहा, लेकिन कमजोर पड़ते ही उसे उनके आगे आत्मसमर्पण करना ही था और उसने किया भी।

सन् 50-51 से ही वे देशी-विदेशी उपन्यासों पर गम्भीर टिप्पणियाँ और समीक्षात्मक लेख लिखने लगे थे। हिन्दी में 'गुनाहों का देवता' (डॉ. धर्मवीर भारती)-1951, सूरज का सातवाँ घोड़ा-1952, मरु प्रदीप (अंचल)-1952, ढलती रात (विष्णु प्रभाकर)-1952, गर्म राख (अश्क) और औपन्यासिक यथार्थवाद-1952। विदेशी विद्वानों के रेफरेंस से सजी-धजी गहन बौद्धिक टिप्पणियाँ लोगों को चौंकाती थी। इस तरह 'रंगरूट' (बरेन बसु) पर उन्होंने 1953 में और तब की विवादास्पद कृति 'लोलिता' पर सन् 1959 में। रेणु की आंचलिकता का जादू सिर पर चढ़ कर बोलने लगा था सो 'परती परिकथा' पर भी लिखना उनसे कैसे छूटता। ताजमनी (नायिका) के बहाने उस पर लिखा 1959 में।

किसी पात्र से आत्मिक संवाद करते हुए रचना में अन्तर्यात्रा करते हुए अन्दर से विस्फोट करना, यह रामचरित मानस के राजा प्रतापभानु के काल में एक राक्षस का करतब था जो आहार बनकर उदर में चला जाता था, बाहर से पुकारने पर उदर को विदीर्ण करता हुआ प्रकट होता। पश्चिम में इसका चलन था। राजेन्द्र जी ने इसे हिन्दी में सफलतापूर्वक उतारा। उस त्रिवेणी को बाद में मिलने वाली तरह-तरह की नदियों ने समृद्ध किया, मगर नदियों में पवित्र नदियाँ ही नहीं मिला करतीं, परनाले भी मिलते हैं—गन्दे जल के। सूरज का सातवां घोड़ा (भारती) इस तरह कंडेम करनेवाली रचना न थी न उसका कथ्य, न उसका प्रयोग, न उसकी टिप्पणियाँ! ईर्ष्या, द्वेष, गुटबाजी की अल्लम-गल्लम बहुत कुछ बहता रहता है जवानी की बाढ़ में किनारे टूटते रहते हैं, दूर-दूर तक पसर जाता है पानी। पानी, पानी के बीच की सभी दीवारें टूट जाती हैं।

'धूप-छांही रंग' (गिरीश अस्थाना) 1970 में आया, 'एक संशयात्मा की डायरी' (बांगलादेश मुक्तियुद्ध पर) सन् 1972 में, 'काला जल' (शानी) और 'जुगलबंदी : समय संघर्ष' 1976 में...और भी बहुत कुछ निरन्तर आता रहा—सबके सब उनके घोर अध्येता और समय के चौकन्ने पहरेदार की आँच में तपे और उनकी दृष्टि के रंग से सजे। इस तरह देखा जाए तो स्वाधीनता के बाद से ही रचनाओं के बहाने समय-समाज, दीन और दुनिया की नब्ज टटोलने की बौद्धिक कोशिश लगातार ऊँचाइयाँ छूती रही। परवान चढ़ी यह 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान : चन्द्रकान्ता सन्तति' में। इतने सुगठित विश्लेषणपरक समृद्ध लेख हिन्दी में कम ही हैं। पुस्तक के बहाने सन् 57 की गदर की हारी हुई और घायल भारतीयता और उसकी पूर्व निर्मिति तथा भविष्य के आसार पर एक गहरी जाँच-पड़ताल है, 'इतिहास जहाँ मोड़ लेता है वहाँ सामाजिक शक्तियों और समय के दबावों को जबान देनेवाली कोई घटना, आन्दोलन या व्यक्ति होते हैं...या कभी-कभी यह भी होता है कि और गौर से देखते हैं तो पाते हैं कि वहाँ एक किताब है...अक्सर जिसे हम नहीं मार पाते, कल्पना में मारते हैं।' चन्द्रकान्ता की पड़ताल के बहाने राजेन्द्र का चिन्तन कितना सही है इसकी जाँच के लिए दूर

जाने की जरूरत नहीं। इतिहास के मौजूदा मोड़, डिप्रेशन और उबाल के पीछे गौर से देखते हैं तो यहाँ भी एक किताब है—रामचरितमानस। गौरतलब यह है कि राजेन्द्रजी की वह उक्ति सन् 1972 की है तब रामजन्मभूमि विवाद का यह स्वरूप न था। 'चन्द्रकान्ता' के रचनात्मक उत्स को कहाँ-कहाँ से खोजा गया—यह एक विलक्षण खोजी और उद्‌भूत विद्वान के ही बूते की बात थी—'दास्तान-ए-अमीर हम्जा', 'अलिफ लैला', 'तिलिस्म-ए-होशरूबा', 'बोस्ताने-खयाल', 'आनन्द मठ'...ध्वस्त महलों के भुरभुराते खंडहर, भहराते बुर्ज और अटारियाँ, जमींदोज होते किले, झहराती बावलियाँ...और जानें कहाँ-कहाँ। 'सामन्ती शौर्य की घनघोर असफलता के बाद बौद्धिक चातुरी की दिशा में एक अचेतन प्रयोग पराजित और बेबस राष्ट्र को अतीत और वर्तमान दोनों धरातलों पर एक साथ सहलाने की यह औपन्यासिक लेकिन प्रच्छन्न राष्ट्रीयता चन्द्रकान्ता की भयानक लोकप्रियता के कारण रहे।' मेरा मन यहाँ भी राजेन्द्र को ढूँढ़ता है। उनका सबसे प्रिय पात्र यहाँ भी भूतनाथ है। उसकी तर्कसंगति परिणति यह थी कि 'वह एकदम स्वतन्त्र और निर्बंध होकर जीता।'

देशी-विदेशी जीवित-मृत कथाकारों से उनकी भेंटवार्ताएँ इसी पद्धति को आगे बढ़ाती हैं। 'परती परिकथा की ताजमनी' को ही लिया जाए। शुरुआत ही इस वाक्य से होती है—

'मैंने कहा, माफ कीजिए ताजमनी दीदी, आपसे कुछ बात पूछनी थी।'

...ताजमनी के चेहरे पर बड़प्पन की चाँदनी धुलीं मुसकराती गम्भीरता झलक आई। नाक की कील का पत्थर झलमलाया। वे मौन पूजा में उतर गई...।'

उपन्यास की नायिका को विश्वास में लेते हुए उसे धीरे-धीरे कठघरे में ले आते हैं फिर उसके वर्ग बोध को धीरे-धीरे उद्दीप्त करते हुए कनफेशन कराने के स्तर पर ऐसे-ऐसे क्रॉस किए जाते हैं कि ताजमनी रो-रोकर बेहाल, 'मेरे जित्तन के बारे में कुछ न कहो।' यह ओझा द्वारा किसी पर आत्मा की सवारी कराने और उससे जिरह करने की पद्धति का प्रयोग है जिसे कइयों ने इस्तेमाल किया है। दिलचस्प बात यह है कि कृष्ण के महाभारत-युद्ध में सहभागिता की तरह दोनों हाथ, प्रश्न करने वाले और उत्तर देने वाले दोनों पक्ष राजेन्द्र जी के ही हैं। आलोचना पुनर्रचना में कैसे कायांतरित होती है—इसका एक विशिष्ट नमूना है यह समीक्षा-पद्धति। एक सिरे के सहारे धीरे-धीरे यह पूरी रचना और रचनाकार को अपने ग्रिप में ले लेती है। एक तरह से देखा जाए तो अन्तर्यात्रा के बहाने यह conflict of two giants है और दूसरी तरह से देखा जाए तो एक छाया-युद्ध।

यही अन्तरंग दुनिया है राजेन्द्रजी की जहाँ वे व्यक्ति, सभ्य समाज, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, राजनीति, उनके टूल्स, जीवित-मृत, आगत-अनागत सबसे संवाद करते हैं, सबकी अन्तर्यात्राएँ करते हैं। और यह सब करते हैं अपनी शर्तों पर, अपने अखाड़े में खींच कर। आज यह अखाड़ा 'हंस' है। बहुतों को यह नहीं सुहाता। कहाँ प्रेमचन्द का परम पावन हंस-पीठ, कहाँ राजेन्द्र जैसा पतित! जैसे विक्रमादित्य के सिंहासन पर कोई चरवाहा बालक आ बैठा हो? कहने वाले यहाँ तक कहते हैं कि प्रेमचन्द के हंस

और राजेन्द्र यादव के हंस में वही फर्क है जो प्रेमचन्द और राजेन्द्र यादव में है। पर ऐसे हल्के जहर से तो वे मरने से रहे।

अलबत्ता हंस-पीठ से हमेशा न्याय ही हुआ हो, ऐसा नहीं है। राजेन्द्र जी की कमजोरी है कि कभी-कभी ग्रामांचल के मिजाज को नहीं समझ पाते, कभी-कभी दूसरे क्षेत्रों के मिजाज को भी। शिवमूर्ति की 'केशर-कस्तूरी' और अखिलेश की 'चिट्ठी' (यद्यपि यह अन्यत्र छप चुकी थी) जैसी कुछ चीजें उदाहरण के रूप में गिनाई जा सकती हैं। विज्ञान और तकनॉलॉजी पर हंस में प्रायः न के बराबर ध्यान दिया गया (जिसे बाद में 'संधान' जेसी पत्रिका ने उठाया)। कई बार मैंने उन्हें जीवन में भकुआ बनते देखा है, कई बार उदास, पर वह अन्य रस उनका स्थायी भाव नहीं होता। इस दौर में 'हंस' में जितनी स्तरीय कहानियाँ और विचार छपे, वह उसके लिए गर्व और सन्तोष की बात हो सकती है। हंस में छपना भी गौरव की बात होने लगी। बहुत से साहित्यकारों को इसने जन्म दिया। हंस का लगातार प्रकाशित होना ईर्ष्या का वायस बन गया। विश्व साहित्य का काफी कुछ, खासकर अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी साहित्य और ब्लैक लिटरेचर हंस के माध्यम से ही कइयों ने जाना। (पहल और दूसरी जनधर्मी पत्रिकाएँ भी यह कार्य कर रही थीं, पर हंस ज्यादा तरल था) ब्लैक लिटरेचर से होते हुए मराठी दलित लेखन और मराठी से हिन्दी दलित लेखन को मंच देने का काम 'हंस' ने किया। नादीमीर, चिनुआ अचेबे और कितने-कितने नाम। ओरियाना फल्लाची, मार्क ट्वेन, स्टाइन बैक और कितनों-कितनों का समृद्ध कथा साहित्य, कितने-कितने दस्तावेज? दलित लेखन, नारी मुक्ति और मुस्लिम, अल्पसंख्यक चेतना को जबान देने की बात जब-जब चलेगी, सामाजिक न्याय के विमर्श का जब-जब आकलन किया जाएगा, राजेन्द्रजी द्वारा सम्पादित हंस के अवदान की चर्चा के बिना हर चर्चा अधूरी रहेगी।

वापस लौटते हैं उनके व्यक्तित्व के उस नाजुक नुक्ते सेक्स पर, सेक्स जो उनका टैबू भी हे, उनका वाटर लू भी। शुचितावादी भारतीय (हिन्दू और गैर हिन्दू सभी) अन्तर्विरोध या पाखण्ड पर जितना कहा जाए, कम है। राजेन्द्र जी की पहली गलती यही है कि वे इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जबकि हिपोक्रेसी के मारे ज्यादातर लोग उस तरह नहीं स्वीकारते। केदारनाथ अग्रवाल ने अपने अन्तिम दिनों में स्वीकार किया था कि उन्हें अभी भी सेक्स की अनुभूति होती है। नायपाल ने नोबेल पुरस्कार प्रदान किए जाने के अवसर पर उन वेश्याओं का आभार स्वीकारा जिन्होंने उन्हें मरने से बचाया। अज्ञेय, राहुल, रेणु, प्रेमचन्द, भारतेन्दु, भारती, राकेश, कमलेश्वर, नरेश मेहता, श्रीकान्त वर्मा, राधाकृष्णन और कौन नहीं! राजेन्द्रजी अपनी सफाई में दूसरों का हवाला देकर पूछते हैं, 'लंपटता क्या व्यक्तिगत नैतिक स्खलन है या अपनी स्वतन्त्रता का एसर्शन? फ्रैंक हैरिस की डायरियाँ यूरोप के दर्जनों देवपुरुषों के सेक्स स्कैंडल से भरी पड़ी हैं—शेली, कीट्स, बर्नाड शा, तॉल्स्ताय वगैरह-वगैरह। बाद में पाल जॉनसन का 'इंटेलेक्चुअल्स' शोध ग्रन्थ भी देखा, जहाँ हर क्षेत्र के बुद्धिजीवियों की हरमजदगियाँ बयान की गई हैं।' रूसो की आत्मस्वीकृतियाँ और तस्लीमा की 'द्विखंडिता'

में किस बात का खुलासा है? राजेन्द्र जी तो लेखिकाओं को भी सेक्स जनित आत्मस्वीकृतियाँ लिखने के लिए उकसाते रहते हैं। मेरा अपना मत है कि अश्लीलता का कोई भी मुद्दा समाज सापेक्ष रहना चाहिए, थोड़ी-बहुत छूट तो चल सकती है, मगर ज्यादा खींचतान सम्भव नहीं। इस गरीब, समस्या पीड़ित, भौगोलिक रूप से गर्म देश में सेक्स चित्रण की सरहदों पर ज्यादा रेशनल ढंग से सोचना होगा। राजेन्द्र जी कोई बंधन नहीं मानना चाहते जबकि उनकी निर्बंधता से उत्साहित होकर ऐसी-ऐसी यौनाकुल कहानियाँ भी उनके पास आई हैं जिन्हें छापने का साहस उन्हें भी नहीं होता। जिस कृष्ण पर किशोरवय में चीरहरण का आक्षेप है, वयस्क हो जाने पर द्रोपदी का चीर बढ़ाने का तमगा भी उसी कृष्ण को मिलता है। 'कृष्ण उनके आदर्श भी हैं।' फिर बार-बार सेक्स की ओर लौटने की इतनी आग्रहशीलता का मतलब क्या है? इतने सारे हवाले क्यों? याद आता है। एक बार पश्चिम बंगाल के एक मन्त्री से पूछा गया 'आपके यहाँ लॉ एण्ड ऑर्डर इतना खराब क्यों है?' मन्त्रीजी ने जवाब दिया, 'बिहार से तो अच्छा है।' होलियर दैन दाउ!

किताबों और जिन्दगी को फेंक-फांक कर चल देने की तर्ज पर पिछले दिनों उन्होंने अपने पिछड़े सारे लेखन को खारिज किया। (संशयात्मा का भूत!) यह दूसरी 'अति' है। खैर, जैसा कि मैंने उन्हें जाना है, जल्द ही इस दौरे से उबर जाएँगे। यह दौर ही ऐसा है कि हमारे लाख चाहने पर भी चीजें सही दिशा में नहीं जा रहीं। 'वहाँ तक पहुँचने की दौड़' में हम अक्सर पाते हैं कि सीने से चिपकाए जिस बच्चे की रक्षा के लिए दनदनाती गोलियों की बौछारों में हम भाग रहे हैं, वह बच्चा भी सुरक्षित नहीं।

तनिक निर्मम होकर अपनी भूमिका की जाँच करें तो कहना पड़ेगा कि चाहे जितने भी कनफेशन्स किए जाएँ, चाहे तो मन्नूजी उन्हें बिल्कुल ही माफ कर दें, मीताजी, मन्नू जी और कई-कई लोगों के प्रति हुए अन्याय उन्हें घेरते रहेंगे। वे अन्धी खोहें (डार्करूम?) जहाँ मारे गए योद्धाओं के सिर लटक रहे हैं, चमगादड़ें भी उलटी लटकी हुई हैं, साँप भी फुफकार रहे हैं और अपने खजाने की रक्षा के लिए जिन शिशु-देवों की बलि दी गई है (मेरी कहानी खोज) उनके कंकाल भी। कनफेशन में सारे पाप गिनाए नहीं जाते, कुछ गैरों से, कुछ खुद से भी छुपाते फिरते हैं हम ताउम्र, ताजिन्दगी।

राजेन्द्रजी मन्नूजी से तो क्या (जैसा कि अर्चना जी और निर्मला जी कहती हैं) किसी भी औरत से न निभा पाते। वस्तुतः वह औरत और वह दुनिया बनी ही नहीं। वह तो उनके अन्तर्मन में है—यूटोपिया! मुझे एक यूनानी किरदार देवमालाई की बात याद आती है। देवमालाई जादूगरनी है। वह अपनी महबूब हस्ती को तिलस्माती पलंग पर सुलाती है, छोटे से बड़ा करती है। जाते समय उसे छोटा बना जाती है। जब चाहे बड़ा, जब चाहे छोटा। इस खींचतान में महबूब की एक दिन मौत हो जाती है। राजेन्द्रजी की बुभुक्षित आत्मा ही कहीं वह देवमालाई तो नहीं? जो जिन्दा रहा वह तो उनका जादू था पर जो मर गया, वह क्या था?

राजेन्द्र यादव : कुछ निजी टिप्पणियाँ

कमला प्रसाद

राजेन्द्र यादव बतरस के धनी हैं। उनमें एक विशेष प्रकार का चुम्बकत्व है। मैं उनका मित्र होने का दावा नहीं कर सकता, पर इतना तो है कि हम लोगों में एक-दूसरे के प्रति समझ है। मैं जब कभी दिल्ली जाता हूँ, उनसे मुलाकात होती है या फोन पर बातें होती हैं। उनकी बातों का लहजा अपनापा भरा होता है। ऐसे में संवाद बनता है। वे उन लोगों में हैं, जिनके जैसे लोगों के लिए ही उक्ति है—"काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्"—बुद्धिमानों का समय काव्यशास्त्र विनोद में व्यतीत होता है। राजेन्द्र जी के लिए इसे साहित्य विनोद मान लें। 'हंस' के सम्पादक हैं। सुबह वे 11 बजे से शाम 6 बजे तक बैठते हैं। लोग आते-जाते रहते हैं। अकेले होते हैं तो सम्पादन का काम करते हैं, किताबें पढ़ते हैं और दरबार भरा होता है तो उनसे चुहल करते हैं। छकते और छकाते हैं। अट्टहास करते हैं। यह 'दरबारे आम' होता है। चाहे जो आए, दिल्ली के साहित्य-दरबारों में जितने लेखक यहाँ आते हैं, उतने और कहीं नहीं। विशेषता यह कि युवा लेखक-लेखिकाएँ, दलित और महिला रचनाकार इन्हें अपना मानकर आते हैं। राजेन्द्र जी अपनी उमर के पहाड़ से नीचे उतर आते हैं। वे युवा-लेखक मंडली में सरदार बन जाते हैं। इसी कौशल में उनकी चालाकियाँ और उलटबांसियाँ अपना काम करती रहती हैं। 'हंस' के दबदबे में राजेन्द्र यादव का भक्त समुदाय भी बना है जो हर शहर-कस्बे में है। उन लेखकों के लिए वे खलनायक नहीं हैं। वे यारबाज और दोस्ती के जज्बे से भरे आदमी हैं।

राजेन्द्र यादव अपने दरबार में शामिल आगन्तुकों से पूछेंगे—क्या हाल है? आप पटना से आए हैं तो प्रेमकुमार मणि कैसे हैं, अरुण कमल कैसे हैं, बिलासपुर से हैं—तो जया जादवानी कैसी हैं, कोलकाता से हैं तो प्रभा खेतान, अलका सरावगी कैसी हैं? आपने कहा—अच्छे हैं तो उन्हें मजा नहीं आएगा। सवालों की झड़ी लगा देंगे। स्मृति का खजाना खोल देंगे। आपको अंधेरे पक्ष की ओर ले जाएँगे। मजाल कि कोई अच्छा-अच्छा ही बचे। मूर्तिभंजन का ऐसा कमाल किसी के पास नहीं। लेखक-लेखिकाओं के प्रेम रहस्यों के सारे सन्दर्भ उनके पास होते हैं। इस वार्तालाप से नए लेखकों को वे अपने करीब ले आते हैं। प्रेमी-प्रेमिकाओं की अड़चनें दूर करने के उपाय सुझाते हैं, उनके अभिभावक बन जाते हैं। मूर्तिभंजन राजेन्द्र जी की साहित्य की रणनीति का

हिस्सा होता है। वे मूर्ति निर्माण भी करते हैं। कितने लेखक-लेखिकाएँ नहीं हैं जिनकी छवि 'हंस' से बनी है। उनको हंस सम्प्रदाय का लेखक कहने में लोग संकोच नहीं करते। प्रायः कहा जाता है कि यह दरबार निन्दारस सुख का सुविधाजनक केन्द्र है। हरिशंकर परसाई ने अपने निबन्ध 'निन्दारस' में निन्दकों की कोटियाँ निर्धारित की हैं। कैसे होते हैं, निन्दक—इसका उदाहरण "अद्भुत है मेरा मित्र। उसके पास दोषों का कैटलाग है। मैंने सोचा कि जब वह हर परिचित की निन्दा कर रहा है तो क्यों न मैं लगे हाथ अपने विरोधियों की गत इसके हाथों करा लूँ। मैं अपने विरोधियों का नाम लेता गया और वह उन्हें निन्दा की तलवार से काटता चला। जैसे लकड़ी चीरने की आरा मशीन के नीचे मजदूर लकड़ी का लट्ठा खिसकाता जाता है और वह चीरता जाता है।" मिशनरी निन्दकों के बारे में उनका कहना है, कि "उनका किसी से वैर नहीं, द्वेष नहीं। वे किसी का बुरा नहीं सोचते। पर चौबीसों घंटे निन्दाकर्म में बहुत पवित्र भाव से लगे रहते हैं।" राजेन्द्र यादव के बारे में ये बातें उपयुक्त लगती हैं। वे मिशनरी निन्दक हैं। तस्वीर के दूसरे पहलू को उजागर करने वाले। वैरभाव से परे इस पद्धति का कमाल यह कि जिनकी निन्दा की जा रही है, कदाचित वह आ जाए तो! कोई बात नहीं। उसे शामिल करके दूसरे की निन्दा हो जाएगी। निन्दा दरबार को रोचक और रसीला बनाती है। कभी कोई महफिल इसके बिना सजीव हुई है भला! नीरस-उबाऊ बैठक में ज्यादा देर बैठना सम्भव नहीं होता। यादव की बैठकी में यदि किसी को गलतफहमी हो जाए कि यहाँ नामवर सिंह या कमलेश्वर की निन्दा हो रही है तो इससे कोई अर्थ निकलेगा। नहीं बिल्कुल नहीं, अर्थ नहीं निकालिए। उन लोगों में आपसी आत्मीयता और दोस्ती भी है। नामवर और राजेन्द्र यादव एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। सुबह होती है दूरभाष वार्ता से। सभा में नोक-झोंक होगी। एक-दूसरे के खिलाफ तर्क मौजूद हैं। सभा के बाद में उन बातों की चर्चा नहीं करेंगे। कहते हैं कि कौरवों-पाण्डवों की सेनाएँ दिन में लड़ती थीं, रात में एक साथ भोजन करती थीं। साहित्य के खेल में कम लोग इस तरह निष्पृह निन्दक और प्रशंसक होते हैं। कुश्ती में पछाड़ते हैं और मैदान के बाहर गले लगते हैं। अजीब-अजीब गुर हैं और इनका साहसिक अभ्यास है।

राजेन्द्र यादव के रचनात्मक व्यक्तित्व के कई आयाम हैं। वे कथाकार-आलोचक और सम्पादक हैं। 'नई कहानी' आन्दोलन में तीन नाम रूढ़ हुए—मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव। तीनों के निर्माण में आपसी संगति है। इसलिए मूल्यांकन के समय तीनों को देखना होगा। मोहन राकेश की कीर्ति तीनों में अधिक थी। उनके नाटकों ने युग रचा है। कमलेश्वर कथाकार और सम्पादक के रूप में प्रसिद्ध हुए। वे अभी जीवन्त वक्ता और स्तम्भ लेखक हैं। लोकप्रिय उत्तेजक भाषा के कारण उनका श्रोता पाठक-समाज है। राजेन्द्र यादव ने अपने कथाकार को स्थगित कर 'हंस' के सम्पादक के रूप में अपने को प्रासंगिक बनाया है। वे साहित्य की प्रत्येक हलचल में शामिल हैं। तीनों लेखकों में विशेष प्रकार की रोमानियत रही है। आजादी के बाद प्रगतिशील आन्दोलन और परिमल के बीच वैचारिक संघर्ष प्रखर था। इस संघर्ष के

दौरान दोनों ओर के लेखक एक दूसरे से दूर हुए और प्रभावित भी। मुक्तिबोध ने इसे नई कविता का आत्मसंघर्ष कहा था। नई कहानी में इसी पद को लें तो मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव की रचनात्मकता में दोनों धाराओं का आत्मसंघर्ष दिखता है। चुपके से तीनों लेखकों में व्यक्तिवाद प्रविष्ट हुआ है। अपने व्यक्ति की एवज में ये सामाजिक नहीं होते। बार-बार निजीपन की वकालत करते हैं। व्यक्तिगत जिन्दगी को सामाजिक संकल्पों से अलग रखते हैं। यदा-कदा मार्क्सवाद के प्रति आस्थावान होकर भी धारणाओं में उससे बाहर चले जाते हैं। व्यापक अर्थों में प्रतिक्रियावाद विरोधी हैं। तीनों लेखकों में दोस्ती और ईर्ष्या का विरल संयोजन है। अपने-अपने कीर्ति क्षेत्र, रणक्षेत्र, निन्दाक्षेत्र और परस्परता के भावुक सूत्र हैं। इनकी अपनी-अपनी छवियाँ-मूर्तियाँ हैं। मोहन राकेश की अकाल मृत्यु हो गई। कमलेश्वर-राजेन्द्र यादव की ओर साहित्य का समाज निहारता है। इनके जीवन को सपाट चित्र संरचना में नहीं बाँधा जा सकता। कई रूप और परतें हैं। गुण-दोषमय तस्वीरें हैं। सम्भवतः इनकी समकालीनता के स्वभाव में ही यह लक्षण रहा है। मध्यवर्गीय दुनिया की विराट उलझनें और आशंकाएँ इनके लेखन में दिखेंगी। सम्बन्धों का विघटन और दूर-पास की स्थितियाँ होंगी। स्रोतों को तोड़ते-जोड़ते अपने वृत्त के मायाजाल में जूझते होंगे। अपनी कुण्ठाएँ उजागर करेंगे और उन्हें मानेंगे भी। एक बार मोहन राकेश पर केन्द्रित व्याख्यान में राजेन्द्र यादव ने कहा, "मैं व्यक्ति राकेश का समग्रता में मूल्यांकन करना चाहता था। न मुझे अपनी बात को स्कैण्डलस् बनाना था, न देव महात्म्य। जाहिर है दृष्टिकोण मेरा था। उसके पीछे समकालीनता, दोस्ती की अन्तरंग निर्भरताएँ, भावनात्मक हिस्सेदारियाँ हैं तो आपसी स्पर्धाएँ, ईर्ष्याएँ, कुंठाएँ तथा व्यक्ति और स्थिति को देखने के कोण और व्याख्याएँ भी मेरी हैं। अगर ऐसा न हो तो किसी भी छोटे-बड़े व्यक्ति की केवल एक ही जीवनी लिखी जाए"। ठीक हैं ये बातें।

जिस तरह ये मोहन राकेश के बारे में चरितार्थ हैं, उतनी ही राजेन्द्र यादव के बारे में भी सही हैं। जो इन्हें जानता है, वह इनकी जटिल परतों को भी अनुभव करेगा। इन्होंने ज्यादा जमीन नहीं जोती। जो खेत जोता है, बार-बार जोता है। लम्बाई-चौड़ाई के बजाय थोड़ी-सी जमीन की गहराइयों में उतरे हैं। निर्मल वर्मा एक बार अपने ही नीचे उतरे तो बाहर नहीं आए। बाहर आग लग जाए, गुजरात जल जाए—उनसे मतलब नहीं है। राजेन्द्र यादव का डूबना और बाहर आना समानान्तर है। वह एकाकी नहीं है। बाहर की हवाओं में झूमना, तपना और लड़ना एक ही यात्रा के प्रसंग हैं। इनकी दुनिया कथाकार समकालीनों में रेणु, नागार्जुन और परसाई की दुनिया नहीं है। ये मध्यवर्गीय सभ्यता के समीक्षक हैं। यही इनका गुण और सीमा है। यादव जी की कृतियों के शीर्षक दर्शाते हैं कि उनका अनुभव संसार क्या है—उखड़े हुए लोग, शह और मात, एक इंच मुस्कान, जहाँ लक्ष्मी कैद है, छोटे-छोटे ताजमहल, किनारे से किनारे तक आदि। वे 'हंस' के सम्पादकीयों में प्रायः बहस और विवाद छेड़ते रहे हैं। वे हमेशा वर्जित क्षेत्रों को उठाते हैं। असुविधाजनक स्थापनाएँ करते हैं। 12 खण्डों में प्रकाशित 'काँटे की बात' में उनके ऐसे लेख संचित हैं। इन्हें एक साथ

पढ़ें तो ये लेख अपने समय के सार्थक हस्तक्षेप लगते हैं। प्रत्येक लेख में एक दुश्मन होता है जिस पर वे हमला करते हैं। दुश्मन के अगल-बगल जो भी दिखेगा, उसे भी नहीं छोड़ेंगे। नए-नए शत्रु बनाते हैं। आक्रामकता के कारण कभी-कभी व्याख्याएँ एकांगी हो जाती हैं जिन्हें वे प्रायः अकादमिकता से बचाव कहते हैं। इनके द्वारा उठाए गए सवालों की संख्या काफी है। लेखकीय मंथन की झलक उनमें स्पष्ट दिखती है। ये सवाल राजनीति और सत्ता, अभिव्यक्ति की आजादी, दलितों के संघर्ष, स्त्रियों की मुक्ति, अल्पसंख्यकों की समस्याएँ, धार्मिक पाखण्ड, ब्राह्मणवाद-जातिवाद के अलावा व्यापक आर्थिक-सामाजिक क्षेत्रों तक फैले हैं। स्थापनाओं के लिए वे देश-विदेश से साक्ष्य जुटाते हैं और जिसको निशाना बनाते हैं उसके अनेक रूप पेश करते हैं। उनका टारगेट एरिया प्रायः मध्यवर्ग-उच्चवर्ग से बाहर का नहीं होता। परम्परा और अतीत के बारे में उनकी टिप्पणियाँ इस तरह होती हैं, जैसे वहाँ सब कुछ गड़बड़ है। विशेषकर उनकी स्थापनाओं में शत्रुता का भाव ऐसे ब्राह्मणवाद के प्रति है, जो उस रूप में इतिहास नहीं रहा। जो भी दूषण है, वह सामन्तवादी व्यवस्था का चरित्र है। आज के साहित्य-दृश्य में राजेन्द्र जी स्त्रियों-दलितों की मुक्ति के प्रखर पक्षधर हैं। हम सब इस प्रसंग में उनके साथ हैं। यद्यपि इसे वे पवित्र साझेदारी नहीं मानते। उन्हें लगता है कि दलितों-स्त्रियों के संघर्ष में साझेदारी का हक औरों को कम है, सम्भवतः नहीं भी है। इनकी लेखनी में अद्भुत आत्मविश्वास होता है। वे साहसपूर्वक अपना पक्ष रखते हैं। स्थापनाओं के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

1. पति-पत्नी के बीच कोई सम्बन्ध नहीं होता। जो कुछ होता है उसकी कोई संहिता नहीं होती। ये सम्बन्ध दोनों अपने लिए खुद ही तलाश करते हैं, खुद ही स्थिर करते हैं।

2. देश के निर्माताओं और संचालकों ने हमारी उत्पादनवृत्ति को कुचला है।

3. आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण कवि प्रायः ब्राह्मण रहे हैं। जबकि गद्यकार गैर-ब्राह्मण।

एक गद्यांश देखें, जो कई तरह के प्रतिप्रश्न उत्पन्न करता है। "जिस महान् हिन्दी प्रदेश के सांस्कृतिक परिदृश्य में न किसान-मजदूर [illegible] मुसलमान और दलित हों। स्त्रियाँ और आदिवासी हों, वह अगर परम रूढ़िवादी, [illegible]शील घुटन और अँधेरों से भरा बेजान है तो आश्चर्य की बात कहाँ है। जो कभी इसका तो कभी उसका सिर्फ उपनिवेश ही बना रहा हो, वह पश्चिम से मौलिकता उधार नहीं लेगा, तो कहाँ जाएगा! उसे तो धुर अतीत और धुर पश्चिम का उपनिवेश होना ही है, क्योंकि वहीं इन रिफ-रैफ या सिरदर्दी झंझटों से मुक्ति है। यहाँ या तो नरेन्द्र कोहली प्रकाण्ड बुद्धिजीवी होंगे या अशोक वाजपेयी या निर्मल वर्मा जैसे टू-इन-वन भी इन्हीं में शामिल होंगे। क्या आपको नहीं लगता कि जिसे हम हिन्दी प्रदेश की संस्कृति कहते हैं, वह अन्ततः उसी परोपजीवी, ऊर्जाहीन, सवर्ण मानसिकता की जायज सन्तान है या जो हजारों सालों से शुतुरमुर्ग की तरह कछुआ धर्म निभाती रही है।" गौर करें कि उपर्युक्त धारणाएँ हिन्दी प्रदेश के सांस्कृतिक परिदृश्य के सन्दर्भ में भारतीय अतीत, स्त्री-पुरुष

सम्बन्ध तथा दलितों की मुक्ति आदि के बारे में जो राय व्यक्त की गई है, क्या वह तथ्यानुमोदित हैं? ठीक है कि भारतीय समाज में जातिवाद-वर्णवाद की कठोरता से भयंकर अपराध हुए हैं। व्यवस्था को इस तरह बनाए रखने वाली शक्तियाँ खतरनाक रही हैं। किन्तु प्रतिरोधी स्वर कम नहीं रहा। टकराहटें निरन्तर रही हैं। उन्हें छोड़कर बातें कैसे होंगी। स्थापनाएँ स्थिर करते समय वस्तुगत होना तथा लक्ष्य संधान करते समय स्पष्ट होना बुद्धिजीवी की जरूरी शर्त है। ऐसा करने के लिए विवेचन वैज्ञानिक समझ की माँग करता है। मैंने देखा है कि राजेन्द्र यादव के सम्पादकीयों पर इसी आधार पर लोगों की असहमतियाँ बनती हैं। थोड़ी देर के लिए इस बात को ओझल करें तो कहना होगा कि आजादी के बाद के जिन लेखकों ने गरीबों-पददलितों के प्रति अपनी लेखकीय पक्षधरता के प्रति कभी समझौता नहीं किया, वे उनमें से एक हैं। वे हस्तक्षेपकारी व्यक्ति हैं। उनमें आक्रमण करने और झेलने की शक्ति है। विरोध सहने का माद्दा है। निन्दा करने और अपनी ही निन्दा सुनने में संकोच नहीं करते। चेहरा नहीं उतरता। प्रतिबद्धता, जुझारूपन, साहस और संघर्ष की क्षमता और निरन्तर समकालीनता के लिए वे बेचैन लेखक हैं। खोजी स्वभाव है। वे खिलाड़ी हैं। साहित्य की राजनीति खेलने में मंजे हुए हैं। सारे गुर मालूम हैं। वे अवरुद्ध मुक्ति-संग्राम के योद्धा हैं।

राजेन्द्र यादव की पीढ़ी अपनी समूचे आभ्यान्तरीकरण की प्रक्रिया में महानगरीय और मध्यवर्गीय समस्याओं में कैद रही है। उसी में जीना-मरना। यहाँ तक कि समाज का जो साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण हो रहा है, उसके भी अनुभव सीमित हैं। सूचनाक्रान्ति के युग में शहरवासियों को अनुभव के व्यापक अवसरों की जरूरत नहीं पड़ती। मीडिया की कृपा से जानकारियाँ उन या सब तक फैल जाती हैं। दिक्कत यह है कि जानकारियों के पीछे कथानक उत्सव की तरह सामने आते हैं, इन सीमाओं के कारण राजेन्द्र यादव जैसे लेखकों की बेचैनी और सीमाएँ बढ़ा दी जाती हैं। इनका हस्तक्षेप क्षेत्र चूँकि इनके समय में ही है, इनके पात्र अपने समय से ही चुने गए होते हैं। इसलिए इतने सीमित अनुभव के भरोसे उनकी मानवीय उपस्थिति को विश्वसनीय आधार प्रदान करने का संकट अहम होता है। यादव जी ने बहुत दिनों से कहानियाँ नहीं लिखीं। उनके जो अनुभव और स्वप्न हैं सम्पादकीयों में ही व्यक्त होते रहते हैं। 'सारा आकाश' या 'अनदेखे अनजाने पुल' जैसी कृतियों के रचनात्मक उभार अब नहीं हैं। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'प्रतीक्षा' जैसी कहानियाँ नहीं लिखी जा पा रही हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जो समाज ढलता रहा है, उसको राजेन्द्र यादव ने अपने पहले उभार में काफी कुछ रचा है। विशेष रूप से विघटन और टूटन को चित्रित करने में उनका कमाल दिखता है। रचनाओं का कोई पात्र पूरा-पूरा नायकोचित नहीं है। वह टूटा-अधूरा और बेचैन है। उसे कहीं जाना नहीं है। उसका कोई मोक्ष नहीं है। उसकी प्रेमिका-पत्नी-परिवार सब टूटे और अधूरे हैं। पुराने मूल्य टूट गए हैं, नए मूल्यों की जमीन तैयार नहीं हुई। इसी द्विभाजिकता के शिकार पात्रों के बीच कृतियाँ, चिन्तन और आलेखन का व्यवहार बना है। अब समय आगे बढ़ गया है। हमारे सामने लेखन के अलावा सामाजिक लड़ाई

महत्त्वपूर्ण हो गई है। सृजन की एकान्त परिस्थितियाँ भी खतरे में हैं। जनतन्त्र के आदर्शों को तोड़ा जा रहा है। आश्चर्य यह है कि साम्प्रदायिक दंगे सरकारों के निर्देश पर होते हैं। अमन की बातें करने का अधिकार छीना जा रहा है। ऐसे में लेखकों से अपेक्षा की जाती है कि वे व्यक्तिगत रणनीति के स्थान पर सामाजिक लड़ाई की रणनीति अंगीकार करें। वे देखें कि लेखन या भाषण जनता को सम्बोधित होता है। जनता के बीच हम जो बीज बोयें, उसकी फसल स्वयं न काटें। हम जिस युद्ध के बीच हैं, जिस जनता के प्रतिनिधि हैं, उसमें हमारा नायकत्व स्वघोषित नहीं हो सकता है। हमारे आत्मविस्तार में जनता की चित्तवृत्तियों की जगह अपेक्षित है। हमारे उद्‌बोधन में भावनात्मक अपील हो जो मर्मस्पर्शी हों। साम्प्रदायिक भावनात्मक अपील मानवीय अपील के सामने कहीं नहीं ठहरेगी। जो समर्थ हैं, उनसे ही उम्मीदें हैं। गोर्की ने संस्कृतिकर्मियों को सम्बोधित करते हुए कभी कहा था कि यदि—"बुद्धिजीवी वर्ग ने स्वतन्त्रता के प्रथम दिन से लोगों में निम्न भावनाएँ उभारने के स्थान पर उन्हें कुछ और निर्देशक सिद्धान्त सिखाया होता, यदि इसने किसी भिन्न प्रकार की भावनाएँ भरी होतीं—तो आज हम चारों ओर यह नीच घृणास्पद दृश्य नहीं देख रहे होते।" प्रेमचन्द ने वही काम शुरू किया था। राजेन्द्र यादव जैसे शब्द योद्धा उसी काम में लगे तो हैं। पर जरूरत है संघर्ष की नई रणनीति बनाने की। उम्मीद है कि यह होगा, जरूर होगा। भविष्य का नायक खलता के रास्ते से ही गुजरकर आएगा।

एक जिन्न की भिन्न तस्वीरें

महेश दर्पण

मुझे अच्छी तरह से याद है। वह 26 अप्रैल, 1986 का दिन था। कुछ दोस्तों ने जबरन मुझे जमीन खरीदवा दी है, यह ख़बर पाते ही राजेन्द्र जी अड़ गए। दोनों कोहनियाँ मेज पर टिकाकर उन्होंने दसों अंगुलियाँ आपस में फँसा लीं। फिर धीरे-धीरे अंगुलियाँ नीचे की तरफ मोड़ीं और अपनी ठोड़ी रखने के लिए जैसे एक प्लेटफार्म ही तैयार कर लिया, "देखो महेश, ये खबर ऐसे नहीं दी जाती। मिठाई-विठाई तो होनी ही चाहिए!"

मुझे जब लगा कि बचने का कोई रास्ता अब रह नहीं गया है तो मजबूरन हरिनारायण से कुछ रुपये उधार लिए और मिठाई मँगवाई गई। मिठाई आई तो राजेन्द्रजी ने आधा टुकड़ा ही उठाया और बाकी कमरे में मौजूद लोगों और कार्यालय सहयोगियों के बीच बँटवा दी। खुद खुश हो लेने और दूसरों को खुश होने का मौका देना उनकी तबीयत का खास हिस्सा है। उनसे मिलने वाले हर इन्सान को शुरू से ऐसा मौका मिल ही जाएगा, इसकी कोई गारंटी नहीं। सच कहूँ, तो मैं ही पहली बार राजेन्द्र जी से सन् 1974 में मिला था। यह वे दिन थे जब मैं अल्मोड़ा से दिल्ली आकर अपने मामा जी के पास रह रहा था और पढ़ने के लिए लाजपत राय कॉलेज, साहिबाबाद जाया करता था। मैंने राजेन्द्र जी की कई रचनाएँ पढ़ रखी थीं और उनमें से कई से प्रभावित भी था। 'अक्षर' कार्यालय में पाइप सुलगाए बैठे राजेन्द्र जी को देख तब यही आभास हुआ था जैसे कोई जिन्न किताब के मुखपृष्ठ पर छपी अपनी तस्वीर के फ्रेम से बाहर निकल आया हो।

डरते-डरते, जो शख़्स बमुश्किल उनके सामने कुर्सी पर बैठा हो, उसे वे किस तरह बहुत कम वक्त में न सिर्फ सहज हो जाने का मौका दे देते हैं बल्कि बातचीत में बराबर का भागीदार भी बना लेते हैं, यह मैंने उसी रोज़ जान लिया था। इसके बाद तो फिर हम लोगों ने जब साहिबाबाद में प्रगतिशील लेखक सम्मेलनों का दौर प्रारम्भ किया तो राजेन्द्र जी अनिवार्य रूप से मौजूद रहा करते थे। बाद में तो ख़ैर यह जनवादी लेखक संगठन से भी जुड़े और इस नाते उनसे करीबी कुछ और बढ़ी ही। मुझे याद है, जब जनवादी लेखक संघ के प्रस्तावित घोषणा-पत्र में प्रस्तुत बिन्दुओं पर विचार करने के लिए दिल्ली में एक लेखक सम्मेलन आयोजित हुआ तो राजेन्द्र यादव भी उसमें सक्रिय रूप से मौजूद रहे। इस दौरान बाबा नागार्जुन का उद्घाटन

भाषण और अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाकारों के विचारों के बीच राजेन्द्र जी के कथन से हमारे जैसे कई युवा सहमत व प्रभावित हुए। उनका स्पष्ट कहना था कि 'घोषणापत्र राजनैतिक शब्दावली से बोझिल है...' कुछ जिन्दा शब्दों की अनुपस्थिति उन्हें खल रही थी, लेकिन वह यह भी मान रहे थे कि ऐसा कोई मसौदा अन्तिम हो भी नहीं सकता क्योंकि विचार एक प्रक्रिया है। उनका ज्यादा जोर तब व्यावहारिक समस्याओं को हल करने पर था।

मैं इन बातों का ज़िक्र बहुत विस्तार से नहीं करने जा रहा, लेकिन यह जरूर कहूँगा कि जब भी, कहीं भी, दुनिया भर में बुद्धिजीवियों को दमन का शिकार होना पड़ा भारत से उठने वाली दमन के खिलाफ आवाज में वह प्रमुख रूप से शामिल रहे। ऐसे अनेक कारणों के चलते मुझे कहीं यह लगने लगा था कि इस जैसे शख्स से मौके-बेमौके मिलते रहने में कोई हर्ज़ नहीं है। मिलना शुरू हुआ तो फिर हरिनारायण, हरिप्रकाश त्यागी और मैं तो होते ही थे, बाकी लोग बदलते रहते थे। यदि कभी उनके तीस-चालीस बरस पुराने दोस्त होते तो हम लोगों के सामने ही पहली मर्तबा मिलते हमसे कहीं ज्यादा उनके करीब दिखते।

'सारिका' में कार्यरत होने की वजह से, हमारे विभाग से मेरे अलावा शायद ही कोई उनसे इतना ज्यादा मिलता हो। उन दिनों 'हंस' का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण घटना थी और युवा लेखक खासे उत्साहित थे। मेरे कहने पर राजेन्द्र जी ने 'सारिका' के लिए अरसे बाद कोई कहानी दी थी। ये वे दिन थे जब यादव जी के साथ (जिन्हें मैं भाई साहब कहता हूँ) लम्बी बहसें होती थीं। त्यागी तो अक्सर उत्तेजित हो जाता था और उठते-उठते लगने लगता कि अब शायद फिर कभी बैठक न हो। लेकिन दो-चार दिन बाद ही फिर वही ठहाके, चंदे की शराब और कभी चुहलबाजी तो कभी एकदम गम्भीर बातचीत शुरू हो जाती। व्यक्ति, परिवार, समाज, व्यवस्था, साहित्य और महानता से टुच्चई तक शायद ही कुछ होता जो छूट जाता हो। अपने-अपने घरों को लौटते, तो हमें लगता कि आज कुछ नया ऐसा जुड़ा है हममें जो इससे पहले नहीं था। कभी ऐसा भी लगने लगता कि जिन्न अपना पंजा कसने की फिराक में है। कभी यह हमारा भ्रम साबित होता क्योंकि अचानक हम पाते कि वही राजेन्द्र यादव सारी की सारी घास एक ऐसे शख्स को परोसे जा रहे हैं जो हमारी नजर में किसी दीन का नहीं है। अक्सर ऐसा तब जरूर होता जब हम यह सोचने लगते कि हमसे ज्यादा उनके करीब और कोई हो ही नहीं सकता। ऐसे में मुझे कलाकार के. खोसा का कहा वह वाक्य याद हो आता—'बच्चू, अभी राजेन्द्र यादव को समझने में तुम्हें बहुत वक्त लगेगा...ज़रा हरि से पूछो...' सचमुच मेरे करीबी दोस्तों में हरि-प्रकाश ही राजेन्द्र जी के पुराने परिचितों में था। होने को योगेश गुप्त भी उनके कम करीबी नहीं रहे थे, लेकिन जितने 'शुभाषित' उनके मुखारविंद से मैंने राजेन्द्र यादव के लिए सुने होंगे, किसी और से नहीं।

यानी मैं धीरे-धीरे राजेन्द्र जी को पढ़ने की कोशिश कर रहा था। 31 जुलाई 1987 का दिन 'हंस' की वार्षिक गोष्ठी के बहाने खूब चर्चा हुई कहानी के नाम पर। सच बताऊँ, उस रोज़ मैं यह सोच रहा था कि कहानी की चिन्ताओं से जूझने का नाटक तो कोई भी कर सकता है, पर इस रूप में कि एकाएक कहानीकारों को अपने कृत्य पर लज्जित ही हो जाना पड़ जाएगा, इसकी कल्पना शायद ही किसी ने की होगी। वर्ष भर में 'हंस' में प्रकाशित कहानियों में से कुछ को राजेन्द्र जी के सम्पादक मन ने पुरस्कृत कर डाला। वह भी श्रेष्ठता क्रम में। अच्छा ही हुआ कि इस क्रम में कई बुजुर्ग सुप्रतिष्ठितों की टोपियाँ उछलने से रह गईं। मुझे तब लगा था कि क्या रमाकान्त को दो हजार रुपये का पुरस्कार ले लेना चाहिए। किसने यह अधिकार दिया एक पत्रिका को कि वह बगैर बताएँ कहानीकारों को ग्रेड देने का काम शुरू कर दे! कितने कहानीकार तो शायद इस डर से अब 'हंस' को कहानी देना भी मुनासिब न समझें। यह दीगर बात है कि 'कार्लोहब्शी का संदूक' जैसी कहानी को अपने जीवन के लिए किसी पुरस्कार की जरूरत नहीं थी।

धूमिल-सी स्मृति है कि 'हंस' के समारोह के बाद उस रात हम लोग (जिनमें धीरेन्द्र अस्थाना, तुलसी रमण और कुछ दिल्ली व हिमाचल के मित्र शामिल थे) हिमाचल भवन के एक कमरे में काफी देर तक निर्मल वर्मा से बातचीत करते रहे थे। बातें भी थीं और रस-पान भी। किसी बात के जवाब में निर्मल जी ने हरिप्रकाश से कहा था—'आप लोगों ने बड़ा अच्छा किया जो ऐसा नहीं होने दिया।' सन्दर्भ रामकुमार जी को तृतीय पुरस्कार न मिलने देने का था। अपनी बात कहते वक्त निर्मल खासे उत्तेजित थे और दोनों हाथों को सिर के पिछले हिस्से तक ले जाते हुए भावुक हो आए थे। उन्होंने तब मुझसे कहा था—'एटीकेट भी मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।'

सच कहूँ, उस पल मुझे राजेन्द्र यादव किसी खलनायक से कम नहीं लगे थे। बाद में जब उनसे इस बारे में चर्चा की कोशिश की तो लगा जैसे उन्हें इसका कोई खास मलाल नहीं है। बावजूद इसके लिए 'हंस' में इस तरह की कोई कोशिश नहीं नज़र आई। हाँ, काफी बाद में, बल्कि बिल्कुल इधर, जब 'हंस' सम्पादक ने वीटो पावर का इस्तेमाल कर निर्णायकों का निर्णय ही बदल डाला तब फिर साहित्यिक बिरादरी में उन्हें खलनायक के रूप में देखा जाने लगा। खुदा ख़ैर करे, 'हंसाक्षर' के नए आयोजन का जिसमें इस बार कमलेश्वर भी शामिल हैं।

कई बार सोचता हूँ, क्या राजेन्द्र यादव 'हंस' एडीटर करके सोचा जा सकता है! जैसे पुरानी पीढ़ी के लिए हंस के सम्पादक से काफी पहले वह 'अक्षर' वाले राजेन्द्र यादव रहे हैं। कुछ के लिए वह आगरा वाले, कलकत्ता वाले या सिर्फ दिल्ली वाले राजेन्द्र यादव ही होंगे। लेकिन क्या कोई उन्हें समग्र रूप में एक व्यक्ति राजेन्द्र के रूप में देख पाएगा!

उनकी साठवीं वर्षगाँठ के मौके पर हम बहुतेरे लोग आगरा में हुए समारोह में शरीक हुए थे। अद्भुत था वह वक्तव्य राजेन्द्र जी का। ऐसा कतई नहीं है कि यह शख्स जानता नहीं है कि लोग इसके बारे में क्या सोच रहे हैं, क्या सोचते रहे

हैं या क्या सोचने लग सकते हैं? यह एक ऐसा आत्मस्वीकार था जो हिन्दी में कम ही लोग कर सके हैं। स्वयं अपने लिए अपना केन्द्र बने रहने की आत्मस्वीकृति करने वाले इस शख़्स को आप चाहें तो प्यार करें और चाहें तो ईर्ष्या की आग में जलते रहें। क्योंकि ज़िन्दगी को एक रफ ड्राफ्ट मानकर फिर से जी लेने की तमन्ना के साथ ही इस आदमी में यह विवेक भी है कि निर्णय अपना ही होना चाहिए, भले ही ज़माना कुछ कहता रहे! ख़ुद कहते हैं—'व्यर्थ हो या सार्थक, मैं वही हो सकता था जो हूँ...'

आगरा के उस समारोह के बाद मैंने खुद नोट किया है कि राजेन्द्र यादव की संगत काफी अदलती-बदलती रही है। इसमें कुछ बेहद खामोश और उन्हें चाहने वाले लोग रहे हैं तो कुछ बेहद आक्रामक और मौके की फिराक़ में लगे भी जो जब चाहें कोई स्कूप ले उड़ें और खुद राजेन्द्र यादव बनने की तजबीज तलाशने लगें। कुल मिलाकर, यह एक ऐसी महफिल है जिसमें 'करीबी लोग अक्सर बदलते रहते हैं' और कब वे सिर्फ तमाशायी भर रह जाएँगे यह उन्हें भी पता नहीं होता।

अजीब आदमी है यह भी। मैंने सोचा और मुझे याद हो आई से. रा. यात्री की बिटिया अलका की शादी। 1990 के मार्च महीने की बात थी। ये वे दिन थे जब दूर-दराज़ आने-जाने में राजेन्द्र जी एक सहारे की तरह काम आते थे। दुपहर में ही यादव जी ने शादी में न जा सकने की खबर देकर जैसे वह सहारा अचानक छीन ही तो लिया था। गिरिराज किशोर आ जाते तो वह जरूर जाते। यह खूब रही! हर आदमी अपने सहारे की तलाश में रहता है। उनका सहारा कानपुर में छूट गया, मेरा दिल्ली में।

पता चला कि यादव जी और गिरिराज जी का लिफाफा भी मुझे ही लेकर जाना है। लिफाफा बनाकर राजेन्द्र जी ने दिया ही था कि सुधीश पचौरी ने टोक दिया—'मियाँ अब गाजियाबाद जाकर क्या करोगे, जेब में पैसे रखो और घर पहुँचो सीधे।' इस पर राजेन्द्र की तपाक से बोले—'देखो, मैं बहुत टुच्चा आदमी हूँ, पूछ लूँगा यात्री से।'

यह यादव जी की शैली है। वह पहले तर्क की परिणति पर विचार करते हैं, फिर उसे सिद्ध करने के लिए तर्क शृंखला बुनते हैं। जैनेन्द्र जी को केन्द्र में रखकर हुई एक गोष्ठी में उन्होंने कहा कि जैनेन्द्र जीवन भर वाणी का प्रयोग करते रहे। ऐसे लेखक की वाणी का अन्तिम वर्षों में लोप हो जाना उनके लिए गम्भीर चिन्ता का विषय रहा। आप छल करेंगे तो दण्ड भी मिलेगा। यानी जैनेन्द्र ने जीवन में अपनी वाणी के साथ छल किया। सेक्स, सत्ता और सम्पत्ति को लेकर ही जैनेन्द्र का विचार चलता रहा।

उस शाम जब मैंने राजेन्द्र जी को टोका तो अपनी बात के समर्थन में उन्होंने ऐसे तर्क खड़े कर दिए कि मुझे लगा, उन पर ठहर कर कुछ सोचना जरूरी है। मसलन नागरजी के बारे में उनका यह कहना कि सुनने की जो विलक्षण प्रतिभा नागर जी में वाचिक परम्परा से जुड़े होने के कारण रही...वही अन्त में जाकर उनके कान

कमजोर हो जाने के सच के साथ जाकर जुड़ी। राहुल जी की विलक्षण स्मृति शक्ति का सन्दर्भ उठाकर यादव जी ने स्मरण कराया कि कैसे अन्तिम दिनों में उनकी स्मृति इतनी खराब हो गई थी कि अपना नाम तक वह भूल गए थे। कमला जी याद दिलाया करती थीं कि उनका नाम क्या है! इसी क्रम में उस रोज राजेन्द्र जी ने नवीन और अज्ञेय प्रसंग भी उठाया। अज्ञेय जी के सन्दर्भ में उनका कहना था कि यदि निधन न हो गया होता तो उनके साथ भी कुछ ऐसा ही जाने जा रहा था। आज सोचता हूँ, क्या राजेन्द्र जी अपने बारे में भी इसी संलग्नता से सोच पाते होंगे! संलग्नता जिसमें गहरी निस्संगता भी जरूरी है। छल क्या वह खुद नहीं कर रहे अपने आप से!

एक दौर ऐसा भी आया जब राजेन्द्र जी हिन्दी वालों के बीच, खासकर नौजवानों के बीच 'ताऊ' कहे जाने लगे। इन्हीं दिनों की बात है, एक रोज़ ताऊ ख़ासे उत्तेजित नजर आए। कारण कि कमलेश्वर जी की 'याददहानी'। उसके प्रकाशित हो रहे अंशों में नामवर सिंह को आलोचक बनाने में अपनी भूमिका का ज़िक्र करने के बाद कमलेश्वर अब राजेन्द्र यादव की खाट खड़ी करने में लगे हुए थे। शायद वही पढ़कर खासे उत्तेजित थे राजेन्द्र जी। उनकी उत्तेजतना देख कर ही त्यागी कह गया कि उत्तेजित होने से क्या होगा, मुकदमा कर दो मानहानि का। लेकिन मेरी समझ में यह बात नहीं आती। अरे भई, आपके हाथ में कलम है, आप उसे क्यों नहीं चलाते। दिन भर तो आपकी गप्प-गोष्ठी चलती रहती है। तभी न लोगों ने उन्हें ताऊ कहना शुरू कर दिया था। ताऊ यानी देवीलाल।

एक दिन खिन्न होकर कह रहे थे रमेश उपाध्याय से—'तुम ये 'ताऊ-ताऊ' का इस्तेमाल मेरे लिए मत करो। दस साल बाद ही लोग पूछने लगेंगे कि ताऊ का मतलब बताओ।' और फिर एक जोरदार ठहाका। ठहाके में सब शामिल। रमेश जी कह रहे हैं—'देखिए यादव जी, साहित्य के देवीलाल तो आप हैं।'

ऐसे में मुझे अक्सर लगता है कि राजेन्द्र जी के भीतर कहीं यह चीज जरूर मौजूद है कि हम तो अमर हैं चूँकि हमने सृजन किया है। हमारी यशोगाथा लिखो न लिखो तो नाराज हो जाएँगे। 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी कोश' की भूमिका पढ़ी तो मुझ पर ही बिगड़ पड़े—'क्या यार तुमने ये सब अगड़म-बगड़म लिख मारा है! सीधे दूधनाथ पर पहुँच गए। हम लोगों को छोड़ दिया सफा कोरा।' ऐसे में वह यह भूल जाते हैं कि कितनों के कोरे सफे तो खुद उन्होंने छोड़े हैं।

ख़ैर उनके साथ यह नोक-झोंक बहुतों की चलती रहती है। यह जरूर है कि जो सचमुच उन्हें ताऊ मानने लगे थे, वे फिर धीरे-धीरे उनसे दूर भी होते चले गए। वह दूर हुए और जाने कितने नए जुड़ते चले गए। यह बात भी कभी कभी सालती है कि जो लोग कभी या अभी भी, राजेन्द्र जी के खासे अंतरंग माने जाते हैं, वे ही कभी-कभार उनसे दूर रहने की सलाह भी देते हैं। कुछ पुराने मित्र बाहर से आते हैं तो पूछ बैठते हैं—'क्या बात है यार, राजेन्द्र जी के यहाँ तो उठने-बैठने वाले तमाम

चेहरे ही बदल गए!' ऐसे लोगों को कोई भी क्या जवाब देगा!

खैर छोड़िए, एक वाक्य मेरे ज़ेहन में अटका रह जाता है 'अरे, तुम शरीफ आदमी ठहरे! कहाँ इस राजेन्द्र के चक्कर में पड़ गए...!' घुमा-फिरा कर कई लोग कहते रहे हैं अक्सर! यह उन दिनों की बात है जब हम लोगों का मिलना अक्सर शाम के वक्त हुआ करता था। जैसे वह यादगार शाम!

उस रोज पूरी शाम त्यागी के इन्तजार में गुजरी। अजीब शख्स था, जो समय देता है, सामान मँगवा लेंने को कहता है और फिर भी नहीं पहुँच पाया। यादव जी ने दुर्गा को पैसे देकर 'सामग्री' मँगवा ली। तकरीबन साढ़े सात बजे तक हम तीनों त्यागी के इन्तजार में बैठे रहे। पेट कुलबुलाया तो मैं और हरि कचौड़ी खाने चले गए। लौटे तो यादवजी का मुँह कुछ उतरा हुआ लगा। बोले—"हम तो भई, सवा आठ तक निकल जाना चाहते हैं।"

उनका यह रूप देख, हरिनारायण तीन गिलास उठा लाए। चौथा गिलास त्यागी के लिए मैं निकाल लाया। क्या भरोसा, कब आ पहुँचे! बहरहाल, अजीब-सी खामोशी में दौर शुरू हुआ। यादव जी ने एक क्वार्टर रिज़र्व में रखा हुआ है, यह खबर वह पहले ही दे चुके थे। माहौल गड़बड़ा रहा हो, तो राजेन्द्र जी तुरुप का पत्ता चल देते हैं। अचानक पूछने लगे, पहले पहल किसने, कब और कहाँ पीना शुरू किया?

मैंने बताया कि त्रिनगर की एक प्रेस में महावीरप्रसाद जैन के साथ शुरुआत हुई थी...हरिनारायण बताना ही चाह रहे थे कि यादव जी बोल उठे—'पहली बार बियर कलकत्ता में 'आदर्श' पत्रिका के मालिक ने किसी अच्छे होटल में घनश्याम और गिरीश अस्थाना के साथ पिलाई।' बातें फिर कहीं से कहीं जा पहुँची और यादव जी अपने प्रेम प्रसंगों में उलझ गए।

'आत्मस्वीकार, हिन्दी में ढंग के लिखे नहीं गए।' मैंने बात उठाई तो कहने लगे—'हिन्दी' में मैं ही लिख सकता हूँ।' उन्होंने एक कहानी का हवाला भी दिया जिसे वे मारे डर के सालों से छपाने की हिम्मत नहीं कर पा रहे थे। इसके बारे में उनका कहना था कि निर्मल की कहानियाँ उसके सामने कुछ भी नहीं हैं।

हरिनारायण की मुस्कान और दो-एक बार सिर पर हाथ फिराने से ही यह स्पष्ट हो गया है कि उन्हें कुछ असुविधा-सी महसूस हुई है।

राजेन्द्र जी प्रसार भारती के सदस्य बन चुके थे। हंगामाखेज दिन थे। गुजराल के इस्तीफे के बाद केसरी ने पूरा जोर सत्ता हथियाने के लिए लगाना शुरू कर दिया था। जनता की प्रजातन्त्र पर से जैसे आस्था ही उठी जा रही थी। इन्हीं दिनों एक पार्टी राजेन्द्र जी ने दी। बोले—'यार, तुम्हें बुलाना चाहता था, और तुम खाट पर पड़े थे। और क्या कर डाला पड़े-पड़े?'

मैंने कहा, 'कुछ खास नहीं, दो छोटी कहानियाँ लिखी हैं। एक कहीं भेज रहा हूँ, एक रखी है।'

फोन पर आवाज तेज हो गई, 'फौरन लेकर आओ, अभी।'

तबीयत पूरी तरह से ठीक नहीं थी, लेकिन दफ्तर जाना शुरू कर दिया था। दफ्तर से कहानी लेकर निकला, और कुछ देर बाद ही राजेन्द्र जी के पास जा पहुँचा। हमेशा की तरह घिरे बैठे थे। एक बंगाली सज्जन संगीत विशेषज्ञ, बांग्ला में कुछ लिखकर लाए थे और हिन्दी में छपाना चाहते थे। एक युवा कथाकार संगीत विशेषज्ञ से बहसिया रहे थे। मुझे देखते ही, रस-परिवर्तन की उम्मीद में बड़े खुश हुए। बोले—'क्या यार, तुमने तो बहुत हालत खराब कर ली!'

प्रसार भारती और शास्त्रीय संगीत पर मिली-जुली बातें हो ही रही थीं कि अरविन्द जैन नमूदार हो गए। उन्हें देख राजेन्द्र जी को सर्वेश्वर जी की याद हो आई। किस्सा सुनाने लगे—यार, ये कमलेश्वर भी बड़ी हरामी चीज़ है। एक दिन हम लोग टी हाउस में बैठे हुए थे। तभी सर्वेश्वर जी मुँह लटकाए हुए चले आए। कारण यह था कि उन्हें रेडियो पर कुछ टटपुंजिया कवियों के साथ कविता-पाठ के लिए बुलवा लिया गया था। उस वक्त वह वहीं से लौटे थे। कमलेश्वर ने सर्वेश्वर से कहा—'सर्वेश्वरजी, आपसे दो मिनट के लिए कुछ माँगना चाहता हूँ, मना मत कर दीजिएगा।' सर्वेश्वर कमलेश्वर की विनम्रता पर हैरान। लेकिन कमलेश्वर बार-बार यही कहे जाए। आखिरकार सर्वेश्वर ने कहा—'बोलो भाई, क्या चाहिए?'

सर्वेश्वर से मुखातिब हो कमलेश्वर बोला, 'अपना चेहरा दो मिनट के लिए दे दीजिए सर्वेश्वर जी, जूते खाने का बड़ा मन कर रहा है।'

किस्सा खत्म होते ही समवेत ठहाका लगा और फिर राजेन्द्र जी अपने अन्दाज में शुरू हो गए—'ऐसे ही मुँह लटकाए, ये स्साले अरविन्द जी चले आ रहे हैं।' फिर एक ठहाका।

मेरी कहानी रख ली और बोले, 'पढ़कर बताऊँगा। एक महीना तो इंतजार कर लोगे न! दिसम्बर का अंक छपने जा चुका है। जनवरी की घोषणा हो चुकी है। तुम्हारी कहानी अनअनाउंस्ड तो नहीं दूँगा मैं!'

मैंने कहा, पहले आप पढ़ तो लीजिए। थोड़ी देर बाद ही मैं और अरविंद बाहर निकल आए थे।

राजेन्द्रजी को समझना दरअसल इतना आसान है नहीं, जितना मान लिया जाता है। मैंने जितना परेशान उन्हें 'कथादेश' के पुनर्प्रकाशन के दौरान देखा, उतना तो अलग रहने का निर्णय लेते वक्त भी नहीं पाया। हरि के 'कथादेश' निकालने से उनमें मुझे कुछ-कुछ वैसी ही उलझन नजर आई जैसी 'हंस' के पुनर्प्रकाशन के वक्त 'सारिका' के सम्पादक मुद्गल जी को तब महसूस हो रही थी। तीनों मेरे आत्मीय। तीनों मुझसे अपेक्षाएँ रखनेवाले, लेकिन सिर्फ अपने लिए।

मुद्गल जी मुझसे पूछा करते थे—'क्यों महेश, सुना है, कल तुम राजेन्द्र जी के यहाँ गए थे!' उन दिनों, पिछले कुछ महीनों से राजेन्द्र जी घुमा-फिराकर पूछने लगे

थे—'तुम यार हो बहुत गुरु आदमी! ये बताओ, पण्डित जी का बौद्धिक सलाहकार कौन है! मैंने उन्हें इतनी बढ़िया चिट्ठी लिखी थी, पीकर बैठ गए।' जाने क्यों, उन दिनों मुझे लगा था कि राजेन्द्र जी यह बात समझ नहीं पा रहे हैं कि जितनी साहित्यिक पत्रिकाएँ निकलें, उतना अच्छा! बस यही कहते—'तुम तो भैया, कथादेश के मालिकों में से एक हो...'

मैं हैरान था कि यह वही राजेन्द्र जी हैं जो हरिनारायण के लिए राक्षस विवाह का इंतजाम तक करने को तैयार थे। अब सिर्फ एक पत्रिका से बिदके जा रहे हैं। लगता है जैसे एक बच्चा इस बुजुर्ग के भीतर हरदम बैटा रहता है।

मैंने राजेन्द्र जी को भीड़ से घिरे भी देखा है और नितान्त अकेला भी। मुझे लगता है, वह कभी-कभी खुद से भी बचना चाहते हैं। बीमारी के दिनों में ऐसे क्षण अक्सर आए हैं। एक बार शाम के वक्त कहने लगे—'यार, तुम आज हमारे साथ चलो!'

मुझे लगा, दूसरे रोज़ दफ्तर जाना होगा, सो एक जींस दरियागंज से खरीद ली। शायद तीन सौ पिचहत्तर रुपये की रही होगी। मयूर विहार पहुँचने पर उन्हें पता लगा, तो बोले—'यह जींस तुम्हें मेरी तरफ से गिफ्ट रही।' पर्स उठाया और चार सौ रुपये देते हुए बोले, 'निकालो पच्चीस रुपये!'

पल भर में सीन चेंज करने की ऐसी सिफ्त तो उनमें है ही कि आप देखते भर रह जाएँ। एक तरफ उनका रचना-संसार और उससे प्रभावित लोग हैं और दूसरी तरफ उनका विचारक जिससे खुर्रे लोग अपने नाखून तेज़ करने में लगे रहते हैं। उनकी तिकड़मों के चर्चे भी कम नहीं होते और बौद्धिक विचलन के भी, लेकिन यह तय है कि सुरजीत के नाम पाती भी वही लिख सकते हैं, कांटे की बात भी और होना-सोना ...भी। अक्सर यह सोच कर मैं उदास हो जाता हूँ कि जब यह पीढ़ी नहीं होगी हमारे बीच, तब क्या होगा? विषय चाहे कोई भी क्यों न हो, विचार की उत्तेजना पैदा करने वाले तो यूँ ही सिमटते जा रहे हैं इस युग में। परिणाम की परवाह किए बगैर विचार करने वाले तो ख़ैर क्या नज़र आएँगे। जो कुछ लिखा है, बुखार की हरारत में लिखा है, इसे पढ़ने वाले मेरी बड़बड़ाहट भी समझ सकते हैं।

Life as a Bad Metaphor

Uday Prakash

Rajendra Yadav is one of the most controversial writers in Hindi in the last few decades, more due to his views and comments on politics, religion and gender than for his creative pursuit. He is a man of strong likes and dislikes. He often seems a shrewd strategist, settling his scroes and unsetteling rival—he finds inconvenient. He is a nasty interpreter and master distortionist of others' works and a devoted crusader of those he likes. He edits a magazine, *Hans* a title borrowed from Munshi Premchand's journal, and has been an irritant in the eyes of those who think of applying *Savarna*-aesthetics to everything written as literature in this country, He questions them, throws a red rag to incite their rage and as a result is flogged mercilessly more often than not. Recently his magazine *Hans* was burnt by Hindutva supporters in U.P. and he himself had to run for security cover for his comments about Hanuman as a terrorist for Ravana.

Unperturbed, he can be seen in quest of another hullabaloo and creating another storm in a discourse to grab and centrestage for himself. This man,Rajendra Yadav, now in his seventies, is unquestionably one of the most accessible, popular, adored and revered authors for the new generation of Hindi fiction writers, especially non-brahamins.

In his latest book *Mud Mud Ke Dekhataa Hoon* (Looking Back Yet Again) He remembers a dialogue from *Three Sisters* by Anton Chekhov, 'Alas! Had it been just a rough draft of a life and I would have been given a chance to correct it....' Certainly it is not a lament and one should not mistake it for any sort of repentance. At least this kind of a naviety is a thing not found in Rajendra Yadav. He is quite content with his past and with his present too, where he is lonesome and vulnerable at 73 years of age. 'Meaningful or ineffectual, this is what I am. A product of my life and time, I lived. Whatever was given I tried best to exploit and

fashion it to what I thought was paramount. If I failed, I attribute it to the limits of my talent and inefficacy. But I'm yet to abandon the dream of doing something excellent just in case I'm given a chance...' and so on. Here I can't resist quoting Tadeusz Rozewivz, the famous Polish poet, to Rajendra Ji—

Death willnot correct a single line of verse
She is not a sympathetic lady sub-editor
Death is not a proof reader.

A bad metaphor is immoral

Is it then as a 'bad metaphor' that we think of his life? certainly it is not so. With these three books of his—*Vey devtaa nahi thay, Auron ke bahaney, Mud mud ke dekhta hoon,* he has proved that he isan excellent chronicler of the people he knew.With sensitivity, craftsmanship, a pinch of indifference and distancing, dialecticism and didactive schemes and devices, he portrays his friends and writers as if they are fictional characters as only he can. He is a sculptor in text, not an eulogizer. He has a strong abhorrence for any form of deification and for creating demigods out of earthly beings, irrespective of the images they might have themselves perpetuated. Rajendra Yadav appears offensive to many, and can easily be accused of blashphemy of dismantling an idol in order to sculp a new bust with more of human flesh and bone—an iconoclast to his detractors.

Another predicament of Yadav is his 'failure' to make the requisite distinction between a paper being and a real one—the 'virtual' and the 'real'. He portrays the late shailesh Matiyani as a textual object, as a verbal icon forgetting his death in a mental hospital in Delhi, which itself becomes a symbol of the death of an author, constantly deprived of what he might have deserved while living.This piece despite being a brilliantly rendered editorial invited strong criticism for being nasty, ruthless and using 'doublespeak' about such an author, who was in no way inferior to any of his contemporaries in fiction. Same is the tale of his most radable account on Mohan Rakesh, whom he equates with S. H. Vatsyayana 'Ajneya' and discovers a schematic character out of them behind the garb of a wanderer and bohemian. He underlines a 'methodical madness' inside their hidden agenda of getting to power and success in career. One may find his observations amazing when he identifes Mohan Rakesh with Kalidasa, the protagonist of his famous play, *Aashaadh Ka Ek Din* and Hazari Prasad Dwivedi with Banabhatta

in his novel *Banabhatta Ki Atmakatha*. And the reason for this resemblance, according to him, is that Mohan Rakesh was a 'gold-medalist' with a Master's degree in Sanskrit and had planned to get access to the corridors of power like Kalidasa of the great Chandragupta II's Court. Similarly in the case of Hazari Prasad Dwivedi and Banabhatta,both are reduced to the category of courtiers. As I said earlier, When read separtely as textual construction in itself, these are brilliantly written pieces, but the moment one starts looking at them as real persons, much of their power of wit is lost. Here one can witness a spiky battle between a collectively perceived image and the individual memory of a sensitive writer. This is not a failure of Rajendra Yadav as a 'master-blaster' craftman, but a deliberate predesigned and premeditated doing. He says, 'Basically these memoirs should be seen as a protest and defiance of a routed and helpless man. A man who screams against all forms of molestations of truth, and morality.' So, are these the cries of the offended against the offenders? Who is crusading against all 'those', involved in a game of transforming one another into deities or idols of worship and find themselves safe in glass boxes? If one is left with some sympathy for this octogenarian author's struggles in his life, he can value his angst in here.

These three books taken together are a path-breaking itinerary into the reminiscences of the past. Rajendra Yadav refuses to let them be described as biographies and at best he would consider them memory fragments. He destroys any order and systematization in them and converts them into free constructs or independent fiction-structures. Even when he reminisces about actual events and characters of the past, his device is of a fiction writer creating a space between the real and virtual, between truth and illusion. His characters are identifiable beyond these texts as real people, transform themselves into equally fictitious constructs of a narrative. They are both real and imaginary at any moment of their existence.

There are pieces where his critical-diagnostic intellect is at its diagnostic best. One of the reminiscences is a piece on Ram Vilas Sarma, the famous Marxist critic. Rajendra Yadav has succeeded in perceptively recreating the total environ of those years when he came in close proximity with Dr. Sharma in Agra in 1948 to 1954. Here he is not alone with Dr. Sharma, there are his other contemporaries like Amritlal Nagar, Rangeya Raghav, Rahul Sankrityayana and others. Similarly his small piece on S. H. Vatsayayana is another luminous text. His articles on Meera Mahadevan, Rangeya Raghav, Yashpal and Omprakash sharma

acquire variant interesting forms if read separtely.

Rajendra Yadav's book *Auron Ke Bahaane* contains a few intricately written memoirs on some authors he was intimately related to—Rangeya Raghav, Kamleshwar, Mannu Bhandari, whom he married later on and Amarkant. But his imaginary interview with Chekhov is a fascinating text, which is strongly reminiscent of a short story by Issac Bashevis Singer, 'A Friend of Kafka'. Rajendra Yadav here emulates Jacques Kohen, the protagonist of Singer in his desire to see and live with an author he admires. One may get baffled to find scrupulous details of Anton Chekhov's life, Bookshelf and drawing room intricately described in an unique imaginary encounter with him.

These are three books which are capable of deconstructing the Rajendra Yadav we used to know. Like Valdimir Nobokov, who after *Lolita*, was forgotten as a great essayist, Rajendra Yadav, after these three tiny creations of his own may be forgotten for anything else we know of him till today. 'Here he has intentionally abandoned the protocols of systematic research, scrupulous arguments, thesis formulation, cool objectivity, 'critique' in favour of a style of personal (and sometimes not so personal) jotting (and jaunting) about the world....this man is no Mad Max. There is no sense in his glass bubble that anything nasty might happen.' This is said about a great deconstructionist of our time, Jean Baudrillard and this is equally true of Rajendra Yadav.

पार उतरि कँह जहिहों

शिव कुमार शिव

यह यात्रा 'कथा कोसी' केन्द्रित गोष्ठी, कटिहार में आए लेखक-मित्रों को धोखा देकर दिन-दहाड़े डकैती की तरह की गई थी। जो पीछे छूट गए उन्हें विश्वासघात का धक्का तो लगा ही, खुद उनकी अपनी वापसी-यात्रा भी एक स्मरणीय अनुभव बन गई। जिस गाड़ी में आरक्षण था उसी में किसी बड़ी रैली का रेला भी था, नतीजे में जो जहाँ बैठा उसे दिल्ली तक उसी तरह वहीं बैठे रहना पड़ा—न हिलने-डुलने की स्वतन्त्रता, न बाथरूम जाने की गुंजाइश। भूख-प्यास मण्डित इस सारी नरक-यात्रा का श्रेय राजेन्द्रजी को तो जाना ही था। वैसे बाद में उन्होंने विश्व की चुनी हुई रचनाओं के अनूदित संकलन 'नरक ले जानेवाली लिफ्ट' का सम्पादन किया। सब लोगों ने मुक्तकंठ से राजेन्द्रजी को इस हरकत के लिए जिस तरह धारावाहिक धिक्कारा कि उनकी सात-पीढ़ियाँ त्राहिं-त्राहि कर उठीं। हस्बमामूल, इसमें बढ़-चढ़कर लीड लिया डॉ. निर्मला जैन ने और 'वही तो...वही तो' की दाद दी मैनेजर पाण्डेय ने। गिरिराज किशोर स्वतन्त्र भर्त्सना-सम्प्रदाय लंगर-भाव से चालू रखे हुए थे। इस सबका आँखों देखा हाल राजेन्द्र जी को दिल्ली वापस पहुँचने पर उनकी 'नीचता' के प्रमाणस्वरूप विस्तार से मिला।

"मैं कितना उत्साहित प्रसन्नता से भरा अपने वध-स्थल की ओर जा रहा हूँ", "अंकल आपका वध कौन करेगा?" अनामिका शिव ने पूछा।

राजेन्द्र जी ने जवाब दिया, "गुड़िया, मुझे लगता है कि तुम अपने बाप के बारे में बहुत कम जानती हो?"

विरोध कैसा भी क्यों न हो तथा संकट चाहे कितना भी सर्वनाशी हो, राजेन्द्र यादव के मुँह पर सदैव बेला के फूलों जैसी मुस्कराहट रहती है। प्रफुल्लता राजेन्द्र यादव का स्थायी गुण है।

उस गोष्ठी में शामिल थे मैनेजर पाण्डेय, गिरिराज किशोर, निर्मला जैन, संजीव, गौतम सान्याल, दिनेश कुशवाहा, मैत्रेयी पुष्पा। पीछे छूटे हुए भी कुछ लेखक थे जिन्होंने अन्तिम समय में अपना निर्णय बदल दिया था।

मैं अपनी बिटिया अनामिका शिव के साथ शाम को, बल्कि थोड़ी-सी रात हो गई थी, कटिहार पहुँचा था। लेखकों की आवासीय व्यवस्था दो जगह थी। राजेन्द्र जी, गिरिराज जी, मैनेजर पाण्डेय, मैत्रेयी, निर्मला जैन एक होटल में रुके थे और बाकी

लोग एक गेस्ट हाउस में थे। बतौर मीर, 'अब के जुनूं में फासला शायद न कुछ रहे, दामन के चाक और गरेबां के चाक में'।

साहित्यिक बातचीत का माहौल था। रेशम के कोये से सूत-दर-सूत बात से बात निकल ही नहीं रही थी, दूर तक जा रही थी। सभी जान रहे थे कि जो कुछ उनके साथ हो रहा है, या जो कुछ वे कर रहे हैं उसके केन्द्र में अन्ततः राजेन्द्र यादव ही होंगे। बात जब ढलान पर लुढ़कने या बहकने लगती तब नई पीढ़ी के लेखक कभी राजेन्द्र जी, कभी गिरिराज किशोर, कभी मैनेजर पाण्डेय की तरफ अपने बचाव के लिए लालायित नजरों से देखते और कोई न कोई उनकी बात को थामकर आगे बढ़ा देता। दरअसल यह साहित्यिक-सामाजिक और सांस्कृतिक विमर्शों की खिचड़ी थी। बातें जब कहीं से कहीं पहुँच कर गडमड होने लगतीं तो मैनेजर पाण्डेय अपने स्वभाव और परम्परा के अनुसार विषय का विकास करते। त्रिलोचन की तरह विषयांतर नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि इस अनौपचारिक बैठक में वह आनन्द आ रहा था जैसा हॉल या शामियाने के अन्दर होने वाली औपचारिक गोष्ठियों में आ ही नहीं सकता। लेकिन रम-दम के साथ हमदम वाली गोष्ठियाँ अलग ही होती हैं, बिल्कुल खुलेपन के साथ ही नहीं खुला खेल फर्रूखाबादी की तरह। बीती जा रही जिन्दगी की हलचलें, शिकवें, शिकायतें, न कोई तारतम्य और न ही कोई मासूम चालाकियाँ।

इसी वक्त मैंने राजेन्द्र जी को दण्डवत करते हुए उन्हें याद दिलाया कि सुबह उन्हें मेरे साथ भागलपुर चलना है जिसके लिए कटिहार से बारह बजे दिन तक भागना होगा। महफिल अवाक थी। निर्मलाजी और मैत्रेयी जी तो 'रमल' कार्यक्रम शुरू होने के पहले ही चली गई थीं, फिर भी प्रस्तुंत सूचना से महफिल स्तब्ध थी, राजेन्द्र जी चुप थे। राजेन्द्र जी के भागलपुर जाने का वाकया तूफानी वेग-सा आया था और उस वेग को झेलने की ताकत उस वक्त बैठी हुई महफिल में नहीं थी। महफिल शान्त हो गई थी। इस शान्ति में सन्देहों के परिन्दे उड़ने लगे, हालात संगीन होने लगी जब राजेन्द्र जी के अचानक भागलपुर जाने की सरगोशियाँ कुछ ज्यादा ही गरम होने लगीं। दिनेश कुशवाह ने कहा—परम आदरणीय 'लोग जाने इहु गीत हे इहु, तो ब्रह्म विचार' मैनेजर पाण्डेय और गिरिराज किशोर ने लगभग एक सी-ही बात कही कि राजेन्द्र जी के चक्रवातों को समझना बहत मुश्किल है। बहरहाल मेरी चिन्ता का आरम्भ यहीं से होता है। रात तो किसी तरह कटी, लेकिन मेरी सुबह बहुत ही नाराज थी। सबकी सैद्धान्तिक आपत्ति थी कि साथ लेकर आए हैं तो साथ ही चलना होगा। दूसरे दिन सबकी नाक-भौं चढ़ने लगी थी, सभी लोग बहुत ही परेशान थे खासतौर से गिरिराजजी, निर्मलाजी, मैत्रेयी तो लगभग नाराज। सबों के शक के दायरे में मैं आ गया था। राजेन्द्र जी के सामने संकट गहरा रहा था कि ऐसी स्थिति में वे क्या करें? सबके अन्दर एक सवाल था कि आखिर क्या वजह है कि राजेन्द्र जी रास्ता बदलकर भागलपुर जा रहे हैं? 'बेसबब हुआ गालिब दुश्मन आस्मां अपना' निर्मलाजी ने राजेन्द्रजी पर कटाक्ष करते हुए कहा—सुना है आप पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं, हम सबके साथ नहीं चल रहे हैं?

मैत्रेयी जी की आँखों में तो जैसे 'प्रलय की छाया' थी। मैनेजर पाण्डेय एवं गिरिराज किशोर की टिप्पणी थी कि इस तरह रास्ता बदल लेना शास्त्रोचित नहीं है।

मुख्तसर में मामला यह था कि उन सबों की दृष्टि में मैं कातिल था। मुझे 'उमराव जान अदा' फिल्म का वह गाना सहसा याद आ रहा था—'यह कौन-सी जगह है दोस्तों, यह कौन-सा दयार है?' हाँ, यह अलग बात थी कि राजेन्द्र जी के मेरे साथ जाने के निश्चय से मैं और गुड़िया आह्लादित थे। राजेन्द्र जी की शर्त थी कि भागलपुर से दिल्ली के लिए मैं, उन्हें दूसरे दिन की गाड़ी पकड़ा दूँगा, लेकिन इधर इन्हें मेरे साथ न जाने देने की पुरकश कोशिश थी, उधर जाने देने का आग्रह। तय हुआ कि अब तुरन्त निकला जाए। विलम्ब होने से नाव छूट जाने का डर था। मैं भागलपुर से कटिहार कार लेकर आया था, रास्ता बड़ा विकट था। उस समय गंगा पर पुल नहीं बना था। बड़ी पालों वाली नाव पर कार को चढ़ाकर इस पार से उस पार जाया जाता था। घाट से नाव खुलने का समय पाँच बजे शाम का था सीधी सड़क से जाने का रास्ता काफी लम्बा था। इधर राजेन्द्र जी के साथ आए लेखकों का दबाव बढ़ रहा था वे न जाएँ। वे अपने मन की बात ठीक-ठाक किसी को बता नहीं पा रहे थे। क्योंकि यह उनका स्वभाव नहीं है। उधर निर्मलाजी ने जाने की बात की टोह लेने का काम मैत्रेयी को सौंपा।

राजेन्द्र जी ने भीतर की बात बताई कि मैं उन्हें हंस के लिए कुछ विज्ञापन दिलवाने के लिए जा रहा हूँ। उन्होंने मैत्रेयी जी के सामने स्वीकार किया कि मैं जाना नहीं चाहता, लेकिन 'हंस' के आर्थिक संकट से मजबूर मुझे जाना पड़ रहा है। निर्मलाजी ने कहा—**'गो जरा सी बात पर बरसों के याराने गए, लो चलो अच्छा हुआ कुछ लोग पहचाने गए।'**

जुदाई और मिलन के बिन्दु प्रायः अपनी जगह बदलते रहते हैं। राजेन्द्रजी ने ड्राईवर से पूछा—क्यों भाई, गाड़ी टंच है ना, कहीं कोई दिक्कत तो नहीं? ठीक से याद कर लो कहीं कुछ छूटा तो नहीं।' मतलब तेल पानी मोबिल। ड्राईवर गाड़ी चला रहा था हम इस बात से अनजान थे कि गाड़ी की गति के साथ एक अनजान भवितव्य की सृष्टि हो रही थी।

तकरीबन पच्चीस किलोमीटर की यात्रा के बाद गाड़ी एक झटके से रुकी। यकायक गाड़ी रुकने की बात बिल्कुल समझ में नहीं आई। पुल के बीचोंबीच मैंने ड्राइवर से पूछा, 'क्या तेल खत्म हो गया? हमने चलने के समय ही कहा था कि तेल पानी सब देख लो।'

वह गाड़ी से तेल का खाली डिब्बा निकाल कर सड़क के दूसरे किनारे पर खड़ा हो गया पीछे जाने वाली किसी सवारी के इंतजार में। यकबयक मुझे ध्यान आया कि उसने पैसे तो लिए नहीं हैं।

मैंने पूछा—तो तुम तेल कैसे लेकर आते?

वह झेंपा और जमीन की तरफ देखने लगा। मैंने उसके हाथ में सौ का नोट

पकड़ाया। एक गाड़ी गुजरी तो ड्राइवर से याचनाएँ करके उसकी गाड़ी में सवार होकर चला गया।

धूप बड़ी तेज थी। सड़क, पेड़, खेत सब सुलग रहे थे। लू के तेज झौंके के साथ आई सड़ांध ने मन को मिचला दिया। कोई जानवर मरा पड़ा था जिसकी खाल उतार ली गई थी। उस पर गिद्ध मंडरा रहे थे, हम पुल से उतर कर बन्द गाड़ी के पास अब क्या करें, के भाव से खड़े थे।

एक गाड़ी आ रही थी। हम हसरत-भरी निगाह से उस गाड़ी की तरफ देख रहे थे, जब गाड़ी रुकी, तो उससे उतरने वाली मानवीय आकृति डिब्बा थामे ड्राइवर की ही थी, उसने डिब्बे का तेल गाड़ी में डाला और हमें बैठने का इशारा किया। अविश्वसनीय स्थिति में हम गाड़ी में बैठे। इंजन भड़भड़ाया और गाड़ी फिर चली तो हमें थोड़ा-सा इत्मीनान हुआ।

शाम हो रही थी। एक पैट्रोल पम्प आया तो मैंने सोचा कि ड्राइवर खुद-ब-खुद गाड़ी रोकेगा, लेकिन पच्चीस-तीस कदम पम्प से आगे बढ़ जाने के बाद भी उसने गाड़ी नहीं रोकी तो हम सब चिल्लाए।

गाड़ी रोककर वह धीरे-से बोला—क्या हुआ साहब?

राजेन्द्र जी ने कहा—तुम्हें हो क्या रहा है भई? सामने से पेट्रोल पम्प जा रहा है और तुम तेल नहीं ले रहे, क्या सोच रहे हो?

साहब आगे पाँच किलोमीटर पर दूसरा पैट्रोल पम्प है। सोचा उससे ले लेंगे, चलिए आप कहते हैं तो इसी से ले लेते हैं, वह एकदम लापरवाही से बोला। तेल लेकर फिर गाड़ी स्टार्ट हुई।

तीन बज चुके थे, पाँच बजे नाव खुलने का समय था और चालीस किलोमीटर की यात्रा अब भी बची थी। मैं हर दस मिनट के बाद घड़ी देख रहा था लेकिन गजब यह था कि इस विषम परिस्थिति में भी बिना विचलित हुए राजेन्द्र जी अपनी बात विनोद और चुटकुलेबाजी के साथ ही कह रहे थे। मैं जल्दी से घाट तक पहुँचने के द्वन्द्व में पड़ा था और वो और गुड़िया (अनामिका शिव) एक-एक बात पर ठहाके लगा रहे थे। वे स्वयं भी हँस रहे थे और गुड़िया को भी हँसा रहे थे। मस्ती का आलम था गोरा रंग, सुडौल इकहरा शरीर, बड़ी-बड़ी बादामी आँखें, भरे-भरे गोरे हाथ क्लीन शेव, जब हँसी फूट पड़ती थी तो भ्रम में डाल देती थी कि गुड़िया के साथ बचकाने ढंग की बातें करने वाला यह व्यक्ति जिसकी हर बात में चुटकुले और व्यंग्य विद्यमान है इतना गहरा गम्भीर और ऊँचा चिन्तन भी कर सकता है। तभी मुझे लगा कि विनोद-शीलता संकटों की दृष्टि में रखकर उन्हें प्रदान किया गया रक्षा कवच है, बकौल गालिब—'आतिशे दोज़ख में ये गर्मी कहाँ, सोजे गमहाए निहानी और है।' अचानक कटक-कटाक की आवाज के साथ गाड़ी फिर रुक गई। तन्द्रा टूटी, ड्राईवर लपक कर गाड़ी से नीचे उतरा और उसने बोनेट खोल डाला। मैं जोर से चिल्लाया अब क्या हुआ?

हाथ में बँधी घड़ी देखी जो पौने पाँच बजा रही थी। दो मिनट के अन्तराल

पर ड्राइवर बोला—'साहब इंजन का हेड क्रेक कर गया।' मेरे सारे बदन में एक ठण्डी सिहरन दौड़ गई। ठेहुनों का तो जैसे सत ही निकल गया। मैं उतर कर गाड़ी के खुले हुए बोनेट के पास पहुँचा, ड्राइवर तन्मय होकर गाड़ी के हैड-क्रेक को देख रहा था।

अब क्या होगा?

अब क्या होगा? अब कुछ नहीं हो सकता साहेब, बिना हैड के गाड़ी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती।

मैं चुप! क्या कहता?

रास्ता सुनसान था। हो रही सांझ पर उदासी की परत बिछ रही थी।

अब हम नौगछिया जाने के लिए किसी सवारी की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस बीच दो बैलगाड़ियाँ गुजरीं। ऊपर तक भूसे से लदी हुईं। देखते-देखते साँझ रात में बदल गई। अब हम एक दूसरे को देख नहीं पा रहे थे। फ़कत महसूस कर सकते थे। एक कुत्ता भोंका जिसकी आवाज एक शोक-ध्वनि की तरह गूँज रही थी। लगता था कि वह आवाज कहीं दूर से चलकर हमारे पास आकर समाप्त हो गई हो।

गुड़िया मन ही मन झुँझला रही थी। उसे अफसोस था कि वह इस यात्रा में मेरे साथ क्यों आई। हम सब स्थितिवश लाचार खड़े थे। इस जगह का क्या नाम था, हमें पता नहीं था। बस हमें तो ऐसा लग रहा था कि हम गहरी दहशत की गिरफ्त में बुरी तरह जकड़े हुए हैं।

तभी सड़क पर बहुत तेज प्रकाश फैला। यह ट्रैक्टर था, जिसके पीछे लगी ट्राली पर आठ-नौ औरत-मर्द बैठे थे। एक-दो लोग लटके हुए थे। मैंने उसे रोका तो वह रुक गया। ट्रैक्टर वाले ने पूछा कहाँ जाएँगे? मैंने कहा नौगछिया, लेकिन बैठेंगे कैसे?

मैंने तब तक सामान ट्राली में चढ़ा दिया था। गुड़िया भी किसी तरह उचक-पुचक कर ट्राली में चढ़ गई। सवाल था राजेन्द्र जी का, उन्हें कैसे बैठाया जाए? तभी पीछे खड़े तकरीबन चार पाँच लोग चिल्ला उठे—ठहरिये, इनको हम चढ़ाए देते हैं। ड्राईवर के पास चक्के के बम्पर पर बनी ऊँची जगह पर उन्हें बैठा दिया गया। आठ किलोमीटर का सफर आधे घंटे में तय हुआ।

ट्रैक्टर पर ठीक से टिक कर बैठने के बाद राजेन्द्र जी ने पहला काम यह किया कि पाईप सुलगा ली। कश खींचते इंजन की तरह धुआँ फेंकते बेहद सकून के साथ फिर वे पाइप पीने लगे।

ट्रैक्टर वाले ने बस्ती के एक चौराहे पर ट्रैक्टर रोका। मैंने ट्रैक्टर वाले से पूछा—यहाँ सराय या होटल जैसी कोई जगह नहीं है, जहाँ हम रात में रुक सकें? उसने सामने वाली बिल्डिंग की तरफ इशारा करके कहा—यह होटल ही है। मैं आपको वहाँ तक पहुँचा देता, लेकिन रास्ते में बोल्डर बिछे हैं इसलिए आपको वहाँ तक पैदल ही जाना पड़ेगा। दूरी ज्यादा नहीं थी यही कोई बीस-पच्चीस गज चलना था लेकिन बोल्डर बिछी सड़क पर बीस-पच्चीस कदम चलना राजेन्द्र जी के लिए कठिन लग रहा था।

खैर, किसी तरह गुड़िया को सामान के पास छोड़कर हम दोनों होटल के दरवाजे तक पहुँचे।

कहीं कोई नहीं था, सारे दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द थे हम चारों तरफ देख रहे थे कि इतने में एक तेरह-चौदह बरस का लड़का कहीं से अचानक प्रकट हुआ।

क्या है साहेब?

राजेन्द्र जी ने पूछा—यह होटल है ना?

जी साहेब।

राजेन्द्र जी ने कहा—कोई और आदमी नहीं है जो वहाँ से सामान ले आए।

सामान कहाँ है साहेब?

राजेन्द्र जी ने उँगली के इशारे से उधरं दिखाया जहाँ गुड़िया सामान के पास खड़ी थी।

अभी लाया। कहकर लड़का सीधे सामान की तरफ लपका।

राजेन्द्र जी ने मेरी तरफ देखते एक नजर में ही उन्होंने भाँप लिया कि मैं बेहद तनाव में हूँ और ग्लानि और अपराधबोध में डूबा हूँ। वे मेरे थोड़ा नजदीक आए और बोले—तुम क्यों उदास हो? ऐसी स्थिति में तुम क्या कर सकते हो? जो कर सकते हो, वह कर ही रहे हो। मैंने कहा—राजेन्द्र जी, मुझे बेहद अफसोस है। लेकिन मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि ऐसा होगा। मुझसे बातें करते हुए वे टकटकी बाँधे सामान लेकर आते उस लड़के की तरफ देख रहे थे। गुड़िया उसके पीछे-पीछे आ रही थी। सामान लेकर आया लड़का हमारे पास आकर खड़ा हो गया।

उसने सामान उतार कर जमीन पर रख दिया।

मैंने कहा—इस होटल का मैनेजर कहाँ है? वह बोला, मैं ही हूँ। मालिक कौन है? उसने कहा, मैं ही हूँ।

कमरा कहाँ है?

'ऊपर' उसने ऊपर जाती सीढ़ियों की तरफ इशारा करके कहा।

मैंने कहा, चलो, कमरा दिखा दो।

लड़के की आँखों में चमक आ गई। वह सीढ़ियों पर कूदता हुआ ऊपर चला गया उसके पीछे-पीछे मैं, राजेन्द्रजी और गुड़िया भी।

उसने कमरे का दरवाजा खोला। स्विच ऑन किया, पर्दे को ऊपर टाँगा और तेजी के साथ उसकी चादर झाड़ने लगा।

चादर झाड़ने के बाद उचक कर दुछती पर पड़ी मच्छरदानी उतार ली। मैंने उससे पूछा—चादर धुली हुई नहीं है? है साहेब।

लड़का उसी तरह कूदता-फुदकता हुआ नीचे चला गया और पलक झपकते ही दो चादरें ले आया। चादरें रखकर वह वहाँ से निकल कर बाहर आया और उसी कमरे से सटा दूसरा कमरा भी खोल दिया। दूसरा कमरा भी कमोबेश उसी तरह का था। राजेन्द्र जी ने लड़के से पूछा कि कमरे का भाड़ा क्या है? साठ रुपया कमरा। मैंने कहा ठीक है, नीचे से सामान ले आओ। लड़का उसी तरह फुदकता हुआ नीचे चला गया।

लड़का सामान लेकर जब ऊपर आ रहा था कि आखिरी सीढ़ी तक पहुँचते ही अचानक बिजली चली गई। यकायक बिजली के चले जाने से हमें कुछ भी दिखाई

नहीं दे रहा था। लड़का सामान लिए कुछ देर खड़ा रहा। मैंने लड़के से कहा कि सामान रख दो और पाँच रुपये लो, दो मोमबत्तियाँ ले आओ।

लड़का बोला, पाँच रुपये नहीं, बीस रुपये साहेब।

मैंने थोड़ा-सा उत्तेजित होते हुए पूछा, मोमबत्तियों के बीस रुपये? लड़का अचकचाया। फिर बोला—मोमबत्तियाँ नहीं, तेल लाएँगे साहब। जनरेटर है ना। हमारे लिए यह आश्चर्य और खुशी की बात थी कि इस वीरान होटल में जनरेटर भी है। मैंने उसे बीस रुपये दे दिए।

तेल के लिए जाने से पहले वह नीचे से तीन कुर्सियाँ उठा लाया था अन्धेरे के बावजूद हम उस लड़के की आँखों की चमक और शरीर की फुर्ती महसूस कर रहे थे 'अँधेरे में'।

कुर्सी पर बैठने के बाद राजेन्द्र जी ने अपना झोला टटोला जिसमें उनका पाईप रखा था। राजेन्द्र जी ने लाईटर जला कर पाईप सुलगा लिया था।

मैं दुःखी था। मैं अपने दिमाग में परस्पर जुड़ी घटनाओं का सिलसिलेवार कोलाज बना रहा था। लम्बी खामोशी और घुप्प अँधेरा। अपने चारों तरफ घूम रही पीछे छूटी आकृतियाँ मैनेजर पाण्डेय, गिरिराज किशोर, निर्मला जैन, दिनेश कुशवाहा, मैत्रेयी पुष्पा की बेचैनी और व्यंग्य वाण ये सब मुझे बेंध रहे थे और जाओ हमें छोड़कर। राजेन्द्रजी को भागलपुर ले जाने का आनन्द अब गुजरी हुई एक ग़ैर-जरूरी घटना बनकर रह गई थी। पर मेरे भीतर ही भीतर भय के स्तर पर कुछ और ही घटित हो रहा था। यह मेरी नितान्त व्यक्तिगत त्रासदी थी। मुझसे 'भूल-गलती' तो हो ही गई थी गुड़िया भी अँधेरे और खामोशी से परेशान थी।

मैं सोच रहा था कि शायद वह सोच रही होगी कि पापा की दयनीय स्थिति ने उनके भीतर पता नहीं कैसे-कैसे भाव जगाए होंगे।

बीस मिनट बाद जनरेटर का इंजन घरघराया और देखते ही देखते बिजली आ गई। राजेन्द्र जी ने कहा, अरे, ये छोटू तो कमाल की चीज है। बुलाओ इसको, इसकी तस्वीर तो 'हंस' के आवरण पृष्ठ पर छापेंगे। फिर क्या था, चिड़ियों की तरह हम चहचहाने लगे।

बिजली के आते ही गुड़िया ने आसमान की तरफ हाथ उठाकर हाथ जोड़े, जैसे ईश्वर ने उसे अंधकार के तूफान से बचा लिया हो।

'गुड़िया अपने पापी बाप के लिए दुआ कर रही है'—राजेन्द्रजी ने हंटर की तरह जुमला कसा।

मैंने कुछ नहीं कहा—मैं तो अन्दर ही अन्दर अपराध-बोध से झेंप रहा था।

गुड़िया ने कहा—ऐसा नहीं कहिए, अंकल, मेरे पापा की परेशानी से तो पुण्यात्माओं की पाकीजगी झलकती है।

राजेन्द्र जी ने कहा—यही तो तुम्हारा चक्कर है। कविताओं में भी तुम अपने माँ और बाप से बाहर नहीं आ सकी हो। इनके अलावा भी दुनिया में बहुत कुछ है उसके बारे में सोचो।

कोई कैसा भी हँसमुख हो, लेकिन जैसे चित्र राजेन्द्र जी बनाते हैं वैसे शायद ही कभी किसी ने बनाए होंगे। वे गहन संकट के चित्रों को भी चटकदार रंगों से सजाने में माहिर हैं। बिल्कुल, हिम्मतशाह, हुसैन और रज़ा की तरह।

राजेन्द्र जी ने पाईप का धुआँ निकालते हुए कहा—शिव चिन्ता करने और उदास होने की कोई बात नहीं है। अपने पास संकट की व्यवस्था है।

बात कुछ अटपटी लगी। मैंने दोहरा कर पूछा—क्या व्यवस्था है? उन्होंने अपनी अटैची का हैंडल खड़खड़ाकर कहा—इसे खोलो। व्यवस्था के नाम पर अटैची खोलने का आदेश देकर मुझे चौंका-सा दिया।

अटैची खुली, तो कुर्सी पर बैठे हुए ही उसमें झाँकते बोले, 'यह बंडल उठाओ। देखो अखबार में कुछ लिपटा पड़ा है?'

मैंने कहा—हाँ, है तो।

तो फिर उसे निकाल लो—राजेन्द्रजी ने कहा।

राजेन्द्र जी ने शान्त स्वर में कहा—ऐसा मैं करता तो नहीं हूँ, लेकिन दिल्ली से चलते वक्त शीवाज रीगल का हाफ पड़ा था। पता नहीं क्या, मन हुआ सो मैंने इसे रख लिया। न जाने कब जरूरत पड़ जाए। अभी याद आया तो सोचा कि संकट की घड़ी में इसे रक्षा कवच बना डाला जाए। उनकी आवाज में हँसी की खनक थी। राजेन्द्र जी ने कहा जौक का एक शेर है—

'दुनिया ने किसका राहे फ़ना में दिया है साथ
तुम भी चले चलो, यूँ ही, जब तक चली चले'

लड़का जनरेटर स्टार्ट करके वापस लौट आया था। ऊपर हम लोगों के सामने पहुँचते ही वह ठिठक कर खड़ा हो गया। वह इधर-उधर इस तरह देख रहा था, मानों आदेश चाह रहा हो।

अब क्या हुक्म है मेरे आक़ा?

राजेन्द्र जी ने पूछा—हाँ अब बताइए छोटू जी, खाने-पीने की क्या व्यवस्था है? साहेब जी, मेरा नाम छोटू नहीं, मनोज है।

राजेन्द्र जी ने कहा—'अच्छा तो आपका नाम मनोज है।'

'जी साहेब'

'तो मनोज जी, यह बताइए खाने-वाने का क्या जुगाड़ है?'

'साहेब सामने ढाबा है। आप जो बोलेंगे बनवा दूँगा।' मैंने कहा, 'मैं इसके साथ जाता हूँ।' रास्ते में मनोज ने पूछा, साहेब कितना बजा है?—मैंने घड़ी देखकर बतलाया साढ़े आठ। चाँद आसमान में चाँदनी के साथ था। राजेश जोशी से बिना पूछे। सामने के बोल्डरों को पार कर हम सड़क पर आ गए। सड़क पर दूर-दूर तक कोई नहीं दिख रहा था। मैंने मनोज से पूछा कि सुबह घाट तक जाने के लिए क्या साधन है। उसने बताया साहेब, छः बजे सुबह से ही टैंकर चलने लगते हैं। आप उनसे बात कर लीजिएगा। वे छोड़ देंगे।

वैसे ढाबे वाले के पास भी एक टैंकर है, आप उससे भी बात कर सकते हैं।

मैंने ढाबे वाले को ऑर्डर दिया दस पराठे, आलू और गोभी की सब्जी तथा दाल फ्राई।

ढाबे वाले से पूछा आपके पास टैंकर भी है क्या? टैंकर के बारे में सुनते ही उसमें खुशी की लहर दौड़ गई। वह जब तक कुछ बोलता उसके पहले ही दो और लोगों ने मुझे घेर लिया, कहाँ जाना है साहेब? ढाबे वाले ने उन्हें हुड़का, जब साहब हमसे बात कर रहे हैं 'तो तुम लोग बीच में क्यों आ गए? मुझे मालूम है साहब को घाट जाना है। फिर मेरी तरफ मुँह करके बोला—आप फिक्र मत करिए साहब। हम आपको टाइम से घाट छोड़ देंगे। होटल से सात बजे निकलना होगा। मैंने कहा पैसे कितने लगेंगे?

पैसों की फिक्र छोड़िए साहब, जो वाजिब होगे ले लेंगे। मैंने ढाबेवाले से कहा खाना आप वहाँ होटल में ही भिजवा दीजिएगा, कितनी देर लगेगी बनाने में। यही कोई घंटे भर में भेज देंगे। कहिए तो जल्दी करवा दें। नहीं ऐसी कोई बात नहीं है। खाना ठीक बनवाइएगा। चिन्ता न करिए। नवगछिया की देसी घी पूरे दियार में नामी है। उसी में सब्जी, उसी में परांठा। तबियत खुश हो जाएगी खाना खाके। खाने का ऑर्डर देकर जब मैं और मनोज लौटे, राजेन्द्र जी फ्रैश होकर फिर से वहीं आ बैठे थे। मतलब पाईप सुलगाए हुए, पता नहीं क्यों पहले अटपटा-सा लगने वाला वह होटल साफ-सुथरा और अपना-सा दिखने लगा। गुड़िया अन्दर कमरे में जा लेटी थी। हमने मनोज से शीशे के दो गिलास और पानी भरा जग मँगवाया। वह तुरन्त ले भी आया। अब हम कमरे के बाहर ही छत पर बैठ गए थे। गिलास रखने के लिए वह एक टेबुल भी ले आया था। मैं राजेन्द्र जी को देख रहा था। विचित्र बात यह थी कि वे मुझे कहीं से भी परेशान नहीं दिखाई दे रहे थे। आखिरकार मैंने उनसे पूछ ही लिया। राजेन्द्र जी आप सचमुच परेशान हैं? आपको मेरे ऊपर गुस्सा नहीं आ रहा? उन्होंने कहा, देखो शिव, जहाँ हम कुछ कर नहीं सकते या फिर जो हो रहा है वही हो सकता है, तो फिर मैं उसी में आनन्दित होने लगता हूँ। मेरा मानना है कि आने वाला हर समय खूबसूरत है, चाहे उसमें जैसे भी व्यवधान और दिक्कतें हों। इसलिए जो आपके सामने है उसमें आप खुले मन से शामिल हों। शायद इसलिए मुझे गुस्सा नहीं आता। अब तक गुड़िया भी कमरे से बाहर आकर कुर्सी पर बैठ गई थी। वह अपने साथ भुजिया और मिक्सचर के पैकेट लेकर आई थी। टेबुल पर उसने दोनों पैकेट रख दिए। कुछ पल ख़ामोशी रही।

गुड़िया ने पूछा—अच्छा अंकल, यह बताइए कि आपने 'हंस' निकालना क्यों शुरू किया? गिलास से घूँट लेकर उन्होंने कहना शुरू किया कि तुम्हारा मतलब है कि न भी निकालते तो क्या होता? गुड़िया ने बीच में बोलते हुए कहा—न, न, अंकल मेरा मतलब यह नहीं था।

राजेन्द्र जी ने कहा—तुम्हारा मतलब मैं साफ-साफ समझ रहा हूँ कि तेरा बाप और मैं बातों में लगे रहें और तू सारी भुजिया खा डाले।

गुड़िया ने कहा—क्या बताऊँ अंकल, भुजिया मेरी कमजोरी है। भुजिया का पैकेट सामने हो तो फिर कन्ट्रोल नहीं होता। राजेन्द्र जी ने कहा—चलो ठीक है।

मतलब ये कि तू चटोरी है। चटोरा तो मैं भी हूँ, लेकिन तेरी तरह खाऊ नहीं हूँ।

बीच में हस्तक्षेप करते हुए मैं बोल पड़ा—गुड़िया ने जो पूछा उसके बारे में बतलाइए आपने 'हंस' निकालना क्यों शुरू किया?

—अगर एक वाक्य में जवाब चाहिए तो अपने समय की रचनात्मकता से जुड़ने के लिए मैं एक ऐसा मंच चाहता था जहाँ लोग एक दूसरे से मिलें, महफिलबाजी हो, विचारों का आदान-प्रदान हो, सहमति-असहमति हो, हंस पत्रिका ही एक ऐसा माध्यम बन सकता था, जहाँ अपने समय की रचना तथा रचनाकारों को, सम्पर्क में आने का मौका मिले। बातें तरतीबवार नहीं चल रही थीं, फिर भी मेरे मन में राजेन्द्रजी की उस समय कही बातें लिखने की ख्वाहिश पैदा हुई। मैं कागज और कलम के जुगाड़ के लिए उठा तो राजेन्द्रजी ने टोक दिया कहाँ जा रहे हो? पता नहीं क्यों उनके पास से इस तरह उठना और उनका रोकना बेहद संकोच में डाल रहा था। शर्म ये भी थी कि आज मेरी वजह से इन्हें इतनी मुश्किलें उठानी पड़ रही हैं।

साहेब—

क्या? मैंने सर घुमाया प्लास्टिक का छोटा-सा थैला लिए मनोज खड़ा था। साहब ढाबे वाले ने सलाद भिजवाया है। खाना आधे घंटे के बाद लगाएगा।

मनोज जब चला गया तो राजेन्द्र जी ने कहा—शिव, बातें पूरी तरह पल्ले नहीं पड़ रही हैं।

गुड़िया ने कहा—कैसी बातें अंकल?

—इस प्रकार के दुर्गम स्थान पर भी होटल और उस होटल में वेटर से लेकर के मालिक तक यह लड़का। न कोई आगे न कोई पीछे। अजीब काफकाई वातावरण। जैसे रहस्य-रोमांच वाली फिल्मों में होता है। राजेन्द्र जी की बात के बीच में गुड़िया बोली, 'अंकल सिर्फ होटल ही नहीं, होटल में जनरेटर।'

गुड़िया के इस वाक्य को कहने का अन्दाज 'शोले' फिल्म के असरानी के उस संवाद से मिलता-जुलता था कि हमारी जेल में सुरंग। मैंने कहा—हैरत-अंगेज बात तो यह है कि ऐसी विकट जगह पर यह साफ-सुथरा होटल है। करीब-करीब पूरा व्यवस्थित, मगर लगता है जैसे यहाँ कभी कोई और नहीं टिका है। राजेन्द्र जी ने कहा कि मनोज का उत्साह और कार्य को देखकर मैं आश्चर्यचकित हूँ। मैंने कहा, ऐसी स्थिति में ऐसी जगह, ऐसी व्यवस्था हो जाएगी इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

इस बीच बिजली रानी विधिवत आ गई थी। अचानक मनोज ऊँची आवाज में कह रहा है—साहेब खाना। फिर पूरे मनोयोग से मनोज ने तीन प्लेटों में खाना लगाया। लजीज था, सब कुछ स्वादिष्ट। खाने के स्वाद में हमारी असुविधाएँ तिरोहित हो गईं। गीतांजलिश्री के उपन्यास 'तिरोहित' की तरह।

खाना खाकर हम सन्तुष्ट हुए।

राजेन्द्रजी ने घड़ी देखते हुए कहा—ग्यारह-बीस, तभी एकदम होटल से सटे पेड़ पर उल्लू बोल उठा—हूँ उँऽऽम, उँऽऽम,

तब तक राजेन्द्रजी अपने कमरे में जाकर मच्छरदानी में घुस चुके थे। गुड़िया भी सो चुकी थी लेकिन मुझे नींद नहीं आ रही थी।

आँख खुली तो राजेन्द्र जी की पाईप का धुआँ छत पर फैल रहा था। मैंने पूछा, क्यों क्या हुआ?

बड़ी विचित्र यात्रा हो गई—मैंने बिना किसी सन्दर्भ के अचानक कहा। मुझ पर उचटती-सी निगाह डालकर सहज कंठ से राजेन्द्र जी ने कहा—क्यों, इस यात्रा में ऐसी क्या खराबी रही? कुछ भी कहो—रात उस लड़के ने खाना बहुत बढ़िया खिलाया।

गुड़िया भी जग गई थी यद्यपि उसकी आँखों में अब भी थकान के चिह्न थे।

"अब यहाँ से चलने की व्यवस्था कीजिए।" गुड़िया ने परेशान-सी आवाज में कहा। मैंने राजेन्द्र जी की तरफ देखते हुए कहा—"आपको तैयार होने में कितनी देर लगेगी? साढ़े छः बजे तक हमें नीचे उतर जाना चाहिए आप फ्रेश हो गए क्या?

जो होना था सो हो गया यानी मेरा होना सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ और जो न होना है उस पर मेरा कोई वश नहीं है।

मैंने पूछा—क्यों क्या हुआ?

राजेन्द्र जी ने कहा—इन कमिंग और आऊट गोईंग का मामला है। यहाँ आकर मेरे सारे टोटके फेल हो जाते हैं। चाहे जितनी बारूद भरो लेकिन ब्लास्ट में मामला टाँय टाँय फिस्स।

नीचे सड़क पर गाड़ियों के आवागमन की आवाज सुनाई दे रही थी। सूरज निकल चुका था। राजेन्द्र जी कमरे में चले गए थे। मैंने अनामिका से पूछा कितनी देर लगेगी?

बस अभी दो मिनट। गुड़िया ने बालों में क्लिप लगाते हुए कहा। मैं भी बाथरूम में घुस गया और वापस आया तो पूरी तरह से तैयार था।

गुड़िया ने अटैची सँवार ली थी और बाहर कुर्सी पर बैठी थी। राजेन्द्र जी जब कमरे से बाहर आए तो एकदम फ्रेश लगे। उन्होंने ग्रे-कलर की पेंट पर क्रीम कलर की हाफ टी-शर्ट पहन रखी थी। बाहर आकर उन्होंने कहा—एक बड़ी गड़बड़ है। इस होटल में सालों ने शीशे कहीं नहीं लगाए हैं। शायद राजेन्द्र जी को शेव के लिए आईने में देखने की जरूरत महसूस हुई थी। तभी मनोज आया। दही-चूड़े के कटोरे लिए। रात में उसे बता दिया गया था कि सुबह दही-चूड़े का नाश्ता किया जाएगा। छत पर हल्की सुनहरी धूप उतर आई थी।

नाश्ता करने के बाद हमने मनोज से होटल का हिसाब किया। मनोज ने कहा कि ढाबे वाले ने टैंकर लगा दिया है। सामान रखकर हम सवा सात तक चल पड़े। बारह किलोमीटर का ही तो सफर था। सड़क खराब होने की वजह से यह सफर आधे घंटे में तय हुआ। जब हम घाट के किनारे पहुँचे तो पौने आठ बज चुके थे। दो अटैचियाँ थीं सो मैंने और गुड़िया ने उतार लीं। मैंने टैंकर ड्राईवर से पूछा कितने पैसे दूँ, तो उसने कहा हिसाब से तो दो सौ रुपये बनते हैं। आप डेढ़ सौ रुपये दे दो। मगर बारह किलोमीटर के डेढ़ सौ रुपये? राजेन्द्र जी ने कहा—पचास रुपये भाड़े के

और सौ रुपये सहायता के हिसाब से तो ठीक है। गुड़िया अपनी हँसी न रोक सकी। घाट तो यहाँ से काफी दूर दिखाई देता है। घाट की तरफ नजर फेंकते हुए—राजेन्द्रजी ने कहा। रेत के फैलाव में टैंकर आगे नहीं जा सकता था। ज्यादा दूर नहीं। आधा किलोमीटर के करीब होगा—टैंकर ड्राईवर ने उनकी बेचैनी का उत्तर दिया। दोनों अटैचियाँ थामे मैं तेजी से आगे बढ़ता जा रहा था और पीछे गुड़िया और राजेन्द्र जी आ रहे थे।

धप...धाप...शिर रेत पर दो चप्पू चल रहे थे। राजेन्द्र जी और गुड़िया के पाँव चार-चार इंच रेत में धंस जाते थे। एक पूरा रेगिस्तान पार करना था। राजेन्द्र जी चलने के साथ-साथ बार-बार रेतीले मैदान और घाट के बीच की दूरी नाप रहे थे।

राजेन्द्र जी ने नजरें तिरछी कर गुड़िया को बनावटी गुस्से में कहा, देखे अपने बाप के करम? मैं तो अटैचियाँ लिए दौड़ा जा रहा था। नाव पर खड़ा एक आदमी चिल्ला रहा था, जल्दी आइए, अब हम रुकेंगे नहीं। अब चलेंगे। मैं और तेज दौड़ने लगा। सोच रहा था कि अगर वह नाव निकल गई तो फिर क्या होगा? सूरज की रोशनी तेज होकर चुभने लगी थी। जब तक मैं नाव के पास पहुँचा तब तक पसीने से नहाया बुरी तरह हाँफ रहा था। मैंने अटैचियाँ चढ़ाई और खुद चढ़ गया। अभी मैं यह बोल भी नहीं पाया था कि और दो लोग भी आ रहे हैं कि उसने पानी में बाँस डाला और नाव खोल दी। अरे यह क्या? जरा ठहरिए अभी दो लोग आने बाकी हैं। यह बात समझाते-समझाते नाव घाट से दो बाँस आगे निकल गई। नाव वाले ने कहा, अब क्या हो सकता है? नाव तो हम ले नहीं जा सकते। आखिरकार राजेन्द्रजी और गुड़िया घाट पर खड़ी एक डौंगी में सवार होकर इस बड़ी नाव तक आए। सबसे ज्यादा समस्या तो तब हुई जब वे दोनों डौंगी से नाव पर चढ़े। उछलती हुई डोंगी से नाव पर चढ़ना नट का रस्सी पर चलने के समान था। अज्ञेय के 'नाच' कविता की तनी हुई रस्सियों पर। नाव पर बैठने के बाद राजेन्द्रजी ने गुड़िया से कहा—इरिटेट क्यों हो रही हो?

—आपकी तरह ठण्डा दिमाग और संयम मेरे पास नहीं है, गुड़िया ने कहा।

राजेन्द्र जी ने कहा—दिमाग को गरम करके या घबराकर इस स्थिति में तुम क्या कर सकती हो? कोई विकल्प है तुम्हारे पास?

सच में अद्भुत धैर्य और शान्ति है राजेन्द्र जी में सब कुछ सहज भाव में लेने वाला साहस था कि...

धूप तेज होती हुई काटने लगी थी। नाव पर ज्यादातर पोटली वाले, डल्ले डाले वाले लोग थे। अधमैली धोती-गंजी पहने लोग, नाव पर बैठी औरतों ने चटखदार रंगों की साड़ी पहन रखी थीं और घूँघट निकाल रखे थे। एक औरत ने गोद में नवजात शिशु ले रखा था। जो अपनी अधखुली आँखों से इधर-उधर देख रहा था। नाव पर छोटे खटोले से लेकर बड़ी खटिया तक थी। बकरियाँ थीं, साइकिलें थीं, मुर्गियाँ थीं पूरी गृहस्थी चल रही थी नाव वाले ने पाल खोलने के पहले नदी में काफी अन्दर जाकर बाँस गाड़ दिया और भाड़े की वसूली करने लगा। पहले आदमी के पास से

ही चक-चक शुरू हो गई। नाव वाले ने सात रुपये माँगे और उस आदमी ने कहा पाँच रुपये से ज्यादा नहीं देगा। कल तक तो यही भाड़ा था। नाव वाले ने कहा—आय तोओी मांच कल उस आज में कोई फरके नहीं लगता है, कल्हें फाईनेल हुआ है रात का मीटिंग में सात रुपया से एक पैसा कम नहीं लेना। चाहे पसिंजर चले की नहीं। नाव पर सवार लोग पाँच से ज्यादा देने को तैयार नहीं थे और वह बिना सात लिए टस से मस नहीं हो रहा था। आखिरकार उसने घोषणा की कि वह वापस उसी किनारे पर लाकर उतार देगा, जहाँ से वह हमें लेकर चला था। हम तीनों के अलावे सोलह यात्री और थे। नाव पर मैंने उससे कहा जो यात्री तुम्हें सात रुपये दे उनसे सात और पाँच दे उनसे पाँच रुपये ले लो। फिर तुम्हारे हिसाब से जो घटे वह हमसे ले लेना। नाव तब खुली जब उसने हम तीनों के इक्कीस और बैलेंस के सोलह रुपये जोड़कर सैंतीस रुपये ले लिए। अब नाव के पाल तन गए थे। इस बार दोबारा जब नाव चली तब राजेन्द्र जी ने अपना पाईप सुलगा लिया था कि नाव पर बैठा एक लड़का दूसरे लड़के से बोला—आय तोरी मांय इ तो अलगे किस्म का हुक्का है रे।

राजेन्द्र जी ने कहा—तुमको इल्म नहीं था कि तुम कश्ती पे बोझ हो।

मैंने राजेन्द्र जी से कहा कि शेर तो यह है कि हमको इल्म नहीं था कि हम कश्ती पे बोझ हैं।

उन्होंने कहा, यहाँ आकर हमको तुमको में बदल गया है। हो सकता है कि तुमको इस टिप्पणी में कुछ गड़बड़ दिखाई दे लेकिन यकीन मानो ये गड़बड़ नहीं है। यह तो इस शेर के साथ इत्तफाक भर है।

अगर ये बातें राजेन्द्र जी की विनोदप्रियता को उजागर नहीं कर रही होतीं तो इसका जिक्र जरूरी नहीं होता।

बहरहाल

नाव दूसरे किनारे तक पहुँची। अचानक सुन्दर-काण्ड आ गया। नाव वाले ने एक फीट चौड़ा और दस फीट लम्बा फट्टा निकाल लिया जिस पर चलकर नीचे उतरना था। सारे लोग उतर रहे थे, पट्टे का अन्तिम सिरा जहाँ रखा हुआ था वहाँ कीचड़ थी।

राजेन्द्रजी के साथ अब तक जो कुछ बीता, वह भयंकर ही था। मैंने लाख कोशिश की कि उन्हें इस दुर्घटना का शिकार न बनने दूँ, जो अकारण ही उनके हिस्से में पड़ रही थी। पूरा पट्टा पार करने के बाद राजेन्द्रजी ने जहाँ पैर रखा वहाँ की जमीन सूखी-सी दिखाई दे रही थी। दरअसल वह ऊपर से पपड़ाई और नीचे से गीली दलदल थी। रखते ही पाँव जूते समेत दलदल में धँस गया। पहले पाँव को निकालने की कोशिश में दूसरा भी धँसा। काफी जद्दोजहद के बाद हम उस दलदल से लथपथ होकर बाहर निकले। कपड़े सूरत और सामान का अजीब हाल था। कीचड़ से धप-धप करते हम जब किनारे पर आए तो देखा कि एक कुत्ता पट्टे के किनारे पड़ा है। वह मरा हुआ कुत्ता गंगा की लहरों से धुल-धुल कर एकदम सफेद हो गया था। कहीं यह वही कुत्ता तो नहीं है जो यात्रा के शुरू में पुल पर हमारी परिक्रमा कर चुकने के बाद

टांग उठाकर एक खम्भे को पवित्र कर रहा था। क्या वह स्वयं हमारा दुर्भाग्य था जो साथ-साथ दृश्य-अदृश्य चला और यहाँ आकर गंगा लाभ कर गया। हाँ, युधिष्ठिर के साथ हिमालय की यात्रा करने वाले कुत्ते का नाम बहुत कोशिश करने पर भी याद नहीं आया। बाद में किसी ने बताया वह साक्षात् धर्म था।

हम जिस हालत में थे उसी हालत में सामने खड़े ऑटो में बैठ गए।

हद तो यह थी ऐसी हालत में भी राजेन्द्रजी मुझे अपनाईयत और यकीं से देखकर मुस्करा रहे थे। घाट की गली समाप्त होते ही नुक्कड़ पर एक नल दिखाई दिया। सोचा थोड़ा धो लें। मैंने ऑटो रुकवाना चाहा तो राजेन्द्रजी ने मना कर दिया। मौलिक होते बोले अब जो कुछ भी होगा घर चल कर होगा। अन्त में राजेन्द्र जी का ही एक प्रिय शेर—

'शिकस्ता किश्ती को पार लेकर हमारा इल्मो हुनर गया है
नए खिवैये कहीं न समझें, नदी का पानी उतर गया है।'

मेरे लिए नायक

सुदर्शन नारंग

मैं साधना अग्रवाल का मश्कूर हूँ कि उसने मुझे राजेन्द्र यादव के बारे में लिखने का अवसर दिया। मैं राजेन्द्र यादव का भी मश्कूर हूँ कि उन्होंने मेरी हमेशा अवहेलना की। राजेन्द्र यादव से मेरा परिचय पिछले 40 वर्ष से है। इस बात का मुझे कोई मलाल नहीं है कि राजेन्द्र यादव ने मेरे साथ अच्छा सलूक नहीं किया। क्योंकि मैं अपनी मजबूरी और चुनाव से लेखक हूँ। लेखक किसी भी भाषा का क्यों न हो, लेखक होता है। अगर आपको लिखने या पढ़ने का शौक है तो एक दिन आप मेरे बारे में उतना ही जान जाएँगे, जितना आप राजेन्द्र यादव के बारे में जानते हैं।

राजेन्द्र यादव से मेरी पहली मुलाक़ात 1970 की फरवरी में हुई थी। जब वह शक्तिनगर में मन्नू भंडारी के साथ रहा करते थे। वह वर्ष उनके जीवन के सबसे अच्छे वर्ष थे। क्योंकि जो चमक उनके चेहरे पर मैंने तब देखी थी। चालीस वर्ष पहले। वह चमक लौटकर फिर कभी नहीं आई। मुझे इस बात का दुःख है कि इस किताब का शीर्षक राजेन्द्र यादव को एक खलनायक के रूप में देखता है। राजेन्द्र यादव खलनायक हो ही नहीं सकते। राजेन्द्र यादव खलनायक का—मुखौटा लगाए घूमते हैं। बीवी को छोड़ने या लड़कियों से दोस्ती करने से कोई खलनायक नहीं हो जाता। क्या पता बीवी या लड़की ने आदमी को छोड़ दिया हो। राजेन्द्र यादव स्त्री या लड़की से सिर्फ दोस्ती कर सकते हैं। उसे भोग नहीं सकते। क्योंकि उनके अन्दर एक कुंठा है। लोग समझते हैं कि राजेन्द्र यादव ने मन्नू भंडारी को छोड़ दिया। असल में मन्नू भंडारी ने राजेन्द्र यादव को छोड़ दिया। यह मन्नू भंडारी की क्रूरता थी। मैं आपको 1970 की कुछ बातें बताना चाहता हूँ। उन दिनों अशोक अग्रवाल के साथ मिलकर मैं सारिका के लिए हिन्दी के शीर्षस्थ लेखकों के साक्षात्कार कर रहा था। इस क्रम में हमने जैनेन्द्र कुमार, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, अमृता प्रीतम, श्रीपत राय, अमृत राय, फ्रेंच उपन्यास लेखिका द्रोमिनिक रोला की अंतर्कथा लिखी थी। राजेन्द्र यादव की पहचान शुरू से ही लेखक एवं आलोचक की रही है। आलोचना के क्षेत्र में अपने कार्य को उन्होंने किस शिद्दत और गहराई से निभाया उससे डॉ. नामवर सिंह, नन्दकिशोर नवल और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी भी पीछे छूट जाते हैं।

लोग कहते हैं मन्नू भंडारी में राजेन्द्र की अपेक्षा ज्यादा प्रतिभा थी। ऐसे लोग ही

दोनों के बीच दरार का कारण बने। उस साक्षात्कार को करने जब मैं शक्तिनगर गया तो मेरी पत्नी गीता भी मेरे साथ थी। लेखक दम्पत्ति द्वारा आवभगत से गीता बहुत प्रभावित हुई थी। मन्नू कितनी हंसौड़ थीं, उस समय। यादव दम्पत्ति की एक बेटी है जिसका जन्मदिन 17 जून को पड़ता है मेरा एक बेटा है, जिसका नाम हितेश है तथा जो 1969 में पैदा हुआ था, उसका जन्मदिन भी 17 जून है। यह बात मुझे अपनी पत्नी के सौजन्य से स्मरण है क्योंकि अक्सर वह इस बात की चर्चा करती है।

उन दिनों पुस्तक मेले के लिए बाहर ही खिड़कियों से टिकट लेने होते थे। लाइन काफी लम्बी थी। जैसे ही मैं ऑटो से उतरा राजेन्द्र भाई दिखाई दिए। मैंने कहा रुकें मैं टिकट लेकर आता हूँ। मेरे हाथ में किताबों का वड़ा बंडल था। राजेन्द्र भाई बंडल को लपकते हुए वोले—इसे मैं पकड़े लेता हूँ। यह भला कैसे हो सकता था। मैंने बंडल जमीन पर रख दिया तथा राजेन्द्र भाई से कहा आप इसकी निगरानी कर लें, बस। मैं टिकट लेकर आ गया और बंडल उठा लिया। वह बात मेरे मन में हमेशा के लिए खुब कर रह गई। हिन्दी का इतना वरिष्ठ लेखक और इतनी हलीमी। यह वात कोई तीस वर्ष पुरानी है। मैंने उसी दिन राजेन्द्र यादव को नायक की श्रेणी में रख लिया था।

हिन्दी के उस समय के सभी चर्चित लेखकों ने कमलेश्वर (?), मोहन राकेश, डॉ. धर्मवीर भारती, अज्ञेय, निर्मल वर्मा तथा रमेश बक्षी, सभी ने कई-कई शादियाँ कीं। फिर राजेन्द्र यादव को कटघरे में क्यों खड़ा करते हैं।

शक्तिनगर के उस घर में मैं कई बार गया था। तीन सिटिंग में राजेन्द्र यादव का साक्षात्कार और फिर मन्नू जी के साक्षात्कार के लिए कुछ बार का जाना। हापुड़ से सुबह पाँच बजे ही एक्सप्रेस गाड़ी में बैठ मैं सात बजे दिल्ली उतर आता। आठ वजे शक्तिनगर में पहुँच नाश्ता मन्नू जी के सौजन्य से ही होता रहा था।

इण्टरव्यू की प्रगति ऐसे होती थी—शक्तिनगर के उस फ्लैट के डाइनिंग-रूम से उठकर जब हम ड्राइंग-रूम में पहुँचे, तो न केवल साक्षात्कार के लिए निर्धारित समय का आधे से अधिक वीत चुका था, बल्कि हम सब लोग डाइनिंग टेबल से उठने के वाद की सुस्ती से घिरे-घिरे महसूस कर रहे थे। राजेन्द्र भाई तो पूरी तरह आश्वस्त हो सोफे पर अधलेटे हो गए थे। तभी मन्नू जी ने कॉफी-ट्रे लेकर प्रवेश किया था। ट्रे को सेंट्रल टेबल पर रखते हुए मन्नू जी ने ठहाका लगाया तो राजेन्द्र भाई ने चौंक कर पूछा, क्या हुआ?

मन्नू जी मन्द मुस्कान के साथ शरारती अन्दाज में बोलीं, अजमेर की एक लड़की मंजू का पत्र आया है। लिखती है अभी-अभी 'एक इंच मुस्कान' पढ़कर हटी हूँ आप वाले हिस्से स्वाभाविक, यथार्थपरक और अधिक रोचक लगे।

राजेन्द्र बीच में ही टोकते हुए बोले, हाँ-हाँ, जिस दिन कोई नया मिलने वाला आता है, उस दिन तुम्हारे पास किसी न किसी मंजू का पत्र अवश्य आता है। फिर पैंतरा वदलते हुए बोले, तैयार नहीं होना।...उठो, तुम्हारे कॉलेज जाने का टाइम हो रहा है।

मन्नू जी के अड़ जाने पर अभी तो कॉलेज जाने में एक घंटे में भी अधिक का समय है, राजेन्द्र ने घड़ी पर नजर डाली, तो चौंककर उठ खड़े हुए—अरे भाई मुझे तो अक्षर पहुँचना है। मैं तो भूल ही गया। कितना जरूरी काम था। और इस तरह पहली सिटिंग समाप्त हो गई।

मई, 1970 सारिका पृष्ठ 84 का उपरोक्त अंश इस बात का साक्षी है कि राजेन्द्र मन्नू का वैवाहिक जीवन अह्लाद के किस धरातल पर था।

1969 में मेरी पहली कहानी 'मोड़ पर रुकी जिन्दगी' साप्ताहिक हिन्दुस्तान में तथा 'धुँध की परतें' 1970 मार्च धर्मयुग में छप चुकी थीं। मेरा उत्साह सातवें आसमान पर था। 1964 ई. में अक्षर प्रकाशन की स्थापना हो चुकी थी और मैंने अपना पहला उपन्यास 'उस पार का अँधेरा' लिख लिया था। निर्मल वर्मा 'उस पार का अँधेरा' पाण्डुलिपि रूप में देख चुके थे और उन्हें उपन्यास अच्छा लगा था। मैंने पाण्डुलिपि डाक से अक्षर प्रकाशन को भेज दी। यह सोचकर कि राजेन्द्र यादव अवश्य ही इसे छापने को तैयार हो जाएँगे और मेरी पीठ भी ठोकेंगे। पाण्डुलिपि भेजने के ठीक आठवें दिन राजेन्द्र भाई का टंकित लम्बा पत्र मिला था। उपन्यास के पात्रों की विस्तृत व्याख्या की थी राजेन्द्र यादव ने। दो लोग बिना विवाह किए किसी हिल स्टेशन पर जाकर रहते हैं। दसियों वर्ष बीत गए हैं। छोटे-मोटे वाद-विवाद और पारिवारिक स्थितियों के बाद वह शादी करने की बात सोचते हैं। बीच में एक बच्चा भी हो जाता है।—मैं पूछता हूँ इतने वर्ष उनका खर्चा कैसे चला। और अन्त में विवाह ही करना था तो इतने वर्ष साथ-साथ बिना विवाह किए क्यों रहे। एक अच्छे-खासे थीम को तुमने किल कर दिया। इधर आओ तो पाण्डुलिपि उठा लेना। इस तरह की उत्तेजना और उग्र स्वभाव आज तक बरकरार है। इसी शनिवार दलित साहित्य संघ की ओर से मोहनदास नैमिशराय के उपन्यास 'वीरांगना झलकारी बाई' का साहित्य अकादेमी में लोकार्पण था। राजेन्द्र यादव मुख्य अतिथि थे। राजेन्द्र यादव ने शुरुआत साधारण ढंग से की—यह अवसर अर्थात् किताब के विमोचन या लोकार्पण का बधाई और शुभकामना के साथ समाप्त हो जाना चाहिए। मेरी इसी सोच के मध्य राजेन्द्र यादव ने दीवार पर टँगे बैनर की तरफ देखा था।...वह 'वीरांगना' शब्द क्या होता है। पाठकों को पहले ही बता दिया कि झलकारी बाई वीरांगना थी। अपने लिखे से साबित करने की गुंजाइश ही आपने समाप्त कर दी। इस किताब का मैटर इकट्ठा करने के लिए अपने बुंदेलखण्ड की यात्राएँ कीं। वहाँ की बोली समझी, आंचलिक भाषा के कुछ शब्द यहाँ-वहाँ डाल देने से कोई किताब प्रामाणिक नहीं हो जाती। क्या गुजरी होगी मोहनदास नैमिशराय के दिल पर?

. 1970 में मेरी किताब राजेन्द्र यादव ने रिजेक्ट कर दी। कोई बात नहीं। अभी कुछ दिन पहले आदि विद्रोही शीर्षक से एक कहानी मैंने 'हंस' में छपने के लिए भेजी थी। मेरे ही पत्र पर संक्षिप्त टिप्पणी—यह कोई कहानी है। यह तो उपन्यास अंश है। वह भी ऐतिहासिक। कभी कोई ऐतिहासिक कहानी तुमने हंस में छपते देखी है।... और इसमें आदि विद्रोही कहाँ है? आज तक 'हंस' में मेरी कोई कहानी नहीं छपी।

आसानी से कहा जा सकता है कि इसका कारण मेरा मर्द होना है। चुनौती पेश करना है। यह भी कहा जा सकता है कि मैं अगर कोई लेखिका हुआ होता तो मेरी सभी कहानियाँ 'हंस' में छप सकती थीं। शेष कारण जो हम खोज निकालते हैं वह हमारे व्यक्तिगत राग-द्वेष का नतीजा होते हैं, शिकायत की गुंजाइश ही कहाँ है?

राजेन्द्र यादव विचारों और अनुभवों का अथाह समुद्र हैं। प्रश्न करने वाला कुछ वाक्य कह चुप हो जाता है। पर वह जो धारा प्रवाह समाधान पथ पर बोलना शुरू होते हैं तो कब एक के बाद दूसरी कड़ी शुरू हो गई, पता ही नहीं चलता। सफलता के उत्कर्ष पर भी उनकी वाणी की असन्तुष्टि और परिस्थितियों के प्रति आक्रोश को सुनने वाला सहज ही लक्षित कर लेता है।

राजेन्द्र यादव बहुत अच्छे वक्ता हैं, सम्पादक हैं, दोस्त हैं, चिन्तक हैं। पर बहुत अच्छे लेखक नहीं हैं। और जीवन के इस मोड़ पर बेहद अकेले हैं। शेष सारी बातें यहाँ से शुरू होती हैं और यहीं आकर समाप्त भी हो जाती हैं। अज्ञेय, निर्मल वर्मा, डॉ. धमवीर भारती, मोहन राकेश और कमलेश्वर हमेशा एक समय में एक स्त्री से बँधे रहे। राजेन्द्र यादव की तुलना केवल रमेश बक्षी से ही की जा सकती है। रमेश बक्षी को भी मैंने बहुत निकट से देखा है। वह मेरा दोस्त था। हम लोगों ने उसे कई बार समझाने की कोशिश की। वह समझने को तैयार नहीं था। जिस तरह से वह लड़की अथवा स्त्री के साथ व्यवहार करता था वह उस लड़की अथवा स्त्री का अपमान था। राजेन्द्र यादव ने भी अपने जीवन में आने वाली प्रत्येक लड़की अथवा स्त्री का अपमान किया है। रमेश बक्षी उतना अच्छा सम्पादक नहीं था, जितना अच्छा लेखक। इसके विपरीत राजेन्द्र यादव जितने अच्छे सम्पादक अथवा चिन्तक हैं, उतने अच्छे लेखक नहीं। राजेन्द्र यादव ने लेखन को गम्भीरता से लिया ही नहीं। लेखन के प्रति ईमानदार तथा एकाग्र नहीं हुए। उनके समकालीनों में मोहन राकेश, भीष्म साहनी और धर्मवीर भारती जिन्दा होते तो आज भी लेखन में सक्रिय होते। जैसा कि कमलेश्वर आज तक हैं। लेखन में जीना और बात है, जो राजेन्द्र यादव कर रहे हैं। लेखन नहीं कर रहे। पिछले दिनों उनकी एक किताब आई है 'मुड़ मुड़कर देखता हूं'। सितम्बर-अक्तूबर, 2002 पुस्तक वार्ता के अंक में राजेन्द्र यादव की एक टिप्पणी कथा-कथ्य शीर्षक से छपी है। इसमें राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि स्थगित कहानियां लिखने की हिम्मत नहीं पड़ती। राजेन्द्र यादव एक प्रखर सम्पादक चिन्तक एवं वक्ता हैं। परन्तु जहाँ उनके अपने लेखन की बात आती है वह भ्रमित होते हुए जान पड़ते हैं। अपनी कहानी 'हासिल' के बारे में कहते हैं—"वो एक महान् प्रसिद्ध प्रतिष्ठित, पूज्य लेखक हैं। लेकिन व्यक्तिगत रूप से अपनी कुछ कुंठाओं का, अतिरिक्त भावनाओं का शिकार हैं। यह कहानी अपने आपके रिजेक्शन की कहानी है। नई पीढ़ी के माध्यम से हमने उस बूढ़े को उस जगह रिजेक्ट किया है, जहाँ सामान्यतः हिन्दी का लेखक नहीं करता। यानी, संभोग करने की कोशिश करता है और वहीं स्खलित हो जाता है। यह मुझे बहुत प्रतीकात्मक लगता है। उसका स्खलित हो जाना, शक्ति का क्षय हो जाना। एक ऐसी शक्ति को वह पाले बैठा है जो कहीं सार्थक नहीं होगी।"

मेरा मानना है कि इसमें प्रतीकात्मक कुछ भी नहीं है। कहानी न लिख पाने का सम्बन्ध शारीरिक स्खलन से नहीं हो सकता। एक सामान्य युवा व्यक्ति भी परिस्थिति विशेष अथवा उत्तेजना में कभी-कभी जल्दी स्खलित हो जाता है। और मेरे जैसा पेंसठ वर्ष का आदमी भी कुछ पिल्ज़ की मदद से किसी भी जवान लड़की को घण्टों उलझाए रख सकता है। यह विषयान्तर है। मर्म की बात यह है कि किसी प्रौढ़ प्रतिष्ठित अथवा पूज्य लेखक को अपनी कुंठा और सीमाओं का अतिक्रमण करना होता है। अहम् बात यह है कि आप अपने उद्देश्य से कहीं भटक तो नहीं गए। आप अपने समय का यही उपयोग करने की बजाय किन्हीं सरलीकरण की वृत्तियों का शिकार तो नहीं हो गए।

इसी लेख में राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि अपने समय के सन्दर्भ की कहानी है देवदास। मैं आज उसकी भावुकता, उसके जीवन से ऊपर आकर उस समय के सन्दर्भ में उसको समझने की कोशिश करता हूँ। वो आखिर अपने समय में था क्यों? क्यों उसके भीतर एक आत्महंता भावना आई। क्यों वह अपने समय से नहीं लड़ा? यह बात मैं आज पूछता हूँ। अपने ढंग से चीजों को विश्लेषित करने की कोशिश करता हूँ। मैंने पुरानी बहुत-सी रचनाओं को इस तरह से देखने की कोशिश की है। समय का दबाव हमेशा रहा ही है। देवदास वाला लेख लिखकर मुझे एक कहानी लिखने का-सा सुकून मिला।

मैं नहीं मानता कि यह सुकून कोई सुकून है। वह वाइकेरियस पलेज़र है अर्थात् प्रतिस्थानिक सुख जिससे किसी भी रचनाकार को बाहर आना ही होता है। पीठासीन हो जाने और बड़ी-बड़ी बातें करने से बड़ा लेखन नहीं होता। बड़ा लेखन करने की इस समय एक ही शर्त है। जब आपकी एकाग्रता भंग हो चुकी है अथवा आप किसी कुंठा का शिकार हो चुके हैं। वह शर्त है बड़ा पढ़ने की। छः महीने के लिए अपने वर्तमान को काट फेंकने और मध्यवर्गीय फालतू हो चुके वातावरण से कटकर क्लास्किस के साथ गायब हो जाइए। चमत्कार होगा ही। इसकी भी जरूरत नहीं है। हमारे जीवन का आम उद्देश्य क्या है? सुख और संवेदना की खोज। जब ऐसे उपकरण हमें मुहैय्या है कि हम सुख में जी रहे हैं। सभी सुविधाएँ हैं, नाम भी है तो अन्य बातें गौण ही रहने दें।

इस लेख की समाप्ति मैं राजेन्द्र भाई के एक कथन के साथ करना चाहता हूँ। मई 1970 की सारिका में राजेन्द्र यादव का साक्षात्कार जो मैंने ही लिया था। उसमें राजेन्द्र भाई कहते हैं—"जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत मामला है, मैं समझता हूँ जो स्वय को नकार सकता है वही प्रगति भी कर सकता है। मेरा समूचा लेखन अपने आपको अतिक्रमित किए जाना है। अतः खतरे की कोई बात नहीं।

मेरा लेखन सचमुच मेरा अपना युद्ध क्षेत्र है। रण क्षेत्र से लौटा हुआ सिपाही आपको क्या बताए? वह जो बताएगा, उससे वास्तविक स्थिति से आपका साक्षात्कार हो पाना असम्भव है। रचना प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करना सम्भव ही नहीं—कैसे लिखा, क्या उपकरण, कैसी परिस्थितियां, क्या जैनयुन है, कहाँ मैंने कल्पना

की, यह सब मेरे लिए कैमरे में बन्द फिल्म जैसा ही है, जो केवल कागज पर ही एक्सपोज होगी। हाँ, लेखन के वातावरण और माहौल की बात की जा सकती है।

मेरा भी मानना है कि खतरे की कोई बात नहीं। हमें अपने काम में लगे रहना है। राजेन्द्र यादव से मैंने अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों का सम्मान करना सीखा। यह बात उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखी थी और मैंने गुरुमन्त्र की तरह पल्ले बाँध ली। वह आब्जर्व करते हैं। प्रतिक्रिया नहीं देते। यह भी मैंने उनसे सीखा। वास्तव में राजेन्द्र यादव एक लिविंग लीजेंड हैं। इसीलिए उनके चारों ओर भीड़ लगी रहती है—युवा लड़के-लड़कियों की। कुछ न कुछ सीखने के लिए।

लेखक का चेहरा : राजेन्द्र यादव

भारत भारद्वाज

हिन्दी के आधुनिक लेखकों में, जिस एक लेखक ने लगातार पिछले 50 वर्षों में सबसे ज्यादा अपना चेहरा उघाड़ा है, राजेन्द्र यादव हैं। उनकी मानसिकता पूरब और पश्चिम के मेल से बनी है। पश्चिमी लेखकों को उन्होंने कुछ ज्यादा पढ़ा और पूरब में समय के पहले वे पैदा हो गए। प्रखर बौद्धिकता एवं तेजस्विता के बावजूद उनको न यह समाज सहजता से ग्रहण कर रहा है और न परिवार। यदि आज वे प्रेमचन्द का 'हंस' 17 वर्षों से निकाल रहे हैं और अपने सम्पादकीय से विवादास्पद बन रहे हैं तो यह भी सर्जनात्मक काम है क्योंकि वे लगातार फासिस्ट शक्तियों से जूझ रहे हैं। अभी-अभी उन्हें 'हनुमान' पर लिखे अपने सम्पादकीय के कारण लखनऊ की निचली अदालत से हाजिर होने का 'सम्मन' मिला है। यह छोटी बात नहीं है कि आज हिन्दी संसार 'हंस' के उनके सम्पादकीय को गम्भीरता से लेता है। हिन्दी के एक महत्त्वपूर्ण आलोचक की राय में राजेन्द्र यादव मूलतः हिन्दी के 'जेनुइन' लेखक हैं, 'फेक' या बने हुए लेखक नहीं। उनके पीछे उनका लम्बा लेखकीय अनुभव है जिसका विस्तार लम्बे कालखण्ड तक फैला है। इसलिए हैरानी की बात नहीं कि हिन्दी के पाठक उनकी गाली को भी बर्दाश्त करते हैं।

28 अगस्त, 1929 ई. को आगरा में जन्मे और 1951 ई. में आगरा विश्वविद्यालय से एम. ए. हिन्दी में प्रथम श्रेणी में प्रथम, स्वर्णपदक प्राप्त राजेन्द्र यादव ने स्वतन्त्र लेखन का रास्ता चुना। लेखन में किसी की गुलामी उन्हें पसन्द नहीं थी। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता उनके लिए अहम् बात थी। राजेन्द्र यादव हिन्दी के सबसे बड़े दुस्साहसी लेखक हैं। उन्हें 'सच' कहना ही नहीं, सार्वजनिक रूप से उसे स्वीकार करना भी आता है। अपने लगभग आत्मकथ्य 'मुड़-मुड़ के देखता हूँ' के पृ. 116 पर उन्होंने मीता के प्रसंग में लिखा है, 'हाँ मेरी और मन्नू की शादी हो गई तो उसने सारे पत्र लौटा दिए,..मैं आज भी समझ नहीं पा रहा कि इसके बाद भी अनेक बार जब हमने आपस में शादी की तारीखें तय कर लीं और उसने अपना एक घर होने के सपने सजा लिए, तो मेरे ऐन मौके पर खुद के पीछे हट जाने के पीछे क्या बाधा रही होगी...अपने इस 'विश्वासघात' ने शायद मुझे ही बार-बार तोड़ा है।' यह मात्र एक उदाहरण है। राजेन्द्र यादव के प्रेमी का।

राजेन्द्र यादव नई पीढ़ी के सबसे चहेते लेखक एवं सम्पादक हैं। अक्षर का दफ्तर दीवाने खास नहीं, दीवाने आम है। राजेन्द्र यादव की स्मृति गजब की है। वे कहते हैं—'मैं तो आज भी अपने को राष्ट्रीय स्तर का आलसी, भुलक्कड़ और आराम तलब मानता हूँ।' ऐसे आदमी की बात पर कौन विश्वास करेगा जो सुबह चार बजे जगकर साहित्य का सर्वनाश करने की रणनीति बनाता है। मैं क्या, राधाकृष्ण प्रकाशन के स्व. ओमप्रकाश जी ने भी भोर में 'गार्लीमार' के इस पड़ोसी से बात की है और हर बार उसे 'सजग' और 'मुस्तैद' पाया है सर्वनाश करने की राह पर। कौन कहता है कि राजेन्द्र यादव का लिखना रुक गया? 'हंस' के सम्पादकीय के अलावा स्त्री-विमर्श के साथ धड़ाधड़ संस्मरण वे लिख रहे हैं। यदि उनकी पीढ़ी के समकालीनों की यह पीड़ा है कि राजेन्द्र यादव लगातार विवाद या चर्चा में रहते हैं तो यह उनकी व्यक्तिगत कुंठा है।

राजेन्द्र यादव का पहला उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' 1953 में छपा था बाद में 'सारा आकाश' नाम से 1959 में। लेकिन उस उपन्यास के दोनों केन्द्रीय पात्र समर और प्रभा अपने तिलिस्म, रोमांस और फंटेसी के साथ अब भी उनके भीतर जीवित हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता संतति' पर 'आलोचना' में वे लम्बा लेख न लिखते। लगभग 50 वर्षों से जाननेवाले इस लेखक से मेरा पत्राचार तो होता रहा था लेकिन उनसे मेरी पहली भेंट हुई 1991 अप्रैल में।

एक दिन हम सब 'अक्षर' में बैठे हुए थे। कवि केदारनाथ सिंह ने राजेन्द्र यादव पर बेलाग टिप्पणी की—अरे, ये तो 'जालिम लोशन' हैं। राजेन्द्र जी ने चिर-परिचित ठहाका लगाया। सचमुच 'हंस' का उनका सम्पादकीय जालिम लोशन ही है—समाज के दाग, खुजली को मिटानेवाला। हिन्दी में नई कहानी आन्दोलन का मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव एवं कमलेश्वर ने सूत्रपात किया और डॉ. नामवर सिंह ने 'नई कहानियाँ' में अपने स्तम्भ 'हाशिए पर' से उसे परवान चढ़ाया। नई कहानी के दौर में राजेन्द्र यादव की तीन कहानियाँ खूब चर्चित हुई—'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल' एवं 'एक कमजोर लड़की की कहानी'। एक प्रसंग 'ट्रेन छूटने के बाद पूरा कलकत्ता मेरे साथ आया है।' (पृ. 40)

पिछले दिनों उनका 74वाँ जन्मदिन धूमधाम से मनाया गया। बिना किसी 'निमित्त' के। राजेन्द्र यादव द्वारा लिखित और सम्पादित पुस्तकों की संख्या लगभग 50 है। ऐसी स्थिति में भी यदि आज वे अपने पुराने मित्रों एवं बांधवी को उसी तन्मयता एवं राग के साथ याद करते हैं तो हैरानी की बात नहीं। सचमुच वे हिन्दी के ययाति हैं युवा लेखिकाओं एवं लेखकों के जीवन-यौवन से लगातार रस ग्रहण करते रहे-भरे। राजेन्द्र यादव के सौन्दर्य-शास्त्र पर अलग से विचार करने की जरूरत है।

लेकिन इसी राजेन्द्र यादव का एक दूसरा चेहरा भी है। यदि वे साहित्य की दुनिया में नहीं आए होते तो विश्व के सबसे बड़े अपराधी होते क्योंकि उनकी मानसिकता मूलतः अपराधी की ही है। उनकी दिलचस्पी दुनिया के सबसे बड़े अपराधियों के लेखन में है चाहे वह चवन्निया रंडी की बेटी—लिलियन रोथ की पुस्तक 'आइ विल क्राई

ट्रमींगे' हो या चार्ल्स शोभराज, फूलन देवी या हर्षद मेहता। अन्यथा वे 'इंपोस्टर' वाली कथा न गढ़ते। राजेन्द्र यादव जटिल ही नहीं, ग्रन्थिल व्यक्तित्व हैं, जिसे समाजशास्त्र के किसी पैमाने से नहीं, अपराधशास्त्र के तंत्र से ही समझा जा सकता है। वस्तुतः राजेन्द्र यादव जिस धातु से बने हैं उसमें सबसे प्रमुख तत्त्व है—'स्वयं' धातु। सच पूछिए तो वे किसी के भी नहीं, खुद अपने के भी नहीं।

बेशक, इस चेहरे में पश्चिम का गहरा रंग है, फिर भी कहीं यह चेहरा खांटी हिन्दुस्तानी है राजकपूर के 'मेरा नाम जोकर' के नायक की तरह। आगरे का हकीर और फकीर। 'हो सकता है, मेरा सारा लेखन और सारी जिन्दगी एक मीडियाकर की जीवनी बनकर रह गई हो मगर मेरे माध्यम से कुछ महान और विशिष्ट हो रहा है—इस मुगालते के बिना जब एक क्लर्क तक नहीं जी सकता मैं तो फिर भी लेखक हूं...।' कहने की जरूरत नहीं राजेन्द्र यादव मुगालते में नहीं हैं। 'हंस' के माध्यम से वे जिस कथा-पीढ़ी का निर्माण कर रहे हैं, उसी से भविष्य का इतिहास बनेगा।

('समयमान' से साभार)

राजेन्द्र यादव के 'पंज पियारे'

ब्रह्मराक्षस

पाठको, मेरा यह लेख पढ़कर आपको हैरानी तो नहीं होनी चाहिए लेकिन यदि कहीं आप हैरान हुए तो यह मेरा दुर्भाग्य है क्योंकि यह विषय पहले न कभी परसाई को सूझा था और न ही ज्ञान चतुर्वेदी को। मैं परसाई जी की अवमानना करने की हिमाकत नहीं कर सकता। मेरे जानते परसाई जी राजेन्द्र यादव को जितना जानते थे, ठीक ही जानते थे। परसाई जी ने कहीं लिखा है—"फोन की घंटी बजी। मैंने रिसीवर उठाया। उधर से कोमल एवं मृदुल आवाज आई—परसाई जी हैं। मैंने कहा—जी मैं परसाई बोल रहा हूँ।" इस आवाज पर राजेन्द्र यादव लुट जाते। दोस्तो, 'पंज पियारे' सिक्ख पंथ का निर्दोष हिरावल दस्ता होता है। यदि आपको साफ-साफ हिन्दी साहित्य में आज 'हंस' सम्पादक राजेन्द्र यादव का पंज पियारे नहीं दिख रहा है तो आपकी अनुमति से डरते-डरते उसकी एक हल्की-सी झलक मैं आपको दिखाना चाहता हूँ। यह प्रकाशक राजेन्द्र यादव के पंज पियारे की झलक नहीं है। उनके 'हंस' सम्पादक की झलक है। जैसा आप जानते हैं कि उनके नाजुक कंधों पर एक तरफ यदि दलित है तो दूसरी तरफ स्त्री। आप चुप क्यों हैं या तो मेरी बात का समर्थन कीजिए या विरोध, नहीं तो ताली बजाइए। क्या आपको ऐसा लगता है कि 45 साल का यह जवान (काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'अपना मोर्चा' का ज्वान) दोनों उत्तरदायित्व ढोने के लिए सक्षम और समर्थ है? आपकी बात मैं नहीं जानता लेकिन मैं तो ऐसा महसूस करता हूँ कि अब इनके नाजुक कंधों पर इतना ज्यादा भार नहीं डालना चाहिए खासकर तब जब इनके इर्द-गिर्द पंज पियारे का जबर्दस्त घेरा हो। पाठकों, मैं फिर आपसे कहता हूँ अपनी भूमिका को आप ओझल न करें। आखिर हंस आपके भरोसे निकलता है इन पंज पियारे के भरोसे नहीं। पंज पियारे तो 'हंस' में उसी तरह कभी कौंध जाते हैं जिस तरह बरसात के दिनों में बादलों की गड़गड़ाहट के बीच में बिजली या तुलसीदास की पदावली में दादुरध्वनि। चाहता तो मैं हूँ इसी स्तर पर राजेन्द्र यादव से पूछना चाहिए कि कालिदास का 'मेघदूत' पढ़कर आपको कैसा लगा? या फिर नागार्जुन की कविता 'बादल को घिरते देखा है' क्योंकि इधर अपने साक्षात्कार में कविता विरोधी होने के आरोप का वे लगातार खण्डन करते रहे हैं। चलिए, मैं भी यह मानता हूँ कि कभी कवि रहे राजेन्द्र यादव 'कण' से भले कविता की संवेदना

छूट गई हो लेकिन कविता नहीं (पूछो विक्रमादित्य से कि सम्पादक कविता नहीं)? इसलिए आपको आपत्ति नहीं होगी यदि अभी भी मैं उनके कवि हृदय की सराहना करता हूँ।

मुझे मालूम है शीर्षक देखकर आप हैरान हो रहे होंगे कि ब्रह्मराक्षस आपको बहका रहे हैं। मूल विषय पर नहीं आ रहे हैं। आप ठीक कह रहे हैं। बल्कि मुझे भी लग रहा है कि जन्तर-मन्तर के भूल-भलैये में पाठकों को उलझा रहा हूँ, अब सीधा-विमर्श। राजेन्द्र यादव के पंज पियारे के नाम हैं—संजीव, शिवमूर्ति, मैत्रेयी पुष्पा (दूर्वा सहाय), प्रेम कुमार मणि, भारत भारद्वाज।

बा मुलाहिजा होशियार, शुरू करूँ यह अफसाना? न यह अफसाना हैरतअंगेज है और न ही कोई धोखाधड़ी। सब कुछ साफ-साफ है। पहले पंज पियारे कहीं बंगाल में रहते थे लेकिन 'हंस' सम्पादक ने उन्हें ऐसा बना दिया है कि लगातार दिल्ली में रहते हुए प्रतीत होते हैं ठीक परमानन्द श्रीवास्तव की तरह। हिन्दी साहित्य में संजीव की पहचान 'सारिका' द्वारा पुरस्कृत 'अपराध' कहानी से हुई थी। तब से संजीव के न केवल अनेक उपन्यास निकले हैं बल्कि कहानी संग्रह भी, जो चेतावनियाँ और सावधानियों से भरी हुई हैं। यह दुःखद बात है कि एक लेखक लगातार लिखता चला जा रहा है लेकिन हिन्दी में उसे गम्भीरता से नहीं लिया जा रहा है। इनका उपन्यास 'जंगल जहाँ से शुरू होता है' में इनके लेखन का या फिर उपन्यास का कोई प्रस्थान बिन्दु नहीं था। भले इन्दु शर्मा अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार पाकर वे गदगद हुए। मुझे तो याद आती है 'इण्डिया टुडे' में इस पुस्तक पर प्रकाशित किसी आलोचक की समीक्षा। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध आलोचक रेमंड विलियम्स ने लिखा है कि आलोचक को छिद्रान्वेषी ही नहीं होना चाहिए, उसे कृति के पास से गुजरना चाहिए। इस बात में सच्चाई है लेकिन संजीव की कोई ऐसी कृति तो हो। राजेन्द्र यादव प्रायः अपने सम्पादकीय में अपने पंज पियारे को याद करते रहते हैं। भले हिन्दी साहित्य उसे याद करे या न करे। अभी-अभी संजीव का सचमुच एक ऐसा उपन्यास—'सूत्रधार' आया है जो बिहार के लोक संस्कृति गायक या शेक्सपियर भिखारी ठाकुर पर केन्द्रित है। उस पर चर्चा होनी ही चाहिए। दिक्कत यह है कि संजीव के अब तक के लेखन की एकमात्र यही उपलब्धि है जिसकी सराहना सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य कर रहा है। देर-सबेर राजेन्द्र यादव के इस पंज पियारे को स्वीकृति मिली। वैसे यह सुखद बात है कि राजेन्द्र यादव ने 'हंस' के नवम्बर अंक में 'सूत्रधार' पर एक साथ 3 समीक्षाएँ प्रकाशित की हैं। उनका पंज पियारा अब जाकर दमदार हुआ है।

शिवमूर्ति, जो राजेन्द्र यादव के दूसरे पंज पियारे हैं, के लेखन का क्षेत्र बहुत सीमित है शिल्प और संवेदना के स्तर पर भी। राजेन्द्र यादव की सिफारिश से मणि कौल ने शिवमूर्ति की कहानी 'तिरिया चरितर' पर फिल्म बनाई। वैसे यह सम्भवतः न राजेन्द्र यादव को मालूम है और न शिवमूर्ति को कि प्रेमचंद की एक कहानी इसी शीर्षक से 'जमाना' में जनवरी, 1913 में छपी थी। अब गौर करने की यह बात यह है कि प्रेमचंद की इस कहानी और शिवमूर्ति की कहानी की संवेदना में कितना फर्क

है। शिवमूर्ति की कहानियों का रचना संसार और उनकी कहानियों का सरोकार न केवल संकीर्ण है बल्कि बहुत छोटा है। सही बात तो यह होगी कि उनकी कहानी प्रायः रेणु की अविकल प्रतिलिपि लगती है। संवेदना के स्तर पर राजेन्द्र यादव का यह दूसरा पंज पियारा रेस के उस घोड़े की तरह है जो कभी मैदान जीत नहीं सकता बेशक हार जरूर सकता है।

मैत्रेयी पुष्पा ने हिन्दी कथा साहित्य में अपने लेखन से बिल्कुल नई लकीर खींची है लेकिन यदि रवीन्द्र कालिया यह कहते हैं कि 'ग्रामीण औरतों के सेक्स प्रदर्शन के अलावा इनके उपन्यासों में और है क्या' तो उनके इस तर्क में दम है। वैसे तो सिक्ख पंथ के पंज पियारे में किसी स्त्री का प्रावधान नहीं है लेकिन ये तो राजेन्द्र यादव के पंज पियारे हैं यदि उनके पंज पियारे में कोई स्त्री नहीं होगी तो उनके स्त्री विमर्श का क्या होगा? अब तक राजेन्द्र यादव से किसी ने यह सवाल नहीं पूछा है कि गायत्री मन्त्र के जाप की तरह अपने सम्पादकीय में या दिल्ली में या फिर दिल्ली से बाहर की गोष्ठियों में कितनी बार उन्होंने मैत्रेयी जाप किया है? उनकी त्रासदी यह है कि साहित्यिक दुनिया में उनके अनुमान प्रायः गलत होते हैं। एक नीच त्रासदी यह भी है कि राजेन्द्र यादव अब तक हारने वाले घोड़े पर ही दाँव लगाते रहे हैं। यह विडम्बना ही है कि मैत्रेयी पुष्पा राजेन्द्र यादव के बार-बार दिए साक्षात्कार न ठीक से समझ सकीं न अपने को उनके जाल से बाहर निकाल सकीं। गौर करने की बात यह है कि साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मैत्रेयी पुष्पा के 'अल्मा कबूतरी' को मिलना चाहिए था दुर्भाग्यवश अलका सरावगी के 'कलिकथा' को मिला। मैत्रेयी के लेखन में सर्जनात्मकता की चिनगारी ही नहीं, विस्फोटक आग भी है जिसका उदाहरण 'अगनपाखी' है, उसे समझने की जरूरत है। किसी की सिफारिश की जरूरत नहीं। इसे मैत्रेयी का दुर्भाग्य कहूँ या सौभाग्य कि वे राजेन्द्र यादव के पंज पियारे के घेरे में आ गई।

शिवरानी देवी ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद घर में' में लिखा है कि प्रेमचंद 'हंस और जागरण' निकालते वक्त भारी आर्थिक संकट से गुजर रहे थे। अभी राजेन्द्र यादव ने एक साक्षात्कार में कहा 'प्रेमचंद के सामने वैसी दिक्कतें नहीं थीं जो उनके द्वारा सम्पादिन 'हंस' के सामने हैं।' राजेन्द्र यादव द्वारा लिखित लेख 'प्रेमचंद की विरासत' को लेकर पहले ही अनेक सवाल या विवाद उठ चुके हैं लेकिन राजेन्द्र यादव अपने सम्पादकीय (नवम्बर 2001) में 'प्रेमचंद से सौ साल आगे' में डेविड रूबिन द्वारा प्रेमचंद की 30 कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद 'द वर्ल्ड ऑफ प्रेमचंद' को जिस तरह शेडो प्ले देखने की तरह मानते हैं या जानते हैं, हैरानी की बात है। पहली बात तो यह कि अनुवाद की अपनी दिक्कतें हैं फिर भी एक विदेशी भाषा के अनुवाद को सहृदयतापूर्वक देखने की जरूरत होती है। इस सच्चाई के बावजूद कि प्रेमचंद और डेविड रूबिन में न सिर्फ कालखण्ड का फर्क है बल्कि दो देशों की संस्कृतियों का भी फर्क है। लेकिन यह ऐसा फर्क तो बिल्कुल नहीं है जिसे हम समझ ही नहीं सकें। प्रकाशक राजेन्द्र यादव की एक दिक्कत यह भी थी जैसा अमूमन हर प्रकाशक, यदि लेखक हुआ तो होती ही है कि वह साहित्य की हर विधा में दखल देते हुए अपने प्रकाशन को

चमकाना चाहता है। हमारे लिए हैरानी की बात नहीं होनी चाहिए कि राजेन्द्र यादव भी कहानी, उपन्यास की आलोचना की भूमिका में अक्षर प्रकाशन में उतरे थे। यह अलग बात है कि उनकी मौलिक पुस्तकों की संख्या में ऐसी पुस्तकों से वृद्धि हुई लेकिन कोई उनको आलोचक मानने को तैयार नहीं हुआ। कहने की जरूरत नहीं कि रचनाकार की यह यात्रा वस्तुतः एक भटके हुए यात्री की यात्रा थी। प्रमाण सामने है कि आज राजेन्द्र यादव ने अपने कवि से ही नहीं, कथा आलोचक से भी अपना पल्ला झाड़ लिया है। रचनात्मक लेखन तो उनसे कब का छूट चुका। अब बस वे 'हंस' सम्पादक हैं।

पाठक, कृपया मुझे माफ करें (मैं पीया हुआ नहीं हूँ) यदि पंज पियारे की सूची में मैं थोड़ा उलटफेर करूँ। अन्तिम नाम भारत भारद्वाज को चौथे नाम पर डालूँ। राजेन्द्र यादव का यह पंज पियारा उनके रग-रंग से ही नहीं जुड़ा है बल्कि उनकी मुक्ति की आकांक्षा से भी। उनके अखाड़े में लगभग 15 वर्षों से खेला यह खिलाड़ी मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो 'अबोधगम्य' है, कभी उनको गुदगुदाता है और कभी बिल्कुल चुपचाप शान्त हो जाता है। कहीं अपने होने की आहट तक नहीं देता। पाठको, यदि आप मुझ पर विश्वास करें तो इस चौथे पंज पियारे के बारे में रहस्य की एक बात में बताऊँ यह भी संयोग ही है कि यह उनके पंज पियारे में शामिल हो गया। अन्यथा यह तो स्वतन्त्र क्या स्वच्छन्द व्यक्ति है, निडर और निर्भय। बल्कि बेहद उदण्ड भी। लेकिन फिर भी राजेन्द्र यादव का मुँहलगा यह पंज पियारा थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा है। कभी-कभी यह पंज पियारा गुरुदेव से टकरा जाता है जो उन्हें अच्छा नहीं लगता। मेरी सलाह तो यही है कि राजेन्द्र यादव इस पंज पियारे को रिप्लेस करके दूसरे पंज पियारे को ढूँढ़ लें अन्यथा यह खतरनाक पंज पियारा कभी उनका वध कर देगा।

उनके अन्तिम पंजपियारे 'ढलान' से उतरने की कोशिश करते हैं लेकिन बीच में निर्मल वर्मा 'ढलान से उतरते हुए' उन्हें रोक लेते हैं। राजेन्द्र यादव कहते हैं कि—'हंस' में पिटी-पिटाई लीक से हटने की उन्होंने कोशिश की पहले विभूति नारायण से अतिथि सम्पादकीय लिखवाकर। लेकिन वे गच्चा खा गए जब प्रेमकुमार मणि जैसे साधारण लेखक से उन्होंने हंस का 'बड़े घर की बहू' अतिथि सम्पादकीय लिखवाया। क्या राजेन्द्र यादव के जातीय समीकरण पर कोई टिप्पणी करने की जरूरत है? यदि कोई जरूरत यहाँ है तो प्रेमचंद की कहानी 'बड़े घर की बेटी', जो 'जमाना' (दिसम्बर 1910) में छपी थी, को याद करने की। राजेन्द्र यादव को अपना यह पंज पियारा इतना प्यारा है कि उसके द्वारा लिखित अंट-शंट रिव्यू के नाम पर छापकर वे गदगद् होते हैं। उदाहरणस्वरूप 'हंस' नवम्बर, 2002 के अंक में पटना के एक भारतीय प्रशासनिक अधिकारी की पुस्तक की रिव्यू छपती है तो दिसम्बर 2002 के अंक में प्रेमसिंह की पुस्तक 'क्रान्ति का विचार और हिन्दी उपन्यास' की। इस पंज पियारे का सुरताल कहाँ राजेन्द्र यादव से मिलता है आप खुद विचार करें। विचार करने की बात यह भी है कि 'हंस' सम्पादक जिस तरह इन्हें महत्त्व देते हैं उसके लायक यह है भी

या नहीं? विस्तार भय से कोष्ठक में आए अन्य पंज पियारे पर मैं विचार नहीं कर रहा हूँ। लेकिन कम-से-कम उनमें तीन-चार तो अवश्य विचारणीय हैं—रामशरण जोशी, रवीन्द्र त्रिपाठी, पंकज बिष्ट और प्रभा खेतान।

पाठको, आप मुझे माफ करें इस धृष्टता के लिए। उस पंथ के अन्तिम गुरु कोई और नहीं राजेन्द्र यादव ही हैं।

सत श्री अकाल!

जो बोले सो निहाल!!

('दुनिया इन दिनों' से साभार)

शिकवे-शिकायत

राजेन्द्र यादव/कमलेश्वर

1 सितम्बर, 2002 को दुष्यंत कुमार की याद में आयोजित एक कार्यक्रम में मेरे मित्र कमलेश्वर ने कहा कि 'मैं हमेशा से मानता रहा हूँ कि राजेन्द्र मेरे अलेखक मित्र हैं। लेखन से राजेन्द्र की कोई संगत ही नहीं रही। राजेन्द्र के विचार हमेशा से विचलित रहे हैं। मुझे उनकी साहित्य की समझ पर सन्देह है। काफी दिनों से उन्होंने कुछ लिखा नहीं। चूँकि 'हंस' के सम्पादक हैं इसलिए मजबूरी में सम्पादकीय लिख रहे हैं, जिसका कोई सामाजिक मूल्य नहीं है।' मेरा मानना है कि कमलेश्वर कुछ भी कह सकते हैं। उनसे हम मंच पर कोई विचारवान, गहरी या गम्भीर बात की उम्मीद नहीं करते हैं। वहाँ वो अक्सर श्रोताओं को लुभानेवाली बातें करते हैं। कमलेश्वर ऐसी जगहों पर भी, जहाँ उन्हें नहीं होना चाहिए—वहाँ जाते हैं। वहाँ वे अवसर के अनुकूल बातें करते हैं इसलिए मैं उनकी किसी भी बात को गम्भीरता से नहीं लेता। जहाँ तक मुझे लेखक या अलेखक मानने की बात है, तो यह उन्हीं से पूछा जाना चाहिए कि क्या वो, मेरे रिश्तेदार हैं? पड़ोसी हैं या उसी शहर के हैं जिसका मैं हूँ? बिना किसी 'कॉमन प्वाइंट' के किसी गैर व्यक्ति से भेंट कैसे हो गई? हमारे और उनके बीच में 'कॉमन' क्या है? कमलेश्वर से मेरा परिचय उस समय हुआ जब वे और मार्कण्डेय उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के सम्पादन में निकलने वाले संकलन 'संकेत' में काम कर रहे थे। उसमें मेरी कहानी 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' छपने गई थी। उसी कहानी पर उसने काफी तारीफ करते हुए मुझे पहला पत्र लिखा था। यही हमारे परिचय का आधार था। जिस कहानी के लिए उन्होंने मुझे पत्र लिखा था और कहानी की तारीफ की थी, अब चाहें तो वे इसके लिए अफसोस कर सकते हैं अपनी साहित्यिक समझ पर। वे एक मंच पर एक बात कहते हैं और दूसरी जगह जाकर कुछ और कहते हैं। यह अन्तर्विरोध क्यों है।

कमलेश्वर यह आरोप लगाते हैं कि मैं लिख नहीं पा रहा हूँ और ऐसे चाटुकारों से घिरा हुआ हूँ जिनके बीच रहकर सिर्फ सम्पादकीय ही लिखा जा सकता है जिसका कोई सामाजिक मूल्य नहीं है। मैं लिख नहीं पा रहा रहूँ तो यह जो सम्पादकीय है उसे लिखकर कोई दूसरा आदमी दे रहा है क्या? वैसे मैंने इसको लेकर के एक किताब ही लिखी है। 'न लिखने का कारण'—तो यह भी तो मैंने लिखकर ही बताया है। वह एक रचना-विरोधी, गैर-रचनात्मक परिवेश की पड़ताल करते हुए मैंने लिखी थी। मैंने ये तो किसी से वादा

किया नहीं कि मैं सिर्फ कहानियाँ लिखूँगा। मैं जो भी लिख रहा हूँ वह रुकना नहीं है। मान लीजिए कल को मैं नाटक लिखने लगूँ तो कहेंगे साहब, कहानियाँ तो लिखते नहीं, नाटक लिख रहे हैं। यह भी तो पूरी वैचारिक एकाग्रता चाहते हैं। यह मुझे ज्यादा प्रभावशाली और सार्थक लगता है। मेरठ की उसी सभा से कमलेश्वर ने यह पूछा है कि राजेन्द्र या कोई और मुझे यह बताए कि मैंने कब किसी के सम्बन्धों को कैश करने की कोशिश की? यह बात काल्पनिक है। कमलेश्वर मुझे बताए कि ऐसा मैंने कहाँ कहा है? उसे एक पुरानी कहानी गढ़कर अपने को महान् बनाने की पुरानी आदत है। असल में दिक्कत यह है कि कमलेश्वर 'महानता ग्रन्थि' के शिकार हैं। उनका 'ऑब्सेशन' यह है कि वे अपने को संसार का सबसे महान् व्यक्ति और लेखक समझते हैं। इसके लिए मैं तो कुछ नहीं कह सकता। ऐसा, जैसा कि वे कहते हैं—मैंने कभी नहीं कहा। खासतौर से कमलेश्वर के साथ दिक्कत यही है कि वे 'आत्ममुग्धता' के शिकार हैं।

दलित साहित्य के सन्दर्भ में कमलेश्वर का यह मानना है कि स्वयं महाराष्ट्र में भी, जहाँ दलित साहित्य का जन्म हुआ, इस वर्गीकरण को स्वीकार नहीं किया गया। मुझे नहीं मालूम कि यह उन्होंने कहाँ से पढ़ लिया? कभी कोई अखबार या पत्रिका पढ़ते हैं वे? या उनसे आकर मिलते हैं कोई दलित लेखक? मुझसे आकर रोज दस लोग मिलते हैं। किसने कह दिया कि वहाँ दलित साहित्य और गैर दलित साहित्य में विभाजन नहीं है? इस तरह की जो गलत बयानबाजियाँ हैं इससे लोगों के बीच में भ्रम फैलता है। मैं इसके बारे में ज्यादा जानता हूँ कि असलियत क्या है। फरीदाबाद में बैठे-बैठे वे जो जी करता है बोलते रहते हैं। वे यह कैसे कहते हैं कि दलित साहित्य के सामने पहचान का संकट है। पहचान का संकट तो तब होगा जब विभाजन को स्वीकार नहीं किया जाएगा। आज अमेरिका में क्यों साहित्य अलग है। आखिर हम भौगोलिक आधार पर कहते हैं न कि ये पाकिस्तानी साहित्य, यह पोलिश साहित्य और यह अमेरिकन साहित्य है। चूँकि वे जो भोगते हैं उसे ही लिखते हैं इसलिए उसकी प्रामाणिकता है। जहाँ-जहाँ यह विभाजन है वहाँ तो उनकी एक पहचान है। पहचान का संकट तो तब होगा जब इस विभाजन को स्वीकार नहीं किया जाएगा। असल में बात यह है कि मैंने दलित साहित्य को लेकर के एक मुहिम छेड़ रखी है और उन्हें मेरा विरोध करना है इसलिए वे हर उस बात का विरोध करते हैं जिसका सम्बन्ध मुझसे है। हम जो भी कहेंगे उसका वे विरोध करेंगे। मैं अगर यह कहूँ कि कमलेश्वर महान् लेखक हैं तो वह फौरन कहेंगे कि कमलेश्वर से 'नीच लेखक' तो कोई है ही नहीं। उन्हें तो विरोध करने से मतलब है। उन्हें तो सच या झूठ में फर्क करने से मतलब है नहीं।

'हंस' निकालते हुए अठारह साल मुझे हो गए लेकिन मैंने तो कहीं कोई दल नहीं बनाया, लेकिन कमलेश्वर ने डेढ़ साल में अपने चारों ओर 'अकहानी' का एक दल बना लिया। मैं भी कर सकता था पर मैंने तो नहीं किया। मुझे वह बताएँ कि इतने दिनों में मैंने कौन-सा संगठन बना लिया, कौन-सा दल बना लिया या जो मेरे पास थे उनको लेकर कोई आन्दोलन खड़ा कर लिया। अगर स्त्री और दलित को लेकर के कुछ किया है तो उसके दूसरे नेता हैं। वो मेरा नहीं है। मैं उसमें सहयोगी भर

हूँ। आप बताइए हर साल कितनी पत्रिकाएँ आती हैं। 'हंस' भी प्रभावशाली पत्रिका है। क्या मैं अपने ऊपर ग्रंथ नहीं निकलवा सकता? लेकिन कमलेश्वर ने निकलवाया और मधुकर सिंह ने उसका सम्पादन किया। क्या मैं एक कोई आन्दोलन खड़ा नहीं कर सकता? लेकिन कमलेश्वर ने किया। मैं अपने चारों ओर शिष्यों की कतार लगाकर प्रशंसात्मक लेख नहीं लिखवा सकता? चूँकि मैं इन चीजों का विरोध करता रहा हूँ इसलिए मैंने ऐसा नहीं किया। जो मुझे सही लगता है, चाहे वह व्यक्ति हो, आन्दोलन हो, रचना हो या विचार हो, वह मैं करता हूँ।

कमलेश्वर ने कुछ दिनों पूर्व एक सभा में कहा था कि इन्दु शर्मा कथा सम्मान के लिए वे एक खास लेखिका को लेकर के 'लॉबिंग' कर रहे हैं। लगभग सब कुछ तय हो चुका है। मैं तो चुनौती देकर कहता हूँ कि कमलेश्वर बताएँ कि मैं किस कमेटी में हूँ? मैं तो किसी कमेटी में हूँ ही नहीं। उन्हें कल्पना में जो आता है वह बोलते रहते हैं। असल में सारी उम्र जो वे करते रहे हैं वही दूसरे को भी वह समझते हैं।

हिन्दी में और दिल्ली में तीन ऐसे बड़े (?) लोग हैं जो किसी न किसी वजह से चर्चा या विवादों में रहते हैं। इस गिनती में मैं क्यों आता हूँ, समझ नहीं आता। उनके पास सत्ता है। अशोक वाजपेयी आई. ए. एस. ऑफिसर रहे हैं। उनके पास सरकारी पैसा है। पता नहीं कितनी पत्रिकाओं के उन्होंने नए-पुराने अंक निकाले होंगे, पचासों कमेटियों में नामवर सिंह बैठे हैं। युनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं। वे जो चाहें कर सकते हैं। मेरे पास क्या है? अपने ही द्वारा अर्जित और अपने ही द्वारा संचालित एक पत्रिका है। मैं अगर चर्चा में रहता हूँ तो जाहिर है जो इनकी शक्ति है वह मेरी शक्ति नहीं है। न मैं किसी को पुरस्कार दिलवा सकता, न किसी को विदेश भेज सकता। मैं तो एक रहने की जगह तक किसी को नहीं दे सकता। एक लड़का पटना से आया है। उसने अन्तर्जातीय विवाह किया है। वे बेचारे परेशान हैं और मैं उन्हें रहने तक की जगह कहीं नहीं दिलवा पा रहा हूँ। मैं चाहकर भी नहीं कर पा रहा। इनमें से कोई इनके लिए कुछ भी कर सकता है। अशोकजी अपने यहाँ ही लगा लेते। उन्होंने बीसों लोगों को अपने यहाँ लगा रखा है। मैं अगर चर्चा में रहता हूँ तो अपने विश्वास या 'कॉनविक्शन' के कारण। मेरी और कोई शक्ति नहीं है। लेकिन इन लोगों के साथ ऐसा नहीं है। आदमी के तीन आयाम हैं धर्म, सत्ता और सेक्स। मैं इन तीनों ही बातों पर बिल्कुल अलग ढंग से सोचता हूँ इसलिए भी विवाद होता है। कमलेश्वर अटल बिहारी वाजपेयी और तस्लीमा नसरीन की रचनाओं को एक श्रेणी में रखते हैं। अब देख लीजिए उनकी समझदारी। अटल बिहारी वाजपेयी और तस्लीमा नसरीन में कोई तुलना ही नहीं है। अटल बिहारी वाजपेयी जो करते रहे हैं ताउम्र, तस्लीमा का पूरा लेखन उनके विरोध में है। अगर कमलेश्वर इसी तरह की साहित्यिक समझदारी रखते हैं तो फिर मेरा अलेखक होना ही अच्छा है।

उन्हें अलेखक कहा तो गलत क्या है?

मैं उन्हें उस समय से अलेखक कहता हूँ जब से उनकी रचनात्मकता या लेखन अवरुद्ध

हुआ है। वे लगातार इस बात की सफाई देते रहे हैं कि न लिखने का कारण क्या है, वे जब खुद न लिखने की वजह के पीछे तर्क पर तर्क पैदा कर रहे हैं और नहीं लिख रहे हैं तो ऐसे में अगर मैंने उन्हें अलेखक कहा तो इसमें क्या गलत है? इधर उन्होंने दलितों या स्त्री-विमर्श को लेकर के जो कुछ लिखा है उसमें कहीं कोई ताजगी नहीं है सब कुछ पढ़ा-पढ़ाया और पिटा-पिटाया है। जिसमें मौलिक सोच न हो उसे मैं लेखक नहीं मानता। राजेन्द्र ने जिस दौर में कहानियाँ लिखीं, उपन्यास लिखे, अच्छी रचनाओं का अनुवाद किया उस दौर में मैं उन्हें लेखक के रूप में स्वीकार करता हूँ लेकिन उसके बाद राजेन्द्र का मुझे कोई योगदान नहीं नजर आता—न तो विचार के क्षेत्र में न ही मौलिक उद्भावना के क्षेत्र में। जो मौलिक उद्भावनाएँ होती हैं वो कहाँ हैं राजेन्द्र के पास? बहुत दिन हो गए उन्हें लिखे हुए। अब वो दौर भूल जाने का है। वह पचास के आसपास का दौर है अगर आप सम्पादकीय को रचना कहते हैं तो आप कहते रहिए। मैं जो अखबारों में कॉलम लिखता हूँ उसे तो रचना नहीं कहता मैं? कोई नहीं कहता। उनसे ज्यादा तो नामवर सिंह ईमानदार हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि यह वाचिक परम्परा है। जो कि वास्तव में हमारे यहाँ रही है। कम से कम नामवर सिंह में यह कहने का साहस तो है। राजेन्द्र यादव लेखक भी बने रहना चाहते हैं और लिखना भी नहीं चाहते, तो यह दोनों चीजें कैसे एक साथ चल सकती हैं?

विवाद ये जान-बूझकर पैदा करते हैं। कहते हैं मैंने मोहन राकेश या दुष्यन्त कुमार के मित्र होने का लाभ उठाया है। एक बात मैं पाठकों के लिए मजाक में कहना चाहता हूँ कि एक बार मुझसे पूछा गया कि साहब, पिछड़े वर्गों के लिए जो आरक्षण है उसके आप खिलाफ हैं। मैंने कहा ऐसा तो नहीं है। आप लोग 27 प्रतिशत आरक्षण की बात करते हैं जबकि हमने अपने तीन लोग, जो कि 'नई कहानी' आन्दोलन के थे—को 33.3 प्रतिशत आरक्षण दिया था। राजेन्द्र ने अपने चारों ओर ऐसी मण्डली बना ली है जिसमें वे सिर्फ सम्पादकीय ही लिख सकते हैं। वह कभी अपने से बराबर वालों से बात नहीं करता। उसमें ईर्ष्या तो खैर है ही, कुंठा भी है। जब मन्नू भण्डारी ने कहा, कि राजेन्द्र ने उनका उपन्यास लेकर फिर अपने नाम से लिख डाला, जब पति-पत्नी में उनका यह व्यवहार था तो आप अन्दाजा लगाइए कि बाकी समकालीनों के प्रति उनका क्या रवैया रहा होगा। वे कुण्ठित रहे हैं लगातार। मैं तो नहीं कहता कि मैंने 'सारिका' से कोई रचनात्मकता प्राप्त की। नहीं। वह मेरे साहित्यिक पत्रकारिता का दौर था। लेकिन मैं यह कभी नहीं कहता कि उसमें जो सम्पादकीय मैंने लिखे वह साहित्य की अमूल्य निधि हैं जबकि राजेन्द्र यादव कहते हैं। आप जो सम्पादकीय लिखते हैं उसे आपके चाटुकारों के अलावा और कौन पढ़ता है। मैं पूछता हूँ राजेन्द्र ने अपने सम्पादकत्व में कौन-से नए लेखक पैदा किए? कौन-सा वैचारिक आन्दोलन खड़ा किया? इधर का जो इनके तीस बरस का अन्तराल है वह मैं मानता हूँ एक अलेखक का अन्तराल है इसके बावजूद वे मेरे मित्र हैं इसलिए मैंने कहा कि राजेन्द्र यादव मेरे अलेखक मित्र हैं।

सारिका के दौर की जिस तानाशाही की बात वो करते हैं तो मैं समझता हूँ

कि साहित्य में तानाशाही नहीं चलती। क्योंकि तानाशाही जब डॉ. नगेन्द्र की नहीं चली, डॉ. नामवर सिंह की नहीं चली तो और किसकी चलेगी। वह विशुद्ध कुंठा राजेन्द्र को हमेशा से रही है। मुश्किल यही है कि हम जो कर चुके हैं वे उसे अब कर पा रहे हैं। उनका ये हमेशा से सोचना रहा है कि भई, एक दफ्तर होना चाहिए, चपरासी होना चाहिए, एक दरवाजा होना चाहिए और उसमें राजेन्द्र यादव बैठे हुए नजर आने चाहिए और लोग उनका आतंक माने। तो यह आतंक उनका 'छुटभैयों' पर लागू भी है। कहानियाँ वे 'पीली छतरी वाली लड़की' छापते हैं जो निश्चित रूप से, मैं समझता हूँ कि गलाजत से भरी कहानी है। क्योंकि उसमें साफ आप इस बात का अन्दाज देते हैं कि आपने किस पर लिखी है कहानी। दूधनाथ सिंह का 'नमो अंधकारम्' छापते हैं जो साफ बताती है कि कहानी क्या है। क्या राजेन्द्र यादव उन पात्रों को नहीं पहचान रहे थे? 'पीली छतरी वाली लड़की' का लेखक तो यहाँ तक कहता है कि यह कहानी धौंस देकर, कमरे में बन्द करके राजेन्द्र यादव ने उनसे लिखवाई! 'पीली छतरी वाली लड़की' चूँकि जे. एन. यू. कैंपस को लेकर लिखी गई इसलिए बाद में उसमें 'हंस' के कार्यालय में तब्दीलियाँ की गईं। उसका 'लोकेट' सागर ले जाया गया। उसमें जिक्र किया गया है—'राजधानी' का, सागर से कोई 'राजधानी' नहीं गुजरती 'राजधानी एक्सप्रेस' दिल्ली से गुजरती है। अगर रचनात्मकता ये है कि एक-दूसरे पर लिखिए तो फिर कृपया साहित्य-वाहित्य की बात मत कीजिए। यह गटर साहित्य है। मैं पूछता हूँ और बिल्कुल साफ पूछता हूँ कि राजेन्द्र यादव यह बता दें कि 'हंस' को चलाने के लिए पैसा कहाँ से आता है? विज्ञापन तो इतने होते नहीं। क्या स्रोत है आपका? कागज का पैसा, होटलों का पैसा, पार्टियों का पैसा आप कैसे चुकाते हैं? कौन लोग हैं जो फाइनेंस करते हैं आपको? आपको अपने और संस्थान के खर्चे का पैसा कहाँ से मिलता है? उसके स्रोत क्या हैं? आप बताइए कि यह सब कहाँ से आता है? या तो यह बताइए कि फलां ट्रस्ट या न्यास या व्यक्ति ने दिया या फिर कहीं और से आया। इतने दिन हो गए लेखकों का पारिश्रमिक आप क्यों नहीं देते? उसी का नतीजा है कि आज प्रकाशन के क्षेत्र में लेखकों से और नए लेखकों से पैसे लेकर के पुस्तकें छापी जा रही हैं। जिन्होंने उन्हें पैसे दिए हैं उन लोगों की उन्होंने कहानियाँ भी छापी हैं। या उनको जो फण्ड करते हैं उनकी रचनाएँ भी छापते हैं। तो भई, आप यह घटिया खेल भी खेलते रहें और ये कहें कि मैं जो सम्पादकीय लिखता हूँ वह साहित्य है तो यह आप मानते होंगे या आपके चाटुकारों की फौज। मैं तो नहीं मानता। मैं नहीं समझता कि वे ईमानदार हैं। उसमें कौन-सी नई बात है या मौलिक चिन्तन है? एक अजीब तरह का घटिया महिलावाद है। जहाँ तक दलित साहित्य को लेकर के काम करने का प्रश्न है तो मैं समझता हूँ कि इस क्षेत्र में रमणिका गुप्ता ने जो काम किया है उसके आगे वे पासंग भी नहीं ठहरते। यह उनकी कुण्ठाएँ हैं तो अब मैं इसको लेकर क्या कहूँ। अभी जो सितम्बर के 'हंस' का सम्पादकीय है वह काफी गर्हित सम्पादकीय है। यह बहुत ही घटिया और अलोकतान्त्रिक तरीके का सम्पादकीय है।

तस्लीमा नसरीन ने जो काम किया वह बहुत साहस का काम किया है अपने देश में। लेकिन उनकी रचना में चाहे 'लज्जा' ले लें या 'मेरे बचपन के दिन' ले लें। उसमें वह बात नहीं है जो बंगला साहित्य की विशेषता है। बंगला भाषा की जो रचनात्मकता और संस्कार है वह मुझे तस्लीमा नसरीन में नजर नहीं आया। उसकी रचनाएँ प्रतिवाद की रचनाएँ हैं। उसने जितना लिखा है उसके लिए भुगता बहुत है, इसलिए मैं उसके साहस की दाद देता हूँ। अटलबिहारी वाजपेयी की कविताएँ निश्चित रूप से घटिया और तीसरे दर्जे की कविताएँ हैं। लेकिन उनके कविता संग्रह के बीस-बीस संस्करण बिक गए। पत्रकार वे जरूर अच्छे रहे हैं।

निश्चित रूप से नई कहानी के आन्दोलन के दरम्यान जो साहित्य आया था वह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह यथार्थ के पत्थर से रगड़ने के बाद सामने आया है। उस रूप में राजेन्द्र की जो ऊर्जा सामने आनी चाहिए थी वह भी उनकी अपनी कुण्ठा के कारण सामने नहीं आ सकी। राजेन्द्र की जो कुण्ठाएँ हैं उसका एक कारण यह है, जो कि निश्चित रूप से सही है कि राजेन्द्र की रचनाओं को वह प्रतिष्ठा नहीं मिली जो कि मिलनी चाहिए थी। महेश दर्पण ने हिन्दी कहानियों के संकलन का बारह खण्डों में सम्पादन किया है। जो कि बहुत महत्वपूर्ण काम है। लेकिन चूँकि राजेन्द्र यादव के आसपास जो माहौल है उसमें से राजेन्द्र यादव ने यह बताया कि 'नई कहानी' का उदय 'प्रतीक' पत्रिका से हुआ था। महेश दर्पण ने यह लिखा है कि उनकी एक कहानी और शिवप्रसाद सिंह की जो ग्रामीण परिवेश की थी और यह शहरी परिवेश की थी, इससे लेकर के 'नई कहानी' का उदय हुआ। जबकि 'प्रतीक' कहानी की प्रतिनिधि पत्रिका थी ही नहीं। उसमें कहानियाँ तो यूँ छपती थीं। जैसे आज भी परिशिष्टों में छपती हैं। अब उन्होंने ये सब अगर भर-भर के इतिहास को गलत करना चाहते हैं तो यह उनकी समझदारी है। मैं तो ये कहता हूँ कि 'नई कहानी' समवेत रचनात्मक ऊर्जा का एक उत्स या विस्फोट था, उसमें तमाम तरह की कहानियाँ थीं। किसी भी लेखक से मैं यह अपेक्षा करता हूँ कि वो कब, किस समय पता नहीं क्या महत्त्वपूर्ण लिख जाए, यह कहना मुश्किल है। मैं तो लगातार इस प्रतीक्षा में हूँ कि राजेन्द्र कुछ लिखें। लिख सकता है वो। लेकिन वो ऐसे लोगों से घिरे हैं जो उनसे गलत नजरिए से मात्र सम्पादकीय लिखवा सकते हैं। वे अपनी कुण्ठाओं और चाटुकारों से घिरे रहने में ही लेखकीय सफलता और जीवन की सफलता मानते हैं।

('हिन्दुस्तान' से साभार)

तीसरा खंड

वहाँ तक पहुँचने की दौड़

राजेन्द्र यादव के लेखन, उपन्यास छोड़कर, से एक चयन]

जहाँ लक्ष्मी कैद है

ज़रा ठहरिए, यह कहानी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के बारे में नहीं, लक्ष्मी नाम की एक ऐसी लड़की के बारे में है जो अपनी कैद से छूटना चाहती है। इन दो नामों से ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है जैसा कि कुछ क्षण के लिए गोविन्द को हो गया था।

एकदम घबराकर जब गोविन्द की आँखें खुलीं तो वह पसीने से तर था और उसका दिल इतने जोर से धड़क रहा था कि उसे लगा, कहीं अचानक उसका धड़कना बन्द न हो जाए। अँधेरे में उसने पाँच-छः बार पलकें झपकाईं, पहली बार तो उसकी समझ में न आया कि कहाँ है, कैसा है—एकदम दिशा और स्थान का ज्ञान उसे भूल गया। पास के हॉल की घड़ी ने एक का घण्टा बजाया तो उसकी समझ में ही न आया कि वह घड़ी कहाँ है, वह स्वयं कहाँ है और घण्टा कहाँ बज रहा है। फिर धीरे-धीरे उसे ध्यान आया, उसने जोर से अपने गले का पसीना पोंछा और उसे लगा, उसके दिमाग में फिर वही खट्खट गूँज उठी है, जो अभी गूँज रही थी...।

पता नहीं, सपने में या सचमुच ही, अचानक गोविन्द को ऐसा लगा था, जैसे किसी ने किवाड़ पर तीन-चार बार खट्-खट् की हो और गिड़गिड़ाकर कहा हो—'मुझे निकालो, मुझे निकालो!' और वह आज कुछ ऐसे रहस्यमय ढंग से आकर उसकी चेतना को कोंचने लगी कि वह बौखलाकर जाग उठा—सचमुच ही यह किसी की आवाज थी, या महज उसका भ्रम?

फिर उसे धीरे-धीरे याद आया कि यह भ्रम ही था और वह लक्ष्मी के बारे में सोचता हुआ ऐसा अभिभूत सोया था कि वह स्वप्न में भी छाई रही। लेकिन वास्तव में यह आवाज़ कैसी विचित्र थी, कैसी साफ थी!—उसने कई बार सुना था कि अमुक स्त्री या पुरुष से स्वप्न में आकर कोई कहता—'मुझे निकालो, मुझे निकालो।' फिर वह धीरे-धीरे स्थान की बात भी बताने लगता और वहाँ खुदवाने पर कड़ाहे या हांडी में भरे सोने-चाँदी के सिक्के या माया उसे मिलती और वह देखते-देखते मालामाल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि किसी अनधिकारी आदमी ने उस द्रव्य को निकलवाना चाहा तो उसमें कौड़ियाँ और कोयले निकले या फिर उसके कोढ़ फूट आया या घर में कोई मृत्यु हो गई। कहीं इसी तरह, धरती के नीचे से उसे कोई लक्ष्मी तो नहीं पुकार रही है? और वह बड़ी देर तक सोचता रहा, उसके दिमाग में फिर लक्ष्मी का किस्सा साकार होने लगा। वह मोहाच्छन्न-सा पड़ा रहा...

दूर कहीं दूसरे घड़ियाल ने फिर वही एक घण्टा बजाया।

गोविन्द से अब नहीं रहा गया। रजाई को चारों तरफ से बन्द रखे हुए ही बड़े सम्भालकर उसने कुहनी तक हाथ निकाला, लेटे-ही-लेटे अलमारी के खाने से किताब-कापियों की बगल से उसने अधजली मोमबत्ती निकाली, वहीं कहीं से खोजकर दियासलाई निकाली और आधा उठकर, जाड़े में दूसरा हाथ पूरा न निकालना पड़े, उसने दो-तीन बार घिसकर दियासलाई जलाई, मोमबत्ती रोशन की और पिघले मोम की बूँद टपकाकर उसे दवात के ढक्कन के ऊपर जमा दिया। धीरे-धीरे हिलती रोशनी में उसने देख लिया कि किवाड़ पूरे बन्द हैं, और दरवाजे के सामनेवाली दीवार में बने, जाली लगे रोशनदान के ऊपर, दूसरी मंजिल से हल्की-हल्की जो रोशनी आती है, वह भी बुझ चुकी है। सब कुछ कितना शान्त हो चुका है। बिजली का स्विच यद्यपि उसके तख्त के ऊपर ही लगा था, लेकिन एक तो जाड़े में रजाई समेत या रज़ाई छोड़कर खड़े होने का आलस्य, दूसरे लाला रूपाराम का डर, सुबह ही कहेगा—'गोविंद बाबू, बड़ी देर तक पढ़ाई हो रही है आजकल।' जिसका सीधा अर्थ होगा कि बड़ी बिजली खर्च करते हो।

फिर उसने चुपके से, जैसे कोई उसे देख रहा हो, तकिये के नीचे से रजाई के भीतर-ही-भीतर हाथ बढ़ाकर वह पत्रिका निकाल ली और गर्दन के पास से हाथ निकालकर उसके सैंतालीसवें पन्ने को बीसवीं बार खोलकर बड़ी देर घूरता रहा। एक बजे की पठानकोट-एक्सप्रेस जब दहाड़ती हुई गुज़र गई तो सहसा उसे होश आया। 47 और 48—जो पन्ने उसके सामने खुले थे उनमें जगह-जगह नीली स्याही से कुछ पंक्तियों के नीचे लाइनें खींची गई थीं—यही नहीं, उस पन्ने का कोना मोड़कर उन्हीं लाइनों की तरफ विशेष रूप से ध्यान खींचा गया था। अब तक गोविन्द उन या उनके आस-पास की लाइनों को बीस बार से अधिक घूर चुका था। उसने शंकित निगाहों से इधर-उधर देखा और फिर एक बार उन पंक्तियों को पढ़ा।

जितनी बार वह उन्हें पढ़ता, उसका दिल एक अनजान आनन्द के बोझ से धड़ककर डूबने लगता और दिमाग उसी तरह भन्ना उठता जैसे उस समय भन्नाया था, जब यह पत्रिका उसे मिली थी। यद्यपि इस बीच उसकी मानसिक दशा कई विकट स्थितियों से गुजर चुकी थी; फिर भी वह बड़ी देर तक काली स्याही से छपे कहानी के अक्षरों को स्थिर निगाहों से घूरता रहा—धीरे-धीरे उसे ऐसा लगा, यह अक्षरों की पंक्ति एक ऐसी खिड़की की जाली है, जिसके पीछे बिखरे बालों वाली एक निरीह लड़की का चेहरा झाँक रहा है। और फिर उसके दिमाग में बचपन की सुनी कहानी साकार होने लगी—शिकार खेलने में साथियों का साथ छूट जाने पर भटकता हुआ एक राजकुमार अपने थके-माँदे घोड़े पर बिल्कुल वीराने में, समुद्र के किनारे बने एक विशाल सुनसान किले के नीचे जा पहुँचा। वहाँ ऊपर खिड़की में उसे एक अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी बैठी दिखाई दी, जिसे एक राक्षस ने लाकर वहाँ क़ैद कर दिया था ...छोटे-से-छोटे विवरण के साथ खिड़की में बैठी राजकुमारी की तस्वीर गोविंद की आँखों के आगे स्पष्ट और मूर्त होती गई और उसे लगा, जैसे वही राजकुमारी उन रेखांकित, छपी लाइनों के पीछे से झाँक रही है—उसके गालों पर आँसुओं की लकीरें

सूख गई हैं, उसके होंठ पपड़ा गए हैं...चेहरा मुरझा गया है और रेशमी बाल मकड़ी के जाल जैसे लगते हैं—जैसे उसके पूरे शरीर से एक आवाज निकलती है—'मुझे छुड़ाओ, मुझे छुड़ाओ!'

गोविन्द का मन उस अनजान राजकुमारी को छुड़ाने के बाद जैसे रह-रहकर कुरेदने लगा। एक-आध बार तो उसकी बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपने भीतर रह-रहकर कुछ करने की उत्तेजना को वह अपने तख्त और कोठरी की दीवार के बीच में बची दो फीट चौड़ी गली में घूम-घूमकर दूर कर दे।

तो क्या सचमुच लक्ष्मी ने यह सब उसी के लिए लिखा है? लेकिन उसने तो लक्ष्मी को देखा तक नहीं! अगर अपनी कल्पना में किसी जवान लड़की का चेहरा लाए भी तो वह आखिर कैसी हो?...कुछ और भी बातें थीं कि वह लक्ष्मी के रूप में एक सुन्दर लड़की के चेहरे की कल्पना करते डरता था—उसकी ठीक शक्ल-सूरत और उम्र भी नहीं मालूम उसे...

गोविन्द यह अच्छी तरह जानता था कि यह सब उसी के लिए लिखा गया है; ये लाइनें खींचकर उसी का ध्यान आकृष्ट किया गया है। फिर भी वह इस अप्रत्याशित बात पर विश्वास नहीं कर पाता था। वह अपने को इस लायक भी नहीं समझता था कि कोई लड़की भी इस तरह उसे संकेत करेगी। यों शहरों के बारे में उसने बहुत काफी सुन रखा था, लेकिन यह सोचा भी नहीं था कि गाँव से इंटर पास करके शहर आने के एक हफ्ते में ही उसके सामने एक 'सौभाग्यपूर्ण' बात आ जाएगी...

वह जब-जब इन पंक्तियों को पढ़ता तब-तब उसका सिर इस तरह चकराने लगता, जैसे किसी दसमंजिले मकान से नीचे झाँक रहा हो। जब उसने पहले-पहल ये पंक्तियाँ देखी थीं तो इस तरह उछल पड़ा था, जैसे हाथ में अंगारा आ गया हो।

बात यह हुई कि वह चक्की वाले हॉल में ईंटों के तख्त—जैसे बने चबूतरे पर बड़ी पुरानी काठ की संदूकची के ऊपर लम्बा-पतला रजिस्टर खोले दिन-भर का हिसाब मिला रहा था, तभी लाला रूपाराम का सबसे छोटा, नौ-दस साल का लड़का रामस्वरूप उसके पास आ खड़ा हुआ। यह लड़का एक फटे-पुराने-से चैस्टर की, जो साफ़ ही किसी बड़े भाई के चैस्टर को कटवाकर बनवाया गया होगा, जेबों में दोनों हाथों को ठूँसे पास खड़ा होकर उसे देखने लगा।

गोविन्द जब पहले ही दिन आया था और हिसाब कर रहा था, तभी यह लड़का भी आ खड़ा हुआ था। उस दिन लाला रूपाराम भी थे, इसलिए सिर्फ यह दिखाने को कि वह उनके सुपुत्र में भी काफी रुचि रखता है, उससे नियमानुसार नाम, उम्र और स्कूल-क्लास इत्यादि पूछे थे; नाम राम स्वरूप; उम्र नौ साल, चुंगी-प्राइमरी स्कूल में चौथे क्लास मे पढ़ता था। फिर भी सुबह-शाम गोविन्द उसे चैस्टर की छाया से ही जानने लगा, शक्ल देखने की जरूरत ही नहीं होती थी। चेस्टर के नीचे नेकर पहने होने के कारण उसकी पतली टाँगें खुली रहतीं और वह पाँवों में बड़े-पुराने किरमिच के जूते पहने रहता, जिनकी फटी-निकली जीभों को देखकर उसे हमेशा दुम-कटे कुत्ते की पूँछ का ध्यान हो आता था। थोड़ी देर उसका लिखना ताकते रहकर लड़के ने

चैस्टर के बटनों के कसाव और छाती के बीच में रखी पत्रिका निकालकर उसके सामने रख दी और बोला, "मुंशी जी, लक्ष्मी जीजी ने कहा है, हमें कुछ और पढ़ने को दीजिए।"

"अच्छा, कल देंगे..." मन-ही-मन भन्ना कर उसने कहा।

यहाँ आकर उसे जो 'मुंशीजी' का नया खिताब मिला है, उसे सुनकर उसकी आत्मा खाक हो जाती। 'मुंशी' नाम के साथ जो एक कान पर कलम लगाए, गोल-मैली टोपी, पुराना कोट पहने, मुड़े-तुड़े आदमी की तस्वीर सामने आती है—उसे बीस-बाईस साल का युवक गोविन्द सम्भाल नहीं पाता।

लाला रूपाराम उसी गाँव के हैं—शायद उसके पिता के साथ दो-तीन जमात पढ़े भी थे। शहर आते ही आत्मनिर्भर होकर पढ़ाई चला सकने के लिए किसी ट्यूशन इत्यादि या छोटे पार्ट-टाइम काम के लिए लाला रूपाराम से भी वह मिला तो उन्होंने अत्यन्त उत्साह से उसके मृत बाप को याद करके कहा—'भैया, तुम तो अपने ही बच्चे हो, जरा हमारी चक्की का हिसाब-किताब घंटे-आध घंटे देख लिया करो और मजे में चक्की के पास जो कोठरी है, उसमें पड़े रहो, अपने पढ़ो। आटे की यहाँ तो कमी है ही नहीं।' और अत्यन्त कृतज्ञता से गद्‌गद वह उनकी कोठरी में आ गया, पहली रात हिसाब लिखने का ढंग समझाते हुए लाला रूपाराम, मोतियाबिन्द वाले चश्मे के मोटे-मोटे कांचों के पीछे से मोरपंछी के चंदोवे-सी दीखती आँखों और मोटे होंठों से मुस्कराते, उसका सम्मान बढ़ाने को 'मुंशी जी' कह बैठे तो वह चौंक पड़ा। लेकिन उसने निश्चय कर लिया कि यहाँ जम जाने के बाद वह विनम्रता से इस शब्द का विरोध करेगा। रामस्वरूप से 'मुंशी जी' नाम सुनकर उसकी भौंहें तन गईं, इसीलिए उसने उपेक्षा से वह उत्तर दिया था।

"कल जरूर दीजिएगा।" रामस्वरूप ने फिर अनुरोध किया।

"हाँ भाई, जरूर देंगे" उसने दाँत पीसकर कहा; लेकिन चुप ही रहा। वह अक्सर लक्ष्मी का नाम सुनता था। हालाँकि उसकी कोठरी बिल्कुल सड़क की तरफ अलग ही पड़ती थी; लेकिन उसमें पीछे की तरफ जो एक जालीदार छोटा-सा रोशनदान था, वह घर के भीतर नीचे की मंजिल के चौक में खुलता था। लाला रूपाराम का परिवार ऊपर की मंजिल पर रहता था और नीचे सामने की तरफ पनचक्की थी, पीछे कई तरह की चीजों का स्टोर-रूम था। इस 'लक्ष्मी' नाम के प्रति उसे उत्सुकता और रुचि इसलिए भी बहुत थी कि चाहे कोठरी में हो या बाहर, पनचक्की के हॉल में, हर पाँचवें मिनट पर उसका नाम विभिन्न रूपों में सुनाई देता था—'लक्ष्मी बीबी ने यह कहा है', 'रुपये लक्ष्मी बीबी के पास हैं', 'चाबी लक्ष्मी बीबी को दे देना।' और उसके जवाब में जो एक पतली तीखी-सी अधिकारपूर्ण आवाज सुनाई देती थी, लेकिन स्वयं वह कैसी है? उसकी एक झलक-भर देख पाने को उसका दिल कभी-कभी बुरी तरह तड़प-सा उठता। लेकिन पहले कुछ दिनों में उसे अपना प्रभाव जमाना था, इसलिए वह आँख उठाकर भी भीतर देखने की कोशिश न करता। मन-ही-मन उसने समझ लिया कि यही लक्ष्मी है; काफी महत्त्वपूर्ण है...दिक्कत यह थी कि भीतर कुछ दिखाई

भी तो नहीं देता था। सड़क के किनारे तीन-चार दरवाजे वाले इस चक्की के हॉल के बाद एक आठ-दस फीट लम्बी गली थी और चौक के ऊपर लोहे का जाल पड़ा था, उस पर से ऊपरवाले लोग जब गुजरते थे तो लोहे की झनझनाहट से पहले तो उसका ध्यान हर बार उधर चला जाता था। बच्चे तो कभी-कभी और भी उछल-उछलकर उस पर कूदने लगते थे। यहाँ से जब तक किसी बहाने पूरी गली पार न की जाए, कुछ भी दीखना असम्भव था। चूँकि गुसलखाना और नल इत्यादि उसी चौक में थे, जिनकी वजह से नीचे प्रायः सीलन और गीलापन रहता था, इसीलिए सुबह चौक में जाते हुए अत्यन्त सीधे लड़के की तरह निगाहें नीची किए हुए भी वह ऊपर की स्थिति को भाँपने का प्रयत्न करता था। ऊपर सिर उठाकर आँख-भर देख पाने की उसमें हिम्मत न थी। अपनी कोठरी का एकमात्र दरवाजा बन्द करके, तख्त पर चढ़कर मकड़ी के जाले और धूल से भरे जालीदार रोशनदान से झाँककर उसने वहाँ की स्थिति को भी जानने की कोशिश की थी; लेकिन वह कम्बख्त जाली कुछ इस ढंग से बनी थी कि उसके 'फोकस' में पूरा सामने वाला छज्जा और एकाध फुट लोहे का जाल भर आता था। वहाँ कई बार उसे लगा, जैसे दो छोटे-छोटे तलुए गुजरे...बहुत कोशिश करने पर टखने ही दीखे—हाँ, हैं तो किसी लड़की के पैर, क्योंकि हाथ में धोती का किनारा भी झलका था...उसने एक गहरी साँस ली और तख्त से उतरते हुए बड़े एक्टराना अन्दाज में छाती पर हाथ मारा और बुदबुदाया—'अरे लक्ष्मी ज़ालिम, एक झलक तो दिखा देती...।'

"मुंशी जी, तुम तो देख रहे हो, लिखते क्यों नहीं?" रामस्वरूप ने जब देखा कि गोविन्द धीरे-धीरे होल्डर का पिछला हिस्सा दाँतों में ठोंकता हुआ हिसाब की कॉपी में अपलक कुछ घूर रहा है तो पता नहीं कैसे यह बात उसकी समझ में आ गई कि वह जो कुछ सोच रहा है, उसका सम्बन्ध सामने रखे हिसाब में नहीं है...

उसने चौंककर लड़के की तरफ देखा...और चोरी पकड़ी जाने पर झेंपकर मुस्कराया तभी अचानक एक बात उसके दिमाग में कौंधी—यह लक्ष्मी रामस्वरूप की बहन ही तो है। जरूर उसका चेहरा इससे काफी मिलता-जुलता होगा। इस बार उसने ध्यान से रामस्वरूप का चेहरा देखा कि वह सुन्दर है या नहीं। फिर अपनी बेवकूफी पर मुस्कराकर एक अंगड़ाई ली। चारों तरफ ढीले हुए कम्बल को फिर से चारों ओर कस लिया और अप्रत्याशित प्यार से बोला, "अच्छा मुन्ना, कल सुबह दे देंगे।"...उसकी इच्छा हुई कि वह उससे लक्ष्मी के बारे में कुछ बात करे, लेकिन सामने ही चौकीदार और मिस्तरी सलीम काम कर रहे थे...

असल में आज वह थक भी गया था। अचानक व्यस्त होकर बोला और जल्दी-जल्दी हिसाब करने लगा। दुनिया भर की सिफारिशों के बाद उसका नाम कॉलेज के नोटिसबोर्ड पर आ गया कि वह ले लिए गए लड़कों में से है। आते समय कुछ किताब और कॉपियाँ भी खरीद लाया था, सो आज वह चाहता था कि जल्दी-से-जल्दी कोठरी में लेटे और कुछ आगे-पीछे की बातें...दुनिया-भर की बातें सोचता हुआ सो जाए...सोचे, लक्ष्मी कौन है...कैसी है...वह उसके बारे में किससे पूछे?...कोई उसका

हमउम्र और विश्वास का आदमी भी तो नहीं है। किसी से पूछे और रूपाराम को पता चल जाए, तो? लेकिन अभी तीसरा ही तो दिन है...मन-ही-मन अपने पास रखी पत्रिकाओं और कहानी की पुस्तकों की गिनती करते हुए वह सोचने लगा कि इस बार उसे कौन-सी देनी है...आगे जाकर जब काफी दिन हो जाएँगे तो वह चुपचाप उसमें एक ऐसा छोटा-सा पत्र रख देगा जो किसी दोस्त के नाम लिखा गया होगा या उसकी भाषा ऐसी होगी कि पकड़ में न आ सके...भूल से चला गया, पकड़े जाने पर वह आसानी से कह सकेगा—उसे तो ध्यान भी नहीं था कि वह पर्चा इसमें रखा है। बीस जवाब हैं। अपनी चालाक बेवकूफी की कल्पना पर वह मुस्कराने लगा।

जिसके विषय में वह इतना सब सोचता है, वह उसी लक्ष्मी के पास से आई हुई पत्रिका है—उसने इसे अपने कोमल हाथों से छुआ होगा, तकिये के नीचे, सिरहाने भी यह रही होगी...लेटकर पढ़ते हुए तो हो सकता है, सोचते-सोचते छाती पर भी रखकर सो गई हो...और उसका तन-मन गुदगुदा उठा। क्या लक्ष्मी उसके विषय में बिल्कुल ही न सोचती होगी? हिसाब लिखने की व्यस्तता में भी उसने गर्दन मोड़ कर एक हाथ से पत्रिका के पन्ने पलटने शुरू कर दिए और एक कोना-मुड़े पन्ने पर अचानक उसका हाथ ठिठक गया—यह किसने मोड़ा है? एक मिनट में हजारों बातें उसके दिमाग में चक्कर लगा गईं। उसने पत्रिका उठाकर हिसाब की कॉपी पर रख ली। मुड़ा पन्ना पूरा खुला था। छपे पन्ने पर जगह-जगह नीली स्याही से निशान देखकर वह चौंक पड़ा। ये किसने लगाए हैं? उसे खूब अच्छी तरह ध्यान है, ये पहले नहीं थे...

'मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ'...उसने एक नीली लाइन के ऊपर पढ़ा...

'मैं अयं! यह क्या चक्कर है...?' वह एकदम जैसे बौखला उठा। उसने फौरन ही सामने बैठे मिस्तरी सलीम और दिलावर सिंह को देखा, वे अपने ही काम में व्यस्त थे। उसकी निगाह अपने-आप दूसरी लाइन पर फिसल गई।

'मुझे यहाँ से भगा ले चलो...'

'अरे...!'

तीसरी लाइन—'मैं फाँसी लगाकर मर जाऊँगी...।'

और गोविन्द इतना घबरा गया कि उसने फट से पत्रिका बन्द कर दी। शंका से इधर-उधर देखा, किसी ने ताड़ तो नहीं लिया? उसके माथे पर पसीना उभर आया और दिल चक्की के मोटर की तरह चलने लगा। पत्रिका के पन्नों के बीच में ही उँगली रखे हुए उसने उसे घुटने के नीचे छिपा लिया। कहीं दूर से रंग-बिरंगी कवर की तस्वीर को देखकर यह कम्बख्त चौकीदार ही न माँग बैठे। उन पंक्तियों को एक बार फिर देखने की दुर्निवार इच्छा उसके मन में हो रही थी; लेकिन जैसे हिम्मत न पड़ती थी। क्या सचमुच ये निशान लक्ष्मी ने ही लगाए हैं? कहीं किसी ने मज़ाक तो नहीं किया? लेकिन मज़ाक उससे कौन करेगा, क्यों करेगा? ऐसा उसका कोई परिचित भी तो नहीं है यहाँ कि तीन दिन में ही ऐसी हिम्मत कर डाले।

उसने फिर पत्रिका निकालकर पूरी उलट-पुलट डाली। नहीं, निशान वही हैं, बस। वह उन तीनों लाइनों को फिर एक साथ पढ़ गया और उसे ऐसा लगा, जैसे उसके दिमाग में हवाई जहाज भन्ना उठा हो। गोविन्द का दिमाग चकरा रहा था, दिल धड़क रहा था, और जो हिसाब वह लिख रहा था, वह तो जैसे एकदम भूल गया। उसने कलम के पिछले हिस्से से कान के ऊपर खुजलाया, खूब आँखें गड़ाकर जमा और खर्च के खानों को देखने की कोशिश की, लेकिन बस नस-नस में सन-सन करती कोई चीज दौड़े जा रही थी। उसे लगा, उसका दिल फट जाएगा और आतिशबाजी के अनार की तरह दिमाग फट पड़ेगा...अब वह किससे पूछे? ये सब निशान किसने लगाए हैं? क्या सचमुच लक्ष्मी ने?

इस मधुर सत्य पर विश्वास नहीं होता। मैं चाहे उसे न देख पाया होऊँ, उसने तो जरूर ही मुझे देख लिया होगा। अरे, ये लड़कियाँ बड़ी तेज होती हैं। गोविन्द की इच्छा हुई, अगर उसे इसी क्षण शीशा मिल जाए तो वह लक्ष्मी की आँखों से एक बार अपने को देखे—कैसा लगता है?

लेकिन यह लक्ष्मी कौन है? विधवा, कुमारी, विवाहिता, परित्यक्ता, क्या? कितनी बड़ी है? कैसी है? उसकी नस-नस में एक प्रबल मरोड़-सी उठने लगी कि वह अभी उठे और दौड़कर भीतर के आँगन की सीढ़ियों में धड़ाधड़ चढ़ता हुआ ऊपर जा पहुँचे—लक्ष्मी जहाँ भी, जिस कमरे में बैठी हो, उसके दोनों कंधे झकझोर कर पूछे, 'लक्ष्मी, लक्ष्मी यह तुमने लिखा है? तुम नहीं जानती लक्ष्मी, मैं कितना अभागा हूँ। मैं कतई इस सौभाग्य के लायक नहीं हूँ।' और सचमुच इस प्रत्याशित सौभाग्य से गोविन्द का हृदय इस तरह पसीज उठा कि उसकी आँखों में आँसू आ गए। डोरी से लटकते हुए बल्ब को अपलक देखता हुआ वह अपने अतीत और भविष्य की गहराइयों से उतरता चला गया; फिर उसने धीरे-से अपनी कोरों में भरे आँसुओं को उँगली पर लेकर इस तरह झटक दिया; जैसे देवता पर चन्दन चढ़ा रहा हो। उसका ढीला पड़ा हाथ अब भी पत्रिका के पन्ने को पकड़े था।

एक बार उसने फिर उन पंक्तियों को देखा—मान लो लक्ष्मी उसके साथ भाग जाए? कहाँ जाएँगे वे लोग? कैसे रहेंगे? उसकी पढ़ाई का क्या होगा? बाद में पकड़ लिए गए तो?

लेकिन आखिर यह लक्ष्मी है कौन?

लक्ष्मी के बारे में प्रश्नों का एक झुंड उसके दिमाग पर टूट पड़ा, जैसे शिकारी कुत्तों का बाड़ा खोल दिया गया हो या एक के बाद एक सिर पर कोई हथौड़े की चोटें कर रहा हो, बड़ी निर्ममता और क्रूरता से। जैसे छत पर से अचानक गिर पड़ने वाले आदमी के सामने सारी दुनिया एक झटके के साथ, एक क्षण में चक्कर लगा जाती है, उसी तरह उसके सामने सैकड़ों-हजारों चीजें एक साथ चमक कर गायब हो गईं।

ईंटों के ऊँचे चौकोर तख्तनुमा चबूतरे पर पुरानी छोटी-सी संदूकची के आगे बैठा गोविन्द हिसाब लिख रहा था और अभी हिसाब न मिलने के कारण जो कच्चे पुर्जे

इधर-उधर बिखरे थे, वे सब यों ही बिखरे रहे। उसने खुले लेजर-रजिस्टर पर दोनों कुहनियाँ टिका दीं और हथेलियों से आँखें बन्द कर लीं...कनपटी के पास की नसें चटख रही थीं। ऐसा तो कभी देखा-सुना नहीं...सिनेमा, उपन्यासों में भी नहीं देखा-पढ़ा। सचमुच इन निशानों का क्या मतलब है? क्या लक्ष्मी ने ही ये लाइनें खींची हैं? हो सकता है, किसी बच्चे ने ही खींच दी हों...इस सम्भावना से थोड़ा चौंककर गोविन्द ने फिर पन्ना खोला—नहीं, बच्चा क्या सिर्फ इन्हीं लाइनों के नीचे निशान लगाता? और लकीरें इतनी सधी और सीधी हैं कि किसी बच्चे की हो ही नहीं सकतीं। किसी ने उसे व्यर्थ परेशान करने को तो निशान नहीं लगा दिए? हो सकता है, वह लक्ष्मी बहुत चुहलबाज हो और जरा छकाने को उसी ने सब किया हो...

यद्यपि गोविन्द इस तरह आँखें बन्द किए सोच रहा था; लेकिन उसे मन-ही-मन डर था कि मिस्तरी और दरबान उसे देखकर कुछ समझ न जाएँ। सबसे बड़ा डर उसे लाला रूपाराम का था। अभी रुई-भरी, सकलपारों वाली सिलाई की, मैली-सी पूरी बाँहों की मिरजई पहने और उस पर मैली चीकट, युगों पुरानी बंडी लपेटे धीरे-धीरे हाँफते हुए बेंत टेकते बड़े कष्ट से सीढ़ियाँ उतरकर वे आएँगे...

अचानक बेंत की खट्-खट् से चौंककर उसने जो आँखों के आगे से हाथ हटाए तो देखा, सच ही लाला रूपाराम चले आ रहे हैं। अरे, कम्बख्त याद करते ही आ पहुँचा—बैठे हुए देख तो नहीं लिया? उसने झट पत्रिका को घुटने के नीचे और भी सरका लिया और सामने फैले पुर्जों पर आँखें टिकाकर व्यस्त हो उठा। मिस्तरी और चौकीदार की खुसुर-पुसुर बन्द हो गई। गली-सी पार करके लाला रूपाराम ने प्रवेश किया।

मोटे-मोटे शीशों के पीछे से उनकी आँखें बड़ी होकर भयंकर दीखती थीं। आँखों और पलकों का रंग मिलकर ऐसा दिखाई देता था, जैसे पीछे मोरपंख के चंदोवे लगे हों। सिर पर रुई-भरा कंटोपा था, उसके कानों को ढंकने वो मोटर के 'मडगार्ड' जैसे कोने अब ऊपर मुड़े थे और पौराणिक राक्षसों के सींगों का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। चेहरा उनका झुर्रियों से भरा था और चश्मे का फ्रेम नाक के ऊपर से टूट गया था, उसे उन्होंने डोरा लपेटकर मजबूत कर लिया था। दाँत उनके नकली थे और शायद ढीले भी थे; क्योंकि उन्हें वे हमेशा इस तरह मुँह चला-चलाकर पीछे सरकाए रखते थे जैसे 'चुइंगम' चबा रहे हों। गोविन्द को उनके इस मुँह चलाने और मुँह से निकलती तरह-तरह की आवाजों से बड़ी उबकाई-सी आती थी और जब वे उससे बात करते तो वह प्रयत्न करके अपना ध्यान उस ओर से हटाए रखता। लाला रूपाराम की गर्दन हमेशा इस तरह हिलती रहती, जैसे खिलौने वाले बुड्ढे की गर्दन का स्प्रिंग ढीला हो गया हो! घुटनों तक की मैली-कुचैली धोती और मिलिटरी के कबाड़ियाँ बाज़ार से खरीदकर लाए गए मोजों पर बाँधने की पट्टियाँ, जो शायद उन्हें गठिया के दर्द से बचाती थीं; बिना फीते के खींसें निपोरते फटे-पुराने बूट—उन्हें देखकर हमेशा गोविन्द को लगता कि इस आदमी का अन्त समय निकट आ गया है।

जब लाला रूपाराम पास आ गए तो उसने सम्मान में चेहरे पर चिकनाई वाली

मुस्कान लाकर उनकी ओर देखते हुए स्वागत किया। ईंटों के चबूतरे पर लगभग दो सौ स्याही के दाग और छेद वाली दरी पर, रामस्वरूप के उससे सटकर खड़े होने से, एक मोटी-सी सिकुड़न पड़ गई थी, उसको हाथ से ठीक करके उसने कहा, "लालाजी, यहाँ बैठिए... ।"

लालाजी ने हाँफते हुए बिना बोले ही इशारा कर दिया कि नहीं, वे ठीक हैं। और वे टीन की कुर्सी पर ही उसकी ओर मुँह करके बैठ गए और हाँफते रहे। असल में उन्हें साँस की बीमारी थी और वे हमेशा प्यासे कुत्ते की तरह हाँफते रहते थे।

उनके वहाँ आ बैठने से एक बार तो गोविन्द काँप उठा, कहीं कम्बख्त को पता तो नहीं चल गया? कुछ पूछने-ताछने न आया हो। हालाँकि लाला रूपाराम इस समय खा-पीकर एक बार चक्कर जरूर लगाते थे, लेकिन उसे विश्वास हो गया कि हो-न-हो बुड्ढा ताड़ गया है। उसका दिल धसक चला। रूपाराम अभी हाँफ रहे थे। गोविन्द सिर झुकाए ही हिसाब-किताब जोड़ता रहा। आखिर स्थिति सम्भालने की दृष्टि से उसने कहा, "लालाजी, आज मेरा नाम आ गया कॉलेज में।"

"अच्छा!" लालाजी ने खाँसी के बीच में ही कहा। वह एक हाथ से डंडे को धरती पर टेके थे, दूसरे हाथ में कलई तक गोमुखी बँधी थी, जिसके भीतर उँगलियाँ चला-चलाकर वह माला घुमा रहे थे और उनका वह हाथ टोंटा-सा लग रहा था।

वातावरण का बोझ बढ़ता ही चला जा रहा था कि एक घटना हो गई।

उन्होंने साँस इकट्ठी करके कुछ बोलने को मुँह खोला ही था कि भीतर आँगन का टट्टर (लोहे का जाल) भयंकर रूप से झनझना उठा, जैसे कोई बहुत ही भारी चीज ऊपर से फेंक दी गई हो। फिर जोर से बजती हुई खनखनाती कल्छी जैसे चीजें नीचे आ गिरीं; उसके पीछे चिमटा, संडासी...और फिर तो उसे ऐसा लगा जैसे कोई बाल्टी, कड़ाही, तवा इत्यादि निकालकर टट्टर पर फेंक रहा है और पानी और छोटी-मोटी चीजें नीचे गिर रही हैं। उसके साथ कुछ ऐसा कोलाहल और कुहराम भीतर सुनाई दिया, जैसे आग लग गई हो!

गोविन्द झटककर सीधा हो गया—कहीं सचमुच आग-वाग तो नहीं लग गई? उसने प्रश्नसूचक दृष्टि से चौंककर लाला की तरफ देखा और वह आश्चर्य से अवाक् रह गया। लाला परेशान जरूर दिखाई देता था लेकिन कोई भयंकर घटना हो गई है और उसे दौड़कर जाना चाहिए, ऐसी कोई बात उसके चेहरे पर नहीं थी। मिस्तरी और चौकीदार, दोनों बड़े दबे व्यंग्य से एक-दूसरे की ओर देखते, मुसकराते, लाला की ओर निगाहें फेंक रहे थे। किसी को भी कोई खास चिन्ता नहीं थी। भीतर कोलाहल बढ़ रहा था, चीजें फिंक रही थीं और टट्टर की खड़खड़ाहट-घनघनाहट गूँजती जा रही थी। आखिर यह क्या हो रहा है? उत्तेजना से उसकी पसलियाँ तड़कने को हो आईं। वह लाला से यह पूछने ही वाला था कि क्या है, तभी बड़े कष्ट से हाथ की लकड़ी पर सारा जोर देकर वह उठ खड़ा हुआ...और घिसटता-सा जहाँ से आया, उसी गली में चला गया। जाते हुए पलटकर धीरे-से उसने किवाड़ बन्द कर दिए। मिस्तरी और चौकीदार ने मुक्त होकर बदन ढीला किया, एक-दूसरे की ओर

मुस्कराकर देखा, खंखारा और फिर एक बार खुलकर मुस्कराए। लाला का पीछा करती गोविन्द की निगाह अब उन लोगों की ओर मुड़ गई और जब उससे नहीं रहा गया तो वह खड़ा हो गया। मुर्गे के पंखों की तरह कंबल को बाँहों पर फड़फड़ाकर उसने लपेटा और उस पत्रिका को देखता हुआ चबूतरे से नीचे उतर आया। थोड़ी देर यों ही असमंजस में खड़ा रहा, फिर उस गलियारे के दरवाजे तक गया कि कुछ दिखाई-सुनाई दे। कोलाहल में चार-पाँच आवाजें एक साथ किवाड़ की दरार से घुटी-घुटी सुनाई दीं और उसमें सबसे तेज आवाज वही थी कि जिसे उसने लक्ष्मी की आवाज समझ रखा था। हे भगवान्, क्या हो गया? कोई कहीं से गिर पड़ा, आग लग गई, सांप-बिच्छू ने काट लिया? लेकिन जिस तरह ये लोग बैठे देख रहे थे, उससे तो ऐसा लगता था जैसे यह कोई खास बात नहीं है। यह कम्बख्त किवाड़ क्यों बन्द कर गया? इस वक्त टट्टर इस तरह धमाधम बज रहा था, जैसे उस पर कोई तांडव कर रहा हो। उस ऊँची, चीखती महीन आवाज में वह नारी-कंठ, जिसे वह लक्ष्मी की आवाज समझता था, इतनी तेज और जोर से बोल रहा था कि लाख कोशिश करने पर भी वह कुछ नहीं समझ सका।

"परेशान क्यों हो रहे हो बाबू जी?" चौकीदार की आवाज सुनकर वह एकदम सीधा खड़ा हो गया। मुसकराता हुआ वह कह रहा था, "आज चंडी चेत रही है।" उसकी इस बात पर मिस्तरी हँसा।

गोविन्द बुरी तरह झुँझला उठा। कोई इतनी बड़ी बात, घटना हो रही है और ये बदमाश इस तरह मजा लूट रहे हैं! फिर भी यह अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक-सा उधर मुड़ा।

इस बड़े कमरे या छोटे हॉल में हर चीज में हर चीज पर आटे का महीन पाउडर छाया हुआ था। एक ओर आटे में नहाई चक्की, काले पत्थर के बने हाथी की तरह चुपचाप खड़ी थी और उसका पिसे आटे को सम्भालने वाला गिलाफ हाथी की सूँड की तरह लटका था। उसी की सीध में दूसरी दीवार के नीचे मोटर लगी थी, जहाँ से एक चौड़ा पट्टा चक्की को चलाता था। इतने हिस्से में सुरक्षा के लिए एक रेलिंग लगा दिया गया था। सामने की दीवार में चिपके लम्बे-चौड़े लाल चौकोर तख्ते पर एक खोपड़ी और दो हड्डियों के क्रॉस के नीचे 'खतरा' और 'डेंजर' लिखे थे। उसके चबूतरे की बगल में ही छत से जाती जंजीर में एक बड़ी लोहे की तराजू, कथाकली की मुद्रा में एक बाँह ऊँची किए लटकी थी, क्योंकि दूसरे पलड़े में मन से लेकर छटांक तक के बाटों का ढेर लगा था। यद्यपि लाला रूपाराम अक्सर चौकीदार को डाँटते थे कि रात में इसे उतारकर रख दिया कर; लेकिन किसी-किसी दिन आधी रात तक चक्की चलती और दुकान-दफ्तर वाले तो सुबह पाँच बजे से ही आने लगते—उस समय बर्फ जैसी ठण्डी तराजू को छूना और टाँगना दिलावरसिंह को अधिक पसन्द नहीं था। वह उसे यह कहकर टाल देता कि लड़ाई में सुबह-ही-सुबह काफी ठण्डी बन्दूकें लेकर मार्च और परेड कर लिया, अब क्या जिन्दगी-भर ठण्डा लोहा ही छूना उसकी किस्मत में बदा है? इसीलिए वह उसे टंगी ही रहने देता। हालाँकि ठीक बीच में होने के कारण

वह जब भी दरवाजा खोलने उठता तो खुद ही उससे टकराता-उलझता और रात के एकान्त में फौजी गालियों का स्वगत भाषण करता। पुराना कैलेण्डर, एक ओर पिसाई के लिए भरे अन्न या पिसे आटे के बोरे, कनस्तर, पोटलियाँ और ऊपर चढ़कर अन्न डालने का मजबूत-सा स्टूल। इस समय दोनों टाँगें, जिनमें कीलदार फुटबूट डटे हुए थे, धरती पर फैलाए चौकीदार मजे में खाट की पाटी पर झुका बैठा अपना पुराना—पहली लड़ाई के सिपाहीपने की याद—ग्रेटकोट चारों ओर लपेटे शान से बीड़ी धौंक रहा था और धीरे-धीरे सामने बैठे मिस्तरी सलीम से बातें करता जा रहा था।

उसके और मिस्तरी के बीच में एक बरोसी जल रही थी; जब कभी ध्यान आ जाता तो पास रखे कोयले-लकड़ी कुछ डाल देता और कभी-कभी अत्यन्त निस्पृहता से हाथ या पाँव उस दिशा में बढ़ाकर गर्मी सोखता। सलीम सिर झुकाए गर्म पानी की बाल्टी में ट्यूब डुबा-डुबाकर उनके पंक्चर देखने में व्यस्त था। उसके आस-पास दस-बारह काले-लाल ट्यूब, रबर की कतरनें, कैंची, पेंच, प्लास, सोल्यूशन, चमड़े की पेटी और एक ओर टायर लटके दस-बारह साइकिल के पहियों का ढेर था। अपने इस सामान से उसने आधे से ज्यादा कमरा घेर लिया था।

जब गोविन्द उसके पास आया तो वह सिर झुकाए ही हँसता हुआ ट्यूब के पंक्चर को पकड़कर कान में लगी कॉपीइंग पेंसिल को थूक से गीला करते हुए (हालाँकि ट्यूब पानी से भीगा था और सामने पानी-भरी बाल्टी भी रखी थी) निशान लगाता हुआ जवाब दे रहा था, "यह कहा जमादार साहब ने?" फिर एक भौंह को जरा तिरछी करके बोला, "लाला कुछ नामा ढीला करे तो...उसकी लड़की पर जिन का साया है, उसका इलाज तो हम अपने मौलवी बदरुद्दीन साहब से मिनटों में करा दें।"

गोविन्द का माथा ठनका, लाला की किसी लड़की पर क्या कोई देवी आती है? उसे अपने गाँव की एक ब्राह्मणी विधवा, तारा का एकदम ध्यान हो आया। उसे भी जब देवी आती थी तो घर के बर्तन उठा-उठाकर फेंकती थी, उसका सारा बदन ऐंठने लगता था, मुँह से झाग जाने लगते थे, गर्दन मरोड़ खाने लगती थी, आँखें और जीभ बाहर निकलने लगती थीं। कौन लड़की है लाला की? लक्ष्मी तो नहीं? भगवान करे, लक्ष्मी न हो! उसका दिल आशंका से डूबने-सा लगा। उसने सुना, कोलाहल अब लगभग शान्त हो गया था और कहीं दूर से रह-रहकर एक हल्की रोने की आवाज-भर सुनाई देती थी। शायद किसी को दौरा-वौरा ही आ गया है, तभी तो ये लोग निश्चिन्त हैं।

गोविन्द को सुनाकर चौकीदार बोला, "नामा? तुम भी यार मिस्तरी, किसी दिन बेचारे बुड्ढे का हार्टफेल कराओगे। और बेटा, इस 'जिन' का इलाज तुम्हारे मौलवी के पास नहीं है, समझे? वह तो हवा ही दूसरी है। आओ बाबू जी, बैठो।"

चौकीदार ने बैठे-बैठे स्टूल की तरफ इशारा किया। असल में वह गोविन्द को 'बाबू जी' जरूर कहता था; लेकिन उसका विशेष आदर नहीं करता था। एक तो गोविन्द कस्बे से आया था, और उसे शहर में चौकीदारी करते हो चुके थे नकद बीस

साल; दूसरे वह फौज में रहा था और कैरो तक घूम आया था—उम्र, अनुभव, तहजीब सभी में वह अपने को गोविन्द से ज्यादा ही समझता था। लेकिन गोविन्द को इस समय इस सबका ध्यान नहीं था। उसने स्टूल से टिककर जरा सहारा लेते हुए चिन्तित स्वर में पूछा, "क्यों भई, यह शोरगुल क्या था? क्या हो रहा था?"

मिस्तरी ने सिर उठाकर उसे देखा और चौकीदार की मुस्कराती नजरों से उसकी आँखें मिलीं। उसने अपनी खिचड़ी मूँछों पर हथेली फेरते हुए कहा, "कुछ नहीं बाबूजी, ऊपर कोई चीज किसी बच्चे ने गिरा दी होगी...।"

मिस्तरी ने कहा, "जमादार साहब, झूठ क्यों बोलते हो? साफ-साफ क्यों नहीं बता देते? अब इनसे क्या छिपा रहेगा?"

"तू खुद क्यों नहीं बता देता?" चौकीदार ने कहा और जेब से बीड़ी का बंडल निकाल लिया, कागज नोंचकर आटे की लोई बनाने की तरह उसे ढीला किया, फिर एक बीड़ी निकालकर मिस्तरी की ओर फेंकी। दूसरी को दोनों तरफ से फूँका और जलाने के लिए किसी दहकते कोयले की तलाश में बरोसी में निगाहें घुमाते जरा व्यस्तता से बात जारी रखी, "तुझे क्या मालूम नहीं है?"

इन दोनों की चहुल से गोविन्द की झुँझलाहट बढ़ रही थी। उसे लगा, जरूर ही दाल में काला है, जिसे ये लोग टाल रहे हैं। मिस्तरी जीभ निकाले पंक्चर के स्थान को रेगमाल से घिस रहा था। वह जब भी कोई काम एकाग्रचित्त से करता तो अपनी जीभ को निकालकर ऊपर के होंठ की तरफ मोड़ लेता था। उसकी चाँद के बीच में उभरते गंज को देखकर गोविन्द ने सोचा कि गंजापन तो रईसी की निशानी है; लेकिन यह कम्बख्त तो आधी रात में यहाँ पंक्चर जोड़ रहा है। उसने उसी तरह सिर झुकाए ही कहा, "अब मैं बाबूजी को किस्सा बताऊँ या इन ट्यूबों से सिर फोड़ूँ? साले सड़कर हलुआ तो हो गए हैं, पर बदलेगा नहीं। मन तो होता है, सबको उठाकर इस अंगीठी में रख दूँ, होगा सुबह सो देखा जाएगा..."

"ये इतने ट्यूब हैं काहे के?" जरा आत्मीयता जताने को गोविन्द ने पूछा, "हालत तो सचमुच इनकी बड़ी खराब हो रही है।"

"आपको नहीं मालूम?" इस बार काम छोड़कर मिस्तरी ने गौर से गोविन्द को देखा, "यह आपके लाला के जो दर्जन रिक्शा चलते हैं, उनका कूड़ा है। यह तो होता नहीं कि इतने रिक्शे हैं, रोज टूट-फूट, मरम्मत होती ही रहती है; हमेशा के लिए लगा ले एक मिस्तरी; दिन भर की छुट्टी हुई। सो तो नहीं; ट्यूब-टायर मेरे सिर हैं और बाकी टूट-फूट मिस्तरी अली अहमद ठीक करते हैं।" फिर उनसे यूँ ही पूछा, "आप बाबू जी, नए आए हैं?"

"हाँ, दो-तीन दिन ही तो हुए हैं। मैं यहाँ पढ़ने आया हूँ।" गोविन्द ने कहा। उसके पेट में खलबलाहट मच रही थी, लेकिन वह नए सिरे से पूछने का सूत्र खोज रहा था।

"तभी तो," मिस्तरी बोला, "तभी तो आप यह सब पूछ रहे हैं। रात को इसका हिसाब रखते हैं न? हाँ, थोड़े दिनों में अपने फरजंद को भी आपसे पढ़वाएगा।" अपने

'फरजंद' शब्द में जो व्यंग्य उसने दिया था, उससे खुद ही प्रसन्न होकर मुसकराते हुए उसने चौकीदार की दी हुई बीड़ी सुलगाई।

"अबे, उन्हें यह सब क्या बताता है? वे तो उसके गाँव से ही आए हैं। उन्हें सब मालूम है।" चौकीदार बोला।

"नहीं, सच, मुझे कुछ नहीं मालूम।" गोविन्द ने जरा आश्वासन के स्वर में कहा, "इन लाला के तो पिता ही यहाँ चले आए थे न, सो हम लोगों को कुछ भी नहीं मालूम। बताइए न, क्या बात है?" गोविन्द ने आदरपूर्वक जरा खुशामद के लहजे में पूछा।

शायद उसकी जिज्ञासु व्याकुलता से प्रभावित होकर ही मिस्तरी बोला, "अजी कुछ नहीं, लाला की बड़ी लड़की जो है न, उसे मिरगी का दौरा आता है। कोई कहता है उसे हिस्टीरिया है, पर हमारा तो कयास है कि बाबू जी, दौरा-वौरा कुछ नहीं, उस पर किसी आसेब का साया है...उस बेचारी को तो कुछ होश नहीं रहता।"

"विधवा है?" जल्दी से बात काटकर गोविन्द धक्-धक् करते दिल से पूछ बैठा—हाय, लक्ष्मी ही न हो!

इस बार पुनः दोनों की निगाहों का आपस में टकराकर मुसकराना उससे छिपा न रहा। बीड़ी के लम्बे कश के धुएँ को लीलकर इस बार चौकीदार जबरदस्ती गम्भीर बनकर बोला, "अजी, इसने उसकी शादी ही कहाँ की है?"

"नाम क्या है?" गोविन्द से नहीं रहा गया।

"लक्ष्मी।"

"लक्ष्मी...!" उसके मुँह से निकल गया और जैसे एकदम उसकी सारी शक्ति किसी ने सोख ली हो, जिज्ञासा और उत्तेजना से तना शरीर ढीला पड़ गया।

चौकीदार इस बार अत्यन्त ही रहस्यमय ढंग से हँसा, जैसे कह रहा हो—"अच्छा, तुम भी जानते हो?"

गोविन्द के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठा, उसकी उम्र क्या है?

लेकिन चौकीदार ने पूछा, "तो सचमुच बाबू जी, आप इनके घर के बारे में कुछ भी नहीं जानते?"

"नहीं भाई, मैंने बताया तो, मैं इनके बारे में कुछ भी कतई नहीं जानता।" एक तरफ आत्म-समर्पण के भाव से गोविन्द बोला।

"लेकिन लक्ष्मी का किस्सा तो सारे शहर में मशहूर है।" चौकीदार बोला।

"आप शायद नए आए हैं, यही वजह है।" फिर मिस्तरी की ओर देखकर बोला, "क्यों मिस्तरी साहब, तो बाबू जी को किस्सा बता ही दूँ...।"

"अरे लो, यह भी कोई पूछने की बात है? इसमें छिपाना क्या? यहाँ रहेंगे तो कभी-न-कभी जान ही जाएँगे।"

"अच्छा तो फिर सुन ही लो यार, तुम भी क्या कहोगे..." चौकीदार ने आनन्द में आकर कहना शुरू किया, "आप शायद जानते हैं, यह हमारा लाला शहर का मशहूर कंजूस और मशहूर रईस है...।"

"लामुहाला जो कंजूस होगा वो रईस तो होगा ही।" मिस्तरी बोला।

"नहीं मिस्तरी साहब, पूरा किस्सा सुनना हो तो बीच में मत टोको।" चौकीदार इस हस्तक्षेप पर नाराज हो गया।

"अच्छा-अच्छा, सुनाओ।" मिस्तरी बुड्ढों की तरह मुस्कराया।

"इसकी यह चक्की है न, सहालगों में इस पर हजारों मन पिसता है, वैसे भी दो-ढाई सौ मन तो कम-से-कम पिसता ही है रोज। अफसरों और क्लर्कों को कुछ खिला-पिलाकर लड़ाई के जमाने में इसे मिलिटरी से कुछ ठेके मिल ही जाते थे। आप जानो, मिलिटरी का ठेका तो जिसके पास आया सो बना। आप उन दिनों देखते 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' के हल्ले। बोरे यों चुने रखे रहते थे, जैसे मोर्चे के लिए बालू भर-भर रख दिए हों! इसमें इसने खूब रुपया पीटा, मिलिटरी के गेहूँ बेच दिए औने-पौने भाव और रद्दी सस्ते वाले खरीदकर कोटा पूरा किया; उसमें खड़िया मिला दी। पिसाई के उल्टे-सीधे पैसे तो इसने मारे ही, ब्लैक, चार-सौ बीसी, चोरी—क्या-क्या इसने नहीं किया! इसके अलावा एक बड़ी साबुन की फैक्टरी और एक काफी बड़ा जूतों का कारखाना भी इसका है। उसे इसके बेटे संभालते हैं। पच्चीस-तीस रिक्शे और पाँच मोटर-ट्रक चलते हैं। दस-बारह से ज्यादा इसके मकान हैं, जिनका किराया आता है। रुपये सूद पर देता है। शायद गाँव में भी काफी जमीन इसने ले रखी है। एक काम है साले का! इतना तो हमें पता है, बाकी इसकी असली आमदनी तो कोई भी नहीं जानता, कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। भगवान ही जाने! रात-दिन किसी-न-किसी तिकड़म में लगा ही रहता है। करोड़ों का आसामी है। और सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि सब सिर्फ इसी पच्चीस-छब्बीस साल में जमा की हुई रकम है।" चौकीदार दिलावरसिंह मिलिटरी में रह आने के कारण खूब बातूनी था और मोर्चे के अपने अफसरों के किस्सों को, अपनी बहादुरी के कारनामों को खूब नमक-मिर्च लगाकर इतनी बार सुना चुका था कि उसे कहानी सुनाने का मुहावरा हो गया था। हर बात के उतार-चढ़ाव के साथ उसकी आँखें और चेहरे की भंगिमाएँ बदलती रहती थीं।

उसकी बातें गौर और रुचि से सुनते हुए भी गोविन्द के मन में एक बात टकराई, लक्ष्मी को दौरे आते हैं, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसने जो यह निशान लगा भेजे हैं, यह भी दौरों की दशा में ही लगाए हों और उनका कोई विशेष गहरा अर्थ न हो। इस बात से सचमुच उसे बड़ी निराशा हुई, फिर भी उसने ऊपर से आश्चर्य प्रकट करके पूछा, "सिर्फ पच्चीस-छब्बीस साल?"

नई बीड़ी जलाते हुए चौकीदार ने जोर से सिर हिलाया। गोविन्द ने सोचा—'और लक्ष्मी की उम्र क्या होगी?'

"और कंजूसी की तो हद आपने देख ही ली होगी! बुड्ढा हो गया है, साँस का रोग हो रहा है, सारा बदन काँपता है; लेकिन एक पैसे का भी फायदा देखेगा तो दस मील धूप में हाँफता हुआ पैदल जाएगा, क्या मजाल जो सवारी कर ले। गर्मी आई तो पूरा शरीर नंगा; कमर में धोती—आधी पहने, आधी बदन में लपेटे। जाड़ा हुआ तो यही ड्रैस, बस, इसी में पिछले दस साल से तो मैं देख रहा हूँ। कभी किसी मकान

की मरम्मत न कराना, सफेदी-सफाई न करना और हमेशा यही ध्यान रखना कि कौन कितनी बिजली खर्च कर रहा है, कहाँ बेकार नल या पंखा चल रहा है। लड़का है सो उसे मुफ्त के चुंगी के स्कूल में डाल दिया है, लड़की घर पर बैठा रखी है। एक-एक पैसे के लिए घण्टों रिक्शा वालों, ट्रक वालों से लड़ना, बहसें करना और चक्की वालों की नाक में दम रखना, उन्हें दिन-रात यह सिखाना कि किस चालाकी से आटा बचाया जा सकता है। बीसियों रुपये का आटा रोज होटल वालों को बिकता है, सो अलग। जिस दिन से चक्की खुली है, घर के लिए तो आटा बाजार से आया ही नहीं। आप विश्वास मानिए, कम-से-कम बारह-पन्द्रह हजार की आमदनी होगी, लेकिन सूरत देखिए, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। किसी आने-जाने वाले के लिए एक कुर्सी तक नहीं—पान-सुपाड़ी की तो बात ही दूर है। कौन कह देगा कि यह पैसे वाला है? यह उम्र होने आई, सुबह से शाम तक बस, पैसे के पीछे हाय-हाय! दुनिया के किसी और काम से इसे मतलब ही नहीं है। सभा हो, सोसाइटी हो, हड़ताल हो, छुट्टी हो, कुछ भी हो—लेकिन लाला रूपाराम अपनी ही धुन में मस्त! नौकरों को कम-से-कम देना पड़े, इसलिए खुद ही उनके काम को देखता है। मुझसे तो कुछ इसलिए नहीं कहता कि मुझ पर थोड़ा विश्वास है; दूसरे मेरी जरूरत सबसे बड़ी है। लेकिन बाकी हर नौकर रोता है इसके नाम को। और मजा यह कि सब जानते हैं कि झक्की है। कोई इसकी बात को ध्यान से सुनता नहीं। बाद में सब इसका नुकसान करते हैं, आस-पास के सभी हँसते और गालियाँ देते हैं..."

"बच्चे कितने हैं...?" चौकीदार को इन बेकार की बातों में बहकता देखकर गोविन्द ने सवाल किया।

"उसी बात पर आता हूँ," चौकीदार इत्मीनान से बोला, "सच बाबू जी, मैं यह देख-देखकर हैरान हूँ कि इस उम्र तक तो इसने यह दौलत जुटाई है, अब इसका यह कम्बख्त करेगा क्या? लोग जमा करते हैं कि बैठकर भोगें; लेकिन यह राक्षस तो जमा करने में ही लगा रहता है। इसे जमा करने की ही ऐसी हाय-हाय रही है कि दौलत किसलिए जमा की जाती है, इस बात को यह बेचारा बिलकुल भूल गया है।" फिर बड़े चिन्तित और दार्शनिक मूड में दिलावरसिंह ने आग वाली राख को देखते हुए कहा, "इस उम्र तक तो इसे जोड़ने की ऐसी हवस है, अब इसका यह भोग कब करेगा? सचमुच बाबू जी, जब कभी मैं सोचता हूँ तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। देखो, आज की तारीख तक यह बेचारा भाग-दौड़कर, लू-धूप की चिन्ता छोड़कर जमा कर रहा है। एक पाई उसमें से खा नहीं सकता, जैसे किसी दूसरे का हो—अब मान लीजिए, कल यह मर जाता है, तो यह सब किसके लिए जमा किया गया? बेचारे के साथ कैसी लाचारी है,'मरकर-जीकर, नौकर की तरह जमा किए जा रहा है, न खुद खा सकता है, न देख सकता है कि कोई दूसरा छू भी ले—जैसे धन के ऊपर बैठा साँप, खुद उसे खा नहीं सकता, खाने तो खैर देगा ही क्या? उसकी रखवाली करना और जोड़ना..." और लाला रूपाराम के प्रति दया से अभिभूत होकर चौकीदार ने एक गहरी साँस ली। फिर दूसरे ही क्षण किटकिटाता हुआ बोला, "और कभी-कभी

मन होता है, छुरा लेकर साले की छाती पर जा चढ़ूँ, और मुरब्बे के आम की तरह गोदूँ। अपने पेट में जो इसने इतना धन भर रखा है, उसकी एक-एक पाई उगलवा लूँ। चाहे खुद न खाए लेकिन, जिसे अपने बच्चों को भी खिला-पिला नहीं सकता, उस धन का क्या होगा?"

"इसके बच्चे कितने हैं?" इस बार फिर गोविन्द अधीर हो आया। असल में वह चाहता था कि दार्शनिक उद्गारों को छोड़कर वह जल्दी-से-जल्दी मूल विषय पर आ जाए—लक्ष्मी के विषय में बताए।

वर्णन में बह जाने की अपनी कमजोरी पर चौकीदार मुस्कराया और बोला, "इसके बच्चे हैं चार; बीवी मर गई, बाकी किसी नातेदार, किसी रिश्तेदार को झाँकने नहीं देता, ऊपर तो कोई नौकर भी नहीं है। बस, एक मरी-मरायी सी बुढ़िया पाल ली है, लोग बड़े भाई की बीवी बताते हैं। बस, वही सारी देखभाल करती है। और तो किसी को मैंने साथ देखा नहीं। खुद के तीन लड़के और एक लड़की...।"

"बड़े दो लड़के तो साथ नहीं रहते..." इस बार मिस्तरी बोला।

"हाँ, वो लोग अलग ही रहते हैं। दिन में एकाध चक्कर लगा जाते हैं। एक जूतों का कारखाना देखता है, दूसरा साबुन की फैक्टरी सम्भालता है। इस साले को उन पर भी विश्वास नहीं है। पूरे कागज-पत्तर, हिसाब-किताब अपने पास ही रखता है। नियम से शाम को वहाँ जाता है वसूली करने। लेकिन लड़के भी बड़े तेज हैं, जरा शौकीन तबियत पाई है। इसके मरते ही देख लेना मिस्तरी, वो इसकी सारी कंजूसी निकाल डालेंगे।" फिर याद करके बोला, "और क्या कहा तुमने? साथ रहने की बात, सो भैया, जब तक अकेले थे, तब तक तो कोई बात नहीं थी; लेकिन अब तो उनकी बीवियाँ आ गई हैं न, एकाध बच्चा भी आ गया है घर में, सो उसे दिन भर गोद में लटकाए फिरता है। इसके घर में एक चंडी जो है न, उसके साथ सबका निभाव नहीं हो सकता।"

एकदम गोविन्द के मन में आया—लक्ष्मी। और वह ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। "कौन? लक्ष्मी!" उसके मुँह से निकल गया।

"जी हाँ, उसी की बदौलत तो यह सारा खेल है, वही तो इस भण्डारे की चाबी है। वह न होती तो यह ताम-झाम आता कहाँ से? उसने तो इसके दिन ही पलट दिए, नहीं तो था क्या इसके पास?" इस बार यह बात चौकीदार ने ऐसे लटके से कही, जैसे किसी रहस्य की चाबी दे दी हो।

"कैसे भाई, कैसे?" गोविन्द पूछ बैठा। उसका दिमाग चकरा गया। यह क्या विरोधाभास है? एक पल को उसके दिमाग में आया—कहीं यह रुपया कमाने के लिए, तो लक्ष्मी का उपयोग नहीं करता? राक्षस! चांडाल!

उसकी व्याकुलता पर चौकीदार फिर मुस्कराया, और बोला, "बाप तो इसका ऐसा रईस था भी नहीं, फिर वह कच्ची गृहस्थी छोड़कर मर गया था। ज्यादा-से-ज्यादा हजार-हजार रुपया दोनों भाइयों के पल्ले पड़ा होगा। शादियाँ दोनों की हो ही चुकी थीं। कुछ कारोबार खोलने के विचार से यह सट्टे में अपने रुपये दूने-चौगुने करने जो

पहुँचा तो सारे गँवा आया। बड़े भइया रोचूराम ने एक पनचक्की खोल डाली। पहले तो उसकी भी हालत डाँवाडोल रही थी; लेकिन सुनते हैं कि जब से उसकी लड़की गौरी पैदा हुई, उसकी हालत सम्भलती ही चली गई। यह उसी के यहाँ काम करता था, मियाँ-बीवी वहीं पड़े रहते। ऐसा कुछ उस लड़की का पाँव आया कि लाला रोचूराम सचमुच के लाला हो गए। इन लोगों के बड़े-बूढ़ों का कहना था कि लड़की उनके खानदान में भगवान होती है। अब तो अपना लाला कभी इस ओझा के पास जा, कभी उस पीर के पास जा, कभी इसकी 'मानता', 'कभी उसकी 'मानता', 'कभी उसका 'संकल्प'—दिन-रात बस यही कि हे भगवान्, मेरे लड़की हो। और पता नहीं कैसे, भगवान ने सुन ली और लड़की ही आई। आप विश्वास नहीं करेंगे, फिर तो सचमुच ही रूपाराम के नक्शे बदलने लगे। पता नहीं गड़ा हुआ मिला या छप्पर फाड़कर मिला—लाला रूपाराम के सितारे फिर गए...। इसे विश्वास होने लगा कि यह सब बेटी की कृपा है और वास्तव में यह कोई देवी है। इसने उसका नाम लक्ष्मी रखा और साहब, कहना पड़ेगा कि लक्ष्मी सचमुच लक्ष्मी ही बनकर आई। थोड़े दिनों में ही 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' अलग बन गई। अब तो इसका यह हाल है कि यह मिट्टी भी छू दे तो सोना बन जाए और कंकड़ को उठा ले तो हीरा दीखे। फिर आ गई लड़ाई और इसके पंजे-छक्के हो गए। इसे ठेके मिलने लगे। समझिए, एक के बाद एक मकान खरीदे जाने लगे—सामान लाने-ले-जाने वाले ट्रक आए। इधर रोचूराम भी फल रहा था, और दोनों भाई गर्व से कहते थे—'हमारे यहाँ लड़कियाँ लक्ष्मी बनकर ही आती हैं।' लेकिन फिर एक ऐसा वाकया हो गया कि तस्वीर की शक्ल बदल गई..." चौकीदार दिलावरसिंह जानता था कि वह उसकी कहानी का क्लाइमैक्स है। इसलिए श्रोताओं की उत्सुकता को झटका देने के लिए उसने उंगलियों में दबी, व्यर्थ जलती बीड़ी को दो-तीन कश लगाकर खत्म किया और बोला—

"गौरी शादी लायक हो गई थी। शायद किसी पड़ोसी लड़के को लेकर कुछ ऐसी-वैसी बातें भी लाला रोचूराम ने सुनीं। लोगों ने उँगलियाँ उठाना शुरू कर दिया तो उन्होंने गौरी की शादी कर दी। बस, उसकी शादी होना था कि जैसे एकदम सारा खेल उजड़ गया। उसके जाते ही लाला एक बहुत बड़ा मुकद्दमा हार गया और भगवान् की लीला देखिए, उन्हीं दिनों उसकी पनचक्की में आग लग गई। कुछ लोगों का कहना तो यह है कि घरेलू दुश्मन का काम था। जो भी हो, बड़े हाथी की तरह जो एकबारगी गिरे तो उठना दुश्वार हो गया। लोग रुपये दाब गए और उनका दिवाला निकल गया। दिवाला क्या जी, एक तरह से बिल्कुल मटियामेट हो गया। सब कुछ चौपट हो गया और छल्ला-छल्ला तक बिक गया। एक दिन लाला जी की लाश तालाब में फूली हुई मिली। अब तो हमारे लाला रूपाराम को साँप सूँघ गया, उनके कान खड़े हो गए और लक्ष्मी पर पहरा बैठा दिया गया। उसे स्कूल से उठा लिया गया और वह दिन सो आज का दिन, बेचारी नीचे नहीं उतरी। घर के भीतर न किसी को आने देता है, न जाने देता है। मास्टर रखकर पढ़ाने की बात पहले उठी थी; लेकन जब सुना कि मास्टर लोग लड़कियों को बहकाकर भगा ले जाते हैं तो वह विचार एकदम छोड़ दिया

गया। लक्ष्मी खूब रोई-पीटी; लेकिन इस राक्षस ने उसे भेजा ही नहीं लड़की देखने-दिखाने लायक..."

बात काटकर मिस्तरी बोला, "अरे देखने-दिखाने लायक, क्या, हमने खुद देखा है। जिधर से निकल जाती उधर बिजली-सी काँप जाती है। सौ में एक...।"

उसकी बात का विरोध न करके, अर्थात् स्वीकार करके चौकीदार बोला, "स्कूल में भी सुनते हैं बड़ी तारीफ थी; लेकिन सबकी साले ने रेड़ कर दी। उसे यह विश्वास हो गया कि लड़की सचमुच लक्ष्मी है और जब दूसरे की हो जाएगी तो इसका भी एकदम सत्यानाश हो जाएगा। इसी डर से न तो किसी को आने-जाने देता है और न उसकी शादी करता है। उसकी हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नजर रखता है। उसकी हर बात मानता है। बुरी तरह उसकी इज्जत करता है; उसकी हर जिद पूरी करता है, लेकिन निकलने नहीं देता। लक्ष्मी सोलह की हुई, सत्रह की हुई, अठारह, उन्नीस...साल-पर-साल बीत गए। पहले तो वह सबसे लड़ती थी। बड़ी चिड़चिड़ी और जिद्दी हो गई थी। कभी-कभी गाली देती और मार भी बैठती थी, फिर तो मालूम नहीं क्या हुआ कि घण्टों रात-रात भर पड़ी जोर-जोर से रोती रहती, फिर धीरे-धीरे उसे दौरा पड़ने लगा..."

"अब क्या उम्र है?" गोविन्द ने बीच में पूछा।"उसकी ठीक उम्र तो किसी को पता नहीं; लेकिन अन्दाज से पच्चीस-छब्बीस से कम क्या होगी?" घृणा से होंठ टेढ़े करके चौकीदार ने अपनी बात जारी रखी, "दौरा न पड़े तो बेचारी जवान लड़की क्या करे? उधर पिछले पाँच-छः साल से तो यह हाल है कि दौरे में घंटे-दो-घंटे वह बिल्कुल पागल हो जाती है। उछलती-कूदती है, बुरी-बुरी गालियाँ देती है, बेमतलब रोती-हँसती है, चीजें उठा-उठाकर इधर-उधर फेंकती है। जो चीज सामने होती है उसे तोड़-फोड़ देती है। जो हाथ में आता है, उससे मार-पीट शुरू कर देती है, और सारे कपड़े उतारकर फेंक देती है। बिल्कुल नंगी हो जाती है और जांघें पीट-पीटकर बाप से कहती है, "ले तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग...!" यह पिटता है, गालियाँ खाता है, और सब-कुछ करता है, लेकिन पहरे में जरा ढील नहीं होने देता। चुपचाप सिर पर हाथ रखकर बैठा-बैठा सुनता रहता है। क्या जिन्दगी है बेचारे की। बाप है सो उसे भोग नहीं सकता और छोड़ तो सकता ही नहीं। मेरी तो उम्र नहीं रही, वर्ना कभी मन होता है ले जाऊँ भगाकर, जो होगा सो देखा जाएगा।" और एक तीखी व्यथा से मुस्कराता चौकीदार देर तक आग को देखता रहा, फिर धीरे-से होंठ चबाकर बोला, "इसकी बोटी-बोटी गर्म लोहे से दागी जाए और फिर टिकटी बाँधकर गोली से उड़ा दिया जाए।"

गोविन्द का भी दिल भारी हो आया था। उसने देखा, बुड्ढे चौकीदार की गीली आँखों में सामने की बरोसी की धुंधली आग की परछाईं झलमला रही है।

आधी रात को अपनी कोठरी में लेटे लक्ष्मी के बारे में सोचते हुए मोमबत्ती की रोशनी में उसकी सारी बातों का एक-एक चित्र गोविन्द की आँखों के आगे साकार हो आया और फिर उसने अन्धकार की प्राचीरों से घिरी, गर्म-गर्म आँसू बहाती मोमबत्ती

की धुँधली रोशनी में रेखांकित पंक्तियाँ पढ़ीं—

'मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ।'

'मुझे यहाँ से भगा ले चलो...।'

'मैं फाँसी लगाकर मर जाऊँगी...।'

गोविन्द के मन में अपने-आप एक सवाल उठा—'क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्याकुल हो उठा हूँ या औरों ने भी इस आवाज को सुना है और सुनकर अनसुना कर दिया है? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज़ को सुनकर अनसुना किया जा सकता है?'

खेल-खिलौने

बड़े आदर के साथ जैसे ही हमने दोनों हाथ माथे तक उठाकर नमस्कार किया, कार घुर्रघूं करके हमारे बीच से चल दी। एक ओर मैं खड़ा था, दूसरी ओर बाबू जी। दरवाजे पर झुंड-का-झुंड बनाए वे लोग झाँकती हुई कार की ओर हाथ जोड़ रही थीं। जब वे उधर कार की ओर देखतीं तो बड़ी शिष्टता और नम्रता से मुस्करा देतीं, जैसे वे इसी की अभ्यस्त हैं, और जब जरा पीछे हटकर दरवाजे से बाहर निकल आते किसी बच्चे को झिड़कतीं या क्रुद्ध होकर पीछे धकेलतीं, तो उनकी भवें लपकती तलवार की तरह माथे पर तन जातीं। कार के स्टार्ट होते ही इतनी देर से लगाए हुए शिष्टता के सारे अनुशासन टूट चुके थे और उन कारवालियों की मुखर आलोचनाएँ प्रारम्भ हो गई थीं—जिनका विषय था, चश्मे की कमानी, पाउडर, दाँत, मुँह, बाल काटने का ढंग, ब्लाउज़ की डिजाइन और कट, साड़ी की किनारी इत्यादि। नए आदमियों के सामने जबर्दस्ती चुप किए गए और स्वतः डरे हुए बच्चे अब और जोर से चीज माँगने लगे थे।

पृथ्वी पर पड़े हुए कार के निशानों को देखता हुआ मैं लौटने ही को था कि मेरी निगाह सामने से आते हुए सुधीन्द्र भाई पर पड़ गई। शेरवानी, ढीला पाजामा, सैंडल और हाथों में अटैची लिए वह धूल में सने चले आ रहे थे। मैं पूछने को ही था। 'लौट आए?' तभी स्वयं उन्होंने ही पूछ लिया, "कहो भाई, क्या हल्ला है? आप सब लोग क्यों यहाँ जमा हो रहे हैं?" एक विचित्र प्रकार का बुझा हुआ उनका स्वर था।

इससे पहले कि मैं जवाब दूँ, छोटी वीरा ने उछल-उछलकर बता दिया, "सुधीन्द्र भाई साहब, आज नीरजा जीजी को देखने आई थीं उनकी सास," और बच्चों ने खूब उछल-कूदकर एक साथ ही इस बात को दुहराया, "सास देखने आई थीं।"

फिर भी मैंने पास जाकर उनके कंधे पर हाथ रखकर गम्भीरता से बताया, "नीरजा की ससुराल से कुछ स्त्रियाँ देखने आई थीं उसे, अभी तो गई हैं आपके आगे-आगे। हम लोग उन्हें विदा करने आए थे। आप सीधे स्टेशन से ही आ रहे हैं न? लाइए, अटैची मुझे दीजिए। नलिनी के घर सब ठीक-ठाक है न, तार देकर क्यों बुलाया था?" अटैची मैंने उनके हाथ से ले ली, लेकिन मुझे लगा, सुधीन्द्र भाई के चेहरे पर उत्साह नहीं था।

"हाँ, तो नीरजा को देखने को आए थे, फिर क्या हुआ?" उन्होंने सिर झुकाकर

होंठों की पपड़ी को उंगलियों से टटोलते हुए पूछा।

हम लोग एक-एक कदम भीतर चल रहे थे। बरामदा पार करके अब हम ड्राइंगरूम में आ गए थे। बाबूजी अपने कमरे में चले गए। जीजी, माताजी, भाभी, बुआ, चाची और छोटे-छोटे बच्चे सब हमसे पहले ड्राइंगरूम में आ चुके थे। सोफे और कोच पर अब वे लोग बैठ गई थीं। बीच की मेज पर उन देखने वालों के लिए लाए गए नाश्ते के बर्तन—कप, प्लेटें, चम्मच, चायदानी, गिलास, ट्रे इत्यादि रखे थे। किसी प्लेट में बाकी बची दाल-मोठ पड़ी थी, किसी में बंगाली मिठाई को काटता चम्मच। प्यालों के तलों में थोड़ी-थोड़ी चाय बच गई थी। एक बड़ी प्लेट में केलों के छिलके, लुकाट और सेब के बीज, संतरों की जाली और टोस्ट में लगाने के मक्खन की टिकिया के कागज पड़े थे। मेज पर चारखाने का मेजपोश था।

"आओ भाई सुधीन्द्र आओ।" सभी ने हमें देखकर उत्साह से बुलाया, "तुम कब आए? अभी आ रहे हो? अरे, जरा देर पहले आते।" अपने पास बैठने की जगह छोड़कर बुआ ने आपस में बड़े उत्साह से होती हुई बातों का सिलसिला एकदम तोड़कर कहा।

मैंने अटैची कोने में रख दी और बीच की मेज पर एक और दीवाल के सहारे हटाकर उस जगह एक आरामकुर्सी खींच लाया। सुधीन्द्र भाई उसी पर बैठ गए, मैं हत्थे पर बैठ गया। बच्चे इधर-उधर घेरकर खड़े उस बचे हुए नाश्ते-चाय, फल इत्यादि की प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ ने धीरे-धीरे अपनी माँओं से माँगना शुरू कर दिया था। बुआ ने जैसे बिल्कुल नई बात हो, सुधीन्द्र भाई को सूचना दी, "नीरजा को देखने आए थे उसकी ससुराल में, जहाँ रिश्ता हो रहा है न!"

तभी जीजी ने एकदम कहा, "मैं यहाँ आई कमरे में कंघा लेने—देखा, एक चश्मेवाली और खड़ी है। मैं एकदम झक्क रह गई—हाय राम, है कौन यह, यों घुस आई है? उसके पीछे एक और लड़की-सी, फिर एक तेरह-चौदह साल का लड़का। पूछा, तो उसने बताया—'हम लोग बनारस से आए हैं।' मेरी समझ में नहीं आया, क्या करूँ। सबसे पहले जाकर बाबूजी को जगाया, वे झट तहमद बाँधे ही दौड़े। और जब भाभी को बताया, तो चूल्हे में रोटी डालकर वह भागीं कि बस! और भैया बुआ ने तो तमाशा ही कर दिया, कभी इस धोती को उठाएँ, कभी उस ब्लाउज को पहनें, 'मैं क्या पहनूँ, मैं क्या पहनूँ' कहतीं सारे घर में ऐसी नाची-नाची फिरी हैं कि देखते तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते।"

"और अपनी नहीं बताएँगी?" भाभी ने हाथ बढ़ाकर कहा, " 'धोबी मरा कपड़ा नहीं दे गया, कहाँ तो परसों ही दे जाने को रो रहा था। लो, कंघा भी उसी कमरे में छोड़ आई—आग लगे ऐसे घर में! कोई चीज ठीक जगह पर रखी हुई पाती ही नहीं। बिन्दी की शीशी अभी यहाँ रखी थी, न जाने कौन निगल गया! अपने काम की चीज हो या न हो, बच्चों को उससे खेलना। नाक में दम है।' और भी बीस बातें। रोई पड़ती थीं बीबी जी, अरे हाँ, हाँ री! क्या है, क्यों जान खाए जा रही है!"

और जीजी की बात कहती-कहती भाभी ने वीरा के दोनों हाथ झटक दिए,

क्योंकि बिना उनकी बातों में रुचि लिए हुए वह बार-बार उनका मुँह अपने दोनों हाथों से अपनी ओर करके ठिनकती हुई दुहराए जा रही थी, "भाभी, केला दिलवाओ एक, बेबी ने बंगाली मिठाई खा ली, हम भी लेंगे।"

झिड़की खाकर वह भी अब शेष तीनों बच्चों के पास चली गई है। वे सब नाश्ते की उसी मेज के चारों ओर घिरे, बाकी बची चीजों का हिस्सा बाँटकर खा रहे थे, "तूने अपने 'कप' से ज्यादा चाय कर ली, इतनी ही हमें भी दे। आप तो दाल-मोठ की तश्तरी लेकर अलग बैठ गए, कल हमारे पास पटाखे माँगने कैसे आ गए थे, तब तो 'अमें बी दो पताके'! अम्मा देखो, इस उमा ने चायदानी फोड़ी।"

"अच्छा, हल्ला मत मचाओ।" माता जी ने उन्हें झिड़ककर कहा, "उनके आते ही सारे घर में ऐसी भगदड़ मची कि बस क्या बताएँ, कोई इधर भाग रहा है, कोई उधर। हमारे तो भाई, बच्चे भी ग़ज़ब के हैं, घर झाड़ो, साफ़ करो, एक मिनट बाद फिर वहीं घूरा-सा करके रख दें। लोगों के यहाँ न जाने कैसे सजे-सजाए घर रहते हैं। और बैठक तो ये समझो, इस कैलाश ने (मैंने) झाड़-पोंछ दी थी, कबाड़खाने-सी पड़ी थी, कहाँ बैठाते, कहाँ उठाते।"

मुझे इस समय अपनी बहादुरी जतानी बड़ी आवश्यक लगी, फौरन ही बोला, "बैठक मैंने दोपहर को ही झाड़-पोंछ दी थी। तस्वीरों के चौखटे साफ कर दिए थे, मैंटलपीस के सारे खिलौने ठीक-ठाक रख दिए, नहीं तो आनन्द आता।" और मैंने सब खिलौनों-तस्वीरों इत्यादि पर दृष्टिपात किया।

"जीजी, बच्चा।" इस बार जीजा का बच्चा नाश्ते की चीजें खत्म हो जाने पर फिर जीजी के पास आ गया था और खिलौनों का नाम सुनकर मैंटलपीस पर रखे चीनी के भगवान् बुद्ध की ओर उँगली उठाकर कह रहा था।

"हाँ, बच्चा, जाओ, तुम सब लोग जाओ—बाहर खेलो, देखो, सुधीन्द्र भैया आए हैं—बातें करने दो। जाओ, बेबी, विभास, जाओ सब बाहर जाओ, इसे भी ले जाओ।" और जीजी स्वयं उठकर सब बच्चों को बाहर कर आईं।

"हमने तो समझा था, नीरा की सास कोई बुड्ढी-सी होगी, पुरानी ख्यालों की; पर वह तो खूब जवान है! फैशन में रहती है। उल्टे पल्ले की धोती, चश्मा और लड़के की भाभी तो फैशन के मारे मरी जा रही थी। देखा नहीं लिपस्टिक कैसी गाढ़ी-गाढ़ी पोत रखी थी! बार-बार पर्स खोलकर रूमाल निकालती, कभी तह-की-तह होठों पर लगाती, कभी माथे-गालों पर-पाउडर तो बोरी भर लगाया था—मुझे तो बड़ी भद्दी लगी। लड़का सीधा था। छोटा भाई है।" जीजी ने बैठते ही बताया।

"और देखा, कितना छोटा है, मैट्रिक कर चुका है, और एक ये है कैलाश, ऊँट-का-ऊँट अभी बी. ए. में ही पढ़ता है।" माता जी ने कहा।

मैं और सुधीन्द्र भाई चुपचाप बैठे थे। यहाँ कोई किसी की सुनना ही नहीं चाहता था। एक ही बात को अपने-अपने शब्दों में कहने को सभी उत्सुक। समझ में नहीं आता था, किसकी बात को सुना जाए। इन बातों के समाप्त होने की कोई आशा नहीं लग रही थी। तभी अचानक बातों के प्रभाव को पलटने के लिए मैंने कहा,

"आप लोग तो यहाँ बैठी बातें बना रही हैं, नीरजा कहाँ है, उसे भी बुला लीजिए न! सुधीन्द्र भाई आए हैं, न चाय, न पानी!"

"वह तो भीतर वाले कमरे में मुँह ढंके पड़ी है—सिसक रही है। अब बीस बार तो मैं समझा आई हूँ—मानती ही नहीं।" चाची बोलीं।

"क्यों?" इस बार सुधीन्द्र भाई ने अचानक चौंककर मुँह उनकी ओर घुमाया।

"कहती है, मैं शादी नहीं करूँगी, मुझे पढ़ने दो, अभी मेरी इच्छा नहीं है। खूब समझाया कि सभी लड़कियों की शादी होती है, तू क्या अनोखी है, और हम लोग क्या हमेशा ऐसी ही हैं! पर उसने तो न मानने की जैसे कसम ही खा ली है।" चाची ने फिर बताया।

"और वहाँ लड़का जिद किए बैठा है कि शादी करूँगा तो इसी से करूँगा—बाप से साफ कह दिया है। फोटो देखने के बाद यहाँ चुपचाप आकर स्कूल जाते हुए देख गया कहीं, बस तभी से जिद किए है। तभी तो ये सब आई थीं देखने।" माता जी ने कहा, कुछ चिन्तित स्वर में।

नीरजा के रोने की बात सुनकर बातों का उत्साह मंद पड़ गया। तभी बाहर से जीजी का बच्चा फिर उनके पास आ गया—सबके मुँह की ओर देखकर धीरे-धीरे बोला, "जीजी, वह बच्चा लेंगे?" उसकी निगाह मैंटलपीस पर रखी उस बुद्ध-मूर्ति पर थी।

"बात क्यों नहीं करने देता, सब बच्चे बाहर खेल रहे हैं और तू यहाँ जमा है।" इस बार उसे माता जी ने फटकारा। वह सहमकर चुपचाप खड़ा हो गया, गया नहीं।

जीजी उसके सिर पर सांत्वना से हाथ फेरने लगीं, "जिद नहीं करते मुन्ने!"

"अब नीरजा बेचारी रोए नहीं तो क्या हो?" मैंने नीरजा का पक्ष लेकर माताजी से कहा, "आप तो इस बुरी तरह पीछे पड़ जाती हैं कि ऐसा गुस्सा आता है कि फौरन लड़ पड़े। नए आदमियों के सामने अधिक हठ भी तो नहीं कर सकती, और आप हैं कि उन्हीं के सामने पीछे पड़ गईं, यह दिखाना, वह दिखाना। सच, सुधीन्द्र भाई, माता जी ने नीरजा की कोई चीज ऐसी नहीं छोड़ी जो दिखाई न दी हो उन्हें। क्लास में कराए गए कटाई-सिलाई के कामों से लेकर मेजपोश, स्वेटर-सब। यहाँ तक कि हाईजीन में बनाए गए शरीर के विभिन्न अंगों के डायग्राम्स तक। अब उन्हीं के सामने जिद करने लगीं कि 'गाना सुना, गाना सुना', मुझे सच बड़ा गुस्सा आया।"

"सुनाया उसने?" सुधीन्द्र भाई ने पूछा। दोनों घुटनों पर अपनी कुहनी रखे, वें धीरे-धीरे अपने माथे की सलवटें टटोल रहे थे—बड़े चिन्तित, उदास-से।

"सुनाना पड़ा। सुनाए नहीं तो क्या करे? वहाँ पीछे पड़ने वाले तो ऐसे-ऐसे जबर्दस्त हैं, हमारी माताजी, बुआ हैं, चाची हैं। वास्तव में मुझे नीरजा के दिखाने के ढंग पर बड़ा क्रोध आ रहा था।"

"अब, भई, ये तो समझते नहीं हैं", माता जी ने अपनी सफाई बड़े गम्भीर

स्वर में दी, "लड़कियों की शादी का कितना बोझ माँ-बाप पर चढ़ा रहता है, इसे तो उनकी ही छाती जानती है, तुम्हारा क्या है, तुमने तो उठाई जबान और दे मारी। लड़कियाँ तो सब मना किया ही करती हैं। हमने अपनी शादी की बात सुनी थी तो हम भी रोये थे।"

"नीरजा ऐसी लड़की नहीं है—वह वास्तव में अभी पढ़ना चाहती है।" मैं अड़ा रहा।

"तो पढ़ने को कौन मना करता है? अब हमारी तरफ से चाहे जिन्दगी भर पढ़ो। क्यों भई सुधीन्द्र?" माता जी ने सुधीन्द्र भाई का समर्थन प्राप्त करने के लिए उनकी ओर पंजा फैलाकर पूछा।

पर माथे की सलवटें उँगलियों से टटोलते हुए वे न जाने कब से क्या सोच रहे थे। जब से आए थे, उनकी यह उदासी मुझे अखर रही थी। जीजी का बच्चा (उसे प्यार से वह 'पापा' कहती थीं।) अब भी भगवान बोधिसत्त्व की मूर्ति के लिए हठ कर रहा था। मुझे उसका यह हठ करना बुरा लग रहा था। हम सब लोग बातें कर रहे थे, पर उसे जैसे वही धुन। इस मूर्ति को ग्यारह रुपये में मैं विशेष रूप से प्रदर्शनी से लाया था। वास्तव में उसकी चीनी बहुत बढ़िया थी। माता जी की बात पर कोई कुछ नहीं बोला—थोड़ी देर सब चुप रहे, आखिर मुझसे नहीं रहा गया, मैंने पूछ लिया, "क्यों सुधीन्द्र भाई, जब से तुम आए हो, बहुत उदास और सुस्त-से हो? क्या बात है?"

"हाँ रे, तू जब से चुप ही है, सब लोग ऐसे जोर-जोर से बोल रहे हैं।" माताजी ने एकदम इस प्रकार कहा, जैसे विषय बदल कर बोल रही हों, पर वह वास्तव में इतनी देर से उनकी बात का समर्थन न करने की सफाई माँग रही थीं।

"मैं?" बड़े भर्राये-से गले से उन्होंने कहा, फिर एकदम गला साफ करके संयत स्वर में बोले, "मैं! नहीं, कोई खास बात नहीं है।"

"तो भी?" मैंने पूछा, "आपने बताया नहीं, नलिनी के यहाँ कैसे हैं—तार क्यों दिया था?"

"कौन, नलिनी?" जीजी ने धीरे-से पूछा बुआ से, "मुझे तो नहीं मालूम।" कहकर उन्होंने प्रश्न-मुद्रा से चाची की ओर देखा, चाची ने माता जी की ओर।

"सुधीन्द्र की धर्म-बहन हैं एक, मुरादाबाद में।" माता जी ने बताया, फिर स्वयं जानने की इच्छा से सुधीन्द्र की ओर देखा।

सुधीन्द्र भाई एक ओर मुँह घुमाए दरवाजे में से अन्यमनस्क से बाहर देख रहे थे, उसी प्रकार बिना हिले-डुले उन्होंने कहा, "नलिनी मर गई।"

'झन्न' से जैसे हम लोगों के बीच में थाली गिर पड़ी हो। एक साथ सबके मुँह से निकला, "नलिनी मर गई?—कैसे?"हम बुरी तरह चौंक उठे।

सुधीन्द्र भाई उसी प्रकार अविचलित रहे, एकदम झटके से उन्होंने गर्दन घुमाए माता जी की ओर मुँह किया—फिर सूनी आँखों से देखते हुए बोले, "हाँ, नलिनी कल साढ़े नौ बजे मर गई। तार देकर उसने मुझे बुलाया था।"

"कैसे?" एक बार सबके मुँह से निकला। जीजी ने माताजी से पूछा, "क्या उम्र थी?"

माता ने हाथ से उन्हें चुप रहने का इशारा किया, और मुँह पर सारी उत्सुकता लाकर सुधीन्द्र भाई के मुँह की ओर देखने लगीं।

"कैसे मर गई?" धीरे-से वह हँसे, "जैसे सब मर जाते हैं।"

कितनी व्यथा-भरी उनकी वह हँसी थी, जैसे मेरे हृदय में जाकर जोर से वह लरज उठी! उनका सिर झुक गया था। दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरे में फँसा, उन्हें जोड़े हुए वे कुछ क्षण सोचते रहें। एक गहरी साँस छोड़कर उन्होंने झटके से सिर उठाया। "कैसे मर गई, एक लम्बी कहानी है। क्या कीजिएगा सुनकर?"

अब वातावरण एकदम बदल गया था। अभी होने वाली बहस और आलोचनाएँ न जाने कहाँ चली गईं। सुधीन्द्र भाई की उदासी का कोई कारण होगा, मैंने सोचा भी न था।

"क्या उम्र थी?" जीजी ने सीधे ही पूछ लिया।

"उम्र?—पूरे इक्कीस की नहीं थी। यह मेरे पास फोटो है।" उन्होंने अचकन के भीतर हाथ डालकर पर्स निकाल लिया—उसे खोलकर उन्होंने जीजी की ओर बढ़ा दिया, उसमें एक पासपोर्ट साइज का किसी लड़की का फोटो लगा था।

बड़ी उत्सुकता से जीजी ने फोटो लिया। चाची, बुआ, माता जी—सभी उस पर झुक गईं। "लड़की बड़ी सुन्दर है। मुँह पर कैसा भोलापन है। आँखें बड़ी प्यारी हैं। सीधी-सी लगती है।" सभी ने अपनी-अपनी राय दी।

खूब देखने के बाद जब वह पर्स उन्हें लौटाया गया तो इत्मीनान से देखने के लिए मैंने ले लिया। लड़की वास्तव में बड़ी सुन्दर और आकर्षक थी।

"कैसे मर गई? क्या किस्सा है, सुनाओ तो सही जरा!" जीजी ने आग्रह से पूछा। सभी लोग इसी आशा से उनकी ओर देख रहे थे।

"क्या करोगी, पूरा किस्सा है—लम्बा," सुधीन्द्र भाई ने टालना चाहा।

"हमें अब क्या करना है, पूरा सुनाओ, तुम कैसे जानने लगे?" जीजी ने पास खड़े अपने पापा के दोनों हाथ पकड़कर कहा, क्योंकि हाथ-पैरों से उसकी खिलौना लेने की मूक जिद जारी थी। मुझे बड़ा बुरा लग रहा था। ऐसे जिद्दी बच्चे मुझे जरा भी पसन्द नहीं हैं। मैंने कहा, "पूरा तो सुनाओ—इस पापा को तो सम्भालिए, जब से अड़ा हुआ है। यह जिद मुझे जरा भी पसन्द नहीं है।"

"नहीं-नहीं, अब कहाँ जिद कर रहा है!" जीजी ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए थे, लेकिन पैरों को जमीन पर क्रम-क्रम से पटकता हुआ वह मचल रहा था।

बात कहाँ से शुरू करें, शायद सुधीन्द्र भाई यही बड़ी गम्भीरता से सोच रहे थे। लोग सुनने के लिए उत्सुक हैं या नहीं, उन्होंने अपने उदास से नेत्रों से चारों ओर देखा। सिवा-उस बच्चे के, जो अब डरकर चुप हो गया था। किन्तु गया नहीं था, सभी लोग उनकी ओर देख रहे थे। उन्होंने माताजी की ओर देखकर कहना प्रारम्भ किया, "भाभीजी, जिन दिनों आप बदायूँ थीं न, सन् पैंतीस की बात है, शायद मैं

पिताजी के उस गाँव में ही था, तभी का किस्सा है। लीजिए, अब आप नहीं मान रहीं तो सुनिए—शुरू से बता रहा हूँ। हाँ, तो होऊँगा कोई छः-सात साल का! शहर से पिताजी के दोस्त देवनारायण वकील आए उनके पास। पिता जी ने बुलाया था। पिकनिक का प्रोग्राम था। तभी मैंने पहली बार नलिनी को देखा था। बालों में रिबन बाँधती थी। रंग-बिरंगे फ्रॉक पर हल्के हरे रंग का छोटा-सा चेस्टर पहने वह बिल्कुल गुड़िया-सी लगती थी। मैं लाख जमींदार का लड़का सही, लेकिन था तो गाँव का ही। गेलिस लगाकर एक ढीला-ढाला हाफ पैंट और एक कोट पहने था। उससे बोलने की बड़ी इच्छा होती थी, पर संकुचित होकर रह जाता। सुबह छः बजे ही वे लोग कार से आ गए थे, वकील साहब भीतर थे, पिताजी से बातें कर रहे थे। हम दोनों नाश्ता इत्यादि करके बाहर धूप में दूर-दूर ही घूम रहे थे, शायद संकोच यह था कि कौन पहले बोले। हमारे घर के सामने ही थोड़ी-सी जगह छोड़कर आम रास्ता था, उसके दूसरी ओर एक छोटा-सा कच्चा तालाब-पोखर। आठ-दस बतखें तैर रही थीं, हम लोग थोड़ी देर उन बतखों को देखते रहे, कभी-कभी कनखियों से एक-दूसरे को भी आपस में देख लेते। अचानक अपने हाथों को अपनी जेबों में और भी अधिक धँसाकर वह बोली—'देखो न कितना जाड़ा है, बतखों को जाड़ा नहीं लग रहा।' मैंने धीरे-से कहा—'ये तो ऐसे ही तैरती रहती हैं।' इसके बाद तो वह बिल्कुल मेरे पास आकर दुनिया-भर की बातें करने लगी। उसके बोलने के बेझिझक ढंग को देखकर तभी मैं चकित रह गया। दुनिया-भर की तो उसे बातें याद थीं; और बड़ी बातूनी। उसने सब बताया—जिस स्कूल में वह पढ़ती है, उसमें कौन टीचर अच्छी है, कौन बुरी; किस-किस लड़की से उसकी अधिक मित्रता है। जिस 'बस' में वह जाती है उसका नम्बर क्या है। ख़ैर, उस दिन उसने खूब बातें कीं। मैं बिल्कुल चुप रहा; क्योंकि मेरे पास कुछ भी नहीं था। फिर भी हम दो दिनों में खूब घुल-मिल गए थे। कैरम वह बड़ा अच्छा खेल लेती थी। एक दिन बैठकर उसने मुझे शतरंज की चालें समझाईं। पर भई, मेरी समझ में तो कुछ आया नहीं। ख़ैर, पिकनिक के पश्चात् जब वे लोग चले गए तो अचानक मुझे लगा, जैसे दुनिया में कोई काम करने को ही नहीं रह गया है। फिर तो जब भी पिताजी के साथ शहर जाते, उनके यहाँ जरूर जाते। लेकिन थोड़े दिन घर रहकर वह अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ चली गई।

"मेरी पढ़ाई भी चलती रही।" सुधीन्द्र भाई कुछ रुके। तभी मैंने देखा, धीरे-धीरे कुनमुनाता हुआ वह पापा रह-रहकर जीजी को नोचता हुआ अपनी जिद को चालू रखे हुए है। अदम्य इच्छा हुई, जोर से एक चाँटा मारकर धकेल दूँ। न बातें करने देता है, न कुछ सुनता है। बड़े लाड़ले आए! पर जैसे-तैसे अपनी इस इच्छा को दबाया। निश्चय कर लिया कि इस बार इसने बातों में ज़रा विघ्न डाला तो कान पकड़कर बाहर निकाल दूँगा, फिर चाहे जीजी जो बकती रहें।

"मैट्रिक कर लेने के पश्चात् वकील साहब और पिता जी के बीच एक अच्छा-खासा विवाद उठ खड़ा हुआ कि कॉलेज में पढ़ाई जारी रखने के लिए मैं हॉस्टल में रहूँ या वकील साहब के यहाँ, पिता जी हॉस्टल के पीछे पड़े हुए थे। क्योंकि दो-चार महीने

की बात होती तो कुछ नहीं था। खैर मैं यहाँ हॉस्टल में आया। वकील साहब ने आज्ञा दे दी कि दिन में एक बार यहाँ जरूर आओगे। हॉस्टल में अच्छी तरह जम लेने के बाद मैं वकील साहब के यहाँ जाने लगा। एकाध घण्टा बैठता और चला आता। वकीलनी (जिन्हें मैं चाची कहता था) और वकील साहब से ही बातें करता था। बातों में वह नलिनी की तारीफ करते, हमारी नलिनी ऐसी है, वैसी है, यों पढ़ने में तेज है, यों खेलने में होशियार है। एकाध बार तो मैंने सुना, फिर मुझे झुंझलाहट आने लगती। क्योंकि उसकी प्रशंसा करते वह थकते नहीं थे और मुझे लगता था, जैसे उनके कहने का बस इतना ही मतलब है—तुम चाहे जितने होशियार हो, नलिनी तुमसे लाख दर्जे इंटेलिजेंट है। अक्सर वह पूछते, कुछ तकलीफ तो नहीं है। रोज ही कुछ-न-कुछ खिला देते। मैंने वहाँ सेकेंड-इयर किया, और छुट्टियों के पश्चात् जब मैं वहाँ गया तो बताया गया कि नलिनी अब वहीं आ गई है। मैट्रिक में फर्स्ट पास हुई है, सेकेण्ड पोजीशन है। यहीं पढ़ेगी। कभी-कभी मैं उसके विषय में सोचा करता, न जाने कैसी होगी। हम लोग सन् छत्तीस में मिले थे और अब था पैंतालीस। नौ-दस वर्ष का अन्तर बहुत होता है। तभी वकील साहब ने उसे बुलाया—'चाय ले आओ नलिनी'। और नलिनी चाय का ट्रे लेकर आई। मैं बुरी तरह चौंक गया। पहली जो कुछ धुंधली नलिनी मेरे मानस-पटल पर थी, उसकी इससे कोई तुलना नहीं थी। हमने शालीनता में नमस्कार किया। नलिनी ने चाय की ट्रे रखकर नमस्कार का उत्तर दिया, मुस्कराकर, और बेझिझक वकील साहब के पास बैठ गई।...

'भाई साहब फर्स्ट डिवीजन में पास होने की मिठाई तो खिलवाइए।' मैं चकित रह गया। लाख बचपन में मिले सही, लेकिन मैं तो एकदम किसी अनजान लड़के से भी इस तरह नहीं बोल सकता। फिर वह तो पन्द्रह वर्ष की लड़की थी जो धोती में सिमटी-सिमटाई-सी अपने में ही लीन हो जाने की चेष्टा किया करती है। उसकी वाणी, व्यवहार, किसी में भी कोई झिझक, संकोच या लज्जा मुझे नहीं लगी, इसके विपरीत मैं स्वयं ही सोच में था कि क्या उत्तर दूँ। चाय बन गई थी, तभी अपना कप उठा कर वकील साहब ने कहा—'तुम तो भूल-भाल गए होगे, यह तो वही नलिनी है, जो तुम्हारे यहाँ गई थी, यह चुड़ैल कुछ भी नहीं भूलती—न मालूम बचपन से ही ऐसी याददाश्त लेकर पैदा हुई है। छोटी-से-छोटी बात सब इसे याद है।'

'इन्हें क्यों याद होगा—हारते थे न, जिस खेल को देखो, उसी में गोल रहे थे। मिठाई चाहे जब खिलवाइए, लेकिन चाय क्यों ठण्डी किए डालते हैं?' और वह कुटिलता से मुस्कराकर कप पर झुक गई। मैं उसकी ओर सीधे देखने का साहस नहीं कर सका। इधर-उधर भागती दृष्टि को समेट कर उस ओर लाने की चेष्टा करता, पर जैसे वह वहाँ पहुँचकर किसी शक्ति से छिटक उठती। उसके इस उत्तर पर भी मैं कुछ नहीं बोला।

'भाई साहब! आप तो बहुत ही शरमाते हैं।' उसने फिर कोंचा। इस बार मेरा सारा संकोच जैसे इस वाक्य की प्रतिक्रिया से क्षोभ बन उठा। बड़ी असभ्य लड़की है। मन में सोचा—जब से आई है, कुछ-न-कुछ बोले ही जा रही है। जब मैं नहीं बोलना

चाहता तो मेरे पीछे क्यों पड़ी है?' मैंने कहा—'आप तो मुझसे अच्छी तरह पास हुई हैं, आप पहले खिलाइए न!'

'या तो बिल्कुल ही नहीं बोल रहे थे, और बोले तो ऐसी शिष्टता से बोले कि छोटे-बड़े सबका ध्यान भुला दिया।' जल्दी से चाय को घूँटकर वह बुरी तरह हँस पड़ी। हाथ का कप काँप गया और चाय छलक गई। वकील साहब इस सारे वातावरण का आनन्द ले रहे थे। बनावटी क्रोध से बोले—'क्या कर रही है, तमीज से बात कर। सारे कपड़े खराब किए लेती है?' मुझे वकील साहब पर क्रोध आ रहा था। यह तो नहीं कि ठीक से डाँटें, तभी तो इतनी बेशर्म हो गई है। लड़कियों के इतने निर्लज्ज होने के मैं खिलाफ हूँ। यही चीज तो उनमें अन्य चारित्रिक दुर्बलताओं को जन्म देती है...और भी मैंने उसके विषय में न जाने क्या-क्या उल्टा-सीधा सोच डाला। बातों का उत्तर तो मैंने उस समय दिया, पर मुझे उसका बेझिझकपन अधिक पसन्द नहीं आया। उधर वकील साहब थे कि अपनी बेटी की इस बहादुरी पर फूले पड़ते थे। माँ-बाप ऐसा लाड़-प्यार करते हैं, तभी तो लड़कियाँ बिगड़ जाती हैं। सामने तो बड़ी इतराती रहेंगी...और सैकड़ों सिनेमा-उपन्यासों के दृश्य उस समय मेरे सामने आए। जब वही इतनी बेशर्म है तो मैं ही क्यों हयादार बना रहूँ—सोचकर मैंने सारा संकोच छोड़ दिया। उसकी ओर देखा, वह सुन्दर थी पर लड़कियों में एक स्वाभाविक लज्जा, हल्का-सा संकोच रहता है, वह असुन्दर को तो सुन्दर बनाता ही है, वह जैसे सुन्दर पर भी कलई कर लेता है—पर वहाँ कुछ नहीं, वहीं सपाट मुँह। हाथ में केवल दो सोने की चूड़ियाँ। ऊपर से नीचे तक कुछ नहीं। उल्टे पल्ले की धोती, सो भी कंधे पर झूल रही थी—नए आदमी के सामने जाते हैं तो थोड़ा सिर पर रख लेते हैं। मैं सोचने लगा, इस लड़की को इतना निर्लज्ज बना देने में इसके इस सौन्दर्य का कितना हाथ है! जब चलने लगा, तो बोली—"देखिए भाई साहब, मुझे इस बार तीन इम्तहान देने हैं। कॉलेज में इंटर का तो है ही, एक विशारद और दूसरा एक संगीत का। कहिए, कैसा रहेगा?'

'बड़ा अच्छा रहेगा।' कहा हमने, पर सोचा, शायद यह दिखाना चाहती है कि मैं कितनी पढ़ाकू हूँ।

'संगीत के लिए हमने एक ट्यूटर लगा लिया है, सत्तर रुपये लेगा विशारद हमें आप कराएँगे।' उसने एक बार वकील साहब की ओर देखा। मैं इस अप्रत्याशित बोझ से जैसे अचकचा उठा।

वकील साहब बोले—'हाँ, दिलवा दो भई, पास तो यह हो ही जाएगी। लेकिन तुम तैयारी करा दोगे तो जरा अच्छी तरह पास हो जाएगी। हिन्दी के तुम विद्वान् भी हो, सब जानते हो। ठीक रहेगा। संध्या को चाय यहीं पिया करो।'

'हाँ-हाँ' करके मैंने स्वीकृति दी। उस समय तो मुझे यह विश्वास हो गया था, इस लड़की को अपने सौन्दर्य का गर्व है। इसीलिए यह इतनी निर्लज्ज है। उसे गर्व है तो रहा करे—गर्व करने वालों के लिए यहाँ भी गर्व कम नहीं है। दो-एक दिन पढ़ाऊँगा, ठीक से पढ़ी तो ठीक है, जरा भी तीन-पाँच की, बस उसी दिन छोड़ दूँगा,

कोई बहाना बना दूँगा। ज्यादा-से-ज्यादा वकील साहब बुरा ही तो मानेंगे। इस क्षोभ और द्वन्द्व के भीतर कभी मुझे लगता, जैसे कोई बड़े मृदुल स्वर में पूछता—'किन्तु यह नलिनी है कैसी लड़की?' खैर, उस दिन, दिन-भर मैंने उसके विषय में जो भी सोचा, वह अधिक नहीं था। उसको लेकर मैंने न जाने किस-किस तरह की कल्पना की।...

"और संध्या के समय मैं उसके पास जाने लगा, उसे पढ़ाने। भाभी जी, जब आज भी उन बातों को सोचता हूँ तो शर्म से गर्दन झुक जाती है। किसी के विषय में इतनी जल्दी सम्मति बना लेना कितना खराब है, खतरनाक है! सच कहता हूँ मैं, उस जैसी बुद्धि वाली लड़की मैंने जिन्दगी में एक भी नहीं देखी। ओफ्! क्या दिमाग पाया था। उसने! किसी भी बात को एक बार समझा दो, कम-से-कम इस जिन्दगी में दूसरी बार समझाने की जरूरत ही नहीं। कभी कॉपी में मीनिंग या नोट्स नहीं लेती थी। और इतनी सुन्दर लिखाई कि क्या कहूँ। एक किताव पढ़ लेती तो शब्द प्रतिशब्द वह उसे महीनों याद रहती, वहुत-से स्थानों पर वह मुझे पढ़ाती थी या मैं उसे, वह मैं आज तक नहीं जान पाया। मैं उसे बड़े ध्यान और गम्भीरता से पढ़ाता और वह बड़े आनन्द से पैंसिल से खेलती या पेन से नाखून रंगा करती। मैं झुंझलाकर एकदम पूछ बैठता—'बताओ मैंने क्या बताया?' और वह मेरा प्रत्येक शव्द दोहरा देती। मैं आश्चर्य करता, यह लड़की है या आफत! पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी और भी न जाने कितने कवियों की सैकड़ों कविताएँ उसे याद। मैं कठिन-से-कठिन काम उसे करने को देता और वह बड़ी आसानी से सिर हिलाकर स्वीकार कर लेती। यह तो रही उसकी कुशाग्र बुद्धि। लेकिन मैं बताना यह चाहता हूँ कि वह लड़की असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न थी। उसके निबन्ध देखकर उसके मनन पर सिर खुजाना पड़ता था। उसकी कहानियाँ देखकर आँखें फटी रह जाती थीं। मैंने उसे तीन वर्ष पढ़ाया। इस बीच उसकी प्रत्येक अच्छी-बुरी बात देखने का मौका मुझे मिला। अब इसे आप चाहे तो कुछ भी कहिए—मेरी दुर्बलता या बुद्धिमानी—मैं उसकी एक-एक बात का भक्त वन गया। उसका संगीत देखा तो दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी, केवल यही नहीं कि बाजे को पीट-पाट लिया, और उल्टे-सीधे सिनेमा के गीत गा लिए। वास्तव में उसका स्वर था, उसे संगीत का ज्ञान था। महादेवी के गीत इस तरह सुनाती थी कि बस, तबीयत झूम उठे।" कहकर सुधीन्द्र भाई कुछ देर के लिए रुके कि उनकी यह प्रशंसा अति पर तो नहीं पहुँच गई है।

माता जी की ओर देखकर फिर उन्होंने खिलौना लेने के लिए अपनी मूक जिद जारी रखते पापा को शून्य आँखों में देखा, फिर कहा, "भाभी जी, आप सोचेंगी, मैं व्यर्थ ही उसकी इतनी प्रशंसा करके उसे आसमान पर क्यों रखे दे रहा हूँ। लेकिन मुझे वास्तव में ऐसा लगता है, उसकी पूरी बात कह ही नहीं पा रहा हूँ। खैर, तब मैंने जाना ही क्यों यह लड़की निडर, निर्भीक और बेझिझक है, क्योंकि, उसके हृदय में भय, कलुष या उलझन नहीं है। वह उन लड़कियों में से नहीं है जो मन में हजार उल्टी-सीधी बातें रखते हुए भी ऊपर से अपने को बिल्कुल निर्लिप्त दिखाया करती

हैं। उसके स्वभाव की वह सरलता, वाणी की तीव्रता, मुक्त हास्य की चंचलता, उसके रूप-गर्व के प्रतीक नहीं है, वरन् वह उसकी प्रखर प्रतिभा का प्रचण्ड विस्फोट है, जो उसके व्यक्तित्व के इन सब रूपों में दिखाई देता है। हो सकता है, मैं उसकी प्रशंसा करने में संतुलन न रख पा रहा होऊँ, पर वह लड़की वास्तव में ऐसी थी, जैसी दो-चार मोहल्लों की तो बात ही क्या, दो-चार शहरों में नहीं होती। कहीं चलते-फिरते उसने नई बुनाई देखी, खट से उसे घर पर आकर डाल लिया। न किसी से पूछने की जरूरत, न सीखने की..."

"तो ऐसी तो हमारी नीरजा भी है, जहाँ जो भी देखेगी, फौरन उसे ज्यों-का-त्यों दिमाग में रख लेगी।" एकदम माता जी ने कहा।

मन में हल्की झुंझलाहट हुई। पता नहीं, माता जी सुधीन्द्र भाई की बात सुन रही हैं या तुलना में लगी हैं!

"तो ऐसी वह लड़की थी।" माता जी की बात को स्वीकार करके सुधीन्द्र भाई बोले, "मैं उसे पढ़ाता था, किन्तु इस बात का निश्चय मुझे हो गया कि वह केवल संयोग है, जो मैं उसे पहले से पढ़ते होने के कारण उससे आगे हूँ और उसे पढ़ा रहा हूँ, नहीं तो इसे स्वीकार करने में मुझे कोई झिझक नहीं कि वह मुझसे कई गुनी अधिक बुद्धिमती, प्रतिभाशालिनी थी। सबसे बड़ी बात जो मैंने उसमें नई देखी, वह यह कि किसी की अप्रत्याशित बात से एकदम प्रभावित नहीं होती थी, इसीलिए प्रायः वह भावुक नहीं थी। जब मैं उसकी उन बेझिझक खुली आँखों में देखता तो लगता, न मालूम कितने गहरे खुले आकाश को मैं देख रहा हूँ, जिसका कहीं भी ओर-छोर नहीं है। मुझे निश्चय हो गया कि यह लड़की किसी दिन सारे देश को अपनी विलक्षण प्रतिभा से चकित कर देगी।

"खैर, मैं उसे पढ़ाता रहा। एक दिन चाची ने बताया कि अपने जिन सम्बन्धी के यहाँ वह पहले 'मैट्रिक' तक पढ़ने को रही थी, शायद वे उसके चाचा थे, उनका पत्र आया है। उन्होंने लिखा है कि नलिनी के लिए लड़का उन्होंने ठीक कर लिया है, लेकिन नलिनी ने स्पष्ट कह दिया कि उसका विचार अभी शादी करने का कतई नहीं है। अभी वह थर्ड इयर में ही पढ़ती है; कम-से-कम एम. ए. तक वह इस विषय पर सोचेगी भी नहीं। फिर दूसरा पत्र आया, वह लड़का इसी मुहल्ले का है, हमारी ही जाति का है, पिछले आठ-दस साल से है मैं उसे देख रहा हूँ—बड़ा सुशील और सीधा लड़का है। उसी ने नलिनी को मैट्रिक के लिए इंग्लिश पढ़ाई थी—लेकिन नलिनी भी एक नम्बर की जिद्दी लड़की—एक नहीं मानी। फिर तीसरा पत्र आया—उस लड़के ने नलिनी में पता नहीं क्या देखा कि अपने बाप से स्पष्ट कह दिया कि शादी करूँगा तो इसी लड़की से, नहीं तो बिल्कुल नहीं। इसी विषय में वे मुझसे सलाह लेने आई थीं कि अब क्या करें? नलिनी पास बैठी सब सुन रही थी। मैं कुछ राय जाहिर करूँ, इससे पहले वह स्वयं बोली—'पता नहीं क्यों लड़कों को शादी करने की ऐसी जल्दी पड़ती है। लाइए, मैं उन्हें लिख दूँ सीधा, कि मैं आपसे शादी नहीं करना चाहती।' मैं उस ओर देख नहीं सका। वकीलनी ने कहा, समझाओ इसे।

यद्यपि मन-ही-मन मैंने स्वीकार किया कि नलिनी की बात ठीक है; जब वह पढ़ना चाहती है तो उसे पढ़ने देना चाहिए। तो मैंने यों ही कहा–'जब वह इतना हठ पड़ रहा है तो मान जाओ न, कर-करा लो उसी से शादी'

"उसने मुझे इस तरह से देखा, जैसे किसी बच्चे को देखते हों और वह झिड़ककर बोली–'आप भी क्या बात करते हैं, भाई साहब, बच्चों जैसी! वह अचानक मैं ही आपसे कहने लगूँ कि मुझसे शादी कर लीजिए, तो कैसे हो सकता है? न मैंने उन्हें कभी इस दृष्टि से देखा, न मेरे मन में कभी ऐसी बात आई।' उसके मुख पर उत्तेजना थी। उसका मुख-मण्डल प्रदीप्त था।

"मुझे हँसी आई–कैसी मूर्खता की उपमा इसने दी है! कहा–'न सोचा न सही, तब भी इसमें हर्ज क्या है?'

" 'हर्ज क्या है?' उसने बच्चों की तरह मुँह बिरा दिया–'हर्ज है कैसे नहीं? ऐसा हो नहीं सकता। मैंने उन्हें सदैव गुरु की तरह पूजा और भाई की पवित्र दृष्टि से देखा है जिस तरह आप लोगों में काफी घुल-मिल गए हैं न, ठीक वैसी ही बात है वहाँ। मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि एक दिन वे इस प्रकार हठ करके बैठ जाएँगे कि मैं शादी करूँगा तो इस नलिनी से करूँगा।' वह थोड़ी देर चुप रही, फिर जैसे स्वयं ही सोचती-सोचती बोली–'हिश् मैं नहीं करूँगी शादी-वादी।'

"खैर, मैं चुप रहा। दो-तीन दिन फिर उसी स्वाभाविकता से कटे। एक दिन गया तो पता चला कि उसके वही चाचा जी आए हुए हैं। उस दिन नलिनी बड़ी चिन्तित-उदास थी। उसने बताया–'आज रात-भर मैं ठीक से नहीं सो पाई। चाचाजी आए हैं, बता रहे हैं कि लड़के को भी जिद आ गई है कि शादी बस इसी से होगी। उसने तीन-चार दिन से अनशन कर रखा है। जब मैं शादी नहीं करना चाहती तो क्यों ये लोग मुझे विवश कर रहे हैं कि मैं शादी करूँ ही? अब आप ही बताइए, मैं क्या करूँ? चाचाजी इसीलिए आए हैं, ये लोग किसी का विकास होते नहीं देख सकते। मैं बुद्धिमान हूँ, मैं प्रतिभाशाली हूँ, मैं सुरीला गाती हूँ, सुन्दर बजाती हूँ और सौन्दर्यशालिनी हूँ–फिर? कहिए, आपको इन सब बातों से क्या मतलब? इसमें मेरा अपना कुछ नहीं है? अजब आफत है।' और क्रोध अथवा घृणा से उसने अपना निचला होंठ जोर से चबाया। मैं चुपचाप देखता रहा। उसके वाक्य में सत्य की ज्वालाएँ थीं। लेकिन मैं उस समय, क्या कर सकता हूँ–समझ में नहीं आता था। उसे समझाया–'शादी तो नलिनी, तुम्हें करनी ही है। अब नहीं तो दो वर्ष बाद। फिर तुम्हें अब ही ऐसी क्या आपत्ति है?'

" 'तो आपको ऐसा अधिकार किसने दिया कि मुझे देखा है, और खट से मचल पड़े। अनशन कर दिया कि मैं तो इसी से विवाह करूँगा–और हम सोच भी नहीं पाए कि सारे घरवाले चील-कौवों की तरह नोंचते-खोंचने लगे–कर इसी से, कर इसी से।' उसकी आँखों में पहली बार मैंने देखा, आँसू आ गए थे, जिन्हें वह एक घूंट भर के पी गई। फिर बोली–'भाई साहब, आप तो समझेंगे, मैं और लड़कियों की तरह बहानेबाजी कर रही हूँ, पर मैं हृदय से कह रही हूँ, मुझे शादी करने की इच्छा ही

नहीं है।' वह चुपचाप कुछ सोचती रही, फिर बोली—'चाचाजी ने मुझे रात को कोई दो घंटे लेक्चर पिलाया, नाश्ते के समय सुबह समझाया और अभी बाहर गए हैं, आकर फिर भाषण देंगे। माता जी, बाबूजी—सभी मेरे पीछे पड़े हैं। अब आप भी ...मैं क्या करूँ भाई साहब, इससे अच्छा तो मैं कहीं मर जाती!' उसकी इस अन्तिम बात से अचानक मैं चौंक गया। यह उसके मुँह से निकला हुआ पहला वाक्य था, जो उसने जैसे व्यथा से तड़पकर कहा था। मैं स्वयं भी उन दिनों काफी उद्विग्न, बेचैन, व्यथित रहा था। मेरी स्थिति बड़ी विचित्र थी। यदि मैं शादी का विरोध करता तो वे लोग मेरे और नलिनी के विषय में न जाने क्या-क्या सोचते! पर फिर भी, बार-बार जैसे कोई ललकार कर पूछता—'क्या मैं उसके लिए कुछ नहीं कर सकता?—क्या नहीं कर सकता कुछ,' और यह प्रश्न धमककर ध्वनि-प्रतिध्वनि के रूप में व्याप्त हो जाता कि उसके उत्तर के विषय में सोच ही नहीं पाता था। बड़ा खिंचाव शिराओं में था। मैंने दुखी स्वर में कहा—'क्या बताऊँ नलिनी, मैं स्वयं भी कोई राह नहीं सोच पाता। तुम्हारी प्रतिभा का मैं शुरू से ही कायल हूँ। मेरा विश्वास था कि यदि यों ही तुम्हारा स्वाभाविक विकास होता गया, तो तुम एक दिन अपनी प्रतिभा से संसार को चकाचौंध कर दोगी। पर अब...' "

अचानक सुधीन्द्र भाई अपनी बात कहते-कहते रुक गए, क्योंकि मैंने आगे बढ़कर उस जिद्दी पापा के दोनों कान पकड़ लिए थे। गुस्सा तो ऐसा आ रहा था कि दो मारूँ तानकर चांटे—तबीयत टिकाने आ जाए। बड़े लाड़ले बने हैं। जब से मान कर रहे हैं कि मान जा, मान जा, तो समझ में ही नहीं आता। सब बच्चे बाहर हैं और ये बेचारे यहाँ खड़े हैं, अकेले, यहाँ खिलौना लेने को। ले खिलौना, अब तुझे ऐसा खिलौना देता हूँ। दोनों कान खींचते ही पापा जोर से चीखा, एक बार उसने मेरी क्रुद्ध सूरत देखी और जीजी का पल्ला पकड़ लिया।

"अरे, क्या कर रहा है रे..." माता जी चिल्लाई, "क्यों उसके कान उखाड़े ले रहा है?" मैं उसके कान यों ही खींचे-खींचे बाहर ले चला।

"हाँ, ले जा, ले जा, जब से समझा रहे हैं तो मानता ही नहीं।" जीजी ने बनावटी गुस्से से कहा, "अम्मा, वो लेंगे।"

"अच्छा, ले।" माता जी उसे उठाए-उठाए मैंटलपीस के पास गई और वहाँ से गेरुए रंग की चमकदार चीनी की बनी वह मूर्ति उसे दे दी। उसने दोनों हाथों से कसकर पकड़ लिया।

मैं भुनभुनाया। "उसका क्या है, वह तो जरा-सी देर में तोड़ देगा। ग्यारह रुपये की मूर्ति लाया हूँ—सो भी अब मिलती भी नहीं है—ऐसी सुन्दर और गठी हुई।"

"हाँ-हाँ नहीं तोड़ेगा।" माता जी ने कहा, "हम दे देंगे पैसे दूसरी ले आना।" फिर उन्होंने पापा को जीजी के पास बैठा दिया फर्श पर ही! जीजी ने उसे समझाया, "हाँ भैया, तोड़ियो नहीं।"

'अब मिली जाती है दूसरी!' मैं मन-ही-मन दाँत पीसकर रह गया। चुप हो गया यह सोचकर कि सुधीन्द्र भाई न जाने क्या सोचेंगे, उनकी बात सुनते-सुनते ऐसा बखेड़ा

मचा दिया। उसकी ओर एकाध वार देखकर उनकी बात के प्रति उत्सुकता दिखाई, "हाँ, फिर क्या हुआ?" पापा मूर्ति को फर्श पर रखकर खेल रहा था—कभी इधर से झांककर देखता, कभी उधर से।

सुधीन्द्र भाई बड़ी विचित्र-सी दृष्टि से यह सब देख रहे थे। हो सकता है, उन्हें बुरा न लग रहा हो, पर उन्हें विशेष अच्छा भी नहीं लग रहा था—मैंने तत्काल अनुभव किया। इसीलिए ऐसा भाव दिखाया, जैसे कुछ हुआ ही नहीं—हमने अधिक-से-अधिक अपना ध्यान उनकी ओर केन्द्रित कर दिया।

"हाँ, तो दूसरे दिन जब मैं गया तो चाची जी बड़ी दुःखी-सी आई—'तुम्हीं बताओ सुधीन्द्र, मैं क्या करूँ? उसे लाख समझाया मैंने, तुम्हारे वकील साहब ने, लाला जी ने; लेकिन वह तो रट लगाए है—मैं तो पढ़ूँगी। लड़का कहता है कि तू जिन्दगी-भर पढ़ेगी तो मैं जिन्दगी-भर पढ़ाऊँगा, अपना घर-वार सब वेचकर पढ़ाऊँगा। जो तेरी इच्छा हो सो कर, पर वह मानती ही नहीं।' 'कहाँ है?' मैंने पूछा। वताया—'भीतर पड़ी है पलंग पर, न खाती है, न नहाती है। बस, रोए जा रही है। अब हमारी तबीयत तो इससे बड़ी हलकान होती है। इतनी बड़ी हो गई, आज तक नहीं रोई और अब ...तुम्हीं समझाओ' मैंने पूछा—'चाचाजी गए?' उन्होंने जिस ढंग से हाँ कहा, मैं कुछ-कुछ समझ गया। कुछ नहीं कहा। चुप भीतर गया। कमरे में पलंग पर वह चुपचाप औंधी पड़ी थी—रह-रहकर उसका सारा शरीर काँप उठता था। मैं कुछ देर चुप रहा, फिर पुकारा—'नलिनी, नलिनी!' उसने कुछ नहीं कहा। मैं उसके पास ही पलंग पर बैठ गया। दोनों कंधे पकड़कर उसे सीधा किया—देखा, वह रो रही थी। उसके खिले गुलाब से चेहरे को जैसे पाला मार गया था, सारा मुँह उसका लाल हो गया था, और आँखें बीरबहूटी के सुर्ख रंग की तरह जल रही थीं। उस समय एक क्षण को भाभी जी, सच मुझे ऐसा लगा कि इस दहकते चेहरे के लिए मैं क्या न कर दूँ। किस आसमान के नीले और मनहूस पर्दों को चीर दूँ जो उस पर अपनी काली छाया डाले है और कौन-सा पहाड़ है जिसे उठाकर फेंक दूँ, जो इसका रास्ता रोके हुए है। उस समय मुझे अपनी बाँहों में वज्र जैसी शक्ति लहरें लेती अनुभव हुई। मैंने उसका सिर लेकर अपनी गोद में रख लिया—बाल उसके चेहरे पर फैल आए थे, उन्हें एक हाथ से इधर-उधर कर दिया। बड़े दुःखी स्वर में कहा—'नलिनी, ऐसे क्यों रो रही हो?' उसका रोना बन्द हो गया था, केवल कभी-कभी एक हिचकी से उसका सारा शरीर सूखे पत्ते की लड़खड़ाहट की भाँति काँप उठता था। मेरी समझ में नहीं आता था, मैं क्या कहकर उसे सांत्वना दूँ? फिर दुलार से कहा—'नलिनी, ऐसे क्यों रो रही हो?' उसका रोना बन्द हो गया था, केवल कभी-कभी एक हिचकी से उसका सारा शरीर सूखे पत्ते की लड़खड़ाहट की भाँति काँप उठता था। मेरी समझ में नहीं आता था, मैं क्या कहकर उसे सांत्वना दूँ? फिर दुलार से कहा—'नलिनी, रोओ मत'। लेकिन नलिनी की इतनी देर से संचित रुलाई फिर फूट पड़ी और वह फिर बुरी तरह से रो उठी। मेरा कंठ स्वयं भीग गया था और आँखों से आँसू बड़ी मुश्किल से रुक पा रहे थे। फिर भी मैंने उसे समझाया—'नलिनी, जो हो गया, सो हो गया। वह तुम्हें विश्वास दिलाता

है कि पढ़ने इत्यादि की पूरी सुविधा देगा। क्यो व्यर्थ रो-रोकर अपना स्वास्थ्य खराब करती हो?' लेकिन जैसे वह कुछ सुन ही नहीं रही थी। उसे तो इस समय जैसे रुलाई का दौरा आ गया था—बस, रोए जा रही थी।

"भाभीजी, मैं ठीक बताता हूँ, उस दिन तीन घंटे मेरी गोद में पड़ी-पड़ी वह कांटों पर पड़ी मछली की तरह तड़फड़ाती रही। उस दिन मैं भी रोया। लेकिन उस दिन के बाद से उसके शरीर की स्फूर्ति, उसके चेहरे की उत्फुल्लता, उसकी भोली आँखों का उल्लास जैसे किसी ने मन्त्र के जोर से खींचकर फेंक दिए और वह एक साधारण कंकाल मात्र थी—निस्तेज और उदास! किसी ओर देखती तो बस, देखती रहती।

"और पिछले साल उसका विवाह हो गया। जिन्दगी में शायद दूसरी वार वह जी खोलकर रोई। उस दिन उसने मुझसे कहा—'बस, भाई साहब, अब नहीं रोऊँगी, क्योंकि जो चीज मेरे पास असाधारण थी, जिसका मुझे गर्व था और जिससे मुझे इतना मोह था—अब सदा के लिए उसकी चाह छोड़ दी है। बस, अब मैं एक साधारण लड़की हूँ—दुर्बल और कमजोर।'

"वह ससुराल चली गई। थोड़े दिन बाद आई। जब मैंने फाइनल की परीक्षा दी तभी उसने बी. ए. की परीक्षा दी—जैसे बिल्कुल निरुत्साहित और निर्लिप्त होकर आपको आश्चर्य होगा, तो भी बी. ए. में उसने टॉप किया। विभिन्न पत्रों में जव उसके चित्र छपे, और उसने देखा तो मुझे लगा, उसका वह उन्मुक्त उल्लास फिर उसे कुछ समय को मिल गया है। बड़े प्रसन्न होकर उसने कहा—'भाई साहब, चाहे कोई कितना ही विरोध क्यों न करे, मैं तो खूब पढ़ूँगी।' पर तभी फिर अचानक कुछ क्षण को उदास हो गई। उन दिनों उसने संगीत का अभ्यास खूब बढ़ा लिया था। रोज मुझे कुछ-न-कुछ सुनाती—उन दिनों वह बहुत प्रसन्न रही। कितना सुन्दर वह गाती थी! आज तक मैं निश्चय नहीं कर पाया कि उसकी प्रतिभा संगीत में अधिक अभिव्यक्त होती थी या लेखन में। उन दिनों उसने कुछ सुन्दर निबन्ध और कहानियाँ लिखीं। छुट्टियों-भर इस बात पर बहस होती रही कि वह एम. ए. कहाँ 'जॉइन' करे। ससुराल वालों के पत्र आते कि बनारस ही सबसे अधिक ठीक रहेगा, और वह कहती कि मैं तो यहीं पढ़ूँगी। एक दिन वह महाशय स्वयं आ धमके लेने के लिए। इस स्वभाव का मैं पहले नहीं समझता था उन्हें। वे आकर हठ पड़ गए कि लेकर जाऊँगा तो अभी, नहीं तो आप अपनी लड़की को रखिए, फिर मेरे यहाँ भेजने की जरूरत नहीं है। हम लोगों ने लाख तरह से समझाया कि वह बी. ए. में ऐसी अच्छी तरह पास हुई है? और उसकी ऐसी उत्कट लालसा है कि आगे पढ़े, तो क्यों न पढ़ने दिया जाए? वे बोले, पढ़ने का इन्तजाम क्या वहाँ नहीं है? बनारस यूनिवर्सिटी में वह बड़े आराम से पढ़ सकती है। खैर, वे महाशय उसे लेकर ही टले। बस, वही मेरी और उसकी अन्तिम भेंट थी। एम. ए. वह जॉइन नहीं कर सकी। लिखा—'यहाँ से आकर इनकी तबीयत खराब हो गई है। मैं रात-रात भर जागकर भगवान से मनाती हूँ कि ये ठीक हो जाएँ तो कॉलेज 'जॉइन' करूँ—एडमीशन की तारीखें निकली जा रही हैं।' लेकिन वह सज्जन तो शायद

प्रण करके ही बीमार हुए थे कि दो महीने से पहले ठीक नहीं होंगे। सो वह एडमीशन ले ही नहीं पाई। उसने लिखा—'भाई साहब, कभी-कभी तो इच्छा होती है, पड़ा रहने दूँ बीमार और जाने लगूँ पढ़ने। पर सोचती हूँ, ये लोग मुझे खा जाएँगे।' इसके बाद और भी, समय-समय पर पत्र आते रहे, उन सबमें जो कुछ लिखा था, उसका तात्पर्य था—'भाई साहब, मैं क्या करूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता। यहाँ कोई काम मुझे करने को नहीं है, दिन-रात यह बात जोंक की तरह मेरा खून सुखाए देती है कि जिस प्रतिभा की आप यों तारीफ करते नहीं अघाते थे, जिस बुद्धि पर मुझे गर्व था, जिस सौन्दर्य से मेरी सहेलियाँ ईर्ष्या करती थीं, मेरे जिस संगीत पर बाबू जी झूम आते थे, जिस शैली पर लोग दाँतों-तले उँगली दबाते थे, क्या वह सिर्फ इसलिए है कि अनर्गल और व्यर्थ की प्रेम की बातों में भुला दी जाए? वे समझते हैं कि अधिक-से-अधिक प्रेम-प्रदर्शन से वे मुझे प्रसन्न कर रहे हैं, दिन-रात, तुम परी हो, तुम अप्सरा हो, तुम यह हो, तुम वह हो और मैं तुम पर भौंरे, परवाने और पपीहे की तरह मरता हूँ। सच कहती हूँ भाई साहब इन बातों में मेरा मन नहीं लगता। हाँ, मैं सुन्दर हूँ—तुम मरते हो, फिर? लेकिन वे हैं कि दफ्तर जाएँगे—जो घर से एक मील है—तो चार खर्रे भरकर प्रेम-पत्र लिख भेजेंगे, जैसे न जाने कितने वर्षों के वियोग में जल रहे हैं! उसमें सैकड़ों सिनेमा के गीत लिखे होते हैं, तकदीर कोसी गई होती है, दुनिया को लानत दी जाती है कि भाग्य का खेल है, दुनिया ने हमें यों अलग कर दिया है, वह हमारा मिलन नहीं सह सकती। पता नहीं, वह दुनिया कहाँ रहती है? अब आप ही बताइए, इन मूर्खतापूर्ण बातों से क्या फायदा? कोई कहाँ तक अपने को इन बेवकूफियों में उलझाए रखे?'

"अरे भाभी, नलिनी का अन्तिम पत्र तो बड़ा ही करुणापूर्ण है। लिखा है—'मेरे चारों ओर भीषण अंधकार की एक अभेद्य चादर आकर खड़ी हो गई है, भाई साहब, मैं तब कितनी रोई-चीखी थी कि मुझे इस अँधकार के गर्त में मत धकेलो, मैं वहाँ मर जाऊँगी! इस अंधकार के खूनी पंजों ने मेरी अभिलाषाओं और उच्चाकांक्षाओं की गर्दनें मरोड़ दी हैं, और अब मैं इतनी अशक्त हो गई हूँ कि छटपटा भी नहीं सकती। खाने-पीने और प्रेम की इन झूठी-सच्ची बातों के बाद बचे हुए समय में कभी शॉपिंग करने, घूमने या सिनेमा जाने या दिन-भर औरतों की इस-उसकी बुराई-भलाई करने वाली बातों में अपनी जिन्दगी को बाँध देने में मैं अपने-आप को बिल्कुल असमर्थ पा रही हूँ। इन दिनों यही मानसिक भर्त्सना मुझे खाए जा रही है। भाई साहब, मैं क्या करूँ? मैं मानती हूँ, हजारों लड़कियों को यही चरम और परम सुख है, पति का अंधाधुंध प्यार, सोने और चाँदी से भरा घर-बार और निश्चिंत दिन। लेकिन इतने दिन मैंने जो भी पढ़ा, जो कुछ भी सीखा, जो आज भी मैं समझती हूँ, लाखों लड़कियों से अच्छा था, केवल इसीलिए था कि यहाँ आकर सड़ जाए? यहाँ बैठूँ भी तो ज्यादा-से-ज्यादा खाना बना लूँ, चौका-बर्तन कर लूँ। हो सकता है, इन बातों में मेरा सारा समय लग जाया करे—लेकिन, बस? इसीलिए मैंने उस देव-दुर्लभ प्रतिभा को संजोया था? भाई साहब, ये शादी करने वाले लड़कियों के यहाँ जाकर पूछते हैं—तुम्हारी

लड़की गाना-बजाना जानती है, कसीदाकारी जानती है, मिठाई बनाना जानती है?—उस समय उनकी इच्छा होती है, कि संसार का कोई काम क्यों बच जाए जिसे लड़की न जानती हो? लेकिन कोई इनसे पूछे, विवाह के फेरों के बाद सिवा चौके-चूल्हे के कौन-सी कलाकारी लड़की के काम आती है? कोई मुझसे पूछे, मेरी सारी किताबों को कीड़े खाए जा रहे हैं। पढ़ने के प्रति किसी में रुचि नहीं है। यों शौक सभी को है कि लड़की के सामने एजूकेटेड शब्द लगा सकें। बुनाई इसलिए नहीं कि कला है, बल्कि इसलिए कि फैशन है। इसीलिए कोई नई बुनाई देखी, सब उसकी नकल करेंगी। नया ब्लाउज, साड़ी देखी, वैसी ही लाएँगी-बनवाएँगी। नए कट का गहना देखा, खट से पहला टूट रहा है, नया बन रहा है। रोज चीजें टूटती हैं, रोज बनती हैं। किसी-किसी को शायद एक बार भी नहीं पहना जाता, और टूटकर नया बन जाता है, क्योंकि वह पहले से अधिक सुन्दर है। और वह क्रम कभी खत्म नहीं होता। मेरे वायलिन और सितार में मनों धूल भर गई है। महादेवी और मीरा के गीत मैं यहाँ गाकर सुनाऊँ तो सब उल्लुओं की तरह मेरा मुँह देखें। बात-बात में इनकी इज्जत का ध्यान, बात-बात में स्त्री होने की घोषणा। ये ऊँचे घरों की बातें। नीचे घरों को भी देखती हूँ, जहाँ चूल्हे-चौके से ही फुर्सत नहीं मिलती। सच भाई साहब, आज हृदय में बड़ी प्रचण्ड शक्ति से यह भाव उठ रहा है कि काश, मैं एक साधारण लड़की होती—मूर्ख और भेड़ जिसके बचपन की सारी तैयारियाँ शिक्षा-दीक्षा केवल विवाह के लिए होती हैं, और विवाह होने के बाद जैसे इन सारे झंझटों से छुटकारा मिलता है। इस सबके लिए शायद सबसे अधिक दोषी आप हैं। आपने ही मेरी महत्त्वाकांक्षाओं को उभारकर इतना बढ़ा दिया था कि तू यों करेगी, वो करेगी। आपने ही मेरे दिमाग में भर दिया था कि मैं असाधारण प्रतिभाशालिनी हूँ और आपने ही अपने कंधों पर चढ़ाकर इतना ऊँचा उठा दिया था कि आज जब ये लोग मुझे फिर उस कीचड़ में घसीट रहे हैं, तो टूट जाना चाहती हूँ, बिखर जाना चाहती हूँ, मर जाना चाहती हूँ, पर नीचे नहीं आ पाती। अब बताइए, मैं क्या करूँ? कैसे मर जाऊँ? मैं कब तक यों छटपटाती रहूँ? भाई साहब, मुझे कोई रास्ता बताइए, बताइए न! केवल विवाह करके यों इन चारदीवारियों में सड़ जाने के लिए शायद मैं नहीं जनमी थी, मुझे और कुछ करना था—मुझे कुछ और करना था।'

"खैर, भाभी जी, यह उसका अन्तिम पत्र था, फिर तो उसका तार ही आया।"

यह सब बोलने में सुधीन्द्र भाई का स्वर न जाने कितनी बार गीला हुआ, कितनी बार भर्राया, पर इस बार तो जैसे वह बोल ही नहीं पाए। गले में कफ-सा अटक गया, उसे खाँसकर साफ किया, फिर थोड़ी देर चुप रहे। पापा बुद्ध भगवान की मूर्ति को धीरे-धीरे पृथ्वी पर ठोककर खेल रहा था, एक बार हमने उस ओर देखा, पर जैसे भाव-शून्य होकर। सब उत्सुकता से सुधीन्द्र भाई की ओर ही देख रहे थे।

"मैं जब वहाँ गया तो पता चला कि वह अस्पताल में है," संयत होकर सुधीन्द्र भाई ने कहना आरम्भ किया।

"अस्पताल?" प्रायः सभी चौंके।

"हाँ।" उन्होंने कहा, "उसके सारे घर वाले स्तब्ध-से थे। अस्पताल गया—देखा, उसका सारा शरीर फफोले से भरा था या जलकर काला हो गया था। वह मर चुकी थी, उसने मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा ली थी।"

"हें!" जैसे किसी ने बड़ी भारी कांसे के घंटे में समस्त शक्ति से हथौड़ा दे मारा-सारा वातावरण झनझना कर थर्रा उठा।

उसी समय पापा ने बुद्ध भगवान की मूर्ति को जोर से पृथ्वी पर पटक दिया। खन-खन करते हुए सुन्दर खिलौने के चमकदार टुकड़े इधर-उधर बिखर गए...

हम सब मन्त्र-जड़ित थे।

घंटे की झनझनाहट गूँज बनकर डूबती जा रही थी।

छोटे-छोटे ताजमहल

वह बात न मीरा ने उठाई, न खुद उसने। मिलने से पहले जरूर लगा था कि कोई बहुत ही जरूरी बात है और जिस पर दोनों को बातें कर ही लेनी हैं, लेकिन जैसे हर क्षण उसी की आशंका में उसे टालते रहे। बात गले तक आ-आकर रह गई कि एक बार वह फिर मीरा से पूछे—क्या इस परिचय को स्थायी रूप नहीं दिया जा सकता?—लेकिन कहीं पहले की तरह फिर उसे बुरा लगा तो? उसके बाद दोनों में कितना खिंचाव और दुराव आ गया था!

पता नहीं क्यों, ताजमहल उसे कभी खूबसूरत नहीं लगा। फिर धूप में सफेद संगमरमर का चौंधा लगता था, इसलिए वह उधर पीठ किए बैठा था। लेकिन चौंधा मीरा को भी तो लग सकता है न? हो सकता है, उसे ताज सुन्दर ही लगता हो। इस तपते पत्थर पर चलने में तलुओं के झुलसने की कल्पना से उसके सारे शरीर में फुरहरी दौड़ गई।

तीन साल बाद एक-दूसरे को देखा था। देखकर सिर्फ मुस्कराए थे, आश्वस्त भाव से—हाँ, दोनों हैं और वैसे ही हैं—मीरा कुछ निखर आई है और शायद वह... वह पता नहीं कैसा हो गया है। जाने कितने पूरे-के-पूरे वाक्य, सवाल-जवाब उसने मीरा को मन-ही-मन सामने बैठाकर बोले थे, प्रतिक्रियाओं की कल्पना की थी और अब बस, खिसियाने ढंग से मुस्कराकर ही स्वागत किया था। उस क्षण मे ही उसे अपने मिलने की व्यर्थता का एहसास होने लगा था, जाने क्यों। क्या ऐसी बातें करेंगे वे, जो अक्सर नहीं कर चुके हैं? साल-छः महीने में एक-दूसरे के कुशल-समाचार जान ही लेते हैं।

उठे हुए घुटनों के पास लॉन की घास पर मीरा का हाथ चुपचाप रखा था। बस, उँगलियाँ इस तरह उठ-गिर रही थीं, जैसे किसी बहुत नाजुक बाजे पर हल्के-हल्के गूँजते संगीत की ताल को बाँध रही हों। मीरा ने लोहे का छल्ला डाल रखा था—शायद शनि का प्रभाव ठीक रखने के लिए। उसने धीरे-से उसकी सबसे छोटी उँगली में अपनी उँगुली हुक की तरह अटका ली थी, फिर हाथ उठाकर दोनों हथेलियों में दबा लिया था। फिर धीरे-धीरे बातों की धारा फूट पड़ी थी।

विजय का ध्यान गया—बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला कोई छोटा-सा कीड़ा मीरा की खुली गर्दन और ब्लाउज के किनारे आ गया था। झिझक हुई, खुद झाड़ दे या बता दे। उसने अपना मुँह दूसरी ओर घुमा लिया—प्रवेश-द्वार की सीढ़ियाँ झाड़ियों की ओट आ

गई थीं, सिर्फ ऊपर का हिस्सा दिख रहा था। हिचकिचाते हुए कैरम को स्ट्राइकर मारने की तरह उसने कीड़ा उँगुलियों से परे छिटका दिया, नसों में सनसनाहट उतरती चली गई। उँगलियों से वह जगह यों ही झाड़ दी, मानो गंदी हो गई थी। मीरा उसी तन्मय भाव से अपनी सहेली के विवाह की पार्टी में आए लोगों का वर्णन देती रही—उसने कुछ नहीं कहा। न वहाँ रखा विजय का हाथ हटाया ही। विजय ने एक बार फिर सशंक निगाहों से इधर-उधर देखा और आगे बढ़कर उसकी दोनों कनपटियों को हथेलियों से दबाकर अपने पास खींच लिया। नहीं, मीरा ने विरोध नहीं किया। मानो वह प्रत्याशा कर रही थी कि यह क्षण आएगा अवश्य। लेकिन पहले उसके माथे पर तीखी रेखाओं की परछाइयाँ उभरीं और फिर मुग्ध मुस्कराहट की लहरों में बदल गईं...। एक अजीब, बिखरती-सी सिमटी, धूप छाँही मुस्कराहट। विजय का मन हुआ, रेगिस्तान में भटकते प्यासे की तरह दोनों हाथों से सुराही को पकड़कर इस मुस्कराहट की शराब को पागल आवेश में पीता चला जाए...पीता चला जाए...गट...गट और आखिर लड़खड़ाकर गिर पड़े। पतले-पतले होठों में एक नामालूम फड़कन लरज रही थी। उस रूमानी बेहोशी में भी विजय को ख्याल आया कि पहले एक हाथ से मीरा चश्मा उतार ले—टूट न जाए। तब उसने देखा, हरियाले फव्वारों—जैसे मोरपंखियों के दो-तीन पेड़ों के पीछे पूरे-पूरे दो ताजमहल चश्मे के शीशों में उतर आए हैं...दूधिया हाथी दांत के बने-से दो सफेद नन्हे-नन्हें खिलौने।

पता नहीं, क्यों, उसे ताजमहल कभी अच्छा नहीं लगा। ध्यान आया, अवांछित बूढ़े प्रहरी की तरह ताजमहल पीछे खड़ा देख रहा है। बातों के बीच वह उसे कई बार भूल गया था, लेकिन दाँतों में अटके-तिनके-सा अचानक ही उसे याद आ जाता था कि वे उसकी छाया में बैठे हैं जो महान है, जो विराट है...जो...? इतनी बड़ी इमारत! उसके समग्र सौन्दर्य को एक साथ वह कभी कल्पना में ला ही नहीं पाया ...एक-एक हिस्सा देखने में कभी उसमें कुछ सुन्दर लगा नहीं। लोगों के अपने ही मन का काव्य और सौन्दर्य रहा होगा जो इसमें आरोपित करके देख लेते हैं। कभी मौका मिलेगा तो वह हवाई जहाज से ताज की सुन्दरता के समग्र हो पाने की कोशिश करेगा। कई विहंगम चित्र इस तरह के देखे तो हैं...और तब सारे वातावरण के बीच कोई बात लगी तो है... मगर ये चश्मे के काँचों में झलमलाते, धूप में चमकते ताज...। खिंचाव वहीं थम गया। उसने बड़े बेमालूम-से ढंग से गहरी साँस ली और अपने हाथ हटा लिए, आहिस्ते से। —'नहीं, यहाँ नहीं। कोई देख लेगा...' यह उसे क्या हो गया...?

सहसा मीरा सचेत हो आई। उमड़ती लाज छिपाने के लिए सकपकाकर इधर-उधर देखा, कोई भी तो नहीं था। पास वाली लाल-लाल ऊँची दीवार पर अभी-कभी राज-मजदूर-से लगने वाले मरम्मतिये लोग आपस में हँसी-मजाक करते एक-दूसरे के पीछे भागते गए हैं। बन्दर की तरह दीवार पर भाग लेने का अभ्यास है। रविश के पार-पड़ोस के लॉन में दो-तीन माली पाइपों को इधर-उधर घुमाते पानी लगा रहे थे—वे भी अब नहीं हैं। खाना खाने गए होंगे। मीरा ने बगल से साड़ी खींचकर कंधे का पल्ला ठीक कर लिया। फिर विजय ने अनमने भाव से घास का फूल तोड़ा और आँखों

के आगे उँगलियाँ में घुमाने लगा। मीरा ने चश्मा उतारकर, मुँह से हल्की-सी भाप दी और साड़ी से काँच पोंछें, बालों की लटों को कानों के पीछे अटकाया और चश्मा लगाकर कलाई की घड़ी देखी।

बड़ा बोझिल मौन आ गया था दोनों के बीच। विजय को लगा, उन्हें कुछ बोलना चाहिए वर्ना यह चुप्पी का बोझ दोनों के बीच की किसी बहुत कोमल चीज को पीस देगा। हथेली पर यों ही उस तिनके से क्रास और त्रिकोण बनाता वह शब्दों को ठेलकर बोला, "तो फिर अब चलें...? देर बहुत हो रही है..."

मीरा ने सिर हिला दिया। लगा, जैसे वह कुछ कहते-कहते रुक गई हो या प्रतीक्षा कर रही हो कि विजय कुछ कहना चाहता है, लेकिन वह कह नहीं पा रहा। फिर थोड़ी देर चुप्पी रही। कोई नहीं उठा। तब फिर उसने मरे-मरे हाथों से जूतों के फीते कसे, अखबार में रखे संतरे और मूँगफली के छिलके फेंके। बैठने के लिए बिछाए गए रूमाल समेटे गए और दोनों टहलते हुए फाटक की तरफ चले आए।

तीन का समय होगा—हाथ में घड़ी होते हुए भी उसने अन्दाजा लगाया। धूप अभी भी बहुत तेज थी। एकाध बार गले और कनपटियों का पसीना पोंछा। आते समय तो बारह बजे थे। उस वक्त उसे हँसी आ रही थी, मिलने का समय भी उन लोगों ने कितना विचित्र रखा है...

जैसे इस समय से बहुत दूर खड़े होकर उसने दुहराया था—बारह...बजे, जून का महीना और ताजमहल का लॉन। वह पहले आ गया था और प्रतीक्षा करता रहा था। उस समय कैसी बेचैनी, कैसी छटपटाहट, कैसी उतावली थी...यह समय बीतता क्यों नहीं है? बहुत दिनों से घड़ी की सफाई नहीं हो पाई, इसलिए शायद सुस्त है। अभी तक नहीं आई। इन लड़कियों की इसी बात से सख्त झुंझलाहट होती है। कभी समय नहीं रखतीं। जाने क्या मजा आता है इन्तजार करने में! वह जान-बूझकर उधर आनेवाले रास्ते की ओर से मुँह फेरे था। उम्मीद कर रहा था कि सहसा मुड़कर उधर देखेगा तो पाएगा कि वह आ रही है। लेकिन दो-तीन बार ऐसा कर चुकने के बाद भी वह नहीं आई। जब दूसरी ओर मुँह मोड़े रहकर भी वह कनखियों से उधर ही झाँकने की कोशिश करता तो खुद अपने पर हँसी आती। अच्छा, सीढ़ियाँ उतरकर आनेवाले तीन व्यक्तियों को वह और देखेगा और अगर इसमें भी मीरा नहीं हुई तो ध्यान लगाकर किताब पढ़ेगा—जब आना हो, आ जाए। एक-दो-तीन! हो सकता है, अगली वही हो। हिश्, जाए जहन्नुम में नहीं आती तो, हाँ तो नहीं! अच्छा, आओ तब तक यही सोचें कि मीरा इन तीन सालों में कैसी हो गई होगी? कैसे कपड़े पहनकर आएगी? एक-दूसरे को देखकर वे क्या करेंगे? हो सकता है, आवेश से लिपट जाएँ, कुछ बोल न पाएँ। उसके साथ ऐसा होता कहाँ है, लेकिन कौन जाने, उस आवेश को?

आखिर वह आई तो वह उसे पास आते देखता रहा था। हर बार वह उधर से निगाहें हटाने की कोशिश करता कि उसे यों न देखे, पास आने पर ही देखे और हठात् मिलने के थ्रिल को महसूस करे। लेकिन वह देखता रहा था और निहायत ही

संयत भाव से बोला था, 'नमस्ते मीरा जी!' झेंपकर मीरा मुस्करा पड़ी थी। धूप में चेहरा लाल पड़ गया था। फिर दोनों इस लॉन में आ बैठे थे—ऐसे अचंचल, ऐसे आवेशहीन, जैसे रोज मिलते हों।

'मैंने सोचा, तुम शायद न आओ। याद न रहे।'

'आपने लिखा था तो याद कैसे नहीं रहता? लेकिन टाइम बड़ा अजीब है।'

'हाँ, शरद-पूर्णिमा की चाँदनी रात तो नहीं ही है।' अपने मजाक पर वह खुद ही व्यर्थता महसूस करता, गम्भीर बनकर बोला, 'इस वक्त यहाँ जरा एकान्त होता है।'

सचमुच अजीब टाइम था—मीरा के साथ एक-एक कदम लौटते हुए उसने सोचा—'दोपहर की धूप और...और दो प्यार करते प्राणी!' 'प्यार करते प्राणी...' उसने फिर दुहराया। यह प्यार था? जैसे बरसों बाद मिलने वाले दो मित्र हों, जिनमें बातें करने के विषय चुक गए हों। सफेद संगमरमर पर धूप पड़ रही थी, चौंधा था इसलिए उधर पीठ कर ली थी। रह-रहकर झुंझलाहट आती—किस शाप ने दूसरे खून को जमा दिया है? यह हो क्या गया है हमें? कोई गर्मी नहीं, कोई आवेग और कोई उद्वेग नहीं ...क्या बदल गया है इसमें? हाँ, मीरा का रंग कुछ खुल गया है...शरीर निखर आया है...

लौटते समय भी उसकी समझ में नहीं आया कि यह बोझ, यह खिंचाव क्या है...दोनों यों ही घास में काटी हुई लाल पत्थरों की जाली पर कदम-कदम टहलते हुए सीढ़ियों तक जाएँगे...फाटक में बैठे हुए गाइडों और दरबानों की बेधती याचक निगाहों को बलपूर्वक झुठलाते, बजरी पर चरचर-चरचर करते हुए ताँगे या रिक्शे में जा बैठेंगे ...और एक मोड़ लेते ही सब कुछ पीछे छूट जाएगा।...कल वह लिखेगा—'मेरी मीरा, कल के मेरे व्यवहार से तुम्हें आश्चर्य हुआ होगा। हो सकता है, बुरा भी लगा हो ...लेकिन...लेकिन...'

और फिर चश्मे के काँचों में झाँकता ताजमहल साकार हो गया। 'तुम्हारी पलकों पर तैरते दो ताजमहल'—कितना सुन्दर वाक्य है! (यह तो नई कविता हो गई!) टैगोर ने देखा होता तो 'काल के गालों पर ढुलक आई ऑसू की बूँद' कभी न कहते...। कहते—'गालों पर ढुलक आए आँसुओं में झाँकते ताजमहल की रूपहली मछलियों-सी परछाइयाँ'...लेकिन मीरा की आँखों में तो उसे नमी का भी आभास नहीं हुआ था। कितने जड़ हो गए हैं हम लोग भी आजकल! वह कल वाले पत्र में लिखेगा—'हक्सले की नकल नहीं कर रहा, जाने क्यों मुझे ताजमहल कभी ख़ूबसूरत नहीं लगा। लेकिन पहली बार जब मैंने तुम्हारी पलकों पर ताल की परछाईं देखी तो देखता रह गया ...पिछले दिनों की एक अजीब-सी बात मुझे याद हो गई, उस क्षण...'

अरे हाँ, अब याद आया कि क्यों वह अचानक यों सुस्त हो गया था। उस बात को भी कभी भूला जा सकता है? 'हाँ, मेरे लिए तो वह बात ही थी...' वह लिखेगा। उसे लगा, मन-ही-मन वह जिसे सम्बोधित कर रहा है, जिसे पत्र लिख रहा है वह साथ-साथ चलनेवाली यह मीरा नहीं है। वह तो कोई और...कहीं दूर...बहुत

दू...र...वही मीरा तो उसकी असली बंधु है और सखा है, यह...यह...इससे तो जब-जब मिला है, इसी तरह उदास हो गया है। लेकिन उस मीरा से मिलने को आकर्षण इसके पास खींच लाता है। इसकी तो जाने कितनी बातें हैं, जो उसे कतई पसन्द नहीं हैं। जैसे? वह याद करने की कोशिश करने लगा, जैसे उसे क्या-क्या पसन्द नहीं है? जैसे इस समय उसे इसी बात पर झुँझलाहट आ रही है कि मीरा नीचे बनी जाली के पत्थरों पर ही पाँव रखकर क्यों नहीं चल रही, बीच-बीच में घास पर पाँव क्यों रख देती है...

और इस सबके पार दोनों कान लगाए रहे कि दूसरा कुछ कहे। एक बात सोचकर सहसा वह खुद ही मुसकरा पड़ा—जब वे लोग बहुत बड़े हो जाएँगे, समझो चालीस-पचास के, तो हँस-हँसकर कैसे दूसरों को अपनी-अपनी बेवकूफियाँ सुनाया करेंगे—कैसे वे लोग छिप-छिपकर ताजमहल में मिला करते थे!

'चार-पाँच साल हो गए होंगे उस बात को...' उसके मन के भीतरी स्तरों पर पत्र चलता रहा। यह सब वह उस पत्र में लिखेगा नहीं, वह सिर्फ उस बहाने क्रमबद्ध शब्दों में उस सारी घटना को याद करने की कोशिश कर रहा है...वह, देव, राका जी और मुनमुन इसी तरह तो लौट रहे थे, चुप-चुप, उदास और मनहूस साँझ थी इसलिए परछाइयाँ खूब लम्बी-लम्बी चली गई थीं...

अच्छी तरह याद है, दिसम्बर या अक्टूबर का महीना था। कॉलेज से आकर चाय का कप होंठों से लगाया ही था कि किसी ने बताया, 'आपको कोई साहब बुला रहे हैं।'

वह अनखनाकर उठा—कौन आ गया इस वक्त!

'अरे आप?'

'पहचाना या नहीं, आपने?'

'अरे साहब खूब, आपको नहीं पहचानूँगा?' लेकिन सचमुच उसने पहचाना नहीं था। देखा जरूर है कहीं, शायद कलकत्ता में। ऐसा कई बार हुआ है, लकिन वह भरसक यह जताने की कोशिश करता है कि पहचान रहा है और बातचीत से परिचय के सूत्र पकड़कर याद करने की कोशिश करता है, 'आइए न भीतर...'

'नहीं मिस्टर माथुर, बैठूँगा नहीं। गली के बाहर मेरी वाइफ और बच्चा खड़े हैं...' उन्होंने क्षमा चाहने के लहजे में कहा, 'आप कुछ कर रहे हैं क्या?'

'लेकिन उन्हें वहाँ...? यहीं बुला लीजिए न...'

'नहीं, देखिए, ऐसा है कि हम लोग जरा ताज देखने आए थे। याद आया, आप भी तो यहीं रहते हैं। जगह याद नहीं थी, सो एक-डेढ़ घंटे भटकना पड़ा। खैर, आप मिल गए। अब अगर कुछ काम न हो तो...बात ऐसी है कि हमें आज ही लौट जाना है...' वे सीढ़ी पर एक पाँव रखे खड़े थे, 'आप किसी तरह के संकोच में न पड़िए, पाँवों में चप्पल डालिए और चले आइए।'

गली के बाहर गाड़ी खड़ी थी। पीछे का दरवाजा खुला था और उसको पकड़े पिछले मडगार्ड से टिकी एक महिला खड़ी थी—गहरी हरी बंगलौरी रेशम की साड़ी,

बंगाली ढंग का चौड़ा-चौड़ा जूड़ा और बीचोंबीच जगमग करता अठपहलू रुपहला सितारा। मडगार्ड पर छोटा-सा चार-पाँच साल का वच्चा फिसलते जूतों को जैसे-तैसे रोके वैठा था। दोनों बाँहों से उसे संभाले हुए वे उसकी कलाई पकड़े छोटी-सी उँगुली से धूल-लदे मडगार्ड पर लिख रही थी—टी-ए-जे। जूतों की आवाज से चौंककर मुड़ी और स्वागत में मुस्कराई। बच्चे को संभालकर उतारा, फिर दोनों हाथ जोड़ दिए। फिर खुद ही बोली, 'देखिए, आपसे वायदा किया था कि...'

'हजरत आ ही नहीं रहे थे...' वे बीच में ही वात काटकर बोले। फिर सहसा वोले, 'अच्छा, राका, अब बैठो वर्ना अँधेरा हो जाएगा तो देखने को मजा ही नहीं रहेगा।'

राका...राका...हाँ, कुछ याद तो आ रहा है। ड्राइवर की बगल में बैठकर उसने एकाध बार घूमकर देखा, जैसे यहीं कहीं उनका नाम भी लिखा मिल जाएगा।

'कैसे हैं?...बहुत दिनों वाद मिले हैं। याद है आपको, कलकत्ता में हम लोग मिले थे?...उस दिन हम लोगों ने आपको कितनी देर कर दी थी'...सुनहला रंग, कानों में गोल कुंडल, बहुत ही बेमालूम-सी लिपस्टिक। साड़ी का पल्ला साधने के लिए खिड़की पर टिकी हुई कुहनी...

अरे हाँ, अब याद आया—इनसे तो मुलाकात बड़े अजीब ढंग से हुई थी। न्यू मार्केट के एक रेस्तरां में बैठा वह शौकिया अपनी-अपनी संगीत-कला प्रदर्शन करने वालों को देख रहा था। फिर जाने क्या मन में आया कि खुद भी उठकर माउथ-ऑरगन पर देर तक सिनेमा के गीतों की धुनें निकालता रहा। उस छोटे-से मंच से हटकर जिस मेज पर वह बैठा था, उसी पर बैठे थे ये लोग, यह राका जी और मिस्टर...क्या? हाँ, मिस्टर देव।

'सचमुच आपने बहुत ही सुन्दर बजाया। बड़ी अच्छी प्रैक्टिस है।' देव ने उसके बैठते ही कहा। रूमाल से बाजे को अच्छी तरह पोंछकर जेब में रख ही रहा था कि चौंक गया। राका के चेहरे पर प्रशंसा उतर आई थी और यों ही कप के ऊपर हथेली टेके, वह एकटक मेज को देख रही थी।

'आपकी चाय तो पानी हो गई होगी। और मँगाए देते हैं। बैरा, सुनो इधर...'

उसके मना करने पर भी चाय और आई। 'छुट्टियों में घूमने आए हैं...? अच्छा, कैसा लगा कलकत्ता आपको...जी हाँ, गन्दा तो है बम्बई के मुकाबले...लेकिन एक बार मन लग जाने पर छोड़ना मुश्किल हो जाता है...' फिर प्रशंसा, कृतज्ञता का आदान-प्रदान, परिचय और रात देर तक उनके लोअर सर्कुलर रोड के फ्लैट पर बातें, खाना, कॉफी और संगीत। राका को सितार का शौक है। देव किसी विदेशी कम्पनी के इंचार्ज मैनेजर की संगति में विदेशी सिंफनियां पसन्द करते हैं। उसका माउथ-ऑरगन सुनने के बाद राका जी ने सितार सुनाया था और फिर देव निहायत ही खूबसूरत प्लासिटक के लिफाफों में बन्द अपने विदेशी रिकॉर्ड निकाल लाए थे। एक-एक रिकॉर्ड आधा घंटा चलता था और उसमें तीन-तीन कंपोजीशंस थे। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया

था, लेकिन वह बैठा लिफाफों पर लिखे हुए परिचय और संगीतज्ञ की तस्वीर को जरूर गौर से देखता रहा था। कोई चियाकोवस्की या कुछ वैंकर था जिसका नाम वे बार-बार लेते थे। एक-एक रिकॉर्ड चालीस-पचास रुपये का था। बीच-बीच में, 'कभी जरूर आएँगे आगरा। बहुत बचपन में एक बार देखा था, शायद दिमाग में जो नक्शा है उससे मेल ही न खाए। शादी के बाद एक बार देखने का प्रोग्राम बहुत दिनों से बना रहे हैं। ये तो हर छुट्टी में पीछे पड़ जाती हैं। जी नहीं, इन्होंने नहीं देखा...इधर ही रहे इनके फादर वगैरा सब। अब तो आप वहाँ हैं ही...' उस दिन दोनों देर के लिए रास्ते-भर क्षमा माँगते हुए अपनी गाड़ी पर ही विवेकानन्द रोड तक छोड़ने आए थे। रास्ते-भर बातचीत के टुकड़े, सितार की गूँज और सिंफनी की कोई डूबती-सी दर्दीली कराह उसे अभिभूत किए रही...कैसे अजीव ढंग से परिचय हुआ है, कितना सुखी जोड़ा है। उसे बहुत ही खुशी हुई थी। बच्चा बाद में आया, नाम है मुनमुन।

देव बता रहे थे, 'नुमाइश में हमारा स्टाल आया है न, सो हम लोग भी दिल्ली आए थे। सोचा, इतने पास से, यों बिना देखे लौटना अच्छा नहीं है। आपको यों ही घसीट लाए, कोई काम तो...'

'नहीं, नहीं...' जल्दी से कहा। उसे और तो सब बातें याद आ रही थीं, लेकिन यह याद ही नहीं आ रहा था कि इन मिस्टर देव के आगे-पीछे क्या लगता है। बड़ी बेचैनी थी। कैसे जाने? बस, उस मुलाकात के बाद फिर कभी भेंट नहीं हुई। याददाश्त अच्छी है इन लोगों की, 'आपने याद खूब रखा...' सोचा, उस मुलाकात में ऐसी कोई खास बात भी तो नहीं थी।

'जब भी हम लोग ताज की बात करते, आपकी बात याद आ जाती। और कोई दिन ऐसा नहीं गया जब ताज की बात न आई हो...' फिर राका जी की ओर देखकर खुद ही बोले, 'आज हमारे विवाह को सातवाँ वर्ष पूरा हुआ है...आपके सामने यह मुनमुन नहीं था...'

'मुनमुन, तुमने अंकल जी को नमस्ते नहीं किया? कहो, अंकलजी, आज हमाले पापा-डैडी के विवाह की सातवीं वर्षगाँठ है...' राका जी उसके हाथ जुड़वाती बोलीं, 'बहुत ही शैतान है। मुझे दिन-भर ख्याल रखना पड़ता है कि किसी दिन कुछ कर-करा न ले।'

'तब तो आपको बधाई देनी चाहिए...' लेकिन इस सबके पार विजय को लगा, कहीं घुटन है जो अदृश्य ककुहरे की तरह गाढ़ी होती हुई छाई है। रहा नहीं गया, पूछा, 'आप कुछ सुस्त हैं। तबियत...'

'नहीं जी।' उन्होंने दोनों हाथ उठाकर एक क्लिप ठीक किया और स्वस्थ ढंग से मुस्कराने का प्रयत्न करके कहा, 'गाड़ी में बैठे-बैठे पाँच घंटे हो। एक घंटे से तो यहीं आपको ही खोज रहे हैं...'

'च्चू, सचमुच बहुत ज्यादती है यह तो आपकी।' कृतज्ञ भाव से वह बोला, 'कम-से-कम मुँह-हाथ तो धो ही लेतीं राका जी।'

'सब ठीक है—लौटना भी तो है न आज ही।'

फिर सभी ने खूब घूम-घूमकर ताज देखा था। मुनमुन का एक हाथ देव के हाथों में था और एक राका जी के। कभी-कभी तो तीनों आपस में ऐसे व्यस्त होकर खो जाते कि विजय को लगता—वह बेकार ही अपनी उपस्थिति से इनके बीच विघ्न बन रहा है। ऊपर इमारत के सफेद-काले चबूतरे पर देव बड़ी देर तक पैसा लुढ़का कर उसके पीछे भागते और बच्चे को खिलाते रहे, और विजय के साथ-साथ राका जी जालियों की बनावट, दरवाजे पर लिखी कुरान की आयतें और बूटों की नक्काशी देखती रहीं। साँझ की पीली-पीली सुहानी धूप थी। लॉनों की नरमी साँवली हो आई थी, मोरपंखी और चौड़े-चौड़े ताड़ जैसे पत्तों के गुंबदाकार कुंज मोमबत्ती की हर-सुनहली लौ जैसे लगते थे—जैसे आनन्द में फूले-फूले कबूतर हों और अभी हुलस पर फुरहरी ले लेंगे तो चिनगारियों की तरह सुर्ख फूल इधर-उधर बिखर पड़ेंगे। वे लोग भीतर कब्रों के पास अपनी आवाज गुँजाते रहे—कैसी लरजती-सी चली जाती है। जैसे बहुत ही महीन रेशों को बना हुआ, घड़ी में लगे बाल-स्प्रिंग की तरह कि बड़ा-सा वर्तुलाकर कुछ है जो कभी सिकुड़कर, सिमट आता है। देव की आवाज थी, 'रा का...रा का-ऽ ...रा ऽ-ऽ-का-ऽ..." एक दूसरे पर चढ़ते चले जाते शब्द...दूर खोते हुए, किन्हीं अनजानी घाटियों की तलहटियों में—"मुनमुन मु उ-उ न-अ-अ..." देव देर तक डूबे हुए इस खेल को खेलते रहे थे। लगता था, उनके भीतर है कुछ, जो इस खेल के माध्यम से अभिव्यक्ति पा रहा है। वह राका या मुनमुन का नाम ले देते और देर तक अँधेरे में इन शब्दों को डूबता-खोता देखते रहते—जैसे हाथ बढ़ाकर उन्हें वापस पकड़ लेना चाहते हों। उन्हें कब्रों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। बड़ी देर बाद, बहुत मुश्किल से जब वे उस वातावरण से टूटकर बाहर निकले तो बहुत उदास और खोये-खोये थे। विजय के पास से मुनमुन को लेकर जोर से उसे छाती से भींच लिया।

बाहर निकलकर आए तो देखा कि नदी किनारे वाली बुर्जी के पास राका जी चुपचाप दूर शहर और लाल पुल की ओर देखती खड़ी हैं। सिंदूरी आसमान के गहरे सिलेटी बादल नदी के चौखटे में वाश-कलर की तरह फैल गए हैं। बुर्जी से लेकर बीच के मकबरे तक चबूतरे की काली-सफेद शतरंजी को सिमटती धूप ने तिरछा बाँट लिया है...हवा में साड़ी उनके शरीर से चिपक गई है और कानों के ऊपर की लटें उच्छृंखल हो आई हैं। देव बहुत देर तक उन्हें यों ही देखते रहे, जैसे उन्हें पहचानते ही न हों। और उस सारे वातावरण में, सफेद पत्थर के उस विराट कैदखाने में जैसे किसी अभिशप्त जलपरी को यों भटकने के लिए छोड़ दिया गया हो...। यह जगह, यह वातावरण है ही कुछ ऐसा। विजय ने अपने-आप से कहा और जान-बूझकर दूसरी तरफ हट आया। शायद राका जी मुमताज के प्रेम की बात सोच रही हों, अपने मरने के बाद अपनी ऐसी ही यादगार चाहती हों या कुछ भी न सोच रही हों—बस, पुल से गुजरती रेल की खिड़की से झाँकती हुई, ताज को देखकर सौन्दर्य और कल्पना की स्तब्ध ऊँचाइयों में खो गई हों...

अपनी छाती तक ऊँची पीछे की दीवार से मुनमुन नदी की ओर झाँकता हुआ हाथ हिला-हिलाकर नीचे जाते बच्चों को बुला रहा था। कौवे काँव-काँव करने लगे

थे। मुनमुन के पास वह संगमरमर की दीवार पर झुककर हथेलियाँ टेके सामने की धारा और पेड़ों की घनी पाँतों को देखता रहा। जाने कब देव भी बराबर ही आ खड़े हुए...काफी दूर हटकर उसी तरह बुर्जी के पास झुकी राका जी...हवा में फहराती साड़ी को एक हाथ से पकड़कर रोके हुए...

'भीतर की आवाज और गूँज को सुनकर बड़ी अजीब-सी अनुभूति होती है... होती है न? जैसे जाने किन वीरान जंगलों और पहाड़ों में आपका कोई बहुत ही निकट का आत्मीय खो गया है और आपकी निष्फल पुकारें टूट-टूटकर उसे गुहारती चली जाती हैं...चली जाती हैं और खो जाती हैं...। न वह आत्मीय लौटता है और न आवाजें–जैसे युगों से किसी की भटकती आत्मा उसे पुकारती रही हो और वह है कि गूँजों और झांइयों में ही घुल-घुलकर बिखर जाता है...डूब जाता है...बिलमता है और साकार नहीं हो पाता...'

नदी में ताज की घनी-घनी परछाईं लहरों में टूट-टूट जाती थी...अनजाने ही देव की आँखों में आँसू भर आए।

'ऐसा ही होता है, ऐसे वातावरण में ऐसा ही होता है।' विजय ने अपने-आप से कहकर मानो स्थिति को शब्द देकर समझाना चाहा, 'जब कोई किसी को बहुत प्यार करे, बहुत प्यार करे और फिर ऐसी खूबसूरत मनहूस जगह आ जाए तो कुछ ऐसी ही अनुभूतियाँ मन में आती हैं...अभी लॉन पर चलेंगे, मुनमुन के साथ किलकारियाँ मारेंगे–सब ठीक हो जाएगा...।'

देव ने सुना और गहरी साँस लेकर बड़ी कातर निगाहों से विजय की ओर देखा। कुछ कहते-कहते रुक गए और दोनों चुपचाप ही टहलते हुए सामने की ओर आ गए ...मुनमुन राका जी के पास चला गया था। नीचे की सीढ़ियाँ उतरते-उतरते सहसा ही देव ने विजय के कंधे पर हाथ रख दिया था। कुछ कहने को होंठ काँपे, 'आपको पता है मिस्टर विजय...!' विजय स्वर और मुद्रा से चौंक गया था।

'नहीं...कुछ नहीं...' ऊपर हरी साड़ी की झलक दिखी और फिर दोनों सीढ़ियाँ उतर आए। जूते पहनते हुए बोले...'आपको ताज्जुब तो बहुत होगा कि हम यों अचानक आपको लिवा लाए...'

'नहीं तो, इसमें ऐसी क्या बात है?' विजय ने शिष्टता से कहा।

'हाँ, बात कुछ नहीं है, लेकिन बहुत बड़ी बात है।' फिर गहरी साँस।

अब विजय को लगा कि सचमुच कोई बहुत बड़ी बात है जो देव के भीतर से निकलने के लिए छटपटा रही है। तब पहली बार उसका ध्यान इस स्थिति की विचित्रता की ओर गया। बीच के चबूतरे तक दोनों बिल्कुल चुप रहे...चबूतरे के खूबसूरत कोनों वाले हौज में आग लग गई थी...गहरे साँवले आसमान में लाल-लाल गुलाबी बादलों के बगूले उतर आए थे। उलटे ताज की परछाईं दम तोड़ते साँप-सी इनके कदमों पर फन पटक-पटककर लहरा रही थी। धूप ऊपर बुर्जियों पर सिमट गई थी। उस पर आँखें टिकाए देव बड़ी देर तक यों ही देखते रहे। सामने मुनमुन को लिए राका जी चली आ रही थीं, लेकिन जैसे कोई किसी को नहीं देख रहा हो–हाँ, विजय कभी उसे और कभी

इसे या मशक लेकर आते भिश्ती को देखता रहा। टप-टप बूँदों की सर्पाकार लाइनें उसकी उंगलियों से टपक रही थीं। बड़े साहस से शब्दों को धकेल-धकेलकर देव बोले, 'यह सारी स्थिति...यह...यह टूट जाने की हद तक आ जाने वाला चरमराता तनाव...मौत के पहले के ये कहकहे...औपचारिकता का वह बर्फीला कफ़न...शायद हममें से कोई इसे अकेला नहीं सह पाता...कोई एक चाहिए था जो इसकी ओर से हमारा ध्यान हटाए रखे ...इस समाप्ति का गवाह बन सके।'

'मैं समझ नहीं सका मिस्टर देव...' घबराकर विजय ने पूछा था।

बूटों के दोनों पंजों पर जरा-सा उचककर देव निहायत ही इत्मीनान से धीरे से हँसे। 'आप...आप-विजय साहब, यह हमारी आखिरी संध्या है...' और विजय के कुछ पूछने से पहले ही उन्होंने कह डाला। "मैंने और राका ने निश्चय किया है कि अब हम लोगों को अलग हो ही जाना चाहिए...दोनों तरफ से शायद सहने की हद हो गई है...नसों का यह तनाव मुझे या उसे पागल बना दे, या कोई ऐसी-वैसी बेहूदगी करने पर मजबूर करे, इससे अच्छा हो कि दोनों अलग ही रहें। चाहे तो वह किसी के साथ सैटल हो जाए। वह मुनमुन को रखना चाहती है, रखे। जैसे जब भी वह उसे बाधक लगे, निस्संकोच मेरे पास भेज दे...'

विजय का सिर भन्ना उठा। वह चुपचाप हौज की गहराई से तड़पती ताज की परछाईं पर निगाहें टिकाए रहा।

'लेकिन आप दोनों...' विजय ने कहना चाहा।

देव ने हाथ फैलाकर रोक दिया, 'वह सब हो चुका। सारी स्थितियाँ खत्म हो गईं। हमने तय किया कि क्यों न अपनी अन्तिम संध्या हँसी-खुशी काटें...मित्र बने रहकर ही हँसते-हँसते विदा लें...' फिर कुछ देर तक चुप रहकर कहा, 'राका जी बड़ी इच्छा थी कि ताज देखे, शादी की पहली रात उसने चाहा था कि हनीमून यहाँ ही हो...लेकिन...लेकिन...' फिर हाथ झटक दिया, 'अजब संयोग है न?—लेकिन...'

लेकिन विजय को लगा था जैसे किसी डैम की रेलिंग पर झुका खड़ा है और नीचे से लाखों टन पानी धाड़-धाड़ करता गिरता जा रहा है...गिरता चला जा रहा है ...और उसका सिर चकरा उठा—। नहीं, उससे किसी ने कुछ भी नहीं कहा। यह सब तो सिर्फ वह कल्पना कर रहा है। कहीं ऐसी अविश्वसनीय बात...ध्यान उसका टूटा देव की आवाज से, 'उसे रोको राका, माली वगैरह मना करेंगे...नहीं मुनमुन!' स्वर बहुत मुलायम था और फिर देव ने दौड़कर प्यार से मुनमुन को दोनों बाँहों में उठा लिया और उसके पेट में अपना मुँह गड़ा दिया...मुनमुन खिलखिलाकर हँस पड़ा...आँखों में लाड़-भरे राका जी मुकस्कराती रहीं। नहीं, अभी जो कुछ उसने सुना था, वह इन लोगों के आपसी सम्बन्धों बारे में नहीं था—हो नहीं सकता।

बहुत बार विजय ने राका जी का चेहरा देखना चाहा, लेकिन लगा, वे इधर-उधर के सारे वातावरण को ही पीने में व्यस्त हैं। चिड़ियाँ चहचहाने लगी थीं...

इन्हीं जालियों पर इसी तरह तो वे लोग चल रहे थे कि पास आकर धीरे से देव ने कहा था, 'राका से कुछ मत पूछिएगा...'

क्या पूछेगा वह राका जी से...?

'सॉरी, आपको यों घसीट लाए हम लोग...'

और इस बार कातर निगाहों से देखने की बारी विजय की थी...'इतना गलत समझते हैं आप...'

चार-पाँच साल हो गए, लेकिन बात कितनी ताजी हो आई है...वह, देव, राकाजी और मुनमुन इसी तरह से लौट रहे थे, चुपचाप, उदास और मनहूस...सांझ का बजरा रात को किनारा छूने लगा था। जैसे किसी वर्षों की तूफानी यात्रा में वे तीनों लौटकर आ रहे हों। पेड़ों और इमारतों की परछाइयाँ खूब लम्बी-लम्वी चौड़ी धारियों की तरह पीछे चली गई थीं...कुंजों और लॉन की हरियालियाँ अजीब टटकी-टटकी हो उठी थीं ...हरियाली के सुरमई धुंधले काँच पर सफेद फूल छिटक आए थे...

मीरा के चश्मे के काँचों में झाँकती परछाईं को देखकर, जाने क्यों उसे वही याद ताजी हो गई थी...वही ताज तो उस दिन हौज में मानो आसमानी जार्जेट के पीछे से झाँक रहा था और अपने-आप से लड़ते हुए देव उसे वता रहे थे।...आज अगर देव होते तो क्या जवाब देता...? तो क्या वे भी उसी तरह अलग हो रहे हैं...?

सहसा चौंककर उसने मीरा को देखा। उसे लगा, जैसे उसने कुछ कहा है, "कुछ कह रही थीं क्या?"

"मैं?...नहीं तो।" फिर वही मौन और घिसटती उदासी का कंबल।

लगा, जैसे कोई मुर्दा-क्षण है जिसका एक सिरा मीरा पकड़े है और दूसरा वह, और उसे चुपचाप दोनों रात के सन्नाटे में कहीं दफनाने के लिए जा रहे हों...डरते हों कि किसी की निगाहें न पड़ जाएँ...कोई जान न ले कि वे हत्यारे हैं...कहीं किसी झाड़ी के पीछे इस लाश को फेंक देंगे और खुशबूदार रूमालों से कसकर खून पोंछते हुए चले जाएँगे...भीड़ में खो जाएँगे...। जैसे एक-दूसरे की ओर देखने में डर लगता है...कहीं आरोप करती आँखें हत्या-स्वीकारने को मजबूर न कर दें...

बाहर वे दोनों ताँगा लेंगे...झटके से मोड़ लेता हुआ तांगा ढाल पर दौड़ पड़ेगा और ताजमहल पीछे छूटता जाएगा...और फिर 'अच्छा' कहकर सूखे होंठों के भरे स्वर पर मुस्कराहट का कफ़न लपेटकर दोनों एक-दूसरे से विदा लेंगे...

दो कब्र और यह सन्नाटा

(ताजमहल से प्रेरित)

दो कब्रें कितनी पास-पास!

यह बनारसी बूटों-सी
नक्काशी में झिलमिल-झिलमिल
संगेमरमर की श्वेत-दूधिया चादर ताने
लेटी दो कब्रें पास-पास!
सभी कुछ मूक! सब उदास!
रह-रह कर गहरी-सी उसांस
भरते सिरहाने झुका शीश
दो मुरझाए-से-धूपदान!

ज्यों उठता सुनकर मधुर तान
बल खाता
अंगड़ाई-सा इतराता
अलसाया स्याह साँप!
लहराए रह-रह काँप-काँप!

यह मरघट-सा मौन
कि जिसमें जब तक कोई शब्द
जुगनुओं-सा खो जाया करता है!
जैसे हहराती बाढ़
—बहाए लाती छप्पर-पेड़...
जेठ की दोपहरी का सन्नाटा
भूतों की साँसों के डेरे—
सन-सन करते फरास की छाया में

मोथे की जड़ से उलझ-उलझ
बिफरे मटमैले झागों में

—भंवरों में रुक-रुक बहती हो!
जब तब कगार के पर्त
पिघलकर हलके-से चुप टपक पड़ें
(ज्यों उछल उठे मेंढ़क कोई)
औ' यह हल्की-सी छपक्
रेंगती लहरों में फिर डूब जाए
सन्नाटा रह-रह थरथराए!

दो कब्र और यह सन्नाटा!
लोबानी धुएँ में लिपटा
जादू के भेदों से बोझिल
जैसे रहस्य का अदृष्ट चक्र
दिन-रात घूमता रहता हो!
(इसके पीछे वह मछली है
जिसकी हल्की-सी परछाई
इन कब्रों में झाँका करती!
दुस्तर कितना पर लक्ष्य-भेद!
हो जिसके सिर में आँख
फोड़ सकता वह केवल लक्ष्य!)
वर्ना यह रोता सन्नाटा
भारी गुम्बद में खुद भटका करता है

इस ऊँचे गुम्बद का खालीपन
दिन-रात तड़पता रहता है।
उफ! कोई आकर, काश!
एक शब्द दे पाता उसकी पीड़ा को!

दीवारों से कोनों तक रह-रह
ऊपर गोलों में
कुछ चमगादड़ के पर फड़-फड़!
ज्यों भय से सूखे होंठ
डूबती आँखों की छायाओं में

रह-रह कर काँपें—फड़क उठें!
हर अँधियारे कोने में
यों लगता है

जैसे सिमटा-सा कोई चुपचाप सिसकता हो।
हर कमरे की दहली पर रखते कदम
हृदय की धड़कन में
जैसे कुछ 'धक्' से सिहर उठे!
लगता है, ज्यों आगे-आगे
आहिस्ते कदमों से हो कोई निकल गया!
चौखट के ओटे में अभी-अभी
उसकी हल्की-सी छाया
औ' कपड़ों की सर-सर की ध्वनियाँ
सब कुछ तो साफ दिखी ही थीं!

'आवाज तेरी है' संकलन से

लेख

दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान : चंद्रकांता संतति

अक्सर यह प्रश्न बाहर और खुद मेरे भीतर से आया है कि आज जब इतना सब कुछ आस-पास हो रहा है तो मैंने सौ साल पुरानी चन्द्रकान्ता जैसी किताब पर अपने छः महीने क्यों लगा दिए? आज उस गड़े मुर्दे को उखाड़ने की क्या मजबूरी या प्रासंगिकता है?

सबसे बड़ा कारण तो मुझे यही लगता है कि जैसा कैओस, मूल्यों का जैसा घपला, सही-गलत की पहचान का जैसा एक सिरे से गायब हो जाना, उस समय के समाज में या कम-से-कम इस उपन्यास में आया है, लोग जिस आसानी से खेमे बदलते हैं; शायद आज आस-पास की स्थिति एकदम वैसी ही है। और इस बात की पड़ताल मेरे अपने लिए बहुत जरूरी हो गई थी कि उस चतुर्दिक व्याप्त कैओस में वे क्या सूत्र, युक्ति, जिद या आस्था थी जो लेखक को साधे हुए थी; क्या था जो छः हजार पन्नों तक लेखक को चलाए रख सका? इसके बहाने सम्भव है, वही चीज मैं अपने भीतर भी खोज सकूँ! कभी यह भी लगता है कि एक बहुत बड़ा कारण शायद यह भी होता है जब घुटते और जलते हुए मकान से भागकर आदमी भीड़ में आता है, हो सकता है, अपने और समाज के भीतर के शून्य, घुटन और विश्वासों के ढहने से घबराकर देवकीनन्दन खत्री इस भीड़ में आए हों—पाठकों तक पहुँचे हों और वहीं से उन्होंने शक्ति या धीरज अर्जित किए हों। क्या ऐसा नहीं होता कि बहुत जीवन्त संग-साथ देनेवाले, अत्यन्त लोकप्रिय लोग अपने भीतर बहुत अकेले होते हैं और तब अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण ही एकमात्र रास्ता रह जाता हो...

इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उस समय का आदमी, चन्द्रकान्ता के कथ्य की तरह बिना अपनी जमीन और जीवन-पद्धति छोड़े हुए ही आधुनिक सुख-सुविधाएँ पा लेना चाहता हो या कहें—सामन्ती मूल्यों, विश्वासों और व्यवस्था से चिपके रहकर उन्हें पूजते या उनका समर्थन करते हुए ही औद्योगिक सभ्यता के सारे उपकरणों और उपलब्धियों को हथिया लेना चाहता हो। शायद वह यह भूल गया था कि उपलब्धियाँ और उपकरण केवल वस्तुएँ और मशीनें ही नहीं होतीं—एक सम्पूर्ण व्यवस्था, सभ्यता या मूल्य-पद्धति का सतह पर दीखने वाला छोटा-सा हिस्सा, आइसबर्ग होती हैं। उनकी अपनी शर्तें या अपने तर्क होते हैं—खेल के नियम। बहरहाल, इसी द्विधा ने उस समय के आदमी को मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक धरातल पर दो हिस्सों में बाँट दिया है—अन्दरूनी तिलिस्मी-तिकड़मों और बाहरी छीना-झपटी, आपाधापी में। वे भयानक दिवास्वप्नी लोग हैं जो इन सपनों की कोई एक चाबी तलाश करने के लिए जमीन-आसमान

एक किए हुए हैं। उनके लिए सही-गलत, वफादारी, विश्वासघात, नैतिक-अनैतिक का कोई भेद नहीं रह गया है या सारे मूल्य एक-दूसरे के स्थानापन्न हो गए हैं। मूल्यहीनता के इस शून्य को आज के आदमी से ज्यादा और कौन महसूस कर सकता है?

इतिहास जहाँ मोड़ लेता है, वहाँ सामाजिक शक्तियों और समय के दबावों को जबान देनेवाली कोई घटना, आन्दोलन या व्यक्ति होते हैं। ये सामाजिक शक्तियाँ विस्फोट से पहले जन-मानस में बहुत धीरे-धीरे और गहराई में पनपती-फैलती हैं और अपनी परिणति में ही जबान पाती हैं। कभी-कभी तो समाज को खुद ही अपने भीतरी दबावों का पता नहीं होता, वह उन्हें सिर्फ महसूस करते हुए अनजाने ही कुछ अलग दिशाओं की ओर देखने लगता है। या कभी-कभी यह भी होता है कि हम पीछे घूमकर देखते हैं कि हाँ, उस बिन्दु से समाज का सारा सोच, सरोकार या रुचियाँ एक मोड़ ले रही हैं...फिर और गौर से देखते हैं तो पाते हैं कि वहाँ एक किताब है। अस्पष्ट और बेनाम शक्तियों को दूर से ही 'सूँघ' कर पकड़नेवाला कोई संवेदनशील एरियल अपनी निहायत ही व्यक्तिगत परिधि में घिरा, कुछ अनपहचानी आवाजों को पकड़ता है। अकसर उसे खुद भी नहीं पता होता कि जिस रचना को वह जन्म दे रहा है, उसकी 'भूमिका' क्या होने जा रही है! शायद यही कारण है कि 'बड़ी किताबों' के घोषित लेखकीय लक्ष्य आज बहुत अजीब, निर्विशिष्ट और हास्यास्पद लगते हैं। कम-से-कम उतने महान नहीं लगते, जितने उनके लेखकों ने बताए थे। केवल एक अपवाद है, और वह है—कार्ल मार्क्स; उसे पता था कि वह अपनी किताब से दुनिया के नक्शे को कहाँ और किस आधारभूत स्तर पर बदलने जा रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त या बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तर-भारतीय या कहें हिन्दी-भाषी समाज के मोड़ पर भी एक ऐसी ही किताब है—चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ—यानी सब मिलाकर एक ही किताब। हम लोगों की पिछली तीन-चार पीढ़ियों का शायद कोई ही पढ़ा-बेपढ़ा व्यक्ति होगा जिसने छिपाकर, चुराकर, सुनकर या खुद ही गर्दन ताने, आँखें गड़ाए इस किताब को न पढ़ा हो। 'इस किताब के लिए न जाने कितने लोगों ने हिन्दी सीखी' से आगे इस किताब का वास्तविक मूल्यांकन कभी नहीं किया गया। रस-सिद्धान्त में यह फिट नहीं होती थी और साहित्यिक उन्नासिक (स्नॉब) वर्ग ऐयारी-तिलिस्मी और घटाटोप घटना-प्रधान शुद्ध मनोरंजनाग्राही उपन्यास को अपनी चिन्ता के लिए अछूत समझता था।

हम लोगों के संस्कार, रुचियों या मानसिकता को इस किताब ने अच्छी दिशा दी या बुरी, हमें बनाया या बिगाड़ा, इसका जायजा लेना तो आज मुश्किल है, मगर यह सच है कि इतिहास और समाज के मोड़ पर यह किताब है और अपने सारे प्रभाव के साथ दसियों वर्ष मौजूद रही है : समानान्तर तीन-तीन संस्करणों में। यह कहना भी बेहद सरलीकरण है कि इसने पढ़ने के लिए रुचि पैदा की और प्रेमचन्द जैसों ने उस रुचि को दिशा दी। हो सकता है इस पुस्तक के हलचल, हरकत और हंगामे-भरे

कथानक ने हमें मानसिक सक्रियता में उलझाकर रखा हो, चमत्कार- विश्वासी, आत्मगरिमा-मुग्ध मन में कुछ और अन्ध-श्रद्धा की परतें डाल दी हों। मगर यह सच है कि इस उपन्यास की जाँच केवल साहित्य के औजारों से नहीं की जा सकती। उस पूरे परिवेश और माहौल को समझना होगा जिसमें इसे लिखा-पढ़ा गया था। कह सकते हैं कि जो जिस तरह का समाज होता है या जिस भीतरी बुनावट में वह साँस लेता है, अपने लिए उसी तरह की किताब चुन लेता है।

सुनते हैं, गेटे के उपन्यास, 'युवा वेर्देर की अन्तर्व्यथा' उपन्यास ने भी तत्कालीन जर्मन-समाज को इसी तरह पकड़ा था और बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' ने भी बंगाली युवा-मन को वैसा ही झकझोरा था। इसी तरह की दूसरी किताब थी 'देवदास'। अगर अपने समय की कुछ अत्यन्त ही लोकप्रिय पुस्तकों के आधार पर किसी समाज के मनोविज्ञान के बारे में नतीजे ही निकालने हों तो मैं कहूँगा कि आन्तरिक घुटन और कुण्ठा में छटपटाते मन को 'आनन्दमठ' ने आशा और कर्म की उँगलियों से पकड़कर बाहर निकाला था तो दूसरी ओर, बाद में, 'देवदास' युवा-मानस की रोमानी निराशा की मृत्यु का शोक-गीत बनकर आया था—अर्थात् अपनी निष्क्रियता और परास्तवृत्ति का जयगान...या कह सकते हैं, सामन्ती-रूढ़िवाद के दरवाजे पर व्यक्तिगत विद्रोह का टूटकर बिखर जाना। पारो के गाँव की सड़क, बैलगाड़ी, बीमार मरता हुआ देवदास। क्या ये मानवीय तड़प और आग की अकाल मृत्यु से उत्पन्न करुणा से आगे भी कुछ कहते हैं? इसलिए चाहे 'वेर्देर' हो या 'देवदास'—इन्हें सिर्फ आत्महत्याओं या लेखकों की चरम-निराशा की कहानियाँ मानना जल्दवाजी होगी। रूमानियत की इन्हीं अन्धी गलियों के आखिरी छोर पर पहुँचकर हर सामाजिक-मानसिकता की 'वापसी-यात्रा' शुरू होती है। इसीलिए शायद ये पुस्तकें—'दास कैपिटल', 'गीता-रहस्य', 'मीन-कैम्फ', 'टाम काका की कुटिया' या एकदम ताजी पुस्तक 'रूट्स'—की तरह समाज की सारी चेतना को दिशा देनेवाली पुस्तकों के मुकाबले नीची नजर से देखी जाती हैं। फिर भी पीछे मुड़कर अपने-आपको पहचानने और समझने की दृष्टि से इनका महत्त्व कम नहीं होता...

मुझे तो अपने स्रोतों को पकड़ने, जानने के प्रयास में बार-बार 'चन्द्रकान्ता' या उसकी अगली कड़ी के उपन्यास ही दिखाई देते हैं, वरना बाकायदा उर्दू का आलिम-फाजिल मैं...

कैसा लगता है, चालीस साल बाद उन्हीं पहाड़ों, गुफाओं, नालों, सुरंगों और जंगलों में घूमना...उन्हीं पेड़ों, मकानों, गलियों और खण्डहरों के चक्कर लगाना, तिलिस्मी पुतलों, खटकों और चमत्कारों के बीच अपने-आपको पाना...पिछले दिनों संयोग से मैंने चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ और रोहतासमठ के 54 हिस्सों को करीब साढ़े पाँच-छः हजार पन्नों में पढ़ा। याद नहीं पड़ता कभी बीच में पढ़ने का अवसर मिला हो। कुछ तिलिस्मी वर्णनों को छोड़कर प्रायः कहीं भी 'छलाँग' नहीं लगाई... इन पन्नों को पढ़ते हुए उस सारी दुनिया को ही अपने भीतर जागते नहीं पाया, साथ-साथ सुरीर (मथुरा जिले का एक कस्बा) के बचपनवाले दिनों को भी स्मृति

छिड़ककर अपने भीतर जीवित कर लिया...जिनके साथ आपके आसंग और स्मृतियाँ सब जुड़े हों, उन्हें फिर से छूना केवल इतना ही भर नहीं होता, अपनी चेतना के उन जाले लगे झरोखों को झटके से खोल देना भी होता है जहाँ से आपको अपना सारा कुछ छूटा और भूला हुआ दीखने लगे—डॉक्टर के क्वार्टर का बाहरी बरांडा और वहाँ सीढ़ियों, मूढ़े या कुरसी पर आँखों से उपन्यास के पन्नों को जल्दी-जल्दी निगलता लड़का...झुकती साँझ के घिरते अँधियारे में तब तक वह पढ़ता रहता जब तक कि अक्षर एकदम धुँधले होकर धब्बे-से न रह जाते। जैसे ही एक हिस्सा समाप्त होता कि अगला पढ़ने की बेचैनी पागल बना देती; कब मिलेगा? उसे लेने तीन-चार फर्लांग दौड़कर कस्बे के पुस्तकालय में जाना या केशी महाराज को दौड़ाना और जब तक अगला हिस्सा न मिल जाए तनी हुई नसों में अजीब-सी बेचैन झनझनाहट महसूस करते रहना...तब समझ में आने लगा था कि पिताजी रात को देर-देर तक लालटेन की रोशनी में क्या और क्यों पढ़ते रहते थे? माँ क्यों नहाना, खाना भूलकर सारे दिन उन पन्नों से चिपकी रहती थीं और उन्हें पता ही नहीं लगता कि हम लोग कहाँ, कितना 'बिगड़' रहे हैं...

दूसरा महायुद्ध शुरू हो रहा था और अस्पताल का पच्चीस बीघे का हाता तरह-तरह की गहमा-गहमियों से भरा रहता था। शाम की मोटर से 'हिन्दुस्तान टाइम्स' आता था और फिर कंपाउण्डर, महाराज, मास्टर साहब या कस्बे के दो-चार महत्त्वपूर्ण व्यक्ति लालटेन के चारों तरफ बैठकर पिताजी से अखबार सुनते रहते कि किस देश का भाग्य बना-बिगड़ा, और उन्हीं के बीच रोशनी की कोई किरण पकड़े मैं सुरंगों और तिलिस्म में भटकता रहता...कहीं कुछ गड़बड़ है और जर्मन-अंग्रेजों में लड़ाई है, जर्मन आर्य हैं और अंग्रेजों को पीसकर रख देंगे—इस खुशी के अलावा ज्यादा कुछ समझ में नहीं आता था। हर समय दिमाग में भरे रहते थे—किशोरी, कमलिनी, माधवी, दारोगा और भूतनाथ...उसके बाद बरांडे में मेज को खम्भे के सहारे डैस्क की तरह टेढ़ा करके, हरी स्याही से अस्पताल के पीले लाइनदार कागजों पर 'देवगिरि' को केन्द्र बनाकर मैंने अपना उपन्यास लिखना शुरू कर डाला था—नायक का नाम था हेमेन्द्र। पता नहीं, वे उपन्यास और नायक आज कहाँ हैं; हाँ, अपने छोटे भाई का नाम जरूर हेमेन्द्र रख दिया। उस समय लिखना कैसे पागलपन का अजटिल और सहज स्वाभाविक काम था—कल्पना कैसी मन-चेतन पर छा-जानेवाली और सर्वव्यापी दृष्टि में बदल जाती थी। आज तो कोशिश करके भी समय को क्रमबद्ध ढंग से जोड़ नहीं पाता। शायद वह लिखना पाँव की हड्डी टूट जाने के बाद था—'39-'40 की बात है। आज से शुरू करके वहाँ पहुँचता हूँ तो सभी कुछ उलट-पलट जाता है। बस, सामने आ जाते हैं आस-पास के जंगल, बंबे से लगे फरास के कतार-बद्ध झुंड, सरसों और अरहर के मीलों फैले खेत, कुएँ—सब कुछ किसी-न-किसी तिलिस्म से जुड़ा हुआ। हम लोग अकसर ही लाल स्याही से लिख-लिखकर केशी महाराज की कोठरी में धमकी-भरे पत्र छोड़ आते कि अगर हमारी फलाँ शिकायत की या अमुक काम नहीं हुआ तो तुम्हारा सेफ्टीरेज़र गायब कर दिया जाएगा। किस तरह सजीव था तब किशोर कल्पना में

'चन्द्रकान्ता' का संसार और कितनी ईमानदार थी ऐयारी के बटुए या बेहोश कर डालनेवाली बुकनी की तलाश...

बहरहाल, इन दिनों 'क्राइम एंड पनिश्मेंट' और 'ईडियट' को दुबारा पढ़ने के बीच 'चन्द्रकान्ता' के साथ रहना उतना ही आश्वस्तिदायक लगा, हलके-से अवसाद के साथ...अब शायद इस दोस्त से जिन्दगी में इतनी आत्मीय मुलाकात न हो पाए ...हालाँकि यह भी सच है कि दोस्त के लिए अब निगाह उतनी निर्व्याज और निर्दोष नहीं रह गई है।

सबसे पहला सवाल तो यही सामने आया कि यह इतना बड़ा, साढ़े पाँच-छः हजार पन्नों का उपन्यास (यहाँ मैं देवकीनन्दन खत्री और इस माला में लिखनेवाले उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री--दोनों को मानसिकता की दृष्टि से लगभग एक ही रचनात्मकता के क्रम में रखना पसन्द करूँगा) क्या केवल और केवल मनोरंजन के लिए ही लिख डाला गया? ठीक उसी दृष्टि से जैसे दुनिया का सबसे बड़ा उपन्यास, 'दास्तान-ए-अमीर-हम्जा' तैयार हुआ था? वह समय, समाज दूसरे थे और वहाँ शुद्ध मनोरंजन के लिए राज-दरबारों में इन्तिहा फुरसत थी। फिर वे लोग सहज विश्वासी लोग थे और सुननेवाला अमीर या बादशाह न सिर्फ अपने-आपको हम्जा के रूप में सोच सकता था, किसी हद तक उस स्वप्न को जी भी सकता था। इसीलिए हम्जा के शौर्य, पराक्रम और चमत्कारिक क्षमताओं के पीछे बहुत मोटी और स्पष्ट दृष्टि थी—इस्लाम का प्रचार। हम्जा, उमरू ऐयार की मदद से बड़े-बड़े तिलिस्म तोड़ता है, बड़े-बड़े सूरमाओं को रण-क्षेत्र में परास्त करता है और तलवार, खंजर या नेजा गले या छाती पर रखकर इस्लाम कुबूल कराता है, कल्मा पढ़वाता है और छोड़ देता है। उसकी बहन-बेटी से शादी करके उसे वहाँ का गवर्नर बनाकर आगे चल देता है। इस प्रकार की दिग्विजय के दौरान तरह-तरह के चित्र-विचित्र मुल्क, राज्य, समुद्र, पहाड़ और भौतिक या दैवी बाधाओं, जादुओं, तिलिस्मों, जिन-आसेबों या देवों से मुठभेड़ करता है। कहानी अनन्तकाल तक चलती चली जा सकती है। उपलब्ध 46 भागों को आठ दफ्तरों या जिल्दों में समेटा गया है और इसी हम्जा-दास्तान की पाँचवीं जिल्द का नाम है, 'तिलिस्म-ए-होशरुबा'। कहा जाता है कि खत्रीजी ने इसी से प्रेरणा ली थी। बहरहाल, यह कहानी चाहे कभी से और कितने ही देशों या शासनों की जमीन का रस लेती चली आ रही हो और इसमें कल्पना या खयाली पुलावों के चाहे जितने कुलाबे मिलाए गए हों, अनेक अध्येताओं का विश्वास है कि होशरुबा के सारे पात्र, उनके आपसी आचार-व्यवहार, आदाब-अल्काब अवध और लखनऊ या वहीं के आस-पास के हैं और दुश्मनों या जादूगरों के रूप में भारतीय पात्रों को पहचाना जा सकता है—अपना देव वहाँ राक्षस या दानव का पर्याय हो जाता है।

सवाल यही है कि 'चन्द्रकान्ता' (आशय इस शृंखला के सारे उपन्यासों से है) क्या 'तिलिस्म-ए-होशरुबा' या 'बोस्ताने-खयाल' जैसे वृहद किस्सों से प्रेरणा लेकर इस स्पर्द्धा में लिख डाला गया कि हिन्दी में ऐसी कोई चीज नहीं है? —या इसके पीछे कोई और भी अनजाने दबाव या स्पष्ट मन्तव्य रहे हैं? इसे क्या हम हम्जा के जवाब

में हिन्दू-धर्म और भारतीय मेधा की पुनर्स्थापना के लिए गढ़ा गया वैसा ही ग्रन्थ मान सकते हैं जैसा कभी 'रामचरितमानस' रहा था? क्या इस उपन्यास को लम्बा खींचते चले जाने के पीछे इतना ही कारण है कि 'सामाजिक जीवन व्यवस्थित हो गया था, मध्यवर्गीय लोग फुरसत में थे और समय काटने के लिए ऐसे लम्बे किस्से पढ़ते चले जाना उनके लिए स्वाभाविक था?' यह सही है कि श्रोताओं की उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया वक्ता को अपना भाषण खींचते चले जाने का लालच पैदा कर सकती है, मगर श्रोता के किसी मानसिक तार या भीतरी जरूरत को वह भाषण नहीं छू रहा हो तो दिलचस्प-से-दिलचस्प बात सुनते चले जाने का उत्साह कितनी देर बना रहेगा? वह भीतरी बात, क्या सिर्फ चमत्कार के लिए कौतुक-भरी उत्सुकता, शौर्य और पराक्रम के प्रति मुग्ध-श्रद्धा या हविस और चुस्ती-चातुरी के लिए 'वाह-वाह' वाला प्रशंसा-भाव ही थी? 'आगे क्या हुआ?' की बाल-जिज्ञासा क्या कभी वयस्क नहीं हुई? और फिर सबसे बड़ा सवाल यह कि बात कितनी ही हवाई, ऊलजलूल, अजूबा या काल्पनिक हो—उसमें सुनानेवाले की मानसिकता और सुननेवाले की सामाजिकता—या दूसरे शब्दों में तत्कालीन समय ओर समाज या लेखक से कोई रिश्ता नहीं होता? या कहें, लेखक की अपनी घोषित मान्यताओं, मन्तव्यों और स्वार्थों-संस्कारों के बावजूद क्या उसकी रचना-प्रक्रिया में 'समय' कहीं भी प्रवेश नहीं कर पाता?

उस समय के पाठक ऐसी ही मनोरंजक कहानी चाहते थे और खत्रीजी ने उनकी रुचि को पहचानकर पकड़ा—यह या ऐसे बयान सपाट ही नहीं हैं, समय और रचना के किसी भी रिश्ते को नजरअंदाज करके गहराई में जाने की चुनौती से बच निकलना भी है। हिन्दी में इस आलोचकीय दायित्व के प्रति मुजरिमाना-उदासीनता ने ही मुझे बार-बार उकसाया कि एक बार इस चन्द्रकान्ता नाम के तिलिस्म को तोड़कर देखने की कोशिश ही क्यों न कर ली जाए? हो सकता है, कुछ चाबियों की मदद से मैं इसकी भूल-भुलैयों में घूमकर 'जीवित' वापस आ सकूँ...आखिर, अपने पुरखों को जानने-समझने के लिए या अपनी जड़ों और सन्दर्भों को खोजने के लिए हर अगली पीढ़ी ने अतीत और परम्पराओं के खण्डहरों और जादुई कुँओं के चक्कर लगाए ही हैं...अपने सफर का जायजा लेते हुए आगे बढ़ने की शक्ति और दिशा पाई ही है...

मुझे लगता है कि अपनी पड़ताल को इसी बिन्दु से शुरू करना होगा कि 'चन्द्रकान्ता' की इस अभूतपूर्व और भयानक लोकप्रियता के सामाजिक या मनोवैज्ञानिक कारण क्या रहे हैं? वह कौन-सी मानसिक स्थिति होती है जब समाज इस तरह के मनोरंजन, कौतुक या पलायन चाहने लगता है? अनायास और अनजाने ही लाखों पाठकों या दर्शकों को बाँध लेनेवाली किताब या फिल्म किसी गहरी अचेतन जरूरत को प्रकट और इंगित करती है या नहीं?

1857 के गदर के बाद अंग्रेजी शासन ने प्रायः सारे उत्तर-भारत को अपने चंगुल में ले लिया था और धीरे-धीरे उसकी प्रशासनिक स्थिति मजबूत होती चली जा रही थी। राज्यों और प्रान्तों की पुनर्व्यवस्था और पुनर्गठन का कार्य लगभग पूरा हो गया

था। अंग्रेजों का दबदबा, आतंक इस सिरे से उस सिरे तक छाया हुआ था। नए हथियारों, रणनीतियों और हथकण्डों के साथ-साथ वे अपने उपयोग के नए-नए उपकरण भी ला रहे थे। सब मिलाकर असंगठित और गुप्त विरोधों के बावजूद भारतीय समाज ने इस पराजय को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया था—हाँ, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से जन-मन इस स्थिति को कतई स्वीकार नहीं कर पाया था। भौतिक और सामाजिक पराजय के बाद भीतर कहीं यह बोध और कचोट बने रहना बहुत स्वाभाविक है कि जो बाहरी शक्ति से नहीं हो सकता, उसे बुद्धि और समझ से किया जा सकता है। 1887 में प्रकाशित 'चन्द्रकान्ता' की अभूतपूर्व लोकप्रियता के पीछे मुझे एक कारण यह भी लगता है : चाहे ऐयारों के एक-से-एक अद्भुत कारनामे हों या तिलिस्म के चमत्कार, इन सबके पीछे एक चौकन्नी और विलक्षण बुद्धि, प्रतिभा और उपलब्धियों का काल्पनिक आश्वासन तो है ही। और भी आगे जाकर मैं तो यह भी कहना चाहूँगा कि 'चन्द्रकान्ता' अपनी पराजय का ही इकबाली-बयान (कन्फैशन) नहीं, बल्कि सामन्ती शौर्य की घनघोर असफलता के बाद बौद्धिक चातुर्य की दिशा में एक अचेतन प्रयोग है—यानी भौतिक सामर्थ्य की व्यर्थता के बाद बौद्धिक श्रेष्ठता साबित करने का एक काल्पनिक और कमजोर प्रयास...

और यहीं 'चन्द्रकान्ता' अपनी पूर्वज उर्दू-दास्तानों से कथ्य और लक्ष्य के स्तर पर ही एकदम अलग नहीं हो गई है, सारे शिल्प और कथानक में भी बहुत-बहुत दूर जा पहुँची है। 'दास्तान-ए-अमीर-हम्जा' में नायक धर्म के प्रचार का महान लक्ष्य लेकर चला तो हातिम परोपकार के लिए समर्पित हुआ, 'अलिफलैला' में मलिका शहरजाद घुमक्कड़ी के मारे लोगों की कहानियाँ सुना-सुनाकर अपनी मौत हजार रात टालती रही। इन अमूर्त और महान् लक्ष्यों के मुकाबले 'चन्द्रकान्ता' के नायकों के उद्देश्य बहुत ही भौतिक और सांसारिक हैं—यानी तिलिस्मों के भीतर दबी सुरक्षित अकूत-अथाह दौलत को प्राप्त करना...दोस्त और दुश्मन इसी से तय होते हैं और इसी मूल कथानक में तिलिस्म के चकाचौंध कर डालनेवाले करिश्मे, ऐयारों की दाँतों-तले उँगली दबानेवाली साँस-रोक हैरत-अंगेज कारगुजारियाँ हैं।

उर्दू-दास्तानें अलग-अलग आख्यानों या प्रसंगों का सिलसिला लेकर चलती हैं—यानी हर आख्यान अपने-आप में लगभग इतना सम्पूर्ण है कि दास्तान वहाँ खतम भी हो सकती है—जैसे बेताल-पच्चीसी या सिंहासन-बत्तीसी...हाँ, मुख्य पात्र इन सारी कहानियों के चूँकि एक ही हैं इसलिए अगली कहानी भी उसी का हिस्सा और किस्सा बनकर आती है। जैसे एक डोरी है, जिसमें ये स्वतन्त्र और स्वयं-सम्पूर्ण प्रसंग पिरो दिए गए हैं। शायद इसका कारण इन कहानियों का वाचिक होना है। उन्हें प्रायः हर रात श्रोताओं के सामने सुनाया जाता था, इसलिए एक या दो बैठकों में सम्पूर्ण होने के साथ-साथ महीनों निरन्तर चलनेवाले किस्सा-शिल्प की आवश्यकता थी। उर्दू-दास्तानों के तो कथानक सम्बन्धी पैटर्न (बुनावट) और मोटिव्स भी प्रायः तय ही हैं। हर कथा के आधार हैं 'रज्म' और 'बज्म'—यानी युद्ध और महफिलें या महलों के उत्सव। नायक लोग या तो लड़ते हैं या फिर महलों में बैठकर नाच-गानों का आनन्द लेते हैं, दरबार

लगाते हैं। नई सूचना आती है, कोई जटिल स्थिति पैदा होती है और विघ्न पड़ता है—हो गया नए कूच का नगाड़ा बजना शुरू! यही कारण है कि मुख्य पात्रों के अलावा प्रायः अलग-अलग आख्यानों के पात्र दुबारा नहीं आते।

इसके विपरीत 'चन्द्रकान्ता' पाठ्य-कथा है और इसकी बुनावट तो इतनी जटिल या कल्पना इतनी विराट् है कि कम ही हिन्दी उपन्यासों की हो। मौखिक परम्परा के किस्सागो की याद्दाश्त को विलक्षण और चमत्कारी बताया जाता है, मगर उसकी वर्णन और विवरण रेखा एकदम सीधी है। अपने आख्यान का मोटा नक्शा उसके सामने रहता ही है, बाकी विवरण और सूचियाँ वह अपनी स्मृति और आस-पास के निरीक्षण से भरता चला जाता है। वहाँ अन्वेषण और आविष्कार की गुंजाइश या तो है ही नहीं या बहुत सीमित कर दी गई है। रज्म (युद्ध) है तो हथियारों, घोड़ों और सिपाहियों के वर्णन, मोटी-मोटी मोर्चाबन्दी और रण-क्षेत्र का नक्शा...या पारस्परिक द्वन्द्व-युद्ध में दाँव-पेंचों के नाम...उधर बज्म में गहनों-कपड़ों, खुशबुओं-खानों से लेकर दरबार, शाही आदाब-अल्काब, पगड़ियाँ और कपड़े...जबकि 'चन्द्रकान्ता' में इस तरह की सूचियों पर बहुत जोर नहीं है, हाँ, वर्णन तो हैं ही। वहाँ जोर है कथानक के फैलाव, जटिल गुत्थियों और अधिक-से-अधिक रहस्यमय घटाटोप पैदा करने पर...अद्भुत और अद्वितीय याददाश्त और कल्पना के स्वामी हैं बाबू देवकीनन्दन खत्री...पहले या तीसरे हिस्से में दी गई एक रहस्यमय गुत्थी का सूत्र उन्हें इक्कीसवें हिस्से में उठाना है, यह उन्हें मालूम है। अपने घटना-स्थलों की पूरी बनावट, दिशाएँ उन्हें हमेशा याद रहती हैं। बीसियों दरवाजों, झरोखों, छज्जों, खिड़कियों, सुरंगों, सीढ़ियों—सभी की स्थिति उनके सामने एकदम स्पष्ट है।

इसी कारण मुझे लगता है कि तिलिस्म, ऐयार या दो-चार छोटी-मोटी बातों के अलावा देवकीनन्दन खत्री ने उर्दू-दास्तानों से बहुत ही कम लिया है। उनके प्रायः सभी पात्रों की निरन्तर उपस्थिति, कथानक का सुगठित फैलाव 'महाभारत' के अधिक निकट लगते हैं। हालाँकि हिन्दू-धर्म की स्थापना के प्रच्छन्न उद्देश्य, चरित्रों और कथा के रूप-बन्ध में 'रामचरितमानस' का प्रभाव ही मुखर है। 'सन्तति' के नायक कुँवर इन्द्रजीतसिंह और आनन्दसिंह की जोड़ी तो 'राम-लक्ष्मण' हैं ही, मारीच द्वारा सोने का हिरन बन जाने या रावण के साधु-वेश में सीता-हरण के प्रसंगों की प्रतिध्वनियाँ भी 'सन्तति' में स्पष्ट हैं। उपन्यास के प्रमुख खलनायक तिलिस्मी दारोगा का पाठक से पहला परिचय भी साधु-वेश में होता है और ऐयार, शेरों के रूप में 'कुँवर इन्द्रजीतसिंह' का अपहरण करते हैं। तिलिस्मी कमालों में सोने की लंका, 'महाभारत' के मय-राक्षस के बनाए माया-महल, या बत्तीस पुतलियों का बोलना—इन सबके प्रभाव पकड़े जा सकते हैं। मेरा ख्याल तो यह भी है कि "तिलिस्म तोड़ने पर ही पूर्वजों द्वारा सुरक्षित की गई अथाह सम्पत्ति हासिल हो सकेगी"—इस शर्त के पीछे सिंहासन-बत्तीसी की मोटी रूप-रेखा भी कहीं खत्रीजी के मन में बनी रही होगी; यानी बत्तीस पुतलियों के सवालों के जवाब देने पर ही राजा विक्रमादित्य के सिंहासन, सम्पत्ति को प्राप्त किया जा सकेगा। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उर्दू-दास्तानों

में तिलिस्म का स्वरूप और प्रयोग वैसी ही आधिभौतिक शक्तियों का मन्त्र-प्रयोग है जो रावण इत्यादि राक्षसों ने युद्ध में किया गया बताते हैं, या जिन्हें लोक-कथाओं में तान्त्रिकों के साथ जोड़ा जाता रहा है—आँधी-पानी, बादल-नदियों या खूँखार जानवरों और महलों-किलों को इशारे से पैदा कर देना या मिटा देना। सब मिलाकर जादुई करतब। उधर खत्रीजी ने तिलिस्म का अर्थ वह लिया है जिसे हम आज की जबान में टैक्नोलौजिकल एक्सिलैन्स या गैजेट्स का उपयोग कहते हैं—बटन दबाते ही चीजों का खुद-ब-खुद होना...

अपने घटना-विकास और सम्पूर्ण कथानक को देवकीनन्दन खत्री जिस आधिकारिक आत्मविश्वास से चलाते हैं, झटके और झकोले देते हैं उससे एक बात रह-रहकर ध्यान में आती है : सुनते हैं अपने गया के व्यावसायिक जमाने में उन्हें जहाँ रईस लड़कों वाले तरह-तरह के और शौक थे वहीं पतंगबाजी का भी बेहद नशा था। इस पर गया के एक मेले में उन्होंने पाँच हजार रुपये फूँक डाले थे—(तब के पाँच हजार का मतलव आज के एक लाख तो हैं ही) वे आदमी, जानवरों और राक्षसों की शक्लों की पतंगें बनाकर उड़ाया करते थे। एकाध बार रात के अँधेरे में उन्होंने लाख या कुछ और मसाले लगाकर ऐसी पतंगें उड़ाई थीं कि ऊपर आग की लपटें निकलती थीं। सारे शहर में तहलका मच गया और जगह-जगह भीड़ इकट्ठी होकर इस कयामत को देखने लगी। दूसरा शौक बाद में उन पर हावी रहा शतरंज का। मुझे लगता है कि पात्रों की व्यूहरचना और पैंतरों में उनकी शतरंजी चालें दिखाई देती हैं तो कथानक को बढ़ाने-समेटने के अंदाज में पतंगबाजी के दाँव-पेंच—कभी वे ढील छोड़ते चले जाते हैं तो कभी सारे कथानक को चर्खी पर वापस लपेटते हुए लगते हैं—पेंच लड़ने पर ढील, खींच, झटका और काट सभी का मजा है...

निश्चय ही इस बार पढ़ते हुए मेरी निगाहें उस कुंजी को ही तलाश करती रहीं जहाँ से सारे कथानक के तालों को खोला और समझा जा सके...जहाँ तक याद आता है, देवकीनन्दन खत्री तक प्रायः या तो सुबह होती है या रात, दुर्गाप्रसाद खत्री में दोपहर भी आती है—गर्मी की दोपहर और उसमें पसीने-पसीने लपकता हुआ कोई ऐयार या घुड़सवार। वर्ना दोनों में ही तिलिस्म और राजमहलों को छोड़कर सभी कुछ साँझ और रात में ही घटित होता है। ऐयार तो चलना-घूमना, लड़ना या भेद लेना, चोरी या हत्या—सभी कुछ रात के अँधेरे में ही करते हैं—दिन में एक शहर या स्थान से दूसरे तक जाते ही दिखाई देते हैं। दो बातों में अक्ल सर्फ न की जाए तो उपन्यास आज भी बाँधते हैं : पहली; यह मानकर चलना चाहिए कि हर कोई हर किसी की सूरत बना सकता है। आदमी हो या औरत, किसी की भी शक्ल बनाकर सब आपस में एक-दूसरे को धोखा दे सकते हैं। दूसरी; कि हर कोई कहीं भी पहुँच सकता है। कोई भी स्थान किसी के लिए भी पहुँच से बाहर नहीं है। अभी-अभी आपने किसी को चुनार में देखा है तो अगले ही क्षण उसे आप जमानियां या रोहतासगढ़ में भी देख सकते हैं। सारे उपन्यास में चतुराई बरती गई है कि समय इतना साफ तय न हो जाए कि दूसरी घटना को काटता लगे। यों आधुनिकतम उपन्यास में देश-काल

या टाइम-स्पेस को लेकर जैसे पूर्वापर संगति को तोड़ा गया है, उसके सूत्र तलाश करने की दृष्टि से 'चन्द्रकान्ता' में काफी कुछ बीज मिल जाएँगे।

खैर, खत्रीजी की इन दो विशिष्ट असंगतियों (उनके हिसाब से युक्तियों) को आप गले उतार लें तो उपन्यास अपने आपको पढ़वा लेता है। और ये दो बातें तो हम आज भी हिन्दी-फिल्मों में देखते ही हैं। आपने नायक या खलनायक को एयर-पोर्ट या किसी तहखाने-कोठरी में कैद देखा है, उधर जहाज उड़कर हवा में आ चुका है, या मीलों दूर समुद्र के बीच है कि वही नायक अचानक पिस्तौल लेकर उसी तरह खड़ा हो जाता है जैसे स्प्रिंग में लगा खिलौना-बुड्ढा! शक्लें भी लोग उसी आसानी से बदलते दीखते हैं—आदमी औरतों की बोली, कपड़ों की नकल करते हैं और औरतें मौलवी, साधु या पंडित बनकर सामने आती हैं...तिलिस्म तो आज भी 'शालीमार' जैसी फिल्मों में ज्यों-का-त्यों मौजूद है—बल्कि 'शालीमार' नाम का हीरा तो परम-वैज्ञानिक तिलिस्म के बीचोंबीच सुरक्षित रखा हुआ है।

हाँ, मुझे यह जरूर लगता रहा कि उपन्यास में गति, कार्य, हरकत—यानी एंक्शन तो भयानक गर्दन-तोड़ गति से है, मगर वह चक्राकार ही है। उसकी धारणा ऐसी सुगठित और सुनिश्चित नहीं है कि निरन्तर विकसित, उद्घाटित या लक्ष्योन्मुख हो। जब चरित्रों की विशेषताएँ और प्रतिक्रियाएँ निश्चित हों, लक्ष्य और मन्तव्य तय हों तो बहुत कुछ नया होने को रह भी नहीं जाता। जो कुछ भी उलझाव और औत्सुक्य पैदा किया जा सकता है वह स्थान और क्रियाओं की फेर-बदल से ही होता है। पात्रों को न तो विकसित होना है, न बदलना है। बहुत जल्दी ही उनके व्यक्तित्व का कोई ऐसा पक्ष भी नहीं रह जाता जो चकित करे। अब तो देखना यह होता है कि किसका दाँव कहाँ लगता है। उस लिहाज से अच्छे और बुरे दो ही चरित्र-विभाजन हैं। दारोगा इत्यादि अगर दुष्ट, स्वार्थी और लालची हैं तो अन्त तक अपरिवर्तनीय हैं। संशोधन, सुधार या मनोविज्ञान के किसी और पक्ष के वहाँ सामने आने का सवाल ही नहीं है। वे या तो कैद किए जा सकते हैं या मारे जा सकते हैं। सबसे अजीब बात तो यह है कि इतनी लम्बी औपन्यासिक यात्राएँ कर चुकने के बावजूद न तो सुरेन्द्रसिंह, वीरेन्द्रसिंह यानी अच्छे पात्र मरते हैं, न बुरे। अच्छे पात्र बड़े धार्मिक सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ करनेवाले लोग हैं और सारे शास्त्रीय गुणों का पालन करते हैं। वे अपनी सफलता और श्रेष्ठता से परम्परागत धर्म की महानता ही सिद्ध करते हैं।

इस उपन्यास-माला में एकमात्र चरित्र भूतनाथ ही ऐसा व्यक्ति है जो अपने किए पुराने पाप के दंश से पीड़ित है, अतीत से छुटकारा पाना चाहता है और अन्त में वह नहीं रह जाता जो शुरू में था—यानी विकासशील बहु-आयामी और अनप्रेडिक्टेबिल (जिसके बारे में कोई अन्दाजा न लगाया जा सके) चरित्र है। वह प्रायश्चित करता है आत्म-स्वीकृति की तरह अपनी जीवनी लिखकर। उसके इस अपराध-बोध ने उसे उपन्यास का सबसे जीवन्त, विकासशील और कर्मठ नायक बना डाला है। जितना ही अपने अतीत से वह बचना चाहता है उतना ही वह बार-बार उसके सामने लाया जाता है : खलनायकों द्वारा डराने, धमकाने, गलत काम कराने या ब्लैक-मैलिंग के लिए,

या इन्द्रदेव जैसों द्वारा सही रास्ते पर लाने के लिए। वह भयानक और खूँखार ऐयार है—चौकन्ना, चुस्त, फुर्तीला, विलक्षण और अद्‌भुत...और जिन्दगी को दुबारा सम्मानपूर्वक जीने की ललक, पीछे की सारी कलंक-कालिमा पोंछकर साफ-सुथरे हो पाने की तड़प, उसे राजा वीरेन्द्रसिंह के मुहासिब ऐयारों तक ले जाती है...।

बात कथानक की बुनावट और बनावट की हो रही थी। चक्राकार और आड़ा-तिरछा चलने के बावजूद उसकी रेखाएँ मोटी और साफ हैं। हर ऐयार एक-दूसरे को धोखा दे सकता है, धोखा खा सकता है। किसी की भी शक्ल बनाकर कोई भी कहीं पहुँच सकता है। किसी को भी कहीं भी पकड़ा, बेहोशी की बुकनी या दवा सुँघाई, बाँधा और पीठ पर लादकर चल दिए। या बाँधकर एक तरफ झाड़ी में डाला, उसके कपड़े पहने, उसी जैसी शक्ल बनाई और उसके पक्षवालों के बीच पहुँच गए; धोखा दिया या काम निकाला—मगर जब वापस आए तो छोड़े गए व्यक्ति को गायब पाया। ऐसा बहुत कम हुआ है कि इस तरह छोड़ी गई गठरी वापस लौटने पर वहीं मिली हो; या कुएँ की जगत, झाड़ी, कमरे, जंगल की चट्टान पर दो व्यक्ति बातें कर रहे हों और तीसरा कहीं आस-पास आड़ में छिपा सुन न रहा हो! कैसे अविश्वास, आशंकाओं और चौकन्नेपन की हिंस्र दुनिया रही होगी वह, जहाँ हर समय आप मरते या मारते हैं; धोखा देते या खाते हैं, दूसरे के स्वार्थ या अपरिवर्तनीय प्रकृति को जानते-समझते हुए उसकी बातों में आ जाते हैं, सौदे और मोल-भाव करते हैं...अभी-अभी आपने सारे हमलावरों को घायल कर दिया है, मालती या किशोरी को दुश्मनों के चंगुल से छुड़ा लिया है कि अचानक कहीं से नकाबपोश प्रकट होता है, बेहोशी के धुएँवाला बम फोड़ता है और आप फिर उतने ही असहाय और बेबस...कोई कुआँ, कोई खोह, कोई नाला या घाटी ऐसी नहीं जो किसी-न-किसी तिलिस्म का मुहाना नहीं है, या जहाँ से कोई गुप्त सुरंग नहीं जाती है। कोई घर, झोंपड़ी, कमरा या कैदखाना ऐसा नहीं है जहाँ पत्थर की पटिया खिसकाकर रास्ता न निकल आता हो। अजीब गोरख-धन्धा या साँप-सीढ़ी का खेल है कि आखिरी चौखट पर पहुँचते-पहुँचते साँप आपको फिर पहले चौखटे पर ला-पटकता है और सारा खेल फिर से शुरू हो जाता है...आप भूतनाथ से रहस्य-मशविरा कर रहे हैं, उसे विश्वास में लेकर अगली-पिछली योजनाएँ बता रहे हैं, जरूरी कागज-पत्तर सँभलवा चुके हैं और वह अभी चार कदम ही गया है कि सहसा एक नकाबपोश कहीं से टपक पड़ता है और बताता है कि वह भूतनाथ नहीं, दारोगा, शिवदत्त या माधवी का कोई ऐयार था—भूतनाथ तो मैं हूँ! हर कोई काले लबादे और नकाब के पीछे अपना असली चेहरा छिपाए है; हर कोई किसी-न-किसी को गठरी में बाँधे अपनी पीठ पर लटकाए चला जा रहा है...औरत हो या आदमी, कोई भी किसी को लादे मीलों बेखटके पैदल जा सकता है...न उसे थकान होती है, न कमजोरी... उधर बँधे व्यक्ति की बेहोशी भी पहले नहीं टूटती! वह बेहोश होने से पहले खास प्रतिरोध भी नहीं करता। लगता है, बेहोशी की दवा को वाचिक कहानियों में मन्त्रों का ही स्थानापन्न कर दिया गया है, सुँघाया और बेहोश—लखलखा सुँघाया और चैतन्य। वहाँ रात तो शायद ही किसी को नींद आती हो। गम्भीर-से-गम्भीर घायल

पलक झपकते ही अगले क्षण फिर मरने-मारने को तैयार...मर्द, औरत सभी जंगलों, पहाड़ों, गुफाओं और दर्रों में निडर होकर धड़ल्ले से आते-जाते हैं—साँप-बिच्छू, कील-काँटे, पत्थर-चट्टानें—कहीं कुछ भी किसी के आड़े नहीं आता। गर्मी, बरसात, आँधी-तूफान सभी में ऐयारों का एकमात्र परिधान है काले लबादे...वैसे भी गर्मी और बरसात के ही मौसम हैं, ठण्ड और सर्दी के बहुत कम...बरसात में ऐयार बोरा ओढ़कर अपना बचाव करते हैं।

और किस आसानी से लोग गर्दनें उतार लेते हैं! खंजर मारा और गर्दन कटकर अलग! अगर कहीं पहले से लाश या लाशें पड़ी हैं, या लटकी हैं तो आप निश्चित जानिए, उनकी गर्दनें गायब होंगी। औरतों के जब सिर काटे जाते हैं तो अनिवार्यतः उनकी जगह कोई-न-कोई लौंडी या बाँदी होती है। आश्चर्य होता है कि जानते-बूझते क्यों कोई लौंडी किसी ऐसी राजकुमारी या प्रेमिका की शक्ल बनाएगी जिसका सिर कटना है? मरते या मारे जाते समय वही चीखकर क्यों नहीं बताती कि मैं कमलिनी, किशोरी नहीं; बाँदी या नौकरानी हूँ? क्या वे खुद नहीं जानती होंगी कि असली व्यक्ति को जान का खतरा है, तभी तो उसकी जगह उसके वेश में मुझे सुलाया या घुमाया जा रहा है! 'बाबरनामा' पढ़ते हुए भी मुझे एक बात पर हमेशा ताज्जुब होता था : कैसी आसानी से बाबर लिख देता है कि अमुक पर मुझे विश्वासघात का शक था, इसलिए उसे मरवाकर भुस भरवा दिया—या अमुक गाँव के दो आदमी बगावत की बात सोच रहे थे और मैंने उस गाँव समेत आस-पास के चार गाँवों में आग लगवा दी और अगली ही साँस में वह आम और गुलाब की किस्में गिनाने लगता है, दजला और फरात की यादों में खो जाता है—मुग्ध और उच्छवसित होकर! इन उपन्यासों को देखकर भी यही लगता है कि जंगल के कानून में जिन्दगी कितनी सस्ती और घास-पतवार जैसी महत्त्वहीन चीज हो जाती है। लौंडी और नौकर लोग कभी भी मर या मारे जा सकते हैं; वे आम आदमी हैं। और उन्हें यही सिखाया गया है कि मालिक के हाथों या मालिक के लिए मरना परम पुण्य का काम है! लेखक सिर्फ यही कहकर आगे चल देता है वह कुँवर इन्द्रजीत सिंह नहीं, कोई ऐयार था जो मारा गया। भूतनाथ की गर्दन पर जिन दर्जन-भर लोगों का खून है, वे सभी नकली और स्थानापन्न लोग हैं...

इस समय ये सब लिखते हुए मेरे दिमाग में काफी कुछ गडमड हो गया है और देवकीनन्दन खत्री या दुर्गाप्रसाद खत्री के लेखन को मैं अलग-अलग नहीं कर पा रहा हूँ—हालाँकि पिता ने इस माला के कुल 34 ही भाग लिखे हैं, पुत्र ने अगले पूरे किए हैं। मन में छाप यह है कि पिता में कार्य-कारण या युक्ति की चेतना, पुत्र से अधिक है। पुत्र ने तो अदृश्य कर देनेवाले तिलिस्मी-कवच, हड्डियों के ढाँचों के पीछे छिप जानेवाले ऐयार, उड़नेवाले गरुड़ और बोलनेवाली मूर्तियाँ सभी कुछ धड़ल्ले से भरे हैं—जबकि देवकीनन्दन खत्री अपने पाठकों के प्रति सचेत हैं कि उन्हें उपन्यास में आई हर बात की सम्भावना बतानी है। उनकी युक्ति पाठकों को ध्यान में रखकर थी तो दुर्गाप्रसादजी ने, देवकीनन्दनजी की युक्ति को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया था।

देवकीनन्दन तो उपन्यास के तेईसवें भाग में वर्णित हर बात की सम्भावना पर बातें भी करते हैं और कार्य-कारण की इसी प्रवृत्ति के तहत तिलिस्मी प्रकरणों में हर 'चमत्कार' के पीछे की 'वैज्ञानिक' व्याख्या देते हैं, या हर चौंका देने या दहला देनेवाली अप्रत्याशित बात या घटना का आगे जाकर रहस्य खोलते हैं। वे सहसा ही झटके से एक घटना फेंक देते हैं और फिर आगे कहीं जाकर उसका कारण बताते हैं। यही उनकी टैक्नीक है। उपन्यास के शुरू में जरूर उन्होंने शिवदत्त के ऐयारों को शेरों के रूप धरकर कुँवर इन्द्रजीतसिंह को धोखा देते दिखाया है। इतना ही नहीं, एक शेर पर 'बाबा' और दूसरे पर 'कुमार' सवारी करते हैं, मगर आगे जाकर यह प्रवृत्ति कम हुई है। ऐसी ही दूसरी घटना राजा गोपालसिंह को 'कृष्णा जिन' बनाने की है। अक्सर उन्होंने कार्य-कारण को मिलाने की ही कोशिश की है। वे पाठकों की ओर से आनेवाली शंकाओं और प्रश्नों के प्रति काफी सचेत हैं; जानते हैं कि मुग्ध-भाव से हर सम्भव-असम्भव घटना को सुननेवाले उर्दू-दास्तानों के श्रोताओं की अपेक्षा, उनका पाठक अधिक वैज्ञानिक युग का आदमी है। रहस्यों के ताने-बाने मिलाने में उनकी विलक्षण याददाश्त ने ही मदद की है...रूप बदलने के लिए भी उन्होंने एक विशेष प्रकार की झिल्ली चढ़ाने की बात कहकर उसे 'वैज्ञानिकता' दी है। वैसे, ऐयारी के बटुए में क्या नहीं होता! इस प्रकार 'चन्द्रकान्ता' को आस्था और विश्वास के युग से, तर्क और कार्य-कारण के युग-संक्रमण का दिलचस्प उदाहरण भी माना जा सकता है। क्योंकि वहाँ ईश्वरीय विधान, प्रारब्ध, कर्म-फल—सभी के प्रति निष्ठा और विश्वास के संस्कारों के साथ-साथ, बुद्धि, कार्य-कारण, विश्वसनीयता के प्रति भी बराबर का आग्रह है।

सन् '53-54 में 'आलोचना' के एक लेख में मैंने भूतनाथ और तिलिस्म दोनों पर लिखा था, इसलिए ये साढ़े-पाँच हजार पन्ने पढ़ते समय कुछ बातें मेरे सामने साफ थीं। खुशी हुई कि मूल स्थापना को बदलने की बहुत अधिक जरूरत नहीं पड़ी। हाँ, इस वार तत्कालीन समाज से उसका रिश्ता कहीं ज्यादा गहराई से जुड़ता हुआ लगा।

'चन्द्रकान्ता' के अन्त की ओर भूतनाथ और नानक के पारिवारिक जीवन को छोड़कर किसी भी पात्र की घरेलू जिन्दगी का न होना एक ऐसी बात थी जिस पर मुझे आश्चर्य ही होता रहा—यानी उपन्यास के सारे पात्र हरकत और ऐक्शन में ही रहते दिखाए गए हैं। राजा और राजकुमार प्रायः दरबार लगाकर या तो सलाहें करते हैं या फरियादें सुनते हैं औरतें, चुस्त और चालाक हैं और राजकुमारियाँ या प्रेमिकाएँ, कमलिनी को छोड़कर असहाय और अबला हैं—वे केवल मुसीबत उठाने या प्रेमियों के लिए रोने-गाने को ही बनी हैं। हाँ, सबसे बड़ा आश्चर्य यही देखकर होता है कि इतने बड़े उपन्यास में यौनान्धता कहीं भी नहीं है। कार्यक्षेत्र में रहनेवाली औरतों की उम्र 15 से 25 है और उनकी संख्या भी दर्जन-भर से ऊपर ही है। वे जंगलों, गुफाओं, तहखानों, सुरंगों, खंडहरों या निर्जन मकानों-स्थानों में घूमती हैं, वहीं उन्हें गिरफ्तार और बेहोश किया जाता है, या गठरी में लादकर ले जाया जाता है, कैद किया जाता है और भेद पूछे जाते हैं—मगर कहीं भी उनकी 'इज्जत' पर कोई आँच नहीं है, बलात्कार जैसी किसी घटना का तो कहीं जिक्र भी नहीं है। बदला लेने, नीचा दिखाने

या रहस्य उगलवाने के लिए उन्हें यातनाएँ दी जा सकती हैं; मगर यौन-सम्बन्धी बिल्कुल नहीं। कम-उम्रों के बावजूद औरतें काफी तेज और समझदार हैं। वेश्याएँ अधिक साहसी और उद्दंड हैं। मगर वे मनोरमा हों, या गौहर, मुंदर हों या माधवी—सब बिना किसी भेद-भाव के आपस में घुलती-मिलती हैं। सारी खुराफातों, जालसाजियों या रूप के जादू के इस्तेमाल के बावजूद कोई किसी को 'खराब' नहीं करता। वे सर्वगुण-सम्पन्न हैं, पढ़ने-लिखने से लेकर हथियार-घोड़े सभी कुछ चलाने में माहिर...

देवकीनन्दन खत्री जैसे परम-धार्मिक, रीति-रिवाज और कर्मकाण्डी व्यक्ति के यहाँ इस प्रकार की आत्मनिर्भर, कर्मठ और स्वाधीन स्त्रियाँ देखकर आश्चर्य होता है। उनके नायक बिना स्नान-ध्यान, संध्या-पूजा किए भोजन नहीं करते, छुआछूत के डर से अक्सर सूखे मेवों और पानी पर ही गुजर कर लेते हैं; वहाँ ऐसी मुक्त नारियाँ! हाँ, यह ध्यान उन्होंने जरूर रखा है कि खलनायकों के साथ जुड़ी हुई या स्वतन्त्र महत्त्वाकांक्षी नारियाँ या तो वेश्याएँ हों या ऐसी-वैसी ही। यहाँ तक कि मुंदर को दुष्ट, कुटिल और भ्रष्ट दिखाने के लिए उन्हें यह बताना जरूरी लगता है कि वह विधवा थी। शायद उनकी धारणा भी यही रही होगी कि स्वच्छन्द विधवा चरित्रहीन होकर रास्ता भटकती है! बहरहाल, ऐसी औरतों की जोड़वाली दूसरी तरफ वाली नारियाँ भी फुर्ती और चालाकी में उनसे कम किसी भी हालत में नहीं हैं...

यौन-स्थितियों का इस्तेमाल चाहे बहुत न हो, मगर खत्रीजी के नायक-नायिकाओं में शास्त्र-सम्मत आदर्श प्यार तो भरपूर है ही—यानी वह प्यार जो एक-दूसरे की अनुपस्थिति या 'एवजी' में हो जाता है।

परम्परागत वाचिक कहानियों का यह प्यार मुझे हमेशा ही आश्चर्य से भर जाता है। किसी राजकुमार ने नदी में बहते किसी के खूबसूरत बाल देखे, कहीं अँगूठी-कंगन मिल गए और लीजिए, उसके प्यार में पागल हैं, बेहोश हो रहे हैं; घर-भर को सिर पर उठाए हैं और आसनपाटी लिए पड़े हैं या पहाड़-जंगलों की खाक छान रहे हैं! तस्वीरें देखकर तो न जाने कितने नायक-नायिका जिन्दगी भर के लिए एक-दूसरे के बन गए हैं! अब मेरी समझ में नहीं आता कि उस जमाने की वे तस्वीरें, (जो किसी विशेष-व्यक्ति की न होकर किसी भी नारी की हो सकती थीं) या वे बाल, फूल, अँगूठियाँ, बालियाँ या ऐसी ही चीजें कैसे तय कर देती थीं कि सम्बन्धित प्रेमिकाओं के चेहरे-मोहरे, रंग-रूप, स्वभाव-मन क्या और कैसे हैं! क्या ऐवजी में होनेवाले प्यार में यह खतरा नहीं था कि खूबसूरत लम्बे बालोंवाली राजकुमारी या नायिका खुद निहायत बदसूरत और कर्कशा निकले! जहाँ तक मैं समझ पाता हूँ वह जन्म-जन्मान्तर का प्यार न होकर सिर्फ एक यौनासक्ति ही होनी चाहिए जिसे दूसरे नर या मादा की तलाश है!

बहरहाल, राजा वीरेन्द्रसिंह और कुँवर इन्द्रजीतसिंह इसी परम्परागत ढंग से अनुपस्थिति, ऐवजी (या बाई प्रॉक्सी) प्रेम में पड़ते हैं। एक-दूसरे के लिए हाय-हाय करते, बेहोश होते या मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। मगर 'सन्तति' में एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग और है और वह है स्वतन्त्र रूप से अपने जीवन-साथी का चुनाव!

यानी कुँवर इन्द्रजीतसिंह अपने इस परम्परागत प्यार के अलावा सौन्दर्य, साहस, साहचर्य और अहसान के आधार पर कमलिनी का भी चुनाव करते हैं। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि बहु-विवाह सामन्ती संस्कृति में हमेशा से प्रचलित रहा है। वैसे भी बड़े-बड़े कर्मकांडियों को कोठों, बाजारों से अपना 'स्वतन्त्र चुनोव' करने की जरूरत तो महसूस होती ही थी। यह भारतीय चरित्र की दूसरी समस्या है कि वह दुहरे या परस्पर विरोधी मूल्यों के बीच आराम से रहते हुए; मौलिक समर्थन परम्परा को ही देता रहा—यानी ढोंग और हिप्पो-क्रैसी ही उसका व्यक्तित्व बना रहा।

जैसा कि मैंने कहा, दरअसल मैं इस उपन्यास-शृंखला के माध्यम से देवकीनन्दन खत्री की मानसिक बनावट या तत्कालीन समय के प्रभावों और सूत्रों को समझने की ही कोशिश ज्यादा करता रहा। यानी वे कौन-सी महीन दरारें हैं जिनके जरिए सारे अवरोधों और अंकुशों के बावजूद तत्कालीन वास्तविकता ने उपन्यास में प्रवेश किया है! ...उपन्यास शुद्ध काल्पनिक है और सिर्फ मनोरंजन के लिए लिखा गया है, यह तर्क या घोषणा अपनी जगह भी उतनी ही सही है; मगर लेखक की कल्पना और पाठक के मनोरंजन के पीछे भी तो कान लगाकर समय की आवाज सुनी जाती है! जैसे; पात्रों के इस अपरिवर्तनीय, इकहरे मनोविज्ञान के पीछे सिर्फ यही कारण नहीं है कि सबके रिश्ते शुरू से ही आपस में तय हैं। सारी व्यवस्था में सारे रिश्ते—राजा, सामन्त या प्रभावशाली बुजुर्ग के माध्यम से ही तय होंगे, राजा के प्रति ईमान, सर्व-स्वीकृत या पूर्व-निश्चित ही होता है! जब राजा या सामन्त सर्वशक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुणों का प्रतीक है तो हर कोई सबसे पहले उसी के लिए प्रतिबद्ध है। इसलिए रिश्ते दो ही बनते हैं कि आदमी, राजा या राजा की संस्था और भी आगे जाकर परम्परा के लिए स्वामिभक्त होता है या स्वामिद्रोही। यही नायक, खलनायक की विभाजन-रेखा है! मुझे लगता है कि 'चन्द्रकान्ता' की रीढ़ स्वामिभक्ति की यही समस्या है! चाहे वह राजा हो या प्राचीन गरिमापूर्ण परम्परा, अपने मूल में दोनों एक ही हो जाती हैं। इनके प्रति बिखरी और टूटी हुई 'स्वामिभक्ति' या सम्पूर्ण की पुनर्परिभाषा और पुनर्स्थापना के प्रयास में ही सारे उपन्यास का कथानक विभिन्न करवटें बदलता है! सामन्तों और सामन्ती-मूल्यों (जिन्हें आज भी प्रायः 'भारतीय संस्कृति' कहकर गौरवान्वित किया जाता है) के प्रति यह चिन्ता क्या बहुत भीतर लेखक के मन में भी बैठी हुई थी?

इस प्रकार के सामन्ती कथानकों वाले उपन्यासों के लिए न तो स्वामिभक्ति का कथानक नया है, न उसके टूटने-बिखरने के कारण—अर्थात् गद्दी की महत्त्वाकांक्षा और दौलत का लालच! वैसे तो 'चन्द्रकान्ता' के प्रारम्भ में शिवदत्त द्वारा या बाद में मायारानी-गोपालसिंह के प्रसंग में खोई हुई गद्दी को वापस पाने की उठा-पटक काफी है, मगर सारे कथानक में सबसे प्रथम और निर्णायक तत्व है—लालच। इसलिए यहाँ इस सूत्र को पहचानना बहुत मुश्किल नहीं है कि क्यों यह इकहरी परम्परागत-दृष्टि सारे उपन्यास में इस सिरे से उस सिरे तक छाई रही। धन-दौलत (और तिलिस्मों में तो अकूत-अथाह दौलत भरी थी) के लिए ही ये सारे छल-छन्द, मार-धाड़, रातों की भाग-दौड़ या नृशंसताएँ और हत्याएँ हुई हैं तो क्या खत्रीजी का जमाना ऐसे ही धन

के लिए अन्धे होकर दौड़ना, रातों-रात रईस होने के उन्माद यानी गोल्ड-रश का जमाना है? यह लेखक की अपनी कोई व्यक्तिगत ग्रन्थि है या आस-पास की हवा?

'चन्द्रकान्ता' का प्रकाशन 1888 में हुआ, हो सकता है एकाध-साल लेखक के मन में ऐसी कोई चीज लिखने की बात घुमड़ती रही हो। पहले अपने गयावाले व्यवसाय, फिर चुनार इत्यादि के जंगलात-ठेके में घाटा उठाकर खत्रीजी बनारस के अपने घर में ही सीमित हो गए थे। हो सकता है यह 'कारावास' उन्होंने स्वयं ही घाटे की शर्म के कारण चुना हो, या सम्भव है इसके पीछे घरेलू या राजकीय कारण रहे हों। गया और चुनार के जमाने में उनके साथ ऐसा कुछ जरूर हुआ कि उसे खत्रीजी ने अपनी असफलता के साथ जोड़ा और सारी चीज को बहुत गहराई से मन में गाँठ बाँधकर रखा। यह भी हो सकता है बाद की इस स्थिति में इसके महत्त्व की मानसिकता और घाटे के मानापमान से भी उन्हें गुजरना पड़ा हो। मुश्किल से तीस वर्ष की उम्र थी। सारी बातों को सोचते-समझते भी होंगे। कहते हैं जंगलात का ठेका खोने के पीछे तत्कालीन काशी-नरेश की नाराजगी भी थी। परिवार वालों का कहना है कि उन जंगलों में शेर का शिकार निषिद्ध था और खत्रीजी के एक दोस्त ने भाँग के नशे में अनजाने या जानबूझकर एक शेर मार दिया था और राजा को खबर लग गई। मुझे कारण कुछ और गहरे लगते हैं। बहरहाल, दरबार की इस नाराजगी और घाटे की असफलता के इसी उत्साह-हीन मानसिक माहौल में 'चन्द्रकान्ता' का जन्म हुआ। माना जा सकता है कि सामान्यतः ठीक-ठाक मध्यवर्गीय व्यावसायिक परिवार में ऐसी स्थिति में भी खाने-पीने की तकलीफ उन दिनों नहीं होती होगी; लेकिन अपमान और असफलता के अवसाद और निष्क्रियता की ऊब के दिवास्वप्नों में इस प्रकार की रचना का जन्म होना असम्भव नहीं है। और मनःस्थिति का यह सच, सिर्फ उनका अपना भी नहीं था, समय भी इसमें कहीं अपना सुर मिला रहा था।

1857 के सिपाही-विद्रोह की असफलता, नए हुक्मरानों के शासन के हथकंडे, अंग्रेजी राज का फैलता शिकंजा और बाकी सारे तौर-तरीकों से उत्पन्न असुरक्षा में गढ़े हुए खजानों की किंवदन्तियों या रातोंरात रईस हो जाने के सपनों ने ऐसी ही आपाधापी मचा रखी थी...न जाने कितनों को अपने घर-बार, राज-पाट छोड़कर भागना पड़ा था, न जाने कितने राजा-रईस उखड़कर फिर से जमने में प्रयत्नशील थे; रजवाड़ों का पुनर्गठन हो रहा था, उन्हें नए स्वरूप दिए जा रहे थे। अंग्रेजों के प्रति किए गए उनके व्यवहारों के आधार पर उन्हें समाप्त या सम्मानित किया जा रहा था। अंग्रेजों ने अपनी सुविधा और वर्चस्वता के आधार पर कुछ से मनमाने सम्बन्ध बना लिए थे, कुछ खुद सम्बन्ध बनाने को उत्सुक थे। नए स्वामियों के साथ निष्ठा और स्वामिभक्ति तय करने का माहौल था, ये सारे लोग नए दरबार में स्वीकृति पाना चाहते थे...

अगर इसी व्यक्तिगत और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में 'चन्द्रकान्ता' वर्ग के उपन्यासों को देखें तो कथानक के कुछ और ही अर्थ-आयाम सामने आने लगते हैं—सारा उपन्यास दौलत को छिपाने या छिपी दौलत को सही और अधिकारी हाथों सौंपने और हथिया लेने के संघर्ष की महागाथा बनकर सामने आने लगता है। तिलिस्म की परिकल्पना

भी इसी दौलत के लिए की गई है और उधर सारी ऐयारी या धोखा-धड़ी भी इसी के लिए है...दारोगा, जैपालसिंह, मायारानी और यहाँ तक कि भूतनाथ भी इसीलिए खलनायक हैं, और वीरेन्द्रसिंह, इन्द्रजीत, आनन्दसिंह या उनके साथी इसी के लिए नायक। मोटे रूप में उपन्यास के दो खलनायक हैं—शिवदत्त और दारोगा...शिवदत्त गद्दी से उतारा हुआ राजा है, इसलिए बीते युग के सपने, राज्य वापस लेने के उसके सारे प्रयास, जोड़-तोड़ या साधन इकट्ठे करना या इस सबके लिए धन-दौलत की आकांक्षा बहुत अस्वाभाविक नहीं है। मायारानी, दारोगा और जैपालसिंह के षड्यन्त्रों के शिकार राजा गोपालसिंह भी तो अपनी छिनी हुई गद्दी के लिए वीरेन्द्रसिंह, इन्द्रदेव के साथ मिलकर यही करते हैं। हाँ, विष्णुदत्त शर्मा, यानी तिलिस्म का दारोगा जरूर बहुत कुछ सोचने को मजबूर करता है! खलनायकों के इस गुट में यही सबसे केन्द्रीय व्यक्ति है और स्वयं लेखक बिना 'कम्बख्त' का विशेषण लगाए उसका जिक्र नहीं करता। बाकी सबमें भी यही दिमाग काम करता है, इसलिए इसकी भूमिका पर थोड़ा और विचार होना चाहिए...

सुनते हैं, दारोगा के चित्रण में खत्रीजी के सामने बनारस का कोई ढोंगी, लेकिन प्रभावशाली महंत रहा था। उसके दन्द-फन्दों, ऐयाशियों, हत्याओं, प्रभावों या गुप्त-तहखानों की उन दिनों काफी चर्चा थी। भगवान और धर्म के नाम पर जमा की हुई दौलत के इस उपयोग ने ही खत्रीजी को तिलिस्मी दारोगा की परिकल्पना दी होगी...हर तिलिस्म का संरक्षक वंशानुगत रूप से एक दारोगा होता है। उसे लगभग तिलिस्म की पूरी जानकारी होती है, उसी के नाम अनेक रहस्यमय जगहों की कुंजी होती है—उसे केयरटेकर कहिए या कस्टोडियन। लेकिन उसे न तो तिलिस्म के अत्यन्त भीतरी हिस्सों में जाने की इजाजत होती है, न सही उत्तराधिकारी की पहचान। मगर जैसे ही सही उत्तराधिकारी का पता लगे, उसे नायक की सहायता करनी चाहिए...इधर यह विष्णुदत्त दारोगा खुद ही सारे तिलिस्म का मालिक हो जाना चाहता है। दुनियाभर की जाल-साजी, जोड़-तोड़, उठा-पटक करता है ओर राजकुमारों की राह में रोड़े अटकाता है। यानी यह चौकीदार अचानक ही मालिक बन-बैठने के स्वप्न से आक्रान्त हो उठता है। ...इस चौकीदार, संरक्षक का अचानक ही खलनायक में बदल जाना, असली मालिक को धकेलकर खुद ही सब कुछ हथिया लेने के सपने देखने लगना, क्या लेखक के अनजाने ही किसी तत्कालीन स्थिति की ओर तो संकेत नहीं करता? खुद अंग्रेजों ने भी तो अवध को इसी तरह हड़पा था और पता नहीं कितने ताल्लुके-रजवाड़े थे जिनके राजा-जमींदार गदर में साथ देने के दौरान अपने स्थानों से अनुपस्थित रहे और जब लौटकर आए तो उनकी गद्दियाँ उन्हें कभी वापस नहीं मिलीं, वजीर, मन्त्री या ऐसे ही लोग जिन्हें वे अमानत सौंप गए थे, नए लोगों से साठ-गाँठ करके खुद मालिक बन बैठे थे। खत्रीजी के परिवारवाले बताते हैं : कोई सज्जन दसियों बरस खत्रीजी के पास आते रहे थे, शायद उनके विश्वासी और मित्र भी थे। वे मध्यप्रदेश की किसी रियासत के राजा थे और उनके साथ ठीक वही हुआ था जो मायारानी ने राजा गोपाल सिंह के साथ किया : मायारानी दारोगा की मदद से राजा गोपालसिंह को तहखाने

में कैद करके मरा हुआ घोषित कर देती है और खुद ही मालकिन बन बैठती है। ये आनेवाले साहब भी रियासत में मरे हुए ही मशहूर थे। ठीक इसी तरह के भुवाल-संन्यासी कांड की गूँज तो उस समय सारे हिन्दुस्तान में थी ही।

बहरहाल, दौलत और उससे प्राप्त शक्ति या सुरक्षा और सम्मान के लिए इस अन्धी-दौड़ की कल्पना में मुझे हारे-थके, घर में बन्द खुद खत्रीजी का ही अपना दिवास्वप्न दिखाई देता है, हो सकता है उसमें मेरी ही ज्यादती हो। मगर भूतनाथ में यह इतना मुखर है कि बार-बार किसी कारण की तरफ ध्यान जाए बिना नहीं रहता। ...मैं मानता हूँ कि दौलत और गद्दी के लिए यह उठा-पटक, मारकाट, षड्यन्त्र या जालसाजी बिल्कुल भी ऐसी बात नहीं है जो सिर्फ उसी जमाने में रही हो। न जाने कब से साहित्य या लोक-कथाओं का एकमात्र कथ्य ही यह रहा है। मैं तो राम की कथा को भी सिंहासन का वैसा ही संघर्ष मानता हूँ जैसा महाभारत से लेकर अशोक और औरंगजेब में है। खत्रीजी को भी इस कथानक के लिए कहीं नहीं जाना पड़ा होगा। परम्परा में या चारों तरफ सब सुलभ और उपलब्ध था ही। इन्हीं दोनों तत्वों के आधार पर बे-खटके कहानी के ऊँच-नीच, चरित्रों के दुष्ट और उदात्त पक्ष या साँस रोक सनसनीखेज मोड़ आसानी से दिखाए जा सकते हैं। मगर 'चन्द्रकान्ता' के साढ़े पाँच हजार पन्नों को केवल इसी केन्द्र के आस-पास घुमाए जाना मुझे इतना सतही नहीं लगता। मैं एकदम स्वीकार करता हूँ कि लेखक ने सिर्फ मनोरंजन और सनसनी के लिए ही इनका इस्तेमाल किया है और एकाधि बार खुद भी स्वीकार किया है कि इसके अलावा उनका कोई और उद्देश्य नहीं है। मगर कितनी भी परिचित या निचुड़ी-निचुड़ाई कहानी हो, इतना घोटने की प्रक्रिया में उसके कुछ-न-कुछ अर्थ निकलने ही लगते हैं। हो सकता है, उन्हें सपने में भी ख्याल न हो कि इसके बहाने अपने और अपने समय के अवचेतन को भी वाणी मिल रही है। ...अक्सर गर्भवती स्त्रियों को तरह-तरह की चीजें खाने के 'स्वाद' आते हैं। गाँवों-घरों में वे अचार, मिट्टी या चाट लुक-छिपकर खाती हैं। हम पता नहीं कब से इसे उनकी एक स्वाभाविक सनक ही मानते रहे हैं। जानने केवल आज लगे हैं कि जिसे हम 'स्वाद आना' कहते हैं वह शरीर की एक भीतरी और अनकही जरूरत होती है, किसी विटामिन या जैविक-तत्व को पूरा करने की भाषा होती है...

सवाल यही है कि क्या इस दौलत के पीछे पागल भूतनाथ, दारोगा और शिवदत्त के माध्यम से उस समय के कोई और अचेतन अर्थ निकाले जा सकते हैं? कथा-पात्रों से आगे जाकर अगर ये प्रतीक हैं तो किस तत्कालीन सच्चाई को व्यंजित करते हो सकते हैं? अगर बहुत दूर की कौड़ी लाना न माना जाए तो क्या सात पर्दों में छिपी इस दौलत को 'भारतीय अस्मिता' की अनजानी खोज का नाम दिया जा सकता है? और क्या यह देवकीनन्दन खत्री की अपनी ऐतिहासिक मजबूरी नहीं हो सकती कि उन्हें इस भारतीय अस्मिता का असली हकदार, मालिक या प्रतिनिधि और अधिकारी, सर्वगुण-सम्पन्न राजा या सामन्त ही लगता है, जो प्रतिकूल और विरोधी स्थितियों से घिरा है? सारे लोग इस तूफानी वातावरण में सहारे और सुरक्षा के लिए इसी को लेकर

दौड़-धूप कर रहे हैं—और इस कोण से दारोगा का साधु-महात्मा या पहुँचे हुए ऋषि का स्वरूप सिर्फ धोखा-धड़ी ही लगता है, यानी अनाधिकारी का जालसाज प्रयास...

निस्सन्देह ये सारी भागमभाग, राज्यों का छिनना, चालाकियाँ और ऐयारियाँ, भय-आशंका-आतंक या धोखे और मौत का वातावरण खत्रीजी की इतने लम्बे समय तक दिमागी उड़ान नहीं बनी रह सकती। तत्कालीन समाज की अराजक स्थितियाँ, लूट-खसोट, छीना-झपटी, मार-धाड़, ठगों और पिंडारियों के आतंक, साधु-तान्त्रिकों के जादुई-जंजाल (भारतेन्दु की प्रसिद्ध पंक्ति 'बैरगिया नाला जुलुम जोर, जँह रहत साधु के भेस चोर') राजाओं का गद्दी से उतारा-बैठाया जाना, नवाबों की ऐयाशियाँ और वैभव—सभी कुछ इस उपन्यास की सामग्री में कहीं-न-कहीं कुछ जोड़ते हैं। अस्थिरता के इसी तूफान में निष्कम्प गम्भीर जहाज की तरह भारतीयता के आदर्श अर्थात् राजा की कल्पना खत्रीजी ने अपने नायकों में कर डाली है। उनकी यह दृष्टि अनायास ही ध्यान तुलसीदास की ओर खींचती है। मैंने पहले भी कहा है, 'चन्द्रकान्ता' और 'रामचरितमानस' के रचनाकारों के मन्तव्यों में मुझे काफी समानता लगती है। अपने समय की भयानक अव्यवस्था और अस्थिरता ही रही होगी कि राम के रूप में तुलसी ने ऐसे आदर्श नायक की परिकल्पना की जो वर्णाश्रम-धर्म, या कहना चाहिए तत्कालीन समझ के हिसाब से व्यवस्था शान्ति की स्थापना कर सके...और कुछ ऐसा ही वातावरण पाया होगा देवकीनन्दन खत्री ने अपने आस-पास। मैं इसे भी महज संयोग नहीं मानता कि उत्तर-भारत के जन-मानस को पकड़नेवाली ये दोनों पुस्तकें, दो विदेशी शासनों के बाकायदा स्थापित हो जाने के बाद लिखी गईं। मैं जानता हूँ कि 'चन्द्रकान्ता' इस तुलना में खासी हल्की और अपेक्षाकृत प्रभाव-हीन कृति लगती है। ट्रैजेडी जब अपने को दुहराती है तो फार्स (भँडैती) बन जाती है। अपने युग की प्रासंगिकता से छूटकर भी मोहवश जब पुराने की पुनर्स्थापना का प्रयास होता है तो अक्सर ही हास्यास्पद और व्यंग्य-रचनाओं का जन्म होता है। सामन्ती गौरव के सपनों में ही साँस लेनेवाले 'डॉन क्विक्ज़ोट' का हास्य इसी प्रकार दो युगों की असंगतियों से पैदा हुआ है।.. .खत्रीजी से कुछ पहले ही लिखा गया 'फसानाए-आजाद' भी पुराने का नए युग में अप्रासंगिक और हास्यास्पद हो जाने को ही उजागर करता है। उस हद तक हास्यास्पद तो नहीं, बेजान और निष्प्राण तो खत्रीजी के ये नायक भी लगते हैं। उनके बारे में सारे महान् और आदर्श गुणों के ताम-झाम का जिक्र अनेक तरह किया गया है, वे परम बलशाली और शूर-वीर हैं—पचास-पचास सिपाहियों को दो ही राजकुमार आसानी से काटकर फेंक देते हैं, गुस्सा आने पर लोहे की बेड़ियाँ या जेल के सींखचे तोड़ डालते हैं—इस सबके बावजूद वे सबके सब निहायत ही ठंडे, इकहरे, निष्क्रिय और बेजान ही दिखाई देते हैं और छाप यही बनी रहती है कि वे करते कुछ भी नहीं हैं; या खुद कुछ भी नहीं हैं, हाँ, उन पर आदर्श राजाओं के सारे गुण आरोपित कर दिए गए हैं। मानो बेहद ही साधारण लोगों को मुकुट-मालाएँ पहनाकर रामलीला के राजा-राजकुमार बनाकर बैठा दिया गया हो, और सारा कार्य-व्यापार और कर्मठता नीचेवालों के हाथों में आ गए हों।

मगर उपन्यास को 'मानस' की तुलना में प्रभावहीन कह भी दें तो भी उस लेखकीय मनोविज्ञान को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता जो उसके पीछे काम कर रहा है—यानी अंग्रेजी शासन के समानान्तर आदर्श भारतीय राज्य का सपना। यह सपना उन्हें प्राचीन भारतीय मूल्यों की ओर ही नहीं खींचता, बल्कि किसी भी रूप में विदेशियों की श्रेष्ठता और महानता को स्वीकार करने से भी रोकता है। उस समय का कोई भी लेखक यह स्वीकार नहीं कर रहा था। सर्वान्ते के तीखे व्यंग्य या क्विक्जोट की हास्यास्पदता का एक कारण यह भी है कि वहाँ लेखक ने अपने समय की वास्तविकता को ही नहीं पहचाना था, बल्कि उसे हार्दिक समर्थन दिया था। इसलिए उस समय पुराने चक्रवर्ती सम्राट बनने के सपने या प्रयास उसे हास्यास्पद ही लगते थे। हमारे उस 'चन्द्रकान्ता' युग में अपने समय को समर्थन देने का तो सवाल ही नहीं, उसका विरोध भी उतनी सीधी और साफ रेखाओं में नहीं था। बल्कि शासन से सारा रिश्ता ही बेहद उलझा हुआ और जटिल था। तत्कालीन वास्तविकता के दबावों और इस भीतरी अस्वीकार ने ही तिलिस्म और ऐयारी के इस सपने को जन्म दिया—या कहना चाहिए कि उस काल के इन सुलभ विषयों को अपने ढंग से इस्तेमाल करने को प्रेरित किया। जरा गहराई से देखने पर उस समय चलनेवाले मूल्यों के संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की काफी साफ झलक इस उपन्यास के माध्यम से देखी जा सकती है।

अक्सर ही उपन्यास पढ़ते हुए मुझे लगता रहा कि ये टेढ़े-मेढ़े, पतले-सँकरे, ऊबड़-खावड़ रास्ते, चट्टानें, घने जंगल, नाले, झाड़ियाँ, गुफाएँ-खोह, मुहाने-सुरंगें और ऊँची-नीची खौफनाक पहाड़ियाँ-किले और इनमें घूमते गुमनाम लबादे या अपने असली चेहरे छिपाए किसी-न-किसी घात में लगे ऐयार—ये सारे-के-सारे वास्तव में कहीं बाहर नहीं हैं, उत्तर भारतीय मानस के भीतर ही उग आए हैं। ये सब उस मनोवैज्ञानिक दुनिया के हिस्से हैं जो तुड़-मुड़कर कुंठित और विकृत हो गए हैं—यानी डिस्टार्टेड और क्रुकेड! आर्थर मिलर के नाटक 'फॉल' की तरह मन की गहराइयों और वहीं किसी गुफा या सुरंग में यह सब घटित हो रहा है...कल्पना कीजिए, किसी विशाल-स्टेज पर उपन्यास के इन घटनास्थालों की मंच-सज्जा...वह सब क्या किसी बाहरी दुनिया की चीज हो सकती है? क्या वह सब अवचेतन की ही भूल-भुलैया (लैबिरिथ ऑफ लिबिडो) का ही नक्शा सामने नहीं लाएगा? मुझे तो लगता रहा कि ये पहाड़ और घाटियाँ उसी मनोजगत में उग आए थे जहाँ अनपहचानी नकाबपोश वृत्तियाँ सन्देहास्पद ढंग से घूमा करती हैं। सभी कुछ जमींदोज और भीतर-ही-भीतर हो रहा था। पराजित और कुंठित व्यक्ति की सारी असहाय-कर्मठता मन की गुफाओं में ही चुपके-चुपके हलचल मचाने लगती है, सब कुछ उसके भीतर ही घटित होता है! कितने प्रतीकात्मक लगते हैं 'चन्द्रकान्ता' के मठों-मन्दिरों के खंडहर और सुनसान, अंधेरी खौफनाक रातें—ऊपर से शान्त, सुनसान और उजाड़-निर्जन—मगर सब कुछ भयानक जालसाज हरकतों से भरा...हर पल काले और सफेद की छीना-झपटी, आँख-मिचौनी...यही देवकीनन्दन खत्री की अपनी मानसिकता रही होगी और यही आस-पास के परिवेश की...

जिन क्षेत्रों को देवकीनन्दन खत्री ने अपने घटना-स्थल के रूप में चुना है, वह खंडहरों से भरा है और खंडहर हमेशा ही एक आतंकप्रद उत्सुकता जगाते हैं। उनकी निर्जन, डरावनी दुनिया खास तरह का रहस्य-रोमांच, जिज्ञासा-भय—सभी कुछ एक साथ पैदा करती है। धीरे-धीरे, डरते, झिझकते आप उनके पास जाते हैं, उनके साथ जुड़ने की कोशिश करते हैं तो पिछली धड़कनें, अतीत की गरिमा साँस लेती हुई लगती हैं—'कभी हमारे भी दिन थे' का भाव उनके अतीत को लेकर अतिशयोक्तिपूर्ण, काल्पनिक या सच्ची कहानियाँ गढ़ने को प्रेरित करता है! तब वर्तमान की चुनौती का सामना आप अतीत की महिमा गाकर करते हैं। यह दिलचस्प भी होता है और दयनीय भी! 'चन्द्रकान्ता' इसी दयनीय महानता की दिलचस्प गाथा है। चाहें तो इसे उस समय की चेतना का दस्तावेज कह लें...जहाँ हर खंडहर किसी 'खुल-जा सिमसिम' जैसे तिलिस्मी खजानों के गुप्त रास्ते छिपाए है...

ऊपर ऐयारी, भीतर तिलिस्म! दुहरे धरातल पर चलनेवाली कहानी! ऊपरी चतुराई से समय का सामना करने की कोशिश और भीतर कहीं कुछ बेहद ही कीमती छिपाए होने का सन्तोष! ऊपरी मनोरंजन के पीछे भारतीय अस्मिता के होने और खोज निकालने का विश्वास। सब मिलाकर टकराते स्वार्थों के चालवाज पैंतरे और अन्दरूनी खजानों को खोज डालने की जी-तोड़ उठापटक—यानी उन मूल्यों और महिमा को पाने का शेखचिल्ली प्रयास जो फिर से सही, सम्मानजनक और आदर्श रूप में प्रतिष्ठित कर सकें—खोई हुई इज्जत को वापस दिला सकें।

उन्नीसवीं शताब्दी योरुपीय चिन्तन और जीवन-पद्धति को जड़ से बदल डालनेवाली शताब्दी है। नए-नए विचार, आविष्कार, औद्योगिक संस्थान, नए-नए तरीके, टैकनीकें इसी युग में पकते और अपने चमत्कार दिखाते हैं। आस्था और विश्वास की जगह ले ली है युक्ति और विज्ञान ने। उस समय भाप और बिजली को नई-नई ईजादों में ही इस्तेमाल नहीं किया गया, उन ईजादों को दैनिक उपयोग और उपभोग में भी ले आया गया। कल-कारखाने, रेल-सिनेमा, सभी कुछ आए। और उनमें से कुछ चीजें अंग्रेजों के जरिए भारत में आ रही थीं, तो कुछ बातें भी सुनाई दे रही थीं। अखबार और छापेखाने तो आ ही गए थे। मुझे नहीं मालूम कि खत्रीजी की सूचनाओं का स्रोत क्या था, या उनका प्रिय 'अवध-पंच' कितने समाचार देता था। हाँ, भारत के लोग कल-कारखानों, बिजली-रेल इत्यादि से परिचित होने लगे थे। इस सबसे सदियों पुरानी जीवन-पद्धति, सोच तो बिलकुल नहीं बदले, हाँ शासकों की अनुशासन व्यवस्था के लिए इनके बढ़ते उपयोग से, जनता को कुछ सुविधाएँ जरूर मिलने लगीं। उन सुविधाओं को स्वीकार करने से पहले एक खास तरह का प्रतिरोध, आशंका और चमत्कार-भाव तो आना ही था। संशय, उत्सुकता, चमत्कार, गति—यही कुछ तत्व 'चन्द्रकान्ता' की रीढ़ हैं—यानी उस समय का 'साइके' (मानसिकता) हैं।

घनघोर, लेकिन विघटित-विशृंखलित, अपने ही अन्तर्विरोधों की मारी सामन्ती-व्यवस्था से औद्योगिक सभ्यता का यह पहला और सीधा परिचय था—बल्कि इसे पहली टक्कर कहना ज्यादा सही होगा; क्योंकि इस सभ्यता को अपने साथ लानेवाली शक्ति, विदेशी

और विधर्मी ही नहीं, आक्रामक और उपनिवेशवादी विजेता थी। हो सकता है अन्य स्थितियों में इस संसर्ग की प्रतिक्रिया और प्रक्रिया बिलकुल ही दूसरी होती। मगर अब तो अंग्रेजों द्वारा जिस चीज की शुरुआत हो उसे न तो शंकाहीन दृष्टि से देखा जा सकता था, न अकुंठित मन से स्वीकार ही किया जा सकता था। पुरानी जानकारी के आधार पर हर नए के पीछे किसी जाल या चाल का ही शक होता था। ऊपर से पराजित-पददलित जनता को अपनी तथाकथित शक्ति का स्रोत और आधार 'धर्म' ही लगता है। 'हार गए हों, या कुचल दिए गए हों—हमने अपना धर्म नहीं छोड़ा' के झूठ में जीना हमारा स्वभाव बन गया था। हमेशा मन चौकन्ना रहता था कि विदेशी लोग विधर्मी हैं, धर्म और संस्कृति को ही पहले भ्रष्ट करेंगे। ईसाई-धर्म का प्रचार भी राजकीय स्तर पर हो रहा था। शायद सामंतकाल में राष्ट्रीयता से भी पहले धर्म ही अस्मिता की मूल शर्त हो जाती है। वैसे भी आज जैसी समग्र राष्ट्रीय-दृष्टि उस समय भी उतनी ही स्पष्ट और मुखर थी, इसे लेकर इतिहासकारों में घनघोर विवाद है। सदियों से छोटे-छोटे राजा और रजवाड़े एक राज्य की राष्ट्रीयता को दूसरे राज्य के विरोध में रखते रहे थे। कोई चित्तौड़ के सम्मान के लिए मरने का नारा देता था तो कोई दिल्ली या गुजरात के। हाँ, धर्म के चारों ओर फैले सूत्र जरूर कभी-कभी राष्ट्रीयता का भ्रम देने लगते थे।

विवाद इस स्थापना को लेकर भी कम नहीं है, लेकिन सामान्य धारणा यही है कि फौजों की बगावत का विस्फोट 'धर्म पर आक्रमण' के ही बहाने—यानी सुअर-गाय की चर्बी के गोलियों में इस्तेमाल को लेकर ही हुआ। (कम ही लोगों ने इस बात को भी जानने की कोशिश की कि इस चर्बी की सप्लाई का ठेका एक बंगाली ब्राह्मण 'गंगाधर बनर्जी एंड कम्पनी' के पास था) बहरहाल, हो सकता है यह केवल एक बहाना हो और इस विद्रोह के पीछे कुछ और योजनाएँ रही हों। मगर इससे यह सच्चाई पुष्ट ही होती है कि सामान्य जनता को धर्म के नाम पर ही उत्तेजित-आन्दोलित किया जा सकेगा। शक्ति और सत्ता हाथ से निकल जाने के बाद हर जाति, धर्म और संस्कृति या विचार और आदर्श की अमूर्त दुनिया में शरण और पलायन दोनों लेती है। शायद अपने को गहराइयों में समेटकर पुनः संगठित होने के लिए। 'विजेता राज्य और शासन ले सकता है, धर्म और संस्कृति नहीं।' —प्रतिरोध की आवाज तब यह होने लगती है। एक हवाई आत्मविश्वास और विस्फारित अहंकार से हम तब अपने को दिलासा और विश्वास देते हैं : ये जुम्मा-जुम्मा कुछ-सौ सालों के इतिहासवाले हमारा मुकाबला क्या खाकर करेंगे? हम हजारों सालों का इतिहास और ज्ञान-विज्ञान पीछे लिए बैठे हैं। ठीक है, इन्होंने हमें जीत लिया, लेकिन महान् तो हम ही हैं—ये नहीं! हमारे ज्ञान और दर्शन, हमारी सूझ-बूझ हमारी सामाजिक-नैतिक मान्यताएँ और परम्परा, हमारे साहित्य-कला, हमारा अतीत गौरव...

खैर, सूची बहुत लम्बी है और हर नए के प्रति अस्वीकार, प्रतिरोध और उपहास का यह सिलसिला हमारे यहाँ भी बहुत दिनों चलता रहा—आज भी है : जो अस्वीकार्य है वह पश्चिमी, जो अभ्यास में आ गया वह भारतीय। और तो और अशोक-चन्द्रगुप्त

के जमाने में ही भारतीयता की समाप्ति माननेवालों को कोट-पैंट के मुकाबले, चूड़ीदार पाजामा और शेरवानी 'भारतीय' लगने लगी। उनके वायुयान देखकर अपना पुष्पक-विमान, उनके रेडियो से अपनी संजय-दृष्टि, उनके पुलों से अपने नल-नील, उनकी तोप-बन्दूकों से अपने आग्नेयास्त्र और ब्रह्मास्त्र हमें अधिक श्रेष्ठ और महान् लगे। अपने चरक-सुश्रुत-सुषेण के मुकाबले उनकी दवाएँ या चिकित्साशास्त्र हमेशा बचकाने ही लगते रहे। ट्रैजेडी यह थी कि हम सिर्फ श्लोक ही उद्धृत या प्रक्षिप्त कर सकते थे, और उनके पास साक्षात् वे चीजें थीं जो ज्यादा प्रभावी और उपयोगी दोनों थीं। वेदों को चुराकर चाहे जर्मन लोग अपने देश ले गए हों, लेकिन भला उन्होंने विदेशियों का ही किया था। हम तो ऋचाएँ भोंकते हुए गरीब और भूखे मुल्क का मनों घी ही हवनों और यज्ञों में होम सकते थे। भौतिकता और भौतिक उपलब्धियों को आध्यात्मिक गालियाँ देते या उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हुए भी हम दाने-दाने और तिनके-तिनके पर जान दे रहे थे—उन्हीं भौतिक उपलब्धियों को अधिक-से-अधिक हथियाने के लिए सबसे ज्यादा नदीदे थे...आज भी हैं...

भारतीय मानस की ये सारी विसंगतियाँ और अन्तर्विरोध 'चन्द्रकान्ता' में भी हैं—काफी संश्लिष्ट और उलझे हुए। एक ओर तो प्रतिरोध की इसी जटिल, सूक्ष्म और द्वन्द्वात्मक अमूर्तप्रक्रिया ने तिलिस्म को जन्म दिया तो दूसरी ओर ऐयारी में विरोध और स्वीकार का दुहरा रूप भी उभरने लगा। यह कह पाना काफी कठिन है कि प्रतिरोध का स्वर ज्यादा प्रबल है या स्वीकार की दमित आकांक्षा...

मूलतः मैं इसी द्वन्द्वात्मक सांस्कृतिक प्रतिरोध को चन्द्रकान्ता-वर्ग के उपन्यासों का मूल-कथ्य मानता हूँ और इसी का यह तर्क-सम्मत विकास है कि दुर्गाप्रसाद खत्री ने प्रतिरोध के इस रूप को आगे चलकर आत्म-सुरक्षात्मक से बढ़ाकर, आक्रामक कर दिया और प्रतिरोध, विद्रोह में बदलने लगा। 'रक्त-मंडल', 'मृत्यु किरण' जैसे उपन्यास सारी भारतीय मेधा और प्रतिभा को बाकायदा अंग्रेजों के विरोध में ला खड़ा करते हैं। पुराने उपन्यासों के ऐयार ही इन नए उपन्यासों में गुप्त-संगठनों के नायक बनकर विदेशी शासकों की सारी वैज्ञानिक और प्रशासनिक योग्यता-क्षमता को चुनौती देते हैं। कहना चाहिए, 'चन्द्रकान्ता' में यह प्रतिरोध अपनी ही अतीत-मुग्ध भाषा में बोलता है, जबकि 'रक्त-मंडल' में उन्हीं की जबान में उनका जवाब देता है और सीधे मुठभेड़ की स्थिति लाता है।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यासों में जो एक सिरे से दूसरे सिरे तक हर कोई, हर किसी से 'हिसाब चुकाने' और प्रतिशोध लेने की बात करता है, क्या इसके पीछे कोई कारण नहीं है? पुराने 'विश्वासघात' का बदला लेने की यह बात क्यों बार-बार वहाँ गूँजती है? और हिंसा, एक्शन, प्रतिशोध, फुर्ती-चालाकी, बेवकूफ बनाना और महान् वैज्ञानिक उपलब्धियों की कल्पनाएँ—ये सब क्या मन के गहरे और बारीक स्तरों पर चलनेवाला प्रतिरोध ही नहीं है? वस्तुतः ये सारी भाग-दौड़, मार-धाड़ जिस सम्पत्ति और दौलत के लिए है, वह साधन, सम्मान और सत्ता प्राप्त करके पुनर्प्रतिष्ठा प्राप्त करने की भारतीय दमित आकांक्षा ही तो नहीं है? चाहे तिलिस्म हो या ऐयारी—भारतीय बौद्धिक

ऊँचाइयों और उपलब्धियों की स्थापना, या लोहा मनवा लेना ही इस उपन्यास-शृंखला का उद्देश्य है। कहीं वह बौद्धिक ऊँचाई व्यावहारिक चतुराई या ऐयारी में प्रकट होती है तो कहीं तिलिस्मी करिश्मों में। अपने मूल में 'चन्द्रकान्ता' भयानक राष्ट्रीय हीन-भावना से उद्भुत रचना है। हाँ, इसे अधिक-से-अधिक परतों में छिपाकर ग्राह्य बनाने की जी तोड़ कोशिश की गई है...

ग्राह्य बनाने की दृष्टि से ही उनका आग्रह वैज्ञानिकता और युक्ति की ओर है। यही कारण है कि उर्दू-दास्तानों से प्रेरणा लेते हुए भी तिलिस्म और ऐयारी का उन्होंने वही अर्थ नहीं लिया है। यहाँ उन्हें ज्यादा तर्क-सम्मत और गले उतरने लायक बनाया है। हालाँकि हर नए आविष्कार से चमत्कृत स्तब्ध होने का ही भाव अधिक है। 'अलिफलैला' में बाल जलाते ही जिन प्रकट होते हैं और 'अमीर-हम्जा' में उमरू ऐयार के किसी भी 'जादुई-चक्र' या तिलिस्म में फँसते ही ख्वाजा खिज्र नाम के पैगम्बर उसे मुसीबत से निकालते हैं। देवकीनन्दन खत्री का सारा जोर इन अतिमानवीयताओं से हटकर बौद्धिक कौशल पर है। हर कार्य का एक कारण है, हर घटना के पीछे एक सूत्र है और उपन्यास में घटित होनेवाले हर चमत्कार की एक वैज्ञानिक परिभाषा दी जा सकती है—यही खत्रीजी का 'गुर' है। उन्होंने खटके, कमानियाँ, बटन, चर्खियाँ, तार सभी की परिकल्पना की है। अगर ध्वनि-तरंगों के बारे में उनकी थोड़ी-बहुत जानकारी होती तो जरूर वे कहते कि मुँह से विशेष ध्वनियाँ, या ध्वनि-समूह मिलाकर मन्त्र निकालते ही वे तरंगें सामनेवाले ताले पर विशेष रूप से सक्रिय हो उठती हैं और तब उसके पीछे की मशीनें चलने लगती हैं। ...निश्चय ही 'चन्द्रकान्ता' में दिए गए तर्क काल्पनिक और अवैज्ञानिक हैं, मगर उनके पीछे हर बात के लिए 'वैज्ञानिक कारण' देने की चेतना ही रही होगी कि आगे चलकर दुर्गाप्रसाद खत्री 'मृत्युकिरण' की कल्पना कर डालते हैं जो आज 'लेसर-बीम' के रूप में सत्य होती है। बहरहाल, हजारों पन्नों की इस यात्रा से गुजरते हुए दुर्गाप्रसाद जी ने बाद में जो उपन्यास लिखे हैं, उन्हें निस्सन्देह भारत के पहले 'वैज्ञानिक उपन्यास' (साइंस-फिक्शन) होने का श्रेय दिया जाना चाहिए।

तिलिस्म के अस्तित्व या कल्पना के पीछे देवकीनन्दन खत्री का अपना तर्क है। अरबों और खरबों की सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए हमारे पुरखों ने इसे बनाया था—ताकि सही उत्तराधिकारी को सौंपा जा सके। अनाधिकारी और हर ऐरे-गैरे का हाथ वहाँ न पहुँचे, इसके लिए उन्होंने सावधानियाँ वरतीं, सुरक्षा के प्रबन्ध किए; भूल-भुलैया और गुप्त रास्ते, तहखाने-दर-तहखाने, उन्हें खोलने-बन्द करने के जटिल तरीके बनाए; उन्हें हिस्सों और खण्डों में बाँटा, बड़ी कारीगरी से उनकी तालियाँ या उनके भेद बतानेवाली पुस्तकें तैयार कीं। यह होशियारी भी बरती कि एक ही चाबी या किताब से सारा तिलिस्म न खुले और एक विशेष भाग तक ले जाकर वह तरीका बेकार हो जाए! लेकिन वंश में सही उत्तराधिकारी कौन होगा? उसके रूप-रंग और नाम-कद क्या होंगे? अगर किसी ने गलत-सही तरीके से चाबियाँ या रहस्य बतानेवाली पुस्तकें प्राप्त कर लीं तो? तब तो तिलिस्म का होना ही बेकार हो जाएगा और सारा खजाना गलत

हाथों में पहुँच जाएगा। इसका बचाव? सारा जटिल कला-कौशल, उलझी और बारीक मशीनरी टैक्नोलोजी सही और गलत का भेद कैसे कर पाएगी?

खत्रीजी का जरूर यह विश्वास रहा होगा कि बाकी सारे भारतीय चमत्कारों पर अवैज्ञानिक या कपोल-कल्पित होने का आरोप लगाया जा सकता है, किन्तु ज्योतिष की गणना या उसके गणित की वैज्ञानिकता तो हर सन्देह और शंका से ऊपर है। इसलिए 'सही-गलत' व्यक्ति को लेकर रहनेवाले उनके मन के सन्देह को समाधान दिया ज्योतिष ने...सारा कुछ मशीनी और तकनीकी तो ये विदेशी कर लेंगे, लेकिन भारतीय ज्योतिष को दुनिया में कोई क्या खाकर पाएगा? उनके औपन्यासिक ज्योतिषियों ने अपनी गणना से न केवल पाँच-दस पीढ़ियों बाद आनेवाले सही उत्तराधिकारियों के नाम-रूप-गुण बता दिए, बल्कि उनके एक-एक क्षण की गतिविधियों, कार्य, क्षेत्र और क्षमताओं का पूरा ब्योरा बना डाला। यही नहीं, उनके सम्पर्क में आनेवाले सारे शत्रु-मित्रों, सहायकों-बाधकों की बातचीत, शक्ल-सूरत, व्यवहार, कार्य, परिणाम सभी का कच्चा-चिट्ठा भी तैयार कर लिया। अक्सर तिलिस्मी किताबों में, या कुंड के तले में जड़े पत्थर की पटिया पर या किसी पुतली के मुँह से हमें सुनाई देता है : "अगर तुम्हारा नाम इन्द्रजीतसिंह/प्रभाकरसिंह/वीरेन्द्रसिंह है, तो यहाँ तक आने के बाद, अमुक जगह तुम्हें अमुक चीज, बात या पुतली मिलेगी और तुम इस प्रकार वहाँ जाओगे/करोगे। इससे आगे का रास्ता बताने के लिए आगे प्रबन्ध है।" रास्ते खोलने, बन्द करने, छिपाने-छलाने के सिलसिले में ही उन पुरखों के कारीगरों ने कमाल नहीं किया था, हू-ब-हू असली जैसी पुतलियाँ, पशु-पक्षी, पेड़ बनाए जो हमारी तरह ही बातें, हरकतें और आश्चर्य या दुख प्रकट करते हैं। उनकी शक्लें नायकों या उनकी प्रेमिकाओं से इतनी मिलती हैं कि वे सब पहले धोखा खा जाते हैं। अगर सत्तर कोठरियों, सुरंगों या सीढ़ियों के बाद किसी दीवार पर ऐसी तस्वीर मिलती है जिसमें हमारे नायक का प्रतिरूप मौजूद है तो ठीक उसी शक्ल-सूरत के पुतले-पुतली बनाने में उन कारीगरों को कहाँ दिक्कत हो सकती थी? उन्होंने उन पुतलियों में क्षण-क्षण की हरकतें और व्यवहार ही नहीं भर दिए थे, सारे भावी सवाल-जवाब भी टेप कर डाले थे और अंग-संचालनों से उनका सटीक सामंजस्य कर दिया था। बहरहाल, ज्योतिष के आधार पर रोबो, टेप और कम्प्यूटर का ऐसा बेमिसाल और सूक्ष्म संयोजन और टाईमिंग है कि क्या आज के स्पूत्निकों और मिसाइलों का होगा...

ज्योतिष और टैक्नोलोजी का यह विकसित-तम रूप प्राचीन-भारत में कहाँ तक था—मैं इस विवाद में नहीं जाऊँगा। वर्ना राक्षसों-भूत-प्रेतों की कारगुजारियों से लेकर अगली-पिछली सात-पुश्तों का इतिहास सुनाने और दुनिया की किसी भी भाषा या पुस्तक से पन्ने-दर-पन्ने उद्धृत करनेवाली किसी चार-पाँच साल की चमत्कार बालिका के उदाहरणों से जूझना पड़ेगा...राम और अर्जुन के पास कोबॉल्ड और न्यूक्लियर बमों के बाप थे, और कुंडलिनी जाग्रत होने से आदमी देश-काल दोनों की सीमाएँ तोड़ सकता है, वह एक साथ ही तोक्यो, दिल्ली और न्यूयार्क में हो सकता है, भीम द्वारा वायुमण्डल में फेंके गए हाथियों की सवारी कर सकता है और शेर-बिल्ली-कुत्ता-चील

या हवा जो चाहे बन सकता है। इन बेवकूफियों और गपोड़ी बकवास करनेवालों से अगर पूछा जाए कि देशकाल भेदकर कहीं भी जा-पहुँचनेवाले सिद्धों को अपने चलने-फिरने के लिए एयर-कंडीशंड गाड़ियाँ और जंबो क्यों चाहिए? घड़ियाँ, अंगूठियाँ और भभूत पैदा करनेवालों को अन्ध-विश्वासी भारतीय जनता, मक्कार, ब्लैक-मार्केटियर, स्मगलर और अमेरिकन सी.आई.ए. पैसा न दें तो सारी महर्षि, भगवान, परमहंस या तारकब्रह्म-गीरी धूल चाटने लगे। दूसरों को घड़ियाँ—(किसी अलौकिक दुनिया की बनी नहीं, ठेठ विदेशी टैक्नीक और ठप्पेवाली)—देनेवालों को अपना समय देखने के लिए इलैक्ट्रोनिक घड़ी चाहिए, अपने खड़ाऊँ या सिंहासन के लिए सिद्धि से प्राप्त किया नहीं, प्रसिद्धि से उपलब्ध, खान से निकला या बिस्कुटों में भेंट किया गया सोना...समाज-विरोधी, घृणित और अमानवीय कृत्यों के परिणाम-स्वरूप मानसिक रूप से अशान्त, अपराध-पीड़ित अफसरों, तस्करों, सटोरियों, जासूसों और राजनीतिज्ञों को शान्ति की गोलियाँ और मन्त्र बाँटनेवाले जब खुद जालसाजी, ढोंग, धोखे और हत्याओं में लिप्त हैं तो भारतीय संस्कृति की किन दिव्य महानताओं के प्रति आस्था जगाएँगे?

वस्तुतः तिलिस्म, पलायन और समय नकार की गुट्ठल शुतुरमुर्गी मानसिकता का शरण्य है—सब कुछ भूलकर अपने अवचेतन के तहखानों में भारतीय महानता के सपने खोदने की तलाश! राजनैतिक और आर्थिक रूप से पराजित देश यह कैसे स्वीकार कर लेता कि विदेशी हमसे किसी भी क्षेत्र में श्रेष्ठ हैं?

बात को सिर्फ हवाई रायजनी न मान लिया जाए इसलिए मैं 'चन्द्रकान्ता' से लगभग बीस-पच्चीस साल पहले लिखे गए अम्बिकादत्त व्यास के उपन्यास 'आश्चर्य-वृत्तान्त' का जिक्र करना चाहूँगा। इसमें 'लूफ लिर्पा' नाम का एक पुरातात्विक अंग्रेज—(हालाँकि नाम से यह इतालवी या स्पेनी लगता है)—पुराने कुँए की खुदाई करते हुए ऐसे ही एक आश्चर्य-लोक में पहुँच जाता है, जहाँ तिलिस्मी गुफाओं और सुरंगों का जाल है। वहाँ की एक-एक चीज उसे भारतीय-मेधा की उपलब्धियों पर चकित करती है। अन्य अद्भुत वस्तुओं की तरह एक जगह उसे एकदम ताजी रोटियाँ मिलती हैं और वह स्तब्ध है कि इन भारतीयों ने हजारों साल पहले ऐसा कौन-सा तरीका खोज निकाला था कि आज भी रोटियाँ तवे पर से उतारी लगती हैं? स्पष्ट ही उन दिनों अंग्रेजों के लिए डबल-रोटी, केक-पेस्ट्री इत्यांदि इंगलैंड या योरोप से पानी के जहाजों द्वारा डिब्बा-बन्द आती रहती होंगी। उनकी ताजगी देखकर अन्य देशवासियों की तरह व्यास महोदय भी दंग होंगे—और इसकी कल्पना उन्होंने भारतीय अतीत में कर डाली। खैर, अंबिकादत्त की मजाक-मिजाज़ी (सैंस ऑफ ह्यूमर)—की दाद देनी पड़ती है कि भारतीय-सभ्यता के सारे आश्चर्य-वृत्तान्तों में घुमाकर वे रहस्योद्घाटन करते हैं कि यह पश्चिमी पुरातत्त्ववेता, 'लूफ लिर्पा' और कोई नहीं, 'अप्रैल फूल' की अंग्रेजी वर्तनी को उलटा करके बनाया गया शब्द है और यह सब पहली अप्रैल पर किया गया मजाक है...

लेकिन देवकीनन्दन खत्री तिलिस्म को मजाक में नहीं ले पाते और परम-गम्भीर हैं। जो कुछ उपन्यास में है उसके सम्भव होने के पक्ष में बड़ी संजीदगी से तर्क देते हैं : दीवार-कहकहा, बेहोश करनेवाली गैसें और दूसरी तकनीकी कारीगरियाँ, उनके

लिए सच्चाई हैं। उन्होंने तो भाप से चलनेवाली मशीनों, बिजली की चकाचौंध, करेंट के बेहोश करनेवाले झटकों, खटके दबाकर खुलने-बन्द होनेवाले दरवाजों, लिफ्टों, लोहे की नालियों पर चलनेवाली ट्रालियों—(जिन्हें वे हौदियाँ कहते हैं)—सभी कुछ को प्राचीन भारत में खोज निकाला है। वहाँ साँप के फन, शेर-बन्दरों की आँखों को दबाकर खुलने-बन्द होनेवाली चर्खियों से परिचालित खिड़कियाँ, पाटियाँ, दियों-मोमबत्तियों या मशालों की तुलना में साठ-सौ वाट की बिजली-रोशनियाँ तो हैं ही; दीवारों पर बनी तसवीरों का अँधेरे कमरे में रोशनी की चौखट में चलना-फिरना तक है—मोर्स-सिस्टम से टॉर्चों की बातचीत भी है। कुछ बातें उन्होंने अखबरों में पढ़ी होंगी, कुछ के बारे में सुना होगा। कृष्णाजिन या तिलिस्मी शैतान का धमाके से प्रकट होना, धुएँ के साफ होते ही अदृश्य या गायब हो जाना—पारसी थियेटरों में हनुमान या नृसिंहावतार के प्रकट होने का प्रभाव लगता है। भूतनाथ या दारोगा का बेहोश करनेवाली गेंद फेंकना, आँसू-गैस या हथगोलों से प्रेरित है। ऐसी दर्जनों चीजें हैं जिनका खत्रीजी के समय होना इन तिलिस्मी चीजों से ही पता चलता है। मुझे याद है इस शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में दिल्ली या इलाहाबाद में एक नुमायश हुई थी। उसकी कुछ अजीबोगरीब चीजों पर तत्कालीन अखबारों में अनेक लेख निकले थे। हो सकता है 'चन्द्रकान्ता' के उत्तरार्ध में खत्रीजी ने कुछ चीजें वहाँ से भी उठाई हों।

इतने इस सब विस्तार में जाकर कहने का मेरा आशय यही है कि ये सारी चीजें जो निश्चय ही उस समाज में आ रही थीं, तत्कालीन आम-आदमी के लिए अजूबा ही रही होंगी, उपयोगी वस्तुएँ नहीं। जैसे, उनके कुछ पात्रों के हाथों में तमंचे तो दिखाई देते हैं, मगर पसन्द लड़ने के लिए उन्हें वही तीर-तलवार, नेजे और खंजर हैं। ...सबसे दिलचस्प हैं हरे-नीले-सफेद तिलिस्मी पुतले—यानी विदेशियों के प्रतिरूप। ये वहाँ सेवा करने या तिलिस्मी मतलब पूरा करने के लिए नियुक्त हैं और जिन्हें खंजर या डंडा छुलाकर हमारे नायक 'भस्म' कर डालते हैं! (कैसी जबर्दस्त स्वप्नाकांक्षा या विशफुल-थिंकिंग है।)

इन बेजान पुतलों जैसे विदेशियों को हम तिलिस्मी डंडा या खंजर छुलाएँगे और ये देखते-देखते भस्म हो जाएँगे! हमारे पुरखों ने हमें ऐसे-ऐसे स्तब्ध करनेवाले चमत्कारी उपकरणों के भंडार दिए हैं! उधर हमारे ऐयार ऐसे चुस्त और चालाक हैं कि बड़ी-से-बड़ी फौज को चकमा देकर अपना काम बना लें—वे अपराजेय, दुर्दमनीय और सर्वव्यापी हैं—पराजित और बेबस राष्ट्र को अतीत और वर्तमान दोनों धरातलों पर एक साथ सहलाने की यही औपन्यासिक लेकिन प्रच्छन्न राष्ट्रीयता 'चन्द्रकान्ता' की भयानक लोकप्रियता का कारण रही होगी! यह बात ऐयारों और उनकी गतिविधियों को जरा गौर से देखने पर और भी अधिक साफ होती है। लेकिन ऐयारों का मसला जरा ज्यादा जटिल है और उतने सीधे-सपाट रास्ते नहीं चलता!

ये ऐयार राजा-रानियों के नौकर हैं, लेकिन दरबार में इन्हें पूरी इज्जत है। बेहद वफादार और मालिक के लिए कटने-मरने को तैयार। सिर्फ भूतनाथ ही ऐसा ऐयार है जिसने आज की शब्दावली में डबल-क्रॉसिंग की है, यानी दोनों पक्षों को धोखे में

रखा है और अपने पुराने मालिक के प्रति दगा की है। इसी विश्वासघात की बेचैनी उसे जिन्दगी-भर सालती है। अब वह जैसे भी हो राजा वीरेन्द्रसिंह के दरबार में शामिल होकर अपने पापों का प्रायश्चित करना चाहता है, उनकी नजर में ऊँचा उठना चाहता है। मूलतः इस सारी उपन्यासमाला का सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र यही है और मानव-मनोविज्ञान की थोड़ी-बहुत झलक इसी में दिखाई देती है। वैसे ये सारे ऐयार नौकरी-पेशा मध्यवर्गीय स्तर के लोग हैं, और इस वर्ग का भूतनाथ ही ऐसा व्यक्ति है जो 'फ्री-लांसर' होने की कोशिश करता है—हालाँकि महत्त्वाकांक्षा इसकी राज-दरबार तक पहुँचने की है। उपन्यास की सारी रोचकता गद्दी के लिए लड़ते राजा-रानियों के कारण नहीं, भूतनाथ जैसे ऐयारों के ही कारण हैं। मुझे यह भी काफी सांकेतिक ही लगता है कि तिलिस्म तोड़ने या दौलत खोदने के चक्कर में राजा-रानियाँ जमीन के अन्दर गहरे उतरते और तहखानों में घुसते चले गए हैं, जबकि ऊपर ये ऐयार ही हैं कि स्थितियों की सारी बागडोर सम्भाले हैं। अपने साधारण होने, मानवीय कमजोरियों और संकल्पों के कारण हम इनके साथ आसानी से तादात्म्य करते हैं।

खत्रीजी के पहले या उनके समकालीन उपन्यासकारों का एकमात्र सरोकार था—पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं का संघर्ष। उनके लिए सारा भारतीय महान्, सर्वश्रेष्ठ और संरक्षणीय था और सारा पश्चिमी तिरस्करणीय। दोनों सभ्यताओं को जानने-परखने या उनका विश्लेषण करने की उन्हें जरूरत नहीं थी। उनका तो स्वयंसिद्ध विश्वास ही यही था कि नई पीढ़ी पश्चिमी-सभ्यता के प्रभाव में चरित्र-हीन और पथ-भ्रष्ट हो रही है; जब तक पुराने मूल्यों पर नहीं आएगी, आत्मघात करेगी। लेकिन इस संघर्ष का चित्रण 'चन्द्रकान्ता' में कहीं नहीं है। खत्रीजी भी शायद मानते थे कि पुराने मूल्य इतने अधिक आत्यंतिक, स्वयंसिद्ध और शाश्वत हैं कि वहाँ किसी तरह की शंका की गुंजाइश ही नहीं है। लेकिन लेखक के अनचाहे-अनजाने उन मूल्यों से चिपके नायक, ढीले-ढीले और निष्प्राण हो गए हैं। यों होने को उनमें भारतीय-संस्कृति के सारे आदर्श गुण हैं : वे संध्या-वन्दन करनेवाले, माता-पिता-गुरुओं की आज्ञा शिरोधार्य करनेवाले, अदब और क्षमाशीलता के अवतार, न्यायप्रिय और परम पराक्रमी लोग हैं। मगर क्रमशः उनका कद छोटा होता गया है। महाराजा सुरेन्द्रसिंह के पुत्र राजा वीरेन्द्रसिंह, उनके लड़के कुमार इन्द्रजीतसिंह, फिर 'भूतनाथ' उपन्यास के नायक, वीरेन्द्रसिंह की फौज के एक सूबेदार या सरदार के पुत्र प्रभाकर सिंह। दूसरी तरफ ऐयारों के माध्यम से साधारण लोगों का पूरे दृश्य-पटल पर छाते चले जाना, यहाँ तक कि प्रभाकरसिंह के साथ-साथ या बाद में उपन्यास का नायक बन बैठना—गिरते हुए सामन्ती मूल्यों और सामन्तवाद तथा उठते हुए मध्यवर्ग का ही प्रतीक है! उस समय की ऐतिहासिक सच्चाई तो यही है कि सामन्तवाद अपना प्रभाव और पकड़ छोड़ रहा है और मध्यवर्ग क्रमशः केन्द्र में आता जा रहा है। लेकिन संस्कार हैं कि उसे हर क्षण लगता है कि उसके हाथों कहीं कुछ 'गलत' हो रहा है, कुछ गलत हो चुका है और इस गलती का उसे प्रायश्चित करना है। अपने जाने और चेतन रूप से वह दरबार और राजा के प्रति वफादार ही रहना चाहता है। भूतनाथ का मूल द्वन्द्व यही है। स्वामी के खिलाफ

उसने अपने लिए कुछ करना चाहा और जिन्दगी-भर इस दंश से कुतरा जाता रहा। इसके लिए एकमात्र रास्ता उसे दिखाई देता है कि वह भी चुन्नीलाल, बद्रीनाथ की तरह राजा वीरेन्द्रसिंह के दरबार में शरण ले, वहाँ स्वीकृत और सम्मानित हो।

तब क्या खत्रीजी का सचमुच यही विश्वास था कि हमारी मानसिक और भौतिक दुर्दशा का एकमात्र कारण सामन्ती मूल्यों और सामन्त के प्रति वफादार न रहना था? लेकिन भूतनाथ के असली स्वामी तो राजा वीरेन्द्रसिंह नहीं हैं। जहाँ उसने 'गलत' किया, वहाँ प्रायश्चित न करके, वह क्या इसीलिए राजा वीरेन्द्रसिंह की शरण में आने के लिए सारी औपन्यासिक उठा-पटक करता है कि उनका सितारा बुलन्दी पर है, उन्होंने चुनार, नौगढ़, विजयगढ़ इत्यादि राज्य जीतकर अपने में मिला लिए हैं और उनके बेटों ने दो बहुत बड़े तिलिस्मों की दौलत हासिल कर ली है, वे बड़े ही न्यायप्रिय, आदर्श और क्षमाशील राजा हैं, कि उनके दरबार में शामिल होना बहुत फख्र और गौरव की बात है? भूतनाथ को विश्वास है कि राजा वीरेन्द्रसिंह के प्रति उसने जो भयानक अपराध किए हैं, उन्हें वे जरूर माफ करके उसे अपने दरबार का मुसाहिब बना लेंगे और उसे खिलअत अता फरमाएँगे...

प्रायश्चित, माफी और दरबार में स्वीकृति पाने की भूतनाथ की इस आन्तरिक आकांक्षा को समझने के लिए देवकीनन्दन खत्री के भौगोलिक और सामाजिक परिवेश को फिर एक बार, लेकिन दूसरी ही दृष्टि से देखने की जरूरत है। हमें यह बिलकुल नहीं भूलना चाहिए कि यह वही क्षेत्र है जहाँ गदर का प्रभाव सबसे अधिक है। विद्रोह में सबसे अधिक आगे बढ़कर हिस्सा लेनेवालों में अवध के लोगों का स्थान प्रमुख है। वैसे भी इस सारे विक्षोभ का मुख्य केन्द्र था—दिल्ली, झाँसी और लखनऊ का त्रिकोण। लेकिन अवध में नवाबी जाने के साथ-साथ एक और भी पक्ष जुड़ा है। अंग्रेजी फौज की बनावट में अड़तीस हजार योरुपियनों और दो लाख देसी सिपाहियों में सबसे अधिक प्रतिशत है अवध के सिपाहियों का। और इन्हीं अवधी सिपाहियों ने फौज में सबसे पहले विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया—सबसे अधिक असन्तोष व्यक्त किया। इन लोगों की इसी विद्रोही सक्रियता को देखते हुए अंग्रेजों का सबसे अधिक गुस्सा भी इन्हीं सिपाहियों और क्षेत्र पर है। उस जमाने के प्रामाणिक इतिहासकार फिलिप मेसन, आई.सी.एस. ने 'ए मैटर ऑफ ऑनर' में विस्तार से इस बात को बताया है कि कैसे विद्रोह के बाद पुरबिया सिपाहियों की भरती फौज में एकदम बन्द कर दी गई थी और उनकी अनेक वाहनियाँ विघटित कर डाली गई थीं। गंगा की तराई के ये सारे लोग, जो सिर्फ लड़ सकते थे, नौकरियों और रोजगार की तलाश में इधर-से-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। या तो बंगाल-बिहार के रईसों के यहाँ दरबान हो रहे थे या छोटे-मोटे राजा-ताल्लुकेदारों के यहाँ जा-चिपके थे—जो बचे थे वे इधर-उधर लूट-पाट कर रहे थे। खेती करने को छोटी जातियों का काम मानते थे। खुद निरालाजी के पिता इसी चक्कर में मिदनापुर जा पहुँचे थे। किसी भी कुशल नेतृत्व के अभाव में बिखरे और साधन-हीन ये लोग और कितने दिनों लड़ते? बाद में, पराजय और हताशा में इनके सारे प्रयत्न यही होते रहे कि जैसे भी हो, इन्हें फिर से फौज में भरती

करने का सिलसिला चालू हो जाए...मगर अवधी सिपाहियों या पुरबियों की फौजी भरती की यह निषेधाज्ञा, शिमला-कांफ्रेंस में लॉर्ड किचनर की कोशिशों से 1905 में ही वापस ली जा सकी।

इस सबके जरिए मैं इसी तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि उस समय के राजा और रईस ही नहीं, लगभग सारे लोग अपनी वफादारियाँ नए राजा की सेवा में अर्पित करने को बेचैन थे, हर आदमी दरबार में शामिल होना चाहता था। उन्होंने अपने पुराने मालिकों के साथ तो गद्दारी की ही थी, नए के प्रति भी कहीं उनके हाथों 'गलत' हो गया था। और अब जैसे भी हो नए राजा के दरबार में ही स्वीकृति और सम्मान पाने की कोशिश करनी है—यही तत्कालीन मानसिकता हमें भूतनाथ के मनोविज्ञान को समझने में मदद दे सकती है। और वही अकेला क्यों, बाकी सभी तो जैसे भी बन पड़े धन और शक्ति पाकर अपने को फिर से स्थापित करना चाहते हैं—यही तो 'चन्द्रकान्ता' का कथ्य है! गालिब भी तो विभिन्न दरबारों में स्वीकृति या वजीफे पाने के लिए ऐसे ही क्षमा-याचना के पत्र लिख रहे थे—नवाब रामपुर से लेकर महारानी विक्टोरिया तक। मैं मानता हूँ कि यह कथन कहीं हमारी राष्ट्रीय भावना को चोट पहुँचाता है, लेकिन हमें उस समय की ठोस वास्तविकता को नजरंदाज नहीं करना चाहिए। व्यापक असन्तोष को अभिव्यक्त करनेवाली कांग्रेस का भी तो कोई रूप तब तक सामने नहीं आ पाया था। राजा वीरेन्द्रसिंह की अप्रत्यक्ष मदद करके, उनके विश्वस्त अनुचरों और ऐयारों को विश्वास में लेकर या दूसरी तरह माफियाँ माँगकर जैसे भी हो, दरबार में प्रतिष्ठा और इज्जत पाने को व्याकुल भूतनाथ, यहाँ एक सामान्य प्रवृत्ति के रूप में ही हमारे सामने आता है व्यक्ति के रूप में नहीं।

लेकिन जैसा कि मैंने शुरू में ही कहा, ऐयारों का मसला इतना सरल नहीं है और न ही भूतनाथ या उसके माध्यम से व्यक्त होनेवाली यह प्रवृत्ति ही इतनी इकहरी या सपाट है। उसमें मध्यवर्गीय जटिलताओं, अन्तर्विरोधों का बेहद ही संश्लिष्ट रूप गुँथा है। स्वामी के प्रति वफादारी या नमक अदायगी के संस्कार, सुरक्षा-सम्मान की आकांक्षा और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की चेतना या दबंगई दोनों का संघर्ष वहाँ साफ और समानान्तर है। 'दरबार' में उसे इस गुमनाम, भगोड़ी और चोरों जैसी खतरों-भरी जिन्दगी से मुक्ति के साथ-साथ सुरक्षा और सम्मान दोनों मिलेंगे...मगर फिर उसका लालच, निष्कलंक हो जाने की तड़प, दुश्मनों को ठिकाने लगाने का हिंस्र संकल्प, खतरों से खेलने का दुस्साहस, भयंकर आत्मविश्वास? सच पूछा जाए तो हरेक के प्रति उसके सम्बन्ध या रवैये दुविधा, द्वैत में बँटे हैं...वह राजा के दरबार में भी बहुत खुले और बेबाक मन से नहीं जाता। वहाँ भी उसने अपने 'व्यक्तित्व' के बचाव के अनेक कवच धारण किए हुए हैं।

'चन्द्रकान्ता' के अन्तिम हिस्से में 'दीवार कहकहा' को राजा वीरेन्द्रसिंह अपने मनोरंजन के लिए तैयार कराते हैं। बड़ी परकोटेनुमा जगह और साथ लगी सीढ़ियाँ। जो भी ऊपर जाकर दूसरी तरफ झाँकता है वह कहकहे लगाकर हँसते-हँसते भीतर कूद जाता है। इस तिलिस्मी चक्कर में कुँवर इन्द्रजीतसिंह इत्यादि काफी पहले कूद

चुके हैं। खत्रीजी का कहना है कि ऐसी 'दीवार-कहकहा' की बात अखबारों में निकल चुकी है और उसका होना साबित हो गया है। यहाँ उनका तर्क है कि दीवार में बिजली के करंट और दूसरी तरफ की गैस कुछ ऐसे प्रभाव डालती है कि झाँकनेवाला आदमी बेसाख्ता हँसते-हँसते अन्दर छलाँग लगा देता है। खत्रीजी के जमाने के अंग्रेजी शासन और व्यवस्था का कैसा सटीक दृश्य है—राजा वीरेन्द्रसिंह और उनके परिवार के लोग बैठे हैं और उनके सामने एक से एक बढ़कर ऐयार आकर सलाम बजाते हैं, सीढ़ियाँ चढ़ते हैं और ठठाकर हँसते हुए खुशी-खुशी दूसरी ओर छलाँग लगा देते हैं। इस तकनीकी जादू में सब हँसते-हँसते कूदते चले जा रहे हैं। सिर्फ भूतनाथ है जो दीवार पर चढ़ता जरूर है, लेकिन न हँसता है और न उधर कूदता है। वह इस 'जादू' से एकदम अप्रभावित और अपना पूरा बचाव किए हुए है; बुरादे भरे बेडौल कपड़े पहने, मुँह और नाक पर ढाटा बाँधे हुए...उसे पता है कि बुरादे को भेदकर बिजली अपना असर दिखा नहीं पाएगी और साँसों से गैस को दूर रखेगा मुँह पर बँधा हुआ कपड़ा ...दूसरे शब्दों में वह इस 'मनोरंजन' में शामिल जरूर होता है मगर अपने को पूरी तरह बचाए हुए, सारी सावधानी के साथ और अपनी शर्तों पर...

बचाव, प्रतिरक्षा और बे-असर; इस तिलिस्मी चक्कर से—जो विदेशी टैक्नोलोजी का भारतीय प्रत्यारोपण मात्र है—बेदाग निकलने की क्रिया क्या मेरी स्थापनाओं का समर्थन नहीं करती?

घृणा और प्यार की यह अन्तर्विरोधी, लेकिन संकुल सम्बन्ध-प्रक्रिया एक और भी सवाल हमारे सामने रखती है, यही सवाल मुझे काफी चकित करता रहा है! 'चन्द्रकान्ता' का उद्देश्य चाहे जैसी दिलचस्प-मनोरंजक कहानी सुनाना रहा हो और उनके कथानक चाहे जितने कपोल-कल्पित हों या उसे तथाकथित ऐतिहासिकता का जामा पहनाया गया हो—उसमें कहीं भी तत्कालीन राजनैतिक स्थिति सीधे-सीधे क्यों नहीं आती? कथा में साक्षात् किसी भी विदेशी सत्ता का न होना आकस्मिक है या सुविचारित? स्वतन्त्रता से पहले जिन लोगों ने भी ऐतिहासिक या ऐतिहासिक-कल्पना पर आधारित उपन्यास-नाटक लिखे हैं, उन सबमें विदेशी आक्रमणकारी मौजूद हैं। उनके रूप-नाम-जाति इत्यादि बदले हुए हैं, मगर वे वहाँ हैं जरूर! चाहे बंकिम, प्रसाद हों या कन्हैयालाल मुंशी और चतुरसेन या वृन्दावनलाल वर्मा—ये विदेशी-आक्रमण या शासन सब में हैं। इन लेखकों की 'राष्ट्रीयता' यही है कि वे सब-के-सब भ्रष्ट, बर्बर, हिंस्र दिखाए गए हैं—और इनकी तुलना में भारतीय, अद्भुत रूप से कुशल, पराक्रमी और नैतिक-धार्मिक हैं। यह सब कहीं-न-कहीं अंग्रेजी शासन और उसके ख़िलाफ सांस्कृतिक या राजनैतिक प्रतिरोध (प्रोटैस्ट) के रूपक बनकर आए हैं। मगर 'चन्द्रकान्ता' ही ऐसा 'ऐतिहासिक' उपन्यास है जिसमें एकाध जगह तिलिस्मी नौकरों के सिवा विदेशी उपस्थित कहीं भी नहीं है—बाद के उपन्यासकारों की प्रिय तरकीब—मुसलमान आक्रांताओं के रूप में भी नहीं। हो सकता है इसका कारण यह रहा हो कि इस तरह की ऐतिहासिकता, में रूपक या अन्य छूटों की सुविधा है, समसामयिक कथानकों में उसे सीधा राजद्रोह ही माना जाता। इसीलिए तत्कालीन समाज का चित्रण करनेवाले

'सौ अजान, एक सुजान', 'नूतन-ब्रह्मचारी' जैसे उपन्यासों ने अपनी चिन्ता और चित्रण का केन्द्र सामाजिक समस्याओं को ही रखा है, राजनीति कहीं नहीं आने दी है। इसी तर्क से यह नतीजा भी निकाला जा सकता है कि 'चन्द्रकान्ता' में विदेशियों की अनुपस्थिति ही प्रमाणित करती है कि अपनी सारी 'ऐतिहासिकता' के बावजूद उपन्यास की एप्रोच सामाजिक ही है।

उस समय के इन सामाजिक उपन्यासों में राजनीति बहुत टेढ़े और तिरछे ढंग से ही आ पाई है, अपने पुराने मूल्यों की श्रेष्ठता में या 'पश्चिमी सभ्यता' के कुप्रभाव के रूप में...लेकिन इस संघर्ष के लिए खत्रीजी से पहले या उनके समकालीनों में सामाजिक स्थितियाँ तो ली ही हैं। 'चन्द्रकान्ता' में तो वे भी नहीं हैं। जैसा मैंने कहा, सामाजिक और सांस्कृतिक धरातल पर खत्रीजी का प्रतिरोध भी कम नहीं है और वे अपने साथियों जैसे ही जागरूक कथाकार हैं। तब फिर परिवेश का यह सचेत बहिष्कार क्यों है? उनके लिए तो 'ऐतिहासिकता' साथी उपन्यासकारों की तरह रूपक नहीं, स्वयंसिद्ध सत्य बनकर आई है! यह भी सही है कि अपनी पुरानी सामन्ती गरिमा के प्रति उस समय के सारे उपन्यासकार श्रद्धापूर्ण मोह पाले हुए हैं, मगर खत्रीजी के यहाँ तो यह मोह नहीं, वास्तविकता है। चुनार, नौगढ़, विजयगढ़, रोहतासगढ़—सभी राज्य इतने अधिक स्वायत्त, आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र हैं और एक-दूसरे पर ऐसी आसानी से आक्रमण या अधिकार करते हैं कि ऐसी स्वायत्तता की कल्पना शताब्दियों से राजस्थान के रजवाड़े भी नहीं कर सकते—वहाँ तो हमेशा मुगल-साम्राज्य की छाया उनके हर फैसले पर मँडराती रही है। 'चन्द्रकान्ता' में तो फौजें भी पूर्व-मध्यकालीन ढंग, या ठीक उर्दू-दास्तानों के अंदाज में आमने-सामने खेमे डालकर मोर्चे बनातीं और मैदान में लड़ती हैं।

हाँ, तो किसी भी रूप में विदेशी-सत्ता की अनुपस्थिति इस उपन्यास-माला में इतनी अधिक उजागर है कि सोचने के लिए बाध्य करती है। खासतौर से इसलिए भी कि वहाँ सारी-की-सारी विदेशी ईजादें या वैज्ञानिक उपकरण अपने भारतीय-कृत रूप में हर कहीं मौजूद हैं। शायद इसका कारण देवकीनन्दन खत्री के अवचेतन में ही हो...

मनोविज्ञान का एक मोटा-सा प्रसिद्ध सिद्धान्त है : जिसे आप चाहने पर भी भौतिक रूप से नष्ट नहीं कर पाते उसे अपने लिए मानसिक रूप से नष्ट कर डालते हैं। 'भूलने' के पीछे मनोवैज्ञानिक इसी मानसिकता का हाथ बताते हैं : यह 'भूलना' अपने चेतन-अवचेतन मूल में और कुछ नहीं, किसी भी भौतिक स्थिति, या वस्तु का मानसिक अस्वीकार ही है। इस अस्तित्व-नकार के कारण घृणा, अरुचि, उदासीनता, आत्मकेन्द्रित होना या बाकायदा प्रतिरोध कुछ भी हो सकते हैं। यही वजह है कि मुझे 'चन्द्रकान्ता' अपनी स्वायत्तता की स्थापना और किसी भी विदेशी सत्ता के सचेत और निरन्तर नकार की स्वप्नाकांक्षा भरी कहानी भी लगती है। लेखक के लिए जैसे वह सब कहीं है ही नहीं! और जो मानसिकता अंग्रेजों की उपस्थिति तक को नकार रही है, वह उनकी व्यावहारिक कुशाग्रता, रण-कौशल, चातुरी और बुद्धिमत्ता या आविष्कारों

की नवीनता, वैज्ञानिक उपलब्धियों; मशीनी-तकनीकी वर्चस्वता को कैसे स्वीकार कर लेगी? खत्रीजी के लिए या तो वर्तमान है ही नहीं, और है भी तो उससे लाख दर्जे श्रेष्ठ हमारे पुरखों के पास था...बेहद कमजोर और दयनीय लड़ाई थी यह। और यहीं मुझे स्टीफेन ज्विग की प्रसिद्ध कहानी याद आती है जिसका नाम शायद था 'अदृश्य खजाना'—दुनियाभर की नायाब चीजों को जमा करनेवाला बूढ़ा पुरातत्त्ववेत्ता युद्ध में खुद ही अन्धा नहीं होता, बमबारी में उसके खजाने से भरे तहखाने भी तहस-नहस हो जाते हैं, या लुट जाते हैं। युद्ध के बाद उसे किसी तरह फिर वहीं आने का मौका मिलता है। बेहद आग्रह पर वह वहाँ लाया जाता है जहाँ कभी उसका संग्रहालय हुआ करता था। अपने अन्धे होने के बावजूद फिर से वहाँ आ पहुँचने के उत्साह और उल्लास में सारी दुनिया से बेखबर वह घूम-घूमकर अपनी चीजों और तस्वीरों के बारे में बताने लगता है; देखो, वहाँ उस कोने में वह तस्वीर है, फलाँ महान चित्रकार ने उसे बनाया था, उस दीवार पर वह मूर्ति है, इस सीढ़ी के बाद यह पांडुलिपि है। देखो, यह सारा संग्रह कितना समृद्ध है, पुराना और कीमती है और एक-एक चीज कैसी कठिनाई और खोज-बीन के बाद प्राप्त की गई है। ...देखनेवाले पाठक जानते हैं कि वहाँ न कोई तस्वीर है, न मूर्ति, वहाँ सिर्फ टूटे-खम्भे और उखड़ी-चिथड़ी दीवारे हैं, मलबा और कचरा है...दयनीय यह है कि इस पुरातत्ववेत्ता को स्वप्न में भी खयाल नहीं है कि संग्रहीत वस्तुओं और खुद उसके बीच पूरा एक महायुद्ध गुजर गया है ...और अब सारी चीजें सिर्फ उसके दिमाग में ही सुरक्षित हैं...

खत्रीजी के ये सारे तिलिस्मी चमत्कार, ये आदर्शवादी, परम-नीतिवान, न्याय-प्रिय सत्य-निष्ठावान राजा और राजकुमार, परियों जैसी खूबसूरत और अबला नारियाँ—या बिजली की फुर्ती से जमीन-आसमान एक कर डालनेवाले ऐयार—सब एक खूबसूरत स्वप्न के ही प्रक्षेपण हैं...आस-पास फ्रैली ठीक इसकी उलट दुनिया से बच निकलने के चोर दरवाजे...या पलायन-द्वार। मगर हिन्दी के शास्त्रीय समीक्षक जब इसको सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में या अन्वेषकीय दृष्टि से न देखकर सिर्फ सपाट ढंग से इसकी रोचकता, या इसमें आई भारतीय गरिमा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तो तरस ही आता है। शायद ही कोई सोचता हो कि कहाँ कौन-सा झूठ भारी पड़ गया है कि सारी स्थितियाँ, सारे चरित्र इतने उथले, इकहरे, निर्जीव और निष्प्राण हो गए हैं। काश, खत्रीजी आस-पास से इस तरह आँखें न फेर, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों की द्वन्द्वात्मक कशमकश को सीधे या तिरछे ढंग से ला-पाते जो बदलते समाज की सच्चाई थी! हो सकता है तब इन चरित्रों में कहीं कुछ गहराई आ पाती और वे तिलिस्मी पुतलों की तरह खुद भी पुतले न लगते जिनके बटन या डोरियाँ खत्रीजी के हाथ में हैं...क्योंकि खत्रीजी सचमुच हिन्दी के वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने समय की इस अनिवार्यता को गम्भीरता से पकड़ा कि उपन्यास औद्योगिक सभ्यता की ही उपज है और पुराने-नए मूल्यों के द्वन्द्व से ही उसका जन्म होता है।

मगर जिस तरह खत्रीजी के न चाहने पर, या अनजाने ही समाज का मानस और नैतिक-सांस्कृतिक संक्रमण उपन्यास में व्यक्त हुए हैं उसी तरह उनके सारे कठपुतले

पात्रों के बीच 'भूतनाथ' जैसा चरित्र आया है। बाकी चरित्रों के प्रति लेखक का रवैया और धारणा एकदम साफ है, वही एक व्यक्ति है जिसके बारे में वे कुछ भी निर्णय नहीं कर पाते, हमेशा ही दुहरा और दुभांतवाला रुख दिखाते हैं। कहीं उसे अपना अंशदान देकर सबल और सजीव बनाते हैं तो कभी अपने ही इस रूप को बर्दाश्त न कर पाने के कारण उससे दुश्मनी निभाते दीखते हैं।

जब सामनेवाली सच्चाई या तो इतनी उलझ जाती है कि सही-गलत का भेद, काले-सफेद का अन्तर नहीं रह जाता या अपनी सारी विश्वसनीयता खो देती है तो कथा-साहित्य में व्यंग्य और फैंटेसी का जन्म होता है। 'चन्द्रकान्ता' भी इसी अर्थ में फैंटेसी है। यहाँ भी हर आदमी जो दीखता है, वह नहीं है। सामने मित्र या साथी का रूप धरे दुश्मन या दुश्मन का ऐयार है : कहीं कोई कान हैं जो आपकी सारी बातें सुनकर, जानकर उन्हें आपके खिलाफ ही इस्तेमाल करेंगे--यह भय, असुरक्षा और आशंका ही अपना या आपसी सारा व्यवहार तय करती है। ऐसे में बार-बार अपनी वफादारियाँ तय और स्थगित-स्थापित करने की मजबूरी पैदा होती है, क्योंकि हर आदमी अपना जैसा रूप रखकर खुद अपने आपको और दूसरों को धोखा दे रहा है। ये सब 'चन्द्रकान्ता' की मूल चेतना हो सकती हैं, मगर जिस अकेले आदमी में यह द्वन्द्व सबसे मुखर है वह यही भूतनाथ है। वह कभी तिलिस्मों और खंडहरों और गुफाओं में मुँह छिपा लेता है तो कभी खुले मैदान और जंगलों में निकल आता है। मगर चैन उसे कहीं नहीं है।

भूतनाथ में न केवल वासना, लालच, प्रतिशोध की सहज मानवीय कमजोरियाँ अपने आदिम रूप में हैं, बल्कि द्वन्द्व, पश्चात्ताप, ग्लानि और इन सबसे ऊपर उठ सकने का प्रयास भी इसी में सबसे अधिक है। कुचलती और भींचती सीमाओं के बीच टूटना एक बहुत बड़ी वास्तविकता हो सकती है, मगर उन्हें संक्रमित करने का संघर्ष ही किसी चरित्र को गत्यात्मकता देता है। हो सकता है 'गोदान' का होरी अन्त में हार ही गया हो; मगर उसके चरित्र की सारी गहराई और गति इसी संघर्ष से आई है। भूतनाथ के दुश्मन भी कहीं बाहर नहीं, उसके अपने भीतर ही मौजूद हैं। हालाँकि उसका अन्त महाराजा सुरेन्द्रसिंह की शरण या दरबारदारी में होता है, मगर उसका अपराध-बोध, अतीत से मुक्त होने की जी-तोड़ कोशिश, पुराने स्वामियों के प्रति विश्वासघात, प्रतिहिंसा की आग में औरों के साथ-साथ अपने बेटे तक की हत्या, यहाँ तक कि खुद दो बार अपने को 'मार' कर नया जीवन, स्वच्छ और निष्कलंक जिन्दगी जीने की ललक और लालसा को देखते हुए इस राजकीय छत्र-छाया तक आना उसकी पराजय भी लगने लगती है। वह सामन्तवाद को आच्छादित या स्थानापन्न करती मध्यवर्गीय चेतना है, भयानक अपराधबोध, ग्लानि-दंश से आत्मघात करती और सारे दुश्मनों से प्रतिशोध लेने की तड़प और अतीत की प्रेतात्माओं से घिरा भारतीय मानस भी है जो हर कीमत पर जिन्दा रहना चाहता है...

मुझे लगता है, वह कभी नहीं मरा। उस समय भी नहीं जब दारोगा, जैपालसिंह इत्यादि दुश्मनों को मारने के लिए उसने हथगोला फेंका था और अनजाने ही बारूद

के गोदाम में विस्फोट के साथ अपने आपको भी मरा घोषित कर दिया था; और न तब मरा जब महात्मा बनकर एकान्त में साधना करने के बाद गले में फाँसी लगाकर गहरी घाटी और दुर्दान्त फल्गु नदी के ऊपरवाले पेड़ से लटका दिखाया गया था। उसकी तो वास्तविक हत्या तभी हुई जब उस जैसे कद्दावर आदमी को महाराजा सुरेन्द्रसिंह के बौने दरबारियों के बीच ला बैठाया गया...अपने को वहाँ के सक्रिय प्रभाव से बचाने के लिए वह चाहे जैसे बुरादे-भरे कपड़े पहन ले, मगर निश्चय ही वह 'दरबार' उसका स्थान नहीं था—वह मुसाहिब और दरबारी होकर जन्मा ही नहीं था। उसकी तर्क-संगत परिणति यही थी कि वह एकदम स्वतन्त्र और निर्बन्ध होकर जीता...

किसी भी प्रामाणिक, विस्तृत जीवनी या विश्वसनीय गवाही के अभाव में मैं बिलकुल नहीं कह सकता कि स्वयं लेखक के मन में वह क्या अपराध-बोध या आत्मदंश और पाप-कचोट है जिसे उसने भूतनाथ के भीतर धन के लालच में बदल डाला है और जो उसे एक के बाद एक दलदलों में फँसाता चला जाता है या जिसका एकमात्र निराकरण उन्हें भूतनाथ को दरबारी बना देने में ही दिखाई देता है...हो सकता है यौवन के दिनों में, व्यवसाय के घाटे के बाद अपने बाल-मित्र राजा—के यहाँ आकर रहना और उसकी मृत्यु का दर्शक बनना रहा हो। हो सकता है विभिन्न स्वार्थों या सक्रिय तत्त्वों से घिरी मित्र-पत्नी, यानी युवती रानी, (जिनकी रियासत कोर्ट-ऑफ-वार्ड में आ गई थी और इस अन्तरिम काल में वही उसकी देखभाल करती थीं) के प्रति कर्त्तव्य की भावना से वहाँ उनका लम्बे समय तक टिके रहना हो, या वहाँ बिताया वह समय रहा हो जब दीन-दुनिया की कोई आवाज उन तक नहीं पहुँचती थी और पिता को बाकायदा बनारस के चुने हुए लठैतों की फौज की मदद से उन्हें निकालकर लाना पड़ा था या जिसके परिणामस्वरूप दरबार की नाराजगी भुगतनी पड़ी; या फिर ठेके के दिनों की गलतियाँ रही हों जिन्होंने धन को अतिरिक्त महत्त्व दे दिया था और उन्हें लगने लगा था कि धन-प्राप्ति से ही सामाजिक और पारिवारिक पुनर्प्रतिष्ठा प्राप्त की जा सकती है—बहरहाल; कुछ भी कह सकना बड़ा मुश्किल है कि वह 'गलत' क्या था जिसके खुल जाने की दहशत ने भूतनाथ को बनाया...

खत्रीजी अगर जीवित होते तो मैं जरूर उनसे पूछता कि क्या वे सचमुच भूतनाथ को यहीं लाना चाहते थे? ...तब फिर दुर्गाप्रसाद खत्री के अपने उपन्यासों में आनेवाला वह चरित्र कौन है जो भारतीय स्वतन्त्रता के लिए सशस्त्र क्रान्ति का झण्डा उठाता है, अपनी वैज्ञानिक तेजस्विता से अंग्रेजों के छक्के छुड़ा देता है...और जैसा कि मैंने पुनरावृत्ति का खतरा उठाकर अनेक बार कहा है, भूतनाथ तो ऐयार है, इसलिए उसकी किसी भी 'मौत' पर मुझे भरोसा नहीं है—चाहे वह खुद उसके अपने हाथों हुई हो या लेखक ने की हो...

एंटन पाब्लोविच चैखव : एक इंटरव्यू

(जो केवल पचास वर्ष का अन्तर पड़ने से नहीं हो सका)

मॉस्को की सरदी और दिन-छिपे का समय था। गजब का कोहरा पड़ रहा था। हम लोग इसके जरा भी अभ्यस्त नहीं थे; हालाँकि जून का महीना था, लेकिन हमारे यहाँ तो भरपूर जाड़ों में भी इससे थोड़ा कम ही जाड़ा पड़ता होगा। इस समय निकलने की हिम्मत नहीं हो रही थी, खासतौर से किसी भले आदमी से मिलने में तो मौत-सी लगती थी। चैखव की तबियत बहुत अधिक खराब है, यह मैं सुन चुका था। पहले भी दो-एक बार मिलने की कोशिश की, लेकिन उनकी बीमारी की वजह से सम्भव नहीं हो सका। तीन हफ्ते पहले ही वे याल्टा से आए थे; और डॉक्टरों की सलाह थी कि उन्हें पूरी तरह आराम मिलना चाहिए। इसके अगले ही दिन वे स्वास्थ्य सुधारने के विचार से, बेदिनवील के स्वास्थ्य-केन्द्र के लिए जर्मनी जा रहे थे; अतः जैसे-तैसे हमने उनसे मिलने का एक घंटे का समय निश्चित कर लिया था। निरंजन इस बात से नाराज था कि एक लेखक, वायसराय की तरह इतना प्रयत्न करके मिले। वह बार-बार कहता—"छोड़ो भी, क्यों इतनी मुसीबत उठा रहे हो? चलो कहीं रेस्त्रां वगैरा में बैठें।" मैंने उसे समझाया—"भाई, तुम मुझे बताओ, टॉल्सटॉय के अलावा इस समय कौन इतना बड़ा लेखक रूस में है? गोर्की...भले ही समझ लो। रही मिलने की बात! सो एक तो वे इतने बीमार हैं; दूसरे, हमारे यहाँ ही देखो—जिसने दो किताबें लिख लीं, घर के दरवाजे पर, मिलने के समय का बोर्ड लटका दिया। और कहीं वह लेखक किसी छोटे-मोटे प्रदेश का मन्त्री हो गया तो फिर बात ही क्या—उसे तो तुम नैपोलियन ही समझो!" तो खैर, हम लोग अपने-अपने चेस्टरों में इस तरह लिपटे हुए थे कि चैखव की कहानी 'खोल में आदमी' बार-बार याद आ रही थी। निश्चित जगह पर पहुँच कर हमने घण्टी बजाई, तो वही लम्बा-चौड़ा तुर्क—मुस्तफा प्रकट हुआ। इसे हिन्दुस्तान की बातें सुनाकर हमने काफी जान-पहचान कर ली थी। यह बड़ा ही खुशमिजाज था, और याल्टा से चैखव के साथ ही यहाँ आया था।

मुस्तफा हमारा कार्ड लेकर भीतर गया ही था कि दरवाजा खोलकर एक ऊँचा-लम्बा-तगड़ा, कंजी आँखों वाला आदमी निकला, और हमसे यह कह कर कि—"वे अभी आपको बुलाते हैं" एक ओर चला गया। यह आदमी हमें कुछ पहचाना हुआ-सा लगा, लेकिन याद नहीं आया। सूरत-शक्ल से आवारा-सा लगता था। मैं और निरंजन उसके बारे में बातें कर ही रहे थे कि फिर मुस्तफा आया। कुछ गैलरी, कुछ सीढ़ियाँ पार करके हम एक कमरे के दरवाजे पर पहुँचे। मुस्तफा ने दरवाजा खोल दिया और

हम लोगों ने भीतर प्रवेश किया।

सामने ही गद्दियों से लदे हुए सोफे पर, ओवरकोट या ड्रेसिंग-गाउन पहने एक पतली-दुबली मानव-मूर्ति बैठी थी, पैरों पर एक कम्बल पड़ा था—यही चैखव थे। देखने में बहुत छोटे, और उनके कन्धे बड़े सिकुड़े हुए थे। बड़ा ही रक्तहीन चेहरा—उनके चित्रों से मिलाकर देखने पर जिसे पहचानना बड़ा ही कठिन था। शायद इतने परिवर्तन की हम लोगों ने कल्पना भी नहीं की थी। कमरे में एक खिड़की के सहारे एक बिस्तर बिछा था, और एक ओर लिखने की मेज पर हरे शेड वाले टेबल-लैम्प की रोशनी में एक महिला-मूर्ति बैठी, किसी पत्रिका के पन्ने पलट रही थी। लैम्प की हरी रोशनी में साँझ का धुँधलापन डूबता जा रहा था।[1]

"आइए!"—बड़े निर्जीव स्वर में उन्होंने स्वागत में हाथ बढ़ाया—वह पतला-दुबला और झुर्रियोंदार हाथ, उस ओर देखने में न जाने कैसा-कैसा लगता था। आँखों की चमक और मुस्कराहट गायब हो चुकी थी। उनके संकेत पर हमलोग सामने पड़ी कुर्सियों पर बैठ गए। हमने हाथ जोड़कर उनका अभिनन्दन किया।

वे मुस्कराकर बोले—"तो आप हिन्दुस्तान से आ रहे हैं?"

"जी!"—मैंने इस डर से कुछ संकुचित स्वर में उत्तर दिया कि इतने अधिक अस्वस्थ व्यक्ति से अधिक प्रश्नोत्तर करना, व्यर्थ ही कष्ट पहुँचाना है।

इस पर वे कुछ विचित्र तरह हँस पड़े, बोले—"उत्तरी हिन्दुस्तान से न? —बस वही जगह देखने की मेरी बड़ी आकांक्षा थी, लेकिन उस समय इतनी जल्दी में था कि लंका से ही लौट आना पड़ा।" और फिर जैसे पलकें बन्द करके किसी चीज को कल्पना में देखकर वे स्वयं ही हँस पड़े—"वह भी क्या देश है! सिंगापुर की तो मुझे याद नहीं है, क्योंकि तब मेरी तबियत काफी खराब थी। दूसरे, हम लोगों ने दो व्यक्तियों को पानी में डाला था। वे लोग 'सी-सिकनेस' से मर गए थे—आह, वह दृश्य! जब एक क्षण पहले हँसता-बोलता आदमी, सफेद कफन में लपेट कर पानी में फेंक दिया जाता है—और जो शायद समुद्र की मीलों गहराई में पैठता चला जाता है। मेरी इच्छा तो बुरी तरह रो पड़ने की हो रही थी...।"[2]

"शायद यही दृश्य आपकी 'गुसीव' कहानी की प्रेरणा है?" —मैंने बीच में बात काटी। इतने बीमार आदमी को इतने उत्साह से बातें करते देखकर हमारा संकोच मिट गया। बाद में सुना कि यह चैखव का स्वभाव था। अपनी मृत्यु से सिर्फ तीन-चार मिनट पहले, वे ओल्गानिपर को ऐसी मजेदार कहानी सुना रहे थे कि वह लोट-पोट हो गई थीं। हमने एक बार उस महिला की ओर देखा, वह पत्रिका में लीन थी। फिर मैं बोला—"हैमक में लटका हुआ गुसीव जब समुद्र में फेंक दिया जाता है, तो लड़-झगड़ कर मछलियाँ उसे खा जाती हैं।"

"गुसीव...? हाँ, यों ही।" —उन्होंने बात टालकर पहली बात जारी रखी—"क्या कह रहा था मैं? —हाँ, हिन्दुस्तान का तो सिर्फ वही हिस्सा देख पाया। लंका—आह! बिल्कुल स्वर्ग जैसा है! कोलम्बो में उतर कर, रेल से मैंने वहाँ की सौ मील धरती देखी थी—उस अनुभव को कह नहीं सकता। मैंने उस वक्त किसी को लिखा भी था,

कि ऐसे सुन्दर दृश्यों के लिए मैं शायद अपने-आपको चाण्डाल के हाथों भी बेच देता।" फिर वे खुद ही कोई बात याद करके बड़े जोर से हँस पड़े—"आपको पता है, मैंने सुवोरिन को क्या लिखा था?" वह फिर रुके—"मैंने लिखा था कि जब मेरे बच्चे हो.जाएँगे, तो मैं गर्व से उनसे कहूँगा—'अबे गधो, अपने जमाने में मैंने एक काली आँखोंवाली हिन्दू लड़की से भी प्रेम किया है—कहाँ? एक चाँदनी रात में, और उस जगह—जहाँ नारियल के पेड़ आपस में गुँथकर कुंज-सा बना लेते हैं।' समझे? ...है न बेवकूफी की बात?"

हमने देखा कि वह बीमार व्यक्ति पुरानी स्मृतियों के बीच पुनः जीवन्त हो उठा था। हम लोग इंटरव्यू लेने आए थे, अतः उनकी मानसिकता के इस प्रवाह को रोकना उचित न समझा। निश्चय किया कि इसी में से आवश्यक प्रश्न उठाएँगे। अँधेरा अब इतना बढ़ गया था कि एक-दूसरे के चेहरे दिखाई नहीं देते थे।

"ओल्या, जरा बत्ती जला दो।" —चैखव ने उस महिला की ओर मुड़कर कहा, फिर हमारी ओर देखकर बोले—"आप इनसे तो परिचित नहीं होंगे न!"

हम लोगों ने नकारात्मक सिर हिलाया। उस महिला ने उठकर बत्ती जला दी। वह एक साया पहने थी। उसका सौन्दर्य दूर से ही आकर्षित करता था। उसने जैसे सख्त अनिच्छा से हमारी ओर हाथ जोड़कर नमस्कार किया। हमें उसका यह व्यवहार बड़ा ही विचित्र लगा।

"ये हैं मेरी पत्नी ओल्गानिपर—'मॉस्को आर्ट-थियेटर' की सबसे बड़ी अभिनेत्री।" फिर पत्नी की ओर देखकर, जैसे उसे मनाते हुए हँसकर बोले—"आज ओल्या मुझसे बहुत नाराज है! अभी जरा देर पहले लेखक तेलेशोव आए थे; उनसे मैंने कह दिया था बातों-बातों में, कि मैं कल जा रहा हूँ—कहीं मरने के लिए। बस, इसी बात पर नाराज है कि मैंने ऐसा क्यों कहा..."

हमने एक बार फिर महिला के मुँह की ओर देखा, इस बात पर अपने पति को वर्जन करती उसकी तीखी दृष्टि हमसे बच न सकी। उसने कस कर मुँह बन्द कर लिया था और मुख-मुद्रा कठोर बना ली थी।

"अब आप ही सोचिए"—चैखव कह रहे थे—"जिस व्यक्ति को दिन में दो बार खाँसी के साथ ढेर-सा खून जाता हो—बचपन से ही जो चार दिन लगकर स्वस्थ नहीं रह पाया हो—नतीजा, वह चौवालीस साल में चौरानवे साल का लगता हो; पिछले साल डॉक्टर ओस्त्रोमीव ने जिसके फेफड़े में टी.बी. बता दी, दाहिना तो बहुत खराब बताया—प्लूरिसी बताई, और भी न जाने क्या बता डाला[3]—उसके कहने के अनुसार तो मुझे याल्टा से मॉस्को भी नहीं आना-जाना चाहिए—अब आप ही बताइए, ऐसे आदमी के मरने का क्या ठीक? इनका कहना यह है कि आपको जब डॉक्टर ने मना कर दिया है, तो चुप बैठिए। आप सच मानिए राजेन्द्रजी, मैं बिना बोले नहीं रह सकता। और फिर अब तो बाहर जा रहा हूँ—सबसे हँस-बोल लें, पता नहीं फिर कब मिलना हो! ओल्या, तुमने मरते हुए आदमी से बँधकर अच्छा नहीं किया।"

"मैं कहती हूँ, आप चुप रहिए!" —इस बार उस महिला ने जरा तेज और

अधिकारपूर्ण स्वर में कहा। उस महिला की उपेक्षा और उदासीनता को हमने अब समझा।

"अच्छा भाई, अब चुप हुआ जाता हूँ—नहीं कहूँगा कुछ...लेकिन तुम रूस की सबसे प्रसिद्ध अभिनेत्री थीं, चाहती तो रूस के बड़े-से-बड़े आदमी के साथ शादी कर डालतीं, लेकिन तुमने चुना एक फटीचर लेखक।" —फिर मजाक खत्म करके बोले—"कुछ चाय-कॉफी तो इन्हें पिलाओ—क्या कहेंगे ये, हिन्दुस्तान जाकर?" फिर हमारी ओर देखकर कहा—"आप जानते हैं, इन्होंने मुझसे शादी कैसे की?"

"नहीं, यह तो हम खुद ही पूछने वाले थे।" —हम प्रसन्न हो उठे। महिला बाहर चली गईं।

"शायद दिसम्बर 1898 की बात है, दो साल पहले मेरा नाटक 'समुद्री चिड़िया' बुरी तरह स्टेज पर फेल हो चुका था। दूसरी बार जब वह 'मॉस्को आर्ट-थियेटर' में स्टैनिस्लेव्स्की वगैरा के द्वारा खेला गया तो बेहद सफल रहा; लेकिन उसके और 'शो' इसलिए नहीं चल सके कि आर्कदीना का अभिनय करने वाली लड़की अचानक अस्वस्थ हो गई—खेल स्थगित हो गया। मुझे बहुत ही गुस्सा आया। यह मेरा दुर्भाग्य ही रहा है कि जब-जब मेरे खेल स्टेज पर गए हैं, उनके साथ कुछ-न-कुछ गड़बड़ी रही है। थियेटर का और मेरा तो कुछ छत्तीस का सम्बन्ध है।' लेकिन उत्सुकता मुझे तभी से थी कि देखें, ऐसी नाजुक मिजाज कौन-सी लकड़ी है। देखा मैंने इसे उस समय, जब मॉस्को में मेरे लिए 'समुद्री चिड़िया' को व्यक्तिगत रूप से खेला गया। इससे पहले मैं याल्टा में तड़पता रहता था; डॉक्टरों ने जाड़ों में जाने को मना कर दिया था, इसलिए उन्हें गालियाँ दिया करता था। फिर तो ओल्गानिपर मुझे इतनी अच्छी लगी कि मुझे मॉस्को में न रहना बेवकूफी लगता।[5] बाद में जब मॉस्को आर्ट-थियेटर को मैंने 'वान्या चाचा' दिया, तब 'समुद्री चिड़िया' के सभी पात्रों के साथ एक फोटो-ग्रुप हुआ। मैं निपर की ओर खिंचता गया, उन्हीं दिनों तीन दिन वह 'मिलीखोवो' में भी मेरे साथ रही। फिर तो समझिए कि बीच की दूरी कम होती ही गई—लेकिन विवाह के मैं शुरू से ही खिलाफ था...।"

"क्यों? तो क्या आप लोगों ने विवाह नहीं किया?"—निरंजन पूछ बैठा। हम लोग ध्यान से उनकी बातें सुन रहे थे।

"नहीं, शादी हम लोगों ने तीन साल पहले 25 मई, 1901 में की; लेकिन विवाह के विषय में मेरे विचार बड़े विचित्र हैं। पहले जब मैं अपने 'मिलीखोवो' के मकान में रहता था, तब मेरा विचार था कि शादी जरूरी होगी, लेकिन जो लड़की मुझसे विवाह करेगी उसे मॉस्को में ही रहना होगा। मैं गाँव में रहूँगा। जो जैसा है वैसा ही रहेगा, उसमें जरा भी परिवर्तन नहीं होगा। मैं कभी-कभी उससे मिलने मॉस्को पहुँच जाया करूँगा; क्योंकि प्रसन्नता का इतना बोझ—सुबह से शाम और शाम से सुबह तक की प्रसन्नता का बोझ सहने में मैं असमर्थ हूँ। अपने वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में जब लोग रोज-रोज मुझसे एक ही बात कहते थे, तो मैं खीझ उठता था। मुझे तो चाँद-जैसी पत्नी की आवश्यकता है, जो आसमान में रोज-रोज न दिखाई दे।"[6]

"और अब?" —मैं प्रश्न किए बिना न रह सका।

"अब भी यही बात है। ओल्या मॉस्को में काम करती है और मैं यहाँ कभी-कभी आ जाता हूँ, या यही वहाँ याल्टा पहुँच जाती हैं। हम लोग कभी एक-दूसरे के लिए बाधा नहीं बनते। वैसे एक-दूसरे के बारे में हम लोग उदासीन हों, ऐसा जरा भी नहीं है[7]—मैं थोड़ा भी बीमार हो जाऊँ, तो ओल्या पत्रों में उपदेशों का ढेर लगा देती है। और पिछले दिनों तो बाप रे बाप! इसने मेरी आफत कर दी—'तुम लिख नहीं रहे हो कुछ, कुछ लिखो न! लोग यह समझते हैं, मुझसे विवाह करके ही तुमने लिखना बन्द कर दिया है। मेरे लिए लिखो डार्लिंग!' और भी न जाने क्या-क्या लिख-मारती थी। इसको यह जिद ही तो है, जिसकी वजह से मुझे झुकना पड़ता है। मेरे पीछे ही पड़ गई कि हम लोग सम्मिलित जीवन शुरू करें—तब हमारी शादी हुई। और आपको सुनकर ताज्जुब होगा, सिर्फ चार आदमी थे। उस समय मेरे अपने परिवार का तो कोई था ही नहीं। मॉस्को के एक छोटे-से गिरजे में हमारी शादी हुई, और सुहागरात मनाई गई एक्जेनोवो के सैनिटोरियम में—क्योंकि मेरी तबियत खराब थी। अब हम जा रहे हैं, कल, बेदिनवीलर के स्वास्थ्य-केन्द्र में।"

तभी नौकरानी ओल्गा ने हमारे सामने छोटी-छोटी मेजें लाकर रख दीं और उन पर कॉफी के प्याले आ गए। चैखव सोफे पर जरा आराम से लेट गए। हमने बात वहीं से पकड़ी—"यह बीमारी, लगता है आपके पीछे शुरू से ही पड़ी रही। क्या यह पैतृक थी?"

"हाँ, बीमारी से लड़ना मेरा स्वभाव हो गया है। बिल्कुल ऐसा लगता है कि एक दैत्य है, जो हमेशा मेरे सामने रहता है। कभी वह मुझे पछाड़ देता है—कभी मैं उस पर चढ़ बैठता हूँ। मोरोजोव की जमींदारी में जब मैं तिखोनोव के साथ था, तब तो इसने मुझे पीस ही डाला था। उस समय तो मैं करीब-करीब पस्त हो गया था। अभी दो साल पहले की तो बात ही है। लेकिन आप समझ लीजिए, मैं इससे आज तक नहीं हारा। एक नहीं, दर्जनों बीमारियाँ मेरे पीछे लगी रहीं—सबसे भयंकर है यह खूनी बवासीर।[8] कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगने लगता था, जैसे मनुष्य का जीवन खतरों, बीमारियों, मुसीबतों और गन्दगियों से ही बना है—जो या तो इकट्ठी टूट पड़ती हैं या फिर एक-एक करके हमला करती हैं। फिर भी मेरा विश्वास था कि जो लोग मृत्यु से डरते हैं, वे ज्यादा समझदारी की बात नहीं करते।[9] इस तरह मैं बीमारी से लड़ा हूँ।" और जैसे विजय के गर्व की एक मुस्कान उनके होंठों पर आ गई। कॉफी का एक घूँट भरकर बोले—"आपने पूछा, क्या यह बीमारी पैतृक थी?" फिर जैसे डूबकर कहा—"आप शायद नहीं जानते, हमारे बाप-दादा गुलाम थे। मेरे दादा मिखायलोविच चैखव ने जनरल चैरत्खोव को 3500 रूबल देकर अपनी स्वतन्त्रता वापस खरीदी थी, इसके अलावा वे हमारे पिता पॉवेल चैखव के लिए इतनी सम्पत्ति छोड़ गए कि एक अच्छी दूकान चल सके। हम लोग पाँच भाई और एक बहन हैं—(एक भाई मर गया) 17 जनवरी 1860 को मेरा जन्म तागनरोग में हुआ। उस समय तो मेरी समझ में नहीं आता था, लेकिन आज जब उसका विश्लेषण करता हूँ तो सारी बातें मेरे सामने

बिलकुल साफ हो गई हैं। मेरे पिता को एक नशा था। उन्होंने अपने जीवन में ही गुलामी के दिन देखे थे और देखते-देखते ही वे रईस हुए—इसलिए वे हमेशा बड़े रौब से बाहर निकलते थे—बिल्कुल टिप-टॉप! यही नहीं, अपने नौकर-चाकरों से भी वे उसी तरह का व्यवहार करते थे, जैसा उनके मालिक लोग उनसे किया करते होंगे। स्वाभाविक था कि जब उन्होंने जनरल चैरत्खोव से सारी आदतें ली थीं, तो पीटने की आदत कैसे नहीं लेते? हम लोगों को वे इतनी बुरी तरह पीटते थे, कि आज भी याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यही मार थी, जिसने मेरे दो बड़े भाइयों—'अलैक्जैन्द्र' और 'निकोलस' को भयंकर रूप से शराबी बना दिया, और मेरी आत्मा पर एक ऐसा घाव छोड़ दिया कि मैं आज तक उसकी पीड़ा अनुभव करता हूँ। पहला कारण तो मेरे अस्वास्थ्य का यह है!" कहकर साँस लेने के बहाने उन्होंने कॉफी का प्याला मुँह की ओर बढ़ाया।

तभी मैंने सवाल कर दिया—"यह तो मैं मानता हूँ कि एक प्रतिक्रिया ने जहाँ आपके पिताजी को इतना क्रूर और दुर्दान्त बना दिया था, वहाँ दूसरी ने आपमें सम्पूर्ण मानवता के प्रति एक ऐसा प्रेम भी भर दिया, जो आपकी रचनाओं का मूल स्रोत बन गया...।"

"बीच में बात काटने के लिए क्षमा कीजिए"—एकदम वे बोले—"शायद मैंने इसी सम्बन्ध में सुवोरिन को लिखा भी था, कि यदि तुम लिख सकते हो तो एक ऐसे लड़के की कहानी लिखो, जिसे जिन्दगी में सिवा दुःख के कुछ नहीं मिला—अच्छा खाना नहीं मिला, मार के सिवा कभी प्रेम से किसी ने बात नहीं की, स्कूल में हमेशा फेल होता रहा और अछूत की तरह माना जाता रहा। यही मेरा बचपन था।"

"हाँ, जहाँ तक मुझे याद है, अपनी लम्बी कहानी 'तीन वर्ष' में आपने, लैवितन के बचपन के चित्रण में वही अनुभव दिया है...।"

"हाँ।"

मैंने उनकी बात को स्वीकार करके अपनी बात जारी रखते हुए कहा—"लेकिन पिता के इस व्यवहार से उनके लिए आपका क्या रवैया बना?"

"खैर जाने दीजिए, यह बचपन की बात थी। उस समय तो मैं यह सोचता था, कि इन हंटरों की मार के लिए मैं अपने पिता को कभी क्षमा नहीं कर पाऊँगा। लेकिन सत्रह साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते मैं अपनी गलती महसूस करने लगा। मैंने अपने चाचा मिखायल से कहलवाया भी था, कि जब पिताजी से मिलो तो कह देना कि मुझे उनका पत्र मिल गया है, और मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। संसार में माँ और उनके सिवा कौन है, जिसके प्रति मैं इतना कृतज्ञ हूँ! उनके लिए मैं सब कुछ कर सकता हूँ। अगर मैं कभी बड़ा आदमी बना, तो सिर्फ उन्हीं के कारण बनूँगा। उनका अपनी सन्तान के प्रति प्रेम और हजारों मुसीबतों में भी हमारी शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रयत्न—यह सब उन्हें उनकी हर कमी और कमजोरी से ऊपर उठा देते हैं।[10] लेकिन इस सबके बावजूद, मैं स्वीकार करूँगा कि बचपन में मेरे साथ बेहद क्रूर व्यवहार हुआ है। जहाँ भी जरा-सी संवेदना मिली है, मुझे कुछ असाधारण, अस्वाभाविक-सा लगने लगता था। इसी ने मुझे इतना शर्मीला बना दिया।"[11] फिर एक साँस लेकर बोले—"बचपन

के भी क्या दिन थे...हँसी आती है। पिताजी धार्मिक शिक्षा देने के मामले में बेहद कट्टर थे। जब मैं छुटपन में प्रार्थनाएँ गाता–या कहिए मुझसे गँवाई जातीं, तो सब लोग प्रशंसा से देखते; लेकिन मुझे ऐसा लगता, जैसे कोई कैदी खड़ा सजा भुगत रहा हो। और आप देखिए, इन धार्मिक शिक्षाओं की ओर कभी कोई ध्यान नहीं देता। धर्म के नाम पर बच्चों को कैसी-कैसी यातनाएँ दी जाती हैं; मगर जब वे सामने समाज में आते हैं, तो लोग मुस्कराते हैं, तालियाँ बजाते हैं! मेरा तो विश्वास यह है कि धार्मिक शिक्षा से बच्चों का कभी भला नहीं होता। यही वजह है कि बड़े धार्मिक वातावरण में पले हुए लोग आगे जाकर भयंकर नास्तिक बन जाते हैं। मेरा आज धर्म क्या है? कुछ नहीं!''[12] इस बार उन्होंने कॉफी खत्म कर दी। फिर जैसे याद करते हुए कहा–''हाँ, मैं क्या कह रहा था?''

''कि आपके निरन्तर अस्वास्थ्य का पहला कारण तो यह वातावरण था...।'' निरंजन ने याद दिलाया।

''हाँ ठीक''–इस बात से प्रसन्न होकर कि हम लोग काफी ध्यान से उनकी बात सुन रहे हैं, वे बोले–''दूसरा कारण है, मेरा निरन्तर संघर्ष! आप समझिए, मुझे अपने आलसीपने से शिकायत रही, मैं अपने को निकम्मा कहता था, लेकिन इतना बड़ा परिवार और आर्थिक तंगी मुझे हमेशा मारती रही। एक दिन भी मैं चैन नहीं ले पाया...।''

''अभी तो आपने बताया कि आपके दादा काफी पैसा छोड़ गए थे।'' –बीच में ही निरंजन बोला।

''यह तो ठीक है, लेकिन बीच में जब बहुत कर्जा हो गया, तो सब कुछ छोड़ कर पिताजी मॉस्को भाग गए। बाद में पूरा परिवार चला गया। मैं तागनरोग में अकेला कैसे पढ़ता था, क्या करता था–मैं ही जानता हूँ। उधर मॉस्को से पत्र आते थे–'एण्टन, तुम वहाँ मजे उड़ा रहे हो, हम यहाँ भूखों मर रहे हैं।' आप खुद सोचिए, इससे एक बच्चे की दिमागी हालत क्या होगी? जब वहाँ से शिक्षा खत्म करके मॉस्को आया तो डॉक्टरी की पढ़ाई शुरू की। पूरे घर का खर्चा और डॉक्टरी की पढ़ाई का खर्चा। उस हालत में मैंने लिखना शुरू कर दिया। पहले 'घंटा-घड़ी' नाम के अखबार में हलकी-फुलकी चीजें लिखता था, फिर 'छिटफुट' में लिखने लगा। उसे लीकन निकालता था। बाद में उससे काफी दोस्ती हो गई। हर हफ्ते कुछ-न-कुछ हास्य रस का लिखना पड़ता था...।''

''आपकी पहली रचना कौन-सी थी?'' –मैंने प्रश्न किया।

''पहली ही ली जाए तो एक हास्य रस की कहानी थी–'समझदार पड़ोसी को खत'–यह 'ततैया' नाम के पत्र में छपी; लेकिन कायदे से मेरी पहली रचना एक नाटक था 'प्लातोनोव'–यह मैंने 'मेली थियेटर' में खुद जाकर दिया। थोड़े दिन बाद यह मेरे पास डाक से लौट आया।'' अपनी बात को उन्होंने पुनः जारी रखा–''लीकन मुझे एक लाइन के सात या आठ कॉपेक देता था, बाद में तो काफी मिलने लगे। लेकिन मुझे हर समय यही लगता रहता था कि रूस के लिखने वालों में सबसे अधिक उथला और घटिया लिखनेवाला मैं ही हूँ। कवियों की भाषा में कहूँ तो मैं सरस्वती को प्यार

जरूर करता हूँ, लेकिन सम्मान नहीं दे पाया। मैं उसके प्रति जरा भी वफादार नहीं रहा, और बेचारी को ऐसी-ऐसी जगहों पर ले गया, जहाँ उसकी काफी छीछालेदर हुई। सिर धुनि गिरा लागि पछताना वाला...।"[13]

हम लोगों को उनकी बातों में रस आ रहा था, और विशेष रूप से जब बातचीत ने एक ऐसी करवट ले ली थी, कि वे अपने जीवन की पर्त-दर-पर्त खोलते चले जा रहे थे। अब जब वे अपने लिखने के विषय में ही बोलने लगे, तो फिर मुझसे कुछ और अधिक पूछे बिना नहीं रहा गया—"तो क्या आप कभी भी अपने लिखने से सन्तुष्ट नहीं रहे?"

चैखव चुप हो गए—जैसे कुछ सोच रहे हों, फिर आँख बन्द करके सोचते हुए बोले—"बड़ा मुश्किल प्रश्न है! पता नहीं, आप सन्तोष का अर्थ क्या लेते हैं? लेकिन यह सच है कि मुझे अपने लिखने से हमेशा शिकायत बनी रही। चूँकि मुझे पैसे के लिए लिखना पड़ता था, इसलिए कभी भी मुझे अपना लिखा अच्छा नहीं लगा। मेरा तो विश्वास है कि जो कुछ मैं लिखना चाहता था या जिस उत्साह से मैं लिख सकता था, उस सबके मुकाबले में—आज तक जो कुछ भी मैंने लिखा है, सब बकवास है। मेरे दिमाग में ऐसे लोगों की पूरी फौज भरी है, जो दिन-रात मुक्ति के लिए प्रार्थना करते रहते हैं, कि मैं एक शब्द कहूँ और वे निकल पड़ें। मुझे सचमुच बड़ा दुःख होता है कि आज तक मैंने जिन विषयों पर लिखा है, वे सब कूड़ा हैं—जबकि अच्छे-से-अच्छे विषय, मेरे दिमाग के कबाड़खाने में पड़े सड़ रहे हैं।[14] काश, मुझे चालीस साल का समय और मिल जाता, तो खूब पढ़ता और मेहनत से लिखना सीखता। तब मैं इन लेखकों की जमात में ऐसी तोप चलाता कि सातों आसमान हिल जाते! अब क्या है, जैसे और बोने हैं, एक मैं भी हूँ! मैंने अभी तक जो कुछ भी लिखा है, पाँच-दस साल में लोग भूल-भाल जाएँगे। हाँ, सन्तोष मुझे इस माने में है कि जो रास्ता मैंने खोल दिया है, वह जीवित रहेगा—यही मेरी, लेखक की दृष्टि से सबसे बड़ी उपलब्धि है।"[15] फिर जरा व्यथापूर्ण हँसी हँसकर बोले—"इस सिलसिले में मुझे दौदे का एक उद्धरण याद आता है, जो मैंने नोट-बुक में कहीं लिखा था—एक चिड़िया से किसी ने पूछा—'तुम्हारे गीत इतने छोटे क्यों है? तुम्हारी साँस थोड़ी है, इसलिए?' ...'नहीं, इसका कारण यह है कि मेरे पास बहुत-से गीत हैं, और मैं उन सभी को गाना चाहती हूँ।' सो भाई चाहने से ही तो सब कुछ नहीं होता है न!"

"अगर सवाल समय का ही है तो"—निरंजन ने पूछा—"आप सिर्फ लिखने में भी तो समय लगा सकते थे? सुनते हैं कि डॉक्टरी भी आपके लेखन के साथ-साथ चलती रही।"

"हाँ, लेखन और डॉक्टरी का मेरे जीवन में बड़ा द्वन्द्व रहा है।" —उन्होंने उत्तर दिया—"यह ठीक है कि लिख-लिखकर ही मैंने डॉक्टरी पास की, फिर भी काफी समय तक मेरा दृढ़ विश्वास था कि डॉक्टरी मेरी वैध पत्नी है, और साहित्य मेरी प्रेयसी—जब मैं एक से ऊब जाता हूँ तो दूसरी के साथ रात गुजारता हूँ। इससे एक तो एकरसता नहीं आने पाती, दूसरे मेरी इस ढुलमुल रुचि या 'चरित्रहीनता' की वजह से किसी

को भी नुकसान नहीं होता। इसके अलावा डॉक्टरी से चाहे मैं रुपया न कमा पाया होऊँ, पर शान्ति इसने मुझे बहुत दी है। अपनी बीमारी की वजह से या किन्हीं और कारणों से, जब मैंने अपने-आपको पराजित और दुःखी पाया तो मैं डॉक्टरी में लग गया; दो-तीन बार जब उपन्यास लिखने की कोशिशों में असफल हो गया, तो फिर जोर-शोर से डॉक्टरी शुरू की। मेरा नाटक 'समुद्री चिड़िया' जब पहली बार बुरी तरह स्टेज पर असफल हो गया, तो मैंने मिलीखोवो में सिर्फ डॉक्टरी ही की थी। हजारों लोगों को हैजे से बचाया। मेरे प्रदेश में ही हैजे से सबसे कम लोग मरे थे। इसके अलावा इसमें कैसे-कैसे चरित्रों से आपका परिचय होता है कि तबियत खुश हो जाए! यों रहने को तो मुझे बागवानी का इतना शौक रहा, कि मैंने शायद उस समय किसी को लिखा भी था कि अगर मेरा स्वास्थ्य ठीक होता, तो मैं माली बन गया होता। मिलीखोवो मेरी पहली जायदाद थी, जहाँ बागवानी मैंने खूब की; फिर याल्टा में मौका मिला। टॉलस्टाय ने, सुनते हैं, गोर्की से एक बार कहा भी था कि अगर मैंने डॉक्टरी न पढ़ी होती—या अगर यह डॉक्टरी मेरे रास्ते में बाधक न होती, तो मैं बहुत अच्छा लेखक होता; लेकिन उन्होंने शायद तब तक 'काला-संन्यासी' कहानी नहीं पढ़ी थी। खैर जो भी हो, डॉक्टरी ही एक ऐसी चीज है, जिससे मैं दैनिक जीवन की बहुत छोटी-छोटी गलतियों से बच पाया हूँ। इससे आदमी की निरीक्षण-शक्ति बढ़ती है। वैज्ञानिक-दृष्टिकोण हमेशा आदमी को वास्तविकता के अधिक निकट रखता है। बहुत मोटा उदाहरण लो—सच है कि आप एक जहर खानेवाले आदमी की स्थिति को ज्यों-का-त्यों नहीं उतार सकते—लेकिन उस स्थिति का अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक सत्य तो आप दे ही सकते हैं। ऐसी स्थिति में, यह जानते हुए भी कि यह सब स्टेज की चीज है, श्रोता या दर्शक यह तो मानेगा कि वह किसी समझदार लेखक से उलझा है। मैं उन लेखकों में नहीं हूँ, जिन्हें विज्ञान की तरफ से पीठ फेरकर, हर कहीं अपनी सूक्ष्म-दृष्टि और कल्पना-शक्ति पर विश्वास है। ऐसे ही एक बार एक सज्जन कहीं जोला का 'डॉ. पास्कल' पढ़ आए, और बड़ी शान से डॉक्टरी के बारे में मुझसे बातें करने लगे। मुझे आ गया गुस्सा, मैंने उन्हें झाड़ दिया—'तुम्हारा जोला कुछ नहीं जानता, वह कमरे में बैठकर सब कुछ गढ़ता है। उसे जरा बाहर निकलकर देखना चाहिए कि हमारे यहां के डॉक्टर कैसे काम करते हैं—वे किसानों के लिए क्या कर रहे हैं?'[16] इसके बाद वे चुप हो गए।

"तब तो आपने डॉक्टरी से भी काफी कमाया होगा"—मैंने सवाल किया।

"नहीं, डॉक्टरी से कमा ही नहीं पाया।" जैसे बड़े उत्साह से उन्होंने कहा—"लोग एक-एक, दो-दो रूबल मुझे घर पर बुलाने के देते थे। उनकी हालत ऐसी खराब थी कि दया आती थी। मिलिखोवो में मैंने सुबह के तीन घंटे मुफ्त दवा के लिए रख दिए थे। आस-पास के पड़ोसी मुझे देवता की तरह पूजते थे। डॉक्टरी से जो भी मैंने थोड़ा-बहुत कमाया, सब एक स्कूल में लगा दिया; लेकिन जीविका के लिए तो मैंने लिखने पर ही दिन बिताये।"

"इसका मतलब है, रूस में लिखने से काफी मिल जाता है—क्योंकि आपके

समकालीन फ्रांसीसी और अंग्रेजी-लेखक तो भूखों मरते थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ कौड़ियों पर बेचीं। हिन्दुस्तान की बात तो खैर छोड़ ही दीजिए...।" यह प्रश्न करते समय मुझे हिन्दी का ध्यान आया।

"हाँ, लिखने से मैंने कमाया तो काफी, लेकिन कभी भी ऐसी स्थिति नहीं रही कि अपने को आर्थिक-रूप से सन्तुष्ट पाता। इसकी बहुत बड़ी वजह यह थी कि मेरा परिवार बहुत बड़ा था—जिसमें अपने भाइयों की आवारगी और शराबखोरी का खर्चा भी मैं ही देता था। दूसरे, हमेशा बीमार रहने के कारण इलाजों और इधर-उधर भाग-दौड़ में काफी कुछ चला जाता था। एक जगह जमकर रह ही नहीं पाया। कभी मॉस्को की ठंड बर्दाश्त नहीं हुई, तो मिलिखोवो भाग रहे हैं; कभी याल्टा, कभी मॉस्को के किसी गाँव में। लेकिन इतना होते हुए भी मैंने मिलीखोवो में काफी बड़ी जायदाद खरीदी थी, मॉस्को में अच्छे-से-अच्छे फ्लैट में रहा, याल्टा में जगह खरीदी। पहले जब मैं लीकन के 'छिटफुट' में लिखता था, तो वह मुझे सात कॉपेक एक लाइन के देता था—मगर उसके साथ बन्धन यह था कि वह हमेशा ही 100-120 लाइनों की कहानी लेता। खैर, फिर जब सुवोरिन के 'नवयुग' में लिखना शुरू किया, तब शुरू में उसने बारह कॉपेक दिए—बाद में तो चालीस तक दिए। तो यों लिखने से मैं खूब घूमा भी। बाद में सुवोरिन ने जब मेरी रचनाएँ पुस्तकाकार छापनी शुरू कीं तो काफी पैसे दिए। प्रकाशक मार्क्स से तो मेरा कन्ट्रैक्ट अब हुआ है कि वह मेरी सारी रचनाओं के पचहत्तर हजार रूबल देगा; वर्ना मेरे साहित्य-जीवन में सुवोरिन ने बहुत सहायता की है। अब गोर्की इत्यादि पचहत्तर हजार में भी यही कहते हैं कि मैंने अपनी रचनाएँ कौड़ी के मोल फेंक दीं, और वे लोग तो इस कंट्रैक्ट को तुड़वाने के लिए एक पत्र तक मेरी ओर से लिख लाए थे; सभी लोग उस पर हस्ताक्षर करके भेजने वाले थे कि यह अनुबन्ध तोड़ दिया जाए—और वे लोग खुद मेरे लिए बीस हजार रूबल साल का प्रबन्ध करेंगे। वे कहते थे कि मार्क्स को जोला के प्रकाशक से कुछ सबक लेना चाहिए। मुसीबत के समय उसके प्रकाशक ने न केवल पहला एग्रीमेंट रद्द कर दिया, बल्कि उसने खुद ही पुराने के मुकाबले अच्छा—एक नया अनुबन्ध कर लिया। लेकिन भाई, मैंने तो उन सबको रोक दिया। अब आप ही सोचिए, सौदा-सौदा है, अब उसके पलटने का क्या मतलब...?"

"यह सज्जन सुवोरिन कौन हैं, इनका आपने कई बार जिक्र किया है; और मार्क्स से क्या आपका मतलब कार्ल मार्क्स से है?" —चैखव तो अपने प्रवाह में लोगों के नाम लेते चले जाते थे, लेकिन हम नए थे—हमें सब कुछ बड़ा नया-सा लगता था, अतः मैंने पूछ ही लिया।

"अलैक्सी सुवोरिन?" —चैखव हमारी मजबूरी को समझकर थोड़ा मुस्कराये—"यह 'नवयुग' नामक पत्र के मालिक और प्रकाशक हैं। लीकन ने शुरू-शुरू में जहाँ मेरा भला किया, वहाँ स्वार्थवश सबसे बड़ा अहित भी किया। उस कम्बख्त ने महीनों मुझे अँधेरे में रखा। मैं मॉस्को में बैठा उसके अखबार में लिखता, पैसे मिलते और काम चलता। यह लिखना क्या रंग ला रहा है—इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। पहली बार जब मैं

मॉस्को से पीटर्सबर्ग गया, तो अपने महत्त्व को देखकर दंग रह गया। पता लगा कि मैं काफी बड़ा कहानीकार माना जाने लगा हूँ। कई मीटिंगों में मेरा खूब आदर-सत्कार हुआ। तब मुझे लीकन की स्वार्थपरता पर बेहद गुस्सा आया, कि मैं किसी और अखबार में न लिखूँ, सिर्फ इसीलिए इसने मुझे अन्धकार में रखा। वहीं प्रसिद्ध उपन्यासकार ग्रिगोरोविच के प्रोत्साहन और बढ़ावे से, मेरा परिचय इन अलैक्सी सुवोरिन से हुआ। ये स्वयं भी बहुत ही अच्छे कहानीकार थे। इससे पहले मैंने 'पीटसबर्ग गजट' में भी कुछ कहानियाँ दी थीं। लीकन इससे कुछ नाराज हो गया था। फिर भी पूरी तरह हमारा बिगाड़ आज तक नहीं हुआ। इसके अलावा ग्रिगोरोविच ने मुझे इतना चढ़ा दिया, कि वे खुद को मेरा 'आविष्कर्ता' घोषित करने लगे। बहरहाल इतना तो सच है—जब भी मुझे जितने भी धन की आवश्यकता पड़ी, सुवोरिन ने निस्संकोच दिया; लिखने के अलावा रचनाओं के एडवांस, पुस्तकों की रॉयल्टी के एडवांस काफी लिए—उन दिनों तो शायद ही कोई साल ऐसा होगा, जब मैंने सुवोरिन से रुपये न लिए हों—जायदाद खरीदनी है, सुवोरिन को खत; कहीं जाना है तो सुवोरिन से माँग। और यह भी मैं मानता हूँ कि सुवोरिन ने कभी निराश नहीं किया। हम लोगों में लेखक-प्रकाशक के अलावा घरेलू सम्बन्ध भी काफी घनिष्ठ था। हम लोग शुरू से ही एक-दूसरे के यहाँ आते-जाते रहते थे। एक बार मैं उनके लड़के के साथ तमाम कोहकाफ, काला-समुद्र और दक्षिणी रूस घूमकर आया। दूसरी बार खुद उनके साथ पेरिस गया। विदेश जाने का भी प्रोग्राम कई बार बना, लेकिन मैं ही नहीं जा पाया। —तो इस प्रकार सुवोरिन मेरे सबसे अच्छे मित्रों में से है। कोई घरेलू समस्या ऐसी नहीं है, जिस पर उससे सलाह नहीं ली हो या हम लोगों ने विचार-विनिमय न किया हो। उसको पत्र लिखते समय मैं बिल्कुल भूल जाता था कि मैं एक प्रकाशक को पत्र लिख रहा हूँ; शायद जिन्दगी के सबसे अच्छे पत्र मैंने उसे ही लिखे हैं। बाद में जब रूस के सबसे बड़े प्रकाशक मार्क्स से टॉल्सटाय ने मेरा परिचय कराया और हमारा सौदा हुआ, तो यह भूलकर कि मेरा सौदा उसके प्रतिद्वन्द्वी प्रकाशक से हो रहा है—उसने मुझे ऐसा कर डालने की ही सलाह दी।" —फिर वे हँसकर बोले—"जब मेरे पूरे साहित्य का सौदा मार्क्स से पचहत्तर हजार में हो रहा था, तो मैंने अपनी एक महिला मित्र लिडिया एविलोव को मजाक में लिखा था कि अब मैं 'मार्क्सवादी' हो गया हूँ।"

"हाँ, सुवोरिन जैसे मित्र और प्रकाशक का मेल हिन्दुस्तान में मिलना तो असम्भव ही है! वहाँ तो चाहे बचपन के दो मित्रों में से आगे चलकर एक लेखक बन जाए, दूसरा प्रकाशक—तब भी प्रकाशक अपनी करनी से बाज नहीं आएगा।' —निरंजन ने उनकी बात का समर्थन करके कहा—"अभी एक नया उदाहरण है—दो व्यक्तियों में काफी मित्रता थी। इधर-उधर विदेशी दूतावासों से पैसे मारकर एक बहुत बड़ा प्रकाशक बन बैठा, फिर उसने अपने लेखक मित्र के साथ एक पत्रिका निकाल डाली; जब देखा कि पत्रिका काफी जम गई है, तो ऐसा उछाला कि बेचारे लेखक-मित्र दूर जा गिरे...!"

"और मजा यह कि हम लोगों में मतभेद भी अक्सर ही हुए हैं।" —सुवोरिन का जिक्र आते ही चैखव उत्साह में आ गए—"कैप्टन ड्रीफुस के केस में, जोला को

लेकर तो हम लोगों के सम्बन्ध इतने खिंच गए कि टूटने की नौबत आ गई। हुआ यह कि 1894 में फ्रेंच कैप्टन अलबर्ट ड्रीफुस पर अपराध गढ़कर मुकदमा चलाया गया, कि उसने मिलिटरी के कुछ गुप्त भेद जर्मनों को बेच दिए हैं। आजीवन कारावास देकर उसे 'शैतानी द्वीप' में भेज दिया गया। लेकिन दिसम्बर 1897 में मेजर ईस्थराजी पर, कर्नल पिक्कार्ट ने—ड्रीफुस के सिलसिले में झूठे कागजात बनाने के अपराध में मुकदमा चला दिया, और इसमें मेजर ईस्थराजी छूट गया। इसी को लेकर ड्रीफुस के पक्ष में जोला ने, फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के प्रधान को अपने प्रसिद्ध पत्र लिखे। मैं भी ड्रीफुस को निरपराध मानता था। उन्हीं पत्रों के अपराध में जोला पर मुकदमा चला और एक साल की सजा हो गई। सुवोरिन का 'नवयुग' अधिकारियों के पक्ष में था। उन दिनों उसकी एक महिला संवाददाता ने मुझसे पूछा—'क्या आप अब भी समझते हैं कि जोला सही था?' तब मैंने उसे जवाब दिया था कि 'क्या सचमुच आपकी मेरे बारे में इतनी बुरी राय है, कि आपको मुझसे ही यह पूछने की जरूरत पड़ी कि मैं जोला के पक्ष में हूँ? वे तमाम अफसर, जिन्होंने उस पर मुकदमा चलाया—वे सारे गवाह, उसके चरणों की धूल के बराबर भी तो नहीं हैं। मैं रोज अखबार पढ़ता हूँ, और मुझे उसमें जोला की जरा भी गलती नहीं लगती—पता नहीं, लोग और क्या प्रमाण चाहते हैं?' फिर जैसे गर्व से वे बोले—"उस समय तो मैंने अपने भाई अलैक्जैन्द्र को लिखा था—तुम चाहे जो कुछ भी सोचो, यह 'नवयुग' वातावरण को बहुत दूषित कर रहा है। पेरिस की ऐसी झूठी और मनगढ़ंत खबरें ये लोग देते हैं कि बिना घृणा अनुभव किए आप पढ़ नहीं सकते। यह अखबार है? चूँ-चूँ का मुरब्बा बना रखा है! जैसे भूखे भेड़ियों का झुण्ड हो!! इनके सम्पादकीय-विभाग में कोई भी तो ऐसा आदमी नहीं है, जो उच्चादर्श नाम की चीज जानता हो!!! जोला कैसा भी हो, लेकिन जब उस पर मुकदमा चल रहा है, तब उसके खिलाफ लिखना साहित्यिक अपराध है। मैं सुवोरिन को अब बिल्कुल नहीं लिखना चाहता, न यह चाहता हूँ कि वह मुझे लिखे।' तो सुवोरिन की मित्रता ने जहाँ और फायदे किए, वहाँ सबसे बड़ा नुकसान मेरे साथ यह किया कि मैं अधिकांश समय प्रतिक्रियावादी विचारधारा से बँधा रहा। उदार या प्रगतिशील विचारों की ओर मेरा झुकाव था अवश्य, लेकिन उसको उतने वेग से ग्रहण न करने का मुख्य कारण सुवोरिन और उसका पत्र रहा।" बोलते-बोलते चैखव काफी थक गए थे, बीच-बीच में वे खाँसते भी जाते थे। अब डट कर सोफे पर ही अच्छी तरह लेट गए, मुँह हमारी ओर ही था।

शायद उनकी तकलीफ को न समझ कर हम लोग उन्हें कष्ट पहुँचा रहे हों—यह सोचकर मैंने पूछा—"बातचीत करने में आपको ज्यादा तकलीफ तो नहीं हो रही? एतराज न हो तो हम लोग फिर कभी मिल लेंगे। आपकी तबियत खराब है..."

"बैठिए-बैठिए।" —वे बोले—"मैंने बताया न, कि इस रोग से तो हमेशा की मेरी लड़ाई रही है—और मैंने कभी स्वीकार करके ही नहीं दिया कि मुझे कोई गम्भीर बीमारी है। आबोहवा बदलने के अलावा कई बार क्लिनिक में भी रहा, लेकिन हार तो सीखी ही नहीं है! यही तो संघर्ष की शक्ति थी, जो मेरे स्वभाव की तेजी बन

गई। अपने घर में मैं काफी अक्खड़ स्वभाव का समझा जाता रहा हूँ—सारे घरवाले मेरा रौब मानते थे। बस, 'मेरी' बहन से मेरी खूब पटती है—यह टीचर है। इसे मैंने अपना सबसे अच्छा मित्र माना है...।"

"चैखव साहब, अगर आप बुरा न मानें तो मैं पूछना चाहूँगा, कि नारी के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं।"—मैंने पूछ लिया।

"क्यों, इसमें बुरा क्यों मानूँगा? शायद 'मेरी' के जिक्र से आपको ऐसा ध्यान हो आया है।" —उन्होंने बताया—"जब से टॉल्सटाय के विचारों से मैंने अपना पीछा छुड़ाया है, तब से स्त्री के सम्बन्ध में मैं बहुत बढ़ा-घटा कर नहीं सोचता। पहले टॉल्सटाय के प्रभाव में आकर मैं जरूर स्त्री को पाप की जड़ मानता था, और कहता था कि हर नैतिक कार्य में मनुष्य का 'काम' बाधक है। लेकिन अब मैं कुछ दूसरी तरह सोचता हूँ। मैंने 1983 में एक प्रबन्ध लिखकर सिद्ध किया था, कि प्रकृति की तरफ से स्त्री और पुरुष में जरा भी भेद नहीं है। जो कुछ भी नारी की कमजोरी है, उसका कारण सिर्फ यही है कि स्त्री को माता बनना पड़ता है, गर्भ धारण करना पड़ता है। उसमें मैंने यह भी सिद्ध किया था, कि मादा के ऊपर नर के इस प्रभुत्व को प्रकृति इस रूप में समाप्त करेगी कि आगे जाकर ऐसे प्राणियों का विकास हो, जिनमें मादा को गर्भ ही धारण न करना पड़े। बहरहाल, मैं इस बात का पक्षपाती हूँ कि स्त्री को समाज में उचित सम्मान मिले। आपको किसी ने यह अधिकार नहीं दिया, कि आप उसके साथ या उसकी उपस्थिति में अशोभन भाषा बोलें या अशोभन व्यवहार करें। आपको उसका समुचित आदर करना होगा—चाहे जैसी स्त्री हो, उसके सामने बिना पाजामा पहने आना हद दर्जे की जहालत है।"[17] फिर अपने प्रवाह को बदलकर चैखव ने कहा—"नारी के प्रति यही यथार्थवादी दृष्टिकोण है कि मैंने इतनी सफल नायिकाओं की सृष्टि की है। मेरा तो कहना है कि साहित्य में स्त्री का वर्णन इतना सजीव और जानदार हो, कि पढ़ते ही आप अनुभव करने लगें—जैसे आपके जूतों पर पॉलिश नहीं है, जैसे आपकी टाई की गॉठ ठीक नहीं बँधी है—बिलकुल वैसे ही, जैसे आप सचमुच ही किसी स्त्री की उपस्थिति अनुभव करते हैं। यही कारण है कि तुर्गनेव मेरा सबसे प्रिय लेखक है। मगर उससे मुझे शिकायत है—उसकी स्त्रियाँ नकली हैं—वैसी स्त्रियाँ कहीं होती ही नहीं। गोर्की के साथ भी यही बात है। मैंने एक बार उसके विषय में लीडिया एविलोव को लिखा था—'देखने में गोर्की आवारा-सा लगता है, लेकिन वास्तव में है बड़ा सभ्य व्यक्ति। मुझे बड़ी खुशी हुई उससे मिल कर। मैं उसका परिचय स्त्रियों से कराना चाहता हूँ—लेकिन इससे वह भड़कता है।'[18]

"इसका मतलब यह हुआ कि आप चाहते हैं, लेखक जो कुछ भी लिखे—खुद अनुभव करके लिखे। हत्या के विषय में लिखने से पहले वह हत्या करे, और शराब के विषय में लिखे तो शराब पिए?" मैंने अपना तर्क रखा—"ऐसी हालत में ईमानदार लेखक के विषय ही या तो बहुत सीमित हो जाएँगे; या फिर जो कुछ वह लिखेगा, सब उसकी व्यक्तिगत डायरी बनकर रह जाएगा। यानी या तो व्यक्तिगत लिखेगा या दुहराएगा।"

"नहीं, आप दोनों स्थितियों को मिलाइए मत। गोर्की से मुझे दूसरी शिकायत यह भी है। किसी भी मनोविज्ञान या मनोवैज्ञानिक स्थितियों का वर्णन करना बड़ा अच्छा है; मैं तो कहूँगा—अनिवार्य है। लेकिन गोर्की अपने मनोविज्ञान का 'आविष्कार' करता है...[19] मतलब ऐसे मनोविज्ञान का वास्तविक अस्तित्व होता ही नहीं, वह सिर्फ लेखक की दिमागी उपज होती है। दूसरी तरफ, हर बात में अपने को ही लादना—यानी आत्मपरक दृष्टिकोण और भी खतरनाक हैं, क्योंकि इस चक्कर में छोटे-मोटे लेखक की तो नैया ही डूब जाती है—वह इसी भँवरजाल में उलझ कर रह जाता है। सबसे बड़ी चीज तो यह है कि अपने प्रति ईमानदार रहो—जो कुछ देखा-सुना है, उसी का ठीक प्रयोग करो। अपने उपन्यास का नायक लेखक खुद बन बैठे, मैं इसके सख्त खिलाफ हूँ—जरा अपने व्यक्तित्व को फैलाव और विस्तार दो, दो-एक घंटे अपने-आपको भूल जाओ... ।"[20]

"मैं पूछ रहा था कि अभी आपने जिनका नाम लिया, ये लीडिया एविलोव कौन थीं?" —यह देखकर कि वे अपने विषय से हट रहे हैं, निरंजन पूछ बैठा।

इस बार वे बड़े जोर से हँस पड़े—"लगता है, मेरे जीवन में आप कोई रहस्य रहने नहीं देंगे। बातों-ही-बातों में सब कुछ पूछ डालेंगे।" फिर जरा गम्भीरता धारण करके—जैसे वे किसी ऐसे विषय पर बात कर रहे हैं, जिससे उनका कोई सम्बन्ध कभी नहीं रहा—चैखव ने कहना शुरू किया—"तो सुनिए, यह लीडिया एविलोव एक ऐसी विवाहिता महिला थी, जिसके प्रथम दर्शन ने ही मुझे क्षुब्ध कर दिया। यों तो नाटक के सिलसिले में, रिहर्सलों के दौरान हजारों लड़कियों और महिलाओं के सम्पर्क में आने का मौका मिला—वे सब एक-से-एक खूबसूरत थीं, प्रसिद्ध थीं। अच्छे घरानों की स्त्रियाँ और अच्छी-से-अच्छी अभिनेत्रियाँ—मैं सभी के सम्पर्क में आया। डॉक्टरी में तो इसका और भी अवसर रहा है। घण्टों, कभी-कभी तो मैंने रातों इन स्त्रियों के साथ हँसते-खेलते, शराब-गानों में बिताया है; लेकिन यह लीडिया एविलोव ही एक ऐसी लड़की थी जिसने मेरे अस्तित्व और जीवन को झकझोर कर रख दिया। परिचय के बाद मेरे जीवन की सीधी-सादी गति में जो भी झटके, मोड़ और छलाँगें दिखाई देती हैं, वे सब इसी के कारण हैं। सबसे पहले मैंने इसे पीटर्सबर्ग में देखा। एक नाटक के सम्बन्ध में सुवोरिन मेरे पास मॉस्को आए, फिर हम दोनों पीटर्सबर्ग गए। मेरा नाटक 'आइवानोव' खेला जा रहा था। मैं उसकी रिहर्सलों के समय वहीं रहना चाहता था। पीटर्सबर्ग में खुदाकोव 'पीटर्सबर्ग गजट' का सम्पादन करता था। मैं उससे मिलने गया। हम लोग बैठे थे, तभी इन्होंने प्रवेश किया। खुदाकोव ने परिचय कराया। ये उसकी साली थी, और एक मिलिट्री अफसर से विवाह हुआ था—एक लड़का भी था। खैर, जब मेरा परिचय हुआ, तो मैं विवश-सा उनकी ओर खिंच गया। बड़ी देर तक उनका हाथ अपने हाथ में लिए रहा और मुग्ध विस्मय से सिर्फ देखता रहा। बाद में जब इन्होंने विवाहित होने की बात बताई, तो मैं केवल भौंचक उनकी आँखों में ही देखता रह गया। पता नहीं, उस समय मुझे क्या हो गया था! बाद में लीडिया ने जो वर्णन अपनी हालत का दिया, वह तो जैसे मेरी हालत से बिलकुल ही मिल गया। उन्होंने कहा था—कभी-कभी किसी घटना का

वास्तविक अर्थ बताना कितना कठिन होता है! और सच बात तो यह है कि उस दिन ऐसा कुछ घटित भी नहीं हुआ। हम दोनों एक-दूसरे की आँखों में देखते रहे। लेकिन उन्हीं दृष्टियों में हमने कितना-कुछ विनिमय कर लिया था! लीडिया को तो ऐसा लगा, जैसे उसके भीतर कहीं कुछ विस्फोट हो उठा है—जैसे कोई अनार फूट गया हो—प्रकाश, आह्लाद और विजय का अनार! वे जान गई थीं कि मेरी भी यही स्थिति है।[21] यह मेरी-उनकी पहली मुलाकात थी; और आखिरी मुलाकात तव हुई, जब मेरा 'समुद्री चिड़िया'—'मॉस्को आर्ट थियेटर' द्वारा व्यक्तिगत रूप से खेला जा रहा था और मैंने उन्हें बुला भिजवाया था। लेकिन वे आई नहीं। इस प्रकार 'आइवानोव' और 'समुद्री चिड़िया' के बीच का समय, मेरे और लीडिया के विचित्र प्रेम का समय रहा है। विचित्र इस अर्थ में कि हम लोग एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते थे। साथ ही, कभी अधिक समय मिलकर प्रेम से भी नहीं रहे। कभी वह नाराज रही और कभी मैं। कभी मैंने उनसे अपने सारे सम्बन्ध समाप्त करने की घोषणा की, और कभी जब वे चुप हो गईं तो दोनों एक-दूसरे को व्याकुलतापूर्ण पत्र लिखने लगे। मिलिखोवो वह दो-एक बार आई, और मैं तो जब भी पीटर्सबर्ग आता था, उससे मिले बिना रह ही नहीं पाता था। उसका पति बाहर रहता था, अतः उसकी बहन द्वारा मुझे फौरन ही खबर मिल जाती। उन दिनों मैं टॉल्सटाय के संयम और आत्मनिग्रहवादी दर्शन के प्रभाव में था, अतः यह प्यार मेरे मन में एक बड़ा विचित्र द्वन्द्व बन गया। मैं इस प्रेम को छुपाता था, इससे बचता और भागता था, अपने आप से लड़ता था—लेकिन विवश था। कभी-कभी तो मैं इसलिए, कई-कई बार पीटर्सबर्ग आकर भी उनसे नहीं मिलता था। उन्हीं दिनों मेरे घर में बड़ा ऊधम, अलैक्जेन्द्र भाई साहब को लेकर उठा हुआ था। उनकी पहली पत्नी को तलाक नहीं मिल रहा था, एक बच्चा भी था, चारों ओर मेरी बदनामी फैल रही थी। उन दिनों मैं मानसिक रूप से बहुत ही परेशान था...।"

"शायद उन्हीं दिनों की मानसिक और वास्तविक स्थिति के आधार पर आपने 'द्वन्द्व' नाम की लम्बी कहानी लिखी थी।" —मैंने बीच में टोककर पूछा, फिर जरा अपनी बात को साफ किया—"उसमें भी अन्ना कैरेनिना की तरह एक विवाहित स्त्री नाद्येज्दा फ्येदोरोव्ना, लायव्स्की के साथ सुदूर काकेशस प्रान्त में जाकर रहने लगती है—और वहाँ का जो कुछ वर्णन आपने दिया है, उस सब पर टॉल्सटॉय की फिलॉसफी का प्रभाव है—या ऐसा लगता है, उस प्रभाव से छुटकारा पाने का आप प्रयत्न कर रहे हैं!"

"मैंने कहा न, कि हर चीज को मेरे जीवन से मत नापो। यह ठीक है कि उन दिनों मुझे अन्ना कैरेनिना बहुत प्रिय थी, और 'द्वन्द्व' भी उन्हीं दिनों की रचना है, और यह भी ठीक है कि मैंने जब यह रचना लिखी थी, तब मेरा विश्वास टॉल्सटॉय के आत्मनिग्रह और सत्याग्रह से उठ चुका था। लेकिन जैसा मैंने अभी बताया, अपने-आपको अपनी रचनाओं का नायक बनाकर जीवनी लिखना मुझे नापसन्द है। आपने 'द्वन्द्व' में से छाँट लिया—इसी तरह एक बार मैंने कहानी लिखी, उसका नाम रखा 'प्रेम के बारे में'; पता नहीं कैसे लीडिया ने मेरे एक पत्र से अन्दाजा लगाया

कि मैं उन्हें 'रूसी विचार' नामक पत्र में प्रकाशित इस कहानी को पढ़वाना चाहता हूँ। कहानी उन्होंने पढ़ी और उससे नतीजा निकाला, कि मैं चाहता हूँ मेरा-उनका सम्बन्ध समाप्त हो जाए। उनका इस भावना का पत्र जब मुझे मिला तो मैंने सफाई दी, जिसकी एक पंक्ति का (स्वस्थ और प्रसन्न रहो) अर्थ लगाया गया कि मैं उनसे सम्बन्ध तोड़ना चाहता हूँ—तभी तो ऐसी बात लिख रहा हूँ। मैंने उनसे माफी माँगी, तब कहीं गलतफहमी दूर हुई। वे अच्छी लेखिका भी थीं और अपनी किताबों पर ऐसी ही विचित्र-विचित्र बातें लिख देती थीं। एक वार तो उन्होंने लिखा, 'जैसे एविलोव की बातें करते-करते चैखव उसमें डूब गए—' अपनी पुस्तक पर उन्होंने लिख कर दिया—'घमण्डियों के उस्ताद को उसके शिष्य की ओर से।' तब मुश्किल से समझाया कि मुझे 'घमण्डियों का उस्ताद' क्यों कहती हो, ये गुण तो सिर्फ तुर्कों में होते हैं। तुम्हारा उस्ताद तो बड़ा ही विनम्र है! कभी-कभी उनके पति और तीन बच्चों के कारण हमारे सम्बन्धों में गलतफहमी आ जाती। एक बार तो उन्होंने बड़ा विचित्र मजाक किया। उन्होंने जौहरी से, घड़ी की जंजीर में लटकने वाला ऐसा झुमका-सा बनवाया, जिसकी शक्ल बिल्कुल किताब जैसी थी। उसके एक तरफ खुदवाया—'चेखव की कहानियाँ' ओर दूसरी तरफ खुदवाया 'पृष्ठ 267 लाइन छः सात' और यह उन्होंने 'रूसी विचार' के दफ्तर में 'गोल्तसेव' के द्वारा मुझ तक पहुँचवाने के लिए भेज दिया—आप जानते हैं, उसमें किस लाइन की ओर संकेत था?" —उन्होंने प्रश्न किया और स्वयं ही मुस्करा कर बोले—"वह संकेत था, मेरी 'पड़ोसी' कहानी की एक लाइन का—'यदि तुम्हें कभी मेरे प्राणों की आवश्यकता पड़े, तो आना और निस्संकोच ले लेना।' " इस लाइन को दुहराने के साथ वे चुप हो गए। कुछ देर चुप्पी रही, जैसे वे भीग गए हों—"मेरे नाटक 'समुद्री चिड़िया' के तीसरे दृश्य में 'नीना' भी इसी तरह अपना सन्देश भेजती है। इतना गहरा प्रेम था, लेकिन..."

शायद इस समय वे बहुत अधिक विभोर हो गए थे, इसलिए थोड़ी देर की चुप्पी के बाद मैंने बात को दूसरा मोड़ दिया—"कुछ लोगों का विचार यह है कि आप जो उन दिनों जमकर नहीं रह पाए, निरन्तर कहीं-न-कहीं भागने की प्रवृत्ति आपमें रही—वह आपकी अपने-आपसे भागने की प्रतीक थी।[22] इसी प्रकार आपके 'द्वन्द्व' में लायव्स्को भी हर परिस्थिति से भागता है। खैर 'द्वन्द्व' तो आपने 1891 में लिखा था; इससे पहले यानी लीडिया के परिचय के एक साल बाद —अर्थात् 1890 में आपने शाखालिन द्वीप की जो यात्रा की थी, उसके मूल में भी लोग यही आत्म-द्वन्द्व—और जो कुछ आप प्राप्त नहीं कर सकते थे, साथ ही जिसके बिना रह भी नहीं सकते थे, इसलिए उसकी उपस्थिति से कतराने की भावना बताते हैं—यह कहाँ तक ठीक है?"

"शाखालिन और लीडिया..." इस बार उन्होंने गर्दन घुमा कर तीखी दृष्टि से मेरी ओर देखा, फिर जैसे आगे बोलने के लिए शब्द खोजते रहे; एकदम बोले—"इन दोनों का सम्बन्ध जोड़ना गलत है।" फिर थोड़ी देर आवेश से चुप रहे। बस, उनके होंठ काँपते रहे—जैसे उन्हें ध्यान आ गया हो कि अभी वे इस बात को स्वयं अपने मुँह से स्वीकार कर चुके हैं—कि लीडिया ने कैसे उनके जीवन में एक आन्दोलन ला

खड़ा किया था। फिर जैसे इस बात की सच्चाई स्वीकार करके ही, उसे झुठलाने को अपने हर शब्द पर जोर देकर बोले—"बिलकुल गलत है!" तभी शायद फिर उन्हें ध्यान आ गया कि उनकी यह अस्वाभाविक उत्तेजना उनके शब्दों के विरुद्ध प्रमाण दे रही है, अतः एकदम सुस्थिर स्वर में उन्होंने बताना शुरू किया—"बात दरअसल यह थी कि उस समय तक मैं साहित्यिक रूप में काफी प्रसिद्धि पा चुका था। दो साल पहले मुझे, विज्ञान-परिषद की ओर से 'पुश्किन पुरस्कार' भी मिल चुका था। मेरे मन को हमेशा यह चीज खलती थी कि डॉक्टरी को मैं अपनी वैध पत्नी मानता हूँ, लेकिन दे कुछ भी नहीं सका। इसीलिए मैं शाखालिन गया—हालाँकि जाते समय भी यह चीज मेरे सामने स्पष्ट थी, कि मेरी यह यात्रा विज्ञान या कला को शायद ही कोई विशेष उपलब्धि दे सके—क्योंकि मुझे न तो उतना ज्ञान था, न समय था, और शायद महत्त्वाकांक्षा भी नहीं थी। बस, मेरी तो एकमात्र इच्छा यही थी कि इस यात्रा के द्वारा, सौ-दो सौ पन्ने लिखकर डॉक्टरी के उस ऋण को मैं उतार दूँ, जिसकी ओर मेरा रवैया सख्त हरामखोरी का रहा है।[23] यह मुझे पक्का विश्वास था कि शायद उस यात्रा का कोई भी लाभ नहीं मिलेगा, फिर भी इस विश्वास से—वहाँ जाने की मेरी इच्छा में जरा भी अन्तर नहीं पड़ा।"

"यह तो आप बड़ी विरोधी-सी बातें कर रहे हैं! वहाँ जाना भी चाहते थे, साथ ही यह भी जानते थे कि वहाँ जाने का कोई लाभ न होगा?" निरंजन ने टोक दिया—"रही घूमने की बात, सो जिसका स्वास्थ्य हमेशा ही खराब रहता हो, वह उस द्वीप में जाने की बात सोचे—जहाँ सिर्फ आजन्म कारावास पाए कैदी रहते हों, या जहाँ बर्फ के सिवा कुछ न हो—यह बात भी कुछ समझ में नहीं आती। वह जगह पास भी तो नहीं है—दुनिया के एकदम दूसरे सिरे पर है!"

इस बात से चैखव फिर जैसे पसोपेश में पड़ गए; मैंने हाथ के इशारे से निरंजन को, इस सम्बन्ध में आगे कुछ पूछने से रोक दिया।

तनिक हँसी के बाद चैखव कह रहे थे—"जहाँ कैदी रह रहे हों, वहाँ घूमने न जाने की बात आपने खूब कही! इच्छा भी तो कोई चीज है—यह जरूरी थोड़े ही है कि वहाँ सजायाफ्ता ही जाए। आप ही बताइए, टॉलस्टाय के 'पुनर्जीवन'[24] में नैख्ल्युदोव नर्तकी के साथ साइबेरिया जाता है—उसे किसने सजा दी थी? वह भी तो अपनी इच्छा से ही गया था न! तो खैर, सभी लोग मेरी इस यात्रा के विरोधी थे, सुवोरिन ने तो लिखा कि वहाँ जाकर क्या भाड़ झोंकोगे? शाखालिन में ऐसा कुछ भी तो नहीं है, जिसमें किसी की रत्तीभर रुचि हो। मगर मेरा कहना था—अब भी है, कि हर लेखक को शाखालिन अवश्य ही जाना चाहिए। मैं भावुक बिलकुल नहीं हूँ, अगर होता तो कहता कि शाखालिन जैसी जगहों की हमें उसी तरह तीर्थ-यात्रा करनी चाहिए, जैसे तुर्क लोग मक्का की यात्रा करते हैं या मिलिट्री के आदमी सैवस्टोपोल जाते हैं। और ऐसी जगह में केवल उसी देश को कोई रुचि नहीं हो सकती, जो शाखालिन में हजारों अभागों को देश-निकाला न देता हो, या जिसका लाखों रुपया उन पर खर्च न होता हो। ऑस्ट्रेलिया के सिवा ऐसी कौन-सी जगह है, जहाँ कैदियों के पूरे-के-पूरे उपनिवेश

बसे हों? हम मन्दिरों में बैठकर मानवता की भलाई की प्रार्थना करते हैं, सोचा है कभी हमने कि शाखालिन जैसी जगह में आदमी पर क्या बीतती है? शाखालिन ऐसी ही असह्य यन्त्रणाओं का स्थान है! ऐसी यन्त्रणाओं का, जिन्हें मनुष्यों के अलावा—चाहे वे स्वतन्त्र हों या गुलाम—कोई दूसरा बर्दाश्त नहीं कर सकता। कल्पना कीजिए हमने लाखों आदमियों को किस तरह सड़ने-मरने और कुत्तों की मौत मरने के लिए वहाँ जेलों में बन्द कर दिया है, कड़कड़ाती ठण्ड में—जंजीरों में बाँध कर हजारों मील हाँका है! मैंने सुवोरिन को जोर देकर लिखा कि 'हाँ, हमें अपने देश के कलंक इस शाखालिन को देखने की बेहद जरूरत है, दुख मुझे यह है कि कोई और मेरे साथ नहीं था।' ''[25] जैसे उस स्थान की याद करके चैखव उत्तेजित हो उठे, फिर जरा ऊँची आवाज में बोले—"आप विश्वास कीजिए, इतने मानसिक अवसादों में, इतनी असफलताओं, कष्टों और मुसीबतों में सिर्फ एक आस्था ने मुझे जीवित रखा है, वर्ना मैं कब का टूट चुका होता—यह विश्वास है कि मैं मानवता के लिए कुछ कर रहा हूँ। मेरे लिए संसार में सबसे पवित्र है मानव का शरीर, मानव का स्वास्थ्य, विद्या, बुद्धि, प्रेम, आत्मा और सबसे बढ़कर उसकी स्वतन्त्रता—झूठ और हिंसा से मुक्ति; लेकिन मैंने वहाँ इसी सबका ऐसा नाश देखा कि मैं काँप उठता हूँ।[26] सिवा फाँसी के मैंने सभी कुछ देखा—एक बार मेरे सामने ही एक आदमी को नब्बे कोड़े लगाए गए! आप सच मानिए, मुझे तीन रात नींद नहीं आई—वही लटका हुआ आदमी, वही टिखटी मेरी आँखों के सामने झूलती रही—इस दृश्य से मैं कितना परेशान रहा, मेरी आत्मा कितनी छटपटाई—शायद इतना कष्ट उस बेचारे कैदी को खुद नहीं हुआ होगा! लेकिन वहाँ के आदमी कैसे पत्थर हो जाते हैं, आप विश्वास नहीं करेंगे। वे लोग इस कोड़ेबाजी में मजा लेने लगते हैं—मिलिट्री ऑफिसर नहीं, यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट। शाखालिन में तीन महीने रहने के बाद मैंने समझा कि किसी वस्तु को दूर से देखने, और अपने-आपको उसका हिस्सा बनाकर देखने में क्या फर्क है? यों दॉस्तॉयेव्स्की की तरह 'मुर्दों का घर' में लिख देना बड़ा आसान है कि वहाँ स्थिति यों बदल जाएगी, त्यों बदल जाएगी। शाखालिन से मैंने यही सीखा कि किसी चीज को भावना के स्तर पर अनुभव करना और उसकी बौद्धिक कर्ज-अदायगी में क्या फर्क है? अगर हमें आदमी का जीवन की तरफ दृष्टिकोण बदलना हे, तो वस्तुओं को भावना के स्तर पर देखना होगा—दिमागी सतह पर नहीं।[27] मेरी समझ में तो एक कलाकृति का सबसे गम्भीर उद्देश्य, उच्च नैतिक-मूल्यों को चीख-चीख कर प्रचारित करना नहीं, बल्कि अपनी कहानी या नाटक के चरित्रों द्वारा पाठक या दर्शक के मन में क्रूरता, हृदयहीनता या नाटक के चरित्रों द्वारा पाठक या दर्शक के मन में क्रूरता, हृदयहीनता, या अन्यान्य के प्रति ठीक वही भावनाएँ उसी वेग से जगाना है, जो स्वयं लेखक ने अपने भीतर—इन विकृतियों को देखकर अनुभव की हैं। अगर मैंने शाखालिन की यात्रा न की होती, तो शायद टॉल्सटाय के आत्मघाती दर्शन से कभी छुटकारा नहीं पा सकता था।"

"टॉल्सटाय के दर्शन और शाखालिन की यात्रा से क्या मतलब?" —स्वाभाविक प्रश्न निरंजन ने रख दिया।

"टॉल्सटाय का यही सिद्धान्त कि सत्याग्रह करो, पाप का प्रतिकार मत करो—या उसके प्रतिकार के लिए स्वयं कष्ट उठाओ, अपने पर जब्र करो, संयम से रहो—शाखालिन की यात्रा ने मेरी आँखें खोल दीं और मुझे लगा कि यह सब कितना बड़ा झूठ है। शाखालिन में कैदियों पर जो अत्याचार होते हैं, वहाँ के गवर्नर कोनोतोविच से मिलने पर मुझे मालूम हुआ कि उन सबका उस बेचारे को कोई पता ही नहीं था! आदमी वह भला था, लेकिन अफसर लोग उसके आदर्शों पर कान ही नहीं देते थे। मैंने मध्य शाखालिन में दो महीने बिताए, वहाँ 'दुई जेल' देखी। कैदी वहाँ लोहे की जंजीरों से बाँध कर गाड़ियों में जोते जाते थे, कोयले की खानों के मालिक उनसे बेगार कराके दुनिया-भर का मुनाफा बटोरते थे—और रूसी-सरकार को इस सबका पता भी नहीं है। खैर, इस सबको छोड़िए; लेकिन बताइए, वहाँ टॉल्सटाय का यह दर्शन क्या भाड़ फोड़ेगा? क्या कैदियों का इस अत्याचार, कोड़ेबाजी, बेगार और भ्रष्टाचार का प्रतिरोध न करना—उनके अफसरों को अच्छा आदमी बना पाता है? उनका हृदय-परिवर्तन कर सकता है? वहाँ वर्षों से यही होता आ रहा है। और अगर सचमुच पाप का प्रतिकार न करने का सिद्धान्त, प्रभावशाली सिद्धान्त है तो शाखालिन पहली जगह है, जहाँ उसका प्रभाव दिखाई देना चाहिए।[28] बकवास!" उत्तेजना से वे चुप हो गए, फिर बोले—"इसका कतई यह मतलब नहीं कि मैं टॉल्सटाय से घृणा करता हूँ—नहीं, टॉल्सटाय मेरे पूज्य हैं! एक बार वे बीमार हो गए, तो मैं उनकी मृत्यु की कल्पना करके काँप उठा। मैं जानता हूँ, उनकी मृत्यु मेरे जीवन में कितनी बड़ी खाई पैदा कर जाएगी। क्योंकि शायद मैंने दुनिया में किसी आदमी को इतना प्यार नहीं किया—जितना टॉल्सटाय को किया है। यों मैं नास्तिक हूँ, लेकिन टॉल्सटाय में मुझे आस्था है। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि साहित्य में जब तक टॉल्सटाय है—तब तक लिखने में, लेखक कहलाने में गौरव है, अच्छा लगता है! अगर आप यह भी मानते रहें कि आप कुछ अच्छा नहीं लिख रहे, तब भी यह सब इसलिए इतना बुरा नहीं लगता कि टॉल्सटाय हम सबके हिस्से का काम कर डालते हैं। हम सबके निकम्मेपन के लिए—टॉल्सटाय जो कुछ करते हैं, वह एक जस्टीफिकेशन है, एक्सक्यूज है! तीसरे, वह आदमी चट्टान की तरह दृढ़ है—जब तक वह जीवित है, साहित्य में कोई भी गन्दगी, कुरुचि और द्वेष-भावना पनप नहीं सकती। उसके बिना तो हम सब लोग, बिना गड़रिये की भेड़ हो जाएँगे, हर चीज अव्यवस्थित हो जाएँगी।"[29] टॉल्सटाय के बारे में बातें करते हुए चैखव की आँखें चमक उठीं, फिर मुस्करा कर बोले—"आपको मालूम है, वे मेरे बारे में क्या कहते हैं? गोर्की ने बताया—एक बार वह अपने गास्पारा के भवन में, पार्क में मुझे देखकर बड़बड़ा रहे थे—'आह...कैसा प्यारा आदमी है, कितना सुशील और नम्र, बिल्कुल एक युवती की तरह। और देखो, उसकी चाल भी कैसी लड़कियों-जैसी है!' टॉल्सटाय के इस वाक्य को याद करके वे जोर से हँस पड़े।

"लेकिन शुरू में टॉल्सटाय से मिलने में तो आप बहुत हिचकिचाते रहे।" मैंने पूछा—"आपकी मुलाकात ही तब हुई, जब टॉल्सटाय ने कई बार मिलने की इच्छा प्रकट की। कोई कहता था कि टॉल्सटाय से आपके न मिलने का कारण यह था कि

उसके 'यासुन्या पोल्याना' महल की शानदार इमारत देखकर, भीतर जाने की आपकी हिम्मत नहीं पड़ती थी?''[30]

''हिम्मत? बाप-दादा गुलाम थे न!'' चैखव जोर से हँस पड़े–''हिम्मत की आपने खूब कही! नहीं, इसका असली कारण यह था कि उस समय मेरा विश्वास टॉल्सटाय के उपदेशों से उठ चुका था। छः-सात साल मैं उनके प्रभाव में रहा–और वह प्रभाव इसलिए नहीं था कि वे कोई बहुत अच्छी बात कह रहे थे, बल्कि वह बात जिस तरह से कहते थे–उनके उस ढंग ने मुझे सम्मोहित कर लिया था। शीघ्र ही यह सम्मोहन दूर भी हो गया, और मैं विश्वास करने लगा कि संयम और आत्मनिग्रह की अपेक्षा बिजली और भाप का–जिसका वे विरोध करते थे–ठीक उपयोग करने में ही मानवता की अधिक उन्नति है। युद्ध सबसे बड़ा अपराध है, और राजनैतिक बन्दियों पर अत्याचार भी अन्याय है–लेकिन इस सबका मतलब यह तो नहीं है कि आप हाथ के बने जूते पहनें या मजदूरों और उनकी पत्नियों के साथ भट्टियों पर सोएँ! –यही वजह है कि टॉल्सटाय का मेरे लिए कोई अस्तित्व ही नहीं रहा[31] और मुझे 'यासुन्या पोल्यांना' जाने की अपेक्षा समुद्र में नहाना और गप्पें मारना ज्यादा अच्छा लगता था।[32] लेकिन जब मैं उनसे मिलने गया तो काफी अच्छा लगा। उन दिनों वे 'पुनर्जीवन' लिख रहे थे। मैं उन्हें ढोंगी समझता था; लेकिन एक चीज ने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया, वह थी तात्याना और मारिया–उनकी पुत्रियों की अपने पिता के प्रति भक्ति! कैसे वे उनकी हर बात की देखभाल करतीं, उनकी दिनचर्या निश्चित करतीं, हमेशा उनके आगे-पीछे मौजूद रहतीं। उसी से प्रभावित होकर मैंने सुवोरिन को लिखा था–'एक आदमी अपनी मंगेतर को धोखा दे सकता है, प्रेमिका को गलतफहमी में डाले रह सकता है। जहाँ तक स्त्री का सवाल है, अगर वह प्रेम में पागल हो तो एक गधा भी महान दार्शनिक ही दिखाई देता है–लेकिन स्त्रियों की बात बिल्कुल ही अलग है। इतना सब कुछ होते हुए भी, दूसरी मुलाकात के बाद ही मैंने उनके जीवन-दर्शन के खिलाफ कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया था। 'किसान' उनके प्रभाव में आकर लिखी थी, लेकिन 'सात माले का मकान' और 'मेरा जीवन' में मैंने उनके दर्शन को कोसा था–'वार्ड नं. 6' में मैंने बहुत अधिक कटु होकर उनके जीवन-दर्शन की खिल्ली उड़ाई है। उसका नायक है आन्द्रेई रागिन, पागलखाने का डॉक्टर, बिल्कुल टॉल्सटाय के विचारों का प्रतिरूप है। वह किसी को न तो कष्ट दे सकता है, न कष्ट उठाता देख सकता है–धीरे-धीरे पागल हो जाता है। यह मेरा उनके दर्शन पर सबसे कठोर प्रहार था, लेकिन मजे की बात है कि उसी कहानी को व्लादीमीर चेरत्कोव ने, जो टॉल्सटाय के दर्शन का सबसे बड़ा प्रचारक था–इतना पसन्द किया कि अपनी कथा-साहित्य की सस्ती सीरीज में छापने की इच्छा प्रकट की। वह छपी भी। उसी कहानी ने मुझे उदारपंथियों के साथ कर दिया। जब यह 'रूसी विचार' पत्रिका में छपी, तो मैं प्रसन्नता से उछल पड़ा। मेरा तो अब भी विचार यह है कि टॉल्सटाय महान व्यक्ति हो सकते हैं, लेकिन उनके लिए समय बर्बाद करना, खास तौर से उनके दर्शन पर कहानी लिखने के लिए–बेकार ही है!''[33]

फिर जरा रुककर चैखव ने कहा—"जहाँ तक साहित्य का सवाल है, वे महान स्रष्टा हैं। तुर्गनेव की रचनाएँ मुझे अत्यधिक प्रिय है, लेकिन उसकी कमजोरी यह है कि 'बाप और बेटे' में, ऑजिन की माँ को छोड़कर सभी स्त्रियाँ एक-सी हैं—चाहे वह लिजा की माँ हो या 'हेलेन' की—इसके अलावा लावत्स्की की माँ को भी शामिल कर लें, जो एक गुलाम की लड़की है, या और भी जितनी लड़कियाँ या स्त्रियाँ हैं—सब गढ़ी-गढ़ाई हैं, एक-सी और नकली हैं। माफ कीजिए, वे सबकी-सब ऐसी हैं, जैसी कहीं होती ही नहीं हैं। लिजा और हेलेन तो रूसी लड़कियाँ ही नहीं हैं। 'धुएँ' की इरीनी या 'बाप-बेटे' की औदिन्त्सोवा—सब वही शेरनियाँ, भूखी, जलती हुई-सी—जैसे कुछ खोज रही हों—सब बकवास। लेकिन उधर आप टॉल्सटाय के 'अन्ना कैरेनिना' को याद कीजिए—ये आकर्षक कन्धोंवाली स्त्रियाँ उसके सामने खड़ी नहीं हो सकतीं—फुर्र से हवा में उड़ जाती हैं।[34] इसी तरह 'पुनर्जीवन' की मूलभूत धारणाओं के विस्तार—उनकी लम्बाई-चौड़ाई और उपन्यास की विशदता, समृद्धि ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया—उसमें बस नेख्ल्युदोव और कात्या के सम्बन्ध की अस्वाभाविकता और अस्पष्टता अच्छी नहीं लगी। वर्ना आप देखिए, उस व्यक्ति ने मौत से डरनेवाले आदमी की बेईमानी को कितनी सुन्दरता से चित्रित किया है—जो इस बात को मान कर नहीं देता और सिर्फ धोखा देने के लिए—बुरी तरह शास्त्र-वाक्यों से चिपका हुआ है।[35] वे खुद भी तो मौत से ऐसे ही डरते हैं।[36] जहाँ तक व्यक्तिगत सम्बन्धों की बात है, वह बिल्कुल अलग है। दिसम्बर 1901 में जब 'रूसी-परिषद' के साहित्य-विभाग के सदस्य के रूप में गोर्की को चुना गया, तो उसके राजनैतिक विचारों पर आपत्ति करते हुए, स्वयं जार इत्यादि ने दो ही महीने बाद उसका चुनाव अवैध बता दिया। उस समय इस सम्बन्ध में मैंने सबसे पहली सलाह टॉल्सटाय से ही ली थी। मैं और टॉल्सटाय दोनों एक ही समय सदस्य चुने गए थे। सत्ता के इस हस्तक्षेप को मैंने सभी साहित्यिकों का अपमान समझा, और कोरोलैंको के साथ इस परिषद से त्यागपत्र देकर एक विज्ञप्ति निकालने का फैसला किया। टॉल्सटाय ऐसे फक्कड़ हैं कि जब उन्हें मनोनीत सदस्य के रूप में चुने जाने की सूचना आई, तो उन्होंने उसको प्राप्ति-सूचना तक नहीं दी। मैंने जब यह बात बताई तो वे किताब पढ़ रहे थे। बोले—'तुम त्याग-पत्र को कहते हो—अरे, मैं तो अपने आपको सदस्य ही नहीं मानता!' और निहायत इत्मीनान से किताब पढ़ते रहे।"[37] फिर चैखव ने, जैसे एक ही तरह लेटे रहने से थककर करवट बदली।

"तो फिर आपने त्याग-पत्र दे दिया?" निरंजन ने पूछा—आश्चर्य से।

"हाँ, हम और कोरोलैंको सलाह करने के लिए याल्टा में मिले और मैंने 25 अगस्त को त्याग-पत्र भेज दिया। लेकिन इसमें आप आश्चर्य क्यों कर रहे हैं?"

"कम आश्चर्य नहीं है!" निरंजन ने कहा—"आप शायद यह भूल गए हैं कि हम लोग हिन्दुस्तान से आ रहे हैं, जहाँ विचारों की सहिष्णुता, पवित्रता और उच्चादर्शों के सिद्धान्त तो खूब जोर-जोर से बघारे जाते हैं—खूब जोर-जोर से प्राचीन संस्कृति और आध्यात्मिकता का ढोल पीटा जाता है, लेकिन आचार इतना कमीना है कि घृणा होती है! यह तो पूरे रूस में राज्य की सबसे प्रसिद्ध परिषद् की सदस्यता की बात

थी—अगर कोई और छोटी-मोटी जगह ही होती, किसी व्यक्तिगत परिषद की ही बात होती तो हजारों कहनेवाले ऐसे मिल जाते—जो आपके साथियों में से ही होते, कि अच्छा हुआ गोर्की को निकाल दिया गया—साला कम्युनिस्ट था! और दूसरे ही दिन गोर्की की खाली जगह भरने के लिए आपसे सिफारिश कराने पाँच उम्मीदवार आ-डटते, जिसमें से कम-से-कम तीन तो साहित्य के डॉक्टर होते, जो साहित्य में भौंपू लगा-लगाकर अपने आपको ईमानदार और स्वतन्त्र कलाकार घोषित करते रहते हैं।"

"नहीं, हम लोगों में यह बात नहीं थी..." चैखव ने थोड़ा गर्व से कहा—"विचारों और सिद्धान्तों का इतना विरोध होते हुए भी, टॉल्सटाय ने अपने मित्रों में बैठकर मेरी 'प्रियतम' आदि कहानियों का अपनी रचनाओं की तरह पारायण किया है, खुले मन से प्रशंसा की है, और एक जगह तो यहाँ तक लिखा—जब-जब मैंने उस कहानी को पढ़ा, मेरी आँखों में आँसू आए बिना न रहे।[38] उन्होंने ही प्रकाशक मार्क्स से मेरे लिए सिफारिश की, कि मेरे पूरे साहित्य को छापे। यही बात गोर्की के साथ है। उसने मेरे और टॉल्सटाय के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसे देखकर कभी नहीं कहा जा सकता कि हम लोगों में अत्यधिक सौहार्द और आन्तरिक सम्बन्ध नहीं था।"[39]

फिर उन्होंने अपनी बात को पकड़ते हुए कहा—"टॉल्सटाय को सबसे अधिक आश्चर्य इस बात पर था कि मैं उनके सिद्धान्त को समझ क्यों नहीं पाता! टॉल्सटाय शाश्वत-तत्व का वही अर्थ लेते हैं जो 'कांट' लेता है। उनका विचार है कि हम सभी मनुष्य और पशु, मनुष्य के चरम ध्येय—प्रेम और विवेक के अनुसार ही रहते रहेंगे, जबकि इस 'चरम ध्येय' के मूल तत्व और उद्देश्य कम-से-कम हमारे लिए तो गोरखधन्धा ही हैं। मेरे सामने यह 'चरम ध्येय' या 'परम शक्ति' अपने आपको एक आकारहीन, एक जड़ सामूहिकता के रूप में अभिव्यक्त करती है, ऐसी सामूहिकता के रूप में जिसमें मेरा 'अहम्' मेरी चेतना और व्यक्तित्व विलीन हो जाएँगे—मेरे लिए ऐसी अमरता का न तो कोई उपयोग है और न मैं इसे समझ ही सकता हूँ।"[40]

टॉल्सटाय सम्बन्धी इस अवान्तर प्रसंग के बाद चैखव फिर अपनी पहली बात की ओर मुड़े—"हाँ, तो हम लोग शाखाल्निन की बात कर रहे थे। मैं बता रहा था कि यदि टॉल्सटाय का, पाप का प्रतिकार न करने और अहिंसा का सिद्धान्त जरा भी मानवमात्र की भलाई करने की शक्ति रखता होता—तो शाखाल्निन पहली जगह है जहाँ इसका प्रभाव दिखाई देना चाहिए था। लेकिन इस तरह का वहाँ कुछ नहीं हुआ, इसके विपरीत इस दब्बूपने ने अत्याचारियों को और भी क्रूर बना दिया है। उस प्रदेश को उन्होंने क्या बना डाला है, मैं जरा आपको वहाँ की स्थिति बताऊँ..."—खाँसकर चैखव ने कहा—"मैंने एक लड़के से पूछा—'तुम्हारे बाप का क्या नाम है?'

'मुझे नहीं मालूम।'

'क्या मतलब? तुम अपने बाप के साथ रहते हो, और तुम्हें उसका नाम नहीं मालूम? तुम्हें शर्म आनी चाहिए!'

'वह मेरा असली बाप नहीं है।'

'अच्छा, यह बात है! लेकिन क्यों?'

'वह सिर्फ मेरी माँ के साथ रहता है।'

'तुम्हारी माँ शादीशुदा है या विधवा?'

'वह विधवा है, अपने पति को मारने के अपराध में यहाँ आई थी।'

'तुम्हें अपने बाप की याद है?'

'नहीं, मैं जेल में पैदा हुआ था। मैं नाजायज सन्तान हूँ।' ...शाखालिन की स्त्रियों की संख्या पूरी आबादी की 11.5 प्रतिशत है, और वे सभी गर्भ-धारण करने योग्य आयु की हैं। बच्चे मरियल, पीले और उदास हैं। एक विचित्र बात है, अधिकांश अपराधिनी स्त्रियों की सजाओं के कारण प्रेम की विकृतियाँ या घरेलू झगड़ों के विस्फोट हैं—'मैंने अपने पति को मारा है।' —'मैं सास के कारण आज यहाँ हूँ'—अधिकांश स्त्रियों ने यही उत्तर दिए। यहाँ तक कि आगजनी आदि वाली स्त्रियाँ भी प्रेम के ही कारण अपराधिनी बनी थीं। कैदी स्त्रियाँ जैसे ही अलैक्जेन्द्रोव्स्क पहुँची कि वहीं से उनकी छँटाई शुरू हुई—कुछ अफसरों के 'हरम' में चली गईं, कुछ जेल के वार्डनों और क्लर्कों को मिलीं—अधिकांश उन कैदियों में बाँट दी जाती हैं, जो सजा के बाद वहीं जम जाते हैं और रईस बन जाते हैं। वहाँ के अफसर लोग तो मुझे कुत्ते-बिल्लियों से भी गए-गुजरे लगे। वहाँ के गवर्नर ने एक बार भूतपूर्व कैदियों के समूह से, मेरे सामने ही कहा—'मैं ध्यान रखूँगा कि आप लोगों को स्त्रियों का ठीक-ठीक हिस्सा मिले।' इसी तरह एक अफसर मुझसे बोला—'आप ही देखिए, ये लोग वसन्त में औरतें भेजते नहीं, जाड़े में भेजते हैं। जाड़े में औरत का कोई उपयोग नहीं है—उस समय तो वे किसानों के ऊपर बोझ हैं!' उसकी बात सुनकर याद आया, कि भूसा महँगा हो जाने पर लोग घोड़ों के बारे में भी ऐसे ही बातें करते हैं। मुझे तो विश्वास है, शाखालिन की दो-चार जेलों में रहकर, स्त्रियों में स्त्रीत्व नाम की चीज ही नहीं रह पाती। कुछ औरतों ने मुझे यह भी बताया, कि वे अपने पतियों की अपेक्षा यहाँ ज्यादा अच्छी तरह रह रही हैं, और चूँकि अब वे स्वतन्त्र हैं इसलिए उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है। एक बात और, इन 'स्वतन्त्र' स्त्रियों की स्थिति भी वहाँ कम आश्चर्यजनक नहीं है। जो अपने पतियों या बच्चों के साथ जाती हैं, उनकी हालत सभी स्त्रियों से गई-गुजरी है। उन्हें कोई सरकारी सहायता तो मिलती नहीं है, इसलिए मजबूरन अपना शरीर बेचती हैं और रहती हैं। दिन भर में पाँच-दस कॉपेक मिल जाते हैं। उनके पति लोग भी इस सबके अभ्यस्त हो जाते हैं। उन लोगों की लड़कियाँ भी, चौदह-पन्द्रह साल की होते-न-होते उसी जिन्दगी में रम जाती हैं। किसी भी कोमल, उच्च भावना की शाखालिन में जगह है कहाँ?"[1] आप विश्वास कीजिए, जब मैं ब्लादिवोस्तक पहुँचा तो ऐसा लगा, जैसे कब्र से तीन महीने बाद निकल कर बाहर आया हूँ। 'वायकल' जहाज पर एक अफसर की पत्नी लौट रही थी—जो बात-बात में खुलकर और खिलखिलाकर हँसती थी—सचमुच मैं ऐसी हँसी देखने के लिए तरस उठा था! वहाँ से जब मैं हांगकांग आया तो मालूम हुआ कि यहाँ अंग्रेज व्यापारी चीनियों का, बड़ी बुरी तरह शोषण करते हैं—इसका प्रमाण मुझे मिला उस समय, जब मैं आदमियों द्वारा खींची जानेवाली एक सवारी 'जिन रिक्शों' पर बैठा—लेकिन यकीन कीजिए, मुझे

रूसी-गवर्नमेण्ट के शोषण के आगे वह कुछ भी नहीं लगा। अंग्रेज शोषण करता है तो कम-से-कम सड़क-तार-रेल तो देता है। ये कम्बख्त तो कुछ भी नहीं करते!"[42]

एक गहरी साँस लेकर वे बोले—"यहाँ कितनी गरीबी है, कितना अज्ञान और अनाचार है, कि शायद निन्यानवे चोरों में एक सज्जन आदमी रूस की इज्जत रखे हुए है।[43] आते समय तो खैर हांगकांग, सिंगापुर, लंका इत्यादि पानी के रास्ते से आए थे—लेकिन शाखालिन जाते समय, साढ़े छः हजार मील साइबेरिया के विशाल मैदान ने और स्वयं शाखालिन ने मेरी आँखें खोल दीं—जीवन के प्रति सारा दृष्टिकोण ही बदल कर रख दिया।"

"साढ़े छः हजार मील!" आश्चर्य से मैंने दुहराया—"बिना रेल या वैज्ञानिक वाहनों के, वास्तव में आश्चर्य ही है!!"

"उस समय तो नहीं, आश्चर्य तो मुझे अब लगता है"—चैखव उत्साह से बोले—"19 अप्रैल 1890 को, सिर से पाँव तक कील-काँटे से लैस होकर, रिवॉल्वर इत्यादि लेकर मॉस्को से चला, तभी बड़ी जोर की खाँसी के साथ खून गिरा था। और इस सफर में मैंने सभी तरह की यात्राओं के मजे लिए—मॉस्को से येरोस्लाव तक रेल में, वहाँ से प्रैम तक नाव पर—पहले वोल्गा फिर कामा—प्रैम से त्युमैन तक फिर रेल में, त्युमैन से बायकल-झील तक घोड़ागाड़ी में, झील को नाव द्वारा पार करके फिर घोड़ागाड़ी में स्रेतेन्स्क तक, स्रेतेन्स्क से प्रशान्त सागर के बन्दरगाह निकोलायवस्क तक आमूर नदी के रास्ते नाव में; तब कहीं जाकर तार्तारी समुद्र को पार करके शाखालिन तक स्टीमर में—कैसा भयंकर सफर था—ओफ! दो-एक बार तो मैं मरते-मरते बचा।" चैखव की आँखों के आगे जैसे वे सारे दृश्य नाचने लगे। वे कहे जा रहे थे—"त्युमैन से मैं तोम्स्क तक नाव से जाना चाहता था, लेकिन उसके लिए पन्द्रह दिन रुकना पड़ता—मैंने एक गाड़ी किराये पर ले ली। अब आप साइबेरिया में, दुनिया की उस सबसे बुरी सड़क पर कई हजार मील की यात्रा की कल्पना कर लीजिए—कड़कड़ाता जाड़ा, बर्फ, ऊबड़खावड़ सड़क, सपाट-ऊजाड़-बर्फीले मैदान—कहीं कोई जान न पहचान, कोई साथ नहीं—और एक घोड़ागाड़ी पर चैखव साहब चले जा रहे हैं उछलते-कूदते। इस यात्रा में कई बार खून की कै हुई—मन बड़ा टूटा और भारी-भारी रहा।[44] मई में मैंने त्युमैन छोड़ा, तब तक मैं एक तरह सिर से पाँव तक शहीद हो चुका था—बर्फीली हवाएँ चलती थीं, पानी बरसता था—और जैसा कि बाद में कुछ लोगों ने कहा भी—हम थे कि डॉन क्विकजॉट की तरह चले जा रहे थे। कहीं नदियों में ऐसी बाढ़ आई होती थी कि पुल तक बह चुके थे, और कहीं झीलें तक जमी मिलती थीं। एक बार हम झील में भी गिर गए—पतली-पतली धरती की पट्टियों को पार करके इर्त्यिश नदी के किनारे पर पहुँचे। इसका किनारा पानी की सतह से सिर्फ दो फीट ढालू है, गँदला-कीचड़दार-फिसलना किनारा है और सफेद लहरें आ-आकर टकराती हैं। नदी गरजती नहीं है, बल्कि पानी में से ऐसी आवाज आती है, जैसे उसके तले में मुर्दों के ताबूत या अर्थियाँ लड़-लुढ़क रही हों—कैसा भयानक था! इस तरह हम तोम्स्क आए; और यहाँ से कोर्सनोयार्स्क तक जो भयंकर गर्मी, धूल, आँधी मिली, उसने तो

बिल्कुल दम ही निकाल लिया—ऐसी मुसीबतों में शायद मैं उलटा लौट आता; किन्तु एक तरफ तो आत्मसम्मान नहीं मानता था, दूसरे इन मुसीबतों को जल्दी-से-जल्दी पार कर लेने की लगन! मैं चलता ही चला गया। एक बात कहूँगा—साइबेरिया के किसान बेहद ईमानदार हैं। आप उनकी झोंपड़ी में अपना सामान छोड़ जाइए—मजाल क्या जो एक तिनका भी चला जाए!" फिर वे बहुत ही विभोर होकर बोले—"हाँ, एक बार बड़ा मजा आया। वहाँ गाड़ियाँ बहुत तेज चलती हैं। मैं ऊँघ रहा था—कभी-कभी आसपास का दृश्य देख लेता। अचानक पहाड़ियों में खड़खड़ाहट सुनी—तीन घोड़ेवाली एक डाकगाड़ी सामने से—बड़े भयंकर वेग से भागी चली आ रही थी। मेरे कोचवान ने जल्दी से मोड़कर गाड़ी बचाई, देखा पीछे एक और गाड़ी। गाड़ीवान ने फिर सीधे को गाड़ी बचाई, अब कम्बख्ती देखिए—सामने वाली गाड़ी अपने बाएँ को मुड़ गई—और जब तक मैं चीखूँ, दोनों भयंकर वेग से टकराईं—घोड़े आपस में उलझ गए, मेरी गाड़ी हवा में उछल गई और मैं ठीक सड़क के बीचोंबीच—दूर जा पड़ा, मेरी खोपड़ी पर मेरे ट्रंक आ पड़े! तब तक देखें तो एक तीसरी गाड़ी उतने ही वेग से चली आ रही है—अब अगर मैं छलाँग मार कर न बचूँ, तो मैं और मेरे ट्रंक वहीं चटनी हो जाएँ—मैं जोर से चिल्लाया—'गाड़ी रोको!' तभी चौथी गाड़ी दिखाई दी—तब तक यह रुक गई थी। बात यह थी कि डाक देकर ये लोग घर लौट रहे थे, और घर लौटने की जल्दी में पहला गाड़ीवाला गाड़ी को खूब तेज भगा रहा था—शेष सोये हुए थे। घोड़े अपने आप भाग रहे थे। उस दिन मैं न बचता तो हाथ-पाँव तुड़वा कर ही घर लौटता। अपनी गाड़ी मैंने खरीद ली थी, मगर उसे काफी नुकसान के बाद आमूर में बेच दिया। इस पूरी यात्रा का मैंने तो यही नतीजा निकाला है कि भगवान की यह दुनिया बड़ी सुन्दर है—बस इसमें एक ही चीज है जो सुन्दर नहीं है, वह हैं हम लोग—हम लोगों में न्याय और नैतिकता का बोध जैसे है ही नहीं! राष्ट्रीयता का कितना गलत अर्थ हम लोगों ने लगा रखा है—अखबार चिल्लाते हैं—हम अपने देश को प्यार करते हैं, लेकिन यह प्यार किन बातों में दिखाई देता है? आलस्य, मूर्खता, बेवकूफी के सिवा और हमारे पास क्या है? 'सम्मान' का अर्थ हमारे लिए है—वर्दी का, कुर्सी और कपड़ों का सम्मान।"[15]

चेखव द्वारा किए गए शाखालिन-यात्रा के वर्णन से वास्तव में हम लोग सिहर उठे, कि पता नहीं यह बीमार—हर कदम पर खून की कै करता हुआ यह आदमी कैसे इतनी यात्रा कर पाया होगा! विभोर होकर मैंने कहा—"ये सब वर्णन तो आपको किसी अच्छे उपन्यास में इस्तेमाल करने चाहिए थे—इतने प्रभावशाली और इतने सजीव!"

"यही तो दिक्कत है बन्धु" चैखव ने कहा—"उपन्यास तो मैं लिख ही नहीं सका। 'नवयुग' में मैंने शाखालिन के संस्मरण अवश्य लिखे, लेकिन उपन्यास मेरे वश के बाहर की बात थी।"

"कभी आपने उपन्यास लिखने की कोशिश भी नहीं की?" —निरंजन ने पूछा।

"नहीं, ऐसा तो नहीं है। शुरू-शुरू में कई बार मैंने उपन्यास लिखने की कोशिश की, लेकिन सन्तोष नहीं हुआ। 1887 में एक बार असफल होकर, दो साल बाद फिर

लिखने का निश्चय किया। उन दिनों तो उपन्यास लिखने के ऐसे वलवले उठते थे कि अपने सभी मित्रों—प्लैश्चयेव, ग्रिगोरोविच आदि सभी को मैंने लिख दिया कि मैं उपन्यास लिखने जा रहा हूँ—और उपन्यास ऐसा शानदार होगा कि आप लोग देखते रह जाएँगे। बड़े धीरज से, सँभल-सँभल कर मैं उसे लिख रहा हूँ; लेकिन डर यह है कि कहीं हिम्मत बीच में ही जवाब न दे जाए! अगर यह उपन्यास भी असफल हो गया, तो फिर मैं शायद ही इस धक्के को सम्भाल सकूँ। मेरे उस उपन्यास में कई परिवार, पूरा एक देश—उसके जंगल, नदी, जहाज, रेल सभी कुछ थे—मुख्य चरित्र केवल दो थे। तभी शायद जोश में सुवोरिन को भी लिखा था—'मैं अन्धाधुन्ध उपन्यास लिख रहा हूँ, और लिखने का कोई अन्त नहीं दीखता। नौ चरित्र स्पष्ट हो चुके हैं—क्या शानदार प्लॉट है! नाम रखा है—मित्रों के जीवन की कहानियाँ—इसका हर अध्याय एक स्वतन्त्र कहानी होगी। इसका अर्थ यह नहीं कि यह उपन्यास छोटी-छोटी कहानियों और टुकड़ों का संकलन होगा—नहीं, वह सु-सम्बद्ध उपन्यास है!' उस उपन्यास में मेरे दो उद्देश्य थे—एक तो जीवन जैसा है उसे वैसा-का-वैसा चित्रित कर देना; दूसरे, वह कैसे सामान्य-सीधी लीक छोड़कर गलत रास्ते पर भटक जाता हैं—इसका चित्रण। हम सब जानते हैं कि बेईमानी या गैर-ईमानदारी क्या है; लेकिन सम्मानित और समादरणीय किसे कहते हैं—यह हमें नहीं मालूम! मैंने इसका ढाँचा लिया है—पूर्ण स्वतन्त्रता। झूठ, दुराग्रह, अज्ञान, पाप और वासना—सबसे पूर्ण मुक्ति! हालाँकि यह ढाँचा नया नहीं था।[46] मेरी इच्छा थी कि मैं उस शानदार उपन्यास को आम नीलाम में बेचता, और फिर विदेशों में घूमने निकल जाता। कभी-कभी तो उसे लिख डालने की बेहद तड़प होती,[47] लेकिन होता यह कि उपन्यास बहुत ही रेंग-रेंग कर लिखा जाता, और जितना कुछ लिखा जाता उससे मुझे झुँझलाहट अधिक होती। वह उपन्यास मुझसे लिखा ही नहीं गया—मैंने उसे फिर फाड़ डाला। तब मैंने मान लिया कि मुझमें वर्णन करने—अपने विचारों को विवरण की तरह प्रकट करने का अभ्यास नहीं है, इसलिए मैं उपन्यास की कला में माहिर नहीं हो सका। फिर मैंने उपन्यास लिखने का विचार ही त्याग दिया और नाटक लिखने में हाथ लगाया, क्योंकि वर्णनात्मकता की अपेक्षा मुझमें 'नाटकीयता' अधिक थी।"[48]

"तो क्या उपन्यास लिखने का भेद आप सिर्फ 'वर्णनात्मकता' और 'नाटकीयता' मानते हैं?" —निरंजन ने प्रश्न किया, हालांकि अब हम लोगों पर मन-ही-मन बोझ पड़ने लगा था कि काफी देर हो गई है।

"अगर असली कारण पूछें कि क्यों मैं उपन्यास की कला को साध नहीं पाया, तो वह यह था कि मैंने जीवन की कोई राजनैतिक, दार्शनिक और धार्मिक रूप-रेखा अपने सामने नहीं रखी थी—और जो कुछ थी भी, उसे मैं हर महीने बदलता रहता था। इसलिए मजबूरी में, मुझे सिर्फ इन्हीं वर्णनों में अपने आपको बाँधकर सन्तोष करना पड़ा कि कैसे मेरे चरित्र प्यार करते हैं, बच्चे पैदा करते हैं, बातें करते हैं और मर जाते हैं।"[49] चैखव ने बहुत ईमानदारी से कहा।

"हाँ, वास्तव में यह है तो आश्चर्य की ही बात, कि आपके समसामयिकों

में—गोर्की के सामने एक बहुत स्पष्ट जीवन-दर्शन था, और उसने अपनी पूरी शक्ति उस ओर लगा दी—हर पंक्ति में उसका वह उद्देश्य गूँजता था। इसी तरह गलत या सही, टॉल्सटाय के सामने एक विचारधारा थी, और उनका लेखन उसी से अनुप्रेरित-अनुप्राणित था। मगर आपके लेखन में ऐसे किसी उद्देश्य को साकार करने का प्रयत्न नहीं है।'' —मैंने शंका की।

''देखिए, मुझे गलत मत समझिए!'' चेखव ने कहा—''मैंने सात-आठ सौ कहानियाँ लिखी हैं—और अगर उसमें जरा-सी भी कला है, तो एक बात और याद रखिए—मेरा विश्वास है कि जो व्यक्ति न किसी से डरता है, न कुछ चाहता है—किसी भी वस्तु को पाने की आकांक्षा नहीं रखता—वह और चाहे जो बन जाए, कलाकार नहीं बन सकता[50]—और जैसा कि मैंने एक बार लीडिया को लिखा था—'मैं मानवता के लिए कुछ कर रहा हूँ, यही एक भाव है जो मुझे जीवित रखे हुए है, वर्ना मैं कबका आत्महत्या कर चुका होता!' आप मेरी कला पर और सारे दोष लगा सकते हैं, लेकिन मैंने बहुत ईमानदारी से मानवता की भलाई के लिए, मनुष्य के प्रति प्यार के लिए कुछ नहीं किया—ऐसा आप नहीं कह सकते। अब आइए, गोर्की और टॉल्सटाय पर—टॉल्सटाय पर काफी बातें कर चुके हैं, इसलिए एक बात कहकर फिर आगे चलेंगे। अक्सर मेरी भर्त्सना की गई है—उन भर्त्सना करने वालों में टॉल्सटाय खुद भी हैं, कि मैंने बहुत छोटी-छोटी चीजों पर लिखा है, मेरे पास कर्मठ नायक नहीं है, क्रान्तिकारी नहीं है—अलैक्जेन्द्र और मकैदोन जैसे—यहाँ तक कि लैस्कोव की कहानियों जैसे ईमानदार पुलिस-इन्स्पेक्टर भी नहीं है।'' —वे जरा व्यथा से मुस्कराए—''लेकिन आप मुझे बताइए, मैं ये सब कहाँ से लाता? घोर साधारण हमारा जीवन है—हमारे शहर ऊबड़-खाबड़ हैं, गाँव गरीब हैं और लोग जीर्ण-शीर्ण हैं। जब हम लोग बच्चे होते हैं, तो गिलहरियों की तरह घूरों पर फुदकते हैं; और जब चालीस पर पहुँचते हैं, तब तक बुड्ढे हो चुके होते हैं—मृत्यु के बारे में सोचना शुरू कर देते हैं...किस तरह के नायक हैं, हम लोग?[51] आप बताइए कहाँ से लाऊँ मैं, वे नायक?''

कुछ देर चुप रहकर चैखव बोले—''और रहा आपका गोर्की, सो मुझे माफ कीजिए, सचमुच मेरी समझ में नहीं आता कि आप और आप जैसे युवक क्यों उस पर लट्टू हैं? निश्चय ही वह एक प्रतिभाशाली आदमी है, लेकिन आप लोगों को पसन्द है, उसका 'बाज का गीत', 'तूफानी समुद्री चिड़िया'! यह सब साहित्य नहीं है—यह सब गूँजने और गरजने वाले शब्दों का समूह है। मैं जानता हूँ, आप कहना चाहते हैं—राजनीति! लेकिन मुझे बताइए, यह कौन-सी राजनीति हुई कि 'निःशंक और निर्भय होकर बढ़ो!' यह तो कोई भी राजनीति नहीं है। अगर आप मुझे आगे बढ़ने के लिए ललकारते हैं तो आपको राह दिखानी होगी, लक्ष्य बताना होगा, साधन समझाने होंगे! आज तक राजनीति में, इस तरह वीरता के उन्माद या आवेश से कहीं कुछ मिला है?''[52] इस बार चैखव जरा उत्साह से बैठ गए और बोले—''गोर्की से मुझे दो-तीन शिकायतें हैं—सबसे अधिक शिकायत है उसकी शैली से—उस कम्बख्त की शैली इतनी संगीतमय है, इतनी प्रवाहपूर्ण है कि जरा भी नीरसता, या कहिए रूखापन—रफनेस

फौरन खटकने लगती है। जरूरत से ज्यादा हर चीज का मानवीकरण उसे खा जाता है—'समुद्र उच्छ्वसित होता है', 'आकाश देखता है', 'प्रकृति फुसफुसाती है, बोलती है या उदास दिखाई देती है'—ऐसे प्रयोग, हो सकता है आप इन पर लट्टू हों—लेकिन ये सब बड़े भौंड़े और बाजारू प्रयोग हैं। इससे वर्णन बड़ा एकरस—कभी जरूरत से ज्यादा मीठा और कभी-कभी जरूरत से ज्यादा अस्पष्ट बन जाता है। प्रकृति के वर्णन में विविधता, विशदता और अभिव्यंजना केवल सादगी से ही प्राप्त की जा सकती है।"[53] चैखव ने अपनी बात को और साफ करने की कोशिश की—"आपने पढ़ा—'समुद्र खिलखिलाता है' और आप उस पर मर-मिटे या उस जगह अटक गए। आप समझते हैं—आप इसलिए अटके कि कोई बहुत ही कलापूर्ण और अच्छी चीज पढ़ी है। लेकिन दरअसल बात यह नहीं है—बात यह है कि आप समझ नहीं पाते, कि समुद्र सचमुच हँस या खिलखिला कैसे सकता है? —समुद्र न हँसता है न रोता है—वह गरजता है, पछाड़ें मारता है और चमकता है! टॉल्सटाय के वर्णन देखिए—सूरज निकलता है और डूबता है, चिड़ियाँ गाती हैं—वहाँ न कोई हँसता है न सिसकता है! कला में सबसे बड़ी चीज है, यही सादगी!"

"और दूसरी चीज?" मैंने पूछा। एक लेखक—महान लेखक दूसरे के बारे में बात करे—जबकि समसामयिक होने के अलावा, वह स्वयं भी गहराई से चीजों को समझता हो, तो बातचीत काफी रोचक हो जाती है।

"दूसरी मुख्य चीज है..." चैखव बैठ गए थे, मेज पर पड़े सिगरेट के डिब्बे से सिगरेट निकालकर उन्होंने हमारी ओर बढ़ाई; हमारे हाथ जोड़ देने पर, होंठों में सिगरेट लगाकर जलाई और हाथ हिलाकर दियासलाई को ऐशट्रे में डालते हुए, जैसे स्वयं ही बोले—"वैसे खाँसी की वजह से मैं भी कम ही पीता हूँ। ...हाँ तो" —फिर मुँह से धुआँ निकालते हुए, सिगरेट उँगलियों में लेकर बोले—"उसकी दूसरी चीज है कि उसमें संयम नहीं है, वह नहीं जानता कि कहाँ उसे कलम रोक देनी चाहिए। वर्षों से मेरे पास महत्त्वाकांक्षी नए लेखकों के पत्र आते रहे हैं—लेकिन अक्टूबर (1898) में एक दिन मेरी डाक में एक किताब आई—साथ ही बड़ा विनम्र-सा पत्र। इस पत्र-लेखक का नाम मैंने पहले कभी नहीं सुना था—मुझे उसी समय लग गया था कि मैं एक 'कलाकार' का परिचय पा रहा हूँ। उसमें रचनात्मक लेखक के सभी गुण थे। सबसे बड़ी चीज थी उसकी समझ—वस्तुओं के निरीक्षण और अनुभूति की उसमें अद्भुत प्रतिभा थी—जैसे सब कुछ उसकी हथेली पर रखा हो! लेकिन बस, उसमें कमी थी तो यही कि कलम पर नियन्त्रण नहीं था। गोर्की ऐसे उत्साही दर्शक की तरह है, जो दिल-खोलकर अपने जोश और उत्साह को लुटाते हैं—जो न तो खुद सुन पाते हैं कि अभिनेता क्या कह रहा है, और न दूसरों को सुनने देते हैं! वार्तालाप के बीच में जब वह ऐसा अनियन्त्रित वर्णन करने लगता है, तो इच्छा होती है कि ये वर्णन क्या कुछ और कसे नहीं जा सकते थे? क्या दो-चार लाइनें काटी नहीं जा सकती थीं? यही वर्णन का ढीलापन, उसके प्रेम और स्त्रियों के मामले में है।[54] मैंने उसे लिखा था कि 'तुम्हारे सभ्य और शिक्षित लोगों के वर्णनों में एक अजब तरह का खिंचाव और घुटन

रहती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि तुमने उन्हें ध्यान से देखा नहीं है—नहीं, तुम उन्हें अच्छी तरह जानते हो, लेकिन तुम इस विषय में अधिक आश्वस्त नहीं लगते कि उन तक किस कोण या दिशा से पहुँचा जाए!' ''

गोर्की के बारे में चैखव के यह विचार सुनकर हमें वास्तव में बड़ा आश्चर्य हो रहा था। इन बातों के अलावा एक और बात से भी आश्चर्य था—बेचारे चैखव को यह पता नहीं था कि गोर्की की मृत्यु के दस साल बाद ही, हिन्दुस्तान में कृष्ण चन्दर नाम का एक और लेखक धूमकेतु की तरह उठेगा, जो गोर्की की निरीक्षण-शक्ति, अनुभूति और दृष्टि—इन तीनों विशेषताओं को ठोकर मार कर, उसकी शैली और लेखन के सारे दुर्गणों को समेट लेगा।

"आप मेरे उपन्यास लिखने की बात कह रहे थे"—चैखव कह रहे थे—"आप गोर्की के 'फोमा जॉर्जियेव' को लीजिए—जैसे किसी ने फुटा लेकर सीधी लाइन खींच दी हो—सब कुछ एक ही चरित्र के आसपास जमा कर दिया गया है। उपन्यास लिखने में सबसे अधिक जानने की जरूरत है 'लॉ ऑफ सिमेट्री'—ढेर या समूह में से सन्तुलन-समतोल! उपन्यास तो एक महल है—पाठक को आप स्वतन्त्रता दीजिए कि वह उसमें जहाँ चाहे जाए! जैसे किसी अजायब-घर में ले आए हों, इस तरह आप उसे उबाइए या चौंकाइए मत! कभी-कभी उसे लेखक और प्रमुख पात्रों दोनों से हटाकर आराम भी देना होगा—यानी उस जगह प्रकृति-वर्णनों—लैण्डस्केप-चित्रण का उपयोग है, या कुछ हल्की-फुल्की हास्य रस की चीज हो, कथानक में कोई मोड़ हो—या कोई नया चरित्र हो। गोर्की से मैंने हजारों बार कहा, लेकिन वह सुनता ही नहीं। हमारी भाषा में उसके नाम का अर्थ तो है तीखा, लेकिन असल में वह घमण्डी है!"[55] चैखव अपनी लम्बी उँगलियों से 'ऐशट्रे' इत्यादि को छूते रहे।

"तब भी, गोर्की की महानता का आखिर आप क्या रहस्य मानते हैं?" —अपने प्रिय लेखक के विषय में यह सुनकर निरंजन से जैसे रहा नहीं गया।

चैखव अपने प्रवाह में कहते रहे—"टॉल्सटाय को भी गोर्की से यही शिकायत है। वे उसकी सारी महानता और प्रतिभा को मानते हुए भी कहते हैं—कि लेखक को हर चीज आविष्कार करने का अधिकार है, लेकिन उसे अपने पात्रों के मनोविज्ञान का आविष्कार नहीं करना चाहिए। लेकिन गोर्की में यही मनोवैज्ञानिक आविष्कार आपको मिलेंगे। वह उन चीजों का वर्णन करता है जिन्हें उसने अनुभव नहीं किया[56]—और मेरा विश्वास है कि उस दुःख-तकलीफ का वर्णन मत करो, जिसे तुमने स्वयं अनुभव नहीं किया, और न उस दृश्य का वर्णन करो जिसे तुमने देखा ही नहीं! बातचीत में तो आपका झूठ निभ सकता है, लेकिन एक कहानी में वह सौ गुना भयानक हो उठता है। लेखक की मौलिकता सिर्फ उसकी शैली में ही नहीं, उसकी आस्थाओं और उसके विश्वासों के रूप में भी अपने आपको प्रकट करती है।"[57] फिर जैसे निरंजन की बात याद करके पूछा—"हाँ, आप क्या पूछ रहे थे—महानता? यही सवाल सुम्बातोव ने पूछा था। जब गोर्की का 'निचली गहराइयाँ' मॉस्को में बहुत सफलता के साथ खेला गया, तो सुम्बातोव ने गोर्की के नाटकों के बारे में मेरे विचार पूछे। मैंने साफ लिख दिया—'मैं

समझता हूँ, उसका 'फिलिस्तीन' स्कूली लड़के की-सी रचना है। नाटककार के रूप में गोर्की की यह विशेषता नहीं है कि लोग उसे पसन्द करते हैं, बल्कि यह है कि रूस में—या कहें, सारी दुनिया में वह पहला लेखक है, जो घृणा और नफरत से फिलिस्तीन[58] के बारे में बताता है—और यह उसने ठीक उस समय किया है, जब सारा समाज मानसिक रूप से इसके लिए तैयार था। ईसाइयत और आर्थिक दोनों दृष्टिकोणों से 'फिलिस्तीनवाद' एक पाप है, नदी के अवरोध की तरह यह हमेशा सड़ांध पैदा कर देता है; और गोर्की के ये शराबी और गँवार अवारे ही इस गतिरोध के खिलाफ सबसे सही जेहाद दिखाई देते हैं—हालाँकि इससे अवरोध बिलकुल नहीं टूटता, लेकिन एक भयानक दरार उसमें पड़ जाती है। पता नहीं मैं अपनी बात साफ कह पा रहा हूँ या नहीं। एक समय आएगा, जब गोर्की की सारी रचनाएँ लोग भूल जाएँगे—लेकिन खुद गोर्की हजारों साल तक याद किया जाता रहेगा। यह उसके बारे में मेरा अपना विचार है—हो सकता है मैं गलत होऊँ..."[59] चेखव ने बड़े आत्मविश्वास से कहा—"लेकिन वह मेरा सबसे अच्छा मित्र है—आप गलतफहमी में न पड़िए।" फिर हँस कर बोले—"अभी आपके आने के पहले ही तो वह आया था—शायद आपको मिला हो।" गोर्की की बात करते समय उनका मुँह ऐसा वत्सल हो उठा, जैसे अपने बच्चे के विषय में सुनकर बाप का होता है।

हमें यहाँ आते समय जो आदमी मिला था, वह गोर्की था—यह ध्यान आते ही मुँह से निकल गया—"अच्छा, वह था गोर्की? हमें इतनी देर से याद ही नहीं आ रहा था कि कौन है—चेहरा जरूर पहचाना-सा लगता था।" फिर थोड़ी देर चुप्पी रही। जैसे ही निरंजन से मेरी आँखें मिलीं, मैंने इशारा किया—चलो, काफी देर हो गई। उठने का निश्चय करके मैंने कहा—"अच्छा अब चलें, काफी समय हो गया...कल आपको जाना है, आपकी पत्नी को भी बुरा लग रहा होगा—आप बीमार हैं, ज्यादा तंग नहीं करना चाहिए!" हम उठ खड़े हुए।

तभी निरंजन ने कहा—"गोर्की के नाटक 'फिलिस्तीन' से कहीं आप इसलिए तो नाराज नहीं है, कि उसमें काम करते समय आपकी पत्नी ओल्गानिपर की तबियत खराब हो गई थी?"

इस पर हम तीनों ही जोर से हँस पड़े। वे बोले—"गोर्की के नाटक में तो पीछे हुई, पहले मेरे नाटक में ही हुई थी। मैंने शायद अभी बताया—एक बार बुरी तरह फेल होकर, जब मेरा 'समुद्री चिड़िया' दुबारा खेला गया तो सफल रहा; लेकिन उसी में इनकी तबियत खराब हो गई—ये उसमें आर्कदीना बनी थीं।" फिर हमें बैठने को कह कर वे बोले—"बैठिए, जब नाटकों की बात चलाई है तो इसे ही क्यों छोड़ा जाए! ...यह मेरा दुर्भाग्य रहा, कि मेरा एक भी नाटक मेरे मन के मुताबिक नहीं खेला गया—'वान्या चाचा' से मैं बीच में ही उठ आया, 'तीन बहनें' को ठीक से पेश नहीं किया गया, और 'समुद्री चिड़िया' की असफलता ने मुझे जो आघात पहुँचाया—उसे तो मैं भूल ही नहीं सकता! अलैक्जान्द्रिस्की थियेटर में पहली रात जब खूब गुल-गपाड़ा हुआ, तो मैं चुपचाप उठकर भागा—सड़कों पर भटकता फिरा; और मैंने निश्चय कर

लिया कि चाहे सौ साल और जिन्दा रहना पड़े, मैं आगे किसी भी थिएटर को कोई नाटक नहीं देने जा रहा हूँ! सुबह तीन बजे की गाड़ी से मैंने मिलीखोवो जाने का निश्चय कर लिया था। दूसरे दिन दस बजे जब मैं पत्र लिख रहा था, तभी पोतापैंको आया—वह अपनी प्रेमिका लीका मिजिनोब्ना का समाचार जानने आया था। मैं किसी से नहीं मिला। वही मुझे स्टेशन छोड़ने आया—मैं ऐक्टर, प्रोड्यूसर, डायरेक्टर, अखबारों और दर्शकों सबसे दूर भाग जाना चाहता था। पहले दिन जब मैं कानों तक ओवरकोट चढ़ाए, चुपचाप थियेटर से मुँह छिपा कर भागा था, तब मैंने सुना था, लोग कह रहे थे—यह चैखव कौन है? कहाँ से निकल पड़ा यह? —लोग ऐसे रद्दी नाटक क्यों लेते हैं? मैंने तभी निश्चय कर लिया कि बस, अब नाटक लिखना खत्म"—आगे कभी कोई नाटक मैं नहीं लिखूँगा। मैंने सुवोरिन को लिखा—आगे मेरा एक भी नाटक मत छापो! इसके बाद से मैं इतना डर गया, कि नाटक देखना मेरे लिए मुश्किल हो जाता। थियेटर में बैठने से अधिक आनन्द मुझे किसी दूसरी चीज में नहीं आता है—लेकिन खेल देखते हुए मुझे ऐसा खटका लगा रहता, जैसे अभी कोई गैलरी से चिल्लाएगा—'आग! आग!!' मुझे अभिनेता अच्छे नहीं लगते।"

"लेकिन दूसरी बार तो यही नाटक, स्टैनिस्लेव्स्की और नैमीरोविच डंचैंको जैसे समझदार लोगों के द्वारा मॉस्को आर्ट-थियेटर में खेला गया था..." मैंने कहना चाहा।

बात काटकर वे बोले—"माफ कीजिए, स्टैनिस्लेव्स्की रूस का सबसे बड़ा मंचविद् समझा जाता है, लेकिन जब 'समुद्री चिड़िया' का मेरे लिए व्यक्तिगत अभिनय—बिना मंच और सज्जा के हुआ, और उसमें स्टैनिस्लेव्स्की ने 'स्वेच्छाचारी' व्यक्ति त्रिगोरिन (उपन्यासकार) का जो अभिनय किया, उसे देखकर मैंने अपना माथा पीट लिया। इससे पहले भी मैं अखबारों में, स्टैनिस्लेब्स्की द्वारा त्रिगोरिन और रॉक्सानोव्ना द्वारा 'नीना' के अभिनय की बात पढ़ चुका था—त्रिगोरिन का अभिनय उससे जरा भी नहीं निभता था। यह एक ऐसा चरित्र है, जो स्त्रियों को प्रभावित और आकर्षित करता है। किसी 'थियेटर' अभिनेता के लिए उसे निभाना सम्भव ही नहीं है। लेकिन इस अभिनय को देखकर तो मैं इस बुरी तरह चीख उठा—'बन्द करो' कि बाद में मुझे स्वयं आश्चर्य हुआ कि मैं कैसे यों चीख सका। यही हाल बाद में 'चेरी का वगीचा' खेल का हुआ—स्टैनिस्लेव्स्की ने मेरे लिए तो उस खेल का सत्यानाश ही कर डाला'—यों वह चाहे जितना सफल रहा हो! अभी पिछले दिनों वह खेला गया—मेरी वर्षगांठ भी थी। खूब भाषणबाजी हुई।" फिर उन्होंने अपनी बात को जरा सैद्धान्तिक स्तर पर लाते हुए कहा—"देखिए, रंगमंच पर या नाटक में यथार्थवाद का जरा दूसरा अर्थ होता है। 'मॉस्को आर्ट थियेटर' में स्टैनिस्लेव्स्की ने यथार्थवादी माहौल पैदा करने के लिए कुछ वास्तविक 'टच' दिए थे—जैसे मेंढ़क का टरटराना, झींगुरों की झनकार, कुत्तों का भौंकना, या सचमुच रोता हुआ एक बच्चा लेकर नौकरानी का स्टेज पर आना—यह सब बेकार है। रंगमंच तो एक कला है। मान लीजिए क्रामोस्कोय द्वारा बनाए गए एक चित्र में, आदमी की नाक की जगह आप सचमुच की नाक लगा दें—नतीजा क्या होगा? नाक सचमुच की जरूर लगेगी, लेकिन चित्र का नाश हो जाएगा! स्टेज पर

हमें कुछ चीजें मानकर चलना पड़ता है—उदाहरण के लिए, चौथी दीवार वहाँ नहीं होती, लेकिन आप उसे स्वीकार करते हैं या नहीं?" फिर जैसे सारी बात को समेटते हुए बोले—"जो भी कुछ हो, और थियेटरों की अपेक्षा 'मॉस्को आर्ट थियेटर' लाख दर्जे अच्छा है! कम-से-कम अभिनेताओं को अपना पार्ट तो याद रहता है—अलैक्जान्द्रिस्की थियेटर में तो अभिनेताओं को प्रॉम्पटर के लिए राह देखनी पड़ती थी। ऐसा लगता है, जैसे यह एक स्वयंसिद्ध नियम बन गया है कि हमारे यहाँ के एक्टर असभ्य और अनपढ़ हों। पढ़ने-लिखने और मेहनत से तो उन्हें कोई मतलब ही नहीं है। जब जरा नए-नए होते हैं, तो हाथ-पाँव मटकाते हैं, खच्चरों की तरह हिनहिनाते हैं; और जब जरा बड़े हुए, फिर तो दिन-रात शराब पीने की वजह से उनका गला और आवाज सब मारी जाती है। ये क्या बकते हैं, किसी की समझ में नहीं आता।[62] इसीलिए जब मॉस्को आर्ट थियेटर की स्थापना हुई थी तो मुझे बहुत खुशी हुई कि चलो एक अच्छा थियेटर तो बना![63] जीवन को सुन्दर बनाने के जो भी प्रयास होते हैं—उन सबसे मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है।"[64]

"तो फिर एक बार हमें भी, आपके अपने नाटकों के बारे में पूछने दीजिए..." मैंने पूछा—"कुछ लोग आपको. शैक्सपियर के बाद संसार का सबसे बड़ा नाटककार मानते हैं।[65] और कुछ के ख्याल में, आपका 'चेरी का बगीचा' शेक्सपियर के सिवा सबसे अच्छा नाटक है, और 'तीन बहनें' जैसा नाटक तो आज तक लिखा ही नहीं गया!"[66]

"देखिए, इसी बात से मैं डर रहा था—यह तुलना बड़ी खतरनाक है! मैं जब गोर्की के बारे में बात कर रहा था, तब भी मुझे यह डर था कि कहीं आप तुलना तो नहीं कर रहे। गोर्की ने एक बार अपनी पुस्तक मुझे समर्पित करना चाहा। मैंने स्पष्ट कह दिया कि 'चैखव को' के अलावा तुम कुछ नहीं लिखोगे। और जव मैं उससे यह कहता हूँ कि भौंडापन और गाली-गलौज तुम्हारी प्रतिभा की मुख्य विशेषता नहीं है—अपनी भाषा में इधर-उधर बिखरी हुई गालियों को जब तुम काट दोगे, तब तुम्हारी समझ में यह बात आएगी—तो इसका मतलब यह कभी नहीं कि मैं किसी भी माने में उससे अपनी तुलना कर रहा हूँ।" फिर हँसकर, जैसे याद करते हुए बोले—"एक बार मैंने टॉल्सटाय से अपने नाटकों के बारे में पूछा, तो वे बोले कि वे शेक्सपीयर के नाटकों से भी बुरे हैं[67]—और ओल्या तो मुझे रूसी मोपासां कहती है।[68] अब बताइए कि मेरी और मोपासां की क्या तुलना है? सिवा इसके कि मैंने और उसने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं...अव इसी बात को लेकर सज्जन ने हम दोनों को पतनशील बताया, और इसे साहित्य में एक नया आन्दोलन कहा। मेरा कहना है—न कोई 'डिकेडैण्ट' है, न कभी 'डिकेडैण्ट' था। और अगर इन तथाकथित 'डिकेडैण्ट' या पतनशीलों को लो, तो ये 'पतनशील' नहीं धोखेबाज हैं—सबके सब! सब कूड़ा वेचते हैं—धार्मिकता, रहस्यवाद या ऐसी ही बेसिर-पैर की बातें! रूसी किसान तो कभी धार्मिक रहा ही नहीं है—अपने भीतर के शैतान को उसने खुद ही, न जाने कब का निकाल कर फेंक दिया! ये सब बातें तो उन्हीं लोगों ने, जनता को भड़काने के लिए खुद बैठकर गढ़ ली

हैं—इनका विश्वास नहीं करना चाहिए!"[69] फिर सोचते हुए, जैसे हमसे नहीं बल्कि सामने किसी अदृश्य व्यक्ति को सम्बोधित करके बोले—"भाई मेरे, सबसे पहले हमें अपने-आपको झूठ से मुक्त करना होगा। कला में यही तो अच्छी बात है कि वह झूठ को बर्दाश्त नहीं कर पाती! आप प्रेम में; राजनीति में, डॉक्टरी में झूठ बोल सकते हैं—लोगों को जितना चाहें ठग सकते हैं—यहाँ तक कि खुद को या भगवान को भी धोखा दे सकते हैं—पर यह ठगी का व्यापार आप कला में अधिक नहीं चला सकते।[70] जो आप अनुभव करते हैं, ईमानदारी से कहिए, ईमानदारी से लिखिए! जोला की मृत्यु ने मुझे काफी धक्का पहुँचाया—क्योंकि उसका लिखना पसन्द न होते हुए भी, मनुष्य के रूप में वह मुझे बहुत प्रिय था। तुर्गनेव को इतना पसन्द करते हुए भी, उसकी स्त्रियाँ मुझे अस्वाभाविक लगीं। दॉस्तायेव्स्की मुझे जरा भी पसन्द नहीं है! ये बातें मैं साफ कहता हूँ—इब्सन को मैं नाटककार ही नहीं मानता। जब मॉस्को आर्ट थियेटर ने 'सैवस्टोपोल' में उसका 'हैंडा गैम्बलर' और 'भूत' प्रदर्शित किए तो मैं देखने तक नहीं गया—कमरे में बैठा पढ़ता रहा। एक तो इब्सन में सादगी का अभाव है, दूसरे वह जिन्दगी को जानता ही नहीं है।"[71] फिर थोड़ी देर रुक कर बोले—"आज तो ऐसी अन्धेरगर्दी फैली हुई है कि कुछ पूछिए ही नहीं—दावतें उड़ाना, शैम्पेन पीकर जनता की जागृति पर, स्वतन्त्रता पर उस समय भाषण देना, जबकि सन्ध्या की वर्दी में सजे गुलाम आपकी मेजों के आस-पास मँडरा रहे हों—वे ही गुलाम जिनके लिए आप यह सब बातें कहते हैं—और सड़क पर कोहरे और बर्फ में, कोचवान बाहर अपने मालिकों की राह देख रहे हैं, यह है आज का फैशन—यह भयंकर पाप नहीं है?"[72] फिर जैसे अपने इस अनावश्यक और अप्रासंगिक जोश के प्रभाव को कम करते हुए चैखव ने कहा—"मैं मानता हूँ कि विरोध हैं और रहेंगे। लेकिन हम लोग एक-दूसरे को समझने की कोशिश भी तो नहीं करते हैं। हम लोग सब मिलकर बैठें, एक-दूसरे को समझें—जरूरत इसकी है...।"

"अगर मैं भूल नहीं करता तो कुछ-कुछ शायद इसी उद्देश्य को लेकर" मैंने याद करते हुए कहा—"आपने एक 'क्लाइमैटिक स्टेशन' या आश्रम जैसी चीज लेखकों के लिए यूक्रेन प्रान्त में बनाने का प्रयत्न किया था।"

"वह आश्रम!" —चैखव हँस पड़े, जैसे अपनी बचपन की कोई बेवकूफी की बात याद करके हँसे हों—"बिल्कुल तो नहीं, लेकिन कुछ-कुछ यही उद्देश्य जरूर थे। अधिकांशतः वह टॉल्सटाय के उपदेशों से प्रभावित रहने की स्थिति की बात थी—जब सुवोरिन की घनिष्ठता की वजह से मैं प्रगतिशील दल के साथ नहीं आया था। साहित्य में दलबन्दियाँ देखकर मुझे बड़ा दुख होता था। लियोन्तियेव को मैंने लिखा था—हम सभी लोग न तो एक ही तरह सोच सकते हैं, न अनुभव कर सकते हैं—क्योंकि हम सभी के लक्ष्य या तो बिल्कुल अलग हैं—या कहिए, लक्ष्य हैं ही नहीं! एक-दूसरे को हम लोग जानते ही नहीं—यही कारण है कि हमें कोई चीज एक जगह इकट्ठा नहीं कर सकती—एक नहीं कर सकती। ठीक है कि उसका जो उपचार मैंने आश्रम के रूप में सोचा था, वह गलत रहा हो; लेकिन बातें मैं सभी ठीक मानता हूँ। सचमुच

क्या हम संगठित होना चाहते हैं? मेरा ख्याल है—नहीं!'' अपने साथी लेखक की सहायता करना, उसकी रचनाओं और उसके व्यक्तित्व का आदर करना, उसकी सफलताओं से न कुढ़ना या उसके बारे में दुनिया भर की बातें न फैलाना, उससे झूठ न बोलना या उसके सामने दोमुँहापन न बरतना—इस सबके लिए एकमात्र जरूरत है इन्सानियत की! हम बहुत साधारण आदमी सही—लेकिन जरा अपने साथियों की तरफ यह रुख अपना लें। इससे कम-से-कम झूठा अकेलापन तो वे अपने चारों तरफ नहीं महसूस करेंगे। लेखकों की छोटी-सी बिरादरी, फिर उसमें भी यह दूरी और अलगाव पैदा कर देने का नतीजा है—शक, शुबहा, अवांछित जासूसी, नियन्त्रण''—यह सब हमारे न चाहते हुए भी हमें मार डालता है। और जितना ही हम एक-दूसरे की सहायता करते हैं, एक-दूसरे के सम्पर्क में आते, उतना ही हम एक-दूसरे का सम्मान करते हैं। इससे हमारे सम्बन्ध सच्चाई पर आधारित होते जाते हैं। मैं जानता हूँ, भविष्य में हो सकता है कि इससे हम सबको अधिक प्रसन्नता न हो, लेकिन ऐसी भविष्यवाणी का भी आधार क्या है कि हमारे जीवन में सुख और सन्तोष आएगा ही नहीं? यही कारण था कि मैंने आपस में निकट आने पर जोर दिया था।'' इस बार उन्होंने फिर नई सिगरेट जलाकर कहा—''इन्हीं सब बातों के लिए, लिखने वालों को रहने आदि की सुविधा के लिए हम यूक्रेन के गाँवों में, समागिन की जमींदारी की तरफ गए थे।''

''लेकिन इस आश्रम का विचार आपने छोड़ क्यों दिया?'' निरंजन बोला—''हमारे यहाँ तो अब भी 'आश्रमों' और 'तपोवनों' को ही लोग संसार की सब बुराइयों से छूट जाने का मार्ग बताते हैं—कोई कहता है हरिद्वार जाओ, कोई कहता है कैलाश जाओ!''

''अरे छोड़िए भी, सब बकवास है।'' चैखव ने हाथ झटक कर कहा—''देखो दोस्त, मेरा विकास बड़े विचित्र ढंग से हुआ है। काफी दिनों मैं सुवोरिन के साथ था—बेशक वह रूसी अभिजात-वर्ग का प्रतिनिधि था—धीरे-धीरे मेरे विचार 'लिबरल' या उदारपंथियों की ओर बढ़े—लेकिन सुवोरिन की दोस्ती की वजह से मुझे उसके पत्र 'नवयुग' से काफी दिन चिपके रहना पड़ा। और जब मैंने अपनी रचनाएँ उदारपंथी 'रूसी-विचार' आदि में छपाईं, तब मैं धीरे-धीरे बढ़ रहा था—गोर्की इत्यादि के पत्र 'जीवन' की ओर। यह आश्रम वाला फितूर तो सुवोरिन के सम्पर्क की देन थी—जो टॉल्सटाय इत्यादि उदारपंथियों के प्रभाव से दूर हुआ; तब मैंने समझा कि लेखकों के बीच की इस भयंकर खाई का मूल है—प्रतिक्रियावादी खेमे द्वारा किया जाने वाला विचारों का निर्मम दमन—सुवोरिन भी उसी खेमे का एक व्यक्ति था। और बाद में जब मैंने यह समझ लिया कि अहिंसा या सत्याग्रह से कोई पाप दूर नहीं किया जा सकता, तो इस 'आश्रम' के भूत ने मेरा पीछा छोड़ा।''

''यह बड़ी विचित्र बात है कि गोर्की कट्टर मार्क्सवादी पत्र 'जीवन' में लिखता था, टॉल्सटाय का 'उदारपंथियों' वाला अपना खेमा अलग था, और आप सुवोरिन के मित्र थे—तब भी आप तीनों में ऐसे सम्बन्ध थे—हम लोग तो यह सब सोच भी नहीं सकते।'' मैंने आश्चर्य से कहा।

''भाई, अपनी तो मैं कहता हूँ'' चैखव ने आश्वस्त वाणी में कहा—''मैंने अपने

भीतर के 'गुलाम' की आखिरी बूँद तक निचोड़ फेंकी थी, और जीवन जैसा है उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया था। शायद स्कैबिशेव्स्की ने कहा था कि मैं छोटी-छोटी चीजों पर लिख कर अपनी प्रतिभा नष्ट कर रहा हूँ। लेकिन सच मानिए, उन लोगों से मुझे शुरू से डर रहा है, जो 'उदारपंथी' या 'रूढ़िपंथी'—इन खेमों में मुझे बाँट कर देखना चाहते हैं। मैं साधु, सन्त, उदार, रूढ़ कुछ भी नहीं हूँ—इसलिए इन लेबिलों को दुराग्रह मानता हूँ। ये 'ट्रेडमार्क' खतरनाक हैं। मेरी पवित्रतम अराध्य है मानवता, मनुष्य शरीर—स्वास्थ्य, बुद्धि, प्रतिभा, प्रेम और मुक्ति—झूठ और द्वेष से मुक्ति![76] लोग मुझसे पूछते हैं कि मैं ऐसा लिख कैसे लेता हूँ? —उसकी वजह यह है कि जीवन को मैंने बहुत ही सहज रूप में स्वीकार किया है। इसीलिए जैसे चिड़िया गाती है, उसी तरह मैं लिखता हूँ। बैठूँगा और लिखने लगूँगा—बिना जरा भी यह सोचे कि कैसे लिखना है, किसके बारे में लिखना है। मेरे विषय अपने आप मुझसे लिखवा लेते हैं—कहानी, स्केच या कुछ भी लिखने में मुझे जरा भी मेहनत नहीं पड़ती। बछड़े की तरह हरे, खुशनुमा घास के मैदानों में वे उछलते-फिरते हैं—मैं खुद हँसा हूँ और मैंने उन्हें हँसाया है, अपने चारों ओर! मैंने जीवन का आलिंगन किया है, और बिना सोच-विचार में अधिक समय बर्बाद किए, उसके साथ इधर से उधर भटकता रहा हूँ। मैंने जीवन को नोचा, कोंचा, गुदगुदाया—उसकी पसलियों में, उसके कुचों में अँगुलियाँ गड़ाई हैं—पेट में घूँसे मारे हैं—मुझे उसी में बहुत आनन्द आया है।[77] मैं सिर्फ एक कलाकार हूँ, और इसके सिवा कुछ नहीं बनना चाहता।"[78]

"इसका मतलब तो यह है कि आपको अपने आलोचकों का काफी शिकार बनना पड़ा होगा। चाहे कालनिन ने आपके बारे में यह लिखा कि 'तत्कालीन रूसी जीवन की जितनी सही, सच्ची और जीवित तस्वीर आपने दी है, वह कोई महान लेखक ही दे सकता है'—और इसके लिए चाहे खुद गोर्की आपको देवता की तरह पूजता हो—लेकिन आपने अपने और गोर्की के बारे में जो बातें कही हैं, उन्हें सुनकर ही हिन्दुस्तान का कोई भी कठमुल्ला—और बहुत प्रचलित शब्दावली लूँ तो 'कुत्सित आलोचक' बिना आपको पढ़े, छूटते ही कह देगा कि 'चैखव गधा है'।" —मुझे चैखव विषयक अपना एक व्यक्तिगत वार्तालाप याद आ गया।

"हो सकता है वही सही हो; लेकिन आलोचक?" चैखव जोर से हँस पड़े—"पच्चीस साल से मैं अपनी आलोचनाएँ पढ़ रहा हूँ, लेकिन मुझे एक भी ऐसा वाक्य याद नहीं आता—जिसने मुझे जरा भी फायदा पहुँचाया हो, या जो जरा भी काम का हो। एक भी ढंग की सलाह नहीं। हाँ, स्कैविशेव्स्की का एक वाक्य मुझे हमेशा याद रहेगा—बस वही अपनी छाप छोड़ गया है। उसने मेरी किताब की आलोचना करते हुए कहा था, कि मेरी मृत्यु शराब के नशे में 'धुत्' होकर किसी नाली में पड़े हुए होगी।" वे फिर हँस पड़े।

आलोचक की इस भविष्यवाणी पर बिना हँसे हमसे भी नहीं रहा गया। चैखव बता रहे थे—"इन आलोचकों को तो आप, घोड़े को तंग करने वाली मक्खियों की तरह समझिए—घोड़ा काम में जुटा है, खेत जोत रहा है, उसके पुट्ठे सप्तम स्वर के

तार की तरह तने हैं—मक्खी आती है, उसके बाजू पर बैठकर छेड़ती है, भनभनाती है। घोड़ा खाल झटकता है, पूँछ फटकारता है—काम में खलल पड़ता है। मजा यह कि मक्खी खुद ही नहीं जानती कि आखिर भनभना क्यों रही है? सिर्फ इसीलिए है बेचैन कि सारा संसार जान जाए—'देखो, मैं भी तो हूँ—देखो, मैं किसी-न-किसी के बारे में कुछ-न-कुछ तो भनभना ही सकती हूँ।'[79] ये आज के आलोचक हैं।" फिर थोड़ा रुककर वे शायद अपनी 'मूर्ख' कहानी को याद करते रहे, जिसमें एक मूर्ख कुछ लिखने में असफल होने के बाद भयंकर, तीखा आलोचक बन गया था।

फिर बोले—"और आलोचकों को ही हम क्यों दोष दें? आप साहित्य के कर्णधार इन भारी-भरकम पत्रों को ही लीजिए। मजाक बना रखा है।[80] कोई उन्हें नहीं पढ़ता—पढ़ना भी नहीं चाहिए। 'मित्रों का साहित्य' बना रखा है उनको—और मित्रों के लिए ही वह लिखा भी जाता है। कोई-न-कोई राम, श्याम, गोविन्द उन्हें लिख डालते हैं। एक ने लिखा, दूसरे ने उसका विरोध किया, तीसरे ने उनके विरोधों में सामंजस्य या समन्वय करा डाला—चलो छुट्टी हुई। जैसे हर आदमी एक नकली पुतला बना कर घूँसेबाजी करता है—मजा यह है कि इनमें से कोई भी नहीं पूछता कि पाठकों का इससे क्या लाभ है?"[81] चैखव ने मुँह बनाकर कहा—"जब इन पत्रों के सम्पादक बैलिन्सकी, हैरजन जैसे लोग थे—तब लिखने का भी कुछ मजा था। सम्पादन एक दृष्टिकोण से होता था। उनसे आप कुछ सीखते थे, शिक्षा लेते थे—आज तो टुटपूँजिये लोग पत्रों के सम्पादक बन बैठे हैं[82]—" फिर जैसे मजाक उड़ाते हुए बोले—आज 'रूसी विचार' के सम्पादक कौन हैं? गोल्तसेव मिंडली! जिनके विचार से, नए लेखक कोई बड़ी चीज लिख ही नहीं सकते; और उसका कारण भी सिर्फ उन्हें पता है, कि नए लेखकों में विचारों की गहराई ही नहीं है। उनकी रट हमेशा यही है कि हमारा वर्तमान जीवन किसी भी अच्छे उपन्यास और कहानी के लिए कथानक दे ही नहीं सकता—क्योंकि" ...चैखव ने मजे से नकल उतारते हुए कहा—"क्योंकि हमारा जीवन और साहित्य एक बड़े भारी संक्रान्ति-काल से गुजर रहा है!"[83]

मुस्करा कर मैंने कहा—"यह संक्रान्ति-काल का रोना तो हमारे यहाँ भी बड़े जोर से रोया जाता है—लगता है, हर साहित्य में हर समय कुछ लोगों का यही पेशा होता है, जो चीख-चीखकर कहते हैं—हमारा साहित्य भारी संक्रान्ति-काल से गुजर रहा है! और यह मानकर फिर वे 'मूल्यगत-संक्रमण' की खोज करने उतरते हैं।"

चैखव ने कहा—"बकवास! हो सकता है ये गोल्तसेव वगैरा आदमी अच्छे हों—लेकिन रूस को ये क्या देंगे? —ये देंगे 'विधान', आदेश, उपदेश। मुझे सहानुभूति इनसे सिर्फ इसलिए है कि इनमें भी कमियाँ हैं, इन्होंने भी जीवन में कष्ट और संघर्ष सहे हैं—इसलिए नहीं कि वे बड़े भारी आदमी हैं या सम्पादक हैं! लेकिन यह महसूस किए बिना मुझसे नहीं रहा जाता कि ये लोग घुटन पैदा कर रहे हैं, और उस झूठ में सिर से पाँव तक डूबे हुए हैं—जो किसी ने गढ़कर इनके हाथों में पकड़ा दिए हैं। मॉस्को के हमारे ये सम्पादक, साहित्यिक 'दैशन्द' हैं। लम्बे शरीर, छोटे पाँव और नुकीले नथुने वाला 'दैशन्द' दोगले कुत्ते और मगर के मिश्रण से पैदा होता है, और ये लोग प्रोफेसरों

और मूढ़ लेकिन प्रसिद्ध व्यक्तियों के संयोग से उत्पन्न वर्ण-संकर हैं।"[84]

बीच का कटु प्रसंग आ जाने से थोड़ी देर चुप्पी रही, फिर वे खुद ही बोले— "इसीलिए मैं नए लेखकों से कहता हूँ—लिखो, लिखो, खूब लिखो—इतना लिखो कि तुम्हारी उँगलियाँ दर्द कर उठें! जितना लिख सकते हो लिखो, यह समझ कर नहीं कि तुम्हारे बौद्धिक-विकास के अनुकूल है या नहीं—बल्कि यह समझ कर लिखो कि तुम्हारी आधे से अधिक रचनाएँ लौट आएँगी—इन अस्वीकृत 'रचनाओं' से हताश मत होओ—अगर तुम्हारी आधी रचनाएँ भी लौट आती हैं तो तुम्हारे लिए बहुत है। अच्छा, बुरा, हास्य, रुदन—जो भी विषय मिले—लिखो। ज्यादा चलते विषयों को मत लो! जहाँ तक लेखक के मानापमान का प्रश्न है, पता नहीं आप क्या सोचते हैं—लेकिन मैं तो बहुत शुरू से अपनी कहानियाँ वापस पाने का अभ्यस्त हो चुका हूँ।"[85]

"ज्यादा लिखने का क्या मतलब?" मुझसे पूछे बिना नहीं रहा गया—"क्या लेखक सुबह ही कागज तौलकर बैठ जाए कि इतना लिखकर ही उठूँगा?"

निरंजन के साथ ही चैखव भी हँस पड़े, बोले—"मेरा मतलब सिर्फ मेहनत से है, ढेर लगाने से नहीं। ज्यादा लिखने वाला तो मैंने एक लेखक देखा है—'पोतापैंको'। मुझसे चार साल बड़ा था; गम्भीर बात करने वालों को, कला और साहित्य की शाश्वत समस्याएँ सुलझाने वालों को, मेरी तरह वह भी बहुत बनाता था—हमेशा हँसी-मजाक! उसके साथ आप अपने को जिन्दा अनुभव करने लगें। आदमी लेकिन कमाल का था—इतना भयंकर लिक्खाड़ कि खुदा की पनाह! तब मैंने समझा कि भयंकर रूप से इतना अधिक और ऐसा लिखना भी भगवान की ही देन है। वह पट्ठा बिना जरा भी रुके, बिना जरा भी संशोधन किए—एक दिन में सोलह पृष्ठ लिख सकता था। एक बार तो पाँच दिन में उसने 1100 रूबल कमाए।"

"बस, सोलह ही पृष्ठ?" मैंने निराशा से कहा—"सोलह पृष्ठ तो कुछ भी नहीं है। हमारे हिन्दुस्तान में तो अस्सी-अस्सी पृष्ठ दिन भर में लिख डालने वाले मौजूद हैं—चालीस-साठ पृष्ठ लिखना तो उनकी दिनचर्या है—उन्हें कभी संशोधन की जरूरत ही नहीं पड़ती।"

चैखव जैसे आसमान से गिरे—"अस्सी? लेकिन आपको मालूम है—पोता पैंको के लिए सुवोरिन ने डायरी में क्या लिख रखा था? —भयंकर लिक्खाड़—लेकिन 'थर्ड रेट' लेखक! शायद उसका यह 'थर्ड रेट' होना ही इस भयंकर उत्पादन का कारण था।"

अब निरंजन से बिना पूछे नहीं रहा गया—"आप आजकल कितना लिख रहे हैं?"

"मैं?" चैखव ने कहा—"मेरे लिखने की कुछ न पूछिए। आजकल तो ज्यादा लिखा ही नहीं जाता। अभी पिछले साल 'सगाई' कहानी खत्म की थी। वह और 'चेरी का बगीचा' मैंने चार लाइनें एक दिन के हिसाब से लिखी थीं—और इसमें भी काफी कष्ट होता था। 'आश्वानोव' का पहला रूप मैंने दस दिन में लिख डाला था। यों मुझे हमेशा अपने आपसे शिकायत रही है, कि साहित्य के लिए मुझमें न तो उत्साह है,

न प्रतिभा। मेरे भीतर जो आग जलती है, वह बड़ी मन्द और निर्बल है—वह बिना लपट और चटख के जलती है। यही वजह है कि मुझसे एक रात में चार-पाँच से अधिक पृष्ठ लिखे ही नहीं गए। ...खैर उन दिनों की बात छोड़ दीजिए, क्योंकि उन दिनों मैं आत्मा में 'गतिरोध'-सा अनुभव करता रहता था।[86] लिखने की गति के अलावा, अपने लिखे हुए से भी मुझे काफी शिकायत रही है। मेरी निगाह में मेरी एक भी लाइन ऐसी नहीं है, जिसका गम्भीर साहित्यिक महत्व हो। अपने अतीत में मैंने काफी कड़ा परिश्रम किया है; लेकिन उसमें गम्भीर काम का एक मिनट भी नहीं है। ईमानदारी से, मेरी बड़ी प्रबल इच्छा होती है कि पाँच साल को कहीं भाग जाऊँ और फावड़ा चलाने में वक्त गुजारूँ। मुझे अपना काम सीखना है—और बिलकुल शुरू से सीखना है, क्योंकि एक साहित्यिक के नाते मैं बिल्कुल कोरा हूँ। मुझे अपनी इच्छा के अनुसार लिखना है, परिश्रम और उत्साह से लिखना है। एक महीने में पाँच पृष्ठ नहीं, बल्कि पाँच महीने में एक पृष्ठ लिखना है। मुझे घर छोड़ देना चाहिए, और सात-आठ सौ रूबल वार्षिक पर रहना चाहिए—बीस-पच्चीस हजार पर नहीं, जो मैं अब कर रहा हूँ (जब यह पत्र लिखा गया था, तब वास्तव में चैखव ने 3-4 हजार बताए थे; लेकिन जिस काल का यह वार्तालाप है, उस समय वे मार्क्स को अपनी रचनाएँ 75000 रूबल में बेच चुके थे। इस सौदे को रद्द कराने के लिए गोर्की ने तर्क रखा था कि चैखव का वार्षिक खर्च 20,000 रूबल वह साहित्यिक चन्दे से इकट्ठा करेगा—लेखक) इन हजारों झंझटों से अब मैं मुक्ति चाहता हूँ, लेकिन डर मुझे यही है कि साहस की अपेक्षा मेरे भीतर यूक्रेनियन लोगोंवाली हरामखोरी और आलस्य बहुत है।[87] मेरा परिवार बहुत बड़ा था, और मुझे पैसे के लिए ही लिखना पड़ा—इस चीज ने मुझे बहुत कष्ट दिया है।" —चैखव ने फिर नई सिगरेट जलाई और चुपचाप पीने लगे।

घड़ी ने दस बजाए तो हम लोगों ने उठते हुए कहा—"अभी क्या है, आपका लिखने का असली समय तो अब आया है! अभी तो आप बहुत लिखेंगे..."

"नहीं, अब तो मैं मरने जा रहा हूँ।" शुरू की बात को उन्होंने फिर जरा व्यथित मुस्कराहट से दुहराया और अचानक हँसते हुए बोले—"और ज्यादा बूढ़ा हो गया तो और भी मुसीबत है—अभी तो मैं पाँच बजे उठ बैठता हूँ, फिर चार ही बजे उठ आया करूँगा। मैंने ध्यान दिया है कि सुबह जल्दी उठने वाले लोग बड़े उत्पाती होते हैं। मेरे पुरखे, मुर्गे की बाँग से पहले ही उठ पड़ते थे। यही मुझे भी लगता है कि बुड्ढा होकर मैं भी काफी उपद्रवी और उत्पाती बनूँगा।"[88]

हम लोग भी हँस पड़े। उठकर हाथ जोड़ते हुए हमने कहा—"आज आपका बहुत समय बर्बाद किया, लेकिन बहुत-सी बातें मालूम हो गईं—अब आज्ञा दीजिए।"

"समय की बर्बादी की भी कुछ न पूछिए।" हँसकर वे आधे उठ आए—"अब तो लिखना बन्द है, वर्ना जब लिखता था तो समय बर्बाद करने वाले लोगों और अतिथियों-दर्शनार्थियों के मारे परेशान था। कभी-कभी तो जीवन से घृणा हो जाती थी। वही बेवकूफी की लम्बी-लम्बी बातें, दुनिया भर की समस्याएँ लेकर लोगों का आना—उन लोगों के मारे मैं इतना ऊब गया था कि उत्तरी ध्रुव पर भाग जाना चाहता था—लेकिन

दिक्कत यह थी कि मैं बिना लोगों के जीवित भी नहीं रह सकता—जब अकेला होता था तो ऐसा लगता था, जैसे किसी ने प्रशान्त महासागर में उठाकर फेंक दिया हो।"[85]

इस पर फिर हँसी का कहकहा उठा। अभिवादन करके जब हम लोग उनके निवास स्थान से बाहर आए तो निरंजन बोला—"यह तो मानना पड़ेगा कि बुड्ढा है जिन्दादिल—"

"जिन्दादिल नहीं होता तो इतनी बीमारियों के होते हुए, इतना लिखता और घूमता कैसे?" मैंने बताया—"इसकी जिन्दादिली ही तो इसे जिन्दा रखे हुए है।"

"लेकिन मित्र, तेज भी बहुत है।" निरंजन ने हँसकर कहा—"देखो, चलते-चलते भी, तुम्हारे इतनी देर बैठने पर टांच मार गया। और तू भी वहाँ ऐसा जमकर बैठ गया कि हिलने का नाम ही नहीं लेता था।"

"अरे यार, मैंने तो उठने की बहुत कोशिश कीं, लेकिन बात का तार ही नहीं टूटा—एक में से दूसरी बात निकाल लेता था। और बीच में यों छोड़ कर चले आना बद्तमीजी थी।"

"हुँह"! निरंजन झुँझला गया—"तुम तो आए थे 'इन्टरव्यू' लेने—ले लिया इन्टरव्यू? —दुनिया भर की, रूसी साहित्य की जनमपत्री ही खोल दी।"

"अरे...तू बड़ा अजब आदमी है!" मैं चलते-चलते रुक गया और आश्चर्य से उसकी ओर देखकर बोला—"इन्टरव्यू में अब क्या कसर रह गई? सभी कुछ तो पूछ लिया।"

"अच्छा, चलते-चलते बातें करो—देर हो गई है।" उसने मुझे धक्का दिया, फिर बोला—"ऐसा 'इन्टरव्यू' होता है? दुनिया भर की मतलब-बेमतलब की बातें कर दीं—कैसे खाते हो, कैसे रहते हो। अरे, मतलब-मतलव की बातें पूछते, जवाब लिखते और फिर चल भैया!"

"यानी यों कि आप कब पैदा हुए, कैसे लिखना शुरू किया, साहित्यिक विचार क्या हैं, प्रेरणाएँ क्या रही हैं? —ऐं?" मैंने अनजान बनकर पूछा।

"और क्या! हम तो 'इन्टरव्यू' का यही मतलब समझते हैं। दुनिया भर की बात पूछने से क्या लाभ? तुम्हारी तरह ही सब इन्टरव्यू लेने लगें—तो पहले तो उसकी, उसके मित्रों की सारी किताबें पढ़ लें, फिर उससे 'इन्टरव्यू' करने जाएँ। इतनी मेहनत की जरूरत क्या है?" —निरंजन बोला।

"तो एक बात बताऊँ—इस सबकी भी क्या जरूरत है कि मिलने जाओ-आओ—समय निश्चित करो—वग़ैरा-वगैरा? कुछ प्रश्न बना लिए, उन्हें टाइप कराके हरेक के पास भेज दिया—जवाब आ गया—अपने नाम से छपा दिया—चलो छुट्टी हुई!"

"अरे—यही तो तुम नहीं जानते, मित्र!" मेरे कन्धे पर हाथ मार कर वह बोला—"बड़े आदमियों से मिलने जाने में बड़े-बड़े फायदे हैं। लोग तो ऐसे बड़े आदमी के साथ अपनी फोटो अखबारों-किताबों में छपा-छपाकर मशहूर हो जाते हैं—जिस भले आदमी ने जिन्दगी में कभी उन्हें देखा भी न हो। और तू उन्हें मिलने भी नहीं देगा? ...कम्बख़्त!..."

मैं अभी बात पूरी भी नहीं कर पाया था कि बड़ी जोर से कुछ गिरने का शब्द हुआ, और मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा—सारी नींद और सपना गायब हो गया। देखा कि ऊपर की आलमारी से चूहों ने एक किताब गिरा दी है, जो ठीक मेरे सिर के पास आकर पड़ी—जरा बच गया, नहीं तो चटनी हो जाती। चौंक कर देखा तो किताब थी—'इंटरव्यू : एक कला'। माथा ठोक लिया। अगर चूहा इसे कल सन्ध्या को ही गिरा देता, तो शायद सपने का यह 'इन्टरव्यू' कुछ कलापूर्ण हो जाता! अब उठकर जो देखता हूँ तो चारों तरफ किताबें बिखरी पड़ी थीं—एक तरफ गोर्की की 'चैखव, टॉल्सटाय और एन्द्रीव के संस्मरण' थी तो दूसरी ओर 'चैखव के पत्र'—तीसरी ओर 'चैखव की जीवनी' थी तो एक ओर 'रूसी साहित्य का कोश'—एक ओर कॉन्सटैन्स गारनेंट द्वारा अनुवादित चैखव की रचनाओं का विशाल ढेर था। और जिस किताब को मैं पढ़ते-पढ़ते सो गया था—मेरी छाती पर डेविड मैगार्शक की 'चैखव : एक जीवनी' (मेरी जिन्दगी में चैखव) किताब खुली रखी थी—उसे हटाते समय जिन लाइनों पर मेरी निगाह गई, वे गोर्की की लाइनें थी। जर्मनी में मरने के बाद चैखव का शव मॉस्को लाया गया—"उसकी शव-यात्रा के पीछे केवल सौ आदमी मुश्किल से थे। उनमें से दो वकील तो मुझे अब भी याद है—दोनों नए जूते और रंगीन टाइयाँ पहने थे और दूल्हे-से लग रहे थे। पीछे चलते हुए मैंने सुना—उनमें से एक कुत्तों की बुद्धिमत्ता पर बहस कर रहा था, और दूसरा अपने गाँव-घर के आराम तथा आसपास के दृश्यों का बखान कर रहा था।"

गोर्की के इस क्रूर व्यंग्य पर मैं तिलमिला उठा!

सन्दर्भ

1. प्रोफेसर रोसोलिमो और निकोलाय तेलेंगोव के वर्णनों के आधार पर।
2. 9 दिसम्बर, 1890 को सुवोरिन को पत्र।
3. चैखव का डॉक्टर स्रोदन को 1 जून का पत्र।
4. हेलेन शावरोव का पत्र
5. फरवरी 1900 में मेरी को चैखव का पत्र।
6. सुवोरिन को पत्र।
7. जिस समय मैंने यह सब लिखा था, मेरे जिन्दगी के अनुभव कुछ भी नहीं थे; आज कह सकता हूँ कि ओल्गानिपर से चैखव का विवाह बहुत सफल नहीं। उनका ओल्गा के प्रति जरूरत से ज्यादा सम्मान, कहीं सम्बन्धों के सतहीपन को ही बताता है। उनमें औपचारिकता अधिक है, आत्मीयता कम। हालाँकि ओल्गा को लिखे चैखव के पत्र साहित्यिक दृष्टि से उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जैसे किसी भी लेखक के हो सकते हैं। रा. या. 16579
8. 1892 में शैश्नैल को पत्र।
9. मेरिया किसेलेव को पत्र।
10. 2 जुलाई 1877 को मिखायल को पत्र।
11. ब्लादीमीर तिखोनोव को पत्र।
12. सुवोरिन को पत्र।

13. ब्लादीमीर कोरोलैंको को पत्र।
14. सुवोरिन को पत्र।
15. लैजारेव ग्रुजिन्स्की को पत्र।
16. अलैक्जेन्द्र कुप्रिन का संस्मरण।
17. 2 जनवरी 1889 को अलैक्जैन्द्र का पत्र।
18. 18 मार्च 1899 को एविलोव को पत्र।
19. मिखायल को पत्र।
20. 25 अप्रेल 1899 को टॉल्सटाय के गोर्की सम्बन्धी विचार सूचित करते हुए गोर्की को पत्र।
21. 'मेरे जीवन में चैखव' में लीडिया का वर्णन। यह मधुर प्रेमकहानी लीडिया की मृत्यु के बाद–1950 के बाद प्रकाशित हुई।
22. 30 अगस्त को लीडिया का पत्र।
23. 9 मार्च 1980 को सुवोरिन को पत्र।
24. टॉलस्टाय का एक उपन्यास।
25. सुवोरिन को पत्र 9 मार्च, 1890।
26. चैखव की रचना 'शाखालिन' से।
27. प्लैश्चयेव को पत्र।
28. चैखव की किताव 'शाखालिन'।
29. मेनशिकोव को चैखव का पत्र तथा गोर्की द्वारा नेखव के संस्मरण।
30. अमेरिकन लेखक अर्नेस्ट जे. सिमन्स की पुस्तक 'लियो टॉल्सटाय' में।
31. 27 मार्च, 1954 को सुवोरिन को पत्र।
32. जुलाई 1890 का पत्र।
33. 8 जुलाई, 1892 को सुवोरिन को पत्र।
34. सुवोरिन को पत्र।
35. फरवरी 1900 में गोर्की को पत्र।
36. गोर्की द्वारा लिखित टॉल्सटाय के संस्मरण।
37. कोरोलेंको को पत्र।
38. टॉल्सटाय द्वारा लिखित 'डार्लिंग' की आलोचना।
39. गोर्की की पुस्तक 'चैखव, टॉल्सटाय और एन्द्रीव के संस्मरण।'
40. 28 मार्च 1897 को मॉस्को क्लिनेक में टॉल्सटाय के मिलने आने के बाद, चैखव का अन्शकोव को पत्र।
41. चैखव की किताव 'शाखालिन'।
42. सुवोरिन को 9 दिसम्बर 1890 को पत्र।
43. उस समय तक ब्लाडीवोस्तक से लेनिनग्राड जाने वाली संसार की सबसे बड़ी रेल नहीं बनी थी।
44. मेरिया किमेलेवा को 7 मई 1890 को पत्र।
45. 9 दिसम्बर 1890 को सुवोरिन को पत्र।
46. प्लैश्चयेव से वार्तालाप।
47. सुवोरिन को 9 जून 1889 को पत्र।
48. मार्च 1889 में सुवोरिन को पत्र।
49. अक्तूबर 1988 में ग्रिगोरोविच को पत्र।
50. चैखव के एक पत्र से।
51. मोरोजोव की जमींदारी में तिखोनोव से वार्तालाप।
52. मोरोजोव के यहाँ तिखोनोव से वार्तालाप।

53. 6 नवम्बर 1892 के बाद गोर्की को दूसरा पत्र।
54. 16 नवम्बर 1898 को गोर्की को पत्र।
55. तिखोनोव से वार्तालाप।
56. 25 अप्रैल 1899 को गोर्की को पत्र।
57. 1886 के आसपास अलेक्जेन्द्र को पत्र।
58. फिलस्तीनवाद : अपने मत से अलग विश्वास रखनेवाले को हिकारत से देखकर म्लेच्छ या काफिर कहना—विशेष रूप से जर्मन विद्यार्थियों और नीच काम करनेवालों के प्रति घृणा। इजराइली सिद्धान्तों की विरोधी विचारधारा।
59. सुम्बातोव को 2 फरवरी 1903 को पत्र।
60. स्टेशन पर पोता पैंको और चैखव का वार्तालाप।
61. 29 मार्च 1904 को ओल्गानिपर का पत्र।
62. अलैक्जेन्द्र तिखोनोव से वार्तालाप।
63. सुवोरिन को पत्र।
64. स्टैनिस्लेव्स्की द्वारा गोल्तसेव के दफ्तर का वर्णन।
65. 'नया-जीवन' 1 फरवरी 1954 में श्री जगदीश चन्द्र माथुर का इन्टरव्यू।
66. बर्नार्ड गिलबर्ट ज्वर्नी—'रूसी साहित्य का कोश' पुस्तक में।
67. टॉल्सटाय की पत्नी सोनिया की 6-7 नवम्बर 1901 की डायरी से।
68. नवम्बर 1901 में ओल्गानिपर का पत्र।
69. अलैक्जेन्द्र तिखोनोव से वार्तालाप।
70. अलैक्जेन्द्र तिखोनोव से वार्तालाप।
71. स्टैनिस्लैव्स्की का वर्णन।
72. 19 फरवरी 1894 को चैखव की डायरी।
73. 3 मई को लियोन्तियेव को पत्र।
74. लियोन्तियेव को पत्र।
75. वरान्तसेविच को पत्र 30 अप्रैल 1887।
76. 1889 अक्टूबर में प्लैश्चयेव को पत्र।
77. पैत्रोव द्वारा 'चैखव' पर—चैखव के विचार—'रूसी साहित्य का कोश' पुस्तक से।
78. प्लैश्चयेव को पत्र।
79. 'चैखव, टॉल्सटाय और एंद्रीव के मेरे संस्मरण'—गोर्की की पुस्तक, पृष्ट 105।
80. 'चेखव, टॉल्सटाय और एंद्रीव के मेरे संस्मरण'—गोर्की की पुस्तक, पृष्ट 105।
81. 23 जनवरी 1882 को प्लैश्चयेव को पत्र।
82. 1888 में कवि पोलोन्स्की को पत्र।
83. चैखव का लीकन को पत्र।
84. जिस लेखक के माध्यम से चैखव मालत्सेव से मिले थे—उसे पत्र।
85. सितम्बर 1886 में मोरिया कैसीलेव को पत्र।
86. मार्च 1889 के आसपास सुवोरिन को पत्र।
87. दिसम्बर 1889 में सुवोरिन को पत्र।
88. और अवसर पर सुवोरिन को पत्र।
89. जून 1889 में सुवोरिन को पत्र।

होना/सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ

(परम पावन पूज्यपाद नामवराचार्य के श्री चरणों में)

इन औरतों ने तो मार मुसीबत खड़ी कर रखी है। प्राण ले लिए। न जाने कहाँ-कहाँ से चींटियों की तरह निकलती चली आ रही हैं। चाहती क्या है आखिर ये...? हम नदी-नालों में डूब मरें या फाँसियाँ लगाकर मर जाएँ? क्यों मर जाएँ? सिर्फ इसलिए कि आज तुम हमारे सिर पर नाचने लगी हो? कोई हद होती है बर्दाश्त की भी। हम तो सोचते थे कि चलो, इन्हें भी थोड़ी उछल-कूद कर लेने दो। भीतर का गुबार निकल जाएगा तो अपने आप ठंडी हो जाएँगी! हम गम्भीर लोग हैं, इस तरह इनके मुँह लगेंगे तो अपना ही नुकसान करेंगे, 'छिमा बड़न को चाहिए, छोटन को अपराध', मगर नहीं साहब, इस तरह मान जाएँ तो औरतें ही किस बात की! मुँह लगाई डोमनी गावै ताल-बेताल...हम तो कहते हैं कि भागवानो, जो तुम्हें लेना-लिवाना है, ले लो और जान छोड़ो। हमारे प्राण मत खाओ। यह चौबीसों घंटों का रोना बन्द करो कि हम तुम्हें यह नहीं दे रहे, वह नहीं दे रहे—या हमने तुम्हें क्या-क्या नहीं दिया, किस तरह सताया, मारा ...अरे, गुस्से में या किसी और मतलब से हो गया होगा कुछ उल्टा-सीधा, अब इसका यह मतलब तो नहीं कि तुम हमेशा हमें सूली पर ही लटकाए रहो। किस-किस की सफाई देते रहें और क्यों देते रहें? जब तुम हमारे कहने में नहीं रहोगी, हर वक्त मनमानी करोगी तो क्या तुम्हारा अचार डालेंगे? हम तो तुम्हारी वो ठुकाई करेंगे कि सारा नारी-फारीवाद भूल जाओगी... जब तक चुप हैं तभी तक तुम्हारा सारा खेल-तमाशा चल रहा है, जब अपनी-सी पर आ जाएँगे तो ये सारी टें-टें भूल जाओगी। बोटी-बोटी काट डालेंगे।

...सच कहा है बड़े-बूढ़ों ने कि 'दरी और दारा को झाड़ते रहो', तभी ठीक रहती हैं।

यह बराबरी-वराबरी का लफड़ा क्या है? प्रकृति में कहीं कोई बराबरी होती है? शेर-कुत्ता, गधा, घोड़ा क्या सब बराबर हो जाएँगे? न पाँचों उंगलियाँ होती हैं, न दो सगे भाई। प्रकृति के विरुद्ध जाओगी तो कुछ हाथ नहीं आएगा, विनाशकाले विपरीत बुद्धि—अपना ही नाश करोगी चण्डालिनो! मालिक और नौकर हमेशा से होते आए हैं—आज कोई नई बात नहीं है। तुम चाहे कितना भी आसमान सिर पर उठा लो, जो अटल है, वह अटल रहेगा।

अब बोलो, हजारों सालों का इतिहास निकालकर बैठी हैं कि हमने कैसे उन्हें अपना गुलाम बनाया, कैसे उनकी नस-नस में यह भाव भर दिया कि रात-दिन हमारी सेवा नहीं करेंगी, हमारे इशारों पर उठेंगी-बैठेंगी नहीं, हमें अपना स्वामी, भगवान और मालिक नहीं मानेंगी तो उनका जीना, सांस लेना व्यर्थ है, नरक में भी उन्हें जगह नहीं मिलेगी और सड़-सड़ कर मरेंगी, साली कहती हैं कि हमने उन्हें जानवरों की तरह मारा, कूटा और कुचला है, उनकी हत्याएँ की हैं, अंग-भंग किए हैं और बिना अपराध के भीषण यंत्रणाएँ दी है। घर-घर को यातना-घर बना दिया है। हाँ, हाँ ये सब किया है या मान लो आज भी कर रहे हैं तो क्या प्यार नहीं किया हमने, तुम्हें नाजुक फूलों की तरह हथेलियों पर नहीं रखा, तुम्हारे लिए महल-अटारे नहीं बनवाए, राजमहल और ताजमहल नहीं खड़े किए? दुनियाभर के हीरे-जवाहरात नहीं लुटाए, एक से एक कीमती गहने-कपड़े तुम्हारे ऊपर निछावर नहीं किए, कविताएँ-दर्शन नहीं लिखे! वो सब करने कोई दूसरा आया था? ऐसी अहसानफरामोशी तो मत करो कम्बख्तो... अत्याचारों की लम्बी सूची तो हमारे मुँह पर मारोगी—जरा उन बातों को भी तो गिनाओ जो हमने तुम्हारे लिए की हैं, हमने तुम्हारे लिए नदियाँ, समुंदर लांघे, पहाड़ों पर चढ़े, रेगिस्तानों में भटके और सारे जमीन-आसमान नाप डाले, सो कुछ हुआ ही नहीं? इस बेहयाई पर अगर आदमी गुस्से से तुम्हारा सिर न फोड़ दे तो क्या आरती उतारे? और सच बताना, क्या हमने तुम्हारी आरतियाँ नहीं उतारीं? भजन और कीर्तन नहीं किए? आज भी जो लाखों लोग हजारों मील की धूल फांकते देवियों-भगवतियों के दर्शनों को पहुँचते हैं सो उस सबको भी बेकार कर देगी? वो औरतें नहीं हैं? होंगी देवियाँ, जगज्जनियाँ जिनके लिए होंगी—हैं तो औरतें ही।

बताओ, क्या नहीं किया हमने तुम्हारे लिए और आज तुम कहती हो हमने तुम्हारा सिर्फ इस्तेमाल किया है। हाँ, हाँ किया है इस्तेमाल, सम्बन्धों का तो मतलब ही है कि दोनों पक्ष एक-दूसरे का भावनात्मक या भौतिक इस्तेमाल करे, चाहो तो कह लो कि एक-दूसरे को बेवकूफ बनाकर अपना काम निकालते हैं। हमीं क्या, तुम भी हमारा इस्तेमाल करती हो : पहले छोटी बच्ची बनकर हमें मोहपाश में बाँधती हो, फिर रूप-जाल में हमें अंधा करती हो, दुनियाभर के नाच-नचाती हो, न जाने किस-किस से लड़वाती और मेल कराती हो—फिर बैठकर अपने बच्चे पलवाने लगती हो। आदमी गधे की तरह दिन-रात मारा-मारा फिरता है, खून-पसीना एक करता है और तुम्हारे और तुम्हारे बच्चों के लिए दाना-पानी लाता है, घर-मकान बनाता है, आने वाले दिनों का इंतजाम करता है, अपनी सारी जिन्दगी तुम्हारे लिए हलकान कर देता है और तुम? तुम मुर्गी महारानी की तरह अपने डैने फैलाकर बच्चें को समेटे बैठी-बैठी गुटर-गुटर करती रहती हो। एक उल्लू का पट्ठा है जो दुनिया-जहान एक करके तुम्हारी सुख-सुविधा का इंतजाम करेगा। बदले में उसे मिलता क्या है? सिर्फ दो वक्त की रोटी, थोड़ा-सा आराम, तुम्हारा लाड़-प्यार और अगले दिन फिर गधे की तरह खटने-मरने की तैयारी। तुम उसके दिमाग कूट-कूटकर भरे रखती हो कि जो कुछ भी वह कर रहा है वह तो सिर्फ अपने लिए या अपने बच्चों के लिए है, उस बेचारी का क्या है, वह तो

उसके बच्चों की आया है, उसका वंश चलाने की मशीन है, यों ही एक दिन मर-खप जाएगी। हम तो छाती ठोककर यह भी नहीं कह सकते कि यह बच्चे हमारे ही हैं। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक आदमी कब तुम्हारे जाल से छूट पाता है? कोई भी मुसीबत आती है तो 'हाय-माँ' कहकर तुम्हें गुहारता है। कहो, आदमी सारी जिन्दगी तुम्हारे आब्सैशन को ही ओढ़ता-बिछाता है। सौ में से एकाध ऐसे भी होंगे जो इस चौबीस घंटे की खिच-खिच और गुलामगीरी से छूट भागते हैं, या मर-मरा जाते हैं। तब तुम छाती-माथा कूटकर दुनिया सिर पर उठा लेती हो, ऐसा दिखाती हो जैसे देश के लिए शहीद हो गई हो, मगर भीतर-भीतर इस सन्तोष से सुखी होती हो कि जो करना-कराना था सो करा लिया, अब रहे न रहे क्या फर्क पड़ता है, वैसे भी किसी काम का नहीं रह गया था। अफसोस तुम्हें सिर्फ इस बात का होता है कि एक सीखा-पढ़ाया पालतू हाथ से निकल गया। अब बोलो, इस्तेमाल तुम करती हो या हम...? सच बात तो यह है कि हम जिन्दगीभर तुमसे ही इस्तेमाल होते रहते हैं, सिर्फ इसलिए कि तुम्हारे पास एक 'कंट' है और हम कभी-कभी उसकी जरूरत के लिए पागल हो जाते हैं, मगर खुद ही सोचो, कितनी बड़ी कीमत वसूलती हो तुम अपने शरीर के उस हिस्से की? उसकी सारी जिन्दगी चूस डालती हो...और भाव ऐसा, मानो हम ही तुम्हारी जिन्दगी पीसे डाल रहे हैं...तुम्हें खाए-चबाए डाल रहे हैं। दरअसल तुम हमारे भीतर उस अपराध-बोध को जिलाए रखती हो कि हम तानाशाह हैं, अत्याचारी और शोषक हैं...जबकि बात इतनी है कि हम मूर्ख और गधे हैं, जब तक इस सच्चाई को समझ पाते हैं तब तक बहुत देर हो चुकती है कि दुनिया चलाए रखने के लिए प्रकृति से मिली-भगत करके तुम हमें बैलों की तरह हांके-जोते रही हो...अरे यह तो सोचो राक्षसियो, कि हम नहीं होते तो तुम्हारा क्या होता? पड़ी रहती बंजर धरती तरह—एक तिनका नहीं होता कहीं...

इस पर भी तुम कहती हो कि यह दुनिया पुरुषों की है, वही शासक है, वही पोषक है। वाह-वाह, क्या दूर की कौड़ी लाई हो। कोई विश्वास करेगा इस पर। सिर्फ इसलिए हम अत्याचारी शोषक और राक्षस हैं कि हमें बैल जैसा शरीर मिल गया है? गौर से देखो तो सही, भीतर से चूहे हैं चूहे—डरे, सहमे, सिकुड़े हुए...सब मिलाकर कुत्ते, सूअर, सियार...दया करो महारानियो, हम पर दया करो...हम तुम्हारी शरण में हैं माताओ, बहनो, देवियो। मगर तुम्हें? हमारा विश्वास है कहाँ, शक और शुबहा तो तुम्हारी मूल फितरत है। इस खूबसूरत, मोहक, मासूम चेहरे के पीछे कैसी तिकड़मी, खूंखार सर्पिणी छिपी है यह तुम नहीं, हम जानते हैं। वेदों में कहा कि तुम 'वृक् हृदय'' (भेड़िए के हृदयवाली) प्राणी हो...तुम तो कहोगी कि बेचारगी का यह हमारा सारा रोना-पीटना, हाय हाय करना भी हमारी एक चाल है ताकि तुम्हारे भीतर करुणा और दया जगाकर हम फिर मौका पाते ही शेर हो जाएँ...यानी यह हमारा विलाप नहीं, नाटक है...हा, हंत, हमारा दुर्भाग्य कि न तुम्हें छोड़े बनता है, न अपनाते...

अच्छा, तुम कहती हो कि जब हमने तुम्हें वेश्या बनाया, नगर-वधू का दर्जा दिया, कोठों पर बैठाया, कॉलगर्ल के पेशे में डाला या अपराध और कुफ्र की दुनिया

का हिस्सा बनाया तो सामूहिक उपभोग और उपयोग के लिए तुम्हें सुरक्षित कर लिया। जैसे आज जन-सुविधाओं की जरूरत है ताकि घर-बार से दूर थका-मांदा आदमी घड़ी-दो-घड़ी तरो-ताजा होकर अगली यात्राओं पर निकल सके या घर-बार से भागकर चैन-शांति पा सके, यह भी सही है कि जब चीज इस्तेमाल लायक नहीं रहती तो फेंक-फांककर जान छुड़ाई जाती है। दुनियाभर का कूड़ा-कबाड़ा आदमी कहाँ तक जमा करेगा। इसमें गलत क्या है? अब यह कहना तुम्हारी ज्यादती है कि पहले तो हम घेर-मारकर तुम्हें सार्वजनिक-उपभोग की चीज बनाते हैं, फिर मरने के लिए छोड़ देते हैं। देखो बुरा मत मानो, उपयोग का तर्क तो यही है, चाहे मशीन हो या जानवर जब तक काम दे तब तक सिर आँखों पर, वरना कबाड़ी या कसाई बाजार तो हैं ही...अब तुम आरोप लगाती हो कि हमने देवी बनाकर भी तुम्हारा इस्तेमाल ही किया है ताकि अपने भीतर शान्ति, शक्ति और आस्था का बल पा सकें और उससे भी बड़ी बात कि तुम्हारे ऊपर होने या किए जाने वाले तथाकथित अत्याचारों का मानसिक और आध्यात्मिक प्रायश्चित कर सकें। इसका मतलब तो यह हुआ कि हम जो तुम्हें आद्याशक्ति, प्रज्ञा पारमिता, सर्वशक्तिमान दुर्गा-पार्वती कहकर पूजते हैं, दुनियाभर की सप्तशतियाँ, स्रोत और स्तवन लिखते हैं, प्रार्थनाएँ और कविता करते हैं, सौन्दर्य-शास्त्र और शृंगार काव्य रचते हैं। वैष्णो देवी, कामाक्षा या मीनाक्षी मन्दिरों में तुम्हारी प्रतिष्ठा करके सालोंसाल मेले लगाते हैं, नाचते-गाते हैं, इनके सामने रोते, गिड़गिड़ाते हैं, चरणों में लोटकर दया की भीख माँगते हैं, कृपा करो की याचनाएँ करते हैं—सो वह सब भी हमारी चाल है कि तुम से शक्ति-सिद्धि लेकर तुम्हें और मजबूती से बाँधे रख सकें? हमारी सारी श्रद्धा-भक्ति को जब तुम यह कहकर वल्गैराइज करती हो या इसका कचूमर निकालती हो तो सिर पीट लेने को मन करता है कि भावनाओं में रहने वाली अमूर्त या साक्षात पत्थर की देवियाँ हैं सो इनके सामने रोओ या छाती पीटो, इनसे कृपा कराओ या असुरों-राक्षसों को मरवाओ, इनके साथ आध्यात्मिक सम्भोग करो या योनि-अनुष्ठान करो, क्या फर्क पड़ता है? आरोप है कि हमारी ये सब सामूहिक, सामुदायिक काल्पनिक दुनिया है—इनमें चाहे जैसी उछलकूद करते रहो, स्त्रियों की स्थिति तो जहाँ-जैसी है वैसी ही रहेगी, ये सब हमारे आध्यात्मिक, मानसिक और आधिभौतिक वाक्-जाल हैं और पुरुष-वर्चस्व की रणनीतियाँ हैं, इन्हें हम महान संस्कृति, परम्परा, भारतीयता और राष्ट्रीयता या न जाने किन-किन नामों से गौरवान्वित करते हैं...यानी कि अपने को तुच्छ, अज्ञानी और हीन दिखाए रखकर करुणा, वात्सल्य और मातृत्व वसूलने का निर्मम षड्यंत्र।

अरे, इस विकृत और कुत्सित तरीके से सोचने की बजाय यह समझने में क्यों तुम्हारी नानी मरती है कि अपनी महान भारतीय संस्कृति का एकमात्र आधार हमने तुम्हें ही बनाया है—तुम न होतीं तो कहाँ होती हमारी यह स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि...? हमारे 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का सारा दारोमदार तुम्हारी उन्हीं मर्यादाओं की रक्षा करना है जो हमारे ऋषि-मुनियों ने तुम्हारे लिए निर्धारित की थीं। नैतिकता-अनैतिकता, श्लील-अश्लील, चरित्र धर्म सभी के केन्द्र में तो तुम हो—तुम हमारे घर

की रानी और शोभा हो, तुम हमारी नाक हो, तुम हमारी मान-मर्यादा हो, तुम हमारी इज्जत हो—जो तुम पर बुरी नजर डालता है वह हमारी और उससे भी अधिक तुम्हारी इज्जत लूटता है और इसी इज्जत के लिए हमने हत्याएँ की हैं, खून की नदियाँ बहाई हैं। अब तुम कहती रहो कि यह अमानवीय, नृशंस और पैशाचिक है मगर यह सच है कि न हम उसे माफ करते हैं जो इज्जत लूटता है और न उसे जिन्दा छोड़ते हैं जिसकी इज्जत लुटती है। दूसरों की जूठी या उपभोग की हुई औरत हमारे किसी काम की नहीं। यह धर्म है और धर्म उसी की रक्षा करता है जो धर्म की रक्षा करते हैं। इसी धर्म की रक्षा के लिए हम दुश्मनों की इज्जत लूटते हैं उनकी औरतों को चींथते-फाड़ते हैं, उनकी हत्याएँ करते हैं। धार्मिक हिंसा या अत्याचार ही सबसे बड़ा पुण्य है... इसीलिए हमने तुम्हें सती कहकर जलाया है, जौहरों में झोंका है ताकि हमारे बाद कोई दूसरा तुम्हारा उपभोग न कर सके, हमने तुम्हें चुड़ैल और डायन बताकर इसीलिए तो मारा है ताकि हमारे नियंत्रण से बाहर तुम देवताओं या अशरीरी आत्माओं की सवारी न बन सको। हम तुम्हारे सचमुच अहसानमंद हैं कि तुमने मीरा और पद्‌मिनी बनकर आध्यात्मिक और शारीरिक आत्महत्याएँ कर लीं, सीता के रूप में कुएँ या खाई में छलांग लगा ली और हमें कहने का अवसर मिल गया कि तुम ब्रह्म में लीन हो गईं या धरती में समा गईं। यह पाप हमें नहीं करना पड़ा इसीलिए हमने तुम्हें देवी बना कर पूजा। यहाँ तक कि भ्रूण में तुम्हारा वध किया है ताकि दुनिया पापात्माओं से मुक्त बनी रहे...तुम साक्षात् पाप हो, नरक हो, हमारी उच्चतर यात्राओं में सबसे बड़ी बाधा हो। तुम्हारी सांसों में विष है, तुम्हारे होने में विनाश है, तुम खूबसूरत शत्रु और साक्षात् मृत्यु हो...हमारे शास्त्रोक्त पुरुषार्थ में तुम कहीं नहीं हो—या अगर हो तो सिर्फ उतनी जिससे हमारा वंश चल सके और तुम हमारे नियंत्रण में रह सको। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में तुम्हारी कोई जगह नहीं है! पत्ते और प्लेट की उपयोगिता सिर्फ इतनी ही है कि उसमें रखे खाने को खाकर उसे बदल या फेंक दिया जाए...तुम्हीं बताओ, दुनिया में है कोई अन्याय, अत्याचार या अपराध जिसके मूल में तुम नहीं हो? तुम्हीं हमें उकसा कर अत्याचारी बनाती हो। हम तुम्हें कैसे स्वतंत्र और निरंकुश छोड़ दें...? हमें दुनिया नहीं चलानी?

तुम दुनियाभर की चीख-पुकार मचाए हो कि हम दुहरे मानदण्डों का इस्तेमाल करते हैं, हम हिप्पोक्रेट और ढोंगी हैं। अरे उल्लू की पट्ठियो, सत्ता के बारे में कुछ जानती ही नहीं? मानदण्डों को डालो भाड़ में, सही वही है जो कल्चर स्वीकार करे—दुहरे-तिहरे की बकवास को अपनी 'उस' में रखो...

सच बात तो यह है कि हम तुम्हें समझ नहीं पाते। तुम्हारे शरीर से लेकर मन की बनावट साली ऐसी जटिल जलेबी और ऊबड़-खाबड़ है कि आदमी उसी में भटककर खो जाए—हमारे लिए तो वह ऐसा अंधकार-लोक और अनखोजी दुनिया है जहाँ कहीं रास्ता ही नहीं दिखाई देता—सांप-बिच्छुओं और जंगली जानवरों का डर अलग हर वक्त प्राण सोखे रहता है। हाँ, हम तुमसे डरते हैं क्योंकि शरीर से लेकर मन तक हर कहीं हम इतने सीधे, सरल और सपाट हैं कि तुम आसानी से हमारी नस-नस समझ जाती

हो और हम हैं कि टेढ़े-सीधे जंगली रास्तों पर ही भटकते और लुढ़कते रहते हैं। जिसे हम जानते नहीं, उसकी उपस्थिति हमें डराती है, उसमें हमें दैवी और जिन्नाती शक्तियों का वास लगता है। या तो हम उसे खत्म कर देना चाहते हैं या पूजकर उसके चरणों में माथा नवाकर उसे अपने अनुकूल कर लेते हैं। तुम्हारी रहस्यमयी बनावट ही हमें नर्वस बनाए रखती है। जिसे तुम हमारा पुरुष अहं और अत्याचार करना कहती हो वह हमारे भीतर के डर की अभिव्यक्तियाँ हैं, असुरक्षा की आत्मघाती कुंठाएँ हैं, चूहे-बिल्ली के इस खेल में पता नहीं कब तुम्हारा दांव लग जाए और तुम हमें खा-चबा डालो...तुम्हारा सामना करने के लिए हमें दुनियाभर के कुश्ते, शिलाजीत, जिनसेन और वियाग्रा खाने पड़ते हैं—ड्रगों और शराबों से शक्ति खींचनी पड़ती है। डंडों और घरेलू कारागारों का इस्तेमाल करना होता है। सच बात यह भी है कि तुम हमें अपने बीच की चीज लगती ही नहीं हो। लगता है किसी अलग लोक की प्राणी हो, तरह-तरह के माया-जाल फैलाकर हमारी बुद्धि और शक्ति भ्रष्ट कर देती हो... हम कैसे तुम पर विश्वास कर लें कि कल तुम पलटकर हमें ही नहीं डस लोगी या इठलाती हुई दूसरं के साथ न चल दोगी? जिसने तुम पर विश्वास किया, समझो वह मारा गया। कभी-कभी तुम्हें बोलते-हँसते, चलते-फिरते देखकर हमें विस्मय होता है कि कौन है ये प्राणी जो ठीक हमारी तरह सब कुछ करते-बोलते हैं, मगर हममें से नहीं है। इनकी बिल्कुल एक अलग और अपरिचित दुनिया है जहाँ से कभी-कभी बाहर आकर हम में घुल-मल जाते हैं और फिर वापस बड़े रहस्यमय तरीके से अपनी दुनिया में लौट जाते हैं। हमें पता ही नहीं चलता कि इनके यहाँ क्या होता-पकता रहता है। हम साथ पैदा होते, पलते बढ़ते हैं, खेलते-कूदते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं—मगर तुम्हें समझते बिल्कुल नहीं है। हर समय तुम्हारी एक अलग गोपनीय तिलस्मी दुनिया है जहाँ हमारी कोई पहुँच नहीं है। हमारे तुम्हारे बीच एक अजीब पारदर्शी शीशे की दीवार है जहाँ सब कुछ आस-पास घटित होता है, मगर हमारा नहीं होता...यह किसी अनजान, अपरिचित लोक के वासी होने का ही खतरा है कि हम तुम्हें पूरी तरह कूट-कुचल देना चाहते हैं ताकि कभी सिर न उठा सको, पलटकर हमले की बात न सोच सको और सपने में भी बदले जैसा कोई भाव न आने दो...उल्टे कृतज्ञ और अहसानमंद बनी रहकर गद्गद् भाव से हमारी मंगलकामनाएँ और अनुष्ठान करती रहो, हमारे और हमारे बेटों की स्वस्थ लम्बी उम्र के लिए व्रत-प्रार्थनाएँ करती रहो। हमारे इशारों पर उठती-बैठती रहो। हम हर तरह इस भरम को बनाए रखना चाहते हैं कि तुम अपने आपको हममें से ही एक समझती रहो—कि हम और तुम बराबर हैं, कहीं कोई फर्क नहीं है...बल्कि हम तुम्हारी अपनों से ज्यादा इज्जत करते हैं...क्योंकि हम तुमसे डरते हैं...तुम जैसे बनैले और खूंखार जानवर को हमने सैकड़ों साल कैसे हंटरों और कोड़ों की मदद से या भूखा मार कर यानी व्रत रखवाकर पालतू और घरेलू बनाया है—यह हमारा ही कलेजा जानता है—फिर सदियाँ लगीं अपने सोच, स्वभाव और स्वार्थ को घोट-पीसकर तुम्हारी नस-नस में उतारने में ताकि शरीर से तुम अलग होते हुए भी भीतर से 'हम' बन सको...हमने तुम्हारे सती-सुहागन रूप को बड़े से बड़े भगवान से

ऊपर बैठाया। यह गुलाम बनाना नहीं, अपने परिवेश के लिए अनुकूलित और संस्कारित करना है। सबसे पहले तो इसके लिए तुम्हें दो हिस्सों में तोड़ना पड़ा है—कमर से नीचे और ऊपर की दो औरतों को बाँटने में हमें कितने अनुभवों, दर्शनों और चिन्तनों का सहारा लेना पड़ा है, तुम्हें क्या मालूम? ऊपर उदात्त और करुणा-कल्याण, नीचे वासना, सेक्स और नरक का कर्दम—ऊपर प्रकाश, नीचे अंधकार...दुश्मन को दो हिस्सों में तोड़कर अलग-अलग निपटना आसान होता है न...अब देख लो, दोनों के स्वामी हम ही हैं, ऊपर परम पुरुष बनकर तो नीचे पुरुष बनकर...सच पूछो हम तुम्हारे कृतज्ञ हैं कि दो हिस्सों में बाँटकर राज्य करने का जो मन्त्र तुम्हारे ऊपर आजमाया था उसी से आगे सारी सत्ता की राजनीति चलाई—साम्राज्यों, दुश्मनों और परिवार को नियन्त्रण में रखा। अब इसे बन्दरबाँट कहना एक वैज्ञानिक सिद्धान्त को झुठलाने का कमीनापन है।

जानती हो, अपने से ज्यादा इज्जत किसकी की जाती है? उसकी जो हम में से एक नहीं है, हमारा अपना नहीं बाहरी मेहमान है, भीतर से जिस पर हमें विश्वास नहीं है। क्योंकि भीतर से हम जानते हैं कि हमारे-तुम्हारे बीच कुछ भी समान नहीं है, न शरीर, न मन, न मन्सूबे...हमारा लाड़-प्यार दुलार सब तुम्हें बरदाश्त करने और अपनापन दिखाते रहने का हथकंडा है—जैसे हम बिल्ली-कुत्तों को दुलराते-पुचकारते हैं, सहलाते हैं और साथ सुलाते हैं, लेकिन सबसे ज्यादा हमारा अहं तृप्त होता है तब जब ये दुम हिलाते हुए हमारे पैरों से लिपटते हैं। हमारी गोद में आकर हमें चाटते-चूमते हैं। हमारा आना या होना इनका उत्सव होता है! चूमते-चाटते हम तुम्हें भी हैं, मगर इस अहसास से कभी मुक्त नहीं हो पाते कि तुम गंदी चीज हो, साक्षात गंदगी हो क्योंकि सिर्फ शरीर हो। हम शरीर भी हैं और आत्मा भी। हम 'अशरफुल मख्लूकात' यानी धरती की मुकुट-मणि हैं। हम सौन्दर्य और पवित्रता के साक्षात् प्रतिमान है, प्रकृति ने हमें ऐसा ही बनाया है! अच्छा क्या तुमने भी कभी अपने आपको दूर से, तटस्थ होकर देखा है? कैसा टेढ़ा-मेढ़ा, भद्दा और ऊटपटांग शरीर है : मैंने कहा, ऊंटपटांग...अहा, कैसा मौजूं शब्द है। हो सकता है यह 'ऊंट' से बना हो : कहा जाता है कि ऊंट की कोई कल सीधी नहीं होती : लम्बी-टेढ़ी गर्दन, पीठ पर कूबड़, बांसों जैसी टांगें, चूहे जैसी दुम, धप-धप पैर, हलल-हल थोबड़ा और उससे टपकती लार ...तुम्हारे भी दो कूबड़ आगे, दो लौंदे पीछे, बीच में कुएँ जैसी गुफा—जहाँ से हर वक्त कुछ न कुछ टपकता-रिसता रहता है...गंदगी का स्रोत...'नारी की झांई परे, अन्धौ होत भुजंग' जब ये बड़ी-बड़ी साध्वियाँ ब्रह्म और आत्मा की ऊंचाइयाँ झाड़ती हैं, माया और जीव के फलसफे बनती हैं तो पूछने का मन करता है कि बहन जी, आपका सैनेटरी-नैपकिन तो ठीक जगह है? तुम्हारी बोउवा ने ही कहा है कि औरत से ऊँची और मौलिक बातों की अपेक्षा कैसे की जा सकती है जो हमेशा जांघों के बीच खून-पीप की चिपचिपाहट के अहसास से आक्रान्त (ब्लीडिंग बिलो) रहती है। तुम्हारे सारे दिमागी फितूरों का एक ही इलाज है—अच्छा-सा संभोग और बच्चों में उलझा देने का मंत्र। तुम उत्कृष्ट और मौलिक सृजन इसलिए नहीं कर सकतीं कि अपनी सारी सर्जना तो

बच्चों में झोंक चुकी होती हो...अच्छा और अगर यह 'ऊटपटांग' शब्द 'ओरंग-ओटांग' से बना है तो दाद देनी पड़ती है कि कैसा सही शब्द ढूंढकर लाया गया है—यानी बन-मानुस...शरीर का हर अंग आदमियों जैसा, मगर एकदम अलग और बेढंगा... देखकर ताज्जुब होता है सब कुछ हमारे जैसा, मगर एकदम कोई और...ईमानदारी से कहें तो जब हम तुम्हें गाड़ी, हवाई जहाज, कम्प्यूटर या ऐसी ही कोई जटिल मशीन चलाते या भाषण देते या दिमागी बातें करते देखते हैं तो अजीब कौतुक और विस्मय होता है : अरे यह तो ठीक हमारी तरह कर रही है—ठीक वैसा ही कौतुक जैसे सरकस में बंदर या चिम्पंजी को साइकिल चलाते, मेज पर छुरी-कांटे से खाते या टाइप करते देखकर होता है—वाह, हमारी कैसी हू-ब-हू नकल कर रहा है...अच्छा बताओ, यह बात उस वक्त क्यों हमारे दिमाग में नहीं आती जब तुम खाना बनाती हो, रोटी बेलती, सब्जी छौंकती या स्वेटर बुनती हो। बच्चों को खिलाती-पिलाती हो। हमारी लात या लताड़ खाकर बटन लगाते हुए या यों ही बैठे-बैठे रोती हो। तब तो लगता है कि हाँ, यही तुम्हारी स्वाभाविक और प्राकृतिक जगह है। वहाँ हमें शील और शान्ति, सौन्दर्य और वात्सल्य का वास लगता है, तुम्हारे निरीह रूप पर प्यार आता है। तुम्हें कोई भी बौद्धिक या दिमागी काम करते हुए, या ऐसा कोई काम करते हुए देखकर जहाँ स्थिति के हिसाब से तुरन्त निर्णय लेना हो, क्यों पहली बात यही आती है कि बस, बस बहुत हुआ, अब असलियत पर लौट आओ...ये सब मर्दाने काम हैं, इनमें हमें ही सिर खपाने दो जानेमन...जैसे किसी एक्टर को स्टेज पर बहुत उछल-कूद करते देखकर कहने को मन होता है : यह राजा-रानी की एक्टिंग हो चुकी, अब अपने ये मुखौटे-मेकअप उतारो और यहाँ हमारी तरह आकर चुप बैठो...एक चाय बना लाओ और हमारे पैर दबाओ।

चलो, मान लिया कि हमने तुम्हें देह के अलावा कुछ माना ही नहीं। हर वक्त देह की नाप-जोख, चूमा-चाटी, भजन-कीर्तन करते रहे, तुम्हें तरह-तरह के आसनों-मुद्राओं में खींचते, समेटते रहे, निहारते-निखारते रहे, मुखोष्ठ से लेकर भगोष्ठ तक लीपते-पोतते रहे, दुनिया के सबसे कीमती, दुर्लभ आवरणों-आभूषणों से ढंकते-खोलते रहे—मगर सच्चाई यही है कि अप्सरा और योगिनी बनाकर हमने तुम्हें सिर्फ देह में ही कैद कर दिया। एक ऐसी देह जो भोग से लेकर योग तक में हमारे ऊपर निर्भर है—हमारी मिल्कियत है। तुम खुद भूल गई हो कि हमारे स्वार्थों-हितों या छत्रछाया से अलग तुम्हारे भी कोई फैसले हो सकते हैं, या तुम्हारे पास भी कोई स्वतन्त्र दिमाग और विवेक चेतना है! तुम हमारी 'चीज' हो—वह प्रोडक्ट (उत्पाद) हो जिस पर हमारा ठप्पा लगा है—अब वह हमारा कौशल है कि हमने उस 'ठप्पे' की भाषा को तराश संवारकर कवित्वपूर्ण, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक शब्दावली दे दी है, ऐसा माया-लोक तैयार कर दिया है कि उसी में मुग्ध-मूढ़ बने रहने में तुम्हारी सार्थकता और कृतार्थता है...जो कुछ भी उत्कृष्ट, श्रेष्ठ और उदात्त है उसका श्रेय तुम्हें देकर हम जिस तरह मोहाविष्ठ (मैस्मेराइज्ड) रखते रहे हैं कि तुम सचमुच खुद उस पर सबसे अधिक आस्था रखती हो...क्या तुम्हें पता है कि तुम्हारे ऊपर ही हमारी सारी आध्यात्मिक, सांस्कृतिक,

साहित्यिक और आर्थिक इंडस्ट्रियाँ टिकी हैं। तुम्हें हटा दें तो ये सारे ताश-महल भरभरा कर गिर पड़ें। अरबों-खरबों के ये सौन्दर्य व्यापार ही नहीं, इतिहासों, पुराणों के सारे कलश-कंगूरे ढह जाएँ...इसीलिए तुम्हें पीट-पटाकर अपने ढंग से रखना तो है ही...कहीं तो इस सबका श्रेय दो कम्बख्तो...

अब देखो, कितना शोर मचाया तुमने कि तुम स्वतन्त्र व्यक्ति हो, पुरुष की तरह अपने फैसले तुम खुद ले सकती हो, दूसरों के आदेशों या इशारों पर नाचना ही तुम्हारी नियति नहीं है, तुम्हारा शरीर तुम्हारा है, उस पर सिर्फ तुम्हारा हक है, उसे तुम जैसे चाहो उघाड़ो, खोलो ढंको या छिपाओ : हमने कहा, चलो ठीक है, यही सही। हमने तुम्हें स्टेज और रोशनियाँ दीं, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं का आयोजन किया, तुम्हारे स्वतन्त्र शरीर को केन्द्र में रखकर धरती का चप्पा-चप्पा विज्ञापनों से ढंक दिया, करोड़ों-अरबों के इनाम घोषित किए, साबुन क्रीम से लेकर कपड़े-गहने बेचे...तुम्हारी भी मनमानी हो गई...हमारा भी व्यापार चला। नियंता तो हमीं रहे न...बताओ, हमारे चंगुल से छूटकर जाओगी कहाँ? तुम्हारी स्वतन्त्रता को भी हमने खरीदने-बेचने की चीज बना डाला। हमसे कहाँ-कहाँ बचोगी डार्लिंग...

हो सकता है तुम्हारा यह इल्जाम सही हो कि गाली या वंदना, हमने तुम्हें देह के सिवा कुछ समझा ही नहीं—न विवेक, न बुद्धि, न आत्मा...अच्छा बताओ, ऐसा कब और कैसे समझते? हजारों सालों से हमारे पुरखों ने तुम्हें और दूसरे गुलामों को शास्त्र, शिक्षा और संस्कारों से दूर रखा क्योंकि जानते थे कि तुम इस लायक ही नहीं हो इसीलिए न तुम्हें अपने ज्ञान के पास फटकने दिया, न अपनी भाषा दी—बल्कि व्यवस्था कर दी कि हमारे पवित्र शब्द चुराओगे या हमारी भाषा-बोली को अपनाने की कोशिश करोगी तो वही सजा होगी जो चोर-डाकू की होती है या तो तुम्हारा सिर काट दिया जाएगा या कानों में उबलता सीसा भर दिया जाएगा...जिसे तुम मूर्ख, अविवेकी और जाहिल बनाए रखना कहती हो उसके पीछे यही तो सद्भावना थी कि तुम्हारे लिए जो भी सोचना, सीखना या फैसले करने होंगे—वह तुम नहीं, हम करेंगे। प्राकृतिक बात तो यह है कि न तुम्हें कुछ पढ़ने-सोचने का अधिकार है, न अपने फैसले करने का। तुम क्यों इन बेकार के पचड़ों में सिर खपाओ और व्यर्थ के झंझटों में पड़ो? तुम्हारा जीवन हमारी सम्पत्ति है और जब तुम लम्बे इतिहास और अनादि परम्परा के बाद सचमुच मूर्ख, अनपढ़, अविवेकी हो ही गई हो तो हमें ही जोर-शोर से कहना पड़ता है कि तुम मूर्ख और जाहिल हो—कि तुम्हें अक्ल और विवेकी की बातों से क्या लेना-देना...तुम्हारा नाम ही भाषा में गाली के रूप में इस्तेमाल करने के पीछे कोई तो तर्क होगा। सचाई यह है कि आज भी ये फैसले हम करेंगे कि तुम कैसे रहो, क्या बनो या तुम्हें क्या और कितना देना चाहिए...तुम्हें कितने अधिकार और आरक्षण देने हैं, कब देने हैं, क्योंकि हमारे पास सदियों का ज्ञान और कौशल है...सोचने-समझने की क्षमता और भला-बुरा सोचने का विवेक है! हम शासक, निर्णायक और न्यायकर्ता हैं! अगर भाषा के सारे निर्णायक, प्रभावशाली और शक्तिसूचक शब्द पुरुषवाची हैं तो इसमें गलत या संयोग कहाँ है?

मूर्खो और जाहिलो, हमारी ऊँचाइयों और गहराइयों को तुम क्या खाकर छुओगी? सात जन्म लो तब भी हमारी उन बारीकियों को नहीं समझ सकतीं जिससे हमने तुम्हारा और समाज का ताना-बाना बुना है! स्तुतियों से ही नहीं, गालियों से भी हमने तुम्हें मारा है! जो भाषा हम तुम्हारे लिए इस्तेमाल करते हैं, उसे कभी सुना है? वह सिर्फ तुम्हारी देह और देह-सम्बन्धों के बखिए उधेड़ती है, या तो तुम्हारी योनि और वासना की दुर्दमनीयता को धिक्कारती है या अपनी असमर्थता को कोसती है कि तुम्हारी देह को क्यों कुचल और रौंद नहीं पाते...हमने तुम्हारे सारे अस्तित्व को सिर्फ चूत से चूचियों तक बाँध दिया है (अश्लील भाषा है न? मगर क्या करें, हम आपस में तुम्हें जानते ही इन्हीं शब्दों से है) हिंसा सिर्फ शरीर की नहीं होती, उससे पहले भाषा की होती है—आदमी शारीरिक हत्या करने से पहले भाषा और सोच में हत्या कर चुका होता है। कितनी हिंसा, कितनी हिकारत और कितना क्रोध है हमारी भाषा के शब्द-शब्द में। तुम्हें पशु और पालतू बनाने से पहले भाषा में खुद पशु और हत्यारे हो चुके होते हैं...

अब बोलो, बलात्कार जैसी साधारण-सी बात पर ऐसा आसमान सिर पर उठा रही है। जैसे प्रलय आ गई हो। इच्छा-अनिच्छा को मारो गोली, बलात्कार का अर्थ सम्भोग ही तो हुआ न? बताओ मर्द औरत के साथ सम्भोग नहीं करेगा तो कहाँ करेगा? कोई तो करेगा आखिर, फिर क्या फर्क पड़ता है कि वह कौन है। दिन भर में न जाने कितना कुछ घटता है जो हमारी-तुम्हारी इच्छा के अनुकूल नहीं होता। इसके लिए न हत्या की जाती है न आत्महत्या...तुम्हें देखकर अगर हमारे भीतर वासना जागती है तो उसे पूरा करने क्या भगवान उतरेगा? हर बात में तुम्हारी इच्छा-अनिच्छा ही बनी रहेगी तो हम क्या अपनी ऐसी-तैसी कराएँगे? वैसे भी भंवरीबाई वाले मामले में राजस्थान हाईकोर्ट ने फैसला दे ही दिया है कि न बलात्कार जैसी कोई चीज होती है, न समर्थ लोगों पर ऐसे आरोप सिद्ध होते हैं। नीचों की नस्ल सुधारने के लिए अगर ऊँचे कुछ करते हैं तो उसे बलात्कार नहीं विकास-कार्य कहा जाता है जो राष्ट्र सेवा के नाम से जाना जाता है! बलात्कार को अपराध घोषित करके मौत की सजा या कठोर दंड की माँग करना बेहयायी की हद है! उल्टा चोर कोतवाल को डांटे...

पर सच बात तो यह है कि न हम तुम्हारे कृतज्ञ हैं, न तुम्हें पूजते-भोगते हैं—हमने तुम्हारे अस्तित्व से तोड़-छीनकर तुम्हें एक 'आइडिया' या भावचित्र में, एक अमूर्त-छवि में बदल दिया है और हम उसे ही पूजते हैं, उसे ही छाती से लगाकर प्राण दे देते हैं—मगर तुम्हारी साक्षात उपस्थिति और हाड़मांस के शरीर से डरते, भागते, भोगते हैं, उस पर थूकते हैं...आदमी को मूर्त व्यक्ति से हटाकर 'आइडिया' बनाने में सुविधा है कि हम उसे 'व्यक्ति' नहीं 'विचार' के रूप में देखने लगते हैं—यानी उसे हिन्दू-मुसलमान, आस्तिक-नास्तिक, दलित-औरत के अमूर्तन में रिड्यूस कर देते हैं। तब हम आसानी से माँ-बहन, प्रेमिका-पत्नी-बेटी को नहीं, औरत नाम के खतरनाक प्राणी के रूप में उसे देख रहे होते हैं, उसे निरापराध भाव से मार या पूज रहे होते हैं—सिर्फ अपने विचार या मानसिक आदर्श की रक्षा के लिए...हमने तुम्हें जो इतने

सालों में गुमनाम और बे-चेहरा बनाकर रखा, सिर्फ माँ-बाप-बेटों-बेटियों, पतियों-भाइयों के सम्बन्धों को ही तुम्हारी पहचान बनाकर रखी उसके पीछे कोई तो मनोविज्ञान या दार्शनिक सिद्धान्त रहा ही होगा...

अब तुम यह मत कहने लगना कि औरत को देवी और दासी में बाँटकर हम अपने आपको भी हिस्सों में तोड़ रहे हैं—ऐसे दुहरे व्यक्तित्वों में खंडित कर रहे होते हैं जिनका आपस में न कोई सामंजस्य है, न संवाद...दूसरों को गुलाम बनाने वाला सबसे पहले गुलाम बनाने के विचार का गुलाम होता है—उसके आचरण का निर्धारण अपने स्वतन्त्र विवेक से नहीं—गुलामी के विचार से होता है, एक आब्सैशन से होता है। हिंसा अंततः दोनों पक्षों को बराबर तोड़ती है।

जब हमें मुर्गी खाने की भूख सताती है तो उससे पहले मुर्गी की स्वयं इच्छा होती है कि कोई उसे काटकर अपने पेट में सुरक्षित रख ले। हम खाते कहाँ, सिर्फ उसे सुरक्षा देते हैं।

दरअसल हमारी त्रासदी और तुम्हारी सुविधा (एडवांटेज) यह है कि हमारे स्थिर और स्थापित हो चुके रूप को तुम तो तिल-तिल जानती हो, मगर तुम्हारे इस बदलते तेवर को हम समझ ही नहीं पाते, तुम्हारा सारा अन्तर्विश्व और बाहरी परिवेश हमारा गढ़ा हुआ है इसलिए हम निश्चिन्त हैं अपनी भीतरी-बाहरी यात्राओं में तुम सिर्फ हमारी छाया हो—तुम्हें पशु, वस्तु और सम्पत्ति मानकर हम निर्भ्रान्त, सन्तुष्ट हैं। उधर अपने को स्थगित करके हमें आत्मसात करने की प्रक्रिया में तुम हमारे भीतर-बाहर के हर मौसम और मूड को हम से अच्छी तरह समझती हो। हमसे पहले हमारी नीयत और योजना को सूंघ लेती हो। हम तुम्हारे लिए ऐसे पारदर्शी और प्रीडिक्टेबुल हैं कि जैसे घरेलू पशु...अब हमें अरेस्टेड-ग्रोथ या रुद्धविकास के प्राणी कहकर क्यों जले पर तेजाब छिड़क रही हो...

अच्छा, यह सब बकवास बहुत हो गई, उधर जाकर झाड़ू-बुहारू करो। हमें बड़े और गम्भीर काम करने हैं, दुनिया चलानी है, विचार और चिन्तन से इसे बदलना है ताकि शान्ति से नई सदी में प्रवेश कर सकें। तुम औरतों-फौरतों के लेखन-वेखन पर बोलते-सोचते रहें तो ये सारे महान कार्य क्या तुम्हारा बाप करेगा?

"वे पत्नियाँ, जो पति की आज्ञा का उल्लंघन करती हैं,
मृत्यु के समान हैं, जहरीली सर्पिणियाँ हैं, राक्षसनियाँ हैं, उनका
क्या उपयोग है, उनका सर्वनाश हो।

समुद्र में जहाजों के मार्ग की तरह वायु में पक्षियों की उड़ान
की तरह, पृथ्वी पर स्त्री कहाँ कब जाएगी, कहना कठिन है।"

वेमन्ना

आज की कहानी : परिभाषा के नए सूत्र

चूँकि हर युग की कहानी 'नई' होती है इसलिए पिछले दशक की कहानी को 'नई कहानी' नाम देना आगे जाकर अध्येताओं के लिए गलतफहमी पैदा कर सकता है मगर कहानी की इस धारा को कोई-न-कोई नाम तो देना ही होगा, क्योंकि चाहे हम 'नई कहानी' नाम की कोई चीज मानें या न मानें, यह स्वीकार करने के लिए तो विवश हैं ही कि इन दस वर्षों में कहानी का एक ऐसा व्यक्तित्व जरूर सँवरा और निखरा है जो उसकी पिछली परम्परा से एकदम भिन्न है। वस्तु और रूप यानी सब मिलाकर कहानी की परिकल्पना में मौलिक अन्तर जरूर आए हैं—और ये अन्तर काफी सशक्त भी रहे ही होंगे, तभी तो सारी साहित्यिक चेतना आज धीरे-धीरे कविता से हटकर कहानी पर केन्द्रित हो रही है। कहा जाता है कि 'नई कविता' परम्परा का तिरस्कार है और 'नई कहानी' परम्परा का विस्तार। मुझे इस बात में भी विशेष दम नहीं दिखाई देता। विस्तार प्रगति जरूर बताता है, लेकिन कहानी के इस नए रूप ने परम्परा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया हो—ऐसा नहीं है; हाँ, कुछ सूत्र सामान्य हों तो हों। सच पूछा जाए तो तिरस्कार करने के लिए कविता के सामने एक गलत या सही परम्परा थी। उधर इस दशक की कहानी के सामने ऐसी कोई तात्कालिक परम्परा नहीं दिखाई देती जिसका तिरस्कार या विकास किया जाता। अतः उसे या तो नई परम्पराओं की नींव डालनी पड़ी या परम्परा और प्रभाव के लिए बहुत दूर देखना पड़ा।

'तात्कालिक परम्परा' में 'तात्कालिक' शब्द को स्पष्ट करना जरूरी है। सन् 50 से 60 तक विकसित हुई आज की कहानी को अगली पीढ़ी किस निगाह से देखेगी, यह तो समय बताएगा; लेकिन वर्तमान पीढ़ी यह मानने को बाध्य है कि विधा की परम्परा की दृष्टि से सन् 40 से 50 का पिछला दशक आज की कहानी को कुछ नहीं दे पाया—उसने जो कुछ दिया, वह सारे साहित्य को दिया। दोष उस दशक का नहीं है : देशी-विदेशी परिस्थितियों की अस्थिरता में चतुर्दिक परिवर्तन और व्यापक उद्वेलन की गति इतनी तीव्र और तूफानी थी कि समाज की बनावट का कोई रूप निश्चिन्त नहीं हो पाया था। तत्कालीन कथाकार इस चकाचौंध में कहीं भी आँख टिकाने में अपने को असमर्थ पाता था। छः वर्षों तक चलता युद्ध, बयालीस का विप्लव, बंगाल का अकाल, नाविक-विद्रोह, स्वतन्त्रता, दंगे, शरणार्थियों के काफिले, सरकारी भ्रष्टाचार और राजनीतिक पार्टियों की आपाधापी—सब-कुछ एक के बाद एक इस तरह आता चला गया कि व्यक्ति-मन के धरातल पर उस सबका समाहार कथाकार

के लिए असम्भव हो गया। उसकी निगाह तेजी से बदलती सतह पर ही टिकी रही और वह कहानी के नाम पर शब्दचित्र 'स्कैच' या 'रिपोर्ताज' से आगे नहीं बढ़ पाया। मूलतः वह युग नारों और भाषणों का था। परिणामतः साहित्य की हर विधा में आवेश, उत्साह और आग की लपटों के साथ-साथ अन्धाधुन्ध शब्दों का लावा फूटता था। हर वस्तु को देखने का कोण व्यक्ति न होकर भीड़ था, और भीड़ के आशावाद—यानी मौरेल—को बनाए रखने के लिए हर दूसरे वाक्य में नया सूरज निकाल दिया जाता था।

पुरानी नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक या भौगोलिक सभी भूमियों से विस्थापित शरणार्थियों के दल के दल जब कहीं भी पाँव टिकाने को दिशाहारा की तरह भटक और बौखला रहे हों, तब अकेले व्यक्ति की कुण्ठाओं और दर्दों को गाने या सुनने की फुरसत किसे होती? ऐसे दिगन्तव्यापी विघटन और विशृंखलन में व्यक्ति को जीवन और आस्था देता है केवल सामूहिक सद्भाव, सामूहिक आशावाद...

इस प्रकार इस दशक की कहानी (जिसे हम आज की कहानी कहेंगे) ने इस समूहगत सामाजिकता के वातावरण में आँखें खोलीं। चाहें तो इसे ही पिछली पीढ़ी की विरासत मान सकते हैं; लेकिन वस्तुतः यह सामाजिकता तो एक ऐसी चेतना थी जो साहित्य की सभी विधाओं को समान रूप से मिली थी। अभी तो इस चेतना का अपना रूप भी स्थिर होना था और यह गौरवपूर्ण कार्य आज की कहानी ने किया—अर्थात् आज की कहानी ने समूहगत सामाजिकता को व्यक्तिगत सामाजिकता के रूप में देखने-पाने की कोशिश की। विराट् युग-बोध को व्यक्ति या व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों की चेतना, यानी मन के अनेक स्तरों पर आकलन और प्रतिफलन के नाटक को, आज की कहानी ने ही सबसे पहले देखा।

सतही दृष्टि से देखनेवालों ने अक्सर ही इस दशक की कुछ कहानियों पर जैनेन्द्र और अज्ञेय की कुण्ठा, पराजय और घुटन के पुनर्प्रस्तुतीकरण का आरोप लगाया है। हो सकता है हममें से कुछ ने उन्हीं स्थितियों और चरित्रों को दुहराया हो, लेकिन जरा गहराई से देखने पर साफ हो जाएगा कि जिस कुण्ठा, पराजय और घुटन को स्वयंसिद्ध सत्य मानकर जैनेन्द्र और अज्ञेय ने अपनी कहानियों का ताना-बाना बुना था, उसी सबको आज के कहानीकार ने अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में, अधिक तटस्थ और निर्वैयक्तिक दृष्टि के साथ चित्रित किया है। आधारभूत अन्तर यह है कि विकृति पहली बार 'दृष्टि' में थी—इस बार दृष्टि स्वस्थ है—'दृश्य' चाहे विकृत हो। क्योंकि आज की कहानी में आनेवाला व्यक्ति निश्चित रूप से अधिक स्वस्थ सामाजिक चेतना की उपज है। और यहीं कहानी को उस परम्परा से अपने सम्बन्ध जोड़ने थे जिसके बीज उसे प्रेमचन्द और यशपाल से मिले थे।

पिछली पीढ़ी के कुछ कहानीकारों ने एकाधिक बार झुँझलाकर कहा है—"आज की कहानी ने आखिर ऐसा क्या कर दिखाया है जो पहले नहीं था? ऐसे कथा-प्रयोग तो प्रेमचन्द, यशपाल या समकालीन उर्दू-कथाकारों—मंटो, बेदी, अश्क, कृष्ण चन्दर इत्यादि—में कई मिल जाएँगे।" बात आरोप के रूप में कही जाती है लेकिन अनजाने

ही यह भी सिद्ध करती है कि आज के कथाकार ने उन्हीं की टूटी-फूटी, विस्मृत और दूर पड़ी परम्परा को ही तो विकास देने की कोशिश की है। अगर प्रेमचन्द या अन्य कहानीकारों में कहीं ऐसा कुछ मिलता है तो आज की कहानी के बहुत अधिक निकट है तो उसे अनुकरण ही क्यों माना जाए? क्यों न यह माना जाए कि आज की कहानी ने अपना प्रारम्भ वहीं से किया है। अपनी दृष्टि से उस सबको देखा है।

निस्सन्देह उन यत्किंचित् समानताओं में भी दृष्टि का अन्तर बहुत स्पष्ट है—और वही दृष्टि है जो पिछली सारी कहानी को आज की कहानी से अलग करती है। उस युग के कहानीकार के पास अपने कुतुबनुमा या प्रेरक-शक्ति के रूप में सिर्फ एक चीज थी और वह थी सहज-मानवीय संवेदनशीलता। उसी से प्रेरित कोई भी 'विचार', 'सत्य' या 'आइडिया' उसके सामने कौंधता था और वह कुछ पात्रों, कुछ स्थितियों, कुछ घटनाओं के संयोग-संयोजन से उसे घटित या उद्घाटित कर देता था। अर्थात् कहानी की सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार किसी भी मूड, घटना या प्रभाव और विचार को लेकर कहानी लिख दी जाती थी और कहानी के इस केन्द्रीय तत्व को उभारकर पाठक पर एक संवेदनात्मक प्रभाव डालना ही तात्कालिक कहानी का उद्देश्य था। चरित्र, देश-काल, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण इत्यादि कहानी के सारे तत्व उस केन्द्रीय 'आइडिया' या 'सत्य' को सिर्फ उद्घाटित या घटित करने के लिए आलम्बन और उद्दीपन के रूप में ही निमित्त बनाकर लाए जाते थे। अतः उनके आधिकारिक या बहुत प्रामाणिक और अधिक आत्मीय होने की लेखक को विशेष चिन्ता नहीं होती थी। केन्द्रीय तत्त्व उस 'सत्य' या 'आइडिया' के आलम्बन-उद्दीपन के लिए देश या विदेश, भूत या वर्तमान किसी भी स्थान, किसी भी वर्ग को आसानी से अपनी विषय-वस्तु या घटनास्थल के रूप में चुन सकता था। इस प्रकार, पात्र और देश-काल-सम्बन्धी अनेक प्रकार की विविधता का आभास देकर—नाटकीय प्रारम्भ, क्लाइमैक्स और अप्रत्याशित अन्त द्वारा उस समय का कथाकार अपनी कहानी को काफी रोचक और मनोरंजक बना लेता था।

बहुत अस्वाभाविक नहीं है कि उस युग के कहानीकार और उस मानसिकता में विकसित पाठक को आज की कहानी में वह सब नहीं मिलता। न उसे सांस-रोक क्लाइमैक्स मिलता है, न एक के बाद दूसरी घटनाओं में छलाँगें भरता कथानक। सब मिलाकर उसे आज की कहानी विषय-वस्तु के लिहाज से उलझी, अस्पष्ट, अपूर्ण लगती है और रूप के लिहाज से ढीली, अनगढ़ और भोंडी; और तब वह श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के शब्दों में शिकायत करता है कि "कहानी अभी उस ऊँचाई तक नहीं पहुँची, जिस पर चौथे दशक के उत्तरार्ध में पहुँच गई थी।"

उस 'ऊँचाई' पर पहुँची है या नहीं, यह कहना तो मुश्किल है, लेकिन कहामी की धारणा में आधारभूत अन्तर जरूर आया है। एक ओर तो आज के कहानीकार का 'सत्य' या 'आइडिया' इतना कटा-छँटा और स्वयं सम्पूर्ण नहीं है; दूसरे, शेष सभी कुछ आइडिया को घटित करने के लिए निमित्त-भर हो, यह उसे स्वीकार्य नहीं है। कोई भी आइडिया, विचार या सत्य—व्यक्ति या पात्र के जीवन की धारा में रहते हुए

ही उसकी उपलब्धि बने, उसका प्रयत्न यह है। उसकी यथार्थ दृष्टि बताती हैं कि बिना देश-काल अर्थात् परिवेश के व्यक्ति की कल्पना अधूरी और आनुषंगिक है। व्यक्ति के अन्तर्बाह्य निर्माण में उसके संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक स्थिति, सम्पर्क और पेशा—सभी का हाथ होता है। इस सबकी पृष्ठभूमि के साथ ही, अपनी सीमाओं के भीतर ही कोई व्यक्ति सत्य को उपलब्ध या उद्‌घाटित कर सकता है। बिना इस परिवेश की संगति को आत्मसात् किए, हर किसी 'सत्य' या 'आइडिया' को घटित और उद्‌घाटित करना—उनका आरोप करना है, प्राप्त करना नहीं।

अतः आज की कहानी अधिक यथार्थ-दृष्टि, प्रामाणिकता और अधिक ईमानदारी से अपने आसपास के परिचित परिवेश में ही किसी ऐसे सत्य को पाने का प्रयत्न करती है जो टूटा हुआ, कटा-छँटा या आरोपित नहीं—बल्कि व्यापक सामाजिक सत्य का एक अंग है। मेरे कहने का कदापि यह अर्थ न लिया जाए कि आज की कहानी का कोई केन्द्रीय भाव या आइडिया और विचार नहीं होते—नहीं आज की कहानी का ताना-बाना भी आइडिया, विचार या केन्द्रीय भाव के आस-पास या उसके लिए ही बुना जाता है—लेकिन कहानी उसे उसकी जन्म-भूमि से काटकर अलग नहीं करती। वह तो सिर्फ उसकी स्थिति ज्यों-की-त्यों बनाए रखते हुए सिर्फ उस केन्द्रीय भाव या आइडिया को रेखांकित या फोकस कर देती है। यही नहीं, आज की कहानी अतिरिक्त सावधानी बरतती है कि कहीं वह केन्द्रीय भाव या आइडिया अपनी शेष धारा से कट न जाए। इसके लिए उसे अधिक संवेदनशील दृष्टि और अधिक नाज़ुक शिल्प का सहारा लेना पड़ता है।

बात को स्पष्ट करने के लिए फिर सूत्र को 'व्यक्तिगत सामाजिकता' से पकड़ना होगा। आज का कहानीकार यह मानता है कि युग के सारे विराट् की, गतिशील मूल्यों के संस्कारों और संक्रमण को कहानी के माध्यम से हम व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की चेतना-धारा में, कभी-कभी चेतना के अनेक स्तरों पर एक साथ पकड़ने की कोशिश करते हैं। काल के प्रवाह में, व्यक्ति की सामाजिकता का बोध और स्थिति ही आज की कहानी की विषय-वस्तु है। कथाकार व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह करता है। व्यक्ति को उसके सामाजिक परिवेश, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों तथा व्यावहारिक जीवन के तकाज़ों तथा अन्य आवश्यकताओं की एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के रूप में पाना चाहता है। इसलिए कहानी का कोई भी तत्त्व निमित्त या आलम्बन बनकर नहीं, स्वयं आश्रय या विषय-वस्तु बनकर आता है। परिणामतः इन दस वर्षों की कोई भी अच्छी कहानी उठा लीजिए—उसका प्रभाव या परिणति एक झटके के साथ देखा या पाया हुआ सत्य नहीं होता। न वह हथौड़े की चोट की तरह सारे अस्तित्व को झनझनाती है, न खुभे तीर की तरह टीसती है। वह तो कुहासे या अगरुगंध की तरह समस्त चेतना पर छा जाती है—स्वयं उसका अंग बन जाती है। इस प्रकार अनजाने ही आत्मा को संस्कार और दृष्टि देती है। यहीं यह कहना बहुत बड़ी गर्वोक्ति न होगी कि मानव-आत्मा का शिल्पी आज की कहानी में ही पहली बार अपनी भूमिका का सही निर्वाह करने का प्रयत्न करता है।

कहानी की इस एकान्विति और संश्लिष्टता को देखकर ही नामवर सिंह ने सबसे पहले आवाज उठाई थी कि रूढ़ शास्त्रीय तत्त्वों के अनुसार कहानी को अलग-अलग खण्डों में देखना गलत है। कहानी अब अपनी पुरानी हदें तोड़ आई है और नई परिभाषा चाहती है।

व्यक्ति को समग्रता में देखने का आग्रह—या व्यक्तिगत सामाजिकता का बोध कथाकार के लिए दुहरा दायित्व देता है। सबसे पहली जिम्मेदारी तो यह कि व्यक्ति अपना व्यक्तित्व न खो दे—उसे अधिक-से-अधिक ईमानदारी, आत्मीयता और संवेदनशीलता को अधिक-से-अधिक व्यापक, कन्विंन्सिंग और कॉम्प्रिहैन्सिव बनाने के लिए व्यक्ति को उसके परिवेश से न तोड़ा जाए। व्यक्ति को उसके सामाजिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक परिवेश से अलग न करने की यथार्थ दृष्टि, अर्थात् समग्रता में देखने का आग्रह, तभी सफल हो सकता है जब कथाकार व्यक्ति और परिवेश दोनों से तादात्म्य स्थापित कर सके, या ऐसे परिचित परिवेश से व्यक्ति को उठाए कि तत्काल उसका तादात्म्य प्राप्त कर ले। शायद यही कारण है कि पहले के कथाकार की तरह आज का कथाकार न तो हर किसी व्यक्ति को ले पाता है न हर किसी परिवेश में उसे रखना पसन्द करता है। स्वानुभूति का आश्वासन ही है कि आज की कहानी का व्यक्ति और परिवेश इतने आत्मपरक (सब्जैक्टिव) और वैयक्तिक (पर्सनल) हैं कि अकसर ही व्यक्ति के रूप में लेखक और परिवेश के रूप में उसके अपने आसपास का भ्रम होने लगता है। स्वानुभूति की सीमाएँ उसे व्यक्ति के रूप में 'मैं' से और परिवेश के रूप में इस 'मैं' के 'अपने ही वातावरण' से बाँधे रखती हैं। तब हम कहते हैं, अमुक लेखक अपने को दुहरा रहा है। लेकिन जब वह अपनी कहानी के विविध व्यक्तियों को 'मैं' की आत्मीयता और संवेदनशीलता, तथा विविध परिवेशों को 'मेरा अपना वातावरण' जैसी सहजता और यथातथ्यता दे देता है तो यह उसकी कला-दृष्टि की ईमानदारी और सफलता है। व्यक्ति और परिवेश की यह संश्लिष्ट विविधता, पहली कहानी की पात्र-देश-काल-कथानक इत्यादि की विविधता से, एकदम अलग है। मगर यह भी सही है कि 'स्वानुभूति' के आग्रह या यथार्थ-दृष्टि से बँधा आज का लेखक विविधता की दृष्टि से निर्धन ही है। हाँ, अपनी समग्रता में आज की कहानी जितनी विविध है, उतनी शायद ही पिछले किसी युग की रही हो।

अब विविधिता न दे पाने के कारण पर एक और कोण से विचार करें। विविध व्यक्तियों को 'मैं' की सब्जैक्टिव आत्मीयता और संवेदना तथा विविध परिवेशों को 'मेरा अपना वातावरण' जैसी दृष्टि और यथातथ्यता देने का आग्रह लेखक की सारी रचना-प्रक्रिया को बदल देता है। 'मैं' को पूरी तरह जानने और उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए साथ ही उसके परिवेश को आत्मसात् करने के लिए—व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्धों और सन्दर्भो को दूरी और गहराई तक जानने की जरूरत पड़ती है। तब कहानी के कलेवर में एक केन्द्रीय भाव को फोकस करते समय, उसके लिए यह छाँटना बड़ा मुश्किल हो जाता है कि क्या रखे और क्या छोड़े। सभी तत्त्व तो एक-दूसरे से गुँथे हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। निश्चय ही यह धर्म-संकट उसके

आवश्यक-अनावश्यक को छाँटने के विवेक की कमी नहीं, संश्लिष्टता का आग्रह है। पिछली पीढ़ीवाले, या कहिए परम्पराबद्ध कथाकार की तरह अपनी निर्वैयक्तिक (ऑब्जैक्टिव) दृष्टि और प्रतिभा के तेज चाकू से कसाई-जैसी तटस्थता के साथ एक साफ-सुथरे, कटे-छँटे आइडियावाली कसी-कसायी (एक्जैक्ट) कहानी काटकर निकाल लेना आज के कहानीकार के लिए भी कठिन नहीं है। लेकिन क्या सचमुच कोई भी भाव या भावना ऐसी अलग-अलग, स्वयं-संपूर्ण और सीधी-सपाट होती है? मुझे तो हर भाव या भावना के सूत्र और रेशे, व्यक्ति तथा परिवेश के भीतर बहुत दूरी और गहराई में समाये, एक-दूसरे से बहुत अधिक गुँथे और उलझे हुए लगते हैं। और मेरे सामने तो इस बुनावट (टैक्स्चर) की जटिलता का अहसास तथा उसे ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर देने का आग्रह 'क्या छोड़ूँ क्या न छोड़ूँ' का धर्म-संकट बन जाता है। शायद यही कारण है कि आज की कहानी अपने परम्परागत आकार से ही दुगुनी नहीं हो गई है, वरन् व्यक्ति और परिवेश को दूरी और गहराई के अनेक कोणों और आयामों में देखने के कारण भी उपन्यास के अधिक निकट पड़ती है। आज की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें पुराना लेखक उपन्यास के रूप में लिखना ज्यादा पसन्द करता।

मगर अनजाने ही कहानी उपन्यास की सीमाओं में अतिक्रमण भले ही करे, कहानी को उपन्यास बनने की छूट न पुराना लेखक देगा, न नया लेखक चाहेगा। चाहे जितनी संश्लिष्ट और समग्र हो—उसे अपनी बात बहुत संक्षेप में और संकेत से कहनी है। खण्ड में अखण्ड को देखने की मजबूरी ही है कि वह समाज से एक व्यक्ति को ओर जीवन से एक केन्द्रीय क्षण को काटकर उससे दूरी और गहराई एक साथ पाने की कोशिश करता है। यह व्यक्ति और क्षण, काल और परिवेश की लम्बाई और चौड़ाई में गवाक्ष बनकर आते हैं। इस प्रकार युग की समग्रता को संकेत में पाने का प्रयत्न—अर्थात् व्यक्ति और परिवेश के बहुमुखी आपसी सम्बन्ध और दूरी-गहराई के व्यापक सन्दर्भों के संक्रमण, परिवर्तनों की नाना स्तरीय संश्लिष्ट प्रक्रिया—और इस सब-कुछ को संकेतों तथा जीवन की प्रासंगिक—रिलेवेण्ट—रूपाकृतियों—इमेजों द्वारा व्यक्त करने का कौशल, आज के कहानीकार को कविता की ओर मोड़ता है। प्रतीक, रूपक, बिम्ब, लाक्षणिकता या संगीतात्मक ध्वनियों के सहारे वह प्रभाव को चेतना के अनेक स्तरों पर सम्प्रेषित और संस्पर्शित करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि आज का व्यक्ति-मन उतना सीधा और सपाट रह भी नहीं गया है। नए-पुराने मूल्यों के संघर्ष और संक्रमणों ने उसे संकुल और जटिल बना दिया है।

व्यक्तिगत सामाजिकता हो या निर्वैयक्तिक वैयक्तिकता—उपन्यास की व्यापकता हो या कविता की अनेकार्थी सुकुमार सूक्ष्मता; कहानी ने जहाँ उन सबका निर्व्याज-भाव से समाहार किया है वहीं वह सफल है; और जहाँ घोषित और आरोपित है वहाँ असफल। प्रयोग-काल की सफलता और असफलताओं को छूट तो देनी ही होगी।

आवश्यक आज के कथाकारों के लिए यह है कि वह व्यक्ति और उसके परिवेश को सही सन्दर्भों में सन्तुलन देता चले। परिवेश को छोड़कर व्यक्ति पर अपने को

केन्द्रित कर लेने में वह पुनः उन्हीं कथाकारों को दुहराएगा, जिन्हें कुण्ठित और रुद्ध घोषित करता रहा है—और व्यक्ति को छोड़कर परिवेश का आग्रह उसे उसी तरह भटका देगा जैसा आज के कुछ प्रतिभाशाली कथाकारों को उसने भटका दिया है। शहरी और ग्रामीण कहानी का आग्रह परिवेश और वातावरण के विभाजन के सिवा क्या है? बदलता हुआ परिवेश—तथा उसे बदलने के साथ-साथ स्वयं नित-नित नया होता व्यक्ति अपनी हार-जीत, घुटन और आकांक्षाओं में क्या कुछ कम नाटकीय है? विवाद और विमर्श इस थीम को लेकर होना चाहिए—व्यक्ति और परिवेश को अलग-अलग उठाकर नहीं। जहाँ तक कहानी इन दोनों के संश्लिष्ट सम्बन्ध को स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टि से पाठक के मन पर उतार सकती है, उसके सारे व्यक्तित्व एवं भाव-बोध को उदात्त संस्पर्श दे सकती है, वहाँ तक उसकी सफलता असंदिग्ध और सार्थक है।

हम न मरैं, मरिहै संसारा...

Wanted Man Held

(From our correspondent)

While attempting to cross the Railway yard, a prohibited area, a 35-year old man who gave his name as Rajendra Jadav, was arrested by the Railway Police in Howrah station on Wednesday aftrnoon. A suitcase. he was carying, contained an unllcensed country-made revolver and sevan rounds of ammunition. Jadav had a railway tricket from Monghyr to Calcutta. On inquiry it was found that he is wanted by the Bihar Police in connection with a case of docaity with murder.

More Takeover Rids

फरार आदमी गिरफ्तार

(निज संवाददाता द्वारा)

बुधवार की दोपहर को रेलवे यार्ड को पार करते समय, जहाँ जाने की मुमानियत थी, एक 35 वर्षीय आदमी हावड़ा स्टेशन पर रेलवे पुलिस के द्वारा पकड़ा गया। उसने अपना नाम वताया–राजेन्द्र जादव। उसके पास एक सूटकेस था जिसमें से एक बिना लाइसेंस का देशी रिवाल्वर और सात छर्रे बरामद हुए। जादव के पास मुंगेर से कलकत्ता तक का रेलवे टिकट भी था। बाद में खोज करने पर मालूम पड़ा कि डाकेजनी और हत्या के सिलसिले में बिहार पुलिस को इस आदमी की तलाश थी।

पुलिस के अपराधी राजेन्द्र यादव

बोकारो, 5 अगस्त (प्रेट)। यहाँ से 22 किलोमीटर दूर चारू-पुरुलिया पर पिंजराजोरा के पास आज पुलिस से हुई मुठभेड़ में खतरनाक

अपराधी राजेन्द्र यादव मारा गया।

मुठभेड़ उस समय हुई जब राजेन्द्र यादव और उसके दो साथियों ने बोकारो स्टील प्लांट के डिप्टी चीफ मैटीरियल्स मैनेजर एस.वी. रमण की पत्नी से नई मारुति कार छीन ली। उस वक्त वे बाजार से खरीदारी कर के लौट रही थीं। यादव ने भागने की असफल कोशिश की। तीन अपराधियों ने श्रीमती रमण के बाएँ कान की बाली भी छीन ली।

प्रिय हरिनारायण जी,
नमस्कार, आज प्रातःकाल 'जनसत्ता' में मुख्य पृष्ठ पर छपे एक समाचार की कटिंग संलग्न है। इस समाचार ने हम सभी को स्तब्ध कर दिया है।

कृपया तुरन्त लिखें कि वे कौन-सी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने राजेन्द्र जैसे निरीह व्यक्ति को 'खतरनाक अपराधी' बनने पर बाध्य कर दिया था। क्या मन्नूजी के उज्जैन चले जाने के बाद उसके अपराधी तत्त्व उभर निकले?

जो हो, हमें अपार दुख हुआ है इस समाचार से। उसकी आत्मा को तो शान्ति मिले, यही कामना है।

आपके पत्र की उत्कट परीक्षा में।

आपका समदुखी
मनमोहन ठाकौर, कलकत्ता

ऊपर दिए समाचारों की तारीखों में तीस सालों का अन्तर है, मगर समाचारों का स्रोत एक ही व्यक्ति है—मनमोहन ठाकौर...देखा आपने, यह व्यक्ति किस तरह विष्णु के सुदर्शन चक्र की तरह मेरी जान को लगा हे—ठीक उसी तरह जैसे 'ला-मिज़राब' उपन्यास में नायक ज्यां-वल्-ज्यां के पीछे लगा इंस्पेक्टर जैवर्ट जिन्दगी के हर मोड़ पर उसके सामने आ खड़ा होता था। व्यवस्था का प्रतीक जैवर्ट भी था, और मनमोहन ठाकौर भी और वह 'व्यक्ति' मुझे हर बार मारता रहा है, कभी फरार बताकर तो कभी दुर्दांत डाकू करार देकर...इन दोनों के लिए मैं एक शब्द देना चाहूँगा, 'बागी'। वह भूल जाता है कि राजेन्द्र यादव नाम का व्यक्ति न ट्रेन-दुर्घटना से मरता है, न पिस्तौल की गोली, न मंडल की गाली से और न किराए पर भेजे गए पर्वतेश मवाली से.. .क्योंकि वह भी तो एक प्रतीक है...जिसके लिए कभी कबीर ने कहा था, "हम न मरहिं, मरिहै संसारा..." या भगवतीचरण वर्मा ने फरमाया था, "तुम नश्वर हो, जग नश्वर है—बस मैं हूँ केवल एक 'अमर'..."

मगर जहाँ तक व्यक्ति का सवाल है तो एक इकबाल मैं आज किए ही लेता हूँ—खुदा को हाजिर-नाजिर जानकर कि अगर मेरे छः-सात शत्रु न हुए होते तो अपनी शारीरिक अनुपस्थिति का आश्वासन मैं आपको बहुत पहले ही दे चुका होता। ऊपर से मैं चाहे जो कुछ भी क्यों न कहता रहा होऊँ, मगर वस्तुतः अपने 'न होने' का अवसर और 'सुख' उन्हें नहीं देना चाहता था। यह कहीं उनकी दुरभिसंधियों को सफल न होने देने का पैंतरा भी था कि हम सब 'पहले आप, पहले आप' के तकल्लुफ ही दिखाते रहें। सच बात तो यह है कि हम सब उम्र के जिस पड़ाव पर पहुँच गए हैं वहाँ तकल्लुफ की बहुत गुंजाइश नहीं है और कभी भी टिकट कट सकता है। अजीब ट्रेन है और अजीब टिकट है। न यह मालूम कि ट्रेन क्या है और न यह पता कि टिकट कहाँ का है...बस, हम हैं, ट्रेन है, स्टेशन है और यात्रा है—सब कुछ पीछे छूटता हुआ। एक नकाबपोश-सा टी. टी. है जो न जाने कब अचानक नमूदार होता है, आपका टिकट देखता है, रहस्यमय मुद्रा में 'हाँ' या 'ना' कहता है और गायब हो जाता है। आप मुड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि आपका सहयात्री किसी स्टेशन पर चुपचाप उतार दिया गया है या खुद आप ही किसी धुँधभरे गुमनाम प्लेटफार्म पर अकेले खड़े हैं और ट्रेन चली गई है...

तो दोस्तो, अगर मेरे ये 'षड्रिपु' न हुए होते तो मेरी मौत का यह मंगल-हादसा बहुत पहले ही घटित हो चुका होता। आप जानते ही हैं कि मरघटों के साथ कुछ अजीब डरावनी तस्वीरें हम सबकी चेतना में बहुत गहरे बैठी हुई हैं...जैसे साँप की तरह एक मटमैली नदी, मनहूस और उजाड़ पीपल-पाकड़ के पेड़, लाखों साल पुराने कछुओं जैसे बेडोल टीले, कुछ पेड़ों की नंगी शाखों पर धुस्सा दिए सिकुड़े बैठे चौकन्ने गिद्ध, अदृश्य जगहों से पृष्ठभूमि संगीत देते सियार, कुंडली मारे राख में सोते कुत्तों. ..हम जैसे मुलायम दिल तो सिर्फ इसीलिए अपना मरना स्थगित किए जाते हैं कि कहीं इनके हाथों न पड़/पकड़ जाएँ...मालूम हुआ ठुमकते हुए एक गिद्ध साहब आए और आपकी ऑखें निकाल कर चलते बने, कौवे आपके आस-पास गरबा-नृत्य करते हुए अपने यार-दोस्तों को न्यौत रहे हैं कि आओ, दावत शुरू करें। सियार-कुत्तां को कोई लेना-देना हो या न हो, तरह-तरह की आवाजें निकालकर खामखाँ एक शास्त्रीय (क्लासिकल) वातावरण बनाए हुए हैं। अजीब हास्यास्पद और आपत्तिजनक मंजर पैदा हो जाता है जैसे आप मरे नहीं हैं किसी फिल्म की शूटिंग हो रही है और डायरेक्टर कभी भी 'कट-कट' करता हुआ रि-टेक या पैकअप का आदेश दे सकता है। ऐसे में तो कोई भी खुद्दार आदमी उठकर कह सकता है : नहीं साहब, नहीं, हम इस तरह मरने से इंकार करते हैं। बोलो, ऐंचों, ये भी कोई मरना हुआ...आखिर हम मर ही तो रहे हैं, अनुच्च गिरिराज की तरह शवासन का प्रदर्शन तो नहीं कर रहे...न जमूरे की तरह या अजित कुमार के 'उल्लू के पट्ठे' की तरह उठकर हमें सबसे पैसे माँगने हैं...

अगर आप यह 'सुख' चाहते ही हैं तो बेचारे दिवंगत को गरिमा से मरने दीजिए ...न जाने कितने दशकों से हम इस गरिमा से मरने की तस्वीर में ही तो रंग भरते

हैं। हर आसपास मरने वाले को देखकर या बड़े-बड़े सियारों की तरह शहर की तरफ दौड़कर 'दिल्ली में एक मौत' नुमा कहानियों से इस 'मरने की तस्वीर' के संशोधित परिवर्द्धित संस्करण निकालते रहे हैं। मूल तस्वीर तो इतनी ही है कि रात को हल्की दारू के नशे में, इस पतन पर पत्नी की मूक या मुखर भर्त्सना के संत-सहन के साथ भोजन किया, दूरदर्शन पर अंग्रेजी समाचार देखे, फिर किसी बहस, सीरियल या 'न्यूज दिस वीक' के दौरान झपकियाँ लीं, हारकर उठे स्विच बंद किए, ताले-कुंडी जाँचे, ब्रश किया, लेटकर कोई किताब-पत्रिका देखते-देखते झपकियाँ लीं, और पता लगा, सुबह उठे ही नहीं...'उठे नहीं' यानी वहीं सोये (या पड़े) हैं, और अलग खड़े देख रहे हैं, चकित और दुखी हैं कि कब जाकर साली यह 'लेखकीय तटस्थता' हासिल हुई है—घरवालों पर पहला धक्का, रोना-धोना, फोना-फानी : सूचनाएँ और भागदौड़। जिसको खबर मिलती है उसकी प्रतिक्रिया...''अरे कल ही तो मिले थे...'' संस्कार कब है? 'इलैक्ट्रिक या निगम बोध? हाँ, हाँ, पहुँचना तो पड़ेगा ही...अब आप अपने यहाँ भी हैं और हरेक के साथ भी, दूरदर्शन, अखबारों के कवरेज पर भी आपका ध्यान है और शोकाकुलों या तसदीकियों के आने-जाने पर भी...'सही' समय, मौसम और अवसर होता तो कितने लोग जमा हो जाते श्मशान भूमि में। आपको मालूम है, कौन-कौन साहब कहाँ-कहाँ होंगे, कौन घर आएगा, कौन सीधे पहुँचेगा...किसको कहाँ से दारू-पार्टी में जाना है और किसकी शादी, अभिनंदन, विमोचन या जन्मदिन पर...कोई बड़ा नेता-राजनेता तो आएगा नहीं, सबको ही तो आप गालियाँ देते रहे हैं अपने सत्ता-विरोध के जोम में...अहमदाबाद से लौटने और कलकत्ता जाने के बीच घण्टों में ओसो नामवर तो लिफ्ट न मिलने के कारण आ नहीं पाएँगे, बिना लिफ्ट या सीढ़ी के बाथरूम तक नहीं जाते...कह देंगे, खबर ही नहीं लगी...अजित रेडियो की रिकार्डिंग से दौड़े-दौड़े आएँगे और किसी 'कोल्हू', 'रहट' उपनामी या 'सैयाँ के पेयाँ परूँ'—छाप कवि का इंटरव्यू लेने वापस दूरदर्शन भागेंगे...बहुस्तरीय पापी पेट का सवाल...वी. आई. पी. प्लेटफार्म भी आपको नसीब नहीं होगा, इधर-उधर किसी कोने-किनारे ही आपकी चिता सजेगी। हो सकता है आपके मन में यह विरोध भी उठे कि मैंने तो 'विद्युत शवदाहगृह' के लिए कहा था...ये कम्बख्त कहाँ ले आए...मगर वहाँ तो जगह कम है। ज्यादा लोग आ गए तो? अजी कोई ज्यादा-व्यादा नहीं, दस-बीस आ जाएँ, वही गनीमत है ... कौन-से आप पंकज विष्टनुमा किसी साहित्यिक खाड़कू के हाथों शहीद हुए हैं, अपनी मौत ही तो मरे हैं। उम्र भी तो हो गई थी। अब नहीं मरते तो क्या मोरारजी बनकर जिन्दगी-भर आवारा मसीहाई करते, देश की छाती पर मूँग दलते रहते...? बहरहाल, आइए अब जरा शोक सभा का नजारा लिया जाए...

और मेरा 'डर' यहीं से शुरू होता है...अखबारी श्रद्धांजलियों या शोक सभाओं में ही लोगों को वह मौका मिलेगा जो आप जीते-जी उन्हें कभी नहीं देना चाहते थे। जिंदगी-भर साहित्यिक मूल्यों की माँ की ऐसी-तैसी करने वाला या भाड़ झोंकू कहने वाला आपकी

उपलब्धियों, योगदान, मौलिक महत्त्वपूर्ण चिंतन का बखान करेगा, 'हंस' में महिलाओं पर विशेष कृपा करने का आरोप लगाने वाला, आपके मन में नारी-जाति के प्रति महान् सम्मान का नाम देगा और न जाने किस-किस क्षेत्र में अपूरणीय क्षति के ब्योरे देगा या 'हमारे साथ जो-जो किया है उसके बाद तो राजेन्द्र जी को मरने से कौन बचा सकता था' का रमेश उपाध्यायी या तो 'मैं तो चालीस साल पहले ही जानता था कि इसका, राकेश-कमलेश्वर या मेरे सारे दुश्मनों का यही होना है' का अश्कीय भाव ओढ़े अधिकांश साहित्यकार शोकाकुल बने अशोक (वाजपेयी) निन्दा में व्यस्त इधर-उधर टहलेंगे...कहानी, समीक्षा, राजनीतिक पत्रकारिता, अपने महत्त्व पर खुद शेखीभरी अफवाहें फैलाने, फिल्म-लेखन, दूरदर्शन, फ्लैट दबोचने, झूठ बोलने के कीर्तिमान संस्थापक, प्रेमिकाबाजी में जड़-मूल से महान् क्रान्तियाँ पैदा करने वाला कमलेश्वर मनगढंत लतीफे, वार्तालाप या घटनाएँ या दूसरों की नीचताएँ, कमीनापन, उजागर करते हुए सिद्ध करेगा कि ''कहाँ मैं, जिसे गर्बाचोव अपना राजनीतिक और रीगन अपना साहित्यिक सलाहकार बनाने के लिए एड़ियाँ रगड़ने मर गए, और कहाँ यह टुच्चा दिवंगत...इसकी डायरी या अधूरी रचना हाथ पड़ने दो, फिर उसमें ऐसी आधारशिलाएँ भरकर दिखाता हूँ कि याद करेगा...बाल ठाकरे मेरा दोस्त है, उसके सैनिक सारी नींव-दीवारें खोद डालेंगे। शैलेश मटियानी को यह दूसरा आघात होगा, मगर आत्मनियुक्त शंकराचार्य का पद कैसे छोड़ेंगे...राष्ट्र, कानून, संविधान, मानवता को बहुत ऊँची बातें हैं, मगर मैं सच कहता हूँ कि राजेन्द्र जी को न साहित्य की समझ थी, न भाषा की...लेखन और संपादन का तो ककहरा भी वे नहीं जानते थे। मनुस्मृति जैसे महान् और शाश्वत ग्रन्थ की एक पंक्ति भी जी लेते तो वाल्मीकि और कालिदास के बाप हो जाते...मुझे अफसोस यही है कि जिन्दगी-भर मैं उन्हें नहीं समझा पाया कि सैकड़ों वर्षों से जो पहाड़ी लड़कियाँ दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता के वेश्यालयों में लाखों की संख्या में आती रही हैं इस सबके लिए वे खुद जिम्मेदार हैं, वहाँ भी राजेन्द्र जी सामाजिक-राजनीतिक या सामन्ती सवर्ण शोषण ही देखते रहे...मैं फिर कहता हूं कि दलित नाम की कोई चीज नहीं होती, वह सिर्फ एक मानसिकता है—जिस तरह मारने वाला नहीं, मरने वाला ही स्वयं अपनी हत्या का जिम्मेदार होता है उसी तरह दलित अपनी अशिक्षा या दयनीयता के लिए स्वयं जिम्मेदार है...या जिम्मेदार हैं वे परिस्थितियाँ जिनका निर्माता स्वयं भगवान् है...'' गिरिराज किशोर की व्यक्तिगत स्पर्द्धा, नई कहानी गिरोह द्वारा अपनी जायदाद पर डाका डाले जाने की खुंदक अब किसके सहारे परवान चढ़ेगी, ''हमेशा अलग और नए ढंग से सोचता था, जिसे मैं अनैतिक, अधार्मिक समझता हूँ वही सब करता था, गांधी के प्रति अपेक्षित श्रद्धा न होने से ही मारा गया, पर कुछ कहिए बोल्ड था और बड़े-से बड़े तीसमारखाँ को ठेंगे पर रखता था। कम्बख्त में इस उम्र में ऐसा चुम्बक था कि महिलाएँ प्रभावित हो जाती थीं...कृष्ण का कुछ अंश तो जरूर रहा होगा...'' गहरे प्यार और सम्मान को क्रमशः घृणा और उदासीनता में बदलने की प्रक्रिया से गुजरते सेवाराम शर्मा सात्त्विक रिलीफ और विष्णुकांत शास्त्री गैरिक उदासी से कहेंगे, ''हिन्दू-धर्म और संस्कृति की महानता और दिव्य गरिमा को देख

सकने में राजेन्द्रजी असमर्थ थे, इसलिए आत्मा की मुक्ति से वंचित ही रह गए...उनमें न देवी-देवताओं के प्रति आस्था थी न ऋषिकल्प भारतीयता के प्रति...सिर्फ प्रयोग के लिए इनमें एक बार ईमान लाते तो काफी ऊँचाई तक जाने की क्षमता जरूर थी। मंडल-कमंडल जैसी नकली-झूठी और भौतिक बातों में समय बर्बाद न करके आध्यात्मिक मूल्यों और भक्ति की तुरीयताओं को आत्मसात करते तो शायद उनकी उपलब्धियाँ बहुत महान् होतीं...'' पतित व्यक्ति के प्रति परम धर्मनिष्ठ हिन्दू जैसी सात्त्विक करुणा असाध्यता के निरुपाय और विवश-उद्वेग से उच्छ्वासित हो उठता है, ठीक उसी भावस्थिति में शर्मा जी के मुँह से निकलेगा, ''भगवान् राजेन्द्र जी की आत्मा को मुक्ति देना। क्षमा करना, वे खुद नहीं जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं और कहाँ गिरे पडे हैं...आमीन'' ...फिर अचानक स्वयं ही चौंककर चुप हो जाएँगे कि कहीं पास खड़ी सरयू जी को प्रभावित करने के चक्कर में मैं किसी फादर की ही भाषा तो नहीं बोलने लगा...मगर फादर की भाषा बोलेगा भीष्म...बहू-विरोधी सास की तरह युवा प्रतिभाओं का यह शत्रु, गमगीन ओर मिस्कीन चेहरा बनाकर कहेगा, ''यार, मुझे तो तब सूचना मिली जब मैं होनोलूलू में साहित्य पर पाँच लाख का पुरस्कार लेकर टिम्बकटू में मिनी शंकराचार्य का फिल्मी रोल करने गया था...मैं उसका लिखा देख तो नहीं पाया, मगर आदमी तो अच्छा ही था, पढ़ता भी बहुत था। शीला से कहूँगा कि उसकी किताबें पढ़कर मुझे बता दे...'' मगर संतमुखी इस शैतान की भीतरी शिकायत यही होगी कि समय-असमय फोन से अब अश्लीलतम पंजाबी चुटकुले किसे सुनाएगा या हाथ मिलाते ही उँगली से हथेली पर गुह्य इशारे किससे करेगा...

जिंदगी-भर हरेक को अपनी शर्तों के अनुकूल न बना पाने की खिन्न असफलता से क्षुब्ध महिलाएँ हमेशा की तरह मेरी शोक सभा में भी चुप रहेंगी, मगर पुरुषों के मुकाबले मेरे 'हरामीपने' को बहुत जल्दी क्षमा करके मन ही मन उदात्त करुणा से भर उठेंगी—आदमी शायद उतना बुरा नहीं था, जितना ये लोग माइक पर बता रहे हैं। बल्कि इसीलिए अच्छा ही था, मगर खुद बोलेंगी कुछ नहीं—जीवनसाथीनुमा घुन्ना यही न सोच बैठे कि कहीं ये कम्बख्त दिवंगत को सचमुच ही तो पसन्द नहीं करती थीं। अब सभी तो शोभना भूटानी या पद्मा की तरह मुँहफट' होती नहीं हैं कि दस आदमियों के बीच कह दें कि कौन उनके लिए क्या भाव रखता था, या कैसे प्रेमपत्र लिखता था। इतना श्रद्धास्पद बनने के लिए हमने कोई हरकत की नहीं कि शिवानीजी के 'गुरुदेव' की तरह हर साँस में हमारा हनुमान चालीसा पढ़ा जाए...वैसे भी मुँह से चाहे जो कहती रहें, महिलाएँ बड़े-से-बड़े तीसमारखाँ के लिए श्रद्धा-वद्धा नहीं रखतीं, बड़े-बड़े श्रद्धेयों की असलियत वे जानती हैं—हाँ, कभी-कभी वात्सल्य का भाव आ जाता हो, वह बात दूसरी है...आखिर अनामिका, विमल और उसके पुत्र पर या क्षमा, सुधीश पचौरी की लम्पटताओं पर लाड़ ही तो बरसाती रही हैं...

इस प्रकार आपके न रहने से सारे साथी लेख-पुरुष सुखी, मुक्त और निश्चिंत होंगे और सारी नारियाँ प्रतिक्रियाविहीन रहेंगी, मन्नू भले ही आत्मतर्पण के बहाने आपका तर्पण कर दे—यानी कुल मिलाकर राजेन्द्र जी, आप परम क्लासिकल पानी

के बुलबुले की तरह ही 'अनलैमेटेड' (स्यापाहीन?) यानी दो गज जमीं भी न मिली कि हसरतमें ही मुल्केअदम की तरह कूच करेंगे और काल का झाड़ू बुहार देगा—बोल सियावर रामचंद्र की जै...

अब यहाँ विचार या अफसोस का मुद्दा यह है कि जब आप अपनी नियति इतनी चित्रात्मक स्पष्टता से जानते थे तो क्यों इस मुगालते की जुगाली करते रहे कि कोई मीर बाकी आपके नाम की बाबरी मस्जिद खड़ी कर देगा? या जब तक आपकी स्मृति में अशोक की लाट तैयार नहीं होगी, आप मरने की मेहरबानी करके ही नहीं देंगे? क्यों सारी जिन्दगी दूसरों को कोंचते और अपने-आपको नोचते रहें? वैसे भी आपके पास था क्या जिस पर महान् उपलब्धियों की खुशफहमियाँ पालते रहे? हमेशा से कब्ज के मरीज, एक पाँव से लाचार, एक ऑख लगभग बेकार, बुद्धि-वंचित यदुकुल में जन्म, विशारद-साहित्य रत्न की मार्फत बी. ए., देश की फटीचर जवान में एम. ए., याददाश्त के नाम पर अंडा, साधारण से डॉक्टर के बेटे, दस भाई-बहनों में सबसे बड़े—न पैसा न प्रभाव...फिर आप क्यों और किस बूते पर साहित्य की ऐसी दुनिया में आ गए जहाँ एक से एक फन्नेखाँ दंड पेल रहे हों? माना कि आपने जो गुण गिनाए हैं उनमें ज्यादा में आपका चुनाव नहीं था, मगर अपनी उन सीमाओं को स्वीकार करके चुपचाप किसी कोने में पड़े टीचरी या कम्पाउंडरी करते नहीं रह सकते थे? कम से कम गुरुवर पं. जगन्नाथ तिवारी को सन्तोष रहता कि बेचारे को एक ठीया दे दिया। आखिर किस हवा और हिमाकत में आप आगरा से कलकत्ता और कलकत्ता से दिल्ली की खाक छानते रहे? किया होगा आपके हमवतनी गालिब ने यही सब, मगर जनाब, उसके पास प्रतिभा थी, लियाकत थी और उसकी जबान शाही सम्मान से नवाज़ित थी...गदहपचीसी की कच्ची उम्र में दूसरे जिस हीरो से आप अपने-आपको जोड़ते रहे वह चैखव, कहानी का राजा भोज था और आप गंगू तेली की परछाईं भी नहीं। कहीं आपके न चाहते या जानते, लॉर्ड बायरन तो आपके भीतर नहीं घुस बैठा था? मगर हुजूर, वह लॉर्ड था, शाही खानदान से था और डेयर-डेविल (धाँसू) था। न आप वैसे यूसुफ, न रईसजादे...कुल मिलाकर सारी ही बातें तो आपके खिलाफ थीं।

अब जब 'पकड़' ही लिए गए हो तो सारी बातें खुद सच-सच स्वीकार कर लो, वर्ना फिर साहित्य के यमदूतों के आगे झख मारकर स्वीकार करनी होंगी...आरोप या सवाल यही है कि वह कौन-सी हल्दी की गाँठ थी कि आप लेखन का 'कारे-दराज' लेकर आ बैठे और साहित्यिक खुदाओं को ललकारते रहे...

लोग तकल्लुफ, प्रशंसा या मुँह देखी में हो जो कहते रहें, लगन इच्छा-शक्ति या संकल्प, मगर इस बात को आपके सिवा कोई नहीं जानता कि आपके पास एक ही पूँजी या प्लस-पाइंट था और वह थी जिद। इस बात की जिद कि इस जालिम जमाने में कोई किसी की शक्ति नहीं बनता, गॉड फादर भी चेले की सम्भावनाएँ देखते हैं और कोई तपस्या किसी देवता से वरदान नहीं निचोड़ सकती। जो भी कुछ पाना है सिर्फ अपने बल पर ही पाना है! कहा नहीं जा सकता : यह तत्त्व आपके भीतर विपरीत परिस्थितियों की चेतना, उसमें अपने अस्तित्व की सुरक्षा और बनैली जिजीविषा

से आया था, या ज़िद्दी बाप से विरासत में मिला था...मगर सारी उदारता और मानवीयता के बावजूद बाप की ज़िद, दिए गए सामन्ती मूल्यों से जुड़ी थी, इसलिए उसे वह सही मानता था और उस पर टिके रहने को ही नैतिक दृढ़ता समझता था। नतीजे में वह आत्महंता ज़िदों में शहीद हो गया। पुराने किस्म के वह उन बहादुर लड़ाकुओं में था जो अपनी छोटी-सी गढ़ी को ही अभेद्य या दुर्जेय समझते हैं और वहाँ से सारी दुनिया को ललकार डालते हैं या आत्मरक्षा को ही सत्य की रक्षा मानकर लड़ते हैं क्योंकि 'सत्य' हमेशा उन्हीं के साथ होता है। यानी दूसरे 'सत्यरक्षक' के हाथों मार दिए जाते हैं, मगर समझते हैं कि आन के लिए मर मिटे हैं। वे सामन्ती अंतर्विरोधों पर कभी कोई सवाल नहीं उठाते, क्योंकि वे ही सही होते हैं, दूसरे गलत। इसलिए गुणात्मक रूप से अलग होने के साथ-साथ आपकी ज़िद शायद आत्मरक्षात्मक नहीं, आक्रामक रही...यानी जो, जैसा आपको मिला है या दिया गया है वही आपकी सीमा क्यों हो, पार जाने की चुनौती क्यों न बने? उपलब्ध क्या करना है, यह दूसरी बात है मगर शारीरिक और मानसिक गड्ढों की दयनीयताओं में ही क्यों पड़े रहना है? यह जिजीविषा और ज़िद न होती तो आदमी आज भी गुफाओं और पेड़ों पर ही रह रहा होता... जो जैसा दिया गया है, न वह प्रारब्ध है, न पूजनीय। शायद यहीं से आया होगा वह दुस्साहस कि न कुछ अन्तिम है, न प्रश्नातीत। पवित्र या सैक्रोसेंट मानकर हम जिसे निर्विरोध भाव से प्राप्त या स्वीकार कर लेते हैं वही तो 'शिलीभूत' महानता है—फ्रोज़िन-ग्रेटनैस या शालिग्राम! यथास्थिति के अस्वीकार की यह तड़पती धारा अगर अपने जैसे 'सीमाबद्ध' लोगों को मानसिक या सामाजिक रूप से मुक्त कर सके तो क्या यही उसकी सार्थकता नहीं है? जीवित व्यक्तियों का शापग्रस्त होकर शिलीभूत हो जाना है—जिन्दगी के प्रवाह में किनारों पर फेंके गए महान्...जिनमें अभी भी जीवन बचा है और बन्द नहीं हो गए हैं, मुझे उन्हीं से तो संवाद जोड़ना होगा। आपको क्यों हमेशा यह एहसास बेचैन करता रहा कि साहित्य की इस संभ्रान्त दुनिया में आप एक घुसपैठिया और बहुरूपिया की तरह बिना टिकट घुस आए हैं और कभी भी पकड़े या मारे जा सकते हैं। वस्तुतः आपकी असली जगह तो निचली गहराइयाँ हैं जिनकी यातना का पक्षधर बनकर आप फकीरों का भेस बनाकर घूस या मसीत में सोते रहे हैं और इस चमकती दुनिया की हर चीज को चोर की तरह जाँच-परख रहे हैं कि यह 'वहाँ के लिए' कितनी प्रासंगिक और उपयोगी होगी। कुछ रचनाकार जरूर किसी ऊँची और ऊपरी दुनिया के संदेश लेकर आते होंगे, आपको तो 'तीसरी दुनिया' का राजदूत बनकर ही यहाँ रहना है!

आप मानें या न मानें राजेन्द्र जी, यह निश्चित है कि इधर आपका दिमाग पटरी से उतर गया था और दृष्टि में ऐसा विकार आ गया था कि आप न पैकिंग की तारीफ कर पाते थे, न क्वालिटी की—आप हमेशा अफीम के प्रभाव, किसके द्वारा उसका कहाँ इस्तेमाल हो रहा है, इसी को लेकर हाय-तौबा मचाते रहते थे। अब वह आदमी गंडासे या गिलोटिन की प्रभावी टेकनीक, लोहे की क्वालिटी, फिनिश और परम्परा को कैसे एप्रिशियेट कर पाएगा जो हर वक्त उसके उपयोग (?) का ही रोना रोता रहे...जिन

धर्मग्रन्थों में आप सवर्ण-सामन्ती षड्यंत्र ही सूँघते रहे, कम से कम उसकी कलात्मक उत्कृष्टता, भाषा-सौन्दर्य, काव्य-सम्पदा और दार्शनिक गहराइयों को ही एक बार देख लेते तो शायद कुछ मानसिक इलाज होता...सोचिए, आप ही डाकू, बागी या पागल बताकर नहीं मारे जाएँगे तो क्या कोहली को यह 'सम्मान' मिलेगा?

बहरहाल, राजेन्द्र जी, अब यह मान ही लें कि इस 'जिद' नाम के तत्त्व ने आपके अवचेतन को अनेक विकृतियों, परिवर्तनों और रूपान्तरणों की प्रक्रिया में डाले रखा है। व्यवहार में प्रायः हर चीज के प्रति विरोधहीनता और वैचारिकता में निडर अस्वीकार की स्थायी मुद्रा दे डाली है। आप इसे महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन का विभाजन या विवेक भले ही कह लें, मगर यही अन्तर्विरोध आपके व्यक्तित्व को यह गतिशीलता देता रहा है जिसे आप आत्मप्रशंसा में 'जीवंतता' या 'जीवट' का नाम देते और दूसरों द्वारा वन-ट्रैक होने के आरोप स्वीकारते रहे हैं...

'जीवंतता' या उम्र, मृत्यु या भीतरी-बाहरी जड़ता का अस्वीकार—हर उस दबाव या शर्त का अस्वीकार जो लेखक को मार देता है, या उसे निरर्थक बना देता है... स्वतन्त्र और निर्भीक लेखक की हैसियत से जीने का सपना—सार्त्र को आदर्श बनाकर यानी नौकरी, सम्मान, पुरस्कार, पद अपने लिए सब कुछ पा लेने के शीर्षासनों से बचना...किसके लिए करना है सब? क्यों करना है सब? लगता है आपने जो लाइन चुनी है उसमें पैसा ही सारी जलालतों की जड़ है, वही मरकट की नाईं नचाता है इसलिए सिर्फ इतना चाहिए कि खाना-रहना चलता रहे, दोस्तों के साथ कुछ शामें अच्छी गुजर जाएँ और सूरत से यतीम या भिखमंगे न नजर आएँ...बाकी न भविष्यनिधि, न बैंक निधि। करना क्या है? (साईं इतना दीजिए जामै कुटुम समाय?) पिता और प्रकृति ने ऐसा स्वस्थ शरीर दिया है कि (आगे का नहीं मालूम) पिछले चालीस-पचास सालों में कभी बुखार तक के इलाज की जरूरत नहीं पड़ी। मेहमान या मित्र को कभी सिरदर्द की गोली की जरूरत पड़े तो पड़ोसी या दुकान तक दौड़ना पड़े...दुर्घटनाओं पर तो किसी का बस नहीं है, मगर न मृत्यु कभी दूर-दूर तक चिंता की चीज रही, न डर का हिस्सा...डर सिर्फ एक रहा, दीन और दयनीय बन जाने का...मौत तो जिस दिन होगी वह हो जाएगी—अपने-आप या दूसरों के हाथों। अफसोस सिर्फ यही है कि बहुत कुछ अधूरा और बिखरा छूट जाएगा...कौन सँभालेगा यह सब? ऐसा भी तो कोई नहीं है कि 'पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चल गज्जन नृप काज...' के भाव से सौंपकर 'राजीव लोचन राम चले, तज बाप को राज बटाऊँ की नाईं...' न बेटी को साहित्य से शौक, न परिवारियों को...

राजेन्द्र जी, इसी से जुड़ा एक सवाल आपको हमेशा परेशान करता रहा है, आदमी जीवन में समझौते पहले करता है या विचारों में? शायद समझौते हम सब करते हैं, जैसे मोर्चों पर हर लड़ाई हारी या जीती जाती है—मगर सम्पूर्णता में युद्ध जीतने की योजना आँखों से ओझल कभी नहीं होती। आदमी शायद हर समझौते या नीचता के लिए पहले तर्क गढ़ता है ताकि अपने सामने 'सही' बना रह सके। हत्या करने के लिए भी उसे 'सत्य का पक्षधर' होने का आश्वासन चाहिए। मगर अपने

ही अंतर्विरोधों की कचोट लेखक को सबसे अधिक नहीं छीलती? क्या वह अपने से यह सवाल पूछना ही बन्द कर देता है कि उसे क्यों वह चाहिए जो उसे अपने ही आदर्शों के सामने झूठा कर देता है? आपने तो तय कर लिया कि जब अपने लिए कुछ चाहिए ही नहीं तो दुनिया-भर की लटर-पटर क्यों करें? जो ठीक लगेगा, बोलेंगे ...जो समझ में आएगा, लिखेंगे—मन होगा, सो पढ़ेंगे। मगर दूसरों को लेकर आपको दुख या परेशानी क्यों है? आप क्यों यह मानते हैं कि जरूरत तो न भीष्म को है, न नामवर को, न अजित कुमार को है, न कमलेश्वर को, न मनोहरश्याम जोशी को। सभी का बेहद संक्षिप्त परिवार है और वे सभी व्यवस्थित हैं। हाँ, शायद इन सबको न जाने कितने भाई-भतीजे फिट करने हैं, नाती-पोतों के भविष्य बनाने हैं, झूठ-सच, कंजूसी-कमीनापन और दुनिया-भर की पंचायतें करनी हैं। वाइस चांसलर, गवर्नर, एम. पी., पी. एम. बनना है, यानी सभी कुछ वह करना है जो हर्षद मेहता, नटवरलाल या हाजी मस्तान को करना है...इसलिए बेहद बचा-बचाकर बोलते हैं, हर सही-गलत के लिए दर्शन और दृष्टिकोण गढ़ते हैं, हर उठती हुई लहर पर सवार हैं और दौड़ रहे हैं अपनी ही पूँछ पिछुआते टॉमी या टीपू की तरह...यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ, हर पुस्कार, हर सम्मान और हर कन्धा हमें चाहिए—चाहे इसके लिए कितनी ही नगेन्द्री ऊँचाई तक क्यों न जाना पड़े...अरे साहब, इतनी सब हाय-हाय किसके लिए मचाए हैं? मान लीजिए, दस-पचास लाख छोड़ भी गए तो क्या बच्चे आपके लिए ताजमहल बनवा देंगे? अजी राम का नाम लीजिए हममें से हरेक के बच्चे हमसे लाख गुना ज्यादा समर्थ हैं और साहित्य-संस्कृति नाम का कोई कैंसर उनकी हड्डियों को नहीं खा रहा। अगर उन्होंने हमसे कुछ लिया है तो वह है झूठ दुनियादारी, पैसा-परस्ती, सिफारिशें और रिश्वतें—इसलिए वे आपकी तरह आदर्शवाद और मतलब वाद की दो नावों पर पाँव रखकर नहीं चलते...यह आडम्बरी द्वन्द्व उनकी चेतना का हिस्सा ही नहीं है। आप समझते हैं कि जिनका नाम ले-लेकर जिन्दगी भर आप जो कुछ करते रहे हैं वह सब उनके अस्तित्व का हिस्सा नहीं है? इसलिए वे आपकी तरह भीतरी और बाहरी 'धिक्कार' को नहीं जीते और मिमियाकर नहीं, छाती ठोककर कहते हैं कि उन्हें बहुत पैसा चाहिए, सुख-समृद्धि और आराम उनका हक है, अगर उनके लिए कुछ कर सकते हैं तो सिर्फ इतना ही कि वे सही-गलत, कानूनी, गैरकानूनी जो भी करें उसे आप अपने बाप-व्यक्तित्व से प्रोटेक्शन या संरक्षण दें...सचमुच क्या आप इस गलतफहमी से मुक्त नहीं हो सकते कि अपने को वंचित करके आप उन्हें निजाम का खजाना छोड़ जाएँगे? क्या आप सब शान्ति से बैठकर उस 'सही-जिन्दगी' का शुरुआत नहीं कर सकते जिसे आप बीस साल की उम्र से स्थगित करते आए हैं? मगर अब जिन्दगी बची कहाँ है, उसे तो आपने 'अपना दुश्मन' बनकर मार डाला है...

मगर रुकिए राजेन्द्र जी, रुकिए...क्या यह सब मन समझाने या 'होलियर दैन दाउ' (तुमसे ज्यादा सच्चा) का झूठ नहीं है कि उन्हें तो पद-प्रतिष्ठा पैसा चाहिए था, इसलिए वे इसमें जुटे थे और अपने वास्तविक को स्थगित करते रहे...और आप ही

भगवद्भजन में लगे रहे...पहला सवाल तो यही है कि यह आपने अपने लिए कैसे तय कर लिया कि आपको यह सब नहीं चाहिए था या आपको नहीं मिला? हो सकता है आपको नहीं मिला इसलिए अँगूर खानेवालों के लिए आपके मन में खटास है। फिर जो कुछ आपको मिला वह सब तो आपके पिताश्री नहीं छोड़ गए थे—चलिए, यह भी एक बार मान लिया कि न रिरियाकर मिला, न तिकड़मों से, मगर है तो आपके पास भी वही सब जिसके लिए आपको दूसरे उल्टे लटके दिखाई देते हैं। नहीं, यह सच नहीं है क्योंकि जो कुछ भी आज है उसमें अस्सी प्रतिशत मन्नू का अर्जित है। अक्षर शुरू होने के दस साल बाद जब उसने तय कर लिया कि एफ. डी. पी. एफ. इत्यादि से निकालना बहुत हो चुका अब मैं न अक्षर में कुछ दूँगी, न लूँगी। सिर्फ अगली-पिछली रॉयल्टी ही मेरा योगदान रहेगी। इसके बाद ही तो उसने अपनी ठसक के साथ वेतन, बाहरी किताबों की रॉयल्टी, लेखन फिल्मों और सीरियलों को आधार बनाया और तीस साल काम करने के बाद जो हर सामान्य मध्यवर्गीय के पास हो जाता है, वही पाया। माना कि, 'दस फार, नो फर्दर' (बहुत हुआ, अब नहीं) कहने का विवेक और साहस आपमें रहे, मगर फिर वह क्या था कि आप भी अपने को औरों की ही तरह स्थगित करते रहे—या 'न लिखने के कारण' खोजते रहे...

शायद गलत चुनौतियों को स्वीकार करके जिन्दगी झोंक देना ही आपकी सबसे बड़ी दुर्घटना रही है। लेखकीय स्वतन्त्रता या ठसक को बनाए रखने और जिस-तिस के आगे हाथ पसारने की जरूरत से बचने से प्रेमचंद, यशपाल की तरह 'अक्षर' बनाया। सोचा, अब अपनी और मन्नू की किताबों का प्रकाशन-वितरण करेंगे ही तो क्यों न दस और लेखकों को इसका लाभ मिले, मगर बीस-बाईस साल की जद्दोजहद का हासिल क्या रहा? यही कि अपनी पुस्तकें, रॉयल्टी, पारिश्रमिक, समय, श्रम सब कुछ इसी में झोंकते रहे...और लेखकों की रॉयल्टी खाने का 'सुयश' भोगते रहे, भेंट में मिले एक नए रुमाल तक को भी दिखाने में अपराध-बोध महसूस करते रहे कि इसे भी लेखकों के शोषण के खाते में डाल दिया जाएगा...हाँ, सबसे बड़ा लाभ और संतोष यही रहा कि मित्रों से मिलने-जुलने, उठने-बैठने का अड्डा रहा—एक मिनी 'कॉफी हाउस'—मगर इसे भी बचाए रखने के लिए क्या-क्या नहीं किया। पहले प्रकाशन का वितरण दूसरों को दिया फिर सारा प्रकाशन ही समेट लिया (मानो मित्रों के हिसाब से 'लाखों की कमाई' वाली दुधारू गाय को दान दे देने में भी कोई चालाकी हो...) चलो, वहाँ तक तो गनीमत थी मगर फिर आपने 'हंस' क्यों ओढ़ लिया? समकालीन रचनात्मकता को केन्द्रीय मंच देने का अहंकार...साहित्यिक पत्रिका निकालेंगे और वैचारिक स्वतन्त्रता का बिगुल बजाएँगे...आपके भीतर बैठा शेखचिल्ली कितनी उम्र लिखाकर लाया है महामहिम राजेन्द्रजी?

याद है, एक बार जब आप कसौली के 'कल्याण' होटल में महीने-भर रहे थे? वहाँ रोज कद्दू की सब्जी बनती थी। जब आप पूछते थे, आज सब्जी क्या है, तो जवाब मिलता 'खाओ तो कद्दू से, न खाओ तो कद्दू से...' आपको नहीं लगता, यह 'हंस' भी वही कल्याण होटल है? यहाँ भी तो वही अठारह-बीस घंटे का घिराव, भयानक

घाटा, किसी को साथ लेने, न लेने के तनाव या अवरोध, लेखकों को पारिश्रमिक न दे पाने का लांछन, कभी अपेक्षित क्रान्तिकारी न होने का अरोप तो कभी अतिक्रान्तिकारी होने की गाली...लेखक-लेखिकाओं के साथ पक्षपात करने के, रचना और विचार थोपने के दबाव, बार-बार हितैषियों और मित्रों से 'हंस' को बचाने की अपीलें...'तिकड़म-सूँघी' मित्रों के अविश्वास...और आप हैं कि अपनी पुरानी जिद को कॉन्फिडेंस का नाम देकर धाँसे चले आ रहे हैं...अरे, हर पत्रिका कागज के कोटे या डी. ए. वी. पी. के विज्ञापनों का सिलसिला बना लेती है। कम-से-कम आप भी वही कर लेते...वह तक तो आपसे हुआ नहीं और मित्रों की ही जान को लगे रहे कि विज्ञापनों-ग्राहकों द्वारा घाटे के बावजूद 'हंस' को चलाए रखने में मदद करें...बिना अपना कोई गणित फिट किए ...हाँ, इस प्रक्रिया में लाख रुपए के दो अनुभव जरूर मिले...आप कुछ अच्छा करें तो लोग निःस्वार्थ मदद करते हैं, वरना सात साल तक इसे चलाए रखने के लिए आपके पास था क्या? दूसरे यह कि हिन्दू वैचारिकता 'सिर्फ ढोंग और झूठ है—वह आलोचना और आत्मालोचना बर्दाश्त ही नहीं कर सकती...आप भी जानते हैं कि अपने सम्पादकीयों में आप कोई नया तीर नहीं मार रहे—सिर्फ आत्मालोचना और विश्लेषण के उसी सिलसिले को बनाए हुए हैं जिसकी शुरुआत बुद्ध, कबीर, राजा राम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिम, रवीन्द्रनाथ, विवेकानन्द, भारतेन्दु, प्रेमचंद, भगतसिंह, राहुल, लोहिया, महात्मा गांधी, फुले या अम्बेडकर ने की थी...देखकर कैसा लगता है कि जड़ हिन्दू मानसिकता आज भी वहीं हैं। उनके पास साधन हैं, मगर शर्त यही है कि हिन्दू धर्म की सारी नृशंसताओं, अन्यायों और अतार्किकताओं की आलोचना बन्द कीजिए और जितनी और जैसी चाहिए मदद लीजिए—उनका बस चले तो 'हंस' को 'कल्याण' बना दें...है न, कल्याण होटलवाली स्थिति—खाओ तो कद्दू से, न खाओ तो...उनके हिसाब से अपने घर की गन्दगी हमें इसलिए नहीं बुहारनी चाहिए कि दूसरों के यहाँ हमसे ज्यादा गन्दगी है...या गन्दगी सिर्फ दूसरों के यहाँ है, हमारे यहाँ कहाँ?

मगर चलो, इसी वहाने आपको चमत्कारों में विश्वास तो हुआ—वरना जहाँ बड़े-बड़े संस्थान पत्रिकाएँ बन्द करते जा रहे हैं, आप जैसा फटीचर कैसे सात साल से इसे घसीट हुए है। यह जानते हुए कि पेट्रोल कभी भी खत्म हो सकता है, आप इसी अन्धविश्वास को धाँसे हुए हैं कि सड़क है तो पेट्रोल की व्यवस्था भी होती ही रहेगी...जाल समेटने का कोई इरादा ही नहीं है क्या हुजूर...? या दूसरों को ही यह पुण्यकार्य करना होगा? मगर चलते-चलते यह तो बताते जाइए कि आपकी इस 'जिद' से जुड़ी स्मरणीय घटना कौन-सी है जिसने आपको अपने से बाहर निकाल फेंका.. .लिलियन रॉथ की आत्मकथा 'आइविल क्राइ टुमारो' वाली बात आप कई बार बता चुके हैं। उसे छोड़िए...याद है वह दूसरी घटना?

सन् 1952 की बात है, सारे दिन दिल्ली में भटककर, कॉफी हाउस या इधर-उधर दोस्तों से मिलते-मिलाते देर हो गई थी। मुझे और मोहन राकेश को आगरा जाना था। शीलाजी उन दिनों दयालबाग में ही थीं ओर राकेश जालन्धर से वहीं आया था। तय हुआ, सुबह दिल्ली चलते हैं, शाम तक लौट आएँगे। रात की पैसेंजर मिली—काफी

देर प्लेटफार्म पर घूमते, चाय पीते हुए राकेश लगातार सिगरेट पी रहा था। उन दिनों मैं सिगरेट-शराब-माँस-जुए को संस्कारहीनता और चारित्रिक पतन मानता था। मगर पंजाबी का चरित्र या नैतिक मूल्यों से क्या वास्ता, इसलिए राकेश की 'नीचता' अजूबा नहीं थी। गाड़ी आई तो जैसे-तैसे एक थर्ड क्लास के डिब्बे में बैठ गए। सोने की जगह नहीं थी। पुराने ढंग का डिब्बा था। सामने गेरुए कपड़ों में एक संड-मुसंड घुटे सिर का साधू बैठा था और लगातार गीता के श्लोक बोल रहा था। राकेश संस्कृत जानता था। बोला, उच्चारण शुद्ध और याददाश्त अद्भुत है। मगर वह तटस्थ बना रहा। हो सकता है आगरे की अपनी तनाव-भरी जिन्दगी की बात सोच रहा हो...साधू हर थोड़ी देर बाद अपने कमण्डल से बीड़ियाँ-माचिस निकालता और जला लेता। फिर कभी झोले से बाजीगर की तरह एक पेड़ा खींच लेता और मुँह में उछाल देता। आसपास गाँववाले जैसे लोग श्रद्धा से उसे देख रहे थे। मेरी हथेलियाँ उसके चिकने सिर पर हाथ फेरने को मचल रही थीं। उसके पास ही कोई नव-विवाहिता, घूँघट काढ़े गठरी-मुठरी बनी बैठी थी—साथ में या तो ससुर था या जेठ। रात बारह से ऊपर का समय था और छत पर एक रोता-सा मरियल बल्ब जल रहा था। साधू नींद के बहाने उस 'गठरी' पर झुकने की कोशिश करता और वह कुहनी मारकर उसे सीधा कर देती। झटके से जब साधूजी कई बार सीधे हुए तो हमारा ध्यान उधर गया। अचानक मैंने देखा, साधू का पाँव भी लड़की के पाजेबवाले पाँव की तरफ अनजाने सरकता और फिर वापस आ जाता। शायद उधर कोई देख भी नहीं रहा था। क्या यह लड़की भी खेल रही है? अपने साथ वाले से शिकायत क्यों नहीं करती? शायद रिश्ता बोलने का नहीं था। हो सकता है सोचती हो कि झगड़े से क्या फायदा, खुद ही निपट लेगी। पता नहीं कब राकेश और मैं उस साधू का मजाक उड़ाने लगे—कभी उसके घुटे सिर, कभी शौकीन तबीयत, तो कभी मेहनत न करके मस्ती मारने का। "हमें भी चेला बना लो तो झंझट से छुट्टी मिले।" राजामंडी स्टेशन पर उतरने लगे तो साधू ने गाली दी, "दुष्टो, नरक में जाओगे! साधू की आत्मा कूँ बहौत कलपायौ है।" हँसते हुए बाहर आए। राकेश ने दयालबाग का ताँगा लिया। मैं अपने घर उतरा तो मास्टर साहब (पं. स्वरूप शर्मा) बाहर ही मिले, "डॉक्टर साहब की तबीयत बहुत खराब हो गई है, उन्हें सुरीर से यहीं ले आए हैं।" यह बाप के मरने की सूचना थी—उस दिन भीतर का ईश्वर और बाहर का बाप दोनों एक साथ ही मरे थे—धर्म और परम्परा की मृत्यु के रूप में...शायद उसी दिन किसी बन्दूक की गोली पर कहीं मेरा नाम भी खुद गया था।

सार्त्र ने अपनी आत्मकथा 'शब्द' में लिखा है, "मैं यानी एक मरा हुआ व्यक्ति अपने आपको बेहद नापसन्द करता था। नौ-दस साल की उम्र तक आते-आते तो मैं पूरी तरह 'मरणोपरान्त' हो चुका था। जब आप पूरी जिन्दगी जी लते हैं, तो अन्त को ही प्रारम्भ का सत्य भी समझने लगते हैं...अपनी जिन्दगी को बिम्बों और तस्वीरों में देखने से पहले ही मृत्यु मुझे जन्म की दिशा में धकेलती और, जन्म, मृत्यु की ओर प्रेरित करता। जिस क्षण मैंने इस क्रिया-प्रतिक्रिया को देखना बन्द किया, मैं अपनी

वास्तविकता में आ गया—यानी दिल की हर धड़कन के साथ जन्म लेते और मरते हुए दो ध्रुवों के बीच, टूटने के बिन्दु तक खींचा जाने लगा...''

जब आप मरते हैं तो आपके साथ एक पूरा समाज, संसार और युग मरता है। राजेन्द्र जी, क्या आपके साथ ऐसा नहीं हुआ? तब फिर अपने तर्पण के साथ क्यों अपने दूसरों का भी फातिहा पढ़ डाला...? मृत्यु अपने-आपको देश-काल से उखाड़कर अलग खड़े हो जाना है—यह उखाड़े जाना अकेले तो नहीं होता—बहुत से रेशे या पतली जड़ें भी ऊपर खिंची चली जाती है—उन सबका साथ आना ही मृत्यु की तसदीक है।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि सीमाओं का अतिक्रमण करने की अपनी पुरानी जिद से आप जीवन की सीमाओं के पार चले गए हों—और साथ ले गए हों अपना संसार—यानी एक पापी सारी नाव ले डूबा हो...—मगर आप 'व्यक्ति' कहाँ, आप तो विचार हैं (दुर्दान्त या 'कु' ही सही) और विचार कभी नहीं मरते—नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकम्।

हकीर कहो, फकीर कहो...

(अपनी साठवीं वर्षगाँठ पर मित्रों के बीच आगरे में दिया गया वक्तव्य)

दोस्तो,

आखिर यह दुर्घटना मेरे साथ हो ही गई। सुखद संयोग आप हमेशा अपने लिए चुनते हैं...शायद लॉटरी मेरे ही नाम निकल आए। दुर्घटनाएँ हमेशा दूसरों के साथ घटित होती हैं। क्या दिल्ली में लाखों घर छोड़कर बम सीधे मेरे यहाँ ही गिरेगा? हजारों गाड़ियों में क्या टक्कर के लिए मेरी ही गाड़ी चुनी जाएगी? जब दूसरे लोग साठ के हुआ करते थे, उनके आयोजन और समारोह होते थे तो हमें खासी चिढ़ छूटती थी—सारा दृश्य बड़ा हास्यास्पद लगता था। एक उल्लू का पट्ठा गुड्डे की तरह सजा-सजाया मंच पर बैठा आत्ममुग्ध भाव से मुस्कुरा रहा है। लोग मालाएँ पहना रहे हैं या उसमें उन महानताओं के अनुसन्धान कर रहे हैं जो या तो हैं ही नहीं या मंच से उतरते ही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलताएँ हो जाएँगी...उन्हीं पर वे झुँझलाएँगे और खिझलाएँगे ...क्या मेरे साथ भी यही होने जा रहा है?

कुछ खतरनाक बीमारियों को हम महसूस करते हुए भी टालते हैं—अपने को बहकाए रखते हैं कि नहीं, यह वह बीमारी नहीं, कुछ यों ही सा है, और अपने-आप ठीक हो जाएगा। जहाँ तक हो सके, डॉक्टर का मुँह देखना स्थगित करो, कहीं अपने भीतर धुएँ जैसे फैले डर की वह कमबख्त तसदीक न कर दे...इस तरह के आयोजन, उम्र के साठ साल पार कर आने की सच्चाई की तसदीक करते हैं—बुढ़ापे पर ठप्पा लगा देते हैं—अब कहाँ बचकर जाओगे बच्चू...? मगर मैं क्या करूँ, मुझे भीतर से एहसास नहीं होता कि मैं 'पकड़' लिया गया हूँ या उम्र के चंगुल में आ गया हूँ। किसी ने अस्सी साल की बुढ़िया से पूछा कि "अम्मा, अब तुम्हारी उम्र हो गई है। बताओ, तुम्हें कैसा लगता है? क्या ऐसा महसूस करती हो कि सब कुछ खत्म हो गया है?" ईमानदारी से उसने बताया, "मैं अभी से कैसे बता सकती हूँ? अभी तो मैं कुल अस्सी की हुई हूँ।" मेरे भीतर अभी कुछ भी तो नहीं मरा...वह हसरतें, वही अरमान। वही कुछ कर गुजरने के बलबले...कितनी क्रूर है यह सद्भावना जो सब कुछ को समाप्त कर देने की मानसिक मजबूरी पैदा करती है...

पता नहीं क्यों, अपने नगर में इस उत्सवी आयोजन में बैठकर मुझे राजकपूर की फिल्म 'मेरा नाम जोकर' का अन्तिम दृश्य याद आ रहा है, जहाँ सामने सारे अन्तरंग, अपने, आत्मीय और वे सब बैठे हैं जिन्होंने उसकी जिन्दगी को ढाला है। मंच पर खड़े होकर शायद वह सबसे बच्चन के शब्दों में यही कह रहा है, "हूँ जैसा

तुमने कर डाला'', मगर 'जोकरत्व' के पीछे छिपी है असफलता और हताशाओं की भयंकर ट्रेजडी...मैं अपनी स्थिति उतनी ट्रैजिक तो नहीं पाता, मगर ओढ़े हुए 'व्यक्तित्व' का एहसास तो बना ही है। शायद मैं वह नहीं हूँ जो दिखाई देता हूँ। क्या हूँ, मैं खुद भी नहीं जानता। बस, यही एक भावना शिद्दत से छटपटाती है कि अभी ये सारे जाने-लबादे उतारकर बहुरूपिये की तरह अपनी असलियत को धमाके से प्रंकट कर डालूँ...मगर कौन-सी असलियत? इसी सम्भ्रम में सिर्फ गालिब की तरह यही कहने को मन करता है कि ''बनाकर फकीरों का हम भेस गालिब, तमाशाए-अहले-करम देखते हैं...'' कचोट भी होती है कि जो इस फकीरी भेस तक ही रह जाते हैं, क्या उन्हें पता है भीतर कौन-सा ऐयार बैठा है?

यह बहुरूपिए का विभिन्न रूपों में कैद हो जाना है या अपने आपको अति-क्रमण...?

बाहरी रूप आदमी की आड़ है या विस्तार?

हममें से अधिकांश अपने कीमती कागजों की मूल प्रति कहीं तिजोरियों-लॉकरों या अलमारियों में बन्द रखते हैं और अपने साथ लिए फिरते हैं, प्रतिलिपियाँ। कल को नष्ट हो जाएँ या खो जाएँ तो मूल प्रति बची रहे। क्या सारे बहुरूपिए अपने 'मूल चेहरे' को कहीं सुरक्षित जगहों पर छोड़ आते हैं, और सिर्फ मुखौटों के सहारे ही जिन्दगी काट देते हैं? एक विशेष मेकअप में रहनेवाली सुन्दरी जब लोगों को अपने रूप पर मुग्ध होते देखती है तो कहीं यह आशंका भी उसको लगातार कचोटती ही होगी कि किन्हीं आत्मीय क्षणों में इनमें से किसी ने 'असली रूप' को देख लिया तो? क्या गुजरेगी उस पर...? और वह आत्मीय क्षण हमेशा स्थगित होता रहता है, अभिनन्दन और प्रशंसाएँ बटोरता 'मेकअप' ही हम सबके लिए असली व्यक्ति बन जाता है।

बहरहाल जो कुछ मैं हूँ, वह प्रतिलिपि हो, मेकअप हो, मुखौटा हो या सचमुच अपना विस्तार हो...आप सबका दिया हुआ है। मैं अपनी आन्तरिक ईमानदारी से स्वीकार करता हूँ कि जो कुछ मेरे भीतर अच्छा, प्यार या जीवन्त है, वह सब कुछ मित्रों, आत्मीयों और मेरे अन्तरंगों ने दिया है। और जो कुछ गलत, खराव या अरुचिकर है—वह सब मेरी अपनी कमाई है। चाहें तो इसे आत्मस्वीकृति कह लें कि मैं तहेदिल से आप सभी का बहुत कृतज्ञ हूँ और यह कृतज्ञता ही मेरा बल है और लोग शिकायतें करते हैं कि जिन्दगी में उन्हें कटुता, विश्वासघात, अपमान और गलतफहमियाँ ही मिली हैं। लोगों ने उनके साथ न्याय नहीं किया। यह बात नहीं कि यह बस मेरे साथ नहीं हुआ—मगर मित्रों ने जितना सम्मान, प्यार और अपनापन दिया है—वही सब बार-बार उफन-उफनकर आता है हम जो कुछ भी दूसरों को देते हैं, या तो अपने-आपको उससे वंचित करके देते हैं या किसी और का हिस्सा देते हैं। कभी-कभी सचमुच यह सोचकर अभिभूत हो उठता हूँ कि अपने को कितना स्थगित और वंचित करके मित्रों ने मेरे अस्तित्व और व्यक्तित्व को अपना खून दिया है! इस तरह हमेशा दूसरों से यों लेते रहना भीतर कहीं अपराध-बोध भी पैदा करता है। मैं तो शायद बदले में एक प्रतिशत भी नहीं दे पाता। अगर आप सब लोगों के हाथों का सहारा न होता तो मैं भी शायद

जिन्दगी के न जाने किन गुमनाम अन्धे कुओं में ही शेष हो गया होता।

मेरी सारी जिन्दगी इन अन्धे कुंओं से बाहर आने की प्रक्रिया रही है। अगर कोई मुझसे पूछे कि क्या मेरी जिन्दगी का कोई एक सूत्र रहा है, तो शायद मेरा ध्यान इसी प्रक्रिया की तरफ जाएगा। अपने शरीर, भूगोल, मन और बुद्धि की सीमाओं के पार जाने की कोशिश...उन्हें अतिक्रमित कर सकने का प्रयास...जो कुछ मुझे दिया गया है, या मिला है, उससे ऊपर उठने के उपक्रम को ही आप मेरा विकास भी कह सकते हैं। वह मैंने अनुभवों के माध्यम से किया है, सम्बन्धों के माध्यम से किया है और शायद किया है स्वाध्याय के माध्यम से...अगर मैं अपनी जीवनी लिखने बैठूँ तो निश्चय ही वह भी इन्हीं अतिक्रमण-प्रयासों की सफल-असफल गाथा होगी। स्मृतियों में रहना, स्वप्नों में जीना मुझे बेहद प्रिय है—वह न होता तो लेखक बन सकना भी सम्भव नहीं था। मगर न कभी अतीत मेरे लिए इतना बड़ा बोझ बना कि चलना मुश्किल हो, न भविष्य इतना हावी रहा कि हर सम्बन्ध और व्यक्ति को सीढ़ी बनाकर उस भविष्य तक उठ जाऊँ...अतीत और भविप्य दोनों मेरे सन्दर्भ रहे हैं, वर्तमान को पीसनेवाले चक्की के पाट नहीं। एक मेरे घर के पीछे का किचिन-गार्डन है तो दूसरा सामने का लॉन, जिसके पार सड़कों और मैदानों का खुला विस्तार है। यही कारण है कि मुझे भविष्य से, आनेवाली असुरक्षा से कभी रत्ती-भर भय नहीं लगा। मैंने कभी नहीं सोचा कि आगे क्या होगा। मेरे पास न कभी बैंक-बैलेंस रहा, न बीमा, न भविष्य-निधि, न पेंशन। इस बारे में कभी चिन्ता भी नहीं रही। भरोसा रहा तो मित्रों पर और कहीं-न-कहीं से कुछ हो जाएगा का विश्वास। और इसी बूते पर हर उम्र में जिन्दगी का जुआ खेलता रहा...नवीनतम जुआ चार वर्ष पहले हंस निकालने का था...हाँ साथियों को देखकर इधर कुछ डर लगने लगा है। आगे उम्र के जिस दौर में प्रवेश कर रहा हूँ, वहाँ कुछ भी हो सकता है। अपने डेढ़-दो हजार के बैंक-बैलेंस से कैसे उसका सामना करूँगा? कहीं कुछ गहरे विश्वास चटखने लगे हैं और कोशिश में हूँ कि इतना तो कुछ कर ही लूँ कि बढ़ती महँगाई के बावजूद साल-दो-साल निकाले जा सकें... भावनात्मक स्तर पर परोपजीवी हर कलाकार होता है लेकिन शारीरिक रूप से परोपजीवी होना अब डराता है...पहले यह चुनौती थी। मेरी जिन्दगी भौतिक और आर्थिक रूप से निरन्तर घाटे और मानसिक-भावनात्मक रूप से समृद्ध होते जाने का इतिहास रही है। लोगों को विश्वास नहीं होता कि अमूर्त सन्तोषों और निराकार उपलब्धियों के लिए मैं मूर्त और ठोस चीजों को यों छोड़ता चला गया हूँ। दूसरा मुझसे अगर ऐसा कुछ कहता तो शायद मैं भी यकीन नहीं करता—मगर औरों के अविश्वास और अपने विश्वास की द्वन्द्वात्मकता में मैंने साठ साल निकाल ही दिए...अब तो यह सुनकर असफलता बोध भी नहीं होता कि "ऐसा हो ही नहीं सकता कि आपने अब तक कुछ बनाया ही न हो..."

अपने को न मैं कंजूस मानता हूँ, न शाहखर्च...फिजूलखर्च तो बिल्कुल भी नहीं। खाने की थोड़ी भी चीज फेंकना या बेकार करना बहुत बड़ा अपराध लगता है और बाजार में दो-चार रुपये के कोल्ड ड्रिंक के लिए होटल में बीस-तीस रुपए देना

बहुत-बहुत अखरता है, फिर यह चाहे अपनी जेब से हो या दूसरे की...यात्राएँ करने का मुझे शौक हमेशा रहा है, मगर अपने पैसे से सैकिंड या पहले थर्ड-क्लास में होती थी, अब ए. सी. या विमान में—संस्थाओं की ओर से। सक्रिय जिन्दगी के चालीस-पैंतालीस साल बसों, ट्रामों, रिक्शों में निकालने के बाद कार रखना मुझे अपना शौक या रौब नहीं, जरूरत और मजबूरी भी लगती है—खास तौर पर दिल्ली जैसी जगह में जहाँ दूरियाँ लम्बी और स्कूटर मनमौजी हों...हाँ पहले उस प्रक्रिया में कहानियाँ या विचार मिलते थे, अब सिर्फ दूरियाँ तय होती हैं।

अपने को सीमित खर्चों में ही समेटकर रखने के पीछे भी एक विश्वास और एक भय है, शायद लिखने के प्रारम्भिक दिनों में ही मन में यह बात घर कर गई थी कि लेखक को स्वतन्त्र होना चाहिए—कोई भी समझौता उसे ईमानदार नहीं रहने देता। इसके लिए जरूरी है कि लेखक आत्मनिर्भर हो—लेखन से अलग ऐसी महत्त्वाकांक्षाएँ न पाली जाएँ जो या तो लेखन के साथ सौदा करने के लिए मजबूर करें या फिर चालाकी और झूठ की जिन्दगी में धकेल दें...इस लेखकीय स्वाधीनता के लिए बहुत कुछ छोड़ना होगा। अपने आसपास लेखकों के किस्से सुनता था, कथनी और करनी के अन्तर देखता था और अपने आप से डर जाता था। मेरे साथ तो टूट जाने, समझौते करने के बहुत कारण थे, कैसे बनाए रखूँगा मैं इस लेखकीय स्वाधीनता की गरिमा को? और इसी द्वन्द्व में भीतर अपने-आप कुछ निर्णय होने लगे। लेखन के साथ मेरा रिश्ता निहायत व्यक्तिगत और आत्मीय है और वह वहीं तक रहेगा। हर क्षण यह दिखाते रहना कि आप लेखक हैं, बाकी लोगों के साथ व्यवहार में एक तनाव और दूसरी बनाए रखेगा। हर सम्बन्ध में आप एक विशेष व्यवहार की अपेक्षा करेंगे और जगह-बेजगह लेखक होने को भुनाएँगे...लेखक के प्रति विशेष सम्मान, लिहाज, या सावधान दया, कहीं भी व्यवहार को स्वाभाविक नहीं रहने देगी। आप लेखक हैं और रहेंगे, मगर हमेशा ऐसा दिखाई देते रहना क्यों जरूरी हो? लेखक आप सिर्फ अपनी मेज पर या अकेले कमरे में होंगे—बाकी समय एक साधारण आदमी हैं—लोगों में घुलता-मिलता, हँसता-बोलता...इसी लेखकीय द्वन्द्व में मैंने सन् 1950 से पहले एक कहानी लिखी थी 'देवताओं की मूर्तियाँ'। इसी नाम से संग्रह भी आया। कहानी इस धारणा के खिलाफ थी कि लेखक अपने-आपको देवता की मूर्ति की तरह 'बाकी सबसे अलग और महान' बनाकर प्रस्तुत करे...अपने व्यक्तित्व के साथ मेरा सारा संघर्ष यही बना रहा कि सामाजिक-पारिवारिक रूप से मुझे एक सामान्य और साधारण व्यक्ति होना है, लेखन मेरा निजी मामला है। अन्तरंग कक्षों और नेपथ्य में चलनेवाला व्यक्तिगत कार्य-व्यापार...आज जब अक्सर लोग कहते हैं कि मैं अपने व्यवहार या बातचीत में कहीं भी लेखक नहीं लगता तो अपने प्रयास की सफलता पर सन्तोष होता है। मगर हमेशा ही यह स्थिति इतनी आसान नहीं थी। बाहरी प्रभावों और दबावों से कहीं भीतर के बहुमूल्य को सुरक्षित रखने का गर्व, एक अजीब बहुरूपियापन देता है। लगता है, आप वह नहीं हैं जो दिखाई दे रहे हैं। आप वेश बदलकर लोगों में घुलते-मिलते एक जासूस हैं। मैं कैसी आसानी से लोगों को बेवकूफ बना रहा हूँ कि वे मुझे अपने में

से ही एक समझ रहे हैं'—यह अहसास भीतर से एक अजीब रोमांच और पुलक से भरे रखता है...और सहसा ही आप किसी विचित्र नाटक के पात्र, सूत्रधार और दर्शक में बदल जाते हैं। लेकिन यही सबसे बड़ा अन्तर्विरोध है। सफलतापूर्वक लोगों की निगाहों से अपने-आपको छुपाए और बचाए रखने का सुख और भीतर से उठती कसमसाहट कि 'क्या अब असलियत प्रकट कर दी जाए?' ट्रेजडी और द्वन्द्व यही है—सामान्य होने और दीखने की आकांक्षा और सिर्फ सामान्य के धरातल पर लिए जाने का प्रतिरोध—जैसे एक राजा भिखारी के वेश में लोगों को धोखा भी दिए रखना चाहे और जब लोग उसके साथ सिर्फ भिखारी की तरह व्यवहार करें तो उन्हें जताना भी चाहे कि वह क्या है। मगर मैं राजा कहाँ; सिर्फ राजेन्द्र हूँ।

है न नाटकीय स्थिति? इसी पर मैंने अनेक कहानियाँ लिखीं और बाद में टॉमस मान की अद्‌भुत कहानी पढ़ी, 'टोनिया क्रोगर'। आदमी और लेखक होने का तनाव और इस यातना से गुजरता द्रष्टा। कोई पूछता है कि "क्या समय आ गया है कि सब कुछ उद्‌घाटित कर दिया जाए?" सब कुछ स्वीकार या कनफैस करने का यह भीतरी दबाव जब अक्सर एक सवाल के रूप में सिर उठाता है कि "क्या कनफैस करना है? अपने किए सही या गलत में से किसे सार्वजनिक रूप से स्वीकार करना है?"—लेकिन बहुत ईमानदारी से पाता हूँ कि 'किनके साथ कहाँ मैंने गलत किया है', की सूची के अलावा मेरे पास कुछ भी स्वीकार करने को नहीं है। मैं स्वीकार करता हूँ कि अपने भीतर चलते इस द्वन्द्व संघर्ष और नाटकीयताओं ने ही मुझे इतना बाँधे रखा है कि मैं अपने लिए स्वयं अपना केन्द्र बना रहा हूँ। इस आत्म-केन्द्रिकता ने न मुझे अच्छा पति रहने दिया है, न पिता, न प्रेमी...सिर्फ मैं दोस्त ही अच्छा हूँ। क्योंकि दोस्ती किस्तों में निभाई जाने वाली जिम्मेदारी है—चौबीस घण्टों या पूरी जिन्दगी की नहीं। पूरी जिन्दगी तो मैंने कहीं और दे रखी है। वहाँ पता नहीं उसका कुछ बना है या नहीं।

जो मेरे बहुत निकट हैं, वे मुझे बहुत बन्द व्यक्ति समझते हैं—अधिकांश की राय है कि मैं बहुत ही खुला और उन्मुक्त हूँ। मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि मैं मुगालतों में नहीं रहता। हमेशा बहुत कीमती और बहुमूल्य को छिपाने के लिए ही आप चौकन्ने नहीं होते, अपनी दरिद्रता और दयनीयता को लेकर भी आप चौकस होते हैं...

हो सकता है, मेरा सारा लेखन और सारी जिन्दगी एक मीडियाकार की जीवनी ही बनकर रह गई हो, मगर मेरे माध्यम से कुछ महान और विशिष्ट हो रहा है—इस मुगालते के बिना एक क्लर्क तक नहीं की जा सकता तो मैं फिर भी लेखक हूँ... हालाँकि यह भी जानता हूँ कि मुझ जैसे लेखक हर भाषा में दर्जनों भरे पड़े हैं...इस अन्धविश्वास के मारे कि पता नहीं इतिहास कब कहाँ से उठाकर कहाँ रख दे।

मगर इतिहास जिन रास्तों से उठाकर आज किसी को शीर्ष पर रखता है, उनमें से अधिकांश को मैंने ख़ुद ही तो बन्द कर रखा है। लेखन बेहद नाजुक, स्वतन्त्र और पवित्र फूल की तरह है और उसे हर प्रदूषण या गर्म हवा से बचाकर रखना है, इस कुंठा ने मुझे कहाँ कुछ भी करने दिया? मैं खुशामदें और नौकरियाँ कर सकता था,

सम्मान और पुरस्कार ले सकता था, समझौते ओर सौदे कर सकता था। कुछ हिस्से को किराए पर किए जानेवाले काम की तरह करके मकान, फ्लैट और दुनिया भर की चीजें जमा कर सकता था—आखिर मेरे पास डिग्रियाँ भी थीं और सम्पर्क भी, सूझ-बूझ भी थी और कुछ उपलब्धियों का सम्मान भी। ऐसा तो नहीं है कि मुझे कुछ चाहिए नहीं था। आखिर साथियों और सहयोगियों ने किया ही है—सत्ता के आसपास घूमकर प्रतिष्ठा को भूलकर या भुलाकर मगर अपनी इस कुंठा का क्या करूँ, जो हर बार हाथ पकड़ लेती है कि जो पूरे सम्मान से और अपनी शर्तों पर मिलेगा, वही लेना है, झूठ, धोखे, खुशामद और तिकड़म से सारी जुग़ाड़ करना और फिर मंच पर लेखकीय गौरव का गुणगान करना मुझे ऐसा फरेब लगता है जिसके खिलाफ मैं ही क्या, हर लेखक लड़ता रहा है। रग-रग में फैले कैंसर की तरह यही हेकड़ी लेखन और जबान में फूट पड़ती है हर समझौता, लेखन की धार को कुंठित करता है। जब आपको कुछ चाहिए ही नहीं, तो फिर खुलकर वही क्यों न किया या लिखा जाए जो आप महसूस करते हैं। आखिर हम नहीं कहेंगे तो कौन कहेगा—पता नहीं जब सचमुच इम्तहान का मौका आएगा तो यह हेकड़ी कितनी रहेगी, मगर इमरजेंसी के आतंक से लेकर हर प्रलोभन को इसने बर्दाश्त किया है, इसका गवाह सिर्फ मैं हूँ। शायद मन्नू भी। और मैं इस बात का भी गवाह हूँ कि इस सबको न मैंने त्याग, बलिदान, उत्सर्ग का नाम देकर महिमान्वित किया, न माथे पर मोर मुकुट की तरह सजाकर कीमत वसूली...हाँ, अपने चुनाव का परिणाम कहकर अपने लिए सन्तोष जरूर निचोड़ता रहा...

चुनाव के साथ-साथ अक्सर जिन दूसरी बातों पर बार-बार सोचने को मन करता है, वह है लेखकीय मर्यादा, साधना, मुआवजा। सचमुच इन शब्दों का कुछ मूल्य भी है या परम्परा और संस्कार से मिले ये ऐसे कुछ शब्द हैं जिन्हें हम ढो रहे हैं? हमारे अस्तित्व की शर्त है शब्द और आज शब्द अवमूल्यन की जिन तलहटियों में जाकर खो गया है—वहाँ से निकालने की सामर्थ्य और निष्ठा किसमें है? लेखन और उससे जुड़े इन महिमामय शब्दजाल से चिपके रहना कहीं सिर्फ एक अन्धविश्वास ही तो नहीं है? वह सचमुच कितना भयानक मानसिक प्रलय का क्षण होगा जब इस सबसे विश्वास अन्तिम रूप से टूट जाएगा! आखिर यह शंका तो होती ही है कि जब पुस्तक या शब्द-मात्र अपने अस्तित्व की हारी हुई लड़ाई लड़ रहे हैं तो उनसे चिपके आप कहाँ हैं, क्या कुछ बदला है आपने इन चालीस-पैंतालीस वर्षों में? 'देवताओं की मूर्तियाँ' से लेकर 'वहाँ तक पहुँचने की दौड़' कहीं अपनी ही पूँछ पकड़कर चकरघिन्नी खाते कुत्ते का उन्माद भर तो नहीं है? परिवार, प्रियजनों, आत्मीयों को झूठे देवता की बलि चढ़ाकर खुद एक व्यर्थताबोध में जीते चले जाना, जिन्दगी को कौन-सा अर्थ देना है? आज जो प्रतिष्ठा या यश है, वह इसीलिए नहीं कि मैंने बहुत कुछ किया है, बल्कि सिर्फ इसलिए है कि मैं मृत्यु को इतने दिन चरका देते रहने में सफल हो गया हूँ। हमारे यहाँ सम्मान या तो मृत्यु को मिलता है या उम्र को। या फिर पद को जहाँ से आप किसी का नुकसान न कर सकें। जो न किसी को लाभ पहुँचाने की हैसियत

में हो, न नुकसान, उसे तो संघर्ष की लम्बी राह से गुजरना पड़ता है। समय को ही अन्तिम निर्णायक मानने का सन्तोष जीते हुए...तब क्या 'पद' ही है आपकी प्रतिष्ठा का मूल्यांकन?

और क्या यह सारी जिन्दगी यों ही व्यर्थ गई? यह मेरी व्यक्तिगत अर्थहीनता और एक विशेष समय में होने की नियति जहाँ कुछ भी सार्थक नहीं रह गया है? मुझे अकसर चैखव के नाटक 'तीन बहनें' की याद आती है। इस व्यर्थता-बोध की मारी इरीनी अवसाद के क्षणों में कहती है, "काश, जो कुछ हमने जिया है, वह सिर्फ जिन्दगी का रफ ड्राफ्ट होता और इसे फेयर करने का एक अवसर हमें और मिलता!" सुनते हैं इस पर एक जर्मन या फ्रेंच नाटककार ने एक नाटक लिखा है। इसी वाक्य से प्रेरित एक साहब इस रफ-ड्राफ्ट को फेयर करने बैठे हैं और जिन्दगी की एक-एक निर्णायक घटना को उठाकर जाँच-परख रहे हैं कि अगर फिर से वह क्षण आए तो वे क्या करेंगे? हर घटना को सामने रखते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं और बार-बार अपने-आपसे पूछते हैं कि अगर मैं उस समय यह न करता तो आखिर क्या करता? उस स्थिति में दूसरा क्या निर्णय लिया जा सकता था? मित्रों, प्रेमिका या जीवन के एक विशेष ढर्रे से लेकर हर जगह वे पाते हैं कि उस समय जो निर्णय उन्होंने लिए हैं; सिर्फ वही लिए जा सकते थे। जो कुछ उन्होंने किया, उसके सिवा और कुछ कर ही नहीं सकते थे। रफ हो या फेयर, उनकी जिन्दगी वही होती, जो है...

व्यर्थ हो या सार्थक, मैं भी वही हो सकता था जो हूँ...जो कुछ मिला था, अपने भरसक मैंने उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग ही किया है, न शायद इससे ज्यादा सामर्थ्य थी, न प्रतिभा...एक भ्रम और आशा आज भी पाले हुए हूँ कि कभी अपने मन की अनुकूल स्थितियाँ हुईं तो शायद वह कुछ कर सकूँ जो करना चाहता हूँ—अब तक के अपने किए से अलग और श्रेष्ठ...शायद अद्‌भुत अभी मैंने कुछ भी किया ही कहाँ है? अभी असली व्यक्ति कहाँ आया है...अभी तो उसकी प्रतिलिपि भर ही आपके सामने है...

बहरहाल, जो भी कुछ है, वह यही है...अव्यवस्थित विशृंखलित..."मेरे वरण वरण विशृंखल; मेरे चरण चरण भरमाए..."

अपने बुजुर्ग कवि वजीर अकबराबादी के शब्दों में कुछ जोड़कर कहूँ तो 'हकीर कहो, फकीर कहो...आगरे का हूँ..."

अपनी निगाह से

प्रिय...

उत्तर नहीं दे सका, माफी चाहता हूँ! कलकत्ता छोड़ने और अब दिल्ली आकर जमने के चक्करों में इतना उलझा रहा, कि चाहते हुए भी मेज पर नहीं बैठ पाया। यों दोस्तों ने फैला रखा है कि मैं बहुत पत्र लिखता हूँ, लेकिन तुमने खुद देख लिया, इस बात में सच्चाई कितनी है...

इतने दिनों में पत्र-व्यवहार के बाद, इधर मैं देखता हूँ कि तुमने मेरे व्यक्तिगत जीवन में दिलचस्पी दिखाना शुरू किया है, और तुम्हारे हर पत्र में कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं, जिनका उत्तर देते हुए मैं अपने को बड़े धर्म-संकट में पाता हूं। प्रायः ही उनके उत्तर 'फिर कभी' पर टाल दता हूँ—और तुम्हें उलाहने का मौका मिलता है, कि मैं तुम्हारे पत्र ध्यान से नहीं पढ़ता, कि मैं उनसे ऊब गया हूँ, कि बड़े लेखक बहुत व्यस्त होते हैं...!

कैसे बताऊँ कि मैं कतई-कतई बड़ा लेखक नहीं हूँ, न ही होना चाहता हूँ--क्योंकि सचमुच मुझे अभी लिखना है। जो कुछ मैं लिखना चाहता हूँ, या जो भी मैं लिख सकता हूँ, वह तो अभी शुरू ही नहीं हुआ। कभी-कभी बड़ा डर लगता है कि वह कभी होगा भी, या यों ही जिन्दगी गुजर जाएगी? विश्वास मानो, मैं सच ही बहुत अच्छा लिख सकता हूँ, और अभी तक के लिखे से, उस लिखे जा सकने वाले का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता...।

लेकिन ये मन-समझाने की बाते हैं, भविष्य की बातें हैं, जिन्हें किसी ने नहीं देखा। तुम्हें तो मेरे आज तक के लिखे के पीछे वाले व्यक्ति का परिचय चाहिए, है न? इतनी उत्सुकता का कारण जान सकता हूँ? क्या वही-कुछ काफी नहीं है, जो मेरी और मुझे लेकर दूसरों की रचनाओं में है? कलाकर का व्यक्तित्व, उसका परिचय, उसका विश्वास और उसकी प्रतिबद्धता—सभी कुछ उसकी रचना होती है। जो कुछ वहाँ नहीं है, उसका महत्त्व और मूल्य क्या और क्यों हो? क्षमा करना, मैं उन लोगों के वर्ग में अपने को नहीं पाता, जिनके व्यक्तिगत विश्वास, व्यक्तिगत प्रतिबद्धता और जीवन—अर्थात् व्यक्तित्व, उनके कला-व्यक्तित्व से अलग होता है, और अजीब आध्यात्मिकता की धुंध-भरी भाषा में जो गाहे-ब-गाहे कहते हैं, कि उनके कला-विश्वास और व्यक्ति-विश्वास दो विरोधी बातें हैं—कि वे एक-दूसरे से मुँह-चुराते, दो विरोधी देशों के गुप्तचर हैं, और दोनों मिलकर आत्मा या परमात्मा के डिटेक्टिव हैं। काश,

मुझे भी वे तर्क और युक्तियाँ मिल जातीं, जहाँ मैं कला में 'मनुष्य मात्र को सम्मान' मानता—लेकिन व्यक्तिगत जीवन में कहता कि मेरे अपने गुट, जाति और प्रान्त के अलावा मनुष्य है ही कहाँ? चूँकि मैं उन्हें ही मनुष्य मानता हूँ अतः...या फिर इतनी साफगोई भी क्यों नहीं मुझसे बनती कि, "मंच और माइक पर हम छुआछूत नहीं मानते, लेकिन घर पर हरेक के हाथ का कैसे खा-पी लें?"—"हाँ, यार, लव-वव तो ठीक है, लेकिन घरवाले पीछे पड़ गए तो शादी कर लेनी पड़ी।" या "व्यक्तिगत रूप से मार्क्सवादी हों या गैर मार्क्सवादी, लेकिन कहानी-उपन्यासों में तो वह सब नहीं आने दिया..." "कोई जरूरी नहीं है मंच पर जो कहें, वही करें भी...कलाकार और व्यक्ति आपस में विरोधी भी हो सकते हैं...इलियट ने कहा ही है कि लेखन अपने व्यक्तित्व से पलायन का दूसरा नाम है—शायद विरोध का भी।"

लेकिन तुम्हारे लिए तो मेरा वही व्यक्तित्व वास्तविक है, जो रचनाओं में है—जो वहाँ नहीं है, वह महत्त्वपूर्ण भी नहीं है। क्योंकि अपने लेखन-व्यक्तित्व में मैं अकेला हूँ, जो कुछ है वह मुझसे गुजरकर है—लेकिन यहाँ तो मैं अकेला हूँ ही नहीं। वह सब भी मेरा व्यक्तित्व बनाता है, जो मेरे आसपास रहा है; वे स्थितियाँ और लोग भी मेरे इस जीवन के हिस्सेदार हैं, जिन्हें अगर गिनाना शुरू करूँ तो तुम्हें बोरियत ही होगी। लेकिन लेखन के पीछेवाले व्यक्ति को इसके बिना पाना सम्भव भी नहीं है!

हाँ, एक बात है—मेरे लिए तुम्हारा प्रश्न एक और अवसर जरूर देता है, और मेरे ये दोनों व्यक्तित्व आमने-सामने खड़े होकर एक-दूसरे को अजनबी निगाहों से तोलने-परखने लगते हैं, एक दूसरे को बनाने का श्रेय लेना चाहते हैं, और आज भी जो कुछ बन गए हैं—उसके आरोप से बच निकलना चाहते हैं, अनेक उलझनभरी पगडंडियाँ पार करके पास पहुँचने को ललकते हैं, और जब मिलते हैं तो जान नहीं पाता कि वे एक-दूसरे का स्वागत कर रहे हैं, या फिर एक और विदा का सूत्रपात...।

फिर एक और विदा...पता नहीं, तुम क्या अर्थ निकालो—मुझे हमेशा लगता है कि मेरा हर सम्पर्क, हर पल एक नई विदाई है...मेरी हर रचना एक ऐसी बच्ची है, जो टा-टा कहकर स्कूल बस में जा चढ़ती है, और जब आती है तो 'वह' नहीं रह जाती...मिलना शायद गति है, और विदाई नियति...और शायद यह नियति ही अपने नक्श छोड़ जाती है...एक दूसरे को काटती बसें हैं, स्कूटर-टैक्सियाँ हैं—जिनके भीतर से पटरियों का जाल-जंजाल गुजरता है, जहाँ हजारों ट्रेनें एक साथ इधर-से-उधर चली जाती हैं—और उनमें पंखें नहीं हवाई जहाज लगे हैं, जिनकी हर खिड़की पर प्लेटफार्म और रन-वे बिछे हैं...और हर जगह एक हाथ हिल रहा है, एक रूमाल फहरा रहा है—टा-टा, बाई-बाई! अच्छा लिखिएगा न...?

2 मई, 1964 को उमस-भरी सुबह और हावड़ा का प्लेट-फार्म...कलकत्ता छूट रहा था। एक बहुत बड़ा वर्तमान, अतीत हुआ जा रहा था—और उस वर्तमान को विदा देते विष्णुक्रान्त शास्त्री थे, कुन्थाजी-लक्ष्मीचन्द्र जैने थे, प्रतिभाजी-मदनबाबू थे,

पराक्रम सिंह जी, सुधीर बाबू, शरद देवड़ा थे—अरूपा, जयन्ती और विक्रम थे। सविता जी राह देख रही थीं कि हम उन्हें लाएँगे। प्रतिभा नारायण की गाड़ी टाटानगर गई थी। उन्हें टैक्सी नहीं मिली थी, और वह ट्रेन छूटने के बाद आई थी...। बहुत लोग ट्रेन छूटने के बाद आए थे—आगरा तक। आज तक। ट्रेन छूटने के बाद पूरा कलकत्ता मेरे साथ आया है...कॉफी-हाउस और चौरंगी, गरियाहट और कालीघाट, गर्चा-रोड और हाजरा, लेक और दक्षिणेश्वर, मोहिनी-मैंशन और अलेक्जैंड्राकोर्ट...पी. के. जैन के साथ विक्टोरिया के चक्कर और नारायण साब के साथ शतरंज की हारें, फिर रात-रात भर डायमंड-हार्बर और हुगली के किनारों की भटकन, निहायत फुर्सत से हर दुकान पर पान और चाय लेनेवाले मदन बाबू, ऑक्टरलेनी मानूमेंट के नीचे और अँधेरे में बैठकर विष्णुकान्त शास्त्री के साथ का आत्मीय-वार्तालाप और संसार की हर चीज से चमत्कृत ठाकुर साहब का 'वाह-वाह' करना, कैसेनोवा को हिकारत से देखते नागर और अपनी कंजूसी के कारण ही लुटते हुए गिरीशजी...'अनामिका' के कार्यक्रम और हॉल के बाहर की उत्साही गोष्ठियाँ—सभी तो मेरे साथ यात्रा करते हुए आए हैं...।

ट्रेन चलती रही है, और बरसात की मक्खियों की तरह—सुने कहे वाक्य कानों के आसपास मँडराते रहे हैं...''इधर मत भागो, टिंकू बेटे, रेल के हिलने से गिर जाओगे।''—पता नहीं, दिल्ली में कैसा मकान मिलेगा—कहाँ मिलेगा...हिसाब लगाता हूँ—दिल्ली-प्रवास के बीच के डेढ़ वर्ष निकाल दो, तो कलकत्ते में आठ साल हो गए..., ''जरा थर्मस उठा दीजिए...!''

जीजी ने बुलाया था, ''कलकत्ते की पूजा देख जाओ।'' भूपेन्द्र छोड़ने आया था, ''क्या करेंगे भाई साहब, वहाँ जाकर?—यहीं रहिए...घर का मकान है, हम लोग हैं...।'' अन्तिम बार समझाकर, बुजुर्गी से बोला, ''वहाँ घड़ी-वड़ी बेचने की नौबत आए, तो हमें लिख दीजिएगा। टी. एम. ओ. कर देंगे। जी नहीं लगे तो लौट आइए।''—इसमें अभी से इतनी समझदारी आ गई है! मैं आँसू-भरी आँखों से उसे देखता हूँ, ''रिसर्च करूँगा—योग दर्शन और 'हिन्दी कविता' पर।''...

''इतना बड़ा फ्लैट है, यहीं क्यों नहीं रहता? उस कमरे में कोई तंग नहीं करेगा। जब हमारा ट्रांसफर हो जाए तो देख लेना'', जुबिली लाइंस में जीजी समझाती हैं।

''नहीं, मैं अलग ही रहूँगा!''...

डायमंड-हार्बर रोड पर हमारे पास दो कमरे हैं। हम तीन आदमी हैं—कृष्णाचार्यजी, कमलाकान्त और मै। कमला आई. ए. एस. की तैयारी कर रहा है। कृष्णाचार्यजी को हर नए से नफरत और हर दो सौ साल पुराने के प्रति असीम श्रद्धा है...''आचार्यजी, आप यार, दो हजार साल कहाँ फरार हो गए थे? इतने लेट आए हो दुनिया में! तुमने प्राचीन इतिहास क्या पढ़ लिया है—तुम्हारा बस चले तो हमें खोदकर गाड़ दो, और दो हजार साल बाद उखाड़कर, पुरातत्त्व के प्रमाण बताकर हमारी आरती उतारा करो!''

''देखो दुबेजी, तुम तो हो मूरख! सात दिन में नहाते हो, सो भी बनियान नहीं बदलते!! तुम्हें तो शब्दों की बीमारी है...कोई भी नया शब्द लपक लिया...अरे, हम पुराने ख्याल के ही सही...!!''

कृष्णाचार्यजी हम दो बच्चों से परेशान हैं, हमारी फैलाई चीजें संभालते रहते हैं।

"आशा, जरा कैंची देना...!"—और मैं कृष्णाचार्य की प्रलम्बित, सद्यः-स्नाता चुटिया काटकर उनके हाथ में दे देता हूँ। वे चुप हैं—दो दिनों से। मैं माफी माँगता हूँ।

"नहीं यार, काटना तो मैं भी चाहता था, लेकिन बच्चों के सामने..."

—फिर वे गेटे की जान को लग जाते हैं। हर सम्भव, प्राप्य-अप्राप्य किताब लाकर पढ़ते हैं, और गद्गद होकर उनके वाक्य दुहराते हैं। मैं उनकी इस लगन पर श्रद्धानत हूँ, लेकिन हमेशा मजाक उड़ाता हूँ। रात-रात भर बैठकर 'उखड़े हुए लोग' को टाइप पर रिवाइज करता हूँ—पास के 'जू' से शेर की दहाड़ और सड़क से गुजरती मोटरों की रोशनी आती है, ओर कौवे काँव-काँव करते रहते हैं। विधुर कृष्णाचार्यजी पंखा कम और ज्यादा करते रहते हैं। "राजेन्द्र आसन का पक्का है, लेकिन है बच्चा..."—कुरते का आखिरी बटन बन्द करके वे संगीत का अभ्यास करने लगते हैं। बीच में ही पूछते हैं, "यार, बहुत दिनों से वो लम्बी, चमचमाती गाड़ी तुम्हें लेने नहीं आई? बाहर गई है क्या...? लेखक होने में यही मौज है—पाठिकाएँ श्रद्धालु मिलती हैं...।"

"चलिए, सुसराल में ही खाया जाए," सेंगरजी अपने दोनों हाथों को प्याले की तरह बनाकर एक हाथ की उँगलियों से दूसरे हाथ की उँगलियों को छूते हुए—'लाहौर' या 'अनारकली' रेस्त्रांओं में चलने का अनुरोध करते हैं वहाँ के सरदारजी ससुर की-सी आत्मीयता से खाना खिलाते हैं। बैरा पवन सूचना देता है, "वो पालक बाबू आया था...।" कृष्णाचार्यजी के लिए पालक, घिया, तोरई परम-सात्त्विक भोजन हैं, इसलिए उनका नाम वहाँ है 'पालक बाबू'...

"देखिए, मैं रिसर्च करना चाहता हूँ, अगर यहाँ कोई ट्यूशन..."

"हाँ, वो तुम्हारा पत्र मिला था। मैंने बातें कर ली हैं। यहाँ एक बहुत ही भले सॉलिस्टर हैं, उनके दो लड़कों को हिन्दी पढ़ाना है"—श्री भँवरमल सिंघी अपनी आत्म-विश्वस्त आवाज में, मेरी कृतज्ञता को बीच से ही काट देते हैं, "नहीं कोई धन्यवाद-वन्यवाद नहीं! मेरा इसमें विश्वास नहीं है।"...

"नहीं, सिंघीजी ने शायद बताया नहीं। ट्यूशन जैसा कुछ नहीं है। दोनों बच्चों में साहित्य के प्रति कुछ अभिरुचि पैदा करनी है। दूसरे-तीसरे दिन, जब भी समय मिले...आप बच्चों से खुद ही मिल लें"—श्री भगवतीप्रसाद खेतान अपनेपन और बड़प्पन से बोलते हैं। 'चाँद' के 'मारवाड़ी' अंक में मैंने भगवती बाबू की तस्वीर देखी थी। बताते हैं, 'प्रेमचंद जब कलकत्ता में थे, तो हम मिलते थे उनसे। अब समय नहीं मिलता—आपके ही बहाने हिन्दी के सम्पर्क में रहेंगे...।"

एक महीना...दो महीना...तीन...मैं सिंघीजी से जाकर कह देता हूँ, "मुझे काम बताइए। यों वहाँ जाकर इधर-उधर की बातें, चाय-शर्बत के लिए रुपए लेना मुझे अच्छा नहीं लगता। बच्चे होमवर्क से ही बहुत त्रस्त रहते हैं।"

"तुम अपनी रिसर्च पूरी कर लो।"

"वह भी शायद अब न हो! मेरा मन नहीं लगता। नेशनल लाइब्रेरी में जाकर चैखव की कहानियाँ, लिडिया ऐविलोव के संस्मरण और ओल्गानिपर को लिखे खत पढ़ता रहता हूँ—एस. एन. दासगुप्ता की 'चिति' और 'ध्यान' पर लिखी पुस्तकें खुली पड़ी रहती हैं। सुबह-शाम कहानियाँ लिखता हूँ। एक-एक बैठक में अभी 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और 'एक कमजोर लड़की की कहानी' लिखी है।"

"कहाँ है? सुनाओ।"

"एक 'संकेत' में गई है, दूसरी 'ज्ञानोदय' में। अभी जगदीश जी अपने हस्ताक्षरों में उसकी नकल कर रहे हैं।"

"क्या वे 'ज्ञानोदय' में जानेवाली हर रचना को...?"

"जी, उनका हस्ताक्षर बड़ा सुन्दर है—उसे देखकर वे खुद मुग्ध होते हैं।"

भगवती बाबू स्नेह से कहते हैं, "सिंघीजी से बात हो गई है। लेकिन तुम आते-जाते रहना। तुम्हें अपनी पसन्द की जो भी किताबें दीखें, उन्हें मेरी तरफ से खरीद लिया करो। पढ़कर दे दो। मुझे कुछ अच्छी किताबों का संग्रह करना है। समय नहीं मिलता, लेकिन सफर में या बाहर थोड़ा-बहुत टाइम निकाल ही लेता हूँ।"

बीच-बीच में उनके सेक्रेटरी कृष्णन के पत्र मिलते हैं, "बहुत दिनों से आपकी कोई सूचना नहीं मिली। मि. खेतान ने पूछा है कि आप यही हैं या..." स्वयं भगवती बाबू का पत्र, "एक अंग्रेजी लेख में आपका जिक्र देखा था। हो सकता है, आपको पता न हो, इसलिए भेज रहा हूँ...या "सर पैट्रिक हेस्टिंग्ज की यह किताब पढ़ लीजिए। बड़े दिलचस्प केसेज हैं।" या "आप जो आउटसाइडर दे गए थे, वह बहुत अच्छी लगी। 'नॉशिया' चली नहीं—ज्यादा गम्भीर है। आपने खोसला की किताब पढ़ ली—'मर्डर ऑफ महात्मा एण्ड अदर केसेज'...? रसेल की 'नाइट पेयर्स' आपके लिए रखी है... ।"

दो बार 'ज्ञानोदय' में नौकरी करता हूँ। इससे भी पहले की थी, सहारनपुर में श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के साथ। 'ज्ञानोदय' कलकत्ते चला आया, और मैं आगरा चला गया। यहाँ एक दोपहर को डॉ. केशवन् बुलवाते हैं, "बेटा, तुम्हारा उपन्यास—वार्टिज दैट, अपरूटेड ह्यूमैनिटी—'उखड़े हुए लोग' पढ़ा। हिन्दी बहुत धीरे-धीरे पढ़ता हूँ। राजनीति उसमें साहित्य पर हावी हो गई है। नौकरी करोगे?"...फिर 'जियॉलाजिकल सर्वे' में हिन्दी अध्यापक। बमुश्किल-तमाम छः महीने होते-होते इस्तीफा! आप अपना लिखिए-पढ़िए। कहाँ इस सरकारी नौकरी की चखचख में पड़े हैं...!" बच्चू बाबू का समर्थन है।

मन्नू बहुत खुले दिल से हँसती है और मुझे उसकी हँसी पसन्द है। उससे भी सहज कहानियाँ लिखती हैं, एक के बाद दूसरी। कमला भाभी कहती हैं—"मिलेगी नहीं, मन्नू बाई सा'ब जैसी लड़की आपको! घर बसाओ और भले आदमियों की तरह रहो... ।"

और फिर दिल्ली...फिर कलकत्ता...'सहजीवन समारम्भ के अवसर पर आपको शुभाशंसाएँ... ।'—ठाकुर साहब सचमुच बड़े भाई की तरह पुलकित हैं... । निमन्त्रण और विवाह, कुल छः दिन।

लेकिन मन्नू अपना सारा ध्यान घर में ही लगाती है, और मेरा सारा ध्यान घर और अपने में ही केन्द्रित चाहती है—अगर ऐसा नहीं है तो उसकी उपेक्षा है...।

ट्रेनें दौड़ती रहती हैं, डिब्बे बदल जाते हैं—लेकिन कुछ तार हैं जो टेलिग्राफ के खम्भों पर लिपटे—हर जगह साथ हैं, हर यात्रा के दूर खड़े गवाह हैं...कहीं उन पर नीलकंठ बैठा मिलता है, कभी कौआ—कहीं कटी पतंग लटकी है तो कहीं बरसते पानी की बूँदें...कहाँ से हुई थी इस यात्रा की शुरुआत?

सन् 1952 की बात है—दक्षिण-भारत का चक्कर लगाए साल-भर से ऊपर हो चुका था...

मैं और राकेश दिल्ली से आए थे—रात भर जागते हुए, पैसेंजर गाड़ी से राकेश का ताँगा दयालबाग चला गया...। मेरे घर के सामने कुछ लोग बदहवास खड़े थे। मास्टर साहब ने अलग ले जाकर बताया, "डॉक्टर साहब की तबीयत बहुत खराब है। उन्हें सुरीर (मथुरा) से ले आए हैं।" और आगे बढ़ता हूँ। छोटा भाई सत्येन्द्र भी मिलता है—

"पिताजी शायद..."

"लेकिन मास्टर साहब तो कहते थे..."—मैं घबरा गया हूँ।

"किसी का दाँत उखाड़ रहे थे, तभी चक्कर आने लगे, दिल डूबने लगा...।"

"अब हालत क्या है?"

...बीच आँगन में ढँका हुआ पिताजी का शरीर है। हम सब लोग रो रहे हैं—माँ, छः बहनें और चार भाई...अपने से 'बड़ा' होने पर अब शायद कोई इतना खुश नहीं होगा...गलत-सही करने की अब शायद कोई छूट नहीं मिलेगी...चुराकर सिगरेट पीने की अब कभी जरूरत नहीं होगी। अब सिर्फ यात्रा का साथी एक एहसास रह जाएगा, कि कभी कोई था—जो एक बीमार लड़के के बेड के पास कुर्सी पर बैठा, घंटों अलिफलैला सुनाया करता था, दास्ताने अमीर-हम्जा सुनाया करता था, और चन्द्रकान्ता-सन्तति के हिस्से खुद पढ़कर उसे दे देता था—क्योंकि वह हिन्दी उतनी अच्छी नहीं पढ़ पाता था (चन्द्रकान्ता के लिए ही उसने हिन्दी सीखी थी, और प्रेमचंद से आगे नहीं पढ़ पाया) मैं फारसी लिपि में छपी, नवलकिशोर प्रेस की 'हजार दास्तान' की भोंडी तस्वीरों से दहशत में भरा, अनेक बार पढ़ी सिन्दबाद जहाजी, हिन्दी जादूगर और आबेहयात लानेवाले शहजादों की कहानियाँ साँस रोककर पढ़ता रहता, और खलीफा हारूँ अल रशीद के साथ रात-रात भर बगदाद और समन्द की गलियों में भेस बदलकर घूमता रहता। (इन्हीं किस्सों का मैंने अपनी कहानी 'अभिमन्यु की आत्महत्या' में इम्प्रेशनिस्टिक शैली में, जानबूझकर तोड़ते हुए एक-दूसरे में घुला-मिला दिया है—और इस शैली की सूक्ष्मताओं से अपरिचित होने के कारण अश्कजी को उस कहानी में 'ब्योरों की गलतियाँ' लगती हैं। वस्तुतः भारतीय या फारसी कोई भी कहानी वहाँ ब्यौरेवार चलती ही नहीं है, सब एक-दूसरे पर सुपर-इम्पोज्ड तस्वीरों के प्रतीकात्मक अन्दाज में आती हैं। हर कहानी को सही ब्यौरे के साथ सिलसिलेवार पढ़ने के लिए, अश्कजी अलिफ-लैला की पढ़ लें तो ज्यादा अच्छा है।)

...इस तरह चन्द्रकान्ता, भूतनाथ, सुफेद शैतान या रक्तमंडल के तिलिस्मों में डूबा मैं—हर गड्ढे और खंडहर में एक सुरंग का मुहाना तलाश करता रहता, और भाई-बहनों के साथ रात को भिक्खी चाटवाले की राह देखता...“इसी शर्त पर चाट खाएँगे कि रात को कहानी सुनाने आना पड़ेगा।” वह भी जानता था कि जिस दिन वह अस्पताल आएगा, उसे खोंचा लेकर सड़क-सड़क घूमने की तवालत नहीं करनी पड़ेगी!...चाँदनी में नहाए क्वार्टर के सामने चारपाइयाँ पड़ जातीं—जमादार, रसोइया, नौकर, कम्पाउंडर और हम सब गर्दन लम्बी कर-करके सुनने लगते। बीड़ी जलाकर भिक्खी शुरू करता, “तो भैयाजी, राजा की इतनी बात सुनकर रानी जवाब देती है, के...” पास ही बेले-चमेली की बड़ी-बड़ी क्यारियाँ चाँदनी के साथ धीरे-धीरे खुलने लगतीं, मेहंदी की घनी बाड़ें गमगमाने लगतीं—जिनके पीछे कुएँ के पास बड़ा-सा बबूल का पेड़ था...सियारों की ‘हुआ-हुआ’ के साथ ही, भिक्खी की कहानी का वेताल उस बबूल के काँटों में लटका दिखाई देता, और चारपाई पर लेटे राजा वीर विक्रमादित्य का गला सूखने लगता...अब भिक्खी की बात काटकर केशी महाराज सुना रहा होता, “बाबूजी, झूठ नहीं है! मेरे देखते-देखते सामने से भेड़िया गायब हो गया...देखूँ तो आगे-आगे, सफेद बुर्राक कपड़े पहने, छम-छम करती ज्वान-जमान बैयारबानी चली जा रही है...अब रात का बखत, अकेला मैं...और उस पर से ऐसी खसबू आ रही कि...।”

उस दिन पिताजी के साथ-साथ बेले-चमेली-गुलाब और मेहंदी की छाँह में पुराने किस्सों की खुशबू विदा हो गई...शुरू हो गई एक नई यात्रा...आँगन में लेटा शरीर तो सिर्फ एक यात्रा बिन्दु था—प्लेटफार्म...

नहीं, इससे भी पहले शायद इसकी एक हल्की-सी शुरुआत और भी थी... ’44-45 में...

झाँसी के झोंखनबाग में, पड़ोसी वकील साहब है—श्री सुधीन्द्र वर्मा। उनके यहाँ के गढ़-कुंडार, विराटा की पद्मिनी, कुंडली-चक्र, लगन, प्रत्यागत—यानी प्रेमचंद और प्रताप नारायण श्रीवास्तव के उपन्यास पढ़कर सुरीर-युग के अपने लिखे तिलिस्मी उपन्यास के आठों खण्ड बेकार लगने लगते हैं...वे पूरा हाथ ताने, मोटी-मोटी किताबों से घंटो कालिदास और वाल्मीकि को पहले संस्कृत में पढ़ते हैं, फिर स्वयं उसके हिन्दी अनुवाद सुनाते हैं...बाई—माँ के साथ पढ़ी रामायण, महाभारत, सुखसागर अब अपने नए अर्थ-सौन्दर्य के साथ सामने खुलने लगते हैं। ‘स्वतन्त्र’ के सम्पादक श्री श्यामप्रसाद दीक्षित के यहाँ की शरत-ग्रन्थावली मुंशी के उपन्यास दिमाग में तैरते रहते हैं...देवदास और पृथ्वीवल्लभ को रोने के लिए ही अनेक बार पढ़ना पड़ता है...ऐसा कोई उपन्यास मैं नहीं लिख सकता? और एक के बाद एक तीन उपन्यास मैं लिख डालता हूँ। उहूँक, मामला कुछ जमा नहीं...अभी और माँजना होगा। लम्बे-लम्बे पत्रों में नानाजी, वीर सावरकर की रचनाएँ और ‘बन्दोजीवन’ पढ़ने को उकसाते हैं और लिखते हैं—मराठी और गुजराती पढ़ो।’ उनकी मातृभाषा मराठी है, हिन्दी-गुजराती पर अधिकार है। वर्माजी दाँत पीसकर कहते हैं, “तुम्हारी हिन्दी में कोई मेहनत करता है? एक वो

हैं..." जैनेन्द्रजी से वे बहुत नाराज हैं, छायावाद के शत्रु हैं—जिन दिनों 'सुधा' के सम्पादकीय विभाग में थे, उन्हीं दिनों से कहते हैं, "झाँसी की रानी पर मेरे पास ऐसी सामग्री है, कि बस... ।" नानाजी अक्सर कहानियाँ लिखने का आदेश देते हैं, देशभक्ति और आवेश से भरी कुसुमाग्रज की कविताएँ उद्धृत करते हैं। तो मैं सख्ती से पत्र लिखता हूँ, "आप जितना भी कहिए, मैं कहानियाँ नहीं लिखूँगा। जब कोई उपन्यास लिख सकता है, तो कहानी क्यों लिखे? कहानी..." और मैं आज के फतवेबाज कवि की गदहपचीसी भाषा को अपने शब्द देता हूँ—"कहानी दूसरे दर्जे की विधा है... ।" फिर पुराने लिखे को दबाकर रख देता हूँ...झाँसी गुडबाई...पिंजरे की उड़ान...

आगरा। यशपाल, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, अश्क, अमृतलाल नागर, अमृतराय, भगवतशरण उपाध्याय और हंस...हर बार 'कर्मयोगी' से श्री आर. सहगल का पत्र आता है, और एक कहानी चली जाती है!...चार-छः दिनों बाद भाषा-विज्ञान का छमाही पेपर है, और मैं लालटेन की रोशनी में सुबह तीन बजे तक लिखता हूँ—'खेल-खिलौने'। रघुवीर सहाय से कविता में पत्र-व्यवहार...'प्रतीक' आता है, और महीने-भर से बीमार लड़की के पास पहुँच जाता है। तीसरे दिन एक युवक सामने है..."आपसे एक जरूरी काम है...दरवाजा बन्द कर लूँ न?"

मैं आशंका से सिर्फ उसे देखता हूँ। वापस आकर बैठते हुए कहता है, "यह कहानी आपने मुझे लेकर ही लिखी है न?"

"ऐसी तो कोई बात नहीं है।"

"झूठ मत बोलिए...मेरा एक काम कर दीजिए। बहुत एहसान मानूँगा... । उस घर में आपकी बहुत मानी जाती है। मैं सचमुच उसे बहुत-बहुत..." वह देर तक अपनी व्यथा बताता रहता है।

...मैं उधर समझाता हूँ, "सुनो, आज तुम्हारा वह मित्र आया था... ।"

बात बीच में ही कट जाती है, "उससे कहिए, सीधे मुझसे ही बात कर ले। मुझे ऐसी बात करने में कोई झेंप नहीं लगती... ।"

'खेल-खिलौने' 50-51, फिर एक नई यात्रा का प्रारम्भ...शायद साहित्य और जीवन में स्वीकृति (रिकॉग्नाइज) किए जाने की दुहरी यात्रा का प्रारम्भ...हर बार टूट-टूटकर नई विदाएँ देती यात्राओं का अटूट सिलसिला...टेलिग्राफ के तारों पर बैठे नीलकंठ, कौए, कटी पतंगें और सरकती बूँदें...सिगनलों की लाल-हरी आँखों के इशारे ...और पास की सीट पर, अपनी बात सुनाता कोई हमसफर...यह हमसफर कितनी बार मिला और छूटा है!

घनश्याम अस्थाना बहुत सुन्दर ढंग से कविताएँ सुनाता है, प्यारे गीत लिखता है, मगर सबसे अधिक सुन्दर है उसकी हैंडराइटिंग...मैं वैसा ही लिखने की कोशिश करता हूँ, अक्षर तो वैसे नहीं बनते, मात्राओं और घुमाने का तरीका आ गया है...एक दिन चौंक जाता हूँ...अरे! यह बिल्कुल मेरी हैंडराइटिंग...एक ही हैंडराइटिंग में यह कौन-सी जिन्दगी शुरू हो गई?

जाने क्या बात है, दूसरों की आपबीती, अनुभव, उनके मुँह से सुनकर या

पुस्तकों में पढ़कर, मुझे कुछ भी याद नहीं रहता...आसपास सभी कुछ भूल जाता हूँ ...यहाँ तक कि सामनेवाली किताब या व्यक्ति भी अन्तर्धान हो जाते हैं...रह जाता हूँ मैं और मेरे भीतर से उतरता हुआ अपना ही कोई अनुभव, अपनी ही कोई घटना, जिसका सामनेवाले से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मुझे लगता है, हर आदमी दूसरों के कहे-लिखे के बहाने अपने ही अनुभव का पुनर्सृजन करता हैं इसलिए दूसरों की अच्छी चीज से मुझे कभी ईर्ष्या नहीं होती, कभी किसी-दूसरे का भाव उड़ा लेने की बात मेरा अहं स्वीकार नहीं करता...वह मेरे लिए सिर्फ अपने भीतर उतरने का एक यात्रा-बिन्दु होता है। इधर बहुत ही नाकारा हो गया हूँ, इसलिए उस सम्बद्ध और स्फूर्त मनःस्थिति को कागज पर उतारने के श्रम को टाल जाता हूँ...लेकिन उसी मोह में पढ़ना जारी है। हाँ, जो लेखक पसन्द नहीं आता, उसे भरसक नहीं पढ़ता—स्टैनले गार्डनर, क्रॉनिन, मोराविया, अस्किर्न कॉडवेल, अप्टन सिंक्लेयर, लुई ब्रॉमफील्ड, गुरुदत्त कुशवाहाकान्त और उनके स्कूल की एक-एक किताब से अधिक नहीं पढ़ पाया। पिछले छः महीने से गुलशन नन्दा और बनफूल की एक-एक किताब पढ़ने की कोशिश कर रहा हूँ, कुछ पन्नों से आगे चल ही नहीं पाती। जो पसन्द हैं, उन्हें बहुत पढ़ता हूँ। मन्नू को शिकायत है कि इन विदेशी लेखकों ने मेरा दिमाग खराब कर दिया है।

सुनना, छोटे-बड़े दूसरों की बातें-रचनाएँ-पुस्तकें पढ़ना, मेरे लिए सबसे अधिक प्रेरणास्पद क्षण हैं। मन्नू कहती है—इसमें अहं तृप्त होता है। वह खुद अपनी बातें बड़े दिलचस्प ढंग से सुनाती है, सबके साथ मिलकर मेरी खिंचाई में हिस्सा लेती है, और शिकायत करती है—'इनमें अगर ये-ये बातें न हों, तो बहुत ही अच्छे हैं।' जो बातें न हों उनकी सूची बेहद लम्बी है, और हर पल बदलती है। मैं मान लेता हूँ कि उसके भाग्य में अच्छा पति पाना नहीं है—एक बार अच्छा पति पाने की सलाह देकर सो जाता हूँ।

मन्नू आरोप लगाती है कि मैं जिम्मेदारियों और ज़िन्दगी से भागता हूँ...मुझे लगता है, मैं ज़िन्दगी से नहीं, ज़िन्दगी में भागता हूँ। इसलिए मुझे भीड़-भाड़, बड़े शहर और वहाँ की कैलेडोस्कोपिक—रंग-बिरंगी ज़िन्दगी बहुत पसन्द है--कपड़े, खाना, सोना, गप्पें सभी कुछ बहुत पसन्द है; जीवन का अच्छे-से-अच्छा रूप मोहता है, लेकिन बुरे-से-बुरे के साथ विना खलिश निबाह किए जाता हूँ। चाहता हूँ, सारे संस्कारों को तोड़कर अपने को इस समन्दर में निर्बाध छोड़ दूं, और सच्चे अर्थों में बोहेमियन-ज़िन्दगी जीकर देखूँ—यह क्या कि घर-बार बसाए, मध्यवर्गीय मूल्यों को सहलाते बैठे हैं। लेकिन दृढ़-संकल्पी माँ के दिए संस्कार, जिनसे कदम-कदम पर लड़ना पड़ता है, और अपनों का मोह रोक लेता है...मन्नू की सबसे बड़ी आरोप-तुरप है, कि मैं बेहद निर्णय-दुर्बल हूँ। छोटे और बड़े किसी भी मसले पर तत्काल निर्णय लेकर, मर्दों की तरह उस पर जमे रहने की इच्छाशक्ति मुझमें नहीं है। नहीं जानता, निर्णय-दृढ़ कौन है—मैं नहीं हूँ, यह 'साँच कहूँ लिख कागद कोरे।' हर वह व्यक्ति नहीं है, जिसका परिस्थितियों पर नियन्त्रण नहीं होता। कसम खाकर निकलता हूँ कि बस के अलावा किसी सवारी में सफर नहीं करूँगा—घंटे-भर बस की राह देखकर अर्थात् बस की सम्भावनाओं को

पूरी छूट दे चुकने पर स्कूटर कर लेता हूँ—एक दर्जे का टिकट लेकर उससे ऊपर वाले दर्जे में जा बैठता हूँ—निर्णय-दुर्बल जो हूँ...पता नहीं, संकल्प गन्तव्य तक पहुँचने में है, या यात्रा के साधनों को बहुत गम्भीरतापूर्वक लेने में...गन्तव्य को लेकर मन की दुविधा होती तो शायद आज मैं आगरा में प्राध्यापक होता, कहीं सम्पादक होता, या डलहौजी-स्कवायर के किसी दफ्तर में बैठा-बैठा एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट के आँकड़े निकाल रहा होता...।

आज आश्चर्य होता है, कैसे एक-एक बैठक में मैंने कहानियाँ लिखी हैं, और नियम बाँधकर, महीनों, रोज उपन्यासों को आगे बढ़ाया है। अब तो दोपहर एक बजे के बाद कुछ भी लिखना सम्भव नहीं लगता। यह एक बजे तक बैठना भी महीने में कुल चार-पाँच दिन हो पाता है, जब बैठे बिना निस्तार ही न हो। पता नहीं, कैसे होते हैं वे लोग, जिनके लिए लिखना सबसे सुखकर और सबकुछ भूल जाने का क्षण होता है...! मेरे लिए लिखना सिर्फ एक यातना है, एक सजा है...शायद आजीवन सपरिश्रम कारावास जैसी, जिसे लेकर मन में सन्तोष भले ही न हो, अफसोस भी नहीं है। हाँ, जी जरूर चुराता रहता हूँ और अपनी जेल वार्डर को चरका देने की कोशिश करता हूँ...लेकिन यह भी जानता हूँ, कि इसका कोई शॉर्ट-कट नहीं है। लोगों को देखता हूँ—जो लेखन, कला और उसके विभिन्न आन्दोलनों को लेकर बेहद दुबले रहते हैं, और कृश्नचन्दर के शब्दों में, "सुअर जैसे मनहूस शक्ल बनाकर' कला के स्तर-प्रस्तरों का विश्लेषण करते हैं; कहानी की अरथी चैख़व ने निकाली थी या हैमिंग्वे ने—इसे जीवन-मरण का सवाल बनाकर रात-रात भर नहीं सोते। सोचता रहता हूँ, क्या यह सब इस सारे सिरदर्द के लायक है? क्या होगा इस सबका? उपन्यास 'एक इंच मुस्कान' में लेखक अगर एक जगह कहता है, 'ज़िन्दगी जैसी है, उसे जीने की अपेक्षा, यों बैठकर उसे लिखना किस तरह महान काम है? मैं अपने कमरे में गढ़े हुए पात्रों की परिस्थितियाँ बयान कर रहा हूँ, ठीक इसी क्षण संसार की हजारों भाषाओं में लाखों लेखक बैठे-बैठे—इसी सब बकवास में टनों कागज बरबाद कर रहे होंगे...आखिर क्यों? इससे फायदा?"...समय के प्रति ईमानदारी का कीर्तन करते हुए, अपने अस्तित्व की गहराई से लिखो, और कूढ़-दृष्टि प्रकाशकों को कन्विन्स करो कि कैसे यह रचना संसार की सबसे बड़ी बेस्ट-सेलर होने जा रही है...। प्रकाशक अपनी जगह निहायत सही है—'देखिए साहब, हम बिजनेस करने बैठे हैं। लिखने से कहीं रुचि और दुनिया बदलती होगी!...जिसे ठेके लेने होंगे, कम्पनियाँ खरीदनी होंगी, स्मगलिंग करना और इनकम-टैक्स बचाना होगा, प्राइम-मिनिस्टर बनना होगा, फाँसियाँ लगानी होंगी और एटम बम फोड़ने होंगे, वे आपके लाख चिल्ल-पों मचाने के बावजूद वह सब करेंगे। हम तो उन घटनाओं की राह देखेंगे, और बीच के अवकाश को लिख-लिखकर पाटेंगे; कभी-कभी सम्मिलित हस्ताक्षर करके विरोध छपवा दिया करेंगे...वह भी बाहर के अत्याचारों पर—घरेलू विरोधों में खतरा है। क्रान्तिकारी और अन्याय-विरोधी बुद्धिजीवी का सेहरा भी, और घर पर कोई असुविधा या जिम्मेदारी भी नहीं।

बहुत ही कन्फ्यूज्ड हो गया हूँ न? क्या करूँ, कोई रास्ता ही नहीं दिखाई देता

...और अँधेरे के गीत गाना—अपने साथ, दूसरों के साथ विश्वासघात लगता है। मेरी लेखनी 'सूर्यधर्मा' भी नहीं है। साथ ही येंटरटेनर की स्थिति स्वीकारते भी नहीं बनती।

पता नहीं, इस सबसे मेरे लेखन के पीछे वाले उस व्यक्ति की कितनी तस्वीर उंभरती है, जिसे जानने को तुम बहुत उत्सुक हो। देखो न, कितनी देर से अपनी-ही-अपनी बके चला जा रहा हूँ। अब बस करता हूँ। कोशिश करूँगा कि अब अपने बारे में यह सब न लिखना पड़े। बहुत काम का है भी नहीं। विश्वास मानो, मुझे अपने और अपने लिखे के बारे में बातें करने का बिल्कुल शौक नहीं है—प्रायः मैं नहीं करता। वह मेरा नितान्त व्यक्तिगत युद्ध-क्षेत्र है, और वहाँ मुझे अकेले ही लड़ना है। वहाँ मेरा साथ कोई भी—शायद तय जैसा सहृदय भी नहीं दे सकता। जबकि नियति यही है तो क्यों अपना युद्ध-क्षेत्र छोड़-छोड़कर यह बताता रहूँ कि देखो, मैंने यह तीर मारा, यह तलवार मारी...। मुझे लगता है, जो ऐसा करते हैं, वे दुहरी हार स्वीकार करते हैं—युद्ध छोड़कर चले जाने की हार; और जो वहाँ न कर पाए, वह सब कह-सुनाने की मानसिक हार। और युद्ध धरतियों के पाने या छोड़ने से नहीं हारा-जीता जाता—मन से हारा-जीता जाता है। मैं अभी से यह हार क्यों स्वीकार करूँ? माफ करो तो एक बेहूदे विज्ञापन की एक लाइन के साथ पत्र समाप्त करने को मन होता है—'अभी तो मैं जवान हूँ!'

बस!

सस्नेह
—राजेन्द्र यादव
अक्टूबर, 1964

मुड़-मुड़के देखता हूँ...

फर्लांग-भर से कुछ लम्बी, कमर से काफी ऊँची, लाल-ईंटों की बनी एक दीवार है और यह दीवार एक डामर की सड़क के किनारे-किनारे चली गई है। इसके दो लोहे के फाटकों में से एक हमेशा बन्द रहता है, दूसरे पर हम लोग अक्सर ही झूलते हैं और उसे इस सिरे से उस सिरे तक ले जाने में हवाई जहाज का आनन्द पाते हैं या हाथ-पैरों में चोट लगाकर रोते हुए घर आते हैं। पच्चीस-तीस बीघे का लम्बा-चौड़ा अहाता, बीच में लाल-ईंटों की अस्पताल की बिल्डिंग, एक सिरे पर मरीज़खाना...यानी एक लाइन में बनी बरांडेवाली कोठरियाँ; कम्पाउंडर का क्वार्टर, और तब इस सिरे पर डॉक्टर का मकान। उससे लगे छः सीधे खम्भों का फूस का छप्पर या शेड जिसे सब लोग 'बंगालिया' कहते हैं; पास ही जमादार के रहनेवाली झोपड़ी, कंजर-परिवार की झोंपड़ियाँ—कुआँ और फिर दो-दो खेत की जगह। सड़कों के पार खुले खेतों के बीच जाती हुई सड़क के उस ओर थाना, मस्जिद, स्कूल और बहुत बड़ा बरगद का पेड़—आधे पोखर को ढँके हुए; तब कस्बा। बीच की उस पक्की सड़क द्वारा एकदम काटकर अलग कर दिए गए इस अस्पताली-द्वीप से ही मेरी रचना-यात्रा शुरू हुई। चारों तरफ के खेत, बम्बे, कच्चे रास्तों और फरास-बबूल के झुंडों से काँटेदार तारों या कच्ची-पक्की मेड़ों द्वारा अलग कर दिए गए घेरे के बीच से। यानी कपड़े फाड़कर, खरोंचें लगाकर और दुनिया-भर के काँटे-चोटें स्वीकार करते हुए इन सीमाओं से भागने की प्रक्रिया के दौरान।

कंजर, जमादार, चौकीदार, महाराज, कम्पाउंडरों के आते-जाते परिवार, मौलवी साहब, मास्टर साहब और पिताजी से मिलने-जुलनेवाले दोस्तों का किसी भी समय आना-जाना, मरीजों-घायलों का सिलसिला; बबूल, नींबू, नीम, जामुन, अनार, मेहंदी, रेलवे-क्रीपर की बेलों बाड़ के बीच डॉक्टर के घर के सामने गेंदे, रातरानी, गुलाब-गुलदाउदी की क्यारियाँ। डॉक्टर को उत्साह आता है तो क्यारियाँ लहलहाने लगती हैं और हम लोग बम्बे से नालियाँ निकालकर सिंचाई करते हैं, कुएँ से पानी खींचकर लाते हैं—वरना सब घास-पौधों में एकाकार हो जाता है। एक माली आ जाता है और कुएँ के पासवाले खेतों में बैंगन, तोरई, मिर्च, प्याज, टमाटर, गोभी, कासीफल के पौधे हरे हो जाते हैं और हम लोग नारायण के इक्के को अपना क्रीड़ा बना लेते हैं।

कुछ इसी तरह का रहा है बचपन। सारे दिन खेतों में घूमते हैं, बम्बे के आसपास भटकते हैं, मरीजों, कंजरों, जमादार, कम्पाउंडरों के बच्चों के साथ ऊधम

मचाते हैं, अस्पताल में जाकर 26 और 8 नवम्बर को शर्बत पीते हैं, ग्लीसरीन और पोटेशियम परमैगनेट मिलाकर आग जलाते हैं, पेड़ों पर चढ़ते हैं और जाने कहाँ-कहाँ से पकड़कर लाए जाते हैं। केशी महाराज का एक काम हमारी जासूसी करना भी है। कैसे भी छिपकर कुछ करो, उसे जरूर पता चल जाता है कि कहाँ हम मिट्टी में खेले, किसके खेत की नाली को हमने बदल दिया, किसके हरे चने उखाड़े या कहाँ किससे क्या माँगा। बाई का काम है दिन में दो-चार बार डाँट-डपटकर पिटाई करना, पकड़-पकड़कर नहलाना, दोपहर में अँधेरे-कमरे में बन्द करके सुलाना या सारे दिन किताबें पढ़ना और आधा-सीसी के देशी इलाज करते रहना। हमारे यहाँ किसी भी काम का कोई समय या कायदा नहीं है। दूर से देखते हैं कि थाने के पास की मस्जिद की अज़ान बन्द हो गई है। मौलवी साहब ने दरवाजे की कुंडी चढ़ा दी है, यानी उनके आ पहुँचने से पहले पाँच ही मिनट हाथ में हैं, छिपना-भागना जो भी हो इसी बीच कर डालो। कभी भाई आवाज लगाता है, 'टूटी साइकिल' आ रही है। हिन्दी के सूखे पंडितजी कुछ इस तरह चलते हुए हाथ-पाँव फेंकते हैं कि उनका नाम पड़ गया है, 'टूटी साइकिल!' हम लोगों का सारा दिन इन दो 'देवदूतों' के हमले से बचने की तिकड़में सोचने, भागने-छिपने, पेड़ों-खपरैलों पर जा-चढ़ने या पेट-दर्द, बुखार पैदा करने में जाता है। उर्दू-हिन्दी पढ़ने से ज्यादा जरूरी काम करने होते हैं—पतंग, लट्टू, गेंद, गिल्ली-डंडा, बढ़ईगीरी या किले बनाने के। केशी महाराज शाम को बस्ती की रामलीला में लक्ष्मण या परशुराम बनता है। लेकिन वहाँ तभी जा पाएगा जब यहाँ का काम खत्म कर लेगा। तीन बजे उसे जगाने से लेकर उसके साथ सफाई, पानी-छिड़काव और खाना-बनाना और तब उसी के साथ रामलीला जाकर मेकअप में मदद करना या दरी पर सबसे सम्मानीय स्थान पर बैठना—'डाक्साब के बच्चे हैं!'

पढ़ाई की व्यवस्था या सामान्य वातावरण अच्छा नहीं है, इसीलिए हम दो भाइयों को पिताजी ने भेज दिया है चाचाजी के पास—मवाना कलाँ, जिला मेरठ। यहाँ ज्यादा अनुशासित माहौल है—कचहरी से लौटकर चाचाजी रोज देखते हैं कि हमने स्कूल या घर पर क्या पढ़ा है। हवन, गायत्री और प्रभात-फेरियों का भी जोर है। लेकिन उस दिन स्कूल के मैदान में झड़प हो गई, बलबीर ने टखने में हॉकी मारी तो मैंने पलटकर कंधे का निशाना बनाया। घर आकर बताया, नया जूता पहनने से टखने में मोच आ गई है। सिंकाई, मालिश और आधे डॉक्टरी, आधे देशी इलाजों के बीच पाँव फूलता चला जाता है। महीने-भर से कोई सुधार नहीं। पिताजी आते हैं और मथुरा ले आते हैं। सिविल-सर्जन व्यक्तिगत दिलचस्पी ले रहा है। एक्सरे, दवाएँ, क्लोरोफार्म, ऑपरेशन। घुटने से टखने तक की पूरी हड्डी गल गई है, इसलिए निकालने के सिवा कोई चारा नहीं है। सख्त-गुस्सैल या जिद्दी पिताजी बार-बार आँखों पर रूमाल रख लेते हैं...फिर एक और ऑपरेशन...

और फिर वही कम्पाउंड, वही खेत-बस्ती, वे ही लोग। ड्रेसिंग, पट्टियाँ, सिंकाई और लकड़ी के चौखटे में जकड़ी टाँग...सारे दिन मन बहलाने के लिए पिताजी ताश, कैरम, शतरंज, चौपड़ खेलते हैं। मथुरा से नई-नई चीजें लाते हैं—लूडो, साँप-सीढ़ी,

पतंगें, आतिशबाजियाँ या दवाओं के बड़े-बड़े बक्स। इन्हें खुलवाने, घास-फूस हटाने और एक-एक दवा या औजार को देखने में हमें बड़ा मजा आता है। शाम को आता है चाटवाला भिक्खी। हम लोग जुट पड़ते हैं। खोमचा खत्म। 'इन सब लोगों को खिला दो, पैसे हमसे ले जाना।' हफ्ते में एक बार पिताजी की आज्ञा है। हमारी शर्त यही है, रात को आकर कहानियाँ सुनानी होंगी। खाने-पीने के बाद चाँदनी रात के जादुई माहौल में हम सब लोग चारपाइयों और मूढ़ों पर बैठ जाते हैं और बेले-मेंहदी की गन्ध से वातावरण महकता रहता है। उधर अंधेरे में बरामदे की सीढ़ियों पर बाई (माँ) बैठती हैं। बहुत-विस्तार, ब्यौरे और पूरी नाटकीयता से कहानी सुनाता है भिक्खी। बेताल-पच्चीसी और सिंहासन-बत्तीसी स्रोत हैं। शाम को अखबार आता है, शायद 'हिन्दुस्तान टाइम्स'। कस्बे के दो-चार लोग, अगर सम्बन्ध अच्छे हुए तो थानेदार, कम्पाउंडर सब लालटेन के आसपास जमा होकर उसे षड्यन्त्रकारियों की तरह पढ़ते हैं, बहस करते हैं। लड़ाई शुरू हो गई है। गांधी और कांग्रेस का जोर है। अंग्रेजों की हार से खुशी होती है। मगर गांधी उन्हें भगा पाएगा इसका विश्वास नहीं है। दिन में अस्पताल के समय के अलावा पिताजी मेरे पास अक्सर ही आराम से मूढ़े पर बैठकर अलिफ-लैला, दास्तान अमीर हम्जा की कहानियाँ पढ़कर सुनाते हैं और जहाँ छोड़ जाते हैं, वहाँ मेरी जान अटकी रहती है। मैं खुद सारे दिन इन्हीं किताबों को पढ़ता हूँ...और धीरे-धीरे हिन्दी-उर्दू के घटना-प्रधान, जासूसी-तिलस्मी उपन्यासों पर आ जाता हूँ। छोटा भाई सत्येन्द्र अब आगरे में पढ़ने लगा है। जब वह आता है तो पतंग, मांझा, चाबीवाले खिलौनों को साथ लाता है। सेक्सटन-ब्लेक और गबर्ट-ब्लेक के उपन्यास या दरोगा-दफ्तर सीरीज़ और 'प्रभात किरण' की दो-आना सीरीज़ की उपन्यास-माला की पुस्तकें भी ले आता है। साप्ताहिक 'देशदूत' में गोपाल राम गहमरी का 'झंडा डाकू' इतनाक में दिया जाता है कि हर समय जान वहीं उलझी रहती है। कहानियाँ, अपने रोमांचक अनुभव सुनाता केशो महाराज भी हैं, मगर भिक्खी के कहानियाँ सुनाने का मजा ही दूसरा है—एकदम तस्वीर खड़ी कर देता है, स्थिर नहीं, चलती-फिरती तस्वीरें...

कड़वी-मीठी दवाओं, इंजेक्शनों और पट्टी बदलने के बीच यों बँधे-बँधे लेटे रहने से मेरी कल्पना बहुत तेज हो गई है और उसमें समिधा देती हैं ये पढ़ी-सुनी हुई कहानियाँ। मैं सारे दिन सपने देखता हूँ, उड़ता हूँ और समझने की कोशिश करता हूँ कि सोते समय राजा का हाथ रानी के गले या छाती पर ऐसे किस तरह और क्यों पड़ गया कि उनका नौलखा हार बिखर गया? उपन्यासों में जो बार-बार प्यार और मुहब्बत की बातें आती हैं, उनका क्या मतलब है? या मरजीना ने घड़ों में जब गर्म तेल डाला तो अन्दर छिपे चोर कैसे तड़फड़ाए? सिन्दबाद का जहाज जब टूट गया तो वह तख्ते से चिपका कैसे, कितने दिनों में किनारे आया होगा? पीर-तस्मा-पा को कन्धे पर चढ़ाते ही उसने कैसे चमगादड़ की तरह सिन्दबाद की गर्दन अपनी टाँगों में भींच ली? क्या संटियाँ मार-मारकर चौबीसों घंटे उसे हाँकता ही रहता था, 'चल, इधर चल, उधर दौड़, खबरदार जो रुका तो।' क्या टाँगों में गर्दन फँसाए ही सोता

था? पहाड़ों से आती हुई वह आवाज कैसी थी जिसे सुनकर हातिम बेसाख्ता उधर दौड़ पड़ा?

सचमुच तब मुझे कतई एहसास नहीं था कि अपने भीतर के पहाड़ों से आती किसी आवाज को मैं भी तो ठीक उसी तरह सुनने लगता हूँ। सिर्फ इतना पता था कि मैं सारे दिन बैठकर कुछ-न-कुछ लिखने की कोशिश करता रहता हूँ। परसा चौकीदार है, पहले भी यही था। किसी ने कुछ खिला दिया तो लगभग अन्धा हो गया। बीवी किसी के साथ चली गई। पिछले डॉक्टर की भी उसके साथ 'गड़बड़' थी, इसीलिए निकाल दिया गया। पिताजी ने जिद करके उसके अन्धेपन के बावजूद उसे बुला लिया। कुछ-कुछ दिखाई देता होगा, तभी सारे अस्पताल में बड़े अकड़ और विश्वास के साथ घूमता है। कहीं से एक लड़की ले आया है, साँवली-सुन्दर। कहता था ब्याहकर, मगर शायद खरीदकर। वह ब्रजभाषा नहीं, खड़ी बोली, यानी हमारी 'सरकारी बोली' बोलती है, औरों के मुकाबले साफ रहती है। हम लोगों के निकट आने की कोशिश करती है, लेकिन बाई उसे घर के पास नहीं फटकने देती, 'ऐसी औरतों का क्या ठिकाना!' वही पिताजी और नर्स वाला पुराना बखेड़ा खड़ा हो और उन्हें साल-छः महीने के लिए नानाजी के पास रहना पड़े। पिताजी पर उन्हें विश्वास नहीं है। 'मुझे भेजकर तेरे पिताजी उसे अपने पास सुलाते थे।' मगर लड़की सारे अस्पताल का आकर्षण-केन्द्र है। उर्दू बहर में मैं उस पर लम्बी कविता लिखता हूँ—'परसा ने एक दिन चने ज़ो चुराए...' उसमें परसा एक दिन चने चुराते पकड़ा जाता है, अन्ध होने के कारण छिप या भाग नहीं पाता। उसकी पिटाई होती है और तब कहीं से उसकी शहरी-बीवी आकर उसे छुड़ाती है, उसका रूप निहारते हुए लोग कुछ बोल ही नहीं पाते...इसी तरह के आसपास के लोगों पर कविताएँ लिखकर मैं तिलस्मी उपन्यास लिखने में जुट जाता हूँ 'देवगिरि'। तय है कि चन्द्रकान्ता-सन्तति से बड़ा होगा, ज्यादा जटिल होगा। रहस्य-रोमांच, देशभक्ति, क्रान्तिकारिता और एडवेंचरिज्म सभी कुछ होगा उसमें। बाई जो बन्दी-जीवन, सावरकर, आजाद-भगत सिंह या 'चाँद' के फाँसी अंक की कहानियाँ सुनाया करती थीं, वे ही नसों में सनसनाती रहतीं। काश, मैं भी किसी ऐसे क्रानितकारी को देखूँ, मिलूँ! बम बनाने की कोशिश सिर्फ गन्धक-शोरा और पिसा कोयला मिलाकर पटाखे बनाने तक रह जाती है। मेरी दुनिया आधी कल्पना की बनी है, आधी वास्तविक। जिन्दगी में जितना भी एक्शन नहीं है, लिखने में उतना ही बढ़-चढ़कर आता है : दौड़ लगाते घोड़े, दसियों लोगों को मार गिराने वाले नायक, गालियों को झुठलाते और किलों की ऊँची-ऊँची दीवारों को इच्छानुसार फलाँगते रूप बदलते एय्यार...आज लगता है कि इन रचनाओं के बहाने मैं देश-काल दोनों को फलांग जाना चाहता था। पिताजी सोचते, चलो कहीं तो लड़के का मन लगा है। वे या भाई-बहन घंटों शतरंज और कैरम खेलते। मन बहलाने के लिए पशु-पक्षियों को पालने का शौक भी साथ ही चल रहा है। कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, तोते, मोर, मुर्गे, खरगोश, कछुआ, हिरन, नेवला, कांटेदार चूहा—सभी तो पाले हैं। गाँव के छोटे से पुस्तकालय की सारी किताबें चाट डाली हैं। 'बाल-सखा' में 'इनकी रचनाएँ नहीं छपेंगी'

में एकाध बार नाम भी आ चुका है। छपा तो सही!

उपन्यासों में नायिका के रूप में किसकी तस्वीर उभरती है? दरोगाजी की लड़की की, बर्तन माँजनेवाली छः-फुटी नाइन की, परसा की बीवी की या कम्पाउंडर की मुन्नी की? सपनों की नायिका से इन सबका सम्बन्ध जोड़ना मुश्किल है।

पढ़ाई फिर से बाकायदा शुरू हो गई है। पं. रामस्वरूप शर्मा सिर्फ पढ़ाते ही नहीं हैं, पूरे व्यक्तित्व के विकास में दिलचस्पी लेते हैं। पिताजी के सबसे अच्छे मित्र हैं। दोनों ही अक्सर मेरे भविष्य को लेकर चिन्तित रहते हैं। मैं ब्रजभाषा के कवित्त और सवैयों में सत्यनारायण की कथा लिख डालता हूँ, जिसे ये सारे कस्बे में दिखाते फिरते हैं। विशेष रूप से इसलिए कि हमारे घर कथा-पूजा का कोई वातावारण नहीं है, सिर्फ त्यौहार ही जोर-शोर से मनाए जाते हैं। पिताजी को आस्था नहीं है और बाई आर्य-समाज के संस्कार लेकर आई हैं मगर हालत आज जैसी बुरी नहीं है—अभी पिछले दिनों दिल्ली में एक विदेशी महिला को किसी हिन्दू भगवान की तस्वीर दिखानी थी। सारा घर छान मारा, किसी देवी-देवता का न तो कैलेंडर मिला, न किसी चीज की पैकिंग पर आई कोई तस्वीर। गीता और रामायण का तो कोई सवाल ही नहीं। बहरहाल, मास्टर साहब के साथ मैंने हिन्दी और उर्दू के मीडिल और एडवांस कर लिए हैं, पिताजी की सिगरेटें चुराकर पीने और छिपकर कोकशास्त्र पढ़ने या 'कौतुकरत्न भंडागार' से तरह-तरह के मन्त्र और सिद्धियाँ पाकर विलक्षण कर दिखाने का जमाना बीत गया है।

अगली पढ़ाई के लिए झाँसी। मवानावाले चाचाजी इन दिनों यही हैं, झोंखनबाग में। वहाँ वह सब कस्बाई जंगलीपन नहीं है, सब कुछ कायदे का है। साफ कपड़े, पढ़ने-खाने, सोने के समय, तहजीब-तमीज और चाचाजी की पूजा-पाठी, लेकिन परम हस्तक्षेपकारी दिनचर्या। परांठों की पुंगी बनाकर रजाई में घुस जाने और खाते-पीते सो जाने का कोई सवाल ही नहीं। मुझे वहाँ का सारा अनुशासन अंग्रेजों का नकल लगता है और अपना तौर-तरीका राष्ट्रीय। बहसें होती हैं और मैं अपने आपको राष्ट्रीय बनाता चला जाता हूँ। पड़ोसी वकील साहब, सुधीन्द्र वर्मा के पितामह झाँसी की रानी से सम्बन्धित रहे हैं और इस पारिवारिक सामग्री पर वे एक उपन्यास लिखना चाहते हैं। कभी 'सुधा' के सहायक सम्पादक थे, इसलिए सुधा-माधुरी की सारी फाइलें; प्रेमचंद, प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, देवीप्रसाद धवन 'विकल', कौशिक इत्यादि की सारी रचनाएँ वहाँ हैं। शायद श्रीमती वर्मा की छोटी बहन ने दुलारेलाल भार्गव से विवाह किया है, इसलिए गंगा-पुस्तक माला की सारी पुस्तकें हैं। उधर 'स्वतन्त्र' के सम्पादक, श्यामप्रकाश दीक्षित, जीजाजी के सहपाठी और क्रान्तिकारी कार्यों के सहयोगी, शरत्चन्द्र के भक्त हैं। गांधीवादी साहित्य से लेकर 'गांधीवाद की शव-परीक्षा' सभी कुछ चाव से पढ़ते हैं। मानसिक रूप से इस दुनिया में रहनेवाला मैं, कोठी के आधे हिस्से में रहनेवाले सी. आई. डी. इंस्पेक्टर शर्मा को अपना जानी दुश्मन मानता हूँ। क्रान्तिकारियों पर दो-एक कहानियाँ लिखी हैं। मगर छपी नहीं हैं। आजाद-हिन्द-फौज के जुलुसों में शरीक होना अपनी निगाह में बहुत-बहुत महत्त्वपूर्ण बना देता है।

कॉलेज में पढ़ने के लिए आगरा कॉलेज। उससे भी पहले विशारद-साहित्य-रत्न के लिए नागरी-प्रचारणी-सभा। बेहद ही हलचल के दिन हैं लालकिले में सहगल ढिल्लो शाहनवाज पर मुकदमा चल रहा है। बम्बई के नाविकों ने विद्रोह कर दिया है। जयप्रकाश नारायण और अरुणा आसफ अली की विशाल मीटिंग होती है। झाँसी और फिर आगरा में दो सामाजिक उपन्यास लिख डाले हैं। मूलतः वे किशोर भावुकता के रोमानी उपन्यास हैं। शायद उन दिनों मेरी पीढ़ी के सभी लेखक 'गुनाहों के देवता' ही लिख रहे थे। कहानियाँ शुरू होती हैं और पहली कहानी छपती है अपने-अपने ढंग से, 'चाँद' के भूतपूर्व सम्पादक रामरख सिंह सहगल के 'कर्मयोगी' में 'प्रतिहिंसा' शायद मई, 1947 में। इससे पहले 'जागरण' 'सैनिक' के विशेषांकों में कुछ छपा हो तो छपा हो। फिर 'हंस' में गुलदस्ता और अप्सरा...आगरा में उन दिनों अनेक तरह की गतिविधियाँ हैं। सबसे प्रमुख है, प्रगतिशील लेखक संघ। डॉ. रामविलास शर्मा और रांगेय राघव के बीच केवल औपचारिक सम्बन्ध हैं। पढ़ाई-लिखाई का एकेडेमिक वातावरण रामविलास शर्मा की ओर है, उन्मुक्त और रचनात्मक रांगेय राघव की ओर। उदीयमान युवक सबसे पहले पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के आसपास होने हैं, और दोनों से भी सम्पर्क रखना चाहते हैं, शायद इसीलिए कमलेश से अलगाव की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। घनश्याम अस्थाना, प्रकाश दीक्षित, राजनाथ, राजेन्द्र शर्मा, मैं, कुलदीप सभी अपने-अपने ढंग से लिख रहे हैं। राजेन्द्र रघुवंशी अपने इप्टा का झंडा बुलन्द किए हैं। हर समय साहित्य, नाटक, राजनीति और पढ़ाई-लिखाई या कमलेशजी की आत्म-संवर्धक संघर्ष की कहानियों का माहौल है। कभी राहुल जी आ रहे हैं, कभी भगवतशरण उपाध्याय। अमृतलाल नागर के तो ससुराल और ननिहाल दोनों ही गोकुलपुर में हैं। बाद में जब रामविलास शर्मा के पंत, राहुल, रांगेय राघव, शिवदान सिंह चौहान—सभी को ध्वस्त करते हुए विध्वंसक लेख आने शुरू हुए तो आगरा जैसे सारे साहित्य का गढ़ हो उठा। उस समय बड़ी उत्तेजना लगती थी और तब कोई अनुमान नहीं था कि यह सिलसिला आगरा को न जाने कब तक के लिए बंजर बनाकर रख देगा। पिछले चालीस वर्षों से किसी भी साहित्यिक नक्शे में आगरा कहीं नहीं है, सिर्फ मसान-साधक की तरह रामविलास शर्मा की तपस्या चल रही है। बाद में वे भी वहाँ से दिल्ली आ गए।

सन् 1950 के आसपास आगरा में ही मेरा एक संग्रह आया, 'रेखाएँ, लहरें और परछाइयाँ'। रांगेय राघव ने कवर बनाया था। दूसरा संग्रह आया 'देवताओं की मूर्तियाँ' बीकानेर से। वहाँ से चम्पालाल रांका, लक्ष्मीकान्त शर्मा और चन्द्र ने 'नई चेतना' निकाली थी और उसे शिवदान सिंह चौहान का आशीर्वाद प्राप्त था। उस समय का खौलता हुआ वातावरण आज भी याद करने की चीज है, जब हर दिन कुछ-न-कुछ लिखने की स्फूर्ति लगातार मन में बनी रहती थी। विभाजन और 'यह आजादी झूठी है' का दौर भी उर्दू-हिन्दी को प्रभावित कर रहा था। इलाहाबाद, बनारस, आगरा, लखनऊ, बम्बई, दिल्ली सभी जैसे उद्वेलनों के केन्द्र थे।

हम राजामंडी बाजार में पुरानी हवेली में रहे थे। बाद में यहीं बासु ने 'सारा आकाश' की शूटिंग की। उन दिनों हमारे यहाँ बिजली नहीं थी। सारी रात लालटेन

के पास चिपका मैं कहानी लिखता रहता था, कभी-कभी पास सोए मित्र को देख लेता। नीचे की मंजिल का गलीवाला कमरा था। राजेन्द्र (डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा) ने सोते समय कहा था कि अगर आँख खुल जाए तो चार बजे जगा दूँ। गली की बदबू, सूअरों की धमा-चौकड़ी, कुत्तों का रोना, ट्रेन की सीटियाँ और फिर पास आकर गुजर जाना। कभी किसी का बातें करते हुए निकलना...चप्पलों की फटफटाहट और कहानी में डूबा हुआ मैं...खत्म करके घड़ी देखी, चार बजे थे। चिमनी काली हो गई थी और शरीर थकान से टूट रहा था। राजेन्द्र को जगाकर मैं सो गया। दो दिन बाद शायद भाषा-विज्ञान का पेपर था। वह कहानी थी, 'खेल-खिलौने'।

आज लगता है, कहानी बहुत भावुकता के साथ लिखी गई है, और बात को ढंग से कहने के शिल्प के अलावा उसमें बहुत कम नया है; मगर मेरे लिए नया था वह दर्द, जिसे लिखते हुए मैंने खोजा और मूर्त्त किया था। उसी कहानी ने मुझे कहानी-क्षेत्र में मान्यता दिलाई थी और उसी ने जीवन में...स्वीकृति का एक अनकहा मधुर आश्वासन दिया था। कहानी पीछे छूट गई है, लेकिन उसे लिखते समय जिन बिम्बों में मैं जिया था, वे अभी तक याद हैं...शायद सबसे अधिक याद है वह अँधेरा कमरा, पास सोया मित्र और बदबूदार संकरी गली, जिसके फर्श से ऊँचा मेरा कमरा था और कभी-कभी नाक पर रूमाल रखना पड़ता था, और आसपास की वीभत्स आवाजें उबकाई पैदा करती थीं...इस सबके बीच कुछ सुन्दर सिरजने की नाजुक-सी खुशी।

उन्हीं दिनों 'प्रेत बोलते हैं' (बाद में सारा आकाश) के माध्यम से हुई मित्रता ने मुझे कुछ इतना छा लिया था कि सारे दिन खुशबूदार कीमती लिफाफों की राह देखता रहता था, उन्हें ही पढ़ता और जीता था। विश्वास और अविश्वास के बीच में रहने ने, कल्पना-शक्ति को अद्भुत तीव्रता दे दी थी...जो पत्र लिखता है वह कैसा है? कहीं कोई बना तो नहीं रहा? तब सारी दुनिया बारिश-भीग खिड़की के शीशे के पार चली गई थी, और उसे मैं, 'उखड़े हुए लोग' के पन्नों में पकड़े रहना चाहता था। अब हम लोग अपने नए घर में आ गए थे।

नया-नया कलकत्ता आया तो यादें थीं और अनदेखे हाथों के अपनत्व-भरे पत्रों का चलता सिलसिला था। एक निराकार-सी छाप मन में कौंधती थी। आगरे की गर्मी के दिन थे। 'सैनिक' में काम करनेवाले विश्वनाथ भटेले और श्रीराम वर्मा (अब अमरकान्त) से नई-नई दोस्ती हुई थी। दयालबाग के रास्ते की छोटी-सी पुलिया पर बैठकर भटेले ने आगरे की दो बहनों का किस्सा सुनाया था, और मैं नीचे गड्ढे के पानी में चाँद को ताकता रहा था। वही छोटे-से पानी के टुकड़े में जड़ा मेरी चेतना में कैद चाँद, डायमंड हर्बर, कलकत्ता के कमरे में, रात-रात-भर मेरे सामने चमकता रहता था। सोता था तो ठीक आँखों के सामने बाल्कनी के पार स्कूल के पेड़ों के पीछे की बत्ती चाँद का भ्रम देती रहती और कृष्णाचार्य पंखे का कान उमेठते रहते ...सारे दिन कलकत्ते में भटकने के बाद तीन कहानियाँ लिख डालीं—रात-रात भर जागकर, 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और शायद 'त्याग

और मुस्कान'। आगरे से लिखकर लाए गए 'उखड़े हुए लोग' का रिवीजन हो रहा था, और 'शह और मात' की अनजान तैयारियाँ। दिमाग में कुलबुला रही थीं, 'कुलटा'। नारी की विवशता की इन सारी कहानियों में उन पात्रों में छाई निराशा और अवसाद भी शामिल हुए थे या नहीं, यह आज बता पाना मुश्किल है। लेकिन लिखी वे इसलिए गई थी कि बता सकूँ...कलकत्ते ने मुझे खाया नहीं है। बदबू और गन्दगी से घिरे हुए भी 'सुन्दर' की डोर हाथ से छूटी नहीं है। उन्हीं दिनों अपनी वर्ष-गाँठ पर पत्र के रूप में एक कहानी लिखकर भेज दी, 'अभिमन्यु की आत्महत्या'। कुछ अजीब से आत्मविश्वास और आत्मदया, अकेलेपन और आत्मलीनता में सब कुछ गुजर रहा था—आसपास और अपने भीतर...भीतर थी एक जिन्दगी बहुत समृद्ध, बहुत मधुर, निरन्तर बहती धारा की तरह...बाजरे के हरियाले खेतों की गीली मिट्टी पर बैठे हुए, सामने के दूसरे किनारे की ऊँचाई को उलटे पेड़ों की कतार के साथ धारा की आधी चौड़ाई तक आते हुए देखना...लगता था, जैसे सभी कुछ धीरे सरकता चला जा रहा है...मैं देख रहा हूँ और मेरे साथ कई 'मैं' देख रहे हैं...बहुत भरा-पूरा और नाटकीय लगता था यों कई-कई 'मैं' के साथ रहना...लाटरी खुल जाने के रहस्य को अपने भीतर ही समेटे घूमना...

कहीं रहो, आगरा खींचता था—गन्दा, संकरा, ठहरा और गतिहीन। आज भी खींचता है। इसी को शायद मिट्टी का खिंचाव कहते हों। जब-जब राकेश मिलता था, एक ही जिद, 'तू दिल्ली आ जाए तो मैं भी इधर आने की योजना बनाऊँ...।'

साल-भर के लिए दिल्ली आया तो वे सारे 'मैं' आपस में लड़ने लगे थे, एक-दूसरे को दोषी मानने लगे थे...आपस में काटती गूँजोंवाला ताजमहल टुकड़ों में बिखर गया था, और फुल पंखे के नीचे भी कुहनियों-तले तौलिया रखे, बाँहों का पसीना पोंछता मैं 'छोटे-छोटे ताजमहल' लिख रहा था, 'खेल' और 'मजाक' लिख रहा था, 'नए-नए आनेवाले' लिख रहा था। अक्सर ही कलकत्ते के दिनों की एक और कहानी 'नौकरी' लिखने की बात तय करता और दूसरी ही कहानी लिख डालता। वह कहानी आज तक नहीं लिखी गई और कर्ज की तरह आत्मा पर लदी हुई है। साहब की शादी हुई तो नौकरानी यह कहकर गाँव चली गई—'हम ही क्या बुरे थे?' हक माँगनेवाली उस औरत की दृढ़ता और दीप्ति से मेरे साथ रहनेवाले मित्र डर गए थे—सोसायटी में कहाँ उठाएँगे-बैठाएँगे?...उधर एक और दृढ़ता और दीप्ति मुझे भी खींच और झटक रही थी...और एक बार मैं फिर से पुराने को रिवाइज कर रहा था, यानी 'प्रेत बोलते हैं' का 'सारा आकाश' कर रहा था। लेकिन पाया कि बदला कुछ नहीं है, न केवल लगाव—न वह रचना—सिर्फ इधर-उधर से रिटच करके मैंने नाम बदल दिया है।

कहानी सबसे पहले मेरे लिए याद थी, जुड़े हुए सूत्रों के स्रोत की खोज और पुनरवलोकन थी...फिर 'सम्बोधन' होने लगी, फिर क्रमशः संवाद...दिल्ली से कलकत्ता वापस आकर पाया कि मैं सिर्फ 'किनारे से किनारे' के बीच भटक रहा हूँ। घर बन गया है, फिर भी लगता है जैसे मैं घर के लिए नहीं बना हूँ।

'प्रतीक्षा' और 'लौटते हुए' उन्हीं दिनों लिखी गईं। स्मृतियों के साथ-साथ अपने

परिवेश को समझने, आसपास ही सन्दर्भ खोजने की कोशिश उन कहानियों में आज साफ दिखाई देती है—अतीत की ओर लौटने की नहीं, वर्तमान पर ठहरने की; जलती हुई तात्कालिकता को स्वीकार करने की झिझकती-सी हिम्मत। 'सम्बन्ध' जैसी कहानियों में आतंकप्रद, असलियत को अपने लिए पाना ही प्रमुख रहा है—हो सकता है, 'मरनेवाले का नाम' इसी सच्चाई की तस्दीक करनेवाली कहानी हो और 'भविष्यवक्ता' में केवल अदृश्य की आशंका ही मूर्त हुई हो। या 'टूटना' अपनी बाहरी उपलब्धियों के भीतर रेंगती निरर्थकता की स्वीकृति...अपने भीतर चलती वितृष्णा और हीन-भावना को रचनात्मक स्तर तक लाने का आश्वासन, एक पुनर्मूल्यांकन ही चाहता रहा हो।

अपने-आपको संक्रमित करने, 'अनदेखे अनजाने पुल' की निन्नी के माध्यम से अपने को पार करने की इस प्रक्रिया में कहीं आत्म-दया और आसपास के प्रति विक्षोभ है, (अतीत के आसपास मँडराता भविष्य) कहीं अपने को नए आदमी की बौनी निगाह से जाँचने-तौलने की यातनाप्रद पड़ताल (मेहमान) या अपनी खोई हुई अस्मिता (आइडेंटिटी) की तलाश (अनुपस्थित सम्बोधन)। बहरहाल, यह एहसास तो है ही कि कहीं—कुछ टूट-टूटकर बिखर गया है, लेकिन सभी कुछ टुकड़े-टुकड़े होकर भी जिन्दा है। (एक कटी हुई कहानी)

शायद यह तलाश कई और स्तरों पर उतरती या विकास की किन्हीं और मंजिलों तक ले जाती। तभी आ गया 'अक्षर'—यानी शब्दों के अर्थ अचानक खो गए और अर्थ के शब्द की लाश पर चीलों की तरह मँडराने लगे। भोजन बनने और बनाए जाने की स्थिति के खिलाफ विद्रोह। लगावों और सम्बन्धों को मोहरा बनाकर करवटें बदलनेवालों की शतरंजी मुद्राएँ। शहीदाना अन्दाज, लेकिन भावना पर स्वार्थों की तरजीह। विरोध और विद्रोह के मुहावरों के नीचे जोड़-तोड़, सौदे और पुरस्कार। भीतर को स्थगित करके बाहर की दुनिया के सीधे संघर्ष में पाया कि जो दीखता है, कहा जाता है उसका कोई अर्थ नहीं है। शब्दों और व्यवहार के पीछे के आशय ही असली होते हैं। तब क्या असलियत को पकड़ने का सीधा रास्ता यही नहीं कि दिखाने वाली वास्तविकता के पार मन्तव्यों की वास्तविकता को पकड़ा जाए? इस 'ढोल' के भीतर घुटते और सिसकते आदमी तक पहुँचा जाए? 'गुलाम' और 'सिंहवाहिनी' जैसी कहानियों का सही समय है, क्योंकि तब फैंटेसी या रूपक-कथाओं के माध्यम से ही, अपने से ही अपने कथ्य को तलाश करने की इच्छा होने लगी थी...दस-पन्द्रह साल पहले पढ़े काफ्का से लड़ते और बचते हुए...

और अब लम्बे पड़ाव की तैयारियों जैसी मानसिकता अपने भीतर पाता हूँ। भीतर की चुप्पी के आतंक में निरन्तर लिखते चले जाने की दयनीयता की बजाय मैंने अन्तर्समृद्ध मौन को स्वीकार किया है, यह बहुत लोगों को समझा नहीं पाता। रचना-यात्रा में रुकना हमेशा ही चुकने का पर्याय नहीं होता। 'वहाँ तक पहुँचने की दौड़' (जिसे कमलेश्वर ने 'गर्दिश के दिनों' में छापा है) अपने आपको स्थगित करने की, यानी फरार और अंडरग्राउंड जीवन की आन्तरिक सुरंगों की लम्बी कहानी है और उसमें एक वाक्य है, 'चौबीस घंटे बाप-बाप कहने से ही आदमी बाप नहीं होता, उस

समय भी बाप होता है जब ऊपर से बिल्कुल वैसा नहीं दीखता।' यानी लेखक होना बाप होने जैसे प्राकृतिक और मज्जागत अवस्था में होना है तो हर समय उसकी मुनादी या उसे 'प्रमाणित' करते जाना उसे छोटा बनाना है...इन सारे वर्षों में शायद ही कोई दिन रहा हो जब मैंने अपने और दूसरों के बहाने इस लेखक के साथ दो-चार घंटे न बिताए हों...

यह समय उस सबकी समीक्षा का है। इसलिए ज्यादा समीक्षा और विवेचना ही लिखी है।

कुछ लेखकों को अपनी पुरानी और प्रारम्भिक रचनाएँ दोबारा पढ़ने में सुख मिलता है। वे बार-बार वहाँ से 'आश्वासन' निचोड़ते हैं। उन्हीं को सजाने-सँवारने या फिर से लिखने की प्रेरणा होती है। मुझे पुरानी कहानियाँ फिर देखना मुसीबत लगती है। भरसक बचता हूँ। बरसों से टाल रहा था। आखिर हिम्मत करके देखना शुरू किया। जैसे कोई पच्चीस-तीस वर्ष की लड़की अपनी उस तस्वीर को न फेंक सकती है, न खुलेपन से दिखा पाती है जब वह दो-तीन वर्ष की थी और तस्वीर में एकदम नंगी खड़ी थी।

पता नहीं, कैसी होंगी वे कहानियाँ उनकी भाषा, उनकी थीम? आज उन्हें अपना कहते शर्म महसूस होगी या नहीं? हिम्मत हो पाएगी यह कहने की कि यह मैं हूँ और आज जहाँ आ गया हूँ उस यात्रा का प्रारम्भ इन कच्चे अनगढ़ कदमों से हुआ था? उनके पास जाना एक घने जंगल में जाना है, जहाँ आप प्रकृति के सहज रूप के बीच तो होते हैं, मगर साथ ही जंगल का घनापन, अँधेरा भी डरा रहा होता है; आशंका होती है कि जब जंगल के बाहर निकालेंगे तो क्या वहीं रह जाएँगे, जो पहले थे?

लेकिन मेरा यह जंगल, बहुत परिचित जंगल है। इसमें वापस जाना रोमांचक भी है और आत्मज्ञान भी। अच्छा, यह नाला क्या इतना-सा ही है? यह पेड़ उस समय कैसा बड़ा और भयानक लगता था? यहाँ से देखने पर यह रास्ता उस दिन कितना स्वप्निल और रोमानी लगा था! अरे, यह तो इतनी जल्दी खत्म भी हो गया, तब तो ऐसा लगा था जैसे कभी इसका अन्त ही नहीं होगा, पता नहीं कहाँ भूलकर भटक जाएँ। छोड़ो, यह तो कुछ भी नहीं, आम जंगलों जैसा साधारण जंगल है। वे लोग जो उस समय साथ थे, जिनके साथ भय, आतंक, रोमांच और आनन्द में हिस्सेदारी की थी, अब कहाँ होंगे? कैसे हो गए होंगे...? कहीं एक चेहरा, कहीं एक वाक्य, कहीं एक याद, कहीं एक स्थिति—झलक दिखाकर गायब...जंगल दुहरे-तिहरे स्तरों पर अनुभव में उतरने लगता है। उसी भ्रम में अपने-आपको देखते जाना, और आज उस भ्रम के स्तर-स्तर टूटते जाने को महसूस करना...शायद यह उस जादू के टूट जाने के डर से कतराने की वृत्ति ही रही होगी कि जंगल के पास जाते, उधर देखते भी डर होता है। आज जैसा कुछ है, उसके वैसा होने पर विस्मय होता है।

पुरानी कहानियों को दोबारा पढ़ते हुए मैं इन सब बारीक जटिलताओं से गुजरा हूँ, कच्चेपन पर शर्म भी आई है, 'कैसे किसी को दिखा पाऊँगा?' का संकोच भी हुआ है और 'तब भी क्या मैं इतनी बातें समझता था, ऐसा कुछ लिख लेता था?'

का गर्व भी हुआ है। किसी दूसरे की ऐसी रचनाएँ पढ़ता तो क्या इतनी ही 'छूटें' दे सकता था जो अपने को दिए चला जा रहा हूँ? यह कहानी किन स्थितियों में कहाँ लिखी थी? कौन था तब मन में, आसपास कौन-कौन से लेखक थे, जो भाषा शब्दों और ट्रीटमेंट में से झाँक रहे थे? छपी थी तो किसने क्या प्रतिक्रिया की थी? यह चरित्र क्या सचमुच इतने गहरे मन में बैठ गया था? तब कि वास्तविक मनःस्थिति और कहानियों में दिए गए विवरणों में कितनी दूरी है? इस कहानी को आज लिखें तो इसका स्वरूप क्या हो जाएगा? आज बरसों कोई अनुभव इतना बेचैन क्यों नहीं करता कि कलम लेकर बैठ जाऊँ? तब क्या था जो प्रायः हर रोज, कभी कहानियाँ, कभी यात्रा-विवरण तो कभी उपन्यास लिखता था? कितनी सर्जनात्मकता थी उन दिनों ...लेखन के वे आदर्श आज कहाँ छूट गए हैं पीछे? कहाँ चली गई वह प्रकाशित होने की पुलक?

मैं ही तो अकेला नहीं हूँ। सभी तो ऐसे ही डगमगाते कदमों से चलना सीखे हैं, सभी तो वचपन में नंगे, दुबले, हास्यास्पद और हीनता के मारे रहे हैं। फिर मुझमें ही ऐसा क्या कुछ विशेष रहा है जिसे लेकर शर्म, संकोच या छिपाव महसूस किया जाए? आज भी पाठकों को जानकर कुछ आश्वासन ही मिलेगा कि सभी जन्मजात, सिद्ध संगीतज्ञ नहीं होते। न जाने कितने सीधे-उलटे, कच्चे-पक्के रागों की भूल-भूलैया में भटककर रास्ते तलाशे गए हैं; रियाजों और अभ्यासों के बाद विश्वास आया है। यह निहायत, सामान्य और सब-जैसा होने का भरोसा ही अपने कच्चेपन को सामने लाने की हिम्मत देता है।

कितनी अच्छी हैं वे कलाएँ जिनके रियाज साथ-साथ ही समाप्त होते जाते हैं! संगीत में बरसों आप 'सा-रे-ग-मा' कहते रहिए, सभी कुछ साफ होता जाता है। जब कला सध जाती है तभी उसे रिकॉर्ड करने की बात सोची जाती है या श्रोताओं के सामने प्रस्तुत किया जाता है। लिखने का पहला रियाज ही आपके सामने है; उसे बचाए रखने का मोह बना रहता है। साथ ही रहती है छपवाने-सुनाने की बेचैनी। 'वह तो मेरा अभ्यास था' कहकर आप पिछले को नष्ट नहीं कर पाते। अपने विवेक के सिवा कोई कसौटी नहीं है जो यह बताए कि यहाँ तक का लिखा अभ्यास था, इसके बाद का वास्तविक! जिन आधारों पर आज मैं बड़ों की रचनाएँ पसन्द करता हूँ या बड़ों-वड़ों की रचनाएँ सामान्य कहकर नकार देता हूँ? कड़ाई और तटस्थता से वही निकप इस्तेमाल करूँ, तो आज तक के लिखे को मुझे जला देना चाहिए। मगर मेरे पास तर्क है; कला भीतर से स्फुरित होती है, वह श्रम और स्फुरण का संगम है। भीतर की यह प्रेरणा पता नहीं कब, किस क्षण आपको 'महान रचना' का माध्यम वना ले। इस क्षेत्र में अभ्यास कुछ भी नहीं है या फिर जिन्दगी-भर सिर्फ अभ्यास ही है। न यहाँ कोई रास्ता है न कोई मंजिल—सिर्फ चलते चले जाने की क्षमता या थककर गिर जाने की नियति है...जिन रचनाओं को अपने पक जाने पर मैं सन्तोपजनक मानता हूँ, वे कल उतनी ही अधकचरी लगेंगी। पहली रचनाएँ जब लिखी गई थीं, जब प्रकाशित हुई थीं, जिनके कारण प्रशंसाएँ और बधाइयाँ मिली थी, 'विशिष्ट' और

सम्मानित होने का गौरव मिला था, तब क्या कम सन्तोष मिला था? जिन्दगी क्या कम सार्थक महसूस हुई थी?

लेकिन झाँसी आने तक की रचनाएँ मैंने नष्ट कर दी हैं—यानी सन् 1945-46 तक की। दोहे-सवैए थे, अपने ढंग से कवित्तों में लिखी सत्यनारायण की कथा थी, बेवकूफाना शायरियाँ थीं और तिलिस्मी उपन्यासों के हजार-डेढ़ हजार पन्ने थे, 'देवगिरि' के किले की जटिल दुर्जेयता की गौरवगाथा। मेरे नाना का परिवार महाराष्ट्रियन था और अमरावती-यवतमाल से, माँ के विवाह के बाद ही अशोक नगर (मध्य प्रदेश) आया था। नानाजी घनघोर साहित्यिक पत्र लिखते थे; मराठी से अनुवाद करते थे और कर्मठ समाजसुधारक, आर्यसमाजी कार्यकर्ता थे; पुस्तकालय चलाते थे। माँ जब आई तो हिन्दी नहीं बोल पाती थी। 'चन्द्रकान्ता' जैसे-तैसे पढ़नी शुरू की और पढ़ती ही चली गईं। पिताजी इतने मुखर राष्ट्रवादी नहीं थे—मान्यताओं में प्रायः आर्य-समाज के निकट। दोनों के सम्बन्ध न बराबरी के थे, न मधुर। माँ, पति के गुस्से से डरनेवाली साधारण गृहिणी थीं। पर्दा भी था। बहरहाल, दोनों पढ़ने के शौकीन—कभी 'बन्दी जीवन' कभी 'भारत में अंग्रेजी राज' कभी चाँद का फाँसी अंक, मारवाड़ी अंक। क्रान्तिकारियों के लिए माँ के मन में एक भावुक श्रद्धा! और जब्त किताबों के लिए जबर्दस्त खिंचाव।

'देवगिरि' उपन्यास लिखने में मुझे सभी कुछ एक साथ मिल गया था—नाना-नानी की धरती की पुकार, यादवों के कीर्तिस्तम्भ 'देवगिरि' की शौर्य और गौरव से भरी कहानियाँ और विदेशियों या तुगलकों से लोहा लेने की रोमांचक गाथा। लेकिन शीघ्र ही मुझे लग गया कि दूसरी 'चन्द्रकान्ता' लिखना मेरे बस का नहीं है। सम्भव-असम्भव की काल्पनिक कहानियाँ बेहद बचकानी हैं। बेटे-बेटियों के बड़े हो जाने पर भी पालने और झुनझुने संभालकर रखनेवाले बाप की तरह मैंने उसे सन्दूक में रखा और अपने समय की आवाज को समझने की कोशिश की...

सन् 1942 हो चुका था, नाविक विद्रोह, आजाद हिन्द फौज ताजा थे और सारा देश सागर-मन्थन के आलोड़न से गुजर रहा था। मन में प्यार की भूख उगने लगी थी। रोमांस और राष्ट्रीयता तो पहले से ही थे। सभी कुछ स्वप्निल था। साल-डेढ़ साल बाद जब झाँसी से आगरा आया तो—तीन-तीन सौ पन्नों के दो उपन्यास और कुछ क्रान्तिकारी जीवन की कहानियाँ साथ थीं। कविताएँ भी रही होंगी। सब मिलाकर एकान्त का अभ्यास या गुसलखाने के गुनगुनाने...जैसा ही था।

बहुत बार सोचा, 1950-51 से पहले की लिखी सारी रचनाएँ, डायरियाँ, तस्वीरें भी बिल्कुल उसी तरह नष्ट कर दी जाएँ, जैसे कवित्त-सवैए या तिलिस्मी उपन्यास किए हैं। इन बचकानी रूमानी कहानियों से क्यों इतना मोह रखा जाए? 1950 में छपा कहानी-संग्रह 'रेखाएँ, लहरें और परछाइयाँ' क्या किसी को दिखाने लायक है? मगर नहीं कर पाया...हर बार लगता, कुछ तो है जो इतना बेकार नहीं है। कम-से-कम आज जो शक्ल बन गई है उसकी कुछ धुँधली-सी रेखाएँ तो वहाँ झलकती ही लगती हैं। कितने लोगों ने इस उम्र में ऐसी भी रचनाएँ लिखी हैं? अज्ञेय और यशपाल ने

तो काफी समझदार होने पर लिखना शुरू किया—इसलिए उन जैसी सँवार मैं कहाँ से ला सकूँगा? उनके अनुभवों और समझ ने उन्हें जो सधाव और दृष्टि, पहली रचनाओं में ही दे दी है, वह मेरे पास उम्र और अभ्यास से ही आएगी। यही काफी है कि मैं अपने आसपास और अपनी भावुक अनुभूतियों को ही केन्द्र में बनाए रखूँ ...या यह भी हो सकता है कि वे मुझसे भी अधिक निर्मम रहे हों, और उन्होंने सब रचनाएँ ठिकाने लगा दी हों।

शायद तभी से कहानियाँ दो तरह की हो गईं—मुझसे जुड़े तत्काल आसपास की और मेरे भीतर, यानी मेरे अपने किशोर सपनों, कल्पनाओं और मानसिकता की। 1951-52 यानी, 'सारा आकाश' तक की रचनाओं को देखने पर लगता है कि मैं भीतर और बाहर सामन्तवादी संस्कारों, मूल्यों, मान्यताओं और आचार-संहिता से ही लड़ रहा था और इस प्रयास में विना अपनी जमीन छोड़े, ज्यादा यथार्थवादी और प्रामाणिक होने की कोशिश कर रहा था। सामन्तवादी प्रवृत्तियों से मुक्त होने की परीक्षाओं और प्रक्रियाओं से गुजरे बिना ही हमारा समाज अचानक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से 'मुक्त' हो गया था और हमारे पास भारतीयता के नाम पर रह गया था सड़ा-गला पुनरुत्थानवाद। नए युग की टकराहट स्तर-स्तर पर उसी से थी।

मेरे लिए यह वह समय था जब आपसी लड़ाई-झगड़े, टुच्ची मतलवपरस्ती के साथ परिवार का अर्थ, भावनात्मक स्तर पर सभी से जुड़े होना था, मेले-त्यौहारों के लिए सचमुच उत्साह था। दशहरे की रामलीलाएँ, टेसू के गीत, राम की बारात या कृष्ण-जन्माष्टमी की झाँकियाँ वड़ी सूझ-बूझ और कल्पना के साथ वनाई जाती थीं, दीवाली की प्रतीक्षा की जाती थी, होली की तैयारियाँ होती थीं, या भाई आते थे। राखी आगे चलकर 'पाप-बोध' का सबसे बड़ा कारण होती थी। सगी-चचेरी और अड़ोस-पड़ोस की लड़कियाँ, महिलाएँ, बहनें, चाचियाँ थीं। किशोर-किशोरियों के मिलने, लड़ने-झगड़ने और प्रेम करने के भी ये ही क्षेत्र थे। जिसे बहन कहते थे वह क्रमशः भावना और भावुकता का केन्द्र वनने लगती थी। उसे न दोस्त कह सकने की सुविधा थी, न प्रेमिका कहने का साहस। लेकिन सम्बन्धों का स्वरूप यहीं कुछ बन जाता था। वह मन और प्राणों से प्यारी हो जाती थी। अजीब प्लेटोनिक और उलझा रिश्ता था, जहाँ बहन के छोटे कपड़े प्रेमिका के शरीर पर ओछे पड़ने लगते थे। सम्पूर्णता से उसे वहन न मान पाने का पाप-बोध भी आत्मा को कचोटता था और प्रेमिका के इतने निकट बने होने का गोपन रोमांच भी तन-मन को पुलकित किए रखता था—जिसे न युवक अपने आपसे स्वीकार करता था, न युवती...यह उलझी और जटिल स्थिति अक्सर ही युवक-युवतियों के बीच बेहद आत्मघाती नैतिक संकट को जन्म देती थी। हममें जो बुद्धिवादी थे, वे प्यार और वासना की बहस में रातें गुजार देते थे। प्यार पवित्र है और वासना, निन्दनीय; प्यार भगवान है, और वासना शैतान। इसी द्वन्द्व में 'चित्रलेखा' जैसे उपन्यासों के माध्यम से पाप-पुण्य की समस्याएँ तय होती थीं, इसी पापबोध से लड़के घर छोड़कर भागते थे और लड़कियाँ आत्महत्याएँ करती थीं। शरीर का पहला परिचय भी यही मिलता था।

चूँकि यह 'प्यार' बहुत स्पष्ट, बेबाक और साहसी नहीं था, इसलिए दोनों ही पक्ष जानते थे कि 'जीवन भर प्यार करने' के चाहे कितने ही आश्वासन दिए जाएँ, साथ निभाया नहीं जा सकेगा। बाकायदा दान-दहेज के साथ एक दिन लड़की की शादी होगी या वह किसी ऐसे व्यक्ति से जुड़ेगी जिसे खुलकर, वर्जनाहीन ढंग से अपना प्रेमी या पति मान सके...('एक कमजोर लड़की' कहानी का प्रारम्भ) यानी इन भाई साहब को तो हर हालत में 'विश्वासघात' और 'प्रेम में निराशा' ही मिलनी थी। 'एक लड़की की जिन्दगी खत्म हो गई और वे सिर्फ देखते रहे' का अपराध-बोध इन्हें अनेक आत्मिक और मानसिक स्तरों पर तोड़ देता था। बहुत ही कम स्थितियों में ये 'भाई-बहन' या दीदी-दादा प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी बन पाए हैं—वह भी अपने परिवार और परिवेश से अलग होकर ही। किसी की वह कहानी मुझे अभी तक याद है जहाँ चचेरे भाई-बहन ऐसे ही परिवेश में प्रेमी-प्रेमिका हुए, फिर भागकर दूसरी जगह पति-पत्नी बन गए। मगर शीघ्र ही लड़की अहिल्या (फ्रिजिड) हो गई और युवक नपुंसक...गलत और अनैतिक करने का अपराध-बोध आपसी सम्बन्धों को ही खा गया।

सीधे-सीधे ये सम्बन्ध अनैतिक और अस्वीकार्य लगते थे, इसलिए अक्सर बीच में कोई आदर्श लाया जाता था। ज्यादा प्रबुद्ध परिवारों में यह आदर्श देश की स्वतन्त्रता का था, दूसरी जगहों पर सिर्फ लड़की की शिक्षा-दीक्षा और व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास का। लड़की का क्षेत्र चूँकि अभी भी परिवार के अन्दर ही था। इसलिए उसे 'जगाने' का उत्तरदायित्व इन्हीं 'भाई साहब' का होता था, क्योंकि वे ही बाहरी दुनिया के सीधे सम्पर्क में थे। 'हमें कौन-सा लड़की को पढ़ा-लिखाकर नौकरी करानी है?' के माँ-बापी मोर्चे का जवाब भी इन्हीं साहब को देना होता था शायद कहीं अनजाने स्त्री-जागरण के माध्यम से प्रबुद्ध युवक, अपनी साथिन को अपने योग्य और बराबर बना रहा था। आदर्श, प्यार, सेक्स, भ्रातृत्व और गुरुत्व का यह अजीब धूप-छाँही घपला था। मगर यह लड़की आधे रास्ते ही हथियार डाल देती थी और सामन्ती नैतिक व्यवस्था में वापस निगली जाती थी—यानी अपनी परम्परागत सुरक्षाओं में ही लौट जाती थी। हताश और प्रवंचित युवक सिर्फ खड़ा देखता रह जाता था, या वृहत्तर दुनिया के संघर्षों में आत्महत्या के भाव से जा कूदता था।

1952-53 तक की मेरी कहानियाँ प्रायः इसी कथ्य के आसपास बुनी गई हैं—'कमजोर लड़की की कहानी' तक इनमें व्यक्तिगत अनुभवों के अलावा पहले के सारे लेखकों के प्रभाव हैं। मूलतः ये रोमानी विद्रोह की कहानियाँ हैं। इन्हें छायावादी प्रभावों से निकलने के प्रयास की कहानियाँ भी कहा जा सकता है। इसलिए भाषा भी काफी बनावटी और शब्दाश्रयी है। यानी यहाँ शब्दों और स्थितियों की कुछ विशेष रीतियों या रूढ़ियों से मोह और लगाव है। चूँकि अपने आप से या वास्तविक स्थिति से सीधे सामना करने का साहस नहीं होता है, इसलिए छायावादी धुन्ध में छिप सकना आसान है। वहाँ आँख नहीं, नयन कहा जाता है; गहरी साँस नहीं उच्छ्वास होता है। अन्धकार घना नहीं, निविड़ होता है, लहरें वीचियाँ कहलाती हैं, किनारा कूल और दुपट्टा दुकूल बनकर दुहरे अर्थ देता है, चाँद-चाँदनी, पेड़-पौधे, नदी लहरें, उषा सन्ध्या,

प्राची, प्रतीची की भरमार है। आसमान को गगन कहना कितना काव्यात्मक लगता है। वार्तालापों और विवरण की भाषा में फर्क करना मुश्किल है। संस्कृत के तत्सम शब्द प्रसादवादी गरिमा देते हैं। लेखक और पात्र साथ ही उच्छ्वसित होते हैं।

बहरहाल, ये सब और यथास्थिति को बदलने की बेचैनी भी एक जिन्दगी की सच्चाइयाँ रही हैं और उनसे गुजरकर आना कम दिलचस्प यात्रा नहीं है। कम-से-कम इन्हें दोबारा देखते हुए यह निगाह तो आई ही है कि भाषा के जरिए क्या छिपाया और क्या उजागर किया जाता है? या जब कोई कथाकार भाषा से पाठकों को बहकाने या बेवकूफ बनाने की कोशिश करता है तो पीछे क्या मनोवृत्ति काम कर रही होती है। शायद आज मैं कह सकता हूँ कि कोई कथाकार शब्दों और भाषा में विशेष पैटर्न के लिए आग्रही होता है तब या तो रूमानी विद्रोही होता है या सामन्ती जहनियत का मारा—या फिर रुद्ध-विकास, जो अभी तक शब्दों और भाषा के जाल में ही उलझा है। यह बात निर्मल, निर्गुण, शिवानी, कमलेश्वर या उर्दू के अधिकांश कथाकारों को देखकर महसूस होती है। भाषा को साधना भाषा के पार जाना भी है। गिरिराज और शैलेश मटियानी जब कीर्तनी अन्दाज में भाषा महात्म्य की सप्तशती पढ़ते हैं तो मुझे आश्चर्य होता है कि इतने वयस्क हो जाने पर भी इनका मुख्य सरोकार कथ्य क्यों नहीं है? ये कवि-सुलभ भाषा-मोह से ऊपर कब उठेंगे? रचना अगर सिर्फ भाषा है तो अनुवाद को कैसे बर्दाश्त करेगी?

तो 'दीदियों और दादाओं' की इन कहानियों में स्थितियाँ चाहे परिचित परिवारों और परिवेश की हों, कुछ चरित्र बार-बार नाम बदलकर आए हैं। निःसन्देह मैं उनसे भावनात्मक स्तर पर जुड़ा रहा हूँ। स्वीकार करता हूँ कि इन्हें नष्ट करने के पीछे कहानियों की 'कलात्मकता' से अधिक उस भावनात्मक सोवेनियर (स्मृतिचिह्नों) को बचाए रखने की कमजोरी रही है। या तो उस समय तक अपनी भाषा नहीं मिली थी, या जैसे औरों के नाम और स्थितियों की आड़ लेकर असली व्यक्तियों या अपने अनुभवों को बचाने की प्रवृत्ति थी, उसी तरह दूसरों की भाषा लेने की भी मजबूरी थी। एक पुरानी कहानी में जब 'कर-मर्दन' शब्द देखा तो बेसाख्ता हँसी आ गई। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों में यह शब्द 'शेकहैंड' के लिए आता है। वृन्दावन लाल वर्मा और प्रेमचन्द सरल भाषा के लिए भी खींचते होंगे, लेकिन प्रसाद, पन्त या अज्ञेय का दबाव ही मुखर था। वैसे लेखकीय संघर्ष या कला की कुछ समसयाएँ भी फैंटेसीनुमा कहानियों के कथ्य हैं।

शायद मनुष्य और कलाकार के आपसी सम्बन्धों को समझना, मेरी पुरानी थीम रही है और इसी से प्रेरित होकर मैंने यथार्थवादी कहानी 'लेखक' लिखी, 'कला और विसर्जन' लिखी, 'अभिशप्त' और 'जब कला मर गई थी' लिखी। यही यात्रा 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' कहानी से 'शह और मात' उपन्यास तक आती है। द्रष्टा और भोक्ता का यह द्वन्द्व शायद कभी सीमित नहीं हुआ—हर बार लगा कि यह रास्ता शब्द से आगे कर्म तक जाता है और यहीं आकर मैं रुक जाता हूँ संवेदनात्मक और बौद्धिक रूप से ही स्थितियों को तय करने से बात नहीं बनेगी, कर्म के साथ उनका रिश्ता

जोड़ना होगा—ठीक उसी तरह जैसे नाटक का आलेख, अभिनय से जुड़कर ही सार्थक और सम्पूर्ण होता है। हो सकता है, आज कहानियों से छूटकर लेखों में आने के पीछे, स्थितियों का सीधे और बेबाक सामना करने का यह दबाव रहा हो।

दूसरी तरह की कहानियाँ अपने आस-पास के परिवेश के ढोंग, आडम्बर, दोमुँहेपन, कट्टरता और अन्याय को लेकर लिखी गईं। आश्चर्य ही हुआ कि अपने छोटे-सीमित धरातल पर मैंने दूसरे 'स्वतन्त्रता दिवस' पर इसी नाम से जो कहानी लिखी थी, यह भयानक राक्षस को बचपन में ही पकड़ पाने की कैसी सच्ची कोशिश है। 'उखड़े हुए लोग' में जो कुछ 1952-53 में आया था, उसी के भयानक रूप को तो आज हम भुगत रहे हैं। सामाजिक या कला-सरोकारों की मेरी ये कहानियाँ 'समय' को अपने भीतर पकड़ने की कहानियाँ हैं। कुछ सीधे और कुछ रूपकों या फैंटेसियों में।

जैसा कि मैंने बताया—लिखा तो और भी है, मगर उन सबको सामने लाने की हिम्मत नहीं पड़ रही, जरूरत भी नहीं है। 'अभिमन्यु की आत्महत्या' के बाद की कहानियाँ, मुझे लेखक की तरह गर्वीला-सन्तोष भले ही देती हों, वैसा प्रिय-नास्टैल्जिया नहीं देती जो ये देती हैं। शायद इस कहानी के बाद ही मेरी कहानियाँ का लोकेल आगरा या उत्तर प्रदेश से बदलकर कलकत्ता और फिर दिल्ली होने लगा था। 'महानगर' उन गाँठों को अपने-आप खोलने लगा था जो मुझे अपने भीतर की घुटन और एक निराकार दुनिया में बन्द रखना चाहती थी। हालाँकि 'अभिमन्यु की आत्महत्या' कहानी कलकत्ता जाने के लगभग तीन साल बाद लिखी गई।

पता नहीं, मैं इसे 'आत्महत्या' कहना चाहूँगा या नहीं, मगर इसके बाद मैं शायद कुछ 'दूसरा' जरूर हो गया था।

दिल्ली आने के बाद अक्षर की स्थापना, फिर 'हंस' का पुनर्प्रकाशन, या शक्तिनगर से हौजखास और मयूरविहार तक की यात्रा फिर कभी।

सन् 1950-52 या पहले की कहानियों का समय वह है जब पूरे-पूरे परिवार सौ-डेढ़ सौ रुपये मासिक में रहते थे। एक रुपया आज के दस रुपयों से ज्यादा कीमती था और एक आने में दो बड़ी कचौड़ियाँ आती थीं।

संस्मरण

सहयात्री : ओंप्रकाशजी

फूलों की क्यारियाँ
पानियों तक सरकते जंगल,
पहाड़ियों की सलवटों में एकान्त, मन्दिर
चाँदनी और बारिश
गलबहियाँ डाले कबूतर...
पहले ये सब देखता था
और तुम मेरे सामने खड़ी होती थी...
आज हारे हुए पेड़
झुकी थकान और ढलानें,
बारात लिए डूबती नावें,
नक्षत्रों का टूटना ही
मुझे तुमसे जोड़ता है...
पहले तुम उमँगती सीढ़ियों का न्योतता उजास थी,
आज सब कुछ जान लेने की दहशत हो...

लगभग तीस बरस बाद मैंने यह कविता लिखी है—ओंप्रकाशजी के न रहने पर—13 अगस्त 1979 की सुवह। खुद नहीं जानता कि मैं उनसे, भीतर इतनी गहराई से जुड़ा रहा हूँ। हालाँकि ऊपर से हमारे सम्बन्धों में ऐसा असाधारण कुछ भी नहीं था। बस, एक घनिष्ठ और बेतकल्लुफ पुराना परिचय—छेड़छाड़। शायद एक-दूसरे के प्रति गहरा और अनकहा सम्मान—शब्दों से अधिक व्यवहार में मुखर। नफरत और प्यार के लम्बे परिचय में यह खुलाव आया, एमर्जेन्सी और एमर्जेन्सी से दो-तीन साल पहले से। जब मालाएँ पहनाने और विरुदावलियाँ गाने के दिन आए, तो हम लोग अनजाने ही ऐसे धकियाए दिए गए कि दोनों ने ही एक-दूसरे को आमने-सामने, दीवार के साथ, कोने में पाया। मैं हर बार इनकार कर रहा था। अनेक निमन्त्रण, दबाव और धमकियाँ, ओंप्रकाशजी के ही माध्यम से मुझ तक पहुँची थीं। कभी फोन पर वे समझाते, कभी डराते। अक्सर ही छेड़ते : "वहाँ नहीं जाओगे? इस बार आपके वे मित्र डैलिगेशन लेकर जा रहे हैं, मुझे कहा है आपको कह दूँ..."—"आप जा रहे हैं?"—"मैं तो न लेखक हूँ न पत्रकार..."—"तब छोड़िए..."

इधर तो चार-पाँच सालों से शायद ही कोई हफ्ता दिन गया हो, जब हम

लोग टेलिफोन से या व्यक्तिगत रूप से न मिले हों। सब लोगों की तरह वे भी मुझसे आग्रह करते, उकसाते और छेड़ते कि मैं लिखता क्यों नहीं हूँ। शायद ही किसी दिन अपनी दुनिया से बाहर रहा होऊँ। हाँ, कहानी और उपन्यास इन दिनों लिखने का मन नहीं हुआ।—"मगर वही तो आपका असली क्षेत्र है।"—"आपकी बात सही है। मगर यह क्षेत्र भी तो मैंने ही चुना था। सवाल साहित्य के माध्यम से अपने-आप और अपने परिवेश से जुड़े होने का है, और उसमें मुझे चूक नहीं लगती। मैं सुबह जल्दी उठकर रोज दो-तीन घण्टा लिखता-पढ़ता हूँ।"—"छोड़िए, हिन्दुस्तान का कोई लेखक जल्दी नहीं उठता। राकेश नौ बजे..." मैं बात काट देता—"यही तो रोना है! लेखकों के बारे में आपकी सारी धारणाएँ राकेश को लेकर ही बनी हैं। आप समझते है, कुछ आदतें गुरुकुलवालों की ही बपौती हैं" और यही देखने के लिए वे महीनों सुबह साढ़े-पाँच के आस-पास फोन करते थे। बाद में भी, जब कोई गम्भीर बात करनी होती तो यही समय होता। उनके डर से मैं आज तक फोन पास ही रखकर सोता हूँ, कि पता नहीं उन्हें कब यह लगे कि माइकेल हैरी नाम के पत्रकार ने वियतनाम-युद्ध से जो 'डिस्पैचेज' लिखे हैं वे कितने हृदयस्पर्शी हैं, और अमुक समाजशास्त्री ने ब्राजील के गरीब परिवार पर जो पुस्तक लिखी है, वह कितने उपन्यासों से अधिक महत्त्वपूर्ण है—और उधर हमारे हिन्दी के लेखक कैसे मन के भीतरी चहबच्चों में ही कुदकड़े लगा रहे हैं! और कुछ नहीं तो—"बिसमिल्ला की शहनाई टेप पर चढ़ी है, और मैं लकैरी का नया उपन्यास पढ़ रहा हूँ। सच ए ब्यूटीफुल थिंग...आपको जगा दिया क्या?..."

हर बार पढ़ने-लिखने, संगीत रेकॉडर्स, अपनी और दूसरों की नई किताबों की सूचना। मैं अक्सर ही उन पर झल्ला पड़ता—"ओंप्रकाशजी, जो किताब आप छाप या पढ़ रहे होते हैं, वह संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक होती है, हिन्दी (नागरी) के सिवा हर लिपि में छपी चीज ब्यूऽऽटीफुल होती है..."—"तो दो न भाई मुझे, मैं अपनी राय बदल दूँगा।" वे कहते। या मैं छेड़ता—"हम लोगों को धमकाने और रौब डालने के लिए आप संगीत की बातें करते हैं। आपकी समझ-वमझ में तो कुछ आता नहीं है!" वे हँसते और भड़क उठते—"समझ? हुंह भाई मेरे, मैंने रात-रात भर संगीत-सम्मेलन अटैण्ड किए हैं।"—"भाभीजी को दुःखी करने या मुझ जैसों को डराने के लिए! म्यूजिक-कॉन्फ्रेंसें अटेण्ड तो मैंने भी की हैं, मगर मुझमें तो हिम्मत है कि कहूँ, मेरी समझ में खाक नहीं आता। अपना तो सुगम-संगीत ही ठीक है..." "अरे भाई, कैसी बातें करते हो? इतना आनन्द आता है, इतना आनन्द आता है कि शब्दातीत..." और फिर वे चालू हो जाते, भीमसेन जोशी, पं. जसराज, कुमार गंधर्व, मेंहदी हसन, बेगम अख्तर, मलिका पुखराज या क्या-क्या...पिछले दिनों जब उन्हें दूसरा या तीसरा हार्ट-अटैक हुआ था, तो एकदम आराम करने की सलाह दी गई थी। आराम या रिलैक्स करने का मतलब अकेले, चुपचाप लेटे रहना नहीं, दोस्तों से मिलना, अनेक विषयों पर बातें या बहसें करना भी है—अपने इस हठ पर डॉक्टरों-नर्सों से लड़ने के अलावा, उन्होंने संगीत-नाटक अकादेमी की लाइब्रेरी

से न जाने कब-कब के पुराने संगीत दर्जनों की संख्या में टेप करा लिए थे, और एकान्त में चुपचाप उन्हें सुना करते थे...परिणामस्वरूप पिछले दिनों बड़े-बड़े संगीतज्ञों, संगीत के उदात्त आनन्द और लोकोत्तर शान्ति को लेकर ज्यादा ही उत्साह से बोलने लगे थे। मैं कहता—"पहले आप साहित्य को लेकर धमकाया करते थे, अब एक हथियार यह और मिल गया..."—"धमकाना? हुँह! आपको पता ही नहीं, संगीत आदमी की आत्मा को कैसे ट्रांसफॉर्म करता है।" दो-चार बार मैंने उनके घर जाकर उनकी मुग्ध-तन्मय उपस्थिति में आत्मा को ट्रांसफॉर्म करने की कोशिश की, और फिर एक दिन 'गर्म हवा' की कव्वाली—मौला सलीम चिश्ती, आका सलीम चिश्ती, रविशंकर और यहूदी मैनुहिन की जुगलबंदी और 'राधा क्यूँ गोरी, मैं क्यूँ काला' भरवा कर ले आया...संगीत के नाम पर उनकी यही एक भेंट मेरे पास है, जो उन्होंने एक-एक शब्द-लय पर उच्छ्वसित होकर खुद टेप की थी...

लगता था, जैसे पिछले दो-ढाई सालों से वे केवल संगीत में जीते थे। कहते थे—"रात में कभी आँख खुल जाती है, तो बहुत धीमे सुर में चुपचाप स्टीरियो पर सुनता रहता हूँ।" और टेलिफोन पर बातचीत या छोटी-सी मुलाकात में हमेशा लगता रहता, जैसे भीतर के किसी संगीत में डूबे हैं...कलकत्ता, बम्बई—पता नहीं, कहाँ-कहाँ से उन्होंने संगीत टेप करके मँगाए थे...फैज और संगीत उन्हें बच्चों जैसे उत्साह से भर देते थे, और नए खिलौने की तरह इन्हें वे हरेक को दिखाना चाहते थे...

भौतिक शरीर के वस्त्रों, यानी रेशम और साड़ियों से शुरू होकर, भावों और विचारों के 'वस्त्रों'—भाषा और शब्दों तक की यह यात्रा, किस तरह सूक्ष्म शब्द या सुर तक जाती है, ओंप्रकाशजी इसी के उदाहरण थे। स्थूल से सूक्ष्म की ओर उड़ाने भरने की उनकी यह बेचैनी और उत्साह-छटपटाहट...यह उनके व्यक्तित्व की गतिशीलता—डायनेमिज्म और चुम्बक था, जो मुझे निरन्तर उनकी तरफ खींचता था। उधर मुझमें ऐसा क्या था, जो उन्हें प्रायः सुबह टेलिफोन से, या शाम को दफ्तर से उतर कर सिर्फ पाँच-सात मिनट की देखा-देखी वाली भेंट को बुला लाता था? क्यों वे मुझे संगीत के आनन्द या ब्लिस में हिस्सेदार बनाना चाहते थे? क्यों वे हर किताब पढ़कर हिन्दी-लेखक के झूठे-हवाई मूल्यों का गुस्सा मेरे सामने व्यक्त करते थे? क्यों राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय उठा-पटक पर अपनी कुढ़न निकालते थे? निश्चय ही, अपने अन्दर की इस अशान्ति में वे औरों को भी शामिल करते रहे होंगे, क्योंकि आदमी तो यार-बाश थे। मगर यह कौन-सा अधिकार था कि अपनी आन्तरिक कचोट के हर पहलू को वे ऐसे निस्संकोच होकर खोलते थे? मुझे लगता है, वह थी कि एक निर्वैयक्तिक निजी पसंद, एक स्वार्थहीन पुरानी मैत्री...लगभग पच्चीस वर्ष समानान्तर विकास की निकटता, लगाव। क्योंकि न मेरा उनके साथ कोई व्यावसायिक सम्बन्ध था, न लेखकीय। इसलिए दोनों आश्वस्त थे कि इस सहज-पसंद और एक-दूसरे में दिलचस्पी का कोई गलत इस्तेमाल नहीं होगा। दिल्ली या किसी भी महानगर में, हर सम्बन्ध के पीछे किसी-न-किसी स्वार्थ की गंध या आशंका

बनी रहती है। बहुतों के लिए अकल्पनीय है—स्वार्थहीन सम्बन्धों की निरन्तर उष्मा को पचाना। मगर मेरे तो दसियों बरसों के, दर्जनों ऐसे सम्बन्ध हैं—जहाँ दोनों ओर से कभी-कोई मतलब नहीं निकाला जा सका—यों साथ हैं तो सुख-दुख की हिस्सेदारी तो है ही। पतले दिनों में हमने पार्क में साथ बैठकर मूँगफलियाँ भी खाई हैं, और उच्चतम पदों पर बैठकर शराबें और पार्टियाँ भी उड़ाई हैं। किसी का उपयोगी-अनुपयोगी होना मेरे लिए आत्मीयता का आधार कभी नहीं रहा। ओंप्रकाश जी से भी निकटता तभी हुई, जब हम दोनों ने ही अनजाने, मानसिक रूप से तय कर लिया कि एक-दूसरे के किसी काम नहीं आ सकेंगे (मन्नू के उपन्यास 'महाभोज' का प्रसंग तो ठीक उनके अन्तिम दिनों में आया)।

अधीरता, बेचैनी और उत्साह—शायद उनके व्यक्तित्व के ये अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहे हैं। जब देखो तब, किसी-न-किसी योजना की जान को लगे हैं, और हमेशा ही आवेश में हैं। जो भी कार्य, समस्या, पुस्तक या व्यक्ति सामने है, उसे लेकर मैंने उन्हें हर वक्त एक तनाव भरे जोश में ही पाया। वे उससे इतना अधिक जुड़े होते थे, कि भूत या ऑब्सेशन बनकर उन पर हावी रहता था। शायद जिस व्यक्ति से इस तरह वे आखिरी बार जुड़े थे, वह राकेश था।

मैं जानता हूँ, इस तरह अतिरिक्त भावनावेश से जुड़नेवालों की दोस्ती और दुश्मनी—दोनों आसान और सहज नहीं होतीं। दोस्त हैं तो आपकी हर समस्या उनकी अपनी है, समय-साधनों की चिन्ता किए बिना वे आपकी हर सनक और जरूरत पूरी कर रहे हैं, अपने बीवी-बच्चों की शान्ति-सुविधा की कीमत पर वे अपनी आकांक्षाओं, इच्छाओं और योजनाओं को अपने ऊपर ओढ़े हैं! आप उनके लिए एक धार्मिक उद्देश्य या होली-कॉज बन जाते हैं। अब चूँकि आवेश एक अस्थायी मनोभाव है, इसलिए एक दिन किसी भी छोटी-सी बात पर टूट कर अपने-आप में वापस लौट जाता है। इस तरह लौटा हुआ आवेश पहले आत्मधिक्कार बनता है, कि क्यों उसे कभी कोई सही आदमी नहीं मिलता, लोग क्यों हमेशा उसे ही बेवकूफ बनाकर ठगते हैं, क्यों हर बार उसका ही इस्तेमाल किया जाता है! इस शहीदाना धिक्कार के बाद आता है एक ठहराव, या पुनः बाहर की यात्रा। इस बार अगर लक्ष्य नया हो तो फिर पुराना होली-कॉज वाला भाव, और अगर वही हो तो हिंस्र प्रतिशोध : नहीं, मैं इतनी आसानी से न तो बेवकूफ बनूँगा, न ही इस्तेमाल किया जाऊँगा...मैं दिखा दूँगा...यानी 'सबक सिखाने' का नया दौर और नया उत्साह...

कहने की जरूरत नहीं कि यह मूलतः भावुक व्यक्ति का स्वभाव है, और यह व्यक्ति बहुत जल्दी ही कुण्ठित और आत्मकेन्द्रित होने के लिए अभिशप्त है। लोगों के स्वार्थी, टुच्चे और जलील होने की इस उपलब्ध सच्चाई से 'तृप्त' यह व्यक्ति खुद अपने भीतर सिमट आता है। वस्तुतः स्थिति हो या लोग, वह उन्हें 'चीज' की तरह देखता है—जिनसे वह अपनी भावनात्मक-उदात्तता का आश्वासन निचोड़ सके, या कलाकार की तरह उन्हें अपने सपनों-योजनाओं के अनुरूप ढालकर

एक उत्कृष्ट कलाकृति के रूप में बदल सकें। मगर जब सामने वाले का व्यक्तित्व इस तरह 'चीज' या कच्चा माल बनाए जाने से विद्रोह करता है, स्वतन्त्र रूप से उगने और उठने लगता है तो इन्हें 'ठगे' जाने का एहसास होता है। ओंप्रकाशजी जब किताबों के बारे में ऐसे प्यार, उत्साह, लगाव और मुग्ध भाव से बोलते थे, तो मुझे अक्सर ही भीतर शक होता था, कि हर कलाकार की तरह, वे भी व्यक्ति को चीज और चीज की तरह देखते हैं।

ओंप्रकाशजी के लिए पुस्तकें—किसी सजीव और प्राणवान व्यक्ति की तरह आच्छन्न कर लेने वाला अनुभव थीं। बेहद शिद्दत से व्यक्तियों के साथ जुड़ने के बाद जब वे उनसे निराश होते थे, या आत्मधिक्कार या शहादत की मनःस्थितियों से गुजरते थे, तो दुगुने जोश से किताबों की दुनिया में लौट आते थे। वे उनकी शक्ति और शरण्य दोनों थीं। उनके स्वभाव की अधीरता ने उन्हें शायद ही किसी और ठहराव या कुंठा से रुकने दिया हो। पुस्तकें उनका स्थायी-अन्तरा थीं। समानान्तर ही किसी-न-किसी से जुड़े होना, गहरे आवेश के साथ एकाकार रहना उनकी इतनी बड़ी मजबूरी थी, कि वही उनकी जीवन्तता का पर्याय बन गई थी। मैं दसियों लेखकों के नाम ले सकता हूँ जो—यदि ओंप्रकाशजी न होते तो वे भी शायद उस रूप में न होते और उन दसियों लेखकों को भी जानता हूँ जिनसे ओंप्रकाशजी की बाकायदा लड़ाइयाँ, पंचबाजियाँ हुई हैं। कहने की जरूरत नहीं कि इस दूसरे वर्ग में भी अधिकांश नाम वे ही हैं, जो कभी पहले में थे। बल्कि मैं तो यहाँ तक नतीजा निकालूँगा कि जिस भी किसी लेखक में 'आग' रही है वह दोस्ती या दुश्मनी, किसी-न-किसी रूप में ओंप्रकाशजी के साथ जुड़ा रहा है...बहुत स्वाभाविक था कि वे अपने पहले के 'मित्रों' को यों शत्रुओं जैसा व्यवहार करते देखकर क्षुब्ध और डिस्गस्टेड हो जाते, या बाकायदा लेखक या लेखन-विरोधी बन जाते और 'टु हेल विद् डीज डैम बास्टर्ड्स' का नारा लगाते हुए, किसी दूसरी दिशा की तरफ मुड़ लेते। परास्त और हताश क्षणों में ओंप्रकाशजी ने भी प्रकाशन-कार्य को गालियाँ दी हैं, और किसी दूसरे व्यवसाय में जाने की बातें सोची हैं—किसी ज्यादा मुनाफेवाले, साफ-सुथरे व्यवसाय की बातें।

प्रकाशन और फिल्म—दो ही ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें आप जब चाहें तभी नहीं छोड़ सकते—जिनकी मदद के लिए न बैंक हैं, न व्यक्तिगत आर्थिक सहयोग। जब भी छोड़ेंगे, तो जो कुछ लगा हुआ है, उस सारे का मोह त्याग कर ही छोड़ पाएँगे। करोड़ों की फिल्म को बीच में छोड़ देने का अर्थ है—सारी लागत का डूब जाना। इसी तरह लाखों के प्रकाशन को छोड़ने का अर्थ है—कुछ टन रद्दी और कुछ दफ्तरी ताम-झाम। नतीजे में, इन दोनों व्यवसायों में लगा हुआ व्यक्ति जिन्दगी भर कुढ़ता रहता है, मगर निकल नहीं पाता। ओंप्रकाशजी के सामने ऐसा अवसर आया था कि वे आसानी से इस लाइन को छोड़ सकते थे। राजकमल प्रकाशन छोड़ा था और वहाँ से उन्हें पैसा मिला था। देवराजजी ऑफसेट प्रेस की दिशा में चले गए ...उधर दो महीने बीतते-न-बीतते 'राधाकृष्ण प्रकाशन' के सर्कुलर आने शुरू हो

गए। कहते थे—राधाकृष्ण उनके पिताजी का नाम है, मगर हम लोगों का ख्याल था कि राजकमल के आर. के. को बनाए रखने के लिए ही उन्होंने यह नाम लिया है। बहरहाल, साल डेढ़-साल में ही ओंप्रकाशजी फिर अपने असली रूप में आ गए—जिन्दा और जिन्दादिल...कहते थे—प्रकाशन कुत्तेगिरी का व्यवसाय है; मगर इसका अपना सन्तोष (कन्चैन्सेशन) है। बौद्धिक, मानसिक और कलात्मक सन्तोष किसी दूसरे व्यवसाय में कहाँ है? पैसा कमाकर भी तो आदमी इसी सबकी तलाश में क्लबों, संस्थाओं, मन्दिरों में भटकता है। मुझे यह सन्तोष यहीं मिलता है। इसीलिए तो सर एलेन ने इसे 'अभिजात व्यवसाय' कहा है।

शब्द उनके लिए नशा था या फैशन, वह उनकी मजबूरी थी या आस्था—यह बता पाना मेरे लिए मुश्किल है। मगर सच्चाई यह है कि बिना शब्दों के ओंप्रकाशजी की कल्पना की ही नहीं जा सकती। सारी बेचैनियों, भटकनों और छलाँगों के बीच शब्द ही वह सुर था—जो उनकी साँस-साँस में बोलता था। जिन दिनों वे अमृतसर में अपना कपड़े का व्यवसाय देखते थे, उन दिनों भी 'आज की बात' साप्ताहिक का सम्पादन करते थे, और पिछले चालीस सालों से शब्द ही उनका ओढ़ना-बिछाना था। अच्छे-बुरे शब्द-शिल्पियों से उनका साबिका हुआ, अच्छी-बुरी किताबें आईं, अच्छे-बुरे दिन भी देखे ही होंगे—मगर जिस एक चीज से उनकी आस्था कभी डिगी नहीं, वह थी शब्द। चाहे मैगनीफ़ाइंग शीशा लेकर ऑक्सफोर्ड-डिक्शनरी से एक-एक शब्द के पुरखों की खोज हो, किसी पाण्डुलिपि पर एक-एक नुक्ते के लिए धुआँधार बहस हो, या किसी किताब के लिए फ्लैप का मैटर हो...मैंने उन्हें हमेशा ही शब्दों से घिरे पाया। 'महाभोज' में 'आगजनी' शब्द को लेकर हम लोगों में मतभेद हो गया था। उन्होंने दसियों डिक्शनरियाँ छानी थीं और अड़े थे कि अगर 'जनी' होगा, तो हिन्दी का आग न लगकर फारसी का 'आतिश' लगेगा। रात को एक बजे फोन पर झगड़ रहे हैं कि या तो 'ज़नी' के नीचे से नुक्ता हटाओ या 'आतिश' लगाओ। मैं भी अडिग था—अगर राहजनी हो सकता है, तो आगजनी क्यों नहीं होगा? मुझे याद है, एक बार इसी तरह का झगड़ा 'शैम्पू' को लेकर हुआ था। मेरा कहना था कि यह हिन्दी के 'चम्पी' से निकला है, तो और जोर से हँसे, बोले—"आगे आप कहेंगे कि वेदों में था और फ्रेंच लोग चुराकर ले गए थे।" खैर, यह समस्या तो एक डिक्शनरी ने ही हल कर डाली। मगर राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे' की भूमिका में 'दर-किनार' शब्द का गलत प्रयोग बरसों नहीं सुलझ पाया। व्यवहार, व्यवसाय, भाषा, शब्द उच्चारण—हर चीज का मानकीकरण उनकी जबरदस्त चिन्ता का विषय था, और अपने यहाँ इन सबके न होने को भारतीय चरित्र के ढुलमुलपने के साथ जोड़ते थे...

हम मानकर चलते है कि हिन्दी-प्रकाशक बेपढ़ा-लिखा, दुनिया से बेखबर, और सिर्फ पैसों पर निगाह रखनेवाला कुछ लिजलिजा-सा ऐसा प्राणी होता है, जो कभी किसी जगह एजेण्ट था और जगह-जगह किताबें बेचा करता था। ओंप्रकाश जी इस तस्वीर को तोड़ते ही नहीं, उससे घृणा करते थे। साहित्यिक, सांस्कृतिक—हर

मामले में दुनिया की नवीनतम गतिविधियों से परिचित वे भाषा और साहित्य के किसी भी मसले को, अपने को प्रबुद्ध कहने वाले लेखकों के मुकाबले अधिक समझते थे। सही है कि व्यवसाय को उन्होंने साध लिया था, और वह सब कुछ भी किया था जो इसमें होता है, मगर अपनी मूल मानसिक बनावट में वे हमेशा अत्यन्त जागरुक बुद्धिजीवी और कलाकार थे। हर चीज को बहुत बड़े धरातल पर सोचते थे, और छोटी-से-छोटी बात को लेकर 'परफेक्शनिस्ट हो जाते थे। अपने प्रकाशन के विज्ञापनों, सूचियों और फ्लैप-मैटर पर जितनी मेहनत करते थे—मैंने खुद को और साथी लेखकों को अपनी रचनाओं पर करते नहीं देखा। पाण्डुलिपियों पर उस तरह की मेहनत और खर्चा तो शायद कोई भी भारतीय प्रकाशक नहीं करता। बड़ा और निर्दोष—यही उनका खब्त था—"देखिए, अमुक पाण्डुलिपि को मैंने उन साहब को दिखाया है—उस रचना के स्केच या कवर-डिजाइन मैंने वहाँ से बनवाकर मँगाए हैं आर्टिस्ट को वहाँ फलाँ मूर्ति या पेण्टिंग दिखाने ले गया कि मुझे इस आधार पर डिजाइन चाहिए...'मेरी टायलर' की फोटो और हस्ताक्षर के लिए आज ही केवल किया है...रात को उन साहब से बातें करूँगा..." दिमाग में एक बात बैठ जाए तो वे उसके लिए कलकत्ता, बम्बई, लन्दन, न्यूयॉर्क कहीं भी जा सकते थे और कितने भी पैसे खर्च कर सकते थे। जाने कितने फ्लैप, छपे-छपाए कवर, पुस्तकों के फर्मे उन्होंने खर्चा बर्दाश्त करके नष्ट कर दिए...उनकी जिन्दगी-भर की कशमकश, कलाकार और व्यवसायी के बीच सन्तुलन बनाए रखने की थी।

उन दिनों तो नहीं, लेकिन अब यह सब लिखते हुए—मुझे उनकी मानसिक बनावट बहुत कुछ जवाहरलाल नेहरू जैसी लगती है। जो कुछ है उससे भयानक असन्तोष और सब कुछ को जल्दी-से-जल्दी बदल डालने की अधीर तड़प—एक स्वप्न और विजन के अनुरूप सारी स्थिति को ढाल देने की उतावली, धीमी गति या रुकावटों को लेकर झुँझलाहट, और फिर डिप्रेशन या 'भाड़ में जाए सब' के उदासीन अन्तराल। शायद यही निष्ठा और झख थी कि उस अकेले व्यक्ति ने हिन्दी-प्रकाशन के नक्शे को आमूल बदल दिया। 'हिन्दी-सेवी' नुमा जाहिलों और गद्दी लगा कर बैठे मुंशी-छाप प्रकाशक को एकदम आधुनिक रंग-रूप और मिजाज देने का एकमात्र श्रेय ओंजी को ही है। पाण्डुलिपियों पर परिश्रम, अधिकारियों से उनका मूल्यांकन, मुद्रण-शुद्धता और कलात्मक रूप-रंग देने से लेकर, लेखकीय सम्मान, उन्हें बाकायदा रॉयल्टी या पारिश्रमिक देने का प्रारम्भ, प्रकाशन-गोष्ठियाँ, विचार-चर्चाएँ और प्रचार-प्रसार—यह सब दसियों बरस सिर्फ उनके साथ ही जुड़ा रहा है। रचनात्मक साहित्य के वैचारिक धरातल की आकार-पत्रिका 'आलोचना' हो या सुरुचिपूर्ण साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने के लिए 'राजकमल पॉकेट-बुक्स' की योजना, व्यवसाय-जगत की पत्रिका 'प्रकाशन-समाचार' हो या कथा-लेखन की आन्दोलन-केन्द्र 'नई कहानियाँ' सभी का प्रारम्भ तो ओंप्रकाशजी ने किया था—बाद में तो कुछ की केवल निरन्तरता बनाए रखी गई। यह सही है कि कुछ में वे सफल हुए, कुछ में असफल, कुछ के लिए वातावरण तब उतना पका नहीं था तो कुछ

के लिए साधन नाकाफी थे। मगर हर समय कुछ-न-कुछ नया करने का साहस, झख और पहलकदमी, हर नई रचनात्मकता से जुड़े होने की बेचैनी और योगदान ...बेशक राजकमल उन दिनों सिर्फ प्रकाशन ही नहीं, एक जीवित संस्था और विचार-मंच था। कितने उठते हुए सशक्त लेखकों को ओंप्रकाशजी ने अपने साथ ले लिया था : रेणु, भारती, राकेश, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, नागार्जुन, दुष्यन्त, मैं, मन्नू, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोवती, कृष्ण वलदेव वैद, निर्मल वर्मा, नामवर, शिवदान सिंह चौहान—कौन-सा युवा लेखक था, जो किसी-न-किसी समय राजकमल के साथ न रहा हो...और इस सारी गहमागहमी या रचनात्मक खलबलाहट और साहित्यिक-राजनीति के केन्द्र में थे ओंप्रकाशजी...विभिन्न ईर्ष्याओं, स्पर्द्धाओं और ऊर्जाओं के बीच सन्तुलन बनाए, साधन और सहयोग के स्रोत की तरह—सब कुछ समझते और सबका हिस्सा बनकर जीते हुए। सारी परेशानियों, अन्दरूनी और बाहरी तनावों, और सन्तोष-असन्तोष के बावजूद यह ओंप्रकाशजी का स्वर्णकाल था। जहाँ तक मेरी जानकारी है, शायद छायावाद-काल में ऐसी साहित्यिक हलचलों का केन्द्र भारती-भंडार भी नहीं बन पाया था—हालाँकि उस प्रवृत्ति की सारी रचनाएँ लगभग वहीं से आई थीं—निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी—सभी तो थे; उधर स्वतन्त्रता के बाद की सारी प्रतिभाएँ 'नई कविता' और 'नई कहानियाँ' के माध्यम से जिस तरह ओंप्रकाशजी के आस-पास सिमट आई थीं—वैसा पहले कब हुआ था? न दुलारेलाल भार्गव के जमाने में, और न ही वाचस्पति पाठक के काल में।

सन् 59 में मैंने ओंप्रकाशजी को 'अटलांटिक' पत्रिका का एक अंक दिया था—58 का। उसमें एक लेख था—'दुनिया का महानतम प्रकाशन-गृह : गालीमार'। उस लेख की शुरुआत हुई थी इस पंक्ति से—'जब हिटलर ने फ्रांस पर कब्जा किया, तो दो ही अध्यादेश जारी किए थे—बैंक डी-फ्रांस और गालीमार को अपने हाथ में ले लो।' आगे उसमें बताया गया था कि किस तरह फ्रांस के पिछले पचास वर्षों के साहित्य-संस्कृति का इतिहास—केवल गालीमार का इतिहास है। आधे दर्जन से अधिक नोबेल-पुरस्कार प्राप्त साहित्यकारों के यह प्रकाशक, आन्द्रेजीद, आन्द्रे मालरो, ज्यां काक्त्यू, कामू, सार्त्र, बोऊवा जैसे विश्वप्रसिद्ध नामों से जुड़े रहे हैं। सार्त्र और कामू आपस में न बोलते हों, लेकिन जिन दो पत्रिकाओं के वे सम्पादक हैं, उनके प्रकाशक हैं गालीमार। तय है कि जो वहाँ से नहीं छपा, उसका फ्रेंच-साहित्य में स्थान संदिग्ध है। इसी उन्नासिक रवैये के कारण, एक समय सारे विश्व-साहित्य में तहलका मचा देने और करोड़ों की संख्या में बिकने वाली लेखिका फ्रैंकोइस सागां को उन्होंने छापने से इनकार कर दिया था। मगर बहुत जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि जहाँ तक साहित्यिक मूल्यों का सवाल है, गालीमार का फैसला बहुत गलत नहीं था। ओंप्रकाशजी वह लेख पढ़ने और अनुवाद करने के लिए शमशेरजी के पास ले गए—आज भी शायद वह उनके पास हो। बहरहाल, अपने छोटे रूप में राजकमल भी एक दशक तक हिन्दी का गालीमार रहा है।

व्यक्तिगत रूप से लेखकों और लेखन के बीच होना, उनके सरोकारों-सपनों में शामिल होना विचार और रचना के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट करने की गहरी और भीतरी आस्था ही प्रकाशन को व्यवसाय से उठाकर आन्दोलन या संस्था का रूप देती है। ओंप्रकाशजी ने शायद कभी अन्तिम रूप से इस बात को माना ही नहीं कि प्रकाशन केवल व्यवसाय है वह उनके लिए हमेशा एक आन्दोलन, एक कॉज और मिशन भी रहा। इसे केवल व्यवसाय मानने वालों के प्रति उनके मन में कभी सम्मान नहीं रहा—चाहे वह झोला लेकर इस-उस अफसर को पटाने वाला छुटभैया हो, या आधुनिकतम साज-सम्मान के साथ किसी भी बिजनेस-एक्जीक्यूटिव जैसा अदाकार—वे उनके लिए समान रूप से छोटे और अनपढ़ लोग थे। मन, बुद्धि और आत्मा को भोजन देनेवाला इस हद तक निर्वैयक्तिक, तटस्थ और शुद्ध व्यवसायी हो ही नहीं सकता। वह उन लाखों लोगों के प्रति जिम्मेदार है, जिनसे उसने एक संवाद कायम कर लिया है। यहाँ प्रकाशक की जिम्मेदारी, किसी भी जागरूक और प्रतिबद्ध सम्पादक से कम नहीं है। ओंप्रकाशजी के मन में बहुत साफ होता था कि वह क्या और क्यों छाप रहे हैं! और इस सन्दर्भ में उनकी राय बहुत ही साफ थी कि पाठक नहीं, हिन्दी का, लेखक ही धोखा देता रहा है। न जाने कितनी बहसें और लड़ाइयाँ इस मुद्दे को लेकर हम लोगों के बीच होती रही हैं। वे कहते थे—अगर पाठक शुद्ध सनसनी या मनबहलाव की चीजें चाहता है और प्रकाशक उसकी इस कमजोरी को भुनानेवाला व्यवसायी रह गया है, तो इसके लिए हिन्दी-लेखक के अलावा कोई और जिम्मेदार है ही नहीं।

निश्चय ही एक वर्ग में उन्हें लड़ाकू, दंभी और अक्खड़ व्यक्ति के रूप में जाना जाता है। वे लड़ाइयाँ और विरोध मोल लेने थे, और फिर उन्हें जेहादी की उत्तेजना और उत्साह से लम्बा खींचते थे। मगर मैं जानता हूँ, उनका यह लड़ाकूपन एक गहरी जिम्मेदारी और जागरुकता से आता था—क्योंकि उनका अपना एक सुनिश्चित दृष्टिकोण और व्यक्तिगत तीखी पसंद-नापसंद थी। मुझे यह उनके व्यक्तित्व की कमजोरी या स्खलन नहीं, एक ऐसी आन्तरिक शक्ति लगती है—जिसके कारण असहमत होने पर वे भरी सभा में खुलकर विरोध करते थे। जिसे खुद गलत समझते हों, उसे बर्दाश्त कर सकना शायद उनके लिए असम्भव था। सरकार, संस्था, व्यक्ति कोई भी हो, शायद उन्होंने ही इनके खिलाफ सबसे अधिक विरोध-पत्र लिखे होंगे। सामान्य लड़ाकू व्यक्ति के जो चीज उन्हें अलग करती है, वह यह कि ये विरोध हमेशा ही किसी-न-किसी सिद्धान्त के लिए हुए हैं। अगर हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक की जगह किसी छज्जूलाल या छदम्मीप्रसाद की किताब मान्यता-स्वीकृति पाती है, तो उन्हें सचमुच तकलीफ होती थी। अब अगर द्विवेदीजी की किताब उन्होंने ही छाप रखी है, तो बड़ी आसानी से उसे सिद्धान्त की बात न कहकर स्वार्थ की बात नाम भी दिया जा सकता है। व्यावसायिक-प्रतिस्पर्द्धा में अपने या दूसरों के किसी अयोग्य को जब भी वरीयता मिली है, तो सफलता का सन्तोष जरूर हुआ है, मगर तकलीफ भी उन्हें कम नहीं हुई है। अगर सिद्धान्तों

और आदर्शों की बात न होती, तो अखबार में राजनीतिक मुद्दों पर पत्र लिखकर, या बहुत पहले केवल साम्यवादी सरकार को पैसा देकर बाद में दुनिया भर की मुसीबतें क्यों उठाते? उनके दूसरे समझौतों और सौदों की जानकारी भी मुझे काफी है, मगर फिर भी कह सकता हूँ कि उनका मूल झुकाव समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता की ओर ही रहा। सम्प्रदायवाद के खिलाफ उनके 40 साल पुराने 'आज की बात' के लेख पढ़कर, मुझे उनकी इस मानसिक बनावट में कहीं दरार नहीं दिखाई देती।

लेखकों के प्रति उनके विरोध और नापसंदगी को मैं दो हिस्सों में बाँटना चाहूँगा। सबसे अधिक नुक्ताचीनी करते थे वे—दम्भी लेखकों और मूर्ख-तिकड़मी अध्यापकों की। निश्चय ही व्यापारिक सम्बन्ध और व्यावहारिक सौजन्य उनके साथ ही रहा होगा। मगर उनके प्रति भीतरी नफरत और विस्फोटों का गवाह मैं भी रहा हूँ। अध्यापकों के व्यवहार, रूप और बुद्धि का गंवारूपन उन्हें हमेशा अधीर और उत्तेजित बना जाता था। विश्वविद्यालयों में घुसे बैठे घूस-खोर, अनपढ़ 'विद्वानों' के किस्से वे बेहद वितृष्णा और जुगुप्सा से बयान करते थे—कि कैसे किताबें लगाने के लिए सौदे करते हैं, आपस में कैसी मार-काट चलती है, और किस तरह दो सौ विद्यार्थियों वाली पुस्तक लगाने के बाद अध्यक्ष की प्रत्याशा होती है कि सात सौ पन्नों की, अपनी या अपने किसी शिष्य (विशेपकर शिष्या) की थीसिस कैसे प्रकाशक के मत्थे मढ़ दी जाए। अब इस निहायत कूड़ा-अपठनीय, दूसरों से चोरी की गई, कैंची-गोंदछाप पोथी पर दस हजार इन्वेस्ट कीजिए और गोदाम में भर लीजिए—"इस पैसे में मैं चार अच्छी किताबें नहीं छापूँगा कि मुझे भी सन्तोष हो?" और कैसे-कैसे वज्रमूर्ख, अशिष्ट और घटिया लोग हैं...न इन्हें देश से मतलब न साहित्य से। बस, रस-छंद और सूर-तुलसी में घुसे हैं—मूलतः जाहिल और साम्प्रदायिक। आए हैं सरकारी और विश्वविद्यालयी काम से, और टिकट-टैक्सी से लेकर घर ले जाने को पान-सुपारी तक सब प्रकाशक के मत्थे। पुराने शोध के लिए ही समर्पित हों, तो कोई बात नहीं! ऐसे लिजलिजे और गिलगिले कि छूकर नहाने की तबियत हो। एक सिरे से पोंगापंथी और उजड्ड..., विश्वविद्यालयी कुर्सी के आधार पर सम्मान और प्रतिष्ठा चाहनेवाले इस वर्ग ने, निश्चय ही ओंप्रकाशजी को कभी बहुत पसन्द नहीं किया। पसन्द इन्हें दूसरे अनेक प्रकाशक भी नहीं करते, मगर इन्हें 'सम्भालने' के लिए उनके पास बीच के और लोग हैं—ओर वे सीधे इनके सम्पर्क में कम-से-कम ही आते हैं।

उन लेखकों से भी ओंप्रकाशजी की अधिक पटरी नहीं बैठी, जिनमें अपने लेखन या पाठकों के प्रति समुचित शिष्टाचार-सौजन्य नहीं है। लेखन अगर किसी भी लेखक को संस्कृति और संस्कार देता है, तो उसका यह सुसंस्कृत व्यवहार सबसे पहले पाठक के सन्दर्भ में ही सामने आता है। सामान्य बातचीत में भी बोलनेवाला, सुननेवाले के और अपने बीच एक विश्वसनीयता, संवाद और सम्प्रेषणीयता का शिष्टाचार करता बरतता है—उसे साथ लेने, शामिल करने, और उसके भीतर से सर्वश्रेष्ठ निकालने की कला—जिसमें यह समझ और लिहाज नहीं है, उसे बातचीत

का कोई अधिकार नहीं है। पाठक, श्रोता और दर्शक को गालियाँ और घृणा देकर, आप अपना सर्वश्रेष्ठ नहीं दे सकते। कोई भी कला, अगर यह सामनेवाले को सम्बोधित नहीं है, तो उसे अपनी ही दराज और रियाज या रिहर्सल में ही बन्द रहना चाहिए। जनता के टिकट और दया-विज्ञापनों या प्रकाशक के पैसों-साधनों के बल पर दो समझदार पाठक पा लेना, लेखकीय अहंकार को सन्तोष तो दे सकता है—मगर प्रकाशक और सम्भावित पाठक को हमेशा के लिए खो देता है। जीवन्त साहित्य की एकमात्र कसौटी ही यह है कि वह सही पाठक को पकड़े ही नहीं, उसकी संस्कारशीलता और संख्या में निरन्तर अभिवृद्धि करे। हिन्दी-लेखक की इस कुंठा से ओंप्रकाशजी बेहद क्षुब्ध थे कि कम-से-कम पाठक नहीं हैं, जो उसकी रचना के एक संस्करण का भी सहारा वन सकें। इस मामले में बांग्ला-लेखक का अपने पाठक में ज्यादा विश्वास है—वे उसका नाम देखकर पत्रिका और पुस्तक खरीदते हैं। वे सचमुच चाहते थे कि हिन्दी का लेखक अपने पाठकों से जुड़े, और सिर्फ हवाई-महानता में ही दूसरों को अ-साहित्यिक और बाजारू न कहता रहे। सार्त्र, कामू हल्के और बाजारू लेखक नहीं हैं, मगर उनके पाठकों की संख्या...वे इस बात से भी सख्त नाराज थे कि हमारा लेखक अपनी समझ और अनुभव के दायरे को फैलाता क्यों नहीं है, क्यों सिर्फ अपने भीतर ही—आत्मा में घुन की तरह सूराख करना रहता है।

लेखकों से उन्हें दूसरी शिकायत यह थी, कि उनके मन में साहित्य या पुस्तक के लिए कोई संस्कार और सम्मान नहीं है। प्राथमिकता की उसी सूची में पुस्तक कहीं आती ही नहीं। दो डाकुओं में भी एक-दूसरे के 'किए' के लिए सम्मान होता है, शायरों या संगीतज्ञों में दूसरे के कमाल को देखकर दुश्मन को भी गले-लगाने के किस्से सुने गए हैं। किसी लेखक को आपने कभी यह कहते सुना कि अमुक न मेरा शिष्य है न चमचा, मगर क्या कमाल की चीज लिखी है? कोई लेखक अगर किसी लोकप्रिय पत्रिका का सम्पादक हो जाए, तो आप निश्चय मान लीजिए कि पहली जिस चीज को वह काटेगा, वह होगी पुस्तक। बंगला, मराठी, अंग्रेजी—दुनिया की कोई भाषा में लीजिए—वहाँ का लेखक-पत्रकार पुस्तकों को लेकर कितना सरोकार और चिन्ता महसूस करता है। कितनी मेहनत से वहाँ समीक्षा-कॉलम तैयार किए जाते हैं। हिन्दी-पत्रकार मूलतः खुशामदी है, इसलिए सिर्फ सत्ता की आरती उतारता है। नेता, जनता का नाम लेकर और पत्रकार पाठकों की दुहाई देकर—अपने मानसिक खोखलेपन या टुच्चे होने को छिपाते हैं। जो समस्या हिन्दी-पाठक की है, वही हर भारतीय भाषा की है—क्यों उनके लिए पुस्तक या साहित्यिक-सांस्कृतिक हलचलें इतनी महत्त्वपूर्ण हैं? दूसरी जगहों, विशेषकर अंग्रेजी में प्रेस और प्रकाशन का जो सहयोग है—वह जब तक नहीं होगा, हम किताबों की बिक्री को लेकर यों ही रोते रहेंगे। आप प्रकाशक को इस बात के लिए गालियाँ तो देते हैं कि वह किताब नहीं बेचता; मगर पाठक पुस्तक के बारे में जाने, उसमें दिलचस्पी ले और उससे लगाव महसूस करे, इसके लिए क्या करते

हैं? आपके यहाँ किताब की चर्चा होगी भी, तो सिर्फ आपसी हिसाब-किताब चुकाने के लिए होगी। पाठक को सचमुच आपने कभी किसी किताब के बारे में बताना चाहा है? जब तक यह मानसिकता तैयार नहीं करेंगे, पुस्तकों की संस्करण-संख्या बढ़ेगी ही नहीं। हम लोगों की इस शिकायत पर कि प्रकाशक घटिया और बाजारू लेखकों का कितना प्रसार-प्रचार करता है, उतना अच्छे लेखकों का नहीं—उन्होंने दो-एक लेखकों के उसी ढंग से विज्ञापन किए। मगर शिकायत यही बनी रही कि जब आपको ही अपने लिखे में दिलचस्पी और आस्था नहीं है, तो हम लोग अकेले क्या करेंगे? अनपढ़, गरीब और हीनताग्रस्त देश के दलदल से जब तक दोनों मिलकर इस गाड़ी को नहीं निकालेंगे—तब तक इसी तरह एक-दूसरे को गालियाँ देते रहेंगे।

जैसाकि मैंने कहा, अपने व्यवहार और विचारों से उन्होंने जितने लेखकों को नाराज किया, शायद ही किसी ने किया हो...'अमुक लेखक कुण्ठावादी और व्यक्तिकेन्द्रित है, नहीं छापेंगे।'...'यह किताब अश्लील और साम्प्रदायिक है—राजकमल से नहीं बिकेगी।'...'यह अध्यक्ष स्वार्थी और घूसखोर है, मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।'...वे डिग्निटी और गरिमा के साथ प्रकाशन करना चाहते थे, और यह भी सही है कि इसे लेकर उन्होंने समझौते न किए हो, ऐसा नहीं है।...''सच कहता हूँ यादवजी, जिन्दा रहने और प्रकाशन चलाने के लिए करना तो बहुत कुछ पड़ता है, मगर मन कितना घिनाता है, इसे आप आज जरूर महसूस कर सकते हैं!''

बेहद मस्तमौला और शौकीन आदमी थे ओंप्रकाशजी! अच्छे कपड़े, अच्छा रहन-सहन और खाना-पीना उनकी कमजोरी थी। पन्द्रह-बीस सालों में मुझे तो कोई समय याद नहीं आता, जब महीने में दो-चार बड़ी पार्टियाँ न कर डालते हों—पाँच-सात से लेकर बीस-बीस लोगों की—बढ़िया शराब, अच्छे-से-अच्छे रेस्त्रां का सामिष भोजन, हरेक का व्यक्तिगत ख्याल। कभी संगीत, कभी शायरी, कभी होली की भाँग तो कभी दीवाली के ताश। हमेशा जैसे पार्टियों के लिए बहाना तलाश करते हों! कभी नाटक वालों के साथ, तो कभी लेखकों-कवियों के, कभी गुलजार जैसे फिल्मवाले, तो कभी खुशवंत-अकबर जैसे पत्रकार, कभी व्यवसाय के लोग, तो कभी और मित्र। वह खुलापन और मेहमान-नवाजी...खुशी देने और आनन्द बटोरने का वह उत्साह ...सब मिलाकर शब्द और शब्द-शिल्पियों के साथ अधिक-से-अधिक समय बिताने का मोह। आर्यसमाजी यज्ञों और गुरुकुल की पृष्ठभूमि के साथ यह सब नहीं न ...मगर उसी निषेध और अस्वीकार के खिलाफ तो जिन्दगी-भर लड़ते रहे—एक संस्था के रूप में, एक सहयोगी प्रयास की तरह और यारों-के-यार बनकर...

अजीब अंदाज था उनकी दोस्ती का! मालूम नहीं कहाँ—क्या होता था कि वे अचानक ही दोस्त से अधिक बड़े भाई हो जाते थे। जितने साहित्यिक झमेलों में वे कहीं-न-कहीं रहे हैं, शायद ही कोई प्रकाशक रहा हो। कमलेश्वर-देशी प्रसंग है तो ओंजी वहाँ हैं; रेणु और लतिकाजी का कोई आपसी तनाव है, या उन्हें नए

उपन्यास की तैयारी करनी है—और ओंजी हर समय आसपास सुलभ हैं; पुष्पा ने राकेश का जीना मुहाल कर दिया है या अनिता का कोई सिलसिला है—तो सारी तवालते उठाए ओंजी टैक्सियों में भाग-दौड़ कर रहे हैं, दुनिया-भर के फोन खटखटा रहे हैं, आधी रात को मौजूद हैं; 'एकदम चलना है...',—मुझे दिल्ली आना है, या मन्नू को यहाँ नौकरी चाहिए—और ओंप्रकाशजी दुनिया-भर के लोगों से मिल रहे हैं, हम लोग उनके घर आकर टिके हैं, सामान और किताबें राजकमल में मँगा लिए गए हैं; कृष्णचन्दर सलमा प्रकरण है और ओंजी उनके रहने-छिपाने का इन्तजाम कर रहे हैं—जाने कितने किस्से हैं, जाने कितने झगड़े-लड़ाइयाँ, बहसें और नाटक वहाँ नहीं हुए हैं! ओंजी बीच-बचाव या सफाई पेश करते हैं—"भाई मेरे, तुम यह क्यों नहीं सोचते..."। राकेश को 'अँधेरे बन्द कमरे' लिखना है, तो कागज कटवाकर भेजवाने से लेकर, रात-रात भर उसे 'दिल्ली रात की बाँहों में' दिखा रहे हैं—एयरकण्डीशन ठीक करा रहे हैं। मैं कसौली गया हूँ, और राकेश को लेकर एक दिन ओंजी वहाँ—"सोचा, चलो तफरीह करेंगे! बहुत उपन्यास लिख गया होगा—अब बाधा डाली जाए..." मेरी शादी का रिसैप्शन है कलकत्ते में। संयोग से वे नगर में हैं। देखा तो बाँहें खोले चले आ रहे हैं—'बधाइयाँ...'

उन्हें मैंने हमेशा दूसरों में ही इतना उलझे पाया, कि कभी जान ही नहीं सका कि उनकी अपनी भी कोई समस्याएँ हैं। आज आश्चर्य ही होता है कि मेरे या दूसरे साथी लेखकों की छोटी-से-छोटी बातें जानने के बावजूद, उन्होंने कभी हम लोगों को पता नहीं लगने दिया कि उनकी व्यक्तिगत या पारिवारिक स्थिति क्या है। उन्होंने कभी किसी घरेलू बात का जिक्र नहीं किया। जब-जब हम उनसे मिले या उनके पास गए, तो अपनी बात को लेकर ही इतने आक्रान्त थे कि इधर-उधर देखने की फुरसत ही नहीं मिली। इसके सिवा हम कुछ भी नहीं जानते थे कि वे अपने परिवार और घर के मालिक थे, एक सामान्य सुख-सुविधा और सुरुचि से सम्पन्न, उच्च-मध्यवर्गीय, सन्तुलित और सहयोगी परिवार था, उन्हें नई-से-नई कलात्मक चीजें लाकर घर में सजाने का शौक था। इससे अधिक जानकारी सिर्फ इतनी ही कि उनकी हर भौतिक और सांसारिक जरूरत को पूरा करने वाली भाभीजी हैं, और उनकी हर अमूर्त या व्यावसायिक सनक और दिमागी फ़ितूर का हमख्याल वेटा है। अन्दर कितना थे, मैं नहीं जानता—मगर हल्का-सा परेशान पाया था मैंने उन्हें तब, जब अरविन्द भारत नहीं आ रहा था या वहीं उसने अपना जीवन-साथी चुन लिया था। विन्नी और अरविन्द को लेकर भावुकता के दो-चार क्षण भी शायद देख लिए हों। अक्सर मुझे समझाते—"अब उस झगड़े को खत्म करो! यादवजी, बातों को मन में नहीं रखना चाहिए..." मगर खुद वे 'राजकमल' को शायद ही कभी मन से छोड़ पाए हों...

ऐसा नहीं है कि उनके इन गुणों, महानताओं और अवदानों की पहचान के लिए मैं, अपने अनेक साथियों की तरह उनके मरने की राह देखता रहा हूँ। उनके जीवन-काल में भी मेरी दो आकांक्षाएँ रही हैं : एक तो सर ऐलेन की आत्मकथा—'एक

प्रोफेशन फॉर द ए जेण्टलमन' जैसी अपनी बेबाक और ईमानदार आत्मकथा वे भी लिखें; दूसरे उन्हें लेकर मैं साहित्य और प्रकाशन की व्यावहारिक समस्याओं पर पुस्तक सम्पादित करूँ..."अरे छोड़ो-छोड़ो, कोई और बात करो..." बात को टालने का उनका अपना तरीका था। शायद उन्हें सचमुच विश्वास नहीं था कि उन्होंने ऐसा कुछ विशिष्ट और अद्वितीय किया है, कि मुझ जैसा तथाकथित स्नॉब लेखक, बिना किसी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्वार्थ या जरूरत के यह बात सोचेगा। इस बात पर खुद विश्वास नहीं करना चाहते थे, और अपने या दूसरों से लड़ते थे; मगर कहीं मानने भी लगे थे कि गुण अपने-आप में कभी मान्यता नहीं पाता, जब तक कि माननेवाला उसमें अपना कोई काँटा या उपयोगिता नहीं फिट कर लेता। यह उनकी शिकायत भी कहीं-न-कहीं रही ही होगी, कि कम-से-कम लेखकों को तो उनके प्रयासों की ईमानदारी या संघर्षों को समझना चाहिए...आखिर वे सहयोगी और सक्रिय सहयात्री की तरह उनकी ही तो लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, उन्हीं प्रश्नों और समस्याओं से जूझ रहे थे जो भारत जैसे गरीब, अशिक्षित और विकासशील देश में हर जागरूक बुद्धिजीवी को कुण्ठित और अवरुद्ध करती हैं। वे हम ही लोगों के तो हाथ और पाँव बनकर जिए थे! और इसी दृष्टि से, ऐसा ही एक लेख मैं उनकी वर्षगांठ पर लिखना चाहता था। भारती को मैंने 'धर्मयुग' के लिए लिखने की इच्छा जाहिर करते हुए 14 मई '75 को लिखा था—"मैं सचमुच महसूस करता हूँ कि अपनी सारी सीमाओं के बावजूद, प्रकाशन के क्षेत्र में ओंजी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो स्वतन्त्रता के बाद आने वाली पीढ़ी के लेखन से जेनुइनली इन्वॉल्वड रहे। लड़ाइयाँ, मतभेद और पक्षधरताएँ जिस समय होती हैं, तब भले ही कोई व्यक्ति स्वार्थपरता, टुच्चेपन तथा किन्हीं और मन्तव्यों का एहसास दिलाता हो—लेकिन बाद में जब लम्बे पर्स्पेक्टिव में देखते हैं, तो वह सब जीवन्त होने की प्रक्रिया का ही एक अंग लगता है। वैसे आज भी मैं कह सकता हूँ कि ओंप्रकाशजी न मेरे बहुत घनिष्ठ रहे हैं, न कभी खुलकर लड़ाई हुई है। बल्कि शिकायत हमेशा यही रही है कि पंजाबी और एक नगर के होने के कारण, राकेश के प्रति उनका पक्षपात अधिक था। फिर भी जब 25 वर्षों के इतिहास को देखता हूँ, तो व्यक्ति के कण्ट्रीब्यूशन से इनकार नहीं कर सकता। बल्कि मैं तो यही कहूँगा, कि अगर ठीक समझो तो इस अवसर पर उनके ऊपर एक लेख 'धर्मयुग' में दो। हम लोग किसी के मर जाने पर बहुत छाती-माथा कूटते हैं, लेकिन उसके जीवित रहने के अपराध को कभी क्षमा नहीं कर पाते। आशा है, इसे तुम मेरी भावुकता नहीं समझोगे..."

मगर जैसी कि उम्मीद थी, भारती ने बात टाल दी। उन दिनों संजय और कमलापति त्रिपाठी की प्रशस्तियाँ उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण लग रही थीं और वहीं सूरज के अंश दिखाई देते थे। वस्तुतः भारती छोटे दिल और ओछे व्यवहार के, खुन्नस पालनेवाले व्यक्ति हैं—बैनेट कोलमैन की 'बेहद बड़ी' नौकरी से आक्रान्त-परितृप्त, मगर संस्कार-शून्य और साहित्य-विरोधी। उन्हें सिर्फ उतना ही साहित्य चाहिए, जितना अपने विरोधियों को ठिकाने-लगाने और अपने यश को कन्धा देने के लिए जरूरी है। दफ्तर में या बाहर, लम्बे या थोड़े समय के लिए जो भी उनके सम्पर्क में

आया है, वह उनके व्यक्तित्व के किसी उदात्त पक्ष की बात नहीं करता। कुर्सी से अलग कमलेश्वर आज भी हीरो बनकर रह सकता है—ऐसी स्थिति में भारती, बहुत व्यस्त या अपने में ही मस्त होने की घोषणाओं के बावजूद, रिटायर्ड ब्यूरोक्रैट की तरह सुबह-सुबह चींटियों को आटा खिलाएँगे और दिन-भर घर में पेशेंस खेलेंगे। कहने की जरूरत नहीं, ऐसा 'अफसर' अपनी 'शक्ति' के दिनों में सत्ता और कुर्सी की प्रशस्ति गाता है, और बाकी लोगों को अपनी शक्ति का एहसास कराने में ही लगा रहता है। चूँकि इन सब योजनाओं में ओंप्रकाशजी कहीं नहीं आते थे, इसलिए भारती क्यों उनके जन्मदिन पर लेख छापते? आखिर वे जयप्रकाश या लालबहादुर शास्त्री तो नहीं थे! साहित्य के प्रकाशक की इतनी उपयोगिता पत्रकार की निगाह में कहाँ है? हाँ, जब उन्होंने भारती के इलाहाबादी दिनों में, उन्हें और उनके दल को 'आलोचना' देकर और 'नई कविता' का वितरण करके मंसूरी के पहाड़ तक ऊँचा उठा दिया, तब वे जरूर समझदार और जागरूक आदमी थे। (मंसूरी की ही तो 'माया' थी कि वहाँ आराम करने जाकर 'बाइ द वे' धर्मयुग की भी जिम्मेदारी आ-पड़ी) इसके बाद तो ओंप्रकाशजी पंतजी जैसे निरीह और प्रगतिशीलों जैसे खूँखार लोगों के 'चक्कर' पड़ गए। बहरहाल, इतना तो श्रद्धांजलि देते हुए भारती ने मान ही लिया है, कि 'नई कविता' का वितरण करके ओंप्रकाशजी ने बहुत काम किया ('नई कहानियाँ', 'आलोचना' और 'प्रकाशन-समाचार' तो मानो किसी और ने निकाले थे!)

और यह भी सच ही है कि प्रगतिशीलों के चक्कर में तो ओंप्रकाशजी थे ही। साम्प्रदायिक, हवाई, व्यक्तिवादी, शोषण और मानवद्रोह-समर्थक कवि-लेखकों को ओंप्रकाशजी का शायद ही कभी मुक्त समर्थन मिला हो। हालाँकि 'राधा-कृष्ण' के दिनों में उन्हें बर्दाश्त जरूर करने लगे थे। प्रकाशकीय सम्बन्धों और व्यक्तिगत घनिष्ठता के बावजूद, निर्मल के साम्यवाद-विरोधी विचारों, अमूर्त्त-रहस्यवादी सोच और तरल-अस्पष्ट भाषा का वे उनसे ही खुलकर विरोध करते रहे थे। मगर निर्मल संवेदनशील कथाकार और संस्कार से कलाकार हैं, इसलिए वे ओंप्रकाशजी के संघर्ष और तड़प को ज्यादा गहराई से समझते थे।

ओंप्रकाशजी से मेरे सम्पर्क की शुरुआत कुछ विशेष पूर्वग्रहों के साथ ही हुई थी। 'प्रेत बोलते हैं' (अब 'सारा आकाश') के कारण मेरे सम्बन्ध 'प्रगति प्रकाशन' से बन चुके थे। बलवन्त सहगल और प्राणनाथ नागपाल—दोनों ही सुरुचि, सपने और उत्साह लेकर प्रकाशन में आए थे। तबीयत और साधनों दोनों के नवाब थे, और एक-से-एक बड़े नामवाली किताबें छापकर हिन्दी में तहलका मचा चुके थे। उन्होंने अनुबन्ध किया कि आगे मैं जो भी लिखूँगा वह वहीं से छपेगा, और इसके लिए वे प्रतिमास दो सौ रुपये दिया करेंगे। 'सारा आकाश' पर भी दो सौ रुपये दिए थे। राकेश से भी ऐसा ही अनुबन्ध हुआ था। राकेश से मेरा परिचय हो चुका था, नया-नया। वह शीलाजी के पास आगरे आया था। हम दोनों ही इस अनुबन्ध से सातवें-आसमान पर थे। उन दिनों अच्छे-खासे लेक्चरर को भी डेढ़ से लेकर ढाई सौ तक ही मिलता था। राकेश मुझे 'राजकमल' ले गया। राजकमल का हमारे लिए

काफी आतंक था। आगरे में कमलेशजी यहाँ की बहुत बातें करते थे। उन्होंने शायद के. एम. मुंशी के उपन्यासों के अनुवाद किए थे, और लीलावतीजी के माध्यम से वहाँ से परिचित हुए थे। मैं नया लेखक था। बड़े प्रकाशकों से परिचय होना मेरे लिए जरूरी भी था और गौरव की बात भी थी। प्रकाशन के नाम पर मैंने, चौकी लगाकर बैठे भोलानाथजी (विनोद पुस्तक मन्दिर) या अपनी पहली पुस्तक के प्रकाशक–'राजेन्द्र प्रकाशन' के मालिक सेठ रतनलाल को, गद्दी पर गावतकिये के सहारे अधलेटे देखा था। 'साहित्य-रत्न भण्डार' कुछ आधुनिक था, मगर महेन्द्रजी नेता अधिक थे। दिल्ली में बाकायदा अच्छी मेज-कुर्सियों और दफ्तरी व्यस्तताओं वाले आधुनिक प्रकाशन देखना मेरा पहला अनुभव था।

दरियागंज में पीछे गली की ओर, एक सीढ़ी के दोनों ओर दो छोटे-छोटे ऑफिस थे। और बाईं ओर जिन श्वेतकेशी आत्मीय सज्जन से राकेश ने मिलवाया, वे देवराजजी थे–सबसे काफी हल्के। उसी दिन से मेरे मन में यह बैठ गया है कि शायद देवराजजी के बाल कभी काले रहे ही नहीं। राकेश का परिचय पहले से था। यों भी ऐसे मौकों पर वह 'असी-तुसी' बोलने लगता था। मैं संकोची था, और यहाँ तो अकेला भी पड़ गया था। देवराज जी के चेहरे और व्यवहार में कुछ ऐसा अपनापन और आश्वस्तिदायक भाव मिला, कि राजकमल के अपने पूरे सम्बन्धों के दौरान मुझे यही लगता रहा कि मैं देवराजजी के अधिक निकट हूँ, और ओंप्रकाशजी का स्पष्ट पक्षपात राकेश के लिए है। खैर, देवजी ने हम दोनों को दूसरी तरफ ले जाकर ओंजी से मिलाया। औपचारिक-सा परिचय था। एकाध बात कमलेशजी और डॉ. रामविलास शर्मा की हुई होगी। प्रगति-प्रकाशन के सम्बन्ध की बात पर शायद उन्होंने कहा था कि "ये लोग बहुत फास्ट चल रहे हैं–वात्स्यायन जैसे सलाहकार मिल गए हैं"। फिर मैं बैठा किताबें देखता रहा और राकेश वहीं 'असी-तुसी' करता रहा। पंजाबी उन दिनों मेरे लिए एकदम अपरिचित भाषा थी। (तब तक मैंने जोश मलीहाबादी का यह प्रसिद्ध वाक्य भी नहीं पढ़ा था कि "मैं सोचता हूँ कि उम्र के अन्त में पंजावी अब सीख ही ली जाए। आखिर दोजख की राष्ट्रभाषा भी तो यही है") उधर ओंजी और राकेश दोनों अमृतसर के पुराने और पड़ोसी मुहल्लों के रहनेवाले थे। राकेश उनसे नई किताब की बात कर रहा था, शायद कहानी-संग्रह की। मुझे अजीब भी लगा कि अभी तो प्रगतिवालों से सारी किताबों की बात करके आया है। बहरहाल, मेरे मन में यह गाँठ उसी दिन बैठ गई कि मुझे राकेश के मुकाबले यहाँ तरजीह नहीं मिलेगी। हालाँकि तक तक मेरी दो किताबें आ चुकी थीं। 'प्रेत बोलते हैं' और राकेश का 'इन्सान के खण्डहर' आनेवाले थे। मगर निश्चय ही राकेश मुझसे लाख गुना अच्छा पी.आर.ओ. था। व्यवहारकुशल तो वह था ही!

यह जमाना वह था, जब पंजाबियों के लिए 'बेचारे शरणार्थी' का भाव जाने कबका खत्म हो चुका था। सामाजिक और खासतौर पर व्यावसायिक जीवन में वे जिस आक्रामक ढंग से छा गए थे, उसे लेकर उत्तर-प्रदेश के लोगों में प्रतिरोध और

आक्रोश ही अधिक था। कोई भी काम, खास तौर से हाथ से काम करने को नीची निगाहों से देखनेवाला, आलसी, ढोंगी और निष्क्रिय उत्तर प्रदेशीय बौखलाया हुआ था। वे स्वस्थ, सुन्दर, मेहनती, बेधड़क और कर्मठ थे, और एक बड़ा चुनौतीभरा समानान्तर सामने रख रहे थे। इसलिए हम लोग उनकी व्यावसायिक और दूसरी नैतिकताओं के पहलू से उन पर आक्षेप करते थे। लगभग सारे ही व्यवसाय और व्यापार को उन्होंने हथिया लिया था। हिन्दी-प्रकाशन पर भी वे ही छाए हुए थे। राजकमल, आत्माराम, राजपाल, प्रगति-प्रकाशन इत्यादि ने हिन्दी-प्रकाशन का सारा हुलिया ही बदल डाला था। मैं भी अपने प्रान्त की उसी कुण्ठा का शिकार था, कि इन लोगों से अपनी पुस्तकों का कुछ हिसाब-किताब बैठाना है तो 'असी-तुसी' होना जरूरी है। उन्हीं दिनों एक बार सुना भी—मोहन चोपड़ा का कोई उपन्यास था और बेहद कच्चा था, इस पर आत्माराम के श्री रामलाल पुरी ने कहा—"चलने दे यार, छाप डाल। पंजाबी मुंडा है।" बहरहाल, राकेश से मेरे सम्बन्ध बहुत आत्मीय हो चुके थे, लेकिन उसी के कारण मेरे और ओंजी के सम्बन्धों में एक गाँठ बनी रही। या यह भी हो सकता है कि पहली मुलाकात में ही प्रगतिवालों से मेरी यह बात हो गई, और इसीलिए राकेश जानबूझकर यह दिखा रहा था कि वह इन सब लोगों के कितना निकट है।

प्रगति-प्रकाशन बिखर चुका था, और 'प्रेत बोलते हैं' छपकर प्रेस से बाहर ही नहीं आया। उधर मैंने 'उखड़े हुए लोग' तैयार कर लिया था। मैं चाहता था कि वह किसी बहुत अच्छी जगह से आए। 'भारती-भण्डार' से असमर्थता की सूचना आ गई थी, हालाँकि पाठकजी को उपन्यास पसन्द आया था। उन्होंने ओंप्रकाशजी का नाम सुझाया—मेरा भी कमलेशजी से यही आग्रह था कि जैसे भी हो, उसे राजकमल से आना चाहिए। उन्हीं दिनों 'नेशनल' के मलिक साहब से भी मिला था, शायद क्षेमेन्द्र सुमन के कहने पर। मेरे सुझाव पर 'ज्ञानपीठ' में राकेश के कहानी-संग्रह 'नए बादल' की बात तय हो गई थी, और वह बदले में कुछ करना चाहता था। उसने ओंप्रकाशजी से सिफारिश करने का आश्वासन दिया। बाद में बताया कि कहते हैं—बहुत बड़ा है! राकेश अक्सर ही दिल्ली आया करता था। उसने उपन्यास पढ़ लिया था और बेहद तारीफ का पत्र लिखा था। आज मुझे लगता है कि उसे भीतर से तकलीफ भी थी। खुद तो वह शिमला-जालंधर की नौकरियों और आगरे में शीलाजी को लेकर परेशान था, और कुछ लिख नहीं पाता था। हाँ, मुझे 'लिक्खाड़' कहकर छेड़ता, या बाकायदा गम्भीर भाव से सिद्धान्त-बघारता कि नए और प्रतिभाशाली लेखक को बहुत सोच-समझकर और बहुत कम लिखना चाहिए। खैर, ओंप्रकाशजी से अनेक बार बातें हुईं और टूट गईं। मैं कलकत्ते चला गया। 'हिन्दी प्रचारक' और 'आत्माराम' दोनों से बात नहीं बनी। ओंप्रकाशजी किसी काम से कलकत्ते आए थे। कृष्णाचार्यजी ने मुलाकात कराई। वह पहला मौका था कि बिना राकेश को बीच में डाले, मैंने उनसे अपनी रचनाओं के प्रकाशन को लेकर सीधे बात की। बोले—"मुझे मालूम है! राकेश जी और पाठक जी दोनों

उसकी बहुत तारीफ कर रहे थे। लेकिन एक तो इतना बड़ा उपन्यास, फिर आपकी कहानी-संग्रह वाली शर्त—एडवांस की राशि। पहले कमिटमैण्टों के कारण हम इसे नहीं ले पाएँगे। हमारा अपना प्रेस बहुत व्यस्त है। मैं खुद अपने उपन्यास बनारस में छपा रहा हूँ।'' फिर पता नहीं कैसे, बात इस पर आ गई कि ''आप एक काम कीजिए, दोनों यहाँ छपा लीजिए और बिल हमारे पास भेज दीजिए...'' यही बाद में हुआ भी। मैं आज भी विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता कि यह दिक्कत वास्तविक थी, या दोनों किताबें छप जाने तक वे इस बात को दिल्ली (या राकेश?) से दूर रखना चाहते थे। सच्चाई जो भी हो, पुस्तकें छप जाने के बाद राकेश ने इस सारी घटना का जो रूप सामने रखा, उससे मेरे मन में आया कि कैसे हैं ओंप्रकाशजी? उन्होंने सारी बात शायद मेरे ऊपर डाल दी थी। मैं इस बात से इतना खिन्न हो गया, कि दूसरे संस्करण के लिए जब उन्होंने बताया कि कुछ देर लगेगी, तो मैंने उसे 'साहित्य-सदन' देहरादून को दे दिया। राकेश की भी सलाह यही थी कि जब ओंजी तुम्हारी किताबों में दिलचस्पी ही नहीं लेते, तो वहाँ डाले रखने से क्या फायदा...उसके दिमाग पर तो बस रेणु सवार है...और रेणु से ओंप्रकाशजी को 'बचाने' में राकेश को समय लगा। मैं कलकत्ते में था, और राकेश ने मुझे यह विश्वास दिला दिया था कि इधर मेरा जो भी काम होगा, वह जरूर कराने की कोशिश करेगा। दिल्ली इत्यादि तो आया ही करता है। जाने क्यों मुझे विश्वास हो गया था, कि किसी भी बात की पेशकश करने या बातचीत को कुशलतापूर्वक एक नतीजे तक पहुँचाने के मामले में मैं एकदम मूर्ख हूँ, और राकेश ज्यादा समझदार और सफल है। मैं कलकत्ते से जब इलाहाबाद होता हुआ दिल्ली आता तो अश्कजी, मार्कण्डेय या दूसरे मित्र छेड़ते भी थे; मगर मुझे भी यह समझने में वक्त लगा कि राकेश की यह कला सिर्फ अपने हित के लिए ही थी, अपने किसी भी 'एकमात्र दोस्त' के लिए नहीं। बकौल खुद ओंप्रकाशजी, बाद में एक बार तो उसने बाकायदा यह शर्त की तरह कहा था—''तुम्हारे यहाँ से या तो निर्मल छपेगा, या मैं...''

फिर 'राजकमल' में कुछ हुआ और ओंप्रकाशजी इलाहाबाद आ गए। आज जहाँ 'लोकभारती' है, वहाँ ठाट-बाट से 'राजकमल' खुला। ओंप्रकाशजी वहाँ के बादशाह थे। वे पूरे जोम में थे और बनारस, पटना, कलकत्ता एक किए हुए थे—चारों तरफ गनि और ऐक्शन! साहित्य में भयानक गहमागहमी के दिन थे। 'परिमल' और प्रगतिशील दोनों ही खेमे, प्रतिस्पर्द्धाओं और रचनात्मक होड़ में एक-दूसरे को चित करने में लगे थे—कौन राजकमल को अपने साथ ले ले। अंग्रेजी और हिन्दी की सेक्रेटरियों वाले ओंप्रकाशजी से सीधे मिल पाना, किसी मिनिस्टर से मिलने से कम नहीं था। हँस कर कहते थे—''मुझे यू. पी. के भैया लोगों की आदतें पड़ती जा रही हैं—पान अच्छा लगता है, भांग को मना नहीं करता, और मालिश करके नहाने या दोपहर को सोने में बड़ा मजा आता है।'' उन्हीं दिनों कमलेश्वर ने एक कहानी लिखी थी—'बड़े दिन का उपहार'। उसमें एक बॉस की सेक्रेटरी, पिछले दिन अपने प्रेमी के साथ किए गए होटल के खर्चे का सारा बिल,

लिफाफे में बन्द करके बॉस को उपहारस्वरूप देती हैं।

नए लेखकों के साथ होने, उन्हें प्रोत्साहन और वातावरण देने का क्या उत्साह था उन दिनों, ओंप्रकाशजी में। रेणु को उन्होंने इलाहाबाद बुला लिया था और उसकी सारी व्यवस्था राजकमल ने की थी। सारी गतिविधियों और आन्दोलनों के केन्द्र थे ओंप्रकाशजी। कमलेश्वर भी उन दिनों राजकमल में था, और राकेश के मुकाबले निश्चय ही ज्यादा सीनियर था। मेरे ही सम्बन्ध अब सीधे उन्हीं से बन रहे थे, कि देशी को लेकर कमलेश्वर और ओंप्रकाशजी की ठन गई। लड़ाई अश्क जी और कमलेश्वर के बीच थी, क्योंकि देशी किताब-महल से राजकमल आई थी। फिर दोनों ने राजकमल छोड़ दिया और मिलकर 'श्रमजीवी-प्रकाशन' शुरू कर दिया। स्वाभाविक था कि मैं प्रकाशक के साथ नहीं, अपने लेखक-मित्र के साथ था। जिन दो किताबों की बात ओंजी से हो चुकी थी, वे मैंने कमलेश्वर को दे दीं—'कुलटा' और 'मन्नू की कहानियाँ'। दोस्ती का दावा कमलेश्वर से राकेश भी करता था, मगर उसने न तो उसे कोई किताब दी, न ओंजी से अपने सम्बन्धों में अन्तर आने दिया। इस मामले में उसमें आश्चर्यजनक व्यवहार-कुशलता थी। बाद में भी, जवाहर चौधरी से 'जीवन-मरण की मैत्री' के बावजूद, उसने 'शब्दकार' को किताब कोई नहीं दी।

मैंने और राकेश ने साथ ही निर्णय लिया, और हम दोनों '58-59 में दिल्ली आकर रहने लगे—वह देवनगर, मैं करोलबाग। साहित्य के दो केन्द्र—कॉफी-हाउस और राजकमल। ओंजी और मेरे सम्बन्ध वही छेड़छाड़, तंज और प्रेम-घृणा के बने रहे। मिलना-जुलना, खाना-पीना सभी था, मगर मेरी किताबें 'राजपाल' और 'ज्ञानपीठ' से ही आ रही थीं। हाँ, उन्हीं दिनों मैंने 'सारा आकाश' उन्हें दिया—नई किताबों के अनुबन्ध किए, और फिर कलकत्ते चला गया। वहाँ उन्होंने कामू के 'आउट-साइडर' का अनुवाद कराया, और 'अजनबी' उन्हें बेहद पसन्द भी आया। मूल्यांकन के लिए वे लगातार पाण्डुलिपियाँ भेजा करते थे। हो सकता है मेरी 'क्षमताओं' की उनके मन में इज्जत हो, मगर वह उन्मुक्त आत्मीयता हम लोगों में नहीं ही थी, जो राकेश के साथ उनकी थी। आज यह बात मेरे सामने ज्यादा साफ है कि राकेश की सारी बारीकियों के बावजूद, वे कहीं-न-कहीं मुझसे सम्बन्ध बनाए रखना चाहते थे। बाद में वह माध्यम मिलीं मन्नू। उन्होंने 'नई कहानियाँ' का वार्षिकांक मन्नू से ही सम्पादित कराया, और इसके लिए खुद कलकत्ते आए। मैं आगरा के आसपास ही रहना चाहता था। मन्नू को दिल्ली लाकर जमाने का सारा श्रेय ओंप्रकाशजी को ही है। मन्नू से शायद राकेश को भी कोई 'खतरा' नहीं था। वह उसकी राजनीति में फिट बैठती थी। लेखन-क्षेत्र में मुझसे राजनैतिक-सम्बन्ध रखकर भी, व्यक्तिगत और पारिवारिक बनाए रखी जा सकती थी। वैसे भी यह मुझे निहायत घटियापन लगता है कि आज आपकी लड़ाई हुई, और अगले दिन आपने पाया कि 'भाभी और भतीजे' आपको पहचानते भी नहीं हैं, या परसों फिर 'नमस्ते अंकल' होने लगा।

बहरहाल, 'नई कहानियाँ' से लेकर राजकमल छोड़ने तक, राकेश-कमलेश्वर

के साथ-साथ ओंप्रकाशजी के साथ भी खाना-पीना, घूमना-लड़ना सभी कुछ होता रहा, मगर सम्बन्ध वही खिंचे-खिंचे बने रहे। हम दोनों जानते थे कि बीच में कहीं राकेश ही है, इशारों से इसे मानते भी थे। हिन्दी लिखने को लेकर राकेश के मन में एक खास तरह की आत्मविश्वास-हीनता थी, और जब वह लिखते या टाइप करते समय हर बार कोश खोलकर देखने लगता, तो मैं हमेशा छेड़ता—"राहुलजी ने कहा है कि मातृभाषा उसे कहते हैं, जिसे आप चाहकर भी गलत नहीं लिख पाते—आप सिर्फ उसके स्वरूप और शैलियाँ विकसित करते हैं। यानी सब मिलाकर उसे समृद्ध करते हैं! तू कोश में क्या देखा करता है?" बात सही हो या नहीं, मगर यह तो तथ्य ही है कि राकेश से घनिष्ठ होने के बाद, वे सारे लेखक ओंप्रकाशजी की बाहरी परिधि में आ गए थे, जिन्हें उन्होंने इलाहाबाद में अपने साथ जोड़ा था—कमलेश्वर की तो कोई किताब भी राजकमल से शायद नहीं छपी! राकेश, मेरे और ओंप्रकाशजी के सम्बन्धों को सिर्फ अपने ही माध्यम से, उन पर दबाव डालने या अपनी बात मनवाने के लिए ही रखना चाहता था। विरोध की भाषा होती थी—"ओंजी शिवदानसिंह चौहान पर 'अत्याचार' कर रहे हैं, हम लोगों को एकदम असहयोग कर देना चाहिए"..."ओंजी भैरव पर दबाव डाल रहे हैं कि किसी इनकम-टैक्स के आदमी की कहानी छापें, अब हममें से कोई भी नई कहानियाँ में नहीं लिखेगा!" मगर जब सुषमा धवन या देवराज उपाध्याय की उपन्यास-समीक्षा पुस्तक, या 'आलोचना' के विशेषांक में 'अँधेरे बन्द कमरे' का जिक्र शामिल करा लिया गया—तो सारा 'अत्याचार' समाप्त हो गया; 'नई कहानियाँ' में 'हाशिये पर' जगह मिल गई तो असहयोग वापस। "ओंजी हिन्दी के मौलिक लेखन की इज्जत नहीं करते और उर्दू वालों को बहुत उछाल रहे हैं का मतलब था, राकेश के नाम की सबसे ऊपर पब्लिसिटी!

वैसे ओंप्रकाशजी बेहद स्वच्छन्द और जिद्दी व्यक्ति थे, और आवेश के किसी भी क्षण में कोई भी निर्णय ले सकते थे। 'यह कीजिए वर्ना...' कहकर उनसे कोई काम शायद ही कराया जा सके। मगर राकेश उनके मनोविज्ञान को सबसे ज्यादा समझता था। नई प्रतिभाओं को भरसक सहयोग-सहायता देना और मेधावी समर्थ लेखकों को साथ रखना—ओंप्रकाशजी के इस गुण को राकेश ने बेहद सफलता और कौशल से अपनी सेवा में लगा लिया था। जहाँ जरा भी 'खतरा' लगा, वहीं दबाव, प्रभाव और भावुकता के दाँवपेंच...मैं जानता हूँ, अगर ओंप्रकाशजी का साथ न होता तो न उसे संगीत-नाटक अकादेमी का पुरस्कार मिलता, न नेहरू-फैलोशिप! शायद अनिता का साथ हो पाना भी मुश्किल होता...तन-मन-धन सबसे उन्होंने राकेश को संरक्षण और सहयोग दिया था, उसकी सारी लड़ाइयाँ उन्होंने लड़ी थीं...आज किसी गुण्डे से राकेश की लड़ाई हो गई है—ओंजी इसे गृहमंत्री लालबहादुर शास्त्री के यहाँ ले जा रहे हैं, कोई और योजना है—और प्रधानमन्त्री के यहाँ श्री बावरी और उषा भगत से मिला रहे हैं, नाटक के क्षेत्र में कुछ होना है—और वे सुरेश अवस्थी और अलकाजी को अपने यहाँ ड्रिंक्स पर बुला लेते हैं; अनिता का परिवार आया है और

राजकमल का गेस्ट-हाउस उनके लिए हाजिर है; राकेश को अनिता के साथ बम्बई भागना है और वे पैसे लिए एयरपोर्ट पर मौजूद हैं; पुष्पा से निपटना है—ओंजी ही कर लेंगे सब, धमकाना-समझाना जो भी हो!

राकेश इस बात को लेकर काफी चौकस था कि मेरे या कमलेश्वर के ओंप्रकाशजी से सीधे सम्बन्ध न बनें। मेरे दुष्प्रभाव से तो उसने सिर्फ उन्हें बचाकर ही रखा, मगर कमलेश्वर की जिम्मेदारियों और आर्थिक अस्थिरता का फायदा उठाकर, अनेक बार उसे अपमानजनक स्थितियों और जलालत में डाला था। भैरवजी के 'नई कहानियाँ' छोड़ देने के बाद तय हुआ कि हम सब लोग साथ हैं, ओंप्रकाशजी ही क्यों न संपादन करें! साल-छः महीने उन्होंने किया भी, कि अचानक बात उठी—"नई कहानियाँ सिर्फ पत्रिका ही नहीं है कि कोई भी व्यक्ति बैठकर संपादन करने लगे। वह एक फोर्स और आन्दोलन भी है! उसमें कहानी का ही कोई व्यक्ति होना चाहिए। वर्ना नीहारिका, सरिता या माया जैसी व्यक्तित्वहीन पत्रिका होकर रह जाएगी!!" तब वहाँ कमलेश्वर का नाम आया। कुछ समय बाद अचानक माहौल बनना शुरू हुआ कि ओंप्रकाशजी ने 'नई कहानियाँ' बन्द करने का निर्णय ले लिया है। राकेश और कमलेश्वर ऊपर-नीचे रहते थे। अब कमलेश्वर क्या करेगा? हम लोगों की गम्भीर बैठकें हुईं—कभी मेरे यहाँ, कभी वहाँ। यहाँ तक तय हुआ कि अगर राजकमल ऐसा करे, तो पत्रिका को हम लोग ले लें और चलाएँ। पैसों की सम्भावनाओं और दूसरी व्यवस्थाओं पर भी विचार-विमर्श हुआ, कि बात का धीरे-धीरे एक नया ही रूप उभरने लगा। तनाव के कारण कमलेश्वर-ओंप्रकाशजी के बीच संवाद नहीं था और बकौल राकेश—मुझे वे पसन्द नहीं करते थे। यानी उनसे बात करने का सेतु वही था। एक दिन बहुत हैरान-परेशान, बौखलाए हुए राकेश ने आकर हम दोनों को बताया—"यह नहीं होगा...कल का बन्द करता आज कर दे! मगर मैं तो मना कर आया हूँ कि ऐसा हरगिज-हरगिज नहीं करूँगा...!!" सारे विस्फोट और उफान के बाद जो बात निकली, वह यह कि ओंप्रकाश कहते हैं—"राकेश, अगर आप इसे सम्भाल लें तो 'नई कहानियाँ' को फिर चलाया जा सकता है!—मैं तो साफ मना कर आया हूँ। कमलेश्वर मेरा दोस्त है, और मैं उसके साथ ऐसा नहीं करूँगा। वैसे भी हम सब तो साथ हैं ही! मगर वह अड़ा है कि 'बाकायदा नाम दीजिए, वर्ना'...खैर, फिलहाल तो मैं कह आया हूँ कि दोस्तों से सलाह ले लूँ...अब तुम दोनों बताओ, फिर कल मेरे ऊपर चढ़ आओगे...कि..." कमलेश्वर ने शायद झटके से कहा—"क्या फर्क पड़ता है? मैं रहूँ, तुम रहो या राजेन्द्र रहे! जरूरी कमलेश्वर नहीं, 'नई कहानियाँ' है। फिर हम लोग सब साथ तो हैं ही!!" राकेश भावुक हो आया। गीली आँखों से बोला—"कैसी बातें करता है कमलेश्वर, मैं तेरी जगह लूँगा? इस वक्त तो सबसे अच्छा यही होता कि यह राजेन्द्र ले लेता! मगर इसकी ओंजी से एक दिन नहीं पटेगी!! मैं तो कहता हूँ कि कर देने दो बन्द, हम लोग चलाएँगे!!!" हस्ब-मामूल हम लोग काफी देर रात तक बातें करते रहे और यह बात विस्तार से आई कि माने छोटी है, गायत्री भाभी

का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, किराया और दूसरी आर्थिक परेशानियाँ हैं ही—इसलिए किसी तरह का रिस्क लेना ठीक नहीं है, और कोई-न-कोई तरीका ऐसा निकलना चाहिए कि कमलेश्वर वहीं बना रहे!

खैर, दो-चार मीटिंगें और हुईं, और तस्वीर यह उभरी कि ओंजी किसी भी शर्त पर मानने को तैयार नहीं हैं, कि कमलेश्वर के साथ 'नई कहानियाँ' निकले। हाँ, राकेश अगर अपना नाम दे दे, तो फिर कमलेश्वर भी बना रहे। अब राकेश और कमलेश्वर दोनों ही एक-दूसरे के लिए शहीद हुए जा रहे थे—"तू ले ले..." दोनों ही कॉज और आन्दोलन के लिए हर तरह का त्याग करने को तैयार थे, और व्यक्ति या नाम को कतई महत्त्व नहीं देना चाहते थे। आखिर तोड़ इस पर हुआ, कि कमलेश्वर ही सम्पादक बना रहे—हाँ, राकेश का नाम ऊपर 'सौजन्य-सम्पादक' की तरह जाए। कुछ पैसे कमलेश्वर के कम किए जाएँ और राकेश का किराया-टेलीफोन दोनों 'नई कहानियाँ' दे। थोड़ी देर बाद ही मुझे इसकी तह में किसी खेल की गंध लगने लगी थी, इसलिए मैंने इस सबका विरोध किया। ऊपर-नीचे एक ही मकान में रहकर, यह संपादन और सौजन्य-संपादन कैसा रहा—वह लम्बा और अलग किस्सा है—दोनों के बीच 'संवाद' कागज की चिटों पर होते थे, और राकेश बहुत आग्रही था कि जब तक उसका नाम वहाँ है, पत्रिका में कोई रचना, कोई लेख या रिव्यू, ले-आउट या पंक्ति बिना उसकी 'जानकारी' (या स्वीकृति) के न जाए, और कमलेश्वर पत्रिका के प्रूफ इत्यादि सही ढंग से देखे। वर्ना उसे नाम हटा लेना होगा, और फिर ओंजी पत्रिका बन्द कर देंगे...।

यह सारी घटना राकेश और ओंप्रकाशजी के सम्बन्धों को समझने का सूत्र है। वे भावुक और दोस्त आदमी थे, इसलिए उनसे जो भी-कुछ कराया जा सकता था, और वह उनके इसी पक्ष को छूकर हो सकता था। वे दोस्त की 'इमेज' बनाने के साथ-साथ एक 'अद्वितीय प्रतिभा' के विकास में अपना योगदान दे रहे थे। यही कारण था कि जब ओंप्रकाशजी राजकमल से हटे, तो राकेश ने इसे एक आन्दोलन का रूप देना चाहा कि मामला सिर्फ ओंप्रकाशजी और शीला सन्धू का ही नहीं है, हम सभी लेखकों और बुद्धिजीवियों का भी है। मैं राकेश और ओंप्रकाशजी दोनों से खिन्न था, इसलिए तटस्थ रहा। राकेश अपना सारा समर्थन ओंजी को देता रहा, मगर मिलना-जुलना शीलाजी से भी बनाए रहा। शीलाजी की पृष्ठभूमि हिन्दी की नहीं थी, और साफ था कि उन्हें एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी, तो सलाहकार-सम्पादक हो सके। ओंप्रकाशजी फिर भी हिन्दी के ही थे, और सारी बातें खुद समझते और निर्णय लेते थे। शीघ्र ही 'राधाकृष्ण' शुरू हुआ, और सुनाई दिया कि राकेश अपनी सारी किताबें राजकमल से ले रहा है—क्योंकि वहाँ रूसी पैसा है, और शीलाजी ने नामवर को अपने साथ कर लिया है...। और फिर धीरे-धीरे बात ठण्डी हो गई। शीलाजी और ओंप्रकाशजी दोनों एक-दूसरे से अपने हिसाब चुकाते रहे—हाँ, राकेश ने अपना हिसाब-किताब दोनों तरफ बनाए रखा। ओंप्रकाशजी उन दिनों बहुत आहत थे, और शीलाजी और राजकमल को हर तरह गलत सिद्ध करना चाहते थे। वह तो जब 'राधाकृष्ण' पूरी

तरह जम गया, तब उन्होंने अपना ध्यान कुछ उधर से हटाया। शायद यही कारण था, कि 'अक्षर' के झगड़े में उन्होंने चौधरी का ही साथ दिया, क्योंकि कहीं वे अपने-आपको चौधरी की ही जगह देखते थे। यहाँ राकेश पूरी तरह उधर ही था...

इसलिए मेरे मन में स्वाभाविक शिकायत और गाँठ थी, कि ओंप्रकाशजी का व्यवहार शुरू से ही मेरे प्रति निर्दोष और निष्पक्ष नहीं रहा है। अगर वे थोड़ा 'स्वतन्त्र' होकर निर्णय लेते, और मेरे प्रति कोरा व्यवहारिक सम्मान ही न रखते—तो शायद 'अक्षर' के अस्तित्व में आने की बात ही न उठती; या चौधरी, राकेश और मेरे बीच ऐसी संवादहीनता की तनावभरी स्थितियाँ न आतीं। राकेश की मृत्यु पर श्मशान में वे जिस तरह लिपट कर रोए थे, उसमें केवल राकेश के न रहने का शोक ही नहीं था। मैं भी उस समय विह्वल हो आया था—शायद मैं इस आदमी को गलत समझता रहा हूँ। व्यक्तिगत सम्बन्ध जो भी रहे हों, मगर इस व्यक्ति के महत्त्व और योगदान को मैंने किसी दिन कम-करके नहीं आंका।...बाद में राकेश की पुस्तकों, अनिता और बच्चों के लिए जिस तरह उन्होंने सारा-कुछ किया—वह दोस्त से अधिक बड़ा भाई ही कर सकता था—मुझे अच्छा भी लगा था, और मैंने शिकायत भी की थी, कि भावुकता की लहर में वे कितना बड़ा जोखिम उठा रहे हैं। कहीं एक दिन उन्हें वह भारी न पड़े। उन दिनों, जो वातावरण था, उसमें कहीं कुछ गलत न हो जाए—इसके लिए शीलाजी और पुष्पा से मैंने उन्हें विशेष रूप से मिलाया था। ये दोनों, पहले परिचय के कारण, पहले मेरे पास ही आई थीं, और वास्तविकता की जानकारी सिर्फ ओंजी को ही थी...राकेश अपनी वसीयत में जो भी-कुछ लिख गया हो, मगर मुझे एक ऐसा मित्र जरूर दे गया था, जिससे हर स्तर और हर तरह की बात की जा सकती थी—व्यक्तिगत और वैचारिक...

अदीना कहती है—"और सबके बाबा तो बोलकर जाते हैं मेरे बाबा बिना बताए ही चला गया...!" और अपने अन्तिम क्षणों में ओंप्रकाशजी ने लिखा है—"अब कुछ करने को नहीं है, जा रहा हूँ!" एक ऐतिहासिक काम था, जिसे उन्होंने पूरा कर डाला था—या सचमुच वे भीतर से इतने रीत गए थे कि कुछ भी करने लायक नहीं रह गया था? या और कोई खालीपन था, जिसे वे सिर्फ अपने भीतर ही जी रहे थे? पता नहीं क्यों, मुझे 1912 में 'ज्यां क्रिस्तोफ' के अन्तिम-भाग में लिखा, रोम्यां रोलां का वाक्य याद आता है—"और मैं अब अपनी उस आत्मा से विदा माँगता हूँ, जो कभी मेरी थी! अपने आपसे बाहर मैं उसे इस तरह फेंकता हूँ, जैसे खाली छिलके को फेंक दिया जाता है। जन्म और पुनर्जन्म का अटूट क्रम ही तो जीवन है। फिर से जन्म लेने के लिए हमें मरना होगा, क्रिस्तोफ!"

रामविलास शर्मा अर्थात् रूपान्तरण एक प्रक्रिया है....

रामविलास जी की बात आते ही मुझे याद आता है सन् '48 से '54 तक का आगरा। हम बी. ए. के विद्यार्थी थे—आगरा कॉलेज में। साथी थे घनश्याम अस्थाना, राजेन्द्र शर्मा और प्रकाश दीक्षित। साहित्य में नए-नए हाथ-पाँव मार रहे थे। 'प्रगतिशील लेखक संघ' में आना-जाना शुरू हो चुका था और नागरी प्रचारिणी सभा की गतिविधियों से जुड़े थे। वहाँ कभी अमृतलाल नागर, अमृत राय आते तो कभी राहुल, भगवतशरण उपाध्याय, रामविलास शर्मा। रामविलास जी बलवन्त राजपूत कॉलेज में अंग्रेजी पढ़ाते थे। एम. ए. में हम हिन्दी में आ गए और घनश्याम अंग्रेजी में। राजामण्डी के साथ लगा मुहल्ला था गोकुलपुरा। यहीं अमृतलाल नागर का ननिहाल भी था और ससुराल भी। अक्सर उनका वहाँ आना-जाना बना रहता। दूसरी गली में रहते थे रामविलासजी। नागर जी और रामविलासजी लखनऊ के मित्र थे। अड्डा था घनश्याम का या मेरा घर। रामविलासजी से परिचय शायद प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों में हुआ। पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ओजस्वी कवि, संघर्षशील लेखक और प्रियदर्शी युवा थे। नागरी प्रचारिणी में रहते थे। अपनी जिन्दगी उन्होंने *सैनिक* और *उजाला* के हॉकर के रूप में शुरू की, फिर 'साहित्य रत्न भण्डार' में आ गए। जब उनसे परिचय हुआ तो 'विनोद पुस्तक मन्दिर' के लिए टीकानुमा पुस्तकें, पृष्ठों के हिसाब से लिखते थे। बड़े साहित्यकारों से इण्टरव्यू लेते थे और मंच पर कविताएँ सुनाते थे। मेरे अभिभावक और बड़े भाई थे। मिलने पर रामविलास जी के लिए सम्मान जरूर प्रकट करते थे, मगर अपनी अध्ययन-हीनता के कारण डरते थे। वे चाहते थे कि मैं, जहाँ तक हो सके रामविलासजी के दुष्प्रभाव से बचा रहूँ। गोकुलपुरा में ही गिरीश अस्थाना आ बसे थे। पृष्ठभूमि मिलिटरी की नौकरी थी—मगर कहानियाँ लिखने लगे। *हंस* इत्यादि में उनकी कहानियाँ आतीं। मेरी कहानियाँ भी *हंस* और दूसरी पत्रिकाओं में छपने लगी थीं। घनश्याम के घर से आगे गली के अन्त में रहते थे कृष्णास्वामी। अकेले थे और 'सोशलिस्ट लिटरेचर कम्पनी' के नाम से हिन्दी प्रदेश में सोवियत पुस्तकों के उत्साही वितरक थे—अपने सहायक के साथ दूर-दूर तक पुस्तकें बेचने जाते थे। सांवले, ठिगने और खिचड़ी दाढ़ी पढ़ने और खाने के शौकीन—मिसरानी हर समय कुछ न कुछ तलती-भूनती रहती। "साली पप्पू कहती है कि स्वामी जी आइदर ईटिंग और वेटिंग टु ईट" पप्पू यानी रांगेय राघव। हम सब साहित्य और राजनीति की नई पुस्तकों की जानकारियों के लिए

वहाँ जाते। सेंट जॉन्स कॉलेज के पास ही है बाग मुजफ्फरखाँ मुहल्ला—यानी रांगेय राघव का घर। बैठकबाज, सुन्दर, अध्ययनशील और प्रतिभाशाली लेखक रांगेय राघव सबके प्रिय थे। रामविलासजी और पप्पू एक दूसरे के विलोम थे—एक सुकुमार, प्रियदर्शी, जीवन्त और रचनाशील तो दूसरा कसरती, अक्खड़, अध्ययनशील—हमेशा बौद्धिक ऊँचाई का एहसास करता—लगभग 'बाहरी आदमी' का प्रभाव छोड़ने वाला आलोचक। प्रगतिशील लेखक संघ में कभी शायद कोई ऐसी नोंक-झोंक हुई थी कि दोनों एक दूसरे से बचते थे—मगर घनश्याम दोनों के ही निकट था। पप्पू उसके हीरो थे और रामविलास जी उसके आदरणीय। बाद में तो वह रामविलास जी से अंग्रेजी पढ़ने और घण्टा-दो-घण्टा डिक्टेशन लेने जाने लगा था। रामविलास जी कमरे में टहलते हुए लेनिन, स्तालिन, माओ की रचनाओं के हिन्दी अनुवाद बोलते जाते। दोनों भाषाओं पर उनके इस अधिकार से हम आतंकित थे। पालि, संस्कृत और अंग्रेजी में मदद लेने मैं और राजेन्द्र शर्मा भी नियमित होते।

उन दिनों हमारे तीन अड्डे थे। घनश्याम या मेरा घर और रामन्ना शास्त्री का रेस्त्रां, मेरे घर और राजामण्डी स्टेशन के पास। चाय-नाश्ता सर्व करने के दौरान हिन्दी-अंग्रेजी में मार्क्सवाद पर घनघोर बहस। एकाध फटीचर कामरेड के सिवा 'नो उधारी'। हमला करने के भाव से कभी-कभी गिरीश अस्थाना का घर, जहाँ रामविलासजी, घनश्याम और मैं तीनों ही पहुँच जाते और अधिकारपूर्वक चाय-नाश्ता करते हुए गिरीशजी का मजाक उड़ाते। मैं और घनश्याम बेकार थे और ट्यूशनें इत्यादि करके 'जेब-खर्च' चला रहे थे—रामविलास जी बाकायदा प्राध्यापक थे—मगर जेब में हाथ शायद ही कभी डालते हों (नामवरजी ने इसी कला का आगे जाकर चरम विकास किया) इसलिए तीनों ही चाय-पानी के लिए किसी शिकार की तलाश में रहते—कभी गिरीश जी तो कभी टीकम सिंह तोमर, कभी कमलेश जी तो कभी राजनाथ शर्मा। बहुत बाद में मालूम हुआ कि रामविलास जी बाकायदा पार्टी मेम्बर थे और अपने वेतन का बड़ा हिस्सा पार्टी में दे देते थे। उन पाँच-छः सालों में तो शायद ही कोई दिन रहा होगा जब हम लोग शाम को न मिलते हों। लड़ाई-झगड़े, परनिंदा, आपसी खिंचाई और साहित्य—सभी कुछ नियमित धुने जाते। बाद में तो घनश्याम का घर हमारी शामों का स्थायी पता हो गया—क्योंकि मैं कहीं से पहले चाइनीज चैकर और बाद में स्क्रैम्बुल नाम का गेम ले आया था। बरसों हम लोग हर शाम योगियों की तन्मयता से उसके आस-पास जमा होते—यानी मैं, घनश्याम, रामविलास जी और राजनाथ। चाइनीज चैकर शुद्ध मन-बहलाव के दाँव-पेंचों का खेल था तो स्क्रैम्बुल बौद्धिक कसरत। प्लास्टिक के टुकड़ों पर छपे अंग्रेजी अक्षरों से अपने शब्द बनाए जाते, दूसरे के शब्दों को लूटा जाता। मैं और राजनाथ हिन्दी के थे, घनश्याम और रामविलास जी अंग्रेजी के—उन्हें शब्दों पर ज्यादा अधिकार था। मगर हारकर भी शब्द और स्पैलिंग जानने का सन्तोष मिलता था। आसानी से हार हम भी नहीं मानते थे—कभी-कभी जीतते भी थे। बाकायदा चीख-पुकार होती जब रामविलास जी कोई भी उल्टा-सीधा शब्द बना डालते और उसे सही सिद्ध करने पर तुल जाते।

डिक्शनरियाँ निकाली जातीं—बिसात उलट दी जाती और सब नाराज होकर अपने-अपने घर लौट आते—बिना आपस में बोले। मगर अगले दिन शाम को फिर वहीं होते। कभी-कभी उनकी धाँधली से क्षुब्ध हम लोग खेलना छोड़कर चुप बैठ जाते—तब उस अनबोले को तोड़ने की पहल करते हुए रामविलास जी कहते, "आओ राजेन्द्र पंजा लड़ाएँ..." फिर हम लोग पंजा लड़ाने लगते। रामविलास जी बाकायदा रोज दण्ड-बैठक करने वाले कसरती थे तो मैं भी कमजोर नहीं था। कभी हम उंगलियाँ फँसाकर पंजा लड़ाते तो कभी मेज पर कुहनियाँ टिकाकर हथेलियों से एक-दूसरे के हाथ को दूसरी तरफ झुकाने की जोर-आजमाइश करते। यह मेरी और उनकी स्थायी मुठभेड़ थी। साथ नागरजी भी होते जो अक्सर कहते, "भैया रामविलास, तुम साले बैसवाड़े के पैलमान, हमारे आगरे के राजेन्दर को बहुत दुखी करते हो, तुम्हें तो निराला जी ही ठीक करते थे—दे पटकनियों पर पटकनियाँ, तुम्हारा हुलिया टाइट कर देते..." और फिर दोनों लखनऊ की स्मृतियों में भटक जाते। यह सही है कि अगर मेरे साथ पैर का झंझट न होता तो रामविलास जी रोज किसी अखाड़े में ले जाकर मेरी रगड़ाई करते। वैसे भी गोकुलपुरे के बाद जब वे स्टेशन की दूसरी तरफ नई राजामण्डी में आ गए तो रोज सुबह टहलते हुए मेरे घर आ जाते, चाय पीते या साथ टहलने ले जाते और दो-तीन किलोमीटर चलाकर थका डालते। घर पर निहायत मोटा, किसानी खाना खाते मगर बाहर तरह-तरह की फरमाइशें करते। जलेबी, कचौड़ी, रबड़ी, गाजर का हलुआ हमारे स्थायी शौक थे। घनश्याम के यहाँ होते तो बुलाकी के यहाँ से मिठाइयाँ आतीं। मेरे घर होते तो संतलाल के यहाँ, जो बाकायदा एम. कॉम. करके शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से मिठाइयाँ बनाता। जाहिर है कि मेजबान मुझे, घनश्याम या नागर जी को ही बनना पड़ता रामविलासजी तो सिर्फ हमें उकसाने और खाने का ही पुण्य लेते। वहीं एक शाम भाँग के नियमित नशे में नागर जी ने हमें गाजर का हलुआ खाने के लिए ललकारा था। रामविलासजी पौन किलो और नागर जी एक किलो पर टूट गए—मैंने डेढ़ या सवा किलो हलुआ खाकर चैम्पियनशिप जीती थी।

अगर घनश्याम के हीरो रांगेय राघव थे तो मेरे अमृतलाल नागर। नागर जी ने उदयशंकर के लिए 'कल्पना' फिल्म की कहानी लिखी थी जिसमें सुमित्रानन्दन पंत के गीत थे। बंगाल के अकाल पर उनका उपन्यास *अकाल* (बाद में भूख) आ चुका था। वे सुब्बुलक्ष्मी के लिए 'मीरा' फिल्म भी लिख चुके थे और उस परिवार से उनके सम्बन्ध बेहद आत्मीय थे। तय हुआ कि गर्मियों की छुट्टियों में हम तीनों दक्षिण भारत की यात्रा पर निकलेंगे। नागर जी ने पत्रों से व्यवस्था की। सुब्बुलक्ष्मी के पति सदाशिवम् उन दिनों तमिल के सबसे शक्तिशाली साप्ताहिक *कल्कि* के मालिक थे और उनके कार्यालय सारे तमिलनाडु में फैले थे। किराया-भाड़ा हमारा था बाकी व्यवस्था मद्रास के बाद *कल्कि* की सुब्बुलक्ष्मी जी ने कराई थी। मेरे एम. ए. के इम्तिहान दे चुकने के बाद हम तीनों यात्रा पर निकल पड़े। पहला पड़ाव विजयवाड़ा था जहाँ हम तेलगु कवि सुनकर सत्यनारायण और श्री से मिले। रामविलास

जी शायद अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के सेक्रेटरी बन चुके थे इसलिए नेता की तरह सम्मान पाते। मद्रास से कन्याकुमारी होते हुए हम वाया हैदराबाद, औरंगाबाद, अजन्ता, ऐलोरा, बम्बई गए। बेहद मनोरंजक, ज्ञानवर्धक और एक-दूसरे के निकट आने वाली यात्रा थी यह। यात्राओं में अपरिचित भी निकट आ जाते हैं—हम तो महीने भर निरन्तर साथ रहे थे। वस्तुतः यह भौगोलिक से अधिक सांस्कृतिक यात्रा थी। हर मन्दिर, शहर या स्थान को लेकर उसका पुराना इतिहास निकाला जाता, उन दिनों की कल्पनाएँ की जातीं, आपस में छेड़छाड़ होती। कन्याकुमारी की रात तो मेरे मन में आज तक खुदी हुई है हम तीनों ही कवि हो गए थे। (इसका वर्णन मैंने *एक इंच मुस्कान* उपन्यास के पहले अध्याय में किया है) नागर जी हर जगह को देखकर उच्छ्‌वसित हो जाते और अपने उपन्यास-कहानियों के कथानकों पर बोलने लगते। उन्हीं दिनों तमिल के महाकाव्य *शिलप्पदगारम्* के आधार पर *सुहाग के नूपुर* लिखने की बात उनके मन में आई। डॉक्टर साहब अंतर्मुखी अधिक रहते। वे हम दोनों के बड़े भाई थे इसलिए मैं और नागर जी ज्यादा खुल गए। यह शायद आलोचक और रचनाकारों का अन्तर था। उन दोनों के पास लखनऊ और साहित्य का अतीत था—इक्कीस-बाईस की उम्र में मेरे पास अगर कुछ स्मृतियाँ थीं तो वह इन्हीं लोगों के साथ बन रही थीं। बहरहाल, नागर जी में जो ऊष्मा थी वह डॉक्टर साहब में नहीं थी। वे वैसे भी अ-सामाजिक होने की हद तक अपने में बन्द रहनेवाले व्यक्ति थे। व्यर्थ की गप्प-गोष्ठियों में वे उपस्थित जरूर होते थे, मगर हिस्सेदारी शायद ही करते हों। हाँ बौद्धिक बहसों में सबसे आगे और अन्तिम होते...

यात्रा के दौरान रामविलास जी अपना हर काम चुपचाप और सबसे पहले निपटा देते, मैं भी लगभग आत्मनिर्भर था। बड़े घर के बेटे नागर जी प्रायः बौखलाए हुए कभी इस झोले में कुछ ढूँढ़ते तो कभी उसमें। सुबह और शाम का सिलसिला लम्बा होता। मैं उन्हें डाँटता और मदद करता। "अब से हमने तुम्हें अपना गुरु तस्लीम किया। हमें सुधारने का जो काम प्रतिभा नहीं कर पाई, वह इस यात्रा में तुम जरूर कर डालोगे।" बाद में मन्नू से विवाह के बाद तो वे मुझे पत्रों में 'मन्नू मियाँ' लिखने लगे थे। उससे पहले के सारे सम्बोधन 'मेरे असफल गुरु' के नाम से हैं। पैसे और हिसाब-किताब नागर जी के पास था। रामविलास जी लगभग असम्पृक्त मेहमान की तरह साथ थे। नागर जी की भाँग और उत्तर भारतीय खाने की तलाश में अक्सर हम साहूकार पैठ जाते।

पालि पढ़ाते हुए जातकों में एक शब्द आता था 'वृषलक'। अर्थ तो इसका 'बछड़ा' ही था, मगर शायद बौद्ध प्रशिक्षु के लिए भी इसका प्रयोग होता था। मेरे पास दो दस्ते की एक जिल्द बन्द कॉपी है जिसके शुरू के पन्ने पर ही सुन्दर हस्तलिपि में लिखा है, "तुम्हारे लिए दो दस्ते ही काफी हैं। प्रिय वृषलक को नए वर्ष की भेंट" नीचे हस्ताक्षर हैं रामविलास शर्मा, किनारी बाजारपथ 9.1.52। इसी कॉपी में 19.2.54 की तारीख में रात को एक बजे रामविलास जी पर एक भयंकर

इन्दराज (एंट्री) है। शायद कोई घटना ऐसी हो गई थी कि मैं बुरी तरह आहत था। रामविलास जी के लिए आक्रोश में लिखी गईं इतनी ऊलजलूल बातें हैं कि आज शर्म से पूरा पढ़ना भी मुश्किल है। किसी किताब पर झगड़ा हुआ था। उनकी कोई पाण्डुलिपि मेरे पास थी और मिल नहीं रही थी। बदले में उन्होंने चेखव पर मेरी एक अत्यन्त प्रिय किताब दबा ली थी और दे नहीं रहे थे। 'स्वार्थी, व्यक्तिवादी, हिटलर, नादिरशाह' जैसे न जाने कितने विशेषण उसमें भरे पड़े हैं। उस उम्र में शायद प्रतिक्रियाएँ ऐसी ही उग्र हुआ करती होंगी। उसमें मैंने उन्हें दुनिया के सबसे नीच और दम्भी व्यक्ति के रूप में याद किया है। एक-एक पंक्ति में घृणा और गुस्सा भरा है। पिछले पाँच-छः सालों में जो कुछ भी बुरज उनके खिलाफ मेरे मन में जमा हो गया था, सब बाँध तोड़कर बह निकला है।

यह उन्हें देखने का निहायत नेगेटिव तरीका तो था, मगर झूठ भी नहीं था। रामविलास जी स्वार्थी भी थे और आत्मकेन्द्रित भी। कहूँ कि हम लोगों की भावनाओं की कभी चिन्ता नहीं करते थे। हमारे साथ जो भी समय बीतता था, उसके अलावा चौबीस घंटे सिर्फ पढ़ना या लिखना। मेरे सामने उनकी यही तस्वीर आती है कि या तो मोटी-मोटी किताबें पढ़ रहे हैं या बिस्तर पर बैठे लिख रहे हैं। जाड़ों में पैरों पर रजाई पड़ी रहती। उस पर दसियों किताबें छोटी-छोटी झोंपड़ियों की तरह खुली हुईं, सुविधानुसार रखी होतीं, ताकि जरूरत पड़ने पर उन्हें देखा जा सके और तकिए का सहारा लिए वे लिख रहे होते। न उन्हें घर का होश था, न परिवार का। कॉलेज के बाद थकान उतारने हमारे यहाँ के लिए न निकलना होता तो शायद हर वक्त उन्हीं किताबों में बने रहते। कागज-किताबें इधर-उधर हटाकर वहीं थाली में खाना हो जाता। उठते तो ऐसे औचक ढंग से कि रजाई की गुफा बनी रहती, लौटकर उसी में वापस सरक जाते। शायद उन्हें पता नहीं था कि वे कौन-सा ब्लेड इस्तेमाल करते हैं या वह कितने का आता है। भाभी जी ही यह सब देखतीं। कपड़े लाकर सिला देतीं। विद्यार्थी या कोई और आता तो वहीं से दो-एक बातें करके टरका दिया जाता। वे सुबह-शाम कभी भी हमारे यहाँ आ-धमकते, लेकिन हमें उनके यहाँ जाने में संकोच होता। वे भी बहुत उत्साहित नहीं करते थे। लिख रहे होते तो हम आध-पौन घण्टा किताबें पलटकर लौट आते। पढ़ रहे होते तो एकाध वाक्य के बाद कहते "देखो ये कितना अच्छा लिखा है" और फिर जिसे अब तक बिना बोले पढ़ रहे थे उसे बोलकर आगे पढ़ने लगते—यानी सिलसिला टूटता नहीं था। कुछ देर बाद बोर होकर हम लौट आते। यों एकाध पेग लेने का मुझे ध्यान है, जरूरत पड़ने पर सामिष भी खा लेते थे। (शायद निराला जी का असर था) पाँच-दस सिगरेटें भी पी लेते—मगर अपने आचार-व्यवहार, सोच-संस्कार में कट्टर आर्यसमाजी थे। दूसरे शब्दों में न मिलनसार थे, न महफिल-बाज। बाद में तो उन्होंने गोष्ठियों में जाना भी छोड़ दिया था। ऐसा किताबी आदमी अगर हमें स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित लगता था तो अजब कुछ नहीं था। जिसे पसन्द नहीं करते थे, उसके बारे में कभी हल्का बोलते नहीं सुना। अपने सारे सम्पर्क के दौरान

भार्भी जी को छोड़कर किसी 'कन्या राशि' का जिक्र नहीं आया। जबकि हम सब इस मामले में नागर जी को गुरु मानते थे। वे उनसे हर तरह के मजाक कर लेते थे। मगर 'कीट्स' पर थीसिस लिखने और रोमांटिक साहित्य के विशेषज्ञ होने के बावजूद रामविलास जी की चदरिया बेदाग थी। उधर हमारी अपनी-अपनी प्रेमिकाएँ थीं और नागर जी प्रतिभा भाभी की यशोगाथा गाते हुए *'बूँद और समुद्र'* की शीला स्विंग के सपनों में डूबे रहते। हम उन्हें सुब्बुलक्ष्मी को लेकर भी छेड़ते मगर विचारों की यह कट्टरता और अपने को ही सही सिद्ध करने की रामविलास जी की जिद साहित्य में आतंक मचाए थी। मुँहफट आदमी। इंग्लैण्ड-पलट कामरेडों के समाज में ज्यों 'अछूत'।

मगर साहित्य में उनकी तूती बोलती थी। यही वह समय है जब बी. टी. रणदिवे पार्टी प्रमुख थे और रामविलास जी साहित्य में सफाई अभियान चलाए हुए थे—उनका परशुरामी फरसा एक के बाद एक दिग्गजों के सिर काट रहा था। यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, सुमित्रान्दन पन्त, अमृत राय, दिनकर पर उन्होंने लम्बे-लम्बे ध्वंसकारी लेख लिखे और उन्हें दो कौड़ी का सिद्ध कर डाला। निराला, प्रेमचन्द के अलावा भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल उनके प्रिय लेखक थे और उन पर स्वतन्त्र किताबें भी लिखीं। लेकिन बाकी जो पसन्द थे वे या तो पार्टी-लाइन के थे या बैसवाड़ा के। समकालीन साहित्य के लिए उनमें वैसी ही हिकारत और उपेक्षा थी जैसी डॉ. नगेन्द्र के मन में रही थी। केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह 'सुमन', शीलजी, शंकर शैलेन्द्र, पढ़ी जी और नीरज उनके प्रिय कवि थे। खासी सपाट और इतिवृत्तात्मक कविताओं वाला उनका एक कविता-संग्रह भी छपा—'रूपतरंग'। शीघ्र ही उन्हें लग गया था कि कविता उनके बस की नहीं है। आखिरी उपन्यास शायद उन्होंने *चारुचन्द्र लेख, बूँद और समुद्र* और *उखड़े हुए लोग* पढ़े थे। तीनों की लिखित प्रशंसा भी की थी। मगर मूलतः वे रचनात्मक साहित्य के लगभग दुश्मन हो गए थे। मुक्तिबोध, नामवर सिंह और रेणु को उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया।

उन्हीं दिनों उनकी पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' आई। उनकी कट्टर वैचारिक मान्यताओं के खिलाफ चारों तरफ विद्रोह का वातावरण बन रहा था। सख्त और स्टालिनी केन्द्रीय वर्चस्व किस तरह टूटते हैं, इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ये विद्रोह थे। शिवदान सिंह चौहान, राहुल, भगवतशरण उपाध्याय, रांगेय राघव, अमृत राय और बाद में अज्ञेय और धर्मवीर भारती इत्यादि ने बाकायदा लेख और पुस्तकें लिखकर रामविलास जी की इस बौद्धिक धांधली से लोहा लिया। अजीब वैचारिक समुद्र-मंथन का युग था जब बोलने से अधिक लिखकर अपने-अपने मूल्यों, मान्यताओं पर घनघोर बहसें की जाती थीं। मार्क्सवादी मूल ग्रन्थों के उद्धरणों से अपने विश्लेषण काटे या स्थापित किए जाते थे और जो भी लाइन-बाहर था उसे साम्राज्यवादी पिट्ठू या पूँजीवादी दलाल के नाम से दुत्कारा जाता था। वे साहित्य से अधिक राजनीतिक मुठभेड़ें थीं। यही वह समय भी था जब राहुल, भगवतशरण

उपाध्याय, रांगेय राघव, रामविलास शर्मा अपने-अपने ढंग से भारतीय सांस्कृतिक अतीत की व्याख्याएँ दे रहे थे। निश्चय ही रामविलास जी उस समय ऐसे बौद्धिक और साहित्यिक पर्जिंग (छँटाई) का पर्याय हो गए थे जहाँ सारा रचनात्मक लेखन या तो स्थगित हो गया था या हाशिए पर फेंक दिया गया था।

सांस्कृतिक दुनिया में जहाँ हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, बंगला, मराठी, तेलगु के रचनाकार, इप्टा और फिल्म जैसे लोकधर्मी संगठनों के कलाकार एकजुट होकर साझा मंचों पर आ रहे थे और वामपंथी सोच के बुद्धिजीवियों का संयुक्त मोर्चा बन रहा था, वहीं रामविलासजी का कट्टर सफाई-छंटाई अभियान भीतर से उसमें दरारें पैदा कर रहा था। जो ठीक हमारी तरह और हमारी भाषा में नहीं सोचता वह गद्दार और दुश्मन था। सारा साहित्य दोस्त और दुश्मन के खेमों में बँट गया था। सी. आई. ए. पोषित 'कल्चरल फ्रीडम' के अन्तर्गत समाज-निरपेक्ष व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के झण्डाबरदार थे अज्ञेय और परिमलियन तो दूसरी ओर 'सोवियत एजेण्ट प्रगतिशील' जो विश्व-शान्ति और विषमताहीन समाजवादी क्रान्ति की बातें करते थे। आज दूर से देखने पर लगता है कि उनका व्यक्ति, यूरोप की व्यवस्थाओं, विशेषकर कम्युनिस्ट व्यवस्थाओं में घुटता व्यक्ति था (निर्मल वर्मा का व्यक्ति आज भी वहीं रहता है) तो प्रगतिशीलों की जनता शुद्ध अपना नरक भोगते लोगों से बनी थी। मगर आगरे में मोर्चे प्रगतिशीलों के बीच ही थे—उदारवादी और कट्टरपंथी। दो-चार मेरे जैसे लोगों को छोड़कर ज्यादातर लोग रांगेय राघव के साथ थे। हम भी वहीं ज्यादा खुलापन महसूस करते थे। उन दिनों हमारी न कोई हैसियत थी, न हस्तक्षेप कर सकने लायक बौद्धिक-क्षमता, मगर कहीं न कहीं हम मानसिक रूप से रामविलास जी से दूर हो रहे थे, हालाँकि मिलना-जुलना, छेड़-छाड़ बदस्तूर जारी था। हम लोग रामविलासजी से डरते थे और रांगेय राघव को प्यार करते थे। अमरकान्त और विश्वनाथ भटेले भी उन दिनों वहीं थे। रामविलास जी के छोटे भाई मुंशी भी अलग घर लेकर रहते थे। राजेन्द्र रघुवंशी लगातार नाटक कर रहे थे। मोहन राकेश भी कभी-कभी आगरा आने लगा था। प्रगतिशील लेखक-संघ की मीटिंगें जोर-शोर से चालू थीं मगर रामविलास जी प्रायः वहाँ नहीं होते थे। वे धीरे-धीरे स्नॉब हो रहे थे। पड़ोस में होने और रोज मिलने-जुलने के चलते मुझे रामविलास जी के निकट समझा जाता था। घनश्याम दोनों को साधे था। मुझे याद है एक बार हम लोग रांगेय राघव के घर बैठे थे। घनश्याम और बाबूभाई सभी थे। तभी पप्पू ने मेरी किसी बात के जवाब में कहा था, "तुम तो रामविलास का पक्ष लोगे ही। तुम रामविलास के कुत्ते हो" सुनकर मेरे दोनों कान तमतमा उठे। एकदम चुप हो गया। फिर उठकर चला आया। उसके बाद हम लोगों की जिन्दगी भर के लिए बोल-चाल बन्द हो गई। पप्पू ने शायद अपनी गलती महसूस की। दो-एक बार घनश्याम के साथ घर भी आए। मगर हम लोग कभी सहज नहीं हुए। उनके अन्तिम दिनों में जब मैं उन्हें देखने बम्बई उनके घर गया तब भी भीतर कहीं एक तनाव बना रहा था।

मगर यह भी सही है कि रांगेय राघव के इस वाक्य ने मुझे झटके से रामविलासजी से दूर कर दिया था और मुझे लगा कि आगरे में रहकर न उनके

प्रभाव से मुक्त हो पाऊँगा, न अपना स्वतन्त्र लेखन कर पाऊँगा। शायद सारे साहित्य की ही स्थिति यह थी। या तो आप उनके पक्ष में होते थे या विरोधी। पक्का नहीं कह सकता मगर आगरा छोड़कर मेरे कलकत्ता जाने के पीछे हो सकता है, अवचेतन में कहीं उनके सर्वग्रासी प्रभाव से छूट भागना भी रहा हो। वहाँ रहते हुए *उखड़े हुए लोग* मेरी अन्तिम रचना थी। मैं ही क्यों, रांगेय राघव भी आगरा छोड़कर अपने गाँव वैर (भरतपुर) चले गए। फिर जयपुर में जा बसे। मैं आज भी कभी रामविलास जी को इसके लिए माफ नहीं कर पाता कि उन्होंने आगरा को हमेशा के लिए बंजर कर डाला। आज तक वहाँ सोम ठाकुर जैसे कवियों को छोड़कर कोई रचनाकार नहीं हुआ। मुझे यह अतार्किक एहसास भी रहा कि वे दसियों वर्ष आगरा में रहकर कभी आगरा के नहीं हुए—हमेशा उनके भीतर बैसवाड़ा, उन्नाव और लखनऊ ही भरे रहे—मानों अविकसित और दुश्मन देश में किसी दूसरे सम्पन्न देश के राजदूत को रहना पड़ रहा हो...बहरहाल, आगरा का जो चाहे हुआ हो रामविलास जी खुद अधिक एकाकी, एकांती, सक्रिय और गुरु गम्भीर पुस्तकों के लेखक होते चले गए। उनका डंका सारे भारत में बज रहा था।

वस्तुतः जिसे मैंने उनका स्वार्थी, आत्मकेन्द्रित और कट्टर होना कहा है वही उनके वे गुण थे जिनसे उस समय चिढ़ होती थी आज ईर्ष्या होती है। ज्यां जेने पर लिखते हुए सार्त्र ने कहा है कि "ध्यान दो कि दूसरे में आदमी किन बातों से सबसे अधिक घृणा करता है—वे ही उसकी दमित आकांक्षाएँ हैं।" हमें बौद्धिक दुनिया में बना रहने वाला व्यक्ति अव्यावहारिक, आत्मकेन्द्रित और कट्टर सभी कुछ हो जाता है। जिन्हें हम मनीषी कहकर याद करते हैं, उन्हें घर-बाहर वालों ने प्रायः इन्हीं नामों से याद किया है। शायद बिना इस तरह अकेला हुए साधना नहीं की जा सकती। विराट मानव कल्याण के लिए जिन्दगी समर्पित करने वाले प्रायः अपने तत्काल सम्बन्धों के प्रति अमानवीयता की हद तक उदासीन हो जाते हैं। अपनी मेज पर कमरे में ही कैद रामविलास जी किसी दूसरे ही लोक के प्राणी लगते थे। इसीलिए सिर्फ 'श्रद्धेय' होते चले गए—क्लासिक पूज्य ग्रन्थों की तरह।

तात्कालिक सम्बन्धों से उदासीन होते जाने की प्रक्रिया में साहित्य का साथ भी उनसे छूटता चला गया। अपने आस-पास की रचनाएँ उन्हें इतनी अर्थहीन लगने लगीं कि या तो उनके पास व्यक्तिगत स्मृतियाँ रह गई या वेद, शास्त्र, दर्शन, इतिहास इत्यादि की विराट (विशेपकर निराला जी की) जातीय स्मृतियाँ। वर्तमान की हर समस्या को या तो वे प्रायः अतीत में देखते थे या किसी निराकार भविष्य के अमूर्त सन्दर्भों के साथ। विलक्षण था उनका अध्ययन और अध्यवसाय। अविश्वसनीय है उनका 'रेंज' (विस्तार)। वे शुरू से कहते थे कि भाषा की क्लिष्टता या शब्दों का मोह विचारों के उलझाव से आता है। जब आप अपनी अवधारणाओं में स्पष्ट होते हैं तो भाषा अपने आप सम्प्रेषणीय और पारदर्शी हो जाती है। उनके सरल, सुगठित और पारदर्शी गद्य को पढ़ते हुए लगता है कि हर धारणा उनके मन में स्पष्ट और सुनिर्धारित है। उनके विरोधी इसे सपाट और इकहरा होना भी कहते

हैं—यानी दो और दो चार की सफेद-स्याह वाली सोच। भाषा अपने आप में सोचने और विचारों को आकार देते जाने की प्रक्रिया भी है, इसमें शायद उनका विश्वास नहीं था। हिन्दी जाति, हिन्दी अस्मिता और हिन्दी मनीषा को लेकर वे लगभग जेहादी की हद तक आग्रही थे। यह आग्रह उन्हें कभी-कभी हिन्दू गौरव तक भी ले जाता था। सुधीश पचौरी का कहना है कि अतीत के जिन चिह्नों और मिथकों को वामपंथियों ने अस्पृश्य मानकर हिन्दुत्ववादियों के राजनैतिक इस्तेमाल के लिए छोड़ दिया था, रामविलास जी उन्हीं को 'रिट्रीव' (पुनराविष्कृत) कर रहे थे। आज अशोक वाजपेयी, विद्यानिवास मिश्र या विष्णुकान्त शास्त्री जैसे चोटी के विद्वान भले ही अपने ब्रह्म-प्रेम के कारण निराला, राहुल या रामविलास जी की पार्टी मुक्ति का भगवाकरण करें, मगर न तो कभी उनके द्वारा उठाए गए विषयों की विविधता और विस्तार को पा सकते हैं, न मार्क्सवादी तार्किक प्रखरता और नास्तिक दर्शनों की उनकी वैचारिक आधार-भूमि को पचा सकते हैं। रामविलासजी की इस स्थापना में दम तो है ही कि जिन्हें हम भारतीय संस्कृति और मनीषा की उपलब्धियाँ कहकर गौरवान्वित करते हैं उनके मूल में निरपवाद रूप से ब्रह्मवादी नहीं, पदार्थवादी नास्तिक विचारक और दार्शनिक रहे हैं। मगर जब 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' जैसे लेखों और बोल्शेविक क्रान्ति या समाजवाद की प्रशंसा में निरन्तर लिखने वाले भगतसिंह या सुभाषचन्द्र बोस जैसों को भगवा विद्वानों ने शुद्ध कर्मकाण्डी हिन्दू बना डाला हो तो रामविलास जी किस खेत की मूली हैं। मुझे याद है विद्यानिवास जी ने नेशनल बुक ट्रस्ट से राहुल जी पर एक संकलन निकाला था। जिसे देखकर लगता था मानों राहुल वामपंथी नहीं, बल्कि महन्त करपात्री रहे हों। उसमें 'तुम्हारी क्षय' जैसे लेखों की कहीं झलक भी नहीं थी। हमारे भगवा विद्वान (अब लोक भाषाओं में इसका जो भी अनुवाद हो) इस सत्य का सामना नहीं करना चाहते कि राहुल और रामविलास जी दोनों ही पच्चीसों साल पार्टी मेम्बर और अन्तिम समय तक वामपंथी विचारों से प्रतिबद्ध रहे थे। उनकी इस प्रतिबद्धता में न सामाजिक दन्द-फन्द थे, न पद-पुरस्कार, सम्मानों और अभिनन्दनों की षड्यन्त्री जोड़-तोड़। उन्होंने कभी वैचारिक और व्यावहारिक बेईमानियाँ नहीं कीं। चाहें तो वे निरासक्त योगी का नाम दे सकते हैं और यह सब उनकी वामपन्थी प्रतिबद्धता के चलते ही था। यह सही है कि गदर, निराला, हिन्दी भाषा, जाति के बाद जिस दूसरी चीज की तरफ वे विस्तार से जाते हैं वह वैदिक युग है। वेद उपनिषदों में वे कहीं कोई रहस्यवादी अध्यात्म नहीं देखते। शायद पश्चिमी विद्वानों की तरह वे इन्हें 'पैस्टोरल-काव्य' यानी श्रम और किसानी से जुड़े साम-गीत मानते हैं। वहाँ उन्हें मार्क्सवादी आदिम साम्यवाद की झलक भी मिलती है। मगर दास-प्रथा या वर्णव्यवस्था उनके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे राहुल, रामशरण शर्मा और रोमिला थापर के बर-अक्स कुछ शब्दों और चिह्नों के आधार पर आर्यों को भारत का मूल निवासी सिद्ध करते हैं। कुछ के हिसाब से यह उनकी वैज्ञानिक दृष्टि कम 'अन्दाज बहादुरी' ज्यादा है। कुछ-कुछ वैसी ही छलांग जैसे रोटी बेलने या मिर्च-मसाले खाने के आधार पर

सुदूर मैक्सिको में भारतीय-संस्कृति की खोज। उनके यहाँ इस बात का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता कि जर्मनी, ईरान इत्यादि के आर्य या आर्य-नस्ल के सर्वश्रेष्ठ होने का दंभ या संस्कृत के पुराने शब्दों की समानता में सम्बन्ध, बिना आर्यों भी पूर्वी और मध्य यूरोप पर उसी तरह हमले करके 'कृण्वन्तो विश्वं आर्यम्' का सन्देश फैला रहे थे जैसे बाहरी आक्रमणकारियों ने बाद में हमारे साथ किया।

आश्चर्य की बात यह है कि बुद्ध और कबीर को लगभग उपेक्षित करके तुलसी-वाल्मीकि पर विस्तार से लिखने वाले रामविलास जी हिन्दुवादियों को हजारी प्रसाद द्विवेदी के मुकाबले ज्यादा ग्राह्य हैं। इन्हीं कारणों से राहुल जी तो उपेक्षणीय हैं ही, हाँ हिन्दी के प्रश्न पर उनके पार्टी छोड़ने का ढोल वे समय-असमय जरूर बजाते रहते हैं। हालाँकि पार्टी के वारे में पूछने पर एक बार राहुल जी ने मुझे एक फिल्मी गीत सुनाया था। "अब तेरे सिवा कोई आँखों में नहीं जँचता"। यहाँ मेरे मन में एक छोटा-सा प्रश्न है कि अगर आर्यों के बाहर से आने का सिद्धान्त अंग्रेजों या यूरोपियों का षड्यन्त्र था और इसके माध्यम से वे सिद्ध करना चाहते थे कि भारत के मूल निवासी मूलतः पिछड़े, लद्धड़ कायर, ठहरे हुए और असभ्य रहे हैं, उन्हें सभ्य बनाने का श्रेय हमेशा ही बाहरी या अधिक उन्नत, गतिशील (डायनैमिक) नस्लों ने किया है—आर्य, शक, हूण, मुसलमान और सर्वश्रेष्ठ यूरोपियन या उनमें भी अंग्रेज ही भारत के वास्तविक उद्धारक हैं। आर्यों के बाहरी होने की यह स्थापना अगर ओरियेण्टलिस्टों की बदमाशी है और हमारे आत्मसम्मान या प्रतिरोध को ध्वस्त करके आक्रमणों और अंग्रेज-वर्चस्व की सहज स्वीकृति की मानसिकता बनाने के लिए तैयार की गई है तो बात यहीं समाप्त नहीं होती। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की पृष्ठभूमि यानी प्राचीन ग्रन्थों, पुरातात्त्विक साक्ष्यों की लगभग सारी संरचना भी तो ओरियेण्टलिज्म के षड्यन्त्र की देन है और आर्यों के मूल निवास की धारणा से जुड़ी है—फिर हम यह क्यों नहीं मानते कि हमारी सारी संस्कृति, इतिहास और राष्ट्रीयता पश्चिम की, अर्थात् यूरोपियनों और अंग्रेजों की देन है। अकादमिक दुनिया में 'कड़वा-कड़वा थू' और 'मीठा-मीठा गप' बौद्धिक बेईमानी है।

प्रेमचन्द ने मुहावरे या चालाकी में कहा था कि उनकी जिन्दगी एक सपाट मैदान है, मगर रामविलास जी की जीवनी सचमुच ऐसी सपाट है जहाँ दूर-दूर तक कोई खाई खन्दक नहीं दिखाई देता। कम से कम पचास वर्षों की उनकी इस जिन्दगी का दूर और पास का गवाह मैं रहा हूँ। निराला जी, अमृतलाल नागर और भाभी के बिछोह और अन्तिम दो वर्षों के शरीर कष्ट के अलावा अगर उनकी जिन्दगी में कोई बड़ी घटनाएँ हुई हैं तो शायद हर वर्ष किसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का आना ही रहा है। निष्ठा, लगन, निर्भीकता और सारे विरोधों के बावजूद अपनी बात कहने का बेबाक साहस उनके ऐसे गुण थे जो मेरे अपने लिए प्रेरणा रहे हैं। मेरे गुरु पं. जगन्नाथ तिवारी में भी यही गुण प्रमुख थे।

मैंने आगे कहा है कि उनकी मानसिक उम्र डेढ़ सौ वर्ष थी। वस्तुतः अठारह सौ सत्तावन से लेकर सम्पूर्ण बीसवीं शताब्दी उनकी चेतना में इस तरह जीवन्त

थी कि लगता है उन्होंने इस सारे युग और बनारस से लेकर लखनऊ तक के उस भूगोल को स्वयं अपनी आँखों से देखा और भोगा है। गदर रामविलास जी के लिए मात्र एक घटना नहीं, अवध का दुर्धर्ष, जुझारू और अपराजेय किसान है जिसकी 'जीवनी' उन्होंने एक नैतिक संकल्प के साथ लिखी है। कभी-कभी मुझे लगता है कि इस अवधी किसान के अलावा, भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, निराला, प्रेमचन्द की जीवनियाँ उनके अपने परिवार या स्वयं अपनी आत्मकथा के विस्तार हैं। उन सबके साथ वे रहे और बढ़े हैं। कहना मुश्किल है कि *निराला की साहित्य-साधना* उनकी अपनी जीवनी है या निराला की। ठीक वैसे ही जैसे 'राम की शक्ति पूजा' निराला की अपनी मानसिक गीता है यानी अन्तर्द्वन्द्वों से जूझने की व्यक्तिगत प्रक्रिया।

आज भी लगता है जैसे डॉ. रामविलास शर्मा कहीं गए नहीं हैं—वे वैसे ही वहीं हैं और अपने एकान्त में बैठे कोई मोटी-सी किताब लिख रहे हैं। पिछले दसियों वर्षों से उन्होंने अपने को लगभग 'मार' लिया था। आपाधापी भरी इस दिल्ली में, जहाँ हममें हर कोई, हर रोज़ अपनी उपस्थिति की घोषणाएँ करता रहता हो, रामविलासजी कहीं नहीं थे। वे अपने हिमालय में या बोधिवृक्ष के नीचे बैठे तपस्या में लीन थे। संसार से उनका सम्बन्ध सिर्फ किताबों या पत्र-पत्रिकाओं में आने वाले साक्षात्कारों के माध्यम से रह गया था। इसलिए जब वे सचमुच गए तो वैसा 'धक्का' नहीं लगा। यूँ भी वे 88 वर्ष के थे और एक न एक दिन तो जाना ही था। इतिहास, भाषा विज्ञान, समाजशास्त्र, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, वैदिक काल, चरक सुश्रुत दर्शन, साहित्य, राजनीति, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा—ऐसा कौन-सा विषय था जिस पर उन्होंने नहीं लिखा...उनकी किस वर्ष कौन-सी नई पुस्तक आई है, इसकी गिनती करना शायद हमने छोड़ दिया था, वह हमारे बस का भी नहीं था क्योंकि विषय से लेकर पृष्ठ संख्या तक निश्चय ही उनकी हर नई पुस्तक इतनी भारी-भरकम होती थी कि आतंक पैदा करती थी। इस क्षेत्र में शायद राहुल सांकृत्यायन ही उनकी बराबरी कर सकते हैं। मगर राहुल में हड़बड़ी है—रामविलास जी में एक ठहराव और गहराई है। शायद ही कोई दावा कर सके कि उसने रामविलास जी या राहुल को पूरा पढ़ा है। वे अन्धे के उस हाथी की तरह थे जिसका हर अंग सम्पूर्ण हाथी होता है, मगर यह बोध बना रहता है कि वह किसी विराट और विशाल का हिस्सा है। सैंकड़ों साल पुराने बरगद की हर जटा अपने आप में एक स्वतन्त्र पेड़ बन जाती है। हाथी और बरगद—दोनों की उम्रें लम्बी होती हैं—वे चमत्कारी स्मरण-शक्ति के मालिक होते हैं। रामविलास जी की शारीरिक उम्र 88 साल, मानसिक उम्र डेढ़ सौ साल और बौद्धिक उम्र लगभग तीन-चार हजार साल थी। पूर्व से पश्चिम तक फैले वे उस हिमालय की तरह थे जो अपनी ऊँचाई, भव्यता में कभी विस्मय जगाता है तो कभी श्रद्धा, उसका होना कभी आश्वस्ति देता है, तो कभी दिव्य और उदात्त की अनुभूति...वस्तुतः वे कहीं गए नहीं हैं, सिर्फ विचार, विवेक और आस्था के रूप में कायांतरित हुए हैं। बल्कि वे अब आए हैं।

दुर्गा सप्तशती : निर्मला जैन

निर्मला जैन की यात्रा फसीलों और परकोटों से घिरी पुरानी दिल्ली की जिन्दगी से बाहर निकलकर विश्वविद्यालय यानी माल रोड होती हुई दक्षिणी विश्वविद्यालय परिसर और अब आधुनिकतम बसावट, डी.एल.एफ. इंक्लेव तक जाती है। दूसरे शब्दों में पुरानी दिल्ली के मध्यवर्गीय व्यापारिक तबकों की बँधी, सुनिर्धारित, सुरक्षित जीवनचर्या ने उनके संस्कार बनाए हैं। इसी जिन्दगी के बारे में महेश्वर दयाल ने बेहद लाड़, लगाव और विस्तार के साथ एक-एक गली-कूचे को अपनी पुस्तक 'दिल्ली' में यहाँ की अपनी भाषायी विशिष्टता के साथ जिन्दा किया है और अपने कथानक का लोकेल बनाया है कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यास 'दिलो-दानिश' में। जामा मस्जिद और दरीबा-क्षेत्र अजीब गंगा-जमुनी संस्कृति बनाता है, जहाँ आचार-व्यवहार, खान-पान, व्यवसाय-व्यापार की घनिष्ठ आपसी निर्भरताएँ भी हैं और अलग स्वायत्त द्वीपत्व भी, बेहद व्यस्त मुख्य सड़क से काट दिया गया लाल किला बूढ़े असमर्थ बुजुर्ग की तरह देखता है कि दो-चार साल में राजनीति प्रेरित हिन्दू-मुसलमानी दंगे केवल कुछ दिनों को सारे संवाद स्थगित कर देते हैं और दोनों वर्ग अपने-अपने में सिमट जाते हैं—मगर फिर जिन्दगी बह निकलती है—जैसे कुछ हुआ ही नहीं...शायद सौ साल तक अंग्रेज़ी सभ्यता की गुजर केवल आधुनिक उपकरणों के रूप में ही यहाँ होती रही थी। बीता हुआ मुगल साम्राज्य स्मृतियों में और माल रोड या कनाट प्लेस' की अंग्रेजी सभ्यता, व्यापारिक सम्बन्धों या बातचीत के मुद्दों के रूप में ही यहाँ प्रवेश कर पाती थी...

बहरहाल, उस बंद घनी जिन्दगी से निकलकर माल रोड और विश्वविद्यालय में आने के बाद निर्मलाजी की आवाजाही इस पुरानी दिल्ली में बनी रही—साइकिल मार्केट के उनके पुराने हवेलीनुमा मकान में माँ-भाई-बहन सब थे। अक्षर प्रकाशन के दिनों में यहाँ के एक प्रेस-मालिक के छोटे भाई ने अपनी डायरी मुझे दिखाई थी—प्रेस उनके मकान से लगा हुआ था और वे लोग भी पुराने बाशिन्दे थे। तब इस छोटे भाई ने साथ लगे मकान में रहनेवाली दो निहायत खूबसूरत पितृहीन लड़कियों की झलकें देखकर उर्दू शायरों के अंदाज में आहें भरना शुरू कर दिया था। इधर तो कुछ बात बनी नहीं—हाँ, उन आहों की शारीरिक परिणति कहीं ब्रह्मकुमारियों के एक केन्द्र में जाकर हुई। उधर, निर्मलाजी के रहन-सहन, सोच और मानसिकता में आधुनिक होने की संस्कार-प्रक्रिया शायद पहले लेडी श्रीराम

कॉलेज और फिर विश्वविद्यालय के पुराने-नए परिसर के साथ जुड़ने के दौरान चलती रही।

रूपक का खुलासा करूँ तो निर्मलाजी की यह यात्रा सामन्तवादी रीतिकाल से उपनिवेशी छायावाद और फिर आधुनिककाल यानी प्रसाद-पंत, जैनेन्द्र-अज्ञेय तक आती है। विश्वविद्यालयों के रूढ़ और बन्द वातावरण में पश्चिम के काव्यशास्त्र और रोमांटिक कवि या बाद में उनकी रचनाओं को आधार बनाकर लिखी गई आलोचना का प्रवेश—या बेशर्म रटंत जिस मुक्त-भाव से होती रही है उतनी उदारता प्रगतिशील साहित्य को लेकर नहीं है—चूँकि वह सिर्फ बुद्धि-विलास से आगे जाकर समाज को बदलने की बात भी करता था, साहित्य-संस्कृति को कुलीन वर्चस्व से बाहर भी देखता था, इसलिए कुछ ज्यादा ही 'पश्चिमी' मान लिया गया था। प्रगतिवाद को विश्वविद्यालयों में कभी भी सूचना या विरोध से आगे स्वीकार नहीं किया गया, जबकि भारतीय और पश्चिमी काव्यशास्त्र समान रूप से चेतना के हिस्से थे। स्वाभाविक था कि इस प्रकांड बौद्धिक दुर्ग में कविता का राज्य था और रचनात्मक गद्य को सम्पन्न परिवार के गरीब रिश्तेदार की तरह देखा जाता था। विडम्बना यह थी कि गद्य से छुटकारा भी नहीं था—पढ़ाना और समझाना तो गद्य में ही पड़ता था।

निर्मलाजी की बनावट समझने के लिए इस पृष्ठभूमि को जानना जरूरी है और मेरा विश्वास है कि माल रोड पर आने के बाद अगर उनका निरन्तर सम्पर्क मॉडल टाउन से न बना रहता तो शयद आज भी वे प्राचीन पश्चिमी और पूर्वी सौन्दर्यशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन में पुस्तकें-दर-पुस्तकें उगल रही होतीं। मॉडल टाउन उन दिनों प्राध्यापकों का केन्द्र था, विश्वविद्यालय के पास भी था। देश के सारे हिन्दी विभागों की बागडोर और दिल्ली का वर्चस्व संभाले विराट स्फिंक्स की तरह बैठे थे डॉ. नगेन्द्र—मगर उनके आतंक में छटपटाते कुछ और लोग भी थे—भारत भूषण अग्रवाल, अजित कुमार—बाद में देवीशंकर अवस्थी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना इत्यादि। यहाँ आधुनिक और समकालीन साहित्य की बैठकें होती थीं। भारतजी, लेडी श्रीराम कॉलेज में पढ़ाती सहधर्मिणी बिन्दु अग्रवाल और स्वयं एक प्राध्यापक प्रत्याशी होने के नाते एक ओर तो विश्वविद्यालय से जुड़े थे, दूसरी ओर अज्ञेय, जैनेन्द्र या साहित्य अकादेमी के जीवंत सम्पर्क में भी थे। इन बैठकों में होती थीं निर्मला जी—नगेन्द्र जी की प्रमुख शिष्या...बकौल अजित कुमार उन दिनों बातचीत में विशेष सावधानी बरतनी होती थी कि कहीं कोई ऐसी बात न हो जाए कि अगले दिन उसकी सफाई के लिए नगेन्द्र जी के दरबार में पेशी देनी पड़े... नगेन्द्रजी सख्त अनुशास्ता थे मगर सचमुच वे जानदार और हंगामी गोष्ठियों के दिन थे—सुदूर कॉफी हाउस या बाद में टी-हाउस की आधुनिक बहसों, विवादों से दूर, एक-दूसरे के घर जमने वाली साहित्यिक बहसों, विवादों, प्रवादों के डरे-डरे नखलिस्तान...

हम लोग तब शक्तिनगर में आकर रहने लगे थे—सामने तिकोने पार्क के

उस पार थे डॉ. ओमप्रकाश और मुख्य सड़क के उस पार डॉ. उदयभानु सिंह। दोनों से ही मेरा परिचय आगरा से था। डॉ. ओमप्रकाश मेरे बड़े भाई हो गए थे और दिल्ली जमने में हर तरह से मदद करते थे। अपने विशेष अंदाज में हमें सूचित और सावधान भी करते थे कि विश्वविद्यालय के किन लोगों से हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए—वे नगेंद्र-साम्राज्य के महत्वपूर्ण क्षत्रप थे। अक्सर उनका इशारा मोहन राकेश, कमलेश्वर, देवीशंकर अवस्थी या साहित्य के ऐसे उद्धत युवाओं की तरफ था जिनका हमारे यहाँ निरन्तर आना-जाना था या फिर उदयभानु सिंह जैसे 'विरोधियों' की तरफ। फोन लगने के बाद फोन करने या फिर वैसे ही टहलते हुए उदयभानु जी हमारे यहाँ आ जाते और घंटों डॉ. नगेन्द्र की खाट खड़ी करते रहते। ओमप्रकाशजी से सावधान रहने की ताकीदें करते या फिर 'सावित्री सत्यवान' या सिर्फ 'डॉ. सत्यवान' नाम से लिखे जाने वाले अपने उपन्यास के कथानक पर बोलते। डॉ. सावित्री सिन्हा विश्वविद्यालय की दूसरी महत्वपूर्ण प्रोफेसर थीं। हमारे प्रति स्नेहशील और वत्सल...इस तरह डॉ. नगेन्द्र के प्रताप की जानकारी हमें डॉ. ओमप्रकाश से मिलती तो उनकी धांधलियों की सूचनाएँ उदयभानुजी से। दोनों की ही सद्भावना, सरपरस्ती और भला करने की आकांक्षा हम लोगों के लिए मूल्यवान थी—मगर निकट होने के कारण ओमप्रकाशजी ज्यादा घरेलू और पारिवारिक हो गए थे। हम भी उन पर बहुत निर्भर करने लगे थे—हाँ, समर्थन उदयभानुजी के विद्रोह के प्रति था—हालाँकि एक रीतिकाल से आगे नहीं बढ़ा और दूसरा प्रसाद विशेषज्ञ होकर रह गया था—यानी दोनों ही विश्वविद्यालयीय पौराणिकता और राजनीति में आकंठ डूबे थे। अवसर शायद एकेडैमिक काउंसिल के चुनाव का था और डॉ. ओमप्रकाश हमें अपनी कन्वैसिंग के लिए जिन कई जगहों पर ले गए उनमें निर्मला जी भी एक थीं—सुन्दर, आकर्पक और आश्वस्त—आज की अपेक्षा तीस-चालीस साल युवा, अपनी शक्ति के प्रति सचेत। बहुत पहले से सत्येन्द्र शरत किन्हीं निर्मला जैन का जिक्र किया करता था जो मेरी रचनाओं से प्रभावित थीं और मिलने को उत्सुक थीं। इनसे मैंने सत्येन्द्र के हवाले से पूछा भी, मगर तब वे हममें से कुछ के सिर्फ नाम जानती थीं—किसी का पढ़ा कुछ नहीं था। दिल्ली ही क्या, देश के लगभग सारे विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों को डॉ. नगेन्द्र की कृपा से इस सत्य की उपलब्धि हो चुकी थी कि सन् 47 के बाद साहित्य का लेखन एकदम समाप्त हो चुका है, कि साहित्य सिर्फ विश्वविद्यालयों में होता है और वह सिर्फ नगेन्द्र जी का समर्थन और विरोध करनेवाले दो वर्गों में बँटा है। निर्मलाजी से पहली मुलाकात के बाद एकाध गोष्ठी में शायद और मिलना हुआ। अजित कुमार का घर उन दिनों प्रमुख अड्डा था जहाँ या तो नई दिल्ली यानी खुले साहित्य की बहसें, मुद्दे, झगड़े छाए रहते थे या यहाँ होनेवाली बहसें वहाँ पहुँचती थीं—वैसे हम लोगों की शामों का स्थायी पता कॉफी हाउस और टी-हाउस ही था। वर्षों वहाँ अजित द्वारा उछाला गया 'साहित्य में जेनुइन और फेक' का मुद्दा छाया रहा। जाहिर है अजित स्वयं फेक के पक्ष में थे और उसे ही जेनुइन सिद्ध करने में अपनी तर्कबुद्धि लगाए थे।

हम लोग कलकत्ते से नए-नए दिल्ली आए थे। कुछ व्यवस्थित होने के बाद सोचा क्यों न एक दिन चाय पर कुछ लोगों को बुलाकर मिलन-गोष्ठी हो। फोन किय़ा तो निर्मलाजी का अंदाज ऐसा था मानो किसी मंत्री के माध्यम से प्रधानमंत्री से कोई काम कराना हो, "कहिए क्या काम है?" "काम कुछ नहीं, कल शाम कुछ लोगों को बुलाया है। कुछ न कर रही हों तो आइए..." "कोई खास बात?" "नहीं, वैसे ही मिलना-जुलना" "और कौन हैं?" "वह छोड़िए, आप फ्री हों तो आइए" मुझे लगभग गुस्सा आने लगा था। तब तक मैं जान गया था कि उनके लोगों में कौन किससे मिलता-जुलता है, क्या बातें होती हैं—इन सारी बातों की जानकारी डॉ. नगेन्द्र तक पहुँचती हैं। खैर, वे आईं—पच्चीस-तीस लोग थे—विश्वविद्यालय और साहित्य दोनों के। शाम अच्छी ही रही। मगर अगले दिन 'शहर' भर में चर्चा थी, गम्भीरता से डॉ. ओमप्रकाश ने समझाया, "राजेन्द्रजी, मन्नू जी मिरांडा में हैं, आपको जरा सावधान रहने की जरूरत है। आपको क्या सचमुच यहाँ का कुछ नहीं मालूम? आपने डॉ. सावित्री सिन्हा और निर्मला जैन दोनों को बुला लिया? वैसे भी डॉ. नगेन्द्र इस तरह के मिलने-जुलने को पसन्द नहीं करते..." मुझे सचमुच नहीं मालूम था कि वे दो ध्रुव हैं और उन्हें एक साथ बुलाना कोई अपराध है, गुस्सा इस बात पर भी आया कि हमारे यहाँ कौन आता-जाता है, इससे किसी को क्या? हमारी गतिविधियों को नियन्त्रित करनेवाले वे कौन होते हैं। विश्वविद्यालय का सारा वातावरण या कहें सम्बन्ध, सन्देह और शक पर टिके थे, किसी को कहीं इस्तेमाल करना होता तभी एक-दूसरे से सम्पर्क करता था। हम साहित्य में अज्ञेय-जैनेन्द्र के वर्चस्व को चुनौती देनेवाले विद्रोही थे—डॉ. नगेन्द्र को क्या लगाते...? दिल्ली या वहाँ से उत्प्रेरित विश्वविद्यालय जगत् में चलनेवाली उठापटक, दंद-फंदों और राजनीति से ये हमारे पहले परिचय थे और मुझे भयानक वितृष्णा से भर रहे थे। तब तक मारियो फूजो का 'गॉड फादर' तो लिखा भी नहीं गया था, मगर उसके प्रमुख-पात्रों से हमारी पहचान जरूर होने लगी थी।

निर्मलाजी से इसके बाद मिलने-जुलने का जो सिलसिला शुरू हुआ तो आज तक चालू है। उन दिनों कभी अजित के यहाँ तो कभी हमारे, कभी निर्मलाजी के घर तो कभी बाहर। तब तक नामवरजी भी दिल्ली ही आ गए और इधर-उधर टक्करें मारने के बाद पहले तिमारपुर और फिर मॉडल टाउन में स्थापित हुए। 'जनयुग' से जुड़े और राजकमल की शीला संधू के हिन्दी-सलाहकार बने, तब वे साहित्य में सिर्फ रघुवीर सहाय को कवि मानते थे और बनारसी हथकंडों को दिल्ली में सान चढ़ाने में लगे थे। उन पर भारतभूषण ने बेहद सार्थक 'तुक्तक' भी लिखा—"खड़ा सिंधु के तीर, मेरा कोई नहीं/ बहे निर्मला नीर, मेरा कोई नहीं/ सिवा एक रघुवीर मेरा कोई नहीं..." दबी-दबी निराधार-सी चंडूखाने की अफवाह यह भी थी कि निर्मला जी के लिए डी. लिट्. की थीसिस नामवर ने लिखी तो शायद नहीं है, मगर उसका संशोधन-सम्पादन वे जरूर कर रहे हैं—बल्कि वे दिल्ली के इस

एरिया में आए ही इसलिए हैं। नामवरजी के इस बनवास या अहिल्या-उद्धार किंवदंती की सबसे प्रामाणिक जानकारी मेरे अलावा (अब स्वर्गीय) भारतभूषण अग्रवाल, अजित कुमार या विश्वनाथ त्रिपाठी दे सकते हैं, मगर इसलिए नहीं देंगे कि ये दोनों परम दुष्ट, शातिर और डरपोक हैं—जिसे दार्शनिक भाव से गांधीजी के बंदरों के सिद्धान्त (बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो, बुरा मत कहो) की कूटनीतिक और अनेकार्थी मुस्कुराहट का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यहाँ इतना कहना ही काफी है कि धीरे-धीरे निर्मलाजी का घर हम सब लोगों का केन्द्र और नामवरजी की मुख्य शरणस्थली बनने लगा था—दूसरे शब्दों में निर्मलाजी आधुनिक ही नहीं, फूँक-फूँककर साहसी भी बन रही थीं—बाद के औरंगजेबी साम्राज्य से लगभग बगावत पर उतर आने के पहले निर्मलाजी उन दिनों लगभग उस लोककथा को जी रही थीं जहाँ 'राक्षस' घर में घुसते ही 'मानस-गंध' सूँघने लगता है।

थोड़े भारी होते ठिगने शरीर के बावजूद निर्मलाजी में जो चैतन्य ग्रेस है उसका श्रेय वे बचपन में बिरजू महाराज और उनके पिता से सीखे नृत्य को देती हैं। शायद गुरु-शिष्य परम्परा की श्रद्धा के संस्कार उन्हें वहीं से मिले हैं। हाँ, इस सत्य का साक्षात्कार उन्हें क्रमशः बहुत बाद में हुआ कि गुरु, पंथ दिखानेवाला सुआ तो है मगर जो रास्ता वह दिखाता है, उसे स्वयं पहले से निर्धारित कर लेता है। वह ज्ञान के विकास का सबसे बड़ा शत्रु भी है, दूसरे शब्दों में वह विकासहीन ज्ञान के दुहराव का प्रतीक है--शास्त्रीय या क्लासिकी साहित्य से आगे उसकी उपयोगित्ता समाप्त होने लगती है। शायद यही कारण है कि धर्मशास्त्र, उर्दू शायरी, पक्के संगीत और शास्त्रीय नृत्य में गुरु-शिष्य परम्परा का जितना महात्म्य है, रंगमंच, साहित्य या चित्रकला में उतना नहीं। ये मुक्त और प्रयोग-धर्मी कलाएँ हैं। इनके सम्पर्क में आना स्वयं मुक्त होना भी है। 'गुरु' की ताड़नाओं, भर्त्सनाओं या लगभग धमकियों और नए सम्पर्कों की 'नीचताओं, लंपटताओं और हरमजदगियों' के गुणगान सुनने के बावजूद निर्मलाजी की संकल्प-दृढ़ता ही थी कि वे गुरिल्ला-युद्ध चलाए थीं और क्रमशः साइकिल मार्किट के अपने पुराने मकान के पारिवारिक और कानूनी झंझटों और रस-सिद्धांत की सौन्दर्यशास्त्रीय जकड़नों से निकलने के रास्ते एक साथ आजमा रही थीं। निश्चय ही वे उनके बहुत तनाव के दिन रहे होंगे—दोनों ही स्तरों पर, कोर्ट-कचहरियों, वकीलों, गवाहों और पेशियों का युग था उधर एकैडेमिक दुनिया की जज मजिस्ट्रेट का खुद मौका-ए-वारदात पर मुआयना करना दैनिकचर्चा में आया था। पूरी तरह हम जैसे संतों के साथ बैठ-बैठकर लोक-लाज खोने का युग बाद में आया—यह तो उनके चौकन्ने दिमाग, विलक्षणता, रणनीतियों के निर्धारण और नारी सुलभ-कौशल के परीक्षणों को अपने हिसाब से साधने की अचूक कला और अनेक स्तरीय संघर्षों में सहज बने रहने की दीक्षा उन्हें उन्हीं दिनों मिली...

लेकिन विद्यासागर जैन या 'जैन साहब' के जिक्र के बिना यह 'गुणगान' अधूरा रह जाएगा। वे बेहद ऊष्म, स्नेही और उत्साही मेजबान थे—निर्मला जी की उन्नति और विकास से इतने एकाकार थे कि उन्हें हर तरह की सुविधाएँ उपलब्ध

कराने में अजीब आध्यात्मिक संतोष पाते थे। निर्मला जी की गुरु-भक्ति को अपना सहज अधिकार (टेकेन फॉर ग्रांटेड) मानकर डॉ. नगेन्द्र जिस तरह उस घर में हावी थे या उस घर को उन्होंने जैसे अपना उपनिवेश बना लिया था वह जैन साहब को असहज कर देता था। प्रकृति से शिष्ट, शालीन और सज्जन व्यक्ति थे, इसलिए अपनी नाराजगी और विरक्ति को शायद ही कभी प्रकट करते हों, मगर गुरु के लिए अगर हम लम्पट, गुंडे, हाली-सवाली थे तो जैन साहब के लिए परम प्रिय आत्मीय...अपने प्रतिरोध को वे हमारी खातिरदारी के रूप में व्यक्त करते थे प्रकृति से भी वे बहुत उन्मुक्त मेजबान थे। सारी प्रताड़नाओं और झगड़ों के बावजूद मूक-सहमति निर्मलाजी की भी थी और हमारी संगति में उन्हें भी ऐसा कुछ 'नया' जरूर मिलता था जो विश्वविद्यालय मठों में सर्वथा निषिद्ध था। शाम को अक्सर निर्मला जी के ड्राइंगरूम में 'विरुद्धों' आमना-सामना भी हो जाता। बेहद नाटकीय दृश्य होता था। दो दुश्मन राष्ट्रों की कूटनीतिक मीटिंगों की तरह संवेदनशील मुद्दों से बचते हुए औपचारिक संक्षिप्त खुलवाकर उबला हुआ खाना खाते रहते या उठकर घंटे भर के लिए बाथरूम चले जाते। बाद में तो धीरे-धीरे अपने 'साम्राज्य' पर उनका कब्जा बाथरूम तक ही रह गया। उन्हें देखते ही मेरे भीतर का 'दुष्ट' कुलबुलाने लगता और 'हिन्दी प्राध्यापकों के जीवन में बाथरूम का महत्त्व' जैसे विषय का शास्त्रीय लेख लिखने की इच्छा मैं उन्हें भी बता देता। मेरी जानकारी में अधिकांश हिन्दी प्राध्यापक अनेक स्तरों पर अहमन्यता और पेट के मारे हुए थे। निर्मला जी के आधुनिक परिवेश में वे शायद उतने ही असंगत लगते, जितने शीला संधू के ड्राइंग रूम में 'हिंदी वाले'...

बहरहाल, जैन साहब की उदारता और निर्मला जी की मुक्ति कामना हमें निरन्तर उनके साथ बाँधती चली गई—हमारी बिसात पर था पहले तिमारपुर और फिर मॉडल टाउन में बसा प्रतिद्वन्द्वी के मोर्चे भेदता नामवर नाम का 'पैदल', जो वजीर या बिशप बनने की दिशा में अग्रसर था। उन दिनों जैन साहब डी. जी. एल. में अच्छे पद पर थे, इसलिए हाथ भी खुला था। हमारे लिए उनकी एंबेसडर पानी से चलती थी—हमें अलग-अलग जगहों से लाने, ले जाने के अलावा उनके होटलों में खिलाने-पिलाने में उन्हें अद्भुत सुख मिलता था। माल रोड, शक्तिनगर और मॉडल टाउन का त्रिकोण जैन साहब ही नापते थे—कभी छोड़ने जा रहे हैं, कभी लेने या कभी यूँ ही खाने-पीने और गप्प-गोष्ठी करने। इन बौद्धिक या राजनैतिक बहसों में उनकी दिलचस्पी नहीं थी इसलिए अलग कमरे में एकाध नींद निकाल लेते। खिलाने-पिलाने के अलावा दोस्तों के दुख-दर्द में रात-बिरात साथ खड़े होने का गुण निर्मला जी ने निश्चय ही जैन साहब से लिया है। दोनों ही सम्पन्न परिवारों से थे इसलिए खास तरह की कुलीन सरपरस्ती इसमें और सहायक रही। हम लोग भूल नहीं सकते कि मेरी बहन कुसुम की मृत्यु के समय किस तरह ये लोग उसके कै-दस्त की परवाह न करके उसे अस्पताल ले गए। वहाँ उसकी व्यवस्था की, या बाद में गले के ऑपरेशन के समय मन्नू को मेडिकल इंस्टीट्यूट

में भरती कराके राज माल रोड से मेडिकल इंस्टीट्यूट देखभाल के लिए पहुँचते। या अजित कुमार की भांजी की मृत्यु के समय एक पाँव से बाड़ा हिन्दूराव अस्पताल में खड़े रहते। नामवर जी के दोनों बड़े ऑपरेशन मेडिकल इंस्टीट्यूट और होली-फैमिली में जैन दम्पति की देख-रेख में ही हुए...सुख-दुःख में साथ खड़े होने का यही गुण निर्मला जी के सात खून माफ कराने के लिए काफी है। टिंकू (रचना) की शादी में जिस उत्साह से उन्होंने नाच-गाने की बागडोर सम्भाली वे दृश्य आज भी हमारे कैसेट में सुरक्षित हैं ऐसे मौकों पर वे शुद्ध मध्यवर्गीय भारतीय नारी होती हैं—शादी ब्याह, पापड़, अचार, पर्दे-चादरों की समस्याओं में आकंठ डूबी। अपनी गप्प-गोष्ठियों, निन्दा-बैठकों में हमने उन्हें इतना मुक्त भी कर लिया है कि हँसी-ठहाकों के बीच लिहाज भी नहीं रहता कि हमारे बीच एक मोहतरमा भी हैं। "राजेन्द्र तो हद करते हैं..." की रवायती आपत्तियों के बीच मरदाने संवादों को उन्मुक्त भाव से उत्प्रेरित, एन्जॉय सब करते हैं मगर गाज राजेन्द्र पर ही गिरती है। नामवर, अजित, मन्नू या मुन्ना (संजय) मुझे कोंच और उकसाकर खुद संत बन जाते हैं। ऐसी गोष्ठियों में इन लोगों ने मेरी उपस्थिति उस गर्म मसाले की बना दी है जिसके बिना खाना फीका और बेस्वाद होता है, मगर जिसके तेज को आसानी से बर्दाश्त भी नहीं किया जा सकता। सब मिलाकर निर्मला जी बेहद भोली और निश्छल हैं, विश्वास के क्षणों में जब वे अपनी चिन्ताओं, परेशानियों, व्यथाओं और योजनाओं को निष्कपट भाव से बताती हैं तो सचमुच दया आती है। मगर ऐसे क्षण बहुत नहीं होते, न सबके साथ होते हैं।

निर्मला जी की डी. लिट्. की थीसिस को एक विशेष समय तक आ जाना था इसलिए तय हुआ कि आगरा के दुर्गा प्रेस में छपेगी। उन दिनों साफ-सुथरी शुद्ध छपाई के लिए दुर्गा प्रेस दिल्ली में छाया था। बात मेरे माध्यम से तय हुई प्रूफ या तो अक्षर आ जाते या जैन साहब के दफ्तर, कनाट-प्लेस। पाँच-सात बार कार से आगरा आना-जाना भी हुआ। लगभग पिकनिक जैसी होती थी हमारी ये यात्राएँ—कभी मथुरा के पेड़े-लस्सी या आलू-पूरी खा रहे हैं तो कभी कोसी के पराँठे, कभी आगरा की जलेबी-कचौड़ी का नाश्ता हो रहा है तो कभी रोड साइड ढाबे की तड़की हुई दाल-रोटी। दो-चार बार तो ऐसा भी हुआ कि आज प्रूफ लाए और कल सुबह ही किसी माध्यम से वापस पहुँचने हैं—अब रात के दो बजे तक ताज-मानसिंह, मेडंस, जनपथ या अशोक होटल के कॉफी बार में हम कॉफी पी रहे हैं और बगल की मेज पर बैठी निर्मलाजी प्रूफ देख रही हैं। उन दिनों हम लोग सचमुच खासा निकट आ गए थे। मैं जब महीने-डेढ़ महीने के लिए गाजियाबाद रहा तो भी जैन साहब कई बार मुझे वहाँ से लाने-पहुँचाने गए। अजब सुख मिलता था उन्हें खिलाने-पिलाने और खुद ड्राइव करने में। खाने के बाद कॉफी के लिए मेडंस तो स्थायी अड्डा था ही। अपने घर भी किचिन पर कब्ज़ा उनका ही होता और कुछ इस भाव से मनुहार करते मानों मुश्किल से हम उनके चंगुल में फँसे हों...सामिष खुद नहीं खाते थे, मगर बाहर हमारे लिए आपत्ति नहीं थी—पीने में न निर्मला जी

साथ देतीं, न वे। मगर प्रबन्ध रहता था। अजीब मस्ती, खुलेपन और निश्चिंतता का माहौल था। नामवर पाँव टिकाने के दौर से गुजर रहे थे—संसार का हर विषय बहस के लिए और हर व्यक्ति निन्दा के लिए खुला था—मुख्य था अजित की चालाकियाँ, घपले और छल-छंद या नामवर की मौकापरस्ती को लेकर खिंचाई और धुलाई। दीवाली पर कई दिनों ताश जमता, नामवर और नगेंद्र जी तटस्थ होकर तकल्लुफी बातें करते और अक्सर जैन साहब ब्लाइंड या चाल को दुगुना-तिगुना करके खेल 'बिगाड़' देते। उस दिन तो यह चौकड़ी सचमुच मेरे प्रति प्रशंसा से भर उठी जब डॉक्टर नगेंद्र को मैंने पटा लिया कि वे खुद तो नहीं हाँ, उनके पैसों से मुन्ना (संजय) ताश खेलेगा और हम जो 'अंड-बंड' खाएँगे-पिएँगे उसका बिल नगेंद्रजी को दे देंगे, हालाँकि यह ऑफर कभी फलीभूत नहीं हुआ—मगर डॉ. नगेन्द्र जैसे मुट्ठी-बन्द व्यक्ति से इतना जबानी खर्च भी चमत्कार ही था। रीतिकालीन रस-सिद्धान्त और छायावाद तक पहुँचकर रुक जाने से पहले उनका भी आदिकाल आगरा से ही शुरू हुआ था। इस नाते या विश्वविद्यालयवृत्त से बाहर होने के कारण मैं उनके आतंक से बाहर था और सहज ही कुछ छूटें ले लेता था। पसन्द शायद हममें से किसी ने एक-दूसरे को नहीं किया।

तरह-तरह के भोजन कराने का सचमुच निर्मला जी को भी उतना ही शौक है जितना जैन साहब को था। शाम को लोग बैठकबाजी करें, खुलकर गप्पें मारें, फिर एक से एक नायाब चीजें खाएँ इसमें उन्हें परम उदार आभिजात्य सुख मिलता है। बड़े घरों की इस रवायत की मानसिकता गिरिराज में भी कम नहीं है। मगर कभी-कभी निर्मला जी के ये आयोजन, राजनैतिक शब्दावली में 'डिनर-डिप्लोमैसी' का हिस्सा भी होते हैं जहाँ अगले किसी मोर्चे की रणनीतियाँ तय की जाती हैं, या किसी शेरसिंह को मुलायम सिंह बनाया जाता है। उस समय हम अपने आपको हाँका करनेवाले इस गिरोह में पाते हैं जो शिकार को घेरकर गड्ढे तक ले जाता है। हाँ, वहाँ वे हरेक के सम्मान और आत्मसम्मान का पूरा ध्यान रखती हैं।

पिछले तीस-बत्तीस साल से मुझे याद नहीं है कि जब निर्मला जी हमेशा चार-चार मोर्चों पर एक साथ न जूझती रही हों—एक को सम्भालती हैं कि दूसरा खुल जाता है। कभी साइकिल मार्केट के सामान के झगड़े हैं तो कभी पप्पू-पूनम को जमाने की समस्याएँ। कभी देहरादून के तनाव हैं तो कभी अपने मकान के। पिता के अभाव में माँ ने जिस चौकन्ने और चौकस ढंग से सारे मोर्चे सम्भाले रखे, वही प्रशिक्षण निर्मला जी के खून में भी है। विश्वविद्यालयीय राजनीति तो स्थायी अंतरे की तरह निरन्तर बजने वाला वाद्य था (है भी) "देखो राजेन्द्र, हम तो इस सब राजनीति से दूर ही रहते हैं" के उनके तकियाकलाम को सुनकर अक्सर जैन साहब कहते, "जिस दिन ये राजनीति नहीं रहेगी उस दिन तुम मर जाओगी।" सच ही, विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग का शायद ही कोई विवाद और उठापटक हो जिसके केन्द्र में निर्मलाजी न रही हों। इसके उन्हें लाभ भी मिले हैं और नुकसान भी। नामवर भी मूलतः उठापटकवादी हैं इसलिए शायद दोनों की पटरी

बैठती रही। ऐसे मौकों पर हम अचानक 'बाहरी' व्यक्ति हो जाते क्योंकि इन सबमें न हमारी दिलचस्पी थी, न कुछ लेना-देना। विश्वविद्यालय में होने के बावजूद अजित की गहरी दिलचस्पी भी 'ऊँची' राजनीति में नहीं रही। वैसे भी तब निर्मला जी को अपनी योजनाओं की सफलता के आख्यानों के लिए सिर्फ श्रोता ही चाहिए थे। सबसे मनोरंजक क्षण तब होते हैं जब वे प्रतिद्वन्द्वी या किसी अनमैनेजेबिल व्यक्ति की खाट खड़ी कर रही हों। उसके लिए 'पाजी', 'कमीना' और 'मक्कार' की शब्दावली भले ही उन्होंने डॉ. नगेन्द्र से ली हो मगर जब तमतमाकर इनका उच्चारण करती हैं तो लगता है गरम सलाइयाँ भोंक रही हों...ऐसे मौकों पर पुरानी दिल्ली के गली-मोहल्लों के संस्कार उछलकर उनकी जबान पर आ जाते हैं। यूँ भी वहाँ की भाषा, मुहावरों को ताजा बनाए रखने के अवसर प्रायः वे छोड़ती नहीं हैं। अपने निकट से निकट व्यक्ति या किसी ऐसे के लिए जो उनके हिसाब से व्यवहार कर रहा हो, निर्मला जी जिस चुनिंदा भाषा में उसका तर्पण करती हैं उसे सुनकर लगता है कि सार्वजनिक नलों या कुँओं पर फेंटामार झाँसी की रानियों के बीच मोर्चे सम्भालने का सौभाग्य भी उन्हें काफी मिला होगा।

अनेक जटिल और असुविधाजनक व्यूहों में घिरकर विजयी होने के कौशल और फिर उनकी आत्मप्रशस्ति की बार-बार दाद देते हुए भी मैं जानता हूँ कि वे हमेशा सही नहीं होतीं। हर जीत के बाद की पार्टियों में उनके चेहरे की चमक और कातिल मुस्कान देखते ही बनती है। परम सहभाव से पर्दों, सोफे या पापड़ वड़ियों मिर्च-मसालों की फेरिस्तें सुनकर लगता ही नहीं है कि देश के सबसे बड़े विश्वविद्यालय की वरिष्ठ आचार्या भी रही हैं। हर छोटी-बड़ी बात पर निगाह रखने वाली निर्मला जी बेहद कुशल गृहिणी हैं, घर और बाहर को समान आत्मविश्वास के साथ नियन्त्रण और अनुशासन में रखने में माहिर, अपनी सत्ता और अपने अधिकारों के प्रति बेहद चौकस, बेहद महत्त्वाकांक्षी...उनके डायनैमिज्म को देखकर मैं अक्सर ही कहता हूँ कि साहित्य या विश्वविद्यालय उनके लिए बहुत छोटे क्षेत्र हैं, मगर वे वहीं आकंठ डूबी हैं। अगर वे बड़ी राजनीति में होती तो शायद इन्दिरा गांधी और बेनजीर भुट्टो से कम नहीं होतीं ...समस्या कोई भी हो और अक्सर एक साथ कई होती हैं—मान्य या अमान्य (फेयर और फाउल) किसी भी तरीके से वे जब तक उसे सर नहीं कर लेंगी, चैन से नहीं बैठेंगी—फिर दूसरी समस्या से जूझने लगेंगी। इस समस्या से उस समस्या तक पहुँचने के तनावों का दूसरा नाम है निर्मला जैन...बारह भुजावाली दुर्गा की परिकल्पना शायद किसी हुसैन ने ऐसी ही 'दबंगा' को देखकर की होगी...

और इस सारे आर्केस्ट्रा के बीच उनका लिखना पढ़ना—किताब-दर-किताब, प्राध्यापकीय व्यस्तताएँ, विभागीय गोष्ठियाँ, सेमिनार, नाटक, फिल्में और हम जैसों के साथ ही बैठकें। कभी 'लोंजाइनस' का अनुवाद तो कभी अरस्तू की चर्चा, कभी समीक्षाएँ लिखना तो कभी साहित्यिक रचनाओं के सम्पादन या पाठशोध...(उन्होंने चमत्कार की तरह 'एडविना और नेहरू' नाम के चार सौ पन्नों के उपन्यास का

दो महीनों में अनुवाद किया) नियुक्तियों, मौखिकियों, शोध-निर्देशों या भाषणों के बहाने देश-विदेश की यात्राएँ दिग्विजय कीं--योजनाएँ; शास्त्रीय उन्नासिकता के बावजूद इधर उन्होंने साहित्य की नई चुनौतियों से मुठभेड़ की भी शुरुआत की है ...वैसे जिन्दगी और व्यवहार में वह चाहे जितनी खुली हों--साहित्य की स्थापित मर्यादाओं के 'कालजयी' पूर्वग्रह अभी भी उनकी समझ को निर्धारित करते हैं। वे उन विरल हिन्दी प्राध्यापकों में हैं जिनके पास शीन-काफ से दुरुस्त काटने और सहलाने वाली जबान, हाजिर-जवाबी, उर्दू के संस्कार और अंग्रेजी पर अधिकार है--मगर मूलतः वे हिन्दी की हिन्दूवादी गाँठ से मुक्त नहीं हैं--कहीं अवचेतन में यह भी घर किए बैठा है कि 'असली साहित्य' तो वही है। अज्ञेय-मुक्तिबोध के बाद साहित्य-फाहित्य एवेंई है--पढ़ने को उपन्यास-कहानियाँ भी पढ़ लेती हैं, मगर बात तो कविता में ही बनती है--वहाँ होता है कुछ ज्ञान, पांडित्य दिखाने का मौका--बारीक व्याख्याएँ, आतंकवादी उद्धरण। मध्यकालीन सिद्ध और संत साहित्य होंगे अपनी जगह, मगर ये दलित-वलित, मंडल-वंडल, स्त्री-फिस्त्रीवादी लेखन बकवास के सिवा क्या है; बौद्धिक स्तर पर वे अद्भुत रूप से चौकन्नी, शार्प और ब्रिलिएंट हैं, लेकिन शायद ही कभी अपने आपसे सवाल करती हों कि जिस पुरुष-केन्द्रित ब्राह्मणवादी आभिजात्य के साथ वे अपने को इतना एकाकार और आश्वस्त पाती हैं, उसी के खिलाफ तो जैन और बौद्ध धर्मों का उदय हुआ था। मगर जिस शास्त्रीय और सामाजिक सत्ता की वे उत्पादन हैं वह, वर्ग या व्यक्तिगत स्तर पर बहुत दूर तक सवाल करने की इजाजत नहीं देता। खासतौर पर अपनी ऐतिहासिक भूमिका को लेकर वे पुरानी मान्यताओं को ही पूज्य और प्राकृतिक तत्त्व की तरह सिर्फ स्वीकार के संस्कार में रहती हैं बाहरी प्रभावों और हलचलों के बीच ऐसे किसी अंतर्वीक्षण का अवकाश भी निर्मला जी के पास नहीं है। जो मूल्य उन्हें परम्परा और परिवेश से दे दिए गए हैं--वे ही अन्तिम हैं या अन्तिम रूप से 'अपने' हैं। उनकी सारी सक्रियता उन्हीं घेरों में है। साहित्य के सामाजिक स्रोतों या द्वन्द्वात्मकता में उनकी दृष्टि एकैडेमिक और पुराने तक ही सीमित अधिक है। इसलिए साहित्य को जीवन-प्रक्रिया के रूप में देखना उनके स्कूल में बहुत प्रतिष्ठादायक अभ्यास नहीं है। हाँ, वहाँ भी अगर उचित सम्मान मिले तो शायद वे अपनी मान्यताएँ रातों-रात बदल डालें।

घर चाहे मूल्यों और विश्वासों का हो या परिवार और परिवेश का, उसे व्यवस्थित बनाए रखने का नारी-सुलभ कौशल निर्मला जी की शक्ति भी है और सीमा भी ...ये 'घर' उन्हें बाहर बहुत दूर तक अकेले जाने की इजाजत नहीं देते। वे मूलतः यथास्थितिवादी और व्यवस्था-बद्ध जीव हैं क्योंकि व्यवस्था से जुड़कर जो प्रतिष्ठा मिलती है वह बाहर की अनिश्चितताओं में कहाँ? हो सकता है बचपन में 'माँ के घर' पर जिन क्षेत्रों से हमले होते रहे थे उन्हीं की शरण में उन्हें अधिक सुरक्षा दिखाई दी हो। मेरे साथ एक बार कटिहार जाने के अलावा उन्होंने शायद ही कोई ऐसी यात्रा की हो जहाँ आने-जाने के रिज़र्वेशन पहले न हो चुके

हों, ठहरने-रहने, विशेष रूप से बाथरूम की व्यवस्था स्तर के अनुरूप न हो और पद के अनुसार स्वागत सम्मान का कहा-अनकहा आश्वासन न हो...चार-पाँच साल पहले मैं, मन्नू, अजित-स्नेह और वे कन्याकुमारी तक गए थे और त्रिवेंद्रम में रिजर्वेशन व्यवस्था गड़बड़ा गई थी—तब उनकी बेचैन-छटपटाहट देखने लायक थी, मानों राष्ट्रपति के आगमन पर स्थानीय राजदूत, बेटी को स्कूल छोड़ने चला गया हो। मेरे कारण कटिहार से वापसी पर भीड़ भरे खचाखच सैकिंड क्लास में मेरे साथ न लौटने को लेकर चौबीस घंटे के दौरान जिन खाँटी जामा मस्जिदी गालियों से मेरा अनवरत तर्पण किया गया उसे सुनने वाले तय कर चुके थे कि निर्मला जी अब राजेन्द्र का मुँह नहीं देखेंगी। लेकिन दो दिन बाद ही अपने घर पार्टी देती हुई 'तुम्हें तो मैं देखूँगी' की टीप के साथ वे स्वादिष्ट सरस भोजन करा रही थीं। जैसे ही मैंने कहा कि निर्मला जी, असुविधाएँ जितनी चाहे हुई हों वहाँ सिर्फ आपका भाषण ही अद्भुत था—उसके सामने क्या हम और क्या मैनेजर पांडेय..."अच्छा, बहुत चालाकी मत करो...पहले रबड़ी खाओ, खास दरीबा से मँगाई है..." मैं कहते-कहते रुक गया कि दरीबा की तो जलेबियाँ मशहूर हैं, चक्करदार, मगर रसभरी। कितना आसान है उनके भीतर की नारी को जगाकर आत्मीयता से सराबोर होना...हम जैसे महान् ही पहले के राजा-महाराजाओं से इन्हीं गुणों से हार-उपहार झटक लेते होंगे...

महत्त्वाकांक्षी नामवर भी हैं और निर्मला जी भी। मगर नामवर उस घाघ और घिसे हुए पुराने मुकदमेबाज की तरह हैं जो सारे गाँव को कोर्ट-कचहरी के दाँव-पेंच बताता है और धीरे-धीरे दोनों फरीकों के केन्द्र में जा पहुँचता है या कभी-कभी अपने को सक्रिय बनाए रखने के लिए भी दूसरों को लड़ाकर उनकी गवाही में कचहरी के चक्कर लगाता रहता है। हर लड़ने वाले मुवक्किल से चाय-बरफी की खातिर कराता है। यानी हर मुकदमे के लिए अपने को अनिवार्य बना लेता है, हर आने-जाने वाले को रोक-रोककर झगड़ों की प्रगति जानता रहता है—ताकि अपनी भूमिका तय कर सके। निर्मला जी की महत्त्वाकांक्षाएँ इतनी व्यापक नहीं हैं। वे सीधी और साफ अपने तक ही हैं, जो ठान लेती हैं, हर साम-दाम से उसे पाकर ही रहती हैं उनके अपने सहयोगियों की राय है कि वे लोगों को सिर्फ इस्तेमाल करती हैं उनकी महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता और एकान्त आत्मकेन्द्रीयता की सीपी में पलता है। होंगे आप दुनिया के चाहे जितने दिग्गज अफलातून, अगर उनके लिए उपयोगी नहीं हैं तो आपके 'होने' का कोई हक नहीं है। वे आपको तब उन्हीं पुरानी नगेंद्री जहरबुझी जबान में ही याद करेंगी। हाँ, उन्हें उचित महत्त्व और सम्मान दें तो आपके सात खून माफ हैं। उनके बारे में कहा जाता है कि दूसरी किसी महिला को उन्होंने खुले दिल से आज तक नहीं सराहा। विश्वसुन्दरी ऐश्वर्य राय हो या मानव-कम्प्यूटर शकुंतला देवी—वे उनका ऐसा निन्दनीय कार्टून पेश करेंगी कि उन्हें भी नानी याद आ जाए...इस बारे में उनकी तुलना किरन बेदी और फूलन देवी से की जाती है जो महिलाओं के प्रति विशेष रूप से अनुदार हैं

और उन्हें ठेठ मर्दानी गालियों से नवाजती हैं। सौभाग्य से निर्मला जी के पास भी ऐसी महिलाओं की सूची काफी लम्बी है। हाँ, महिला अगर उनकी मित्र या कृपा-पात्र हैं तो सौ जान से निछावर। कहीं कोई पेंच न अड़ा हो तो सचमुच दोस्तों की दोस्त हैं। वे बीच-बीच में यह जरूर सुनते रहना पसन्द करेंगी कि हर क्षेत्र में उन जैसी कोई नहीं है...कुछ मुद्दों में तो सचमुच ऐसा है भी। तेज महिला हैं इसलिए अच्छी तरह और कभी-कभी तो अतिरिक्त रूप से जानती हैं कि वे किसे और कौन उन्हें इस्तेमाल कर रहा है। उसका मुआवजा देना और लेना वे कभी नहीं भूलतीं। जान झोंककर मित्रों के लिए करती हैं मगर इस किए को न खुद भूलती हैं और न सामने वाले को भूलने देती हैं यह डॉ. नगेन्द्र का प्रभाव है या अपने संघर्षो से प्राप्त ज्ञान कि किसी के बारे में उनकी पहली प्रतिक्रिया कभी अनुकूल नहीं होती—हर आदमी, मतलबी, घाघ, लुच्चा, लफंगा, पाजी इत्यादि होता है। इस अविश्वास को दूर करने के लिए उसे बाकायदा सिद्ध करना पड़ेगा कि वह वैसा नहीं है। मुझे लगता है कि अविश्वास उनके व्यक्तित्व का मूल सूत्र है और नयों से लेकर पुराने मित्रों तक को लेकर उछालें मारता रहता है। मूलतः ऐसा अविश्वास अपनी असुरक्षा भावना से आता है; मगर इसका एक दूसरा पक्ष यह भी है कि आपको हमेशा चौकन्ना, चुस्त और ऊर्जावान बनाए रखता है—सुरक्षा की तड़प में आपको और अधिक सत्ता, पद, अधिकार की ओर धकेलता है। दूसरे शब्दों में डायनमिक बनाता है। चूँकि दूसरे अनिवार्यतः खतरनाक और षड्यन्त्री हैं। इसलिए आदमी की नीचताओं पर उनकी आस्था किसी भी भक्त से ज्यादा दृढ़ है। मैं कह सकता हूँ कि हमारी और उनकी दोस्ती इन जव जटिलताओं और पेचीदगियों से होती हुई भी प्रायः मुक्त रही है। मगर आज भी कोई नई बात बताते या होते ही फोन पर सुनाई पड़ता है कि "वो सब तो ठीक है, तुम मतलब की बात बताओ"। तब मुझे 30 साल पहले के फोन की याद आ जाती है। उनके हिसाब से बिना मतलब के कोई किसी के लिए कुछ नहीं करता। मान लीजिए, मेरी किसी बात पर उनकी प्रतिक्रिया है कि "अरे मैं खूब जानती हूँ, राजेन्द्र, परले सिरे के मक्कार हैं, लगे होंगे किसी दन्द-फंद में"। और अगले दिन उन्हें विश्वास में लेकर उसी बात में उनका सहयोग चाहूँ तो बाद में कहेंगी "भई, करना तो था ही, आखिर अपने दोस्त हैं कुछ कहो, आदमी तो खरा है..." अपनी एक ही 'हरकत' के लिए उनकी ये दोनों ही प्रतिक्रियाएँ खासी मनोरंजक हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हर फैसला इस बात से तय होता है कि आप उन्हें कितना महत्त्व देते हैं या केन्द्रीयता में वे कहाँ हैं?

हम सबकी तरह महत्त्व उन्हें भी चाहिए—मगर यह महत्त्व ही क्या, जो न दूसरों में आतंक पैदा करे, न प्रभावी हो! आपके पास पद-प्रतिष्ठा होगी तो कृपा चाहने वालों में से आप चुनाव कर सकते हैं, उनकी कमजोर नसें, मुआवजे या कीमतें हाथ में रखकर जरूरत पड़ने पर उनका उपयोग हो सकता है। इसके सिवा महत्त्वपूर्ण होने का अर्थ ही क्या है? (इंदिरा गांधी भी तो सबकी फाइलें रखती थीं) तभी तो लोगों की निगाह पड़ेगी कि आप कितने प्रतिभाशाली, दूसरों से अलग और

ऊपर हैं। उपलब्धियाँ और अध्यवसाय निर्मला जी के महत्त्व-वर्धन की सहायक नदियाँ हैं। मान लीजिए (और शायद सच भी है) कि वे बहुत अच्छी वक्ता हैं, अपनी बात को जमाकर असरदार ढंग से कहती हैं, हमेशा विषय का नया मुद्दा निकालकर लाती हैं--मगर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह उनका व्यक्तिगत विश्वास या कमिटमेंट भी है। "अरे साहब, क्या बात कही है, वकील साहब ने, कोर्ट में समां बाँध दिया।" कुशल और ब्रिलियंट वकील की यह प्रशंसा ही उसकी वह उपलब्धि है जो उसे महत्त्वपूर्ण बताती है। यहाँ निर्मला जी नामवर की प्रतिरूप और प्रतिद्वन्द्वी हैं। मगर नामवर हर तरह के सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक या सांस्कृतिक मुद्दे पर अपने वकीली चमत्कार दिखा सकते हैं, निर्मला जी साहित्य के आस-पास बने रहने में सुरक्षित महसूस करती हैं। शायद यह दोनों के अपने इतिहास का अन्तर है। नामवर के कन्सर्न और परिप्रेक्ष्य व्यापक और विस्तृत हैं—निर्मला जी के तात्कालिक; उनकी चिन्ताओं का दायरा बहुत सीमित है। आजकल तो नहीं, लेकिन नामवर पहले कभी-कभी उन सामाजिक मुद्दों पर भी स्टैंड लेते थे जिनका तत्काल उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता था, उन्हें कॉज बनाकर लड़ने वालों के साथ भी हो लेते थे। आज वे अपने से बाहर सिर्फ अध्यक्ष बनने जाते हैं—विषय चाहे 'वैजीटेरियन भोजन का महत्त्व' हो या 'भक्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता...' आज उनके लिए विषय का चुनाव इस पर निर्भर करता है कि खुद उन्हें कितना महत्त्व दिया जा रहा है। शायद यह दोनों में कॉमन भी है। नामवर किसी महत्त्वपूर्ण विद्वान की सभा में सिर्फ श्रोता की तरह भी पहुँच जाते हैं, हम लोगों का साथ न हो तो अपनी तरफ से निर्मला जी शायद ही किसी दूसरे को सुनने जाएँ। उस समय वह सिर्फ अपने ही किसी परिवार जन के लिए स्वेटर बुनती हुई घर की व्यवस्था का मुआयना करना पसन्द करती हैं। उनकी किसी भी व्यवस्था में कहीं झोल है, यह उन्हें बर्दाश्त नहीं है, वे परफैक्शनिस्ट हैं।

मैं यह भी मानता हूँ कि जिस तैयारी, सूझ-बूझ, परिश्रम और तलस्पर्शी दृष्टि की वे मालिक हैं, उसके चलते वे हिन्दी की एकमात्र महिला समीक्षक बन सकती हैं। उनसे कहता भी रहा हूँ कि कितनी दयनीय स्थिति है कि सारे हिन्दी साहित्य में एक भी महिला-समीक्षक नहीं है। कविता-फविता पर 'प्रसाद में नारी की परिकल्पना' जैसे विषय लेकर दो-चार प्राध्यापिकाएँ कुछ कमाल करती रहती हैं—बहुत हुआ तो रघुवीर सहाय और मुक्तिबोध तक आ गईं—मगर कथा-साहित्य का क्षेत्र तो एकदम वीरान है। इस समय साहित्य और समाज में विशेष रूप से उभरने वाले स्त्री-विमर्श पर किसी महिला-विचारक का हस्तक्षेप सचमुच सार्थक और महत्त्वपूर्ण हो सकता है। मगर इसके लिए तात्कालिक उपयोगितावाद या तुरन्त फलदायकी मानसिकता छोड़कर लगभग स्वांतः सुखाय किस्म की पड़ताल में उतरना होगा। मराठी में इरावती कर्वे, दुर्गा भागवत या इस तरह की कितनी महिलाएँ हैं जो अपने अध्ययन और निर्भीक, मौलिक चिन्तन या व्याख्याओं के लिए ही महत्वपूर्ण हैं। नहीं कहता कि आप सिमॉन द बोउवा ही बनें, मगर हिन्दी की कूपमंडूकीय महानताओं, जड़ शास्त्रीय

रूढ़ियों और महिमाओं को बड़े सन्दर्भो में जाँचना तो पड़ेगा ही। यह सम्भावना मुझे मृदुला गर्ग, राजी सेठ, प्रभा खेतान, मृणाल पांडे, अर्चना वर्मा और कात्यायनी जैसी लेखिकाओं में जरूर दिखाई देती है। विदुषी तस्लीमा नसरीन भी कम नहीं है, वैसी या मेधा पाटेकर जैसी मुक्त महिलाएँ अगर अगले सौ साल तक हिन्दी क्षेत्र में आती नहीं दिखाई देतीं तो कारण कहीं हमारे सांस्कृतिक या नैतिक अवधारणाओं में है। क्या इस पर भी किसी महिला को बेबाक चिन्तन नहीं करना चाहिए... ऐसी बातें सुनकर निर्मला जी गम्भीर हो जाती हैं। मुझे डर है कि आज साहित्य-विमर्श जिस तरह चिंतन और जीवन के दूसरे क्षेत्रों से जुड़कर उसे जड़-मूल से बदल रहा है उस सबको बकवास कहती हुई कहीं वे सिर्फ विश्वविद्यालय साहित्य तक ही सिमट कर न रह जाएँ...उन जैसी जीवंत महिला की यह दुखद ट्रैजेडी होगी, क्योंकि जिस बिन्दु से प्रारम्भ करके वे यहाँ तक आई हैं वह एक विद्रोही और डायनैमिक व्यक्तित्व की पहचान देता है। क्या यह ट्रैजिक नहीं है कि यह व्यक्तित्व सिर्फ अपनी तात्कालिक और निजी महत्त्वाकांक्षाओं में ही रह जाए और बड़े सन्दर्भों में संक्रमित न हो?

निर्मला जी की ऊष्माओं, दुख-दर्द, आँसुओं, कहकहों, परनिंदाओं और निजी उथल-पुथल के हम सब हिस्सेदार रहे हैं इसलिए बहुत आसान है कि औपचारिक प्रशस्तियों के बँधे-बँधाए मुहावरों में उनकी सेहराबंदी कर दी जाए—मगर मैं उस विरल व्यक्तित्व से सीधे मुठभेड़ करना चाहता हूँ जो अपरम्परागत भाषा और अलग एप्रोच की माँग करता है, क्योंकि कहीं तो वे अलग हैं ही...

किसी भी व्यक्तित्व को मौलिक बनाने के तीनों तत्त्व उनमें कूट-कूटकर भरे हैं, आत्मविश्वास, संकल्प और साहस...पिछले दिनों वे विश्वविद्यालय से निकलकर राजकमल प्रकाशन के माध्यम से लेखकों की खुली मगर ज्यादा जटिल दुनिया में भी आईं मगर यह अधिकार से ज्यादा व्यावहारिकता की दुनिया है क्योंकि यहाँ कोई किसी को अपने से ऊपर नहीं समझता, न किसी सीनियर को 'सर' या 'मैडम' कहता है। सीमित अर्थों में ही सही यह प्रजातन्त्र है। जाहिर है जहाँ काम करने की मनमानी छूट न हो, वहाँ निर्मला जैन क्यों रहेंगी?

सम्पादकीय

हंस : डेढ़ दशक लम्बी बहस.

और लीजिए साहब, देखते-ही-देखते हंस को निकलते हुए पन्द्रह साल पूरे हो गए। मुहावरे में कहूँ तो पलक झपकते ही पन्द्रह साल का समय निकल गया। अभी कल-की-सी बात लगती है जब हंस के साथ जुड़े सभी लोग रात-रातभर बैठकर पत्रिका के पृष्ठ तैयार करते थे। हरि नारायण ब्रोमाइड कटवाते, प्रूफ देखते, हरिप्रकाश त्यागी फुटा और पेन लेकर एक-एक पन्ने को आड़े-तिरछे कोणों से देखता, ब्रोमाइड पेस्ट करता और सब लोग अपने-अपने सुझाव देते। मैं या तो नैतिक समर्थन के लिए बैठा रहता या बने हुए पन्नों को पास, ना-पास करता। अर्चना नए-नए आइडिया लाती। रचनाओं का सम्पादन, पुनर्लेखन करती और बहसों का बाज़ार गर्म रहता। बीच-बीच में त्यागी सिगरेट-चाय और दारू के घूँट भरता रहता, फेफड़ा-फाड़ खाँसता और गालियाँ खाता...अजीब उत्तेजना और तनाव का वातावरण था। गौतम नवलखा को उम्मीद थी कि हंस ऐसा धमाका होगा जैसा अभी तक कभी नहीं हुआ। सम्पर्कों के आधार पर उन्हें विश्वास था कि विज्ञापनों की लाइन लग जाएगी। कभी परिचित कम्पनियों से बातें की जातीं तो कभी आई. बी.एच. (इंडिया बुक हाउस—अमर चित्रकथा के प्रकाशक-वितरक) से...पारिश्रमिक से लेकर प्रोडक्शन तक हर क्षेत्र में हम आदर्श स्थापित करना चाहते। उत्साह में हम सभी थे, मगर मुझे गौतम के सपने कुछ ज़्यादा ही ऊँचे लगते। फिर सोचता कि शायद यह चमत्कार हो ही जाए...हो सकता है उम्र और अनुभवों ने मुझे कुछ ज़्यादा ही ठण्डा कर दिया हो और ये नौजवान लोग ही सारे परिदृश्य को बदल डालें...उसके बाद इतिहास है और वह सबके सामने है।

अगस्त 1986 को पहला अंक निकला। उससे पहले के लगभग पाँच साल हंस के लिए विचार-मन्थन का युग था। शाम को हम तीन-चार मित्र प्रकाश कम्पनी, दरियागंज में ही मिलते। स्थान उमराव सिंह चौरडिया का था, लीडर थे टी. एम. लालानी—मेरे सन् '66-67 के व्यवसायी मित्र। पहले ऑटोमीटर्स में वरिष्ठ व्यवस्थापक थे, फिर फरीदाबाद में इण्डिकेशन इंस्ट्रूमेंट्स नाम से अपनी फैक्टरी लगा ली। उमराव सिंह मस्त और शौकीन आदमी थे। 'राजेन्दर जी, ये साहित्य-वाहित्य की बारीकियाँ आप और लालानीजी समझो। हमसे तो जो कहोगे, वह कर देंगे' तब लालानी साहित्य, कला, संस्कृति, स्पोर्ट्स, विज्ञान, इतिहास, धर्म सभी में अप-टु-डेट रहना चाहते। कच्चे-पक्के संगीत से लेकर क्रिकेट फुटबाल के 'अधिकारी',

बोलने-बताने के शौकीन, शेर-ओ-शायरी से लेकर अमेरिका-इंग्लैण्ड की नवीनतम व्यावसायिक राजनीतिक गतिविधियों के जानकार। अद्भुत याददाश्त। उद्योगपतियों की नई डायनैमिक पीढ़ी के प्रतिनिधि–धर्म से लेकर साहित्य-कला तक सभी में कुछ नया कर डालने के सपनों से लबालब...आचार्यश्री (जैन आचार्य मुनि तुलसी) के निकट...वहीं आते दिल्ली के मारवाड़ियों में सबसे अधिक तेज़ी से उभरते अभिनेता जैसे युवा व्यक्तित्व वाले कन्हैयालाल पटावरी, सड़क पर दिखें तो लगे कि या तो पत्रकार हैं या सामाजिक कार्यकर्त्ता। धीर-गम्भीर मांगीलाल सेठिया, वकील मगनलाल लोढ़ा...सबका एक ही कहना कि "जो लालानीजी कहेंगे, हो जाएगा" और लालानी हड़बड़ाते हुए-से आते, व्यस्तताएँ गिनाते हुए जल्दी जाने की घोषणाएँ करते। पेट या ब्लड-प्रैशर की शिकायत करते और प्रायः रात के ग्यारह बजा देते। गाड़ी में ही कोई नया मुद्दा सोच लाते और फिर सारी शाम उसी की घिसाई-कुटाई होती। वह हमारा 'बुधवारी क्लब' था जहाँ ये पाँच-छः लोग तो अनिवार्यतः होते ही। पाँच बजे से ही उमरावजी के फोन आने शुरू हो जाते। 'राजेन्द्र जी, आज ज़रा जल्दी आ-जाइए...आप नहीं आएँगे तो क्या हम यहाँ...' इसके बाद की भाषा उमराव जी की अपनी होती...धमकी होती कि जो ढाई लिटर की ब्लैक-लेबिल पड़ी है इसे क्या अकेले अपने पैंदे में उंड़ेलना है...

लगभग पाँच साल से बुधवारी बैठकें चलीं। बात पत्रिका की योजना से शुरू होती तो दूसरी साँस में ही लालानी बताने लगते कि लीलाभटी राजस्थान की कितनी बड़ी लोक-गायिका हैं और परसों ताज मानसिंह में उसका प्रोग्राम रखा है, या फिल्मी संगीतकार राजकमल अमुक जगह अपनी नई धुनें सुनाना चाहते हैं। अक्सर ही आचार्यश्री का आगमन या विदाई की विराट स्तर पर तैयारियों की योजनाएँ बनतीं–लाखों के पुरस्कार तय होते। एक पत्रिका राजेन्द्र जी के कारण व्यावसायिक रूप से सफल नहीं होगी, इसलिए चार पत्रिकाओं की योजना बनती। अ़जित कुमार, शानी और भूपेन्द्र कुमार स्नेही उनके सम्पादक बनाए जाते। ये दोनों भी काफ़ी समय बुधवारी-सदस्य रहे। करमी के कबाब, पेशावरी का चिकन या पुरानी दिल्ली की चाट आए दिन मँगाई जाती। उमराव जी खुले दिल मेज़बान थे। अगले दिन आखिरी तारीख है, अगर टेलीफोन का आठ सौ रुपये का बिल नहीं दिया गया तो लाइन कट जाएगी–इस चिन्ता के साथ मैं स्कॉच पीता रहता। हिसाब लगाता कि इन लोगों की एक शाम का खर्चा क्या होता होगा...पत्रिकाओं के प्रकाशन के लिए पंच प्रकाशन प्राइवेट लि. की स्थापना हुई। एक बार तो पटावरी ने बहादुरशाह जफर मार्ग पर प्रिंटिंग मशीनों के साथ गुलाब-भवन खरीदने तक की पेशकश कर डाली : अपना सैट-अप टाइम्स ऑफ इण्डिया से छोटा नहीं होना चाहिए...व्यवसाय और दूसरी व्यस्तताओं के सिलसिले में कोई-न-कोई देश-विदेश जाता रहता, इसलिए अक्सर कोरम पूरा नहीं होता था। हाँ, विचार-विमर्श और बैठकें नियमित चलतीं।

बेहद शार्प और ब्रिलिएंट होने के साथ लालानी भयानक परफैक्शनिस्ट भी

थे। हर जगह उन्हें सर्वश्रेष्ठ से कम कुछ भी स्वीकार नहीं था। जो उन्हें पसन्द नहीं है, वह उन्हें बर्दाश्त नहीं था, चाहे वह गाने वाले का सुर हो या शराब के गिलास की शक्ल। मैं मज़ाक में कह भी देता कि "अपने लालानी जी को देश का सर्वश्रेष्ठ कुक चाहिए जिसे वे बता सकें कि कौन-सा मसाला डालना या कितना भूनना है—अगर खाना बिगड़ गया तो कुक की नालायकी और अच्छा बन गया तो लालानीजी का श्रेय..." इस क्लब में मेरे, लोढ़ाजी या आने-जाने वाले मित्रों को छोड़कर सभी बावन हाथ के थे। हरेक की पचासों योजनाएँ थीं। बीस-पच्चीस साल पहले के युवा वलवले थे। निर्विवाद लीडर लालानीजी एकाध शाम से अधिक किसी योजना पर नहीं टिकते थे। उनके आक्रामक व्यक्तित्व से सब डरते थे, वे पाँच चैनलों पर एक साथ चलते थे। धीरे-धीरे मुझे लग गया कि यहाँ कुछ नहीं होगा। इनकी प्राथमिकताएँ दूसरी हैं। यहाँ से तो नहीं, मगर कहीं और से कभी कोई पत्रिका निकली भी तो साल में एकाध विज्ञापन से अधिक की उम्मीद मुझे नहीं करनी चाहिए। हाँ, कभी किसी लेखक की मदद ज़रूर की जा सकती है। पाकिस्तान से फ़रारी के दिनों में फहमीदा रियाज़ को पति और बच्चे सहित पन्द्रह दिन लालानी के यहाँ रखने की व्यवस्था मैं कर ही चुका था। उमरावजी की मदद से हंस के एक वर्ष में छपी कहानियों पर पुरस्कार देने की योजना बनाई थी जो लेखकों की भयानक असहमति के कारण केवल एक साल चली। उस वर्ष 'तिरिया चरित्तर' को पहला, 'तिरिछ' को दूसरा और 'कार्लो हब्शी का सन्दूक' को तीसरा स्थान मिला। पुरस्कार क्रमशः पाँच, तीन और दो हज़ार के थे।

पत्रिका की बात वहाँ नहीं बननी थी तो नहीं ही बनी...हाँ, हमारा बुधवारी क्लब ज़रूर प्रसिद्ध हो गया। भारत की पहली दुस्साहसी महिला टैक्सी चालक रीता नाहटा (स्व. अमृतलाल नाहटा, 'किस्सा कुर्सी का' के निर्माता की पुत्री) महिलाओं की प्रस्तावित पत्रिका की सम्पादिका के रूप में आती। अरविन्द जैन ने जनहित याचिका में जैन समाज में बाल-दीक्षा के खिलाफ़ मुकदमा डाल दिया था। बुधवारी क्लब में लालानी मुझे और अरविन्द को सुनाते "आप और अरविन्द हमारे जैन समाज से पंगा मत लीजिए...बाल-दीक्षा अमानवीय है, हम भी मानते हैं। मगर मामला समाज का है। हमारे पास पैसा है, हम एक-से-एक बड़ा वकील लगा लेंगे।" लालानी एक ही साँस में भयानक परम्परावादी और प्रगतिशील दोनों थे। "देखिए राजेन्द्र जी, हम हैं मारवाड़ी बनिए, जब तक एक-एक बात विस्तार से नहीं समझ लेंगे तब तक किसी भी काम में हाथ नहीं डालेंगे...चलिए कल आपको फरीदाबाद क्लब में अनिसा साबरी की ग़ज़लें सुनवाते हैं..." और विस्तार से पत्रिका की बात अगले बुधवार के लिए टल जाती। इसी बीच हंस की योजना गौतम नवलखा के साथ बन गई...बुधवारियों को धक्का लगा, मगर बैठकें चलती रहीं। टूटीं उमराव जी के [illegible] रहने पर...पत्रिका निश्चय ही लालानी निकालना चाहते थे। उनके लिए पच्चीस-पचास लाख की राशि की व्यवस्था करना मुश्किल भी नहीं था। हर दूसरे-तीसरे साल आचार्यश्री के कार्यक्रमों के लिए इससे दुगुनी-तीन गुनी राशि

की व्यवस्था होती ही थी। मगर इस मुद्दे पर मेरी और उनकी दृष्टि में तालमेल नहीं बैठ रहा था। दोनों ही जानते थे कि वे हस्तक्षेप किए बिना रह नहीं पाएँगे और मैं शायद इसे स्वीकार नहीं करूँगा। हो सकता है आपसी दोस्ती भी संकट में पड़ जाए...इससे पहले रामाधारजी और आर. के. मिश्रा के साथ बरसों पत्रिका की योजनाएँ बनीं। हो सकता है कभी इस सब पर भी विस्तार से लिखूँ। मिश्राजी ने ज़रूर बाद में कमलेश्वर के साथ *गंगा* नाम से पत्रिका निकाली...वे लिंक-हाउस के सर्वे-सर्वा थे।

यथार्थ कंटीला और कटु दोनों होता है। मगर ज़िन्दगी और मौत का निर्णायक क्षण स्मृति बन जाने के बाद लगभग मनोरंजक बन जाता है। मोर्चे पर किसी भी समय गोली का शिकार बन जानेवाला सैनिक बाद में उस अनुभव को हँस-हँसकर सुनाता है, अपने व्यवहार, डर और साहसिकता के कारनामों को कुछ इस तरह दुहराता है मानो नाटक की कहानी सुना रहा हो। इन पन्द्रह सालों में अनेक ऐसे अवसर आए जब हंस कभी भी किसी गोली का शिकार हो सकता था। कभी उमराव जी ने बचाया तो कभी प्रभा खेतान ने, कभी एस. के. रॉय सामने आए तो कभी एस. आर. शर्मा। अपना पुराना बाइंडर-मित्र प्रेम सोढ़ी तो था ही। अक्षर के दिनों में न जाने कितनी बार सोढ़ी संकटमोचन बनकर साथ खड़ा हुआ था। अनपढ़, परिश्रमी और बड़ा सोचने वाला भव्य पर्सनेलिटी का सोढ़ी बारह रुपये महीने की नौकरी के शुरू करके लाखों तक पहुँचा था—कम्प्यूटरी याद्दाश्त और पंजाबी आत्मविश्वास। हंस लगभग छः महीने उसी ने निकाला। हालाँकि एक लाइन भी कभी नहीं पढ़ पाया। कहता हमेशा यही रहता कि "यादव साहब, ये सब क्या निकालते हो। मधुर कहानियाँ जैसा कुछ निकालो तो कमाई का कुछ जुगाड़ भी बैठे...इसमें आपको कुछ नहीं मिलना...अपनी सेहत और खराब करते हो। हम भी धरम का काम समझकर आपके साथ हैं।" हिसाब करूँ तो उसका न जाने कितना देना निकले। साल-छः महीने में अभी भी कभी आ जाता है, "कुछ जुगाड़ बना हो तो हमारा भी देख लो..."

मगर ये सब अंदरूनी कहानियाँ हैं। ऐसे जोड़-तोड़ हैं जिनकी जानकारी कुछ को छोड़कर शायद ही किसी को हो। इन्हें जानता है एकाउण्टेण्ट के रूप में हंस के जन्म से जुड़ा हारिस महमूद, बारह साल से दफ्तर सँभालती वीना उनियाल, हमेशा साथ रहने वाला किशन...या दस साल साथ रहे हरिनारायण...(अब कथादेश के सम्पादक-प्रकाशक)...दूर-पास आती-जाती, मगर हर उतार-चढ़ाव की गवाह अर्चना वर्मा। हारिस, वीना और किशन में से हंस के बारे में बोलता कोई कुछ नहीं है। हाँ, मेरे कमरे में चलने वाले नाटकों के दर्शक तीनों हैं—कभी मज़ा लेते तो कभी कुढ़ते-भन्नाते—'बिगड़े हुए बच्चे' के अत्याचार बर्दाश्त करते...कोई भी हारिस का सही नाम नहीं लेता। कोई उसे हैरिस कहता है, कोई हरीश। वीना ने यहीं रहकर एम. ए. किया है और आज मूल प्रश्न त्रैमासिक को स्वतन्त्र रूप से निकालती है। (वेददान सुधीर, उदयपुर में बैठे सिर्फ़ सम्पादकीय सामग्री और पैसा भेजते हैं)।

वह चाहे तो *हंस* के बनने की सारी कहानी उतार-चढ़ावों के साथ लिख सकती है। क्योंकि वह हर स्थिति की भोक्ता ही नहीं, आने-जाने वाले हर व्यक्ति की भीतरी बनावट को अपनी स्त्री-शक्ति से सूँघती भी है मगर वह घुन्नी है। अर्चना या वीना में से कोई भी अगर सिर्फ़ मेरे कमरे को ही केन्द्र बनाकर कहानी लिखे तो हिन्दी-फिल्म की तरह 'मसाला-माल' तैयार हो सकता है—जहाँ मार-धाड़, रहस्य, रोमांच, नायक, खलनायक, बहसें, आन्दोलन सभी बारी-बारी से घटित होते रहते हैं...छोटा-सा आत्मीय परिवार है। यहाँ सब एक-दूसरे की आलोचना कर सकते हैं। हिसाब-किताब से लेकर साहित्यिक-राजनीतिक कुछ भी इनकी निगाह से नहीं छिपा। हाँ, मेरी निरन्तर चलने वाली अड्डेबाजी के कारण बाकी लोगों की मेरे बारे में राय बहुत अनुकूल नहीं है। अपने समर्थन के लिए दुर्गा को सिर्फ़ वोट की तरह इस्तेमाल किया जाता है। चार साल साथ काम करने के बावजूद गौरीनाथ इस अन्तरंग गुट का हिस्सा नहीं बन पाए हैं। सो यह *हंस* की किचेन-कैबिनेट है। हर घर में 'माल दबाए' एक सनकी बुड्ढा होता है; यहाँ उसका नाम है राजेन्द्र यादव।

प्रेमचन्द के लिए कभी भी हंस साहित्य, कला, सौन्दर्यशास्त्र की वैसी अकादमिक पत्रिका नहीं रही जैसी *नागरी प्रचारिणी पत्रिका* थी। या आज अशोक वाजपेयी के लिए पूर्वग्रह, बहुवचन इत्यादि रही हैं। अपने समय के साथ जुड़ा कोई भी जागरूक बुद्धिजीवी जिन समस्याओं से हर क्षण जूझता है, वही सब हंस के सरोकार थे। वह परिवर्तन, राजनीति और सामाजिक गतिशीलता की पत्रिका थी। मैं हंस को उन्हीं सामाजिक सरोकारों से जोड़ता रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि संसार का कोई भी साहित्य मूलतः देशकाल से निरपेक्ष नहीं होता, वह एक विशेष समाज की ही रचना होती है—यानी उसके सन्दर्भ अनिवार्य रूप से सामाजिक होते हैं। माध्यम भले ही व्यक्ति की निजी अभिव्यक्ति हो, मगर कहीं पीछे समुदाय की जातीय स्मृतियाँ, संघर्ष और स्वप्न गुँथे होते हैं। देवदास प्रेम में असफल एक युवक की निजी ट्रेजैडी की करुण कथा है, मगर वह कथा एक विशेष सामाजिक स्थिति में ही घटित हो सकती थी। उसे पढ़ते हुए हम इन सवालों से बच नहीं सकते कि वे क्या सामाजिक या मानसिक वर्जनाएँ थीं कि देवदास और पारो नहीं मिल पाए, हारा हुआ देवदास क्यों चन्द्रमुखी और शराब के आत्महन्ता रास्तों पर निकल पड़ा? क्या वह ट्रेजैडी आज भी ठीक उसी तरह घटित हो सकती है? इन सवालों से मुठभेड़ हमें सामाजिक शक्तियों की पड़ताल की तरफ़ ले जाती है। हर रचना कहीं एक विचार भी है और जिरह भी—घोषित या अघोषित...हंस इन्हीं सामाजिक सवालों से विवाद-संवाद का एक मंच है। यह भी निर्विवाद है कि ये सवाल हवाई नहीं होते—समाज, धर्म और सैक्स तीन ही ऐसे मोर्चे हैं जहाँ परिवर्तन-विरोधी अपने सुरक्षा-दुर्ग बनाते हैं। हर बदलाव इन्हीं से जुड़े सवालों से जूझने और पुनर्विचार से शुरू होता है। जिसे हम यथास्थितिवाद कहते हैं वह इन्हीं मुद्दों को पहले से तय मान लेना है—यानी नई स्थितियों और चुनौतियों से कतराकर इन पर विचार न करने की जड़ता है।

आप देखेंगे कि हंस पर पिछले पन्द्रह सालों में जो आरोप लगते रहे हैं वे सिर्फ़ इन्हीं तीन पक्षों को लेकर हैं, कि हंस में साहित्य कम राजनीति ज़्यादा होती है—कभी मण्डल तो कभी दलित, कभी मार्क्स तो कभी मनु। दूसरा, भारतीय संस्कृति, साम्प्रदायिकता और धर्म विरोध हंस का ऐसा हव्वा (आब्सैशन) हैं जिससे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। तीसरा, स्त्री और सैक्स राजेन्द्रजी की अपनी कुण्ठा है जिसे वे पूरे साहित्य पर लादकर प्रदूषण और अश्लीलता फैलाते हैं!

सही है कि समाज, धर्म और सैक्स पर *हंस* ने खुली बेबाक और निर्भीक बहसें चलाई हैं और 'व्यर्थ के विवाद पैदा करने की सनसनी वाली' मानसिकता की गालियाँ खाई हैं। शायद इतनी साफ़ बातें करनें और सुनने का अभ्यास उत्तरी-भारत की हिन्दी हिप्पोक्रैसी को नहीं रहा। आरोप यह भी है कि दलित, स्त्री और धर्म के साहित्येतर विषयों के सिवा मेरे पास लिखने को साहित्य-संस्कृति का कोई और मुद्दा ही नहीं है और मैं बार-बार उन्हीं को ऊब पैदा करने की हद तक दुहराता रहता हूँ। सही है कि शाश्वतवादियों के लिए या तो ये समस्याएँ हैं ही नहीं या बौद्धिक रूप से तय हो चुकी हैं, इसलिए उन पर बात करना अपने को दुहराना है। मैं साहित्य की पवित्र दुनिया को भ्रष्ट और प्रदूषित कर रहा हूँ। यह शिकायत या तो कलावादियों की तरफ़ से आती है या रिटायर्ड किस्म के बूढ़े प्राध्यापकों और अफसरों की ओर से। ज़ाहिर है इनकी दुनिया स्वतन्त्रता से पहले की सामन्ती मानसिकता में ही ठहर गई है और इनके लिए उत्कृष्टता, भव्यता और दिव्यता के वे ही मूल्य अपरिवर्तनीय हैं, जिन्हें घोट-घोटकर उन्होंने अपनी सौन्दर्यशास्त्रीय या साहित्यिक समझ विकसित की है। लोकतन्त्र ने जिन दबी-कुचली सामाजिक शक्तियों को उन्मोचित और मुक्त किया है उनको पचा पाना इन वर्णवादियों के गले की हड्डी बना हुआ है। इधर उत्तर-आधुनिक स्थितियों ने सारी महान, शाश्वत, अखण्ड धारणाओं को चकनाचूर कर दिया है अगर वे इस सच्चाई को स्वीकार करते हैं तो सैकड़ों सालों के उस भव्य और दिव्य का क्या होगा जो महान संस्कृति का पर्याय बन गया है। मेरे लिए ये समस्याएँ कला और साहित्य से ज़्यादा समय और समाज की हैं। इन्हीं आलोड़नों में जो संस्कृति बनेगी वह निश्चय ही वह नहीं होगी जिसे हम युगों से लटकाए फिरते रहे हैं।

हंस का युवा पाठक-वर्ग इस बात को जानता है कि हर परिवर्तन के विरोधी वे वर्चस्वी बूढ़े हैं जो बाल-बच्चों को फिट करके पेंशन और घूस खाते हुए कला और संस्कृति का उद्धार करने वापस आ गए हैं। कथनी और करनी के भेद के किसी भी देश से मुक्त ये अवकाशी वृद्ध अस्तित्व की नहीं, व्यक्तित्व की चिन्ताओं से ग्रस्त हैं। इधर मुझे यह भी लगने लगा है कि बीसवीं सदी के अन्त में हमारी ही नई युवा ग्लोबल पीढ़ी और स्त्री-दलितों की उभरती हुई शक्तियों ने पुराने मध्य-वर्ग की सारी मान्यताओं, आदर्शों, मूल्यों और महान कलात्मक 'उत्कृष्ट' उपलब्धियों को एक सिरे से अस्वीकार कर दिया है। उम्र, अनुभव, अवसरों और पद की सत्ताओं पर काबिज़ बूढ़ी पीढ़ी जितना ही अपनी व्यर्थता को समझती है, उतने ही

अधिक आग्रह के साथ अपनी महानताओं को बचाने का शोर मचाती है। अपने असफल और अप्रासंगिक होने की चेतना इस पीढ़ी को अधिक-से-अधिक 'फंडामेंटल' शक्तियों की शरण में जाने को मजबूर कर रही है। हो सकता है इन 'टिकाऊ' सिद्धान्तों के सहारे ही अपने को कुछ जीवन-दान दिया जा सके। वे इस इलैक्ट्रॉनिक क्रान्ति का मुकाबला पुराने मन्दिरों और मठों में बैठकर करना चाहते हैं। ये लोग इस सत्य को आत्मसात करने में असमर्थ हैं कि जो वस्तुगत रूप से इतिहास-विरुद्ध है वह वैचारिक रूप से अप्रासंगिक होने के लिए अभिशप्त होगा ही। सामन्ती-परिवार के जिन वर्णाधारित आदर्शों से जुड़ी स्मृतियों या पुरानी कला-संस्कृति की दुहाई यह वृद्ध पीढ़ी दे रही है, वह आने वाले समय और समाज की सच्चाई होने नहीं जा रही। नॉस्टेल्जिया कभी किसी समाज का यूटोपिया नहीं बनता। इतिहास सिर्फ एक पाठ है और उसे अब उस तरह नहीं पढ़ा जाएगा जिस तरह पढ़ने के हम लगभग डेढ़ सौ सालों से अभ्यस्त रहे हैं। हर 'महान' को टूटना है क्योंकि उसे बनाने में सिर्फ एक ही वर्ण का हाथ और स्वार्थ रहा है।

अगर साहित्य एक विचार है तो बुद्धिजीवी के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह इस विचार की द्वन्द्वात्मकता (डायलैक्टिक्स) और गतिकी (डायनैमिज्म) को समझे। समझने की यह प्रक्रिया उसे अनिवार्य रूप से समाज की उन बहुलतावादी शक्तियों तक ले जाएगी जिनके बीच या जिनके दबाव में यह विचार नए स्वरूप ग्रहण कर रहा है। यानी यह विचार बन्द कमरों में सिर्फ बौद्धिक विमर्श बनाकर ही नहीं कैद किया जा सकता। सामाजिक शक्तियाँ बार-बार अपनी कसौटियों पर इसके खरे-खोटे होने को जाँचेंगी। वहाँ यह कहने से काम नहीं चलेगा कि दहेज की समस्या को तो प्रेमचन्द *निर्मला* और *सेवा सदन* में अस्सी साल पहले हल कर चुके थे। आज आप उसी सबको क्यों दुहरा रहे हैं। अगर आज दहेज-हत्याएँ और भी विकराल होकर घर-घर को वध-स्थल बनाए हुए हैं, तो हमें परिवार और सम्बन्धों की सारी सामन्ती अवधारणा से जान छुड़ानी होगी। बार-बार उनके कारणों में जाना होगा। दुहराव का वास्ता देकर साहित्य उस सबसे मुँह नहीं मोड़ सकता। उसी तरह अपनी सारी बनावट और बुनावट में जाति, भारतीय समाज की एक भयावह सच्चाई है, जिसे नजरअन्दाज करके हम भारतीय मानस को नहीं समझ सकते। फिर साहित्य, कला, संस्कृति कब तक इस सबसे ऊपर और मुक्त होने का नाटक करते रहेंगे? मैं बिल्कुल नहीं कहता कि राजनीतिक घटनाएँ और स्थितियाँ कविता-कहानी में कथ्य के रूप में सीधे-सीधे आएँ—मगर इसी तर्क पर अगर रचनाकार समय की राजनीति से अपने को ऊपर या अछूता रखेगा तो सिर्फ आध्यात्मिक रीतिकाल लिखेगा। आज के समय में राजनीति हर विचार का अनिवार्य सन्दर्भ भी है और अपरिहार्य परिप्रेक्ष्य भी। हाँ, प्रश्न यह जरूर है कि आप किस राजनीति के साथ हैं।

ज़ाहिर है *हंस* देश-काल से कटी, सुन्दर कलात्मक आनन्ददायी रचनाओं का संकलन या 'गोल्डन ट्रेजरी' न प्रेमचन्द के समय में रहा न आज हो सकता है।

अपने समय के असुविधाजनक और अरुचिकर सवालों से जूझना जागरूक रचनाकार की नियति है। वह इनसे बच नहीं सकता। इसलिए यहाँ बार-बार वह सब आया है जिसे विशिष्ट सौन्दर्यबोध सम्पन्न कुछ लोगों ने आपत्तिजनक या कुछ विशेष वर्गों या वर्णों के लिए विद्वेषपूर्ण माना है। यह वही लोग हैं जिन्होंने कभी प्रेमचन्द को 'घृणा के प्रचारक' कहा था। मेरा मानना है कि सामाजिक और साहित्यिक सरोकारों के बदलते रूपों से जूझते रहने की प्रक्रिया ने ही *हंस* को एक गतिशील पत्रिका बनाए रखा है। बदलते रहने के दौरान बहुत कुछ छूटा है तो नया जुड़ा भी है। एक बहुत बड़े वर्ग के लिए *हंस* मनोरंजन और फुरसती दिलचस्पियों की पत्रिका नहीं, एक ज़रूरत बन गया है। मैं चाहूँ भी तो इस इमेज (छवि) से मुक्त नहीं हो सकता। यथास्थितिवादी सोच और अतीत के 'जगद्गुरु' संस्कारों वाली गेरुआ पत्रिकाओं में *हंस* निश्चय ही शूद्र पत्रिका है।

इन पन्द्रह वर्षों में कहानियों के स्वरूप, कथा-दृष्टि और कथालोचना में क्या बदलाव आए है। इन पर फिर कभी लिखूँगा। हाँ, एक बात को ज़रूर रेखांकित करूँगा कि पाठक इधर कहानी के साथ-साथ, व्यापक कथा-सन्दर्भों पर अधिक ध्यान देने लगा है। उसे उस समाज का विश्लेषण भी चाहिए जहाँ से कहानी उगती और विकसित होती है। वे उभरती हुई शक्तियाँ क्या हैं जो कहानी को माध्यम की तरह इस्तेमाल करती हैं। काव्य-समीक्षा या तो इस परिप्रेक्ष्य से बचती है या अमूर्त बौद्धिक उलट-बाँसियों में भटकती है। शायद इसीलिए कविता अप्रासंगिक और अस्पष्ट दुरूहताओं के वक्तव्य-वाक्यों में ही बची हुई है। स्वयं कविता को लेकर लिखी कविताओं की बाढ़ अपने आधार के खिसक जाने की स्वीकृति है। अस्तित्वगत संकट में ही आदमी अपने को समझता है कि 'मैं हूँ और रहूँगा।'

इधर पाठकों में विचार-विमर्श और व्यापक चिन्तन का आग्रह बढ़ा है। पत्रों में व्यक्त होनेवाली प्रतिक्रियाएँ सिर्फ सम्पादक और पत्रिका की प्रशस्तियों के रूप में ही नहीं आतीं, बल्कि गम्भीर मुद्दों पर विचार करने का दबाव पैदा करती हैं। दूसरे शब्दों में पाठक की बढ़ती जागरूकता में *हंस* का भी यत्किंचित योगदान है। हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता में *हंस* ने क्या कुछ नहीं जोड़ा है, इसका आकलन तो आप ही करेंगे। हाँ, साहित्य में और साहित्य से बाहर जो बदलाव आ रहे हैं उन्हें *हंस* ने प्रतिबिम्वित करने की कोशिश ज़रूर की है।

बहुत बार सुझाव, दबाव आए और मेरा भी मन हुआ कि हर महीने छः-सात पन्नों का सम्पादकीय लिखने की इस अनिवार्यता से मुझे जान छुड़ा लेनी चाहिए। कुछ अपना करने का समय भी मिलेगा। अपनी पीढ़ी से गालियाँ खाने और नए लोगों की अपनी आवाज़ बनने की द्वन्द्वात्मकता से कब तक सन्तोष निचोड़ता रहूँगा? औरों की तरह बिना सम्पादकीय लिखे या वहाँ प्रवचननुमा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' वाली बातें करने से काम क्यों नहीं चलाया जा सकता? अपनी ये परेशानी मैंने एक बार मिसेज आचार्य को बताई थी। सम्पन्न घर की मिसेज़ आचार्य अकेली थीं। अपने को व्यस्त रखने के लिए दिल्ली के श्रीराम सैण्टर में कैण्टीन और

बुक-कॉर्नर चला रही थीं। हर पत्रिका पढ़तीं और *हंस* पर बहस करतीं। एक बार मेरे लिखने-सोचने की तारीफ़ करने लगीं तो मैंने कहा कि अगली बार से मैं यह बन्द कर रहा हूँ, बहुत गालियाँ खा चुका। सहानुभूति से सुनकर बोलीं, "अगर ऐसी बात है तो सचमुच राजेन्द्र जी, आप ये सब लिखना बन्द कर दीजिए। हर महीने के सिरदर्द से भी जान छूटेगी..." फिर एक मिनट रुककर कहा, "मगर फिर हमारे यहाँ *हंस* भेजना बन्द करा दीजिए। मैं उस वैजिटेबिल किस्म के हंस को बर्दाश्त नहीं कर पाऊँगी..." इसी आशय के सैकड़ों पत्र और प्रतिक्रियाएँ मेरी मुक्ति की सबसे बड़ी बाधक हैं। एक बार फिर पाठकों से पूछने को मन करता है कि क्यों न अगस्त के नए अंक से *हंस* को परम्परावादी सांस्कृतिक सोच की 'शालीन' पत्रिका का रूप दे दिया जाए? और कुछ नहीं तो जैसा कि हमारे यहाँ ऋषियों ने कहा है "...की टीप लगाकर संस्कृत श्लोकों की कवायद कराने का 'भग-वा' सुख तो मिलेगा..."

मैं सचमुच चाहता हूँ कि लेखक और पाठक मेरी इस कुण्ठा पर खुलकर प्रहार करें कि वे पत्रिकाएँ जड़, निर्जीव, बेजान और मुर्दा होती हैं जो समाज (इतिहास, राजनीति), धर्म (पौराणिक संस्कृति) और सैक्स (स्त्री, परिवार और नैतिकता) पर पहले से तयशुदा सवालों का सिर्फ़ अभिनन्दन-कीर्तन करती रहती हैं—अराजकता, अनैतिकता और अधर्म के नाम पर हर परिवर्तनकामी सोच का विरोध करती हैं। बदली हुई वैश्विक स्थितियों में जहाँ पुराने उत्तरों को फिर से जाँचा, बदला और निर्मम होकर छोड़ा नहीं जाएगा वहाँ सिर्फ़ यथास्थितिवाद विवेकहीनता का वर्चस्व रहेगा। साहित्य-संस्कृति के वे सारे हवाई बौद्धिक बाजीगरियाँ हैं जो अपने समाज को समझने की दृष्टि नहीं देते। निर्मम होकर पुराने को उतार नहीं फेंकते...

...यह अन्त मेरा ही नहीं, हमारी पूरी पीढ़ी की नियति है : राजेन्द्र यादव

(राजेन्द्र यादव से ओमा शर्मा की बातचीत)

राजेन्द्र यादव ऐसा करंट है जिसने प्रशंसकों और असन्तुष्टों के ढेर सारे ध्रुव बनाए हैं। शातिर और शराबी (जो फिलहाल डॉक्टरी सलाह के कारण वे नहीं हैं। अन्यथा भी, दो पेग से आगे वे शायद ही गए हों) से लेकर मौकापरस्त और व्यभिचारी—कोई ऐसा इल्जाम नहीं है जो इस साहित्यिक डॉन पर विरोधी नहीं लगाते हों। और उनके विरोधियों की आबादी भी नहीं कूती जा सकती है। दूसरी तरफ इस बात से भी कोई इन्कार नहीं कर पाता है कि इस शख्स में भयंकर प्रतिभा है, गजब का अध्ययन है, बेजोड़ तर्क है, बारीक पड़ताल है, भाषा है, और सबसे खूबसूरत बात ये कि, अगले को चर्चा में रहने का शगल है। इसके लिए जो हौसला-हिम्मत और जज्बा चाहिए, वह भी भरपूर है। वर्ना क्या वजह है कि जब वे कहानी, उपन्यास लिखते थे, तब भी चर्चा में रहते थे और आज जब आलोचनात्मक लेख या सम्पादकीय लिखते हैं, तब भी खूब चर्चा में रहते हैं। यही कारण है कि कोई नई शुरू होने वाली साहित्यिक पत्रिका हो या किसी स्थापित पत्रिका का विशेषांक राजेन्द्र जी का कुछ नहीं तो 'साक्षात्कार' तो होगा ही। इस मसले में सम्भवंतः नामवर सिंह ही उनके निकटतम हों। लेकिन हिन्दी साहित्य में, अन्य बहुत सारी चीजों की तरह, वे एक पहेली-से भी हैं। 'किताब घर' से आई उनकी पुस्तक 'मेरे साक्षात्कार' में संकलित अनेक महत्त्वपूर्ण साक्षात्कारों के बावजूद मुझे बहुत दिनों से यह लग रहा था कि कुछ चीजें हैं, जैसे दलित साहित्य, जिन पर उनसे मुठभेड़ करनी चाहिए। कुछ और है जैसे उनका निजी जीवन, जिसे कुरेदा जाना चाहिए तथा कुछ और प्रश्न, जैसे आत्मकथा, से बचते रहने के लिए उन्हें घेरा जाना चाहिए। इस बातचीत के केन्द्र में सम्भवतः यही मुद्दे रहे हैं मगर रवानगी में दूसरी बातें भी उभरकर आई हैं, जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं खैर, यह निर्णय पाठकों के विवेक पर है कि किन कम महत्त्वपूर्ण सवालों के भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण जवाब दिए हैं और किन से महज कन्नी काटी है। मैं यह मानता हूँ कि साक्षात्कार करने वाले के प्रति एक न्यूनतम और वस्तुनिष्ठित सम्मान और रुचि के अभाव में कोई भी साक्षात्कार बहुत ऊँची सरहदें नहीं पार कर सकता। शायद यह शर्त लक्ष्य पाठकों की मानसिक बुनावट के लिए भी उतनी ही खरी हो।

साक्षात्कार दिए जाने की संख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि राजेन्द्र जी लगभग व्यावसायिक चरित्र हैं। हर तरह के सवाल आसानी से फेस करने के आदी हैं। अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी में झाँकने का उन्होंने शायद ही

किसी को मौका दिया हो। यहाँ मुझे लगा है, मैं उनका सुपात्र बना हूँ। जब मन्नूजी (मन्नू भण्डारी) या अपने अकेलेपन पर स्वयं को खोल रहे थे तब मुझे लग रहा था जैसे मैं किसी बियावान खोह में घुस रहा हूँ। मेरी तरफ से होने वाली जरा-सी फुसफसाहट भी उस राग की रिद्म को भंग कर देगी। बातचीत के अन्त में जब मैंने उनके घर या बैडरूम में यूँ ही दाखिल हो जाने की हिमाकत पर 'सॉरी' कहा तो शरारतन उसे नकारते हुए वे बोले, "तुमने ज्यादा प्रोब किया ही नहीं।" लेकिन मुझे लगा इससे ज्यादा प्रोब करना मेरी अपनी गरिमा और मर्यादा की परिधि के परे चला जाता।

पिछले कुछ दिनों से दलित साहित्य के राजेन्द्र जी बड़े प्रवक्ता रहे हैं। मगर अक्सर उनकी चीजें एकालाप की तरह आई हैं। अतः यह वैचारिक दृष्टि के मतभेद का बड़ा बिन्दु था। लेकिन मित्रो, विश्वास करें, यहाँ मेरा मकसद उनके सरोकारों के सारतत्त्वों को, उनके यथासम्भव अन्तर्विरोधों के साथ पकड़ना था, न कि अपने किसी आग्रह को उनके माध्यम से स्पष्ट करना। बातचीत को कागज पर उतारने के बाद मुझे यह बहुत शिद्दत से लगा कि इसमें वे मांस-मज्जा और ध्वनि (जिसे सीधे शब्दों में कहा जाए, राजेन्द्र जी के ठहाके) नदारद हैं जिसको पकड़ने की अपेक्षा में यह बातचीत की गई थी। राजेन्द्र जी के ठहाकों का कोई क्रम या समय नहीं होता है। वे गहन-गम्भीर मुद्दे पर बोलते हुए किसी को भी हँसा सकते हैं। उस दिन शाम को अगले दिन के लिए उनका समय माँगने मैं 'अक्षर' में बैठकर जब चाय पी रहा था तभी एक सज्जन से परिचय कराते हुए गम्भीरता से बोले "ये...फलाँ हैं...बहुत अच्छे लेखक और फिल्म निर्देशक हैं...तुमने इनका वो सीरियल देखा होगा"। मैं उन उम्रदराज सज्जन के प्रति मुखातिब हो ही रहा था, और वे सज्जन एक अजनबी से परिचय करने की सादगी ओढ़ ही रहे थे, कि राजेन्द्र जी ने बीच में एक पाइप का कश लेकर कुछ सहमति माँगने की मुद्रा में सायास शालीनता सहेजकर तुरन्त जोड़ा। "लेकिन आजकल थोड़ा सनक गए हैं ...उम्र के कारण"। और हम तीनों ही ठहाकों के दरिया में कूद पड़े। बातचीत के प्रारम्भ में वे थोड़े शंकित थे। जानना चाहते थे कि आखिर मैं उनसे क्या जानना चाहता हूँ। इसलिए टेप को 'ऑन' करने से रोका। मैंने समझाया कि मेरा मानना है कि हिन्दी साहित्य अपने दिग्गज लेखकों के बारे में कुछ भी नहीं जानता जबकि पश्चिम में ऐसे कितने उदाहरण नुमायाँ हैं, जहाँ लेखक के रसोइए या ड्राइवर तक ने अपने पूर्व हाकिम की जिन्दगी के बारे में अपने निरीक्षण दर्ज किए हैं। मेरी मंशा शायद उन्हें कहीं जँच गई और मैंने वहीं कहीं बिना बताए टेप ऑन कर दिया। एक ही दिन में तीन किस्तों में बातें हुई जिसके बीच में 'अक्षर' का व्यवधान भी शामिल था। मुझे अभी भी लगता है कि अभी बहुत सारे मुद्दे—विशेषकर उनकी रचना प्रक्रिया और रचनाओं से सम्बन्धित—बचे हुए हैं जिन पर बातें होनी चाहिए। लेकिन यह मुल्तवी रहा।—ओमा शर्मा

ओ. शर्मा : हमारे यहाँ लेखकीय आत्मकथाओं या जीवनियों की कोई परम्परा नहीं है। तो उसे हमारे लेखक, विशेष तौर पर वरिष्ठ लेखक, क्यों नहीं तोड़ रहे हैं?

रा. यादव : सही बात है। पहले तो लेखक अपने बारे में बिल्कुल ही नहीं लिखते थे। बहुत जगह तो पता ही नहीं चलता था कि रचना का लेखक कौन है। अपने को लगभग स्थगित कर रचना की जाती थी और यह मानकर चला जाता था कि लेखक का जीवन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसे अलग से लिखा जा सके। जैसे वाणभट्ट ने 'हर्षचरित' लिखा, उसके आधार पर हजारीप्रसाद जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखी क्योंकि आत्मकथा के तत्त्व वहाँ काफी मिलते हैं। व्यास का हमें कुछ नहीं मालूम। तुलसीदास का जीवन किंवदंतियों के आधार पर बनाया गया। इसके पीछे शायद यही है कि मनुष्य जीवन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। मनुष्य जीवन को, चूँकि अस्थायी माना गया, तो उस पर लिखना लगभग अहंकार का प्रदर्शन या धार्मिक आज्ञाओं का निषेध जैसा मान लिया गया। इसलिए नहीं लिखा गया। किसी रचनाकार या विचारक की पहली आत्मकथा मुझे बनारसीदास जी की 'अर्धकथानक' ही लगती है। उधर हर मुगल बादशाह ने या तो आत्मकथा लिखी या अपने जीवन और समय पर लिखवाया।

ओ. शर्मा : मगर मेरा सवाल यह था कि उन चीजों पर बात नहीं हो रही है जो लेखक को लेखक बनाती हैं। लेखक जिन परिस्थितियों में जीता है वह क्या उसके लेखन के सापेक्ष महत्त्वहीन होती हैं?

रा. यादव : बिल्कुल नहीं होतीं। बल्कि यह बहुत जरूरी होता है कि यदि कोई रचना हमें पसन्द आई है या साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है तो उसे सर्जना में किन परिस्थितियों, किन व्यक्तियों, और घटनाओं का हाथ रहा है, यह भी जानें। क्योंकि अकेला व्यक्ति तो कोई कटा-छँटा द्वीप होता नहीं है। बहुत से तत्त्व जो उसके साथ काम करते हैं, उनकी तलाश करना, कहीं न कहीं उसकी रचना के स्रोतों को तलाश करना है। व्यक्ति या व्यक्तित्व की चेतना के बारे में लिखने की शुरुआत को मैं पश्चिम की ही देन मानता हूँ। वहाँ ऑगस्टीन से लेकर रूसो जैसों ने न जाने कितना अपने बारें में लिखा है।

ओ. शर्मा : लेकिन हमारे लेखकों ने इस व्यक्ति चेतना के बारे में भी कहाँ और कितना लिखा है?

रा. यादव : हमारे लेखकों ने प्रायः लिखा नहीं है। बल्कि यह माना जाता है कि वो अपनी जिन्दगी को जिस आदर्श ढंग से कहना या दिखाना चाहते हैं, वही लिखते हैं। अंग्रेजी में जिसे कहें कि 'कन्फेशनल' ढंग से लिखना—जैसे रूसो का पूरा का पूरा लेखन, आदमी की तमाम अच्छाइयों, बुराइयों, गलतियों और कमियों को लेकर है वह बहुत कम हो पाया है। 'अर्धकथानक' के नाम से ही डॉ. नगेन्द्र ने लिखा लेकिन उसमें उन्होंने व्यक्तित्व का वह सब नहीं लिखा जिसे 'एंगूलैरिटीज' कहते हैं। उन्होंने अपने अच्छे और कटे-छँटे रूप को ही सामने लाने की कोशिश की। वहाँ कोई झोल या गड्ढे नहीं हैं सब चीज़ें हरी-भरी, मनोरम और समतल हैं। वे वही अपने बारे में दूसरों से सुनना चाहते रहे होंगे। हर आत्मकथा में एक 'सैल्फजस्टीफिकेशन' होता है। कितनी भी ईमानदारी से आप लिखें, इससे बच नहीं पाते हैं। अफसोस इस बात

का है कि इस 'सैल्फजस्टीफिकेशन' से लड़ने की कोशिश तक नहीं दिखती है हमारे यहाँ।

ओ. शर्मा : हो सकता है। लेकिन आप तो आत्मकथा की विधा के ही खिलाफ दिखते हैं। अज्ञेय को उद्धृत करते हुए आपने एक जगह कहा था कि यदि मुझे लिखना होगा तो कहानी, उपन्यास लिखूँगा और झूठ लिखना होगा तो आत्मकथा?

रा. यादव : नहीं, अब मैं उस रूप में तो वैसा नहीं सोचता हूँ। मगर दिक्कत यह है कि आप अपने बारे में तो कुछ भी लिखने को स्वतन्त्र हैं। लेकिन उस सच में जहाँ दूसरे लोग इन्वॉल्व हों, उनकी सामाजिक, व्यावहारिक-व्यक्तिगत प्रतिष्ठा जुड़ी हो, उसे आप कैसे कहेंगे? मैं समझता हूँ हर व्यक्ति की जिन्दगी में, विशेषकर रचनाकार की जिन्दगी में, सैक्स का बड़ा हाथ होता है। कई मनोविश्लेषक तो यह मानते हैं कि रचनात्मकता अभिव्यक्ति के स्तर पर जैसे कला के साथ जुड़ी है, तो उधर स्रोत के रूप में सैक्स के साथ भी जुड़ी हुई है। अब सैक्स की बात भारतीय समाज में करना, खासतौर से किसी और व्यक्ति के बारे में करना जो परिवार में बैठा है, मुश्किल में तो डालता ही है। मैं अपना सच लिख सकता हूँ, मुझसे जुड़े दूसरे का सच लिखने का मुझे अधिकार नहीं है।

ओ. शर्मा : वो ठीक है लेकिन जब हम लेखक की आत्मकथा की बात करते हैं तो उसकी एकदम निजी या व्यक्तिगत बातों के बारे में अपेक्षा नहीं रखते हैं। हाँ अपेक्षा, उन परिस्थितियों की होती है जिनसे गुजरकर वह लिखता है?

रा. यादव : नहीं, मैं इससे इसलिए सहमत नहीं हूँ कि सिर्फ परिस्थितियों का चित्रण कर देने से तो बात बनती नहीं। आपको तो उन बातों को बताना होगा जिन्होंने आपकी रचनात्मकता या कला के सृजन में कहीं कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई हो। और हो सकता है कि वे बहुत अच्छी या सारगर्भी हों। यह भी हो सकता है कि वे कह सकने लायक भी नहीं हों। क्योंकि रचना कभी सैल्फ-प्रोजैक्शन से आती है तो कभी-कभी गिल्ट से भी आती है। जैसे दोस्तोव्स्की की रचनाएँ देखें तो लगता है कि उसके पीछे कहीं भयंकर गिल्ट है जिनके प्रायश्चित्त स्वरूप वह जिन्दगी भर रचनाएँ करता रहा। टॉल्स्टॉय के उपन्यास 'पुनर्जीवन' के पीछे जबरदस्त गिल्ट है ...तो लेखन सिर्फ स्वयं का प्रस्तुतिकरण ही नहीं; उसके पीछे बहुत से कहे-अनकहे तत्त्व काम करते हैं जिन्हें कभी आप बता सकते हैं, कभी नहीं भी। कभी-कभी शायद खुद भी नहीं पहचान पाते। लेखन में अवचेतन का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होता है।

ओ. शर्मा : ये तो ठीक है कि एक व्यक्ति के रूप में लेखक कई-कई दुनियाओं में जी रहा होता है और सम्भव है कि सैक्स से सम्बन्धित उसकी दुनिया और दुनियाओं की तरह, बहुत अहम हो। लेकिन जब लेखक होता है यानी लिख रहा होता है तो क्या सेक्स से सम्बन्धित उसके अनुभव या सम्बन्ध उसकी रचनात्मकता को प्रभावित करते हैं?

रा. यादव : मैंने कहा न कि यह तो अब मान्य बात है कि सैक्स और रचनात्मकता का बहुत गहरा सम्बन्ध है।

ओ. शर्मा : आप यह मानते हैं?

रा. यादव : मुझे भी लगता है। और भी कि ये रचनात्मकता के ही दो रूप हैं। यदि सृजन को व्यापक अर्थों में देखा जाए तो यह दोनों रूपों में आता है; प्रोक्रीयेशन के रूप में भी और प्रोडक्शन के रूप में भी।

ओ. शर्मा : लेकिन क्या यह बहुत व्यक्तिगत किस्म का आग्रह नहीं है?

रा. यादव : नहीं, यह व्यक्तिगत किस्म का आग्रह नहीं है। इसका कारण यह है कि लेखक के रूप में आदमी कई दुनियाओं में रहता है और लेखक एक दुनिया से दूसरी दुनिया की यात्रा को ही रचनात्मक रूप से आर्टीक्यूलेट करता है। इसमें कुछ शुभ होता है तो कुछ अशुभ। कुछ पाशविक होता है और कुछ हिंसक जो कभी सबलिमेट हो सकता है। लेखक के अन्दर कई-कई दुनियाओं का एक तरह से नाटक चलता रहता है। जिसका वह दर्शक भर होता है। तभी वह लिखता है। सबसे पहला गिनी-पिग एक रचनाकार के लिए वह खुद होता है। वह प्रयोगकर्ता, प्रयोगशाला और प्रयोग का केन्द्र, तीनों एक साथ होता है।

ओ. शर्मा : लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि सर्जना के समय लेखक की यह दर्शक की जो केंचुली है, पीछे छूट जाती है। सृजनात्मक अनुभूति क्या इतनी उग्र नहीं होती कि लेखक की जो भी व्यक्तिगत वृत्तियाँ हैं (जैसे सैक्स), पीछे छूट जाती हैं। लेखक एक सर्जक के तौर पर जब कोई चरित्र या परिस्थिति गढ़ता है तो अपने से तो निकलकर ही करता है?

रा. यादव : इसे मैं इस रूप में कहूँ कि लेखक के जो भी व्यक्तिगत अनुभव या अनुभूतियाँ होती हैं, गेहूँ की तरह होते हैं। उसे उगाकर, पीसकर, पकाकर वह रोटी बनाता-खाता है। लेकिन अन्ततः तो वह होता गेहूँ ही है। उससे वह मुक्त कैसे हो सकेगा?

ओ. शर्मा : अंग्रेजी लेखक खुशवन्त सिंह ने अपनी आत्मकथा में मेनका गाँधी के बारे में कुछ ऐसा लिखा जिसके कारण कोर्ट-वोर्ट का चक्कर हो गया था। आत्मकथा न लिखने के पीछे आपके कहीं ऐसे ही डर तो नहीं हैं?

रा. यादव : खुशवन्त सिंह की मैं कद्र करता हूँ। खासतौर पर इसलिए कि उसने बहुत ईमानदारी से लिखा है।

ओ. शर्मा : तो क्या ईमानदारी ही लेखन की सबसे बड़ी शर्त है?

रा. यादव : सबसे बड़ी न सही, पर ईमानदारी लेखन की बहुत अहम जरूरत है। ईमानदारी से जुड़ा हुआ दूसरा तत्त्व है साहस। उस सबको कह सकने का साहस। लिखना उस रूप में अपनी ही शल्य-क्रिया है। आप कितने निर्मम हो सकते हैं स्वयं से, इसके लिए साहस तो चाहिए ही। न जाने कितने भय, संकोच और लिहाज हमारे लेखन को निर्धारित करने लगते हैं। ये सारी बातें हमारे आत्मकथा लेखन को झूठा, अविश्वसनीय और आडम्बरी बना देती हैं।

ओ. शर्मा : यहाँ मैं साहस को खुशवन्त सिंह के लेखन के सन्दर्भ में रखूँ, तो यह बताइए कि एकाध कहानी या ट्रेन टू पाकिस्तान को छोड़कर खुशवन्त सिंह के

लेखन में उसका क्या योगदान है जिसकी बिना पर उसे बड़ा लेखक माना जाए? जैसे उसका अभी उपन्यास आया था, इन द कम्पनी ऑफ वूमैन जो हिन्दी के मस्तराम किस्म के लेखक से शायद ही उच्च श्रेणी का हो। आप इसे साहस और ईमानदारी के पैमाने पर खूब अच्छे नम्बर दे सकते हैं, तो दे दीजिए?

रा. यादव : हम लोग प्रक्रिया की बात कर रहे थे, परिणति की नहीं। कभी-कभी इन्हीं बातों से अच्छी परिणति हो जाती है, कभी नहीं। उस पर आप निर्णय आने दीजिए कि वह रचना अच्छी है या खराब। या रचना है भी या नहीं। आप साहस किसे कहते हैं, साहसहीनता किसे कहते हैं? जो आप कहना चाहें उसे सामाजिक लिहाज और डर की वजह से नहीं कह पाते हैं। मैं इसे यों कहूँ कि मैं सामाजिक अंकुशों को पार नहीं कर पाया। सामाजिक अनुभव आदमी को ढालते हैं, तराशते हैं, मोल्ड करते हैं, तो प्रतिबन्धित भी करते हैं। और यह शायद समाज-सापेक्ष होता है। पश्चिम का समाज जितना खुला है हमारा नहीं है। रूसो ने अपनी आत्मकथा में अपनी सौतेली माँ के साथ सम्बन्धों को जिस तरह कह डाला है वैसा शायद हमारा समाज आज भी नहीं सह पाए। समाज यदि मनुष्य की अभिव्यक्ति को निर्धारित करेगा तो उनकी कोई सीमा नहीं है। हमारे यहाँ किसी लड़की को 'किस' कर लेना साहस होता है जबकि पश्चिम में यह बहुत ही सामान्य-सी बात है, कर्टसी है।

ओ. शर्मा : लेकिन हमारे समाज में जिसे आप साहस कह रहे हैं वह बहुत बड़ा लोभ हो सकता है। चर्चा या विवाद में बने रहने के लिए। यह बहुत सुलभ औजार होता है। कोई बुड्ढा खूसट चर्चित होने के लिए लड़की छेड़ने लगे...

रा. यादव : लेकिन हर कोई अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा दाँव पर नहीं लगा सकता। जो सामाजिक स्वीकृति मिली होती है उसे कोई गँवाना नहीं चाहता। चलिए, हरेक को वैसी स्थितियों से गुजरना नहीं पड़ा, मान लिया। लेकिन कल्पना तो की है। स्वप्न तो देखे हैं। फिर भी वह कहाँ आता है। जवकि अनुभव की सत्यता रचना की पहली शर्त होती है।

ओ. शर्मा : आप जिसे अनुभव की सत्यता कह रहे हैं उससे तो हर व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, हर रोज गुजरता ही है?

रा. यादव : लेकिन हर व्यक्ति उसे लिख नहीं पाता है। जो लिखता है वह लेखक होता है।

ओ. शर्मा : उसे सारे इसलिए नहीं लिखते क्योंकि उसमें लिखने जैसा कुछ होता ही नहीं है। जैसे हर रोज या सुबह-शाम चाय पीने में लिखने जैसा कुछ नहीं है वैसे ही...

रा. यादव : तुम बहुत अजीब बात कह रहे हो। जैसे मैं कहूँ कि प्रेम तो बहुत आदिम समय से होता रहा है फिर भी हर भाषा में हर रोज एक नई रचना उसी चीज पर बनती है। ऐसा क्यों?

ओ. शर्मा : हाँ प्रेम के बारे में तो लिखा जाता है, सैक्स के बारे में नहीं?

रा. यादव : अब तुम उस भारतीय भावना को छोड़ दो कि प्रेम अलग है,

वासना अलग। 'चित्र-लेखा' में पूरी बहस इस पर हुई थी कि कमर से नीचे वासना है और कमर के ऊपर प्रेम। जैसे एक डॉक्टर के लिए शरीर का कोई भी हिस्सा अपवित्र नहीं है उसी तरह एक लेखक के लिए कोई भी अनुभव महत्त्वहीन नहीं है। उसमें मॉरल जजमेंट डालना अनुचित है। उसमें औचित्य की अवधारणा एक सामाजिक अंकुश है। आज का मनोविज्ञान सैक्स और वासना, हृदय और मस्तिष्क जैसे विभाजन मानने से इन्कार करता है।

ओ. शर्मा : आपका कहना है कि सैक्स एक फिजिकल एक्टीविटी न होकर उससे कहीं अधिक व्यापक संवेदना है?

रा. यादव : बिल्कुल। रजनीश यदि 'सम्भोग से समाधि तक' कहते हैं तो उनके अन्दर कहीं दोनों चीजें हैं। एक साथ जिनमें आदमी सबलिमेट करता है। हठयोग या भैरवी चक्र साधना जो लोग करते रहें, तो उसका आधार क्या है? सैक्स ही तो है। वरना क्यों होता कि एक आदमी शृंगारशतक भी लिख रहा है और दूसरी ओर वैराग्य शतक भी लिख रहा है। ये अलग कहाँ से हैं? अभी मैंने डॉक्टर धर्मवीर का एक लेख देखा था उसमें मीरा को, एक विधवा स्त्री का, पुरुष कृष्ण के प्रति आकर्षण के रूप में ही देखा गया है। अब चूँकि सामाजिक अंकुश थे तो उसे भक्ति की आड़ में ही अपनी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करना पड़ा।

ओ. शर्मा : लेकिन क्या यह भावनात्मक या कलात्मक स्तर पर उन सारी चीजों का नकार नहीं है जो मीरा ने सृजित किया?

रा. यादव : नकार नहीं है। बल्कि उसकी समकालीन सेफो ने (प्लेटो के साथ की) तो खुलकर लिखा है। दरअसल शरीर की इच्छाएँ उतनी इकहरी नहीं हैं। इसमें से दर्शन निकलता है, इसी में से सैक्स निकलता है तो नैतिकता भी निकलती है। आध्यात्म का सबलिमेशन निकलता है। तो यह नकार नहीं है, भावनात्मक स्तर पर चैनेलाइज्ड करना है।

ओ. शर्मा : आपका मतलब है जो भी रचनाकार होता है उसके चेतन-अवचेतन में सैक्स होता ही है?

रा. यादव : एकदम। और भी चीजें होंगी लेकिन सैक्स मुख्य होता है। रचना का अर्थ ही सन्तान या कृति की रचना है। सैक्स को हटा देने के बाद तो न धर्म रहता है न भक्ति।

ओ. शर्मा : लेकिन जो दूसरी तरह का लेखन है, जैसे संघर्ष का, गरीबी का, उसके पीछे भी सैक्स का ही हाथ है?

रा. यादव : उसके पीछे या उन लोगों की आकांक्षा ऐसे जीवन की है जहाँ जीवन के सुखों का उपभोग किया जा सके, जो नहीं मिल रहा है। इसी के लिए तो संघर्ष है। जीवन के यदि तीन लक्षण मानें तो वे होंगे अस्तित्व, संरक्षण और सर्जन। और इन सबके केन्द्र में कहीं न कहीं सृजनवृत्ति है।

ओ. शर्मा : लेकिन जो इन तीनों से निकल चुका है?

रा. यादव : निकल कैसे चुका है..., कहीं न कहीं उन्हीं में अटका होता है।

ओ. शर्मा : चलिए थोड़ा बाहर निकलते हैं यहाँ से। अभी कुछ दिनों पहले आपने एक बात कही थी, शायद मनमोहन ठाकौर के सन्दर्भ में; कि जो लोग घरों तक सिमटकर रह जाते हैं, साहित्य सृजन से वंचित रह जाते हैं, जबकि सारी रचनाओं का अन्त ही इस घर और उससे जुड़े सुखों की प्राप्ति से होता है।

रा. यादव : देखो, घर बड़ा अजीब शब्द है। तुम्हें याद हो तो इसे मैंने 'वहाँ तक पहुँचने की दौड़' में कहा भी है। जब हमें एक भौतिक घर मिल जाता है तो मानसिक घर की तलाश होने लगती है। इन्हीं दोनों घरों की तलाश में यात्राएँ करते हैं। स्वर्ग की कल्पना एक धार्मिक व्यक्ति के लिए मानसिक घर का ही रूप है।

ओ. शर्मा : लेकिन एक ईंट-पत्थरों के घर से, जिसमें पत्नी-बच्चे हैं, यदि कोई प्रसन्न है, तो आपको क्या आपत्ति है?

रा. यादव : आपत्ति यही है कि वह मुझे यथास्थितिवाद का ही रूप लगता है। यदि परिवर्तन जीवन का नियम है तो यह घर उसका सबसे बड़ा विरोधी है। घर का अर्थ इस रूप में जड़ता भी है, कि इसमें रहकर आप किसी भी तरह के नैतिक, या आर्थिक या सामाजिक परिवर्तन की बात सोच भी नहीं पाएँगे। घर कोई भी हो, उसी तक सीमित रहना आपको जड़ बनाता है। इसीलिए 'चरैवेति-चरैवेति' यानी चलते रहो, कहा भी गया है।

ओ. शर्मा : साहित्य के उद्देश्य को ध्यान में रखकर यदि मैं कहूँ तो निरन्तर परिवर्तित होता समाज जहाँ सामाजिक उठा-पटक है, हिंसा है, वैमनस्यताएँ हैं, कहाँ तक जस्टीफाइड है?

रा. यादव : नहीं, ये दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं। यह स्थिति और गति का शाश्वत द्वन्द्व है। परिवर्तन यदि गति है तो हिंसा वैमनस्य है, इसलिए जस्टीफाइड नहीं है, यह एक बात है। दूसरी यह है कि चूँकि हमें परिवर्तन करना है और हिंसा उसके साथ इन्वॉल्व होती है, उसकी एक अनिवार्यता है। बहरहाल, परिवर्तन के विरोध में तो नहीं रहा जा सकता है।

ओ. शर्मा : खैर आप यह बताइए कि आप आत्मकथा लिखने के पक्ष में हैं या नहीं?

रा. यादव : आत्मकथा लिखने के पक्ष में तो मैं हूँ पर शायद लिखने का साहस नहीं है। दो चीजें मेरे लिए बाधाएँ हैं। एक तो मेरी याददाश्त अच्छी नहीं है। उपन्यास वगैरह पढ़ता हूँ तो जहाँ दूसरे लोग एक-एक डायलॉग और एक-एक चरित्र वर्षों तक याद कर लेते हैं। मुझे बस मोटे तौर पर रूपरेखा जैसा ही याद रहता है। डिटेल्स याद नहीं रहती है। अब बिना डिटेल्स के तो आत्मकथा लिखने में न्याय नहीं हो सकता। दूसरे बहुत-सी चीजें हैं जिन्हें मैं न कहना चाहूँ। मारियो पूजो की बात कि हर सफल बिजनेस के पीछे अपराध होता है, कहीं न कहीं जीवन पर भी लागू होती है। जिसे हम अपराध कहते हैं, वह कहीं जाने-अनजाने गलत हो जाने का दूसरा नाम है। वह हम सबके साथ है। जो चीजें मुझसे गलत हो गई हैं, या दूसरों के प्रति जो गलतियाँ मैंने की हैं, उन सबको स्वीकार करने की या स्वयं अपने सामने देख सकने की मानसिकता

मेरी नहीं है। सामाजिक प्रतिष्ठा या तथाकथित मर्यादाएँ ऐसी हैं जो मुझे रोकती हैं। बहुत इन्नोसेंट-सी चीजें तो मैं बता दूँगा। लेकिन जो संगीन और निर्णायक हों, तो हो सकता है, मैं न कह पाऊँ। जैसे किसी की मेरे हाथों हत्या हो गई हो, किसी लड़की को मैंने धोखा दिया हो, गर्भवती करके भाग लिया हूँ और बाद में उसने आत्महत्या कर ली हो, तो ऐसी तमाम बातों को लिखने का साहस मैं नहीं कर पाता। और फिर इसमें मेरी ही नहीं, सामने वाले की भी तो प्रतिष्ठा शामिल है।

ओ. शर्मा : लेकिन लेखन और उम्र के इस मकाम पर आपका यह डर अपने परिवारीजनों से है या पूरी लेखक बिरादरी से?

रा. यादव : बहुत चीजें हैं। कुछ डर निराकार किस्म के हैं, और कुछ बहुत साकार होते हैं। परिवार एक साकार किस्म का डर है। निकट परिवार खासतौर से पत्नी और बच्चे। एक डर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का होता है जिसे बताना थोड़ा मुश्किल है लेकिन जो लगातार एक अंकुश लगाए रखता है। संस्कार जैसा बनकर।

ओ. शर्मा : लेकिन यह डर वाली बात...

रा. यादव : डर ही है यह। मेरे पास जो औजार हैं, कमजोर पड़ गए हैं। मैं चीजों के साथ ईमानदारी न बरत पाऊँ तो...

ओ. शर्मा : लेकिन जो आपका लेखकीय अवदान है, हो सकता है उसे समझने में आपके उन अनुभवों और परिस्थितियों का रिवीलेशन मदद करे, यह एक साहस या मोह भी तो हो सकता है?

रा. यादव : फिर भी नहीं होता है। वह अनुभव रचना को समझने में बहुत दूर तक मदद नहीं करेगा। वह उन्हें एक्सप्लेन तो कर देगा लेकिन समझ भी बनाएगा ऐसा मुझे नहीं लगता।

ओ. शर्मा : लेकिन अपने डरों को यदि आप एक कनफैशन के रूप में रखें, तो हो सकता है कि उन्हें माफ भी किया जा सके। यह रवैया तो रहता ही है कि चलो अपनी गलती मान तो रहा है...

रा. यादव : कुछ गलतियों को माफ किया जा सकता है, सभी को नहीं छोटी-मोटी चोरी-चपाटी को माफ किया जा सकता है लेकिन मैं किसी की हत्या करके, उसका माल चुराकर लाया हूँ, उसे कौन क्षमा करेगा?

ओ. शर्मा : तो आत्मकथा में कौन-सा सौ प्रतिशत सच लिखना होता है?

रा. यादव : बल्कि मैं यों कहूँ कि उन बिन्दुओं का ही जिक्र आत्मकथाओं में होना चाहिए या तलाश होनी चाहिए जिन्होंने आपकी रचनात्मकता को छुआ या प्रभावित किया हो।

ओ. शर्मा : बिल्कुल बिल्कुल?

रा. यादव : लेकिन उसका एक दूसरा पक्ष भी है। जो जीवन्त हिस्से थे, अच्छे या बुरे, जो कभी मेरी संवेदना का हिस्सा बने, उन्हें तो मैं पहले ही अपनी रचनाओं में दे चुका हूँ। उनकी तलाश तो पहले ही हो चुकी है। आखिर लेखन होता ही क्या है? अनुभवों और घटनाओं की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति। पात्रों या जगहों के नाम बदलने

से कोई फर्क नहीं पड़ता है। अब जैसे *'हासिल'* कहानी है। मेरा स्वयं का और अनेकों के सम्मिलित अनुभव हैं। जो मुझे जानते हैं वे इसे मुझसे जोड़ेंगे। जो नहीं जानते हैं वे स्वतन्त्र अनुभव के रूप में देख सकते हैं।

ओ. शर्मा : उस रूप में तो हर रचना ही एक आत्मकथा होती है लेकिन उस रूप में भी कहूँ तो भी आपने 20-25 वर्ष से कोई रचनात्मक चीज नहीं लिखी है?

रा. यादव : यह एक दूसरी बात है। लिख रहा होता तो पता नहीं क्या लिखता। इसे यों भी देख सकते हैं कि जो भी महत्त्वपूर्ण अनुभव थे, आ गए। अब जो नहीं आए, महत्त्वपूर्ण नहीं थे। हाँ अनुभवों की प्रक्रिया तो समाप्त नहीं होती। हो सकता है उनमें सारगर्भी और व्यर्थ अनुभवों को छाँटने की दृष्टि स्थगित हो गई हो।

ओ. शर्मा : आपने लिखना काफी कम उम्र में प्रारम्भ कर दिया था। बीस-बाइस की उम्र तक तो आप खूब जाने जा चुके थे। और तब से ही आप लेखन के क्षेत्र सम्पादक। निरीक्षण की जो प्रक्रिया है वह तो लेखक के जीवन का हिस्सा ही बन जाती है। वह तो आज भी होगी। क्या आपको लगता है कि जीवन के तमाम अच्छे-बुरे अनुभवों का निरीक्षण तो है, लेकिन उन्हें रचना का रूप नहीं दे पाते हैं। अब ऐसी क्या गाँठें हैं कि...

रा. यादव : गाँठों से ज्यादा यह एक मानसिक फुर्सत की चीज है। अनुभव अपने आप में पर्याप्त नहीं होता है बल्कि उसकी प्रकृति को समझने के लिए आपको बहुत देर तक और बार-बार उसके साथ रहना होता है। इस तरह रह सकना, या लैजर, फिलहाल मेरे जीवन का जो पैटर्न बन गया है, उसमें सम्भव नहीं है। अनुभव तो है लेकिन थोड़ा-सा छूकर या तैरकर पास से निकल जाता है। अगर मानसिक फुर्सत सम्भव होती तो जरूर लिखता। दूसरी जिम्मेवारियाँ ऐसी आ गई हैं कि अब तुमसे गप्प लड़ाना, बातें करना मुझे अच्छा लगता है, मगर अवचेतन में यह भी चल रहा है कि दफ्तर (अक्षर) पहुँचना है। फिर दूसरी बात यह भी है कि जब तक मेरे अनुभव सामाजिक सच्चाइयों से नहीं जुड़ पाते तो मुझे उन्हें लेकर व्यर्थता-बोध होता है। लिखना सिर्फ अपने मन की भड़ास निकालना भर नहीं होता है। इट्स नॉट एन एक्सक्रिटा... कि दबाव हुआ और निकाल दिया। अनुभव मुझे समाज से मिले हैं और जो मैं दे रहा हूँ उसकी भी सामाजिक परिणतियाँ हैं। तो समाज के प्रति एक ऋण का अहसास भी है और कहीं न कहीं उसमें योगदान की इच्छा भी। हो सकता है कि मैं अपने अनुभवों की इस सामाजिक संगति को तलाश न कर पा रहा हूँ। विशेषकर जो आज की स्थितियाँ हैं, उनमें अपने अनुभवों की सामाजिक संगति न पकड़ पाने के कारण मुझे अपने लेखन में एक संशय लगने लगा है। शायद इसलिए डायलॉग बहुत सीधा है। रचनात्मक लेखन में वह थोड़ा इनडायरेक्ट होता है।

ओ. शर्मा : आपकी रचनात्मकता के सन्दर्भ में मैं यह सवाल आपकी ही एक कहानी को लेकर कर रहा हूँ, कहानी है 'नए-नए आने वाले'। जाहिर है आपके किसी अनुभव पर ही आधारित होगी। क्या वैसा कोई बेरोजगार युवक या अन्य

महिला आपके पास आज आए, तो वह अनुभव प्रेरित करता है कि अरे, ये तो एक कहानी है, और इसे लिखा जाना ही चाहिए?

रा. यादव : बिल्कुल करता है।

ओ. शर्मा : तब आपको यह नहीं लगता है कि इस पर बैठकर काम किया जाए! सामाजिकता का दबाव तो चलते ही रहना है। बैठकें कौन-सी भागी जा रही हैं! या शायद यह सब बहुत अहम नहीं रहा है?

रा. यादव : शायद उतनी तीव्रता से नहीं करता है। लगता है कि यह एक कहानी है लेकिन आज के सन्दर्भ में इसे किस तरह उठाया जाए, कहाँ से उठाया जाए, यह कोण तब मिल गया था, आज नहीं मिलता। वर्ग और उम्र की हैसियत की दो अलग-अलग स्थितियाँ होती हैं। एक स्थापित व्यक्ति और विस्थापित व्यक्ति के बीच डायलॉग न बन पाने की स्थिति का जो गैप हो जाता है, वहाँ मुझे कहानी की सम्भावना लगी थी। वहाँ बॉसनुमा व्यक्ति जो स्वयं संघर्ष करके आया है, अब उनसे इतनी दूर आ गया है कि एक संघर्षरत युवक की पीड़ा के प्रति तटस्थ बना रहता है।

ओ. शर्मा : नहीं, बात यहाँ मानसिकता के स्तर पर कहानी की तलाश करने की है। मोहन राकेश की आपके बारे में यह बात मुझे बहुत गुदगुदा गई कि ऐसा भी क्या आदमी जो जीवन की हर स्थिति, हर क्षण या अनुभव को कहानी के नजरिए से ही देखता है! तो क्या वह तलाश या नजरिया बदल गया है?

रा. यादव : यह बात सच है। मैं वाकई हर चीज को कहानी के हिसाब से लेता-देखता था। जैसे एक जेबकतरे को हर आदमी एक जेब दिखता है। एक फोटोग्राफर के दिमाग में कैमरा किसी दृश्य की तरह फिट हो जाता है, वही मैंटल कंडीशनिंग एक कहानीकार की हो जाती है। अब मैं अपने अनुभवों या निरीक्षणों का विश्लेषण के तौर पर उपयोग करने में ज्यादा सुकून महसूस करता हूँ।

ओ. शर्मा : कहीं ऐसा तो नहीं कि आपका अपना ही वजूद इसमें आड़े आता हो। आप बहुत सचेत-सम्मानित लेखक रहे हैं और आपके लेखन की यह खास पहचान भी है। क्या कहीं यह तो नहीं लगता एक खास स्तर की चीज नहीं आ पा रही है तो उसका न लिखना या छपना ही बेहतर?

रा. यादव : यह भी है। एक छलनी भी काम तो करती है। क्या रखने लायक है, क्या नहीं, इसका विवेक भी होने लगता है। बहुत सारी चीजों को रिजेक्ट करने की प्रक्रिया भी चलती रहती है। पहले हर अनुभव को अपने तईं फिर से डिस्कवर करने का मन रहता था। अब वही चीज बहुत सामान्य लगती है। पहले चीजें रिवील होती थीं, अब रिपीट होती हैं। पहले उस भाषा में कहूँ अब ये लगता है कि ये जाना-पहचाना सत्य दोहराया जा रहा है।

ओ. शर्मा : अभी आपने कहा कि अब आपके निरीक्षण, लेखों या विश्लेषणों में या एक खास तरह का संवाद स्थापित करने में संप्रेषित होते हैं। लेकिन वहाँ पर बहुत लोगों की राय यह है कि आप अपनी खास राजनीतिक-वैचारिक प्रवृत्ति की छाँव में ही चीजों को देखते-बुनते हैं, वस्तुनिष्ठ निरीक्षण शायद नहीं है?

रा. यादव : पहले ये बताओ कि वस्तुनिष्ठता जैसी चीज क्या वाकई होती है?

ओ. शर्मा : नहीं होती है। लेकिन काले सफेद का भेद तो रहता ही है?

रा. यादव : आप जहाँ खड़े होते हैं वहीं से तो चीजें को देख सकते हैं!

ओ. शर्मा : मैं एक स्पष्ट उदाहरण देकर बात कहूँ तो मण्डल कमीशन का वह दौर जब आप माह दर माह उस माहौल में तथाकथित पिछड़ों के साथ खड़े होने के अहसास से लबरेज होकर तथाकथित अगड़ों के खिलाफ थे। और अब उसका कहीं नामोनिशान ही नहीं है। कैसा मण्डल, कहाँ का मण्डल?

रा. यादव : देखो वर्गीय स्थिति में हमारे यहाँ घोर फर्क तो है ही। हम झूठ बोलेंगे अगर हम कहें कि हजारों सालों से हमारा समाज वर्णों और जातियों में नहीं बँटा है। अगर ये सच है तो दूसरा सच यह भी है कि हमारे यहाँ एक वर्ग ने, या ज्यादा स्पष्ट कहूँ तो वर्ण ने शुचिता और श्रेष्ठता यानी सैंक्टिटी और एक्सिलैंस की आड़ में हर स्तर पर दूसरे वर्ग का शोषण किया है। तब मुझे लगा था कि इसके (मण्डल) माध्यम से जो यथास्थिति बनी हुई थी उसे बहुत हद तक तोड़ा जा सकेगा।

ओ. शर्मा : लेकिन क्या वाकई ऐसा हुआ?

रा. यादव : नहीं हुआ। बल्कि यह हुआ कि जो पिछड़े लोग थे जब उनको अधिकार मिल गए तो वे भी अपने से नीचे वालों के प्रति उतने ही शोषक और अत्याचारी बन गए, उन्हीं हथियारों का इस्तेमाल करने लगे जो अभी तक उनके खिलाफ इस्तेमाल हो रहे थे। उनका कुलीनीकरण हुआ।

ओ. शर्मा : वही तो बात है। यानी एक खास राजनीतिक आग्रह से यदि आप चीजों को परखते हैं तो अंजाम बहुत प्रिडिक्टेबल होगा ही?

रा. यादव : तो मैंने उसको रिवाइज किया है। हालाँकि मैं अभी भी मानता हूँ कि मण्डल सही था। वह राजनीतिक और सामाजिक वर्चस्व को तोड़ना था। लेकिन बात उससे भी आगे जाती है। आज पिछड़ों में सवर्णों की मानसिकता की तरह अभिजात या कुलीन बनने की प्रवृत्ति के खिलाफ मैं गया हूँ। तो इसे रिवाइज करना ही कहेंगे।

ओ. शर्मा : यहाँ मैं दूसरे पहलू से भी चीजों को देखता हूँ। मुद्दा था—आरक्षण का, जिसका हमारे संविधान में प्रावधान था। उसे बहुत कम समय के लिए रहना था। मगर अब वह एक स्थायी अंग बन गया है। उसी के चलते अब अलग-अलग वर्ग अपने राजनीतिक दंगे कराने की सामर्थ्य के अनुसार, आरक्षण माँग रहे हैं। यह बात पचास वर्ष पूर्व उठाई जाती तो कुछ औचित्य था, क्योंकि पिछड़ों को प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। मगर सवाल उनके राजनीतिक इस्तेमाल का है। एक बड़े दायरे में देखें तो स्वतन्त्रता और समानता बहुत बड़े मूल्य होते हैं। और इतने बड़े पैमाने पर आरक्षण कर देना किसी भी रूप में उस लक्ष्य को पूरा नहीं करता है जिसकी प्राप्ति के लिए उसे लाया जाता है?

रा. यादव : मुझे मालूम है। यह उस तरफ नहीं ले जा रहा है जिसके लिए उसे लाया गया है। लेकिन फिर भी इससे वह यथास्थिति टूटती है। कुछ लोगों को यह

लगता है कि सत्ता उनका जन्मसिद्ध अधिकार है, एकाधिकार है, वह टूटता है। किसे या कितने लोगों को इससे फायदा हो रहा है उससे फर्क नहीं पड़ता। लेकिन यदि किसी भी तरह एक बदलाव की प्रक्रिया शुरू होती है, तो मैं इसका पक्षधर हूँ।

ओ. शर्मा : 'हंस' के कारण दलित लेखन को महत्त्वपूर्ण मंच मिला है। पिछले दिनों 'वर्तमान साहित्य' में तथा अन्य जगहों पर भी यह बहस चली है कि आखिर दलित लेखन क्या है। कुछ उभरकर आए कभी दलित रहे लेखकों का लेखन या जो भी मानसिक स्तर पर अन्याय और नृशंसता के खिलाफ लिखते हैं वे सभी। यहाँ तक कि प्रेमचन्द को भी खारिज कर दिया जा रहा है?

रा. यादव : आजादी से पहले भारतीय लेखन किसे कहते थे? भारतीय भाषाओं में वह लेखन जिसमें स्वतन्त्रता की आकांक्षा हो। उस समय अम्बेडकर ने कहा था, और महिलाएँ अब कह रही हैं—कि स्वतन्त्रता सिर्फ एक वर्ग का सवाल नहीं है। यानी समाज के एक तबके को तो आजादी मिल गई, मगर उनका क्या होगा जो हजारों सालों से गुलाम थे। वे न आजादी के पहले स्वतन्त्र थे और न बाद में होंगे, क्योंकि उन्हें तो फिर भी उसी वर्ग की गुलामी करनी है। अतः वह आजादी अधूरी थी। वह कुछ वर्गों तक ही सीमित था। इसलिए अम्बेडकर की यह बात सही थी कि उस रूप में अधूरी आजादी का कोई मतलब नहीं होता है। अब सवाल है कि हमारी जो वर्ण व्यवस्था है उसकी हायरारकी में जो आखिरी आदमी है उसकी हालत सुधारने के क्या तरीके हैं? यह सही है कि जहाँ भी अन्याय होता है वहाँ लेखक होता ही है। प्रेमचन्द दुखी जनता के साथ थे। बल्कि सारा साहित्य, चाहे रामायण हो या महाभारत, न्याय की पुकार का साहित्य है। यह हर साहित्य का सच है। लेखक अन्याय के विरुद्ध चाहे न हो लेकिन न्याय माँगने वालों के साथ जरूर होता है। इसलिए हमें दलित साहित्य की पीड़ा ज्यादा झकझोरती है। यही बात ब्लैक लिटरेचर के बारे में है। यानी जन्म के आधार पर ही जिन्हें अलग कर दिया गया, उनके बारे में फैसले कोई और ही लेता रहा। यही औरत के सन्दर्भ में सच है। उसके बारे में सारे फैसले पुरुष लेता है, यहाँ तक कि उसके दुनिया में आगमन का भी स्वागत नहीं होता। सम्पत्ति के अधिकार से उसे वंचित रखा गया। अपनी देह तक पर उसका अधिकार नहीं है।

इन पर—यानी दलितों और महिलाओं, जिन्होंने भी लिखा सहानुभूति या करुणा से लिखा। वह पहली स्टेज थी। उनमें एक जागृति या चेतना पैदा करने का काम इस साहित्य से हुआ। लेकिन वहाँ सिर्फ करुणा थी। स्वर था कि भाई आखिर ये भी तो आदमी हैं। वहाँ के आधार पर अधिकार या सम्मान देने की बात नहीं थी, सिर्फ रियायतें देने की सिफारिशें थीं। दलितों ने इसे अपने अधिकार के रूप में पेश किया। आदमी कुछ भी करे लेकिन जब दलित और औरत अपने फैसले अपने आप करने लगें तो उसे बर्दाश्त नहीं होगा। आदमी जो दे दे, उसे सर आँखों पर रख ले। गुलाम का मालिक से अधिकार माँगना कभी बर्दाश्त नहीं होता है।

दलितों की तरफ से आनेवाला साहित्य एक अधिकार के रूप में आता है, इसलिए आज हमें असुविधा होती है।

ओ. शर्मा : राजेन्द्र जी, थोड़ा विचलन हो रहा है। यहाँ यह किसी राजनीतिक अधिकार या सुविधा के देने-लेने की बात नहीं है। यहाँ बात साहित्य की है?

रा. यादव : एक ही बात है दलित लेखन भी वही माँग रहा है। अधिकार, सम्मान और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की माँग।

ओ. शर्मा : यदि ऐसा है तो दलित लेखकों को किस रूप से वंचित रखा गया?

रा. यादव : उनकी भाषा को आपने वह स्वीकृति नहीं दी यानी आपने उन्हें बोलने नहीं दिया। सवर्णों की भाषा रही संस्कृत तो दलितों की रही प्राकृत। और यह बात सिर्फ भाषा की ही नहीं है, सम्मान की भी है। उनको जैसे एक दूसरी भाषा में बोलने को ही कन्डैम कर दिया गया।

ओ. शर्मा : नहीं, यह बताइए कि जो दलित लेखक थे, जैसे वाल्मीकि या कबीर उनको तथाकथित यथास्थितिवादियों ने कैसे आगे आने नहीं दिया?

रा. यादव : हाँ, नहीं आने दिया। रामचन्द्र शुक्ल तक ने, जो सम्मान तुलसी को दिया, वाल्मीकि को नहीं दिया, कबीर को नहीं दिया।

ओ. शर्मा : लेकिन उससे कबीर का कद कम हुआ?

रा. यादव : कम नहीं हुआ लेकिन सही मूल्यांकन में कितना समय लग गया है। रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर तक में पता नहीं क्या-क्या खामियाँ गिनाई हैं कि कवित्व ठीक नहीं है, सुना-सुनाया है। क्या तुमने धर्मवीर की कबीर पर लिखी पुस्तकें पढ़ी हैं। उनका कहना है कि दलित लेखकों को स्वीकृति ही तब मिली जब उनका ब्राह्मणीकरण हो गया।

ओ. शर्मा : और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने?

रा. यादव : वो तो अब किया है।

ओ. शर्मा : लेकिन कहा तो यह भी जा रहा है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी कबीर को नहीं पहचाना या सम्मान दिया?

रा. यादव : यह सम्मान दूसरी बात है। यह आपके-हमारे बीच का विमर्श है। क्या स्वयं कबीर के वर्ग के लोगों को इस पर कुछ भी बोलने का हक नहीं है? उनसे हम सिर्फ अपने समर्थन की उम्मीद क्यों करते हैं? इस पर मुझे मार्कण्डेय की कहानी 'बीच के लोग' याद आती है जो अपना अस्तित्व बरकरार रखने के लिए मालिक और मजदूरों के बीच कभी स्थायी फैसले नहीं होने देते हैं। और सच बात तो ये है कि भोक्ता जिस तरह चीजों को भोगता है और बोलता है प्रतिनिधि चाहे जितना कुशल हो, नहीं बोल सकता है। ये अन्तर तो तुम मानते हो।

ओ. शर्मा : हाँ, ये अन्तर तो मानता हूँ?

रा. यादव : तो बस, वो यही कहते हैं कि ठीक है, तुमने हमारे प्रति करुणा बरती, सहानुभूति रखी। लेकिन ये सब हमारे काम का नहीं है। हो सकता है आपकी करुणा अपने ही अपराधबोध को धोने के लिए उपजी हो।

जिस ढंग से वो नकारते हैं उस तरह एकदम नकारने के पक्ष में तो मैं भी नहीं हूँ। लेकिन जैसे महिलाओं का लेखन है। हमारे यहाँ शरतचन्द्र से लेकर अनेक

लेखकों ने खूब महिला चरित्र गढ़े। विश्व साहित्य में जोला से लेकर टालस्टॉय तक के महिला चरित्रों की धूम है। लेकिन इस बात पर सिमोन द बाउवा की 'द सेकण्ड सैक्स' में एक चेप्टर है, मिथ ऑफ वूमेन, जिसे बहुत जबरदस्त ढंग से बताया गया है। ठीक है पुरुषों ने पूरी ईमानदारी से लिखा हो, लेकिन वह उतना प्रमाणिक नहीं हो सकता जितना स्वयं स्त्री का लेखन। हमारे यहाँ 'सुनीता' से लेकर एक से एक अच्छे महिला चरित्रों को पुरुष लेखकों ने बनाया, लेकिन जब महिलाओं ने लिखना शुरू किया तो इन सबकी छुट्टी हो गई। जैसे पहले महिलाओं की एक्टिंग पुरुष करते थे। वे चाहे कितने ही अच्छे कलाकार हों, स्वाभाविक रूप से वह नहीं कर सकते थे जो महिलाएँ कर सकीं। और यही हुआ। जब महिलाओं ने स्टेज पर कदम रखा तो वो सारे पात्र गायब हो गए। क्योंकि वे प्रमाणिक नहीं थे। वे बस उनको रिप्रजेण्ट करते थे। पुरुष मानसिकता उनका पीछा नहीं छोड़ती थी कि हम महिला बनकर यह करें तो पुरुषों को कैसा लगेगा, इसकी कल्पना करके वो काम करते थे। यही बात दलित लेखन के लिए सच है। कौन-कौन-सी चीज उसे कहाँ-कहाँ कैसे चुभती है यह कोई दूसरा गैरदलित नहीं महसूस कर सकता।

ओ. शर्मा : तो फिर क्या होता है?

रा. यादव : ठीक है एक एमपैथी होती है।

ओ. शर्मा : एमपैथी क्यों, अनुभूति नहीं?

रा. यादव : ठीक है परकाया प्रवेश जैसा भी होना है लेखन के बहाने। जैसे हत्यारे का चरित्र गढ़ने के लिए हत्या करना जरूरी नहीं होता है। लेकिन हत्यारा यदि कहे कि साब आपने मेरी बात ठीक नहीं रखी, मानसिकता के स्तर पर वह नहीं होता है जो आपने लिखा है, तो यह उसका सत्य है। और उसे भी सम्मान के साथ सुना जाना चाहिए।

ओ. शर्मा : इस तरह से लेखक सिर्फ अपनी आत्मकथा ही लिख सकता है। रचना अपनी सार्वभौमिकता नहीं बनाती है क्या?

रा. यादव : यह मुझे नहीं पता लेकिन यह बताओ अक्करमासी को कोई सवर्ण लिख सकता है?

ओ. शर्मा : शायद नहीं। लेकिन आपकी तर्ज पर ही मैं एक-दो उदाहरण देना चाहता हूँ। पहला है—अमृतलाल नागर की 'नाच्यौ बहुत गोपाल' या मदन दीक्षित की 'मोरी की ईंट', जो सवर्णों ने लिखे। मन्नू जी का 'महाभोज' क्या है? या फिर आपके ही 'शह और मात' को लीजिए जो एक युवा लेखिका की डायरीनुमा फॉर्म में है। मुझे ऐसा नहीं लगता है—और मेरे जैसे पाठकों की कमी नहीं होगी—कि यह उपन्यास एक पुरुष ने लिखा है?

रा. यादव : क्योंकि एपरीशिएट करने वाला भी तो पुरुष है।

ओ. शर्मा : नहीं, इसमें महिलाएँ भी होंगी?

रा. यादव : हो सकता है। लेकिन यह मुझे लगता है कि एक सेकेण्ड लेवल का एपरीसिएशन होगा। जैसे मालिक की गैर-मौजूदगी में कभी-कभी नौकर भी उन

वैल्यूज को इण्टरलाइज कर लेता है जो वह मालिक में देखता है। ये उसकी अपनी वैल्यूज नहीं होती हैं, मगर सेकेण्ड नेचर बन जाती हैं।

ओ. शर्मा : मैं एक और उदाहरण देता हूँ मैत्रेयी की 'गोमा' का। वह तो पुरुष चरित्र को ध्यान में रखकर लिखी कहानी है या नहीं?

रा. यादव : मुझे तुम एक भी उदाहरण बताओ जहाँ समान शिद्दत से एक औरत द्वारा दो पुरुषों को प्यार करते हुए दिखाया गया हो। ऐसी कहानियाँ तो हैं एक पुरुष दो औरतों से समान रूप से प्यार करता है लेकिन औरत की स्थिति को लेकर सिर्फ एक ही कहानी मुझे याद आती है, मन्नू की। *यही सच है।* उसमें भी वह उस गहराई में नहीं गई है। सिर्फ शुरुआत की थी। दूसरी कहानी बताकर दिखाओ?

ओ. शर्मा : मैं इसे महिला-पुरुष से हटाकर एक दूसरे उदाहरण से रखना चाहता हूँ क्योंकि बात अन्ततः वहीं आती है। मन्नू जी का उपन्यास 'आपका बंटी'। वहाँ बच्चे की मानसिकता में एक वयस्क प्रवेश करता है। आपके हिसाब से तो एक बच्चा ही उसे लिख सकता था?

रा. यादव : वह बच्चे की कहानी है ही नहीं। वह तो शकुन (उपन्यास में बंटी की माँ) की कहानी है जिसमें बच्चे का इस्तेमाल किया जाता है। शकुन अपने सम्बन्ध तय कर रही है या अपने पति से स्कोर सैटल कर रही है। ठीक है उसने कैमरा बच्चे के ऊपर रखा है। और बच्चे की मानसिकता, आकांक्षाएँ, और भावनाओं—सबका निष्ठा से चित्रण किया है। मगर कहानी तो वह शकुन की है।

ओ. शर्मा : नहीं। यह तो उसे देखने का एक नजरिया हुआ।

रा. यादव : नहीं, नजरिया नहीं, यही पूरी कहानी का स्वर है।

ओ. शर्मा : इसे मैं यूँ कहना चाहूँगा कि कृति के एक से ज्यादा पाठ किए जा सकते हैं।

रा. यादव : यह तुमने सही कहा है। आज के समय या समाज में कोई एक हीरो या विलेन नहीं होता है। आज लड़ाई सही गलत के बीच नहीं, अपनी तरह से सही कई व्यक्तियों की है।

ओ. शर्मा : नई कहानी में अनुभूति की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में आपने एक जगह कहा है कि हो सकता है जो सपना मैं देखता हूँ मेरा हो, मगर हो सकता है वह प्रामाणिक न हो?

रा. यादव : हाँ, जब तक कि दूसरा उसे कन्फर्म न करे।

ओ. शर्मा : तो यही बात दलित लेखन के बारे में क्यों नहीं कही जा सकती है?

रा. यादव : इसे एक अतिरिक्त तत्त्व के रूप में देखा जाना चाहिए। बहुत-सा लेखन ऐसा होता है जैसे दोस्तोव्स्की का *नाट्स फ्रॉम अण्डरग्राउण्ड* है। अंग्रेजी में इसे बिजार (विलक्षण) करेक्टर कहते हैं। यानी ऐसा हो सकता है कि एक आदमी के प्रामाणिक अनुभव के साथ दूसरा आदमी आइडैण्टीफाई न करे। यदि करता है तो रचना बनती है। मुझे यह लगता है कि इन लोगों के अनुभव प्रामाणिक तो हैं।

ओ. शर्मा : अनुभव प्रामाणिक हैं इस पर तो कोई प्रश्न ही नहीं है। लेकिन वो तो बहुत हद तक उनकी आत्मकथाओं में आ ही चुके हैं। फिर आत्मकथा के बाहर जो लेखन होगा, जैसे कहानी का, उसकी क्या भूमि होगी? हरदम तो आप आत्मकथा नहीं लिख सकते? जीवन के अनुभवों को रचनात्मक विस्तार की आवश्यकता तो होती ही है?

रा. यादव : वे क्या उनकी वैसी ही निजी आत्मकथाएँ हैं जैसे गाँधी या बच्चन की? दलित आत्मकथा एक पूरे समाज की आत्मकथा होती है, व्यक्ति की नहीं। और मैं तो कहता हूँ कि अनुभव का उस रूप में होना भी जरूरी नहीं होता जिसके हम अभ्यस्त हैं। कहानी के सन्दर्भ में टामस मान की एक बात मैं अक्सर याद करता हूँ कि... इट माइट हेव हैपण्ड विद यू, बट इट इज़ मी हू विल एलिवेट इट टू द लेवल ऑफ आर्ट। क्योंकि वह ऑब्जेक्टीविटी आपके अन्दर है जो उन अनुभवों को एक कलाकृति बना देती है। अगर यह ऑब्जेक्टीविटी नहीं आती है तो यह एक नारेबाजी जैसी रचना बनकर रह जाती है।

ओ. शर्मा : लेकिन प्रामाणिकता या ऑब्जेक्टीविटी क्या होती है? एक ही चीज को हम दोनों देख रहे हैं। मैं उसकी वाह-वाही करता हूँ चूँकि दलित हूँ। आप उसका नोटिस ही नहीं लेते हैं क्योंकि गैरदलित हैं। जबकि हकीकत तो यह है कि कोई भी कृति, कृति बनने की प्रक्रिया में, प्रामाणिकता की हदों को तो कब का पार कर चुकी होती है।

रा. यादव : यह ठीक है, लेकिन किसी चीज को मैं अपना अनुभव मानूँ या न मानूँ, यह स्वतन्त्रता तो मुझे है। इसके लिए यह सच है कि हमारा रवैया थोड़ा संरक्षणवादी है। वे अभी नए हैं, कोशिश कर रहे है। मगर जैन्युन हैं। हम उन्हें कुछ कनसेसन्स के साथ भी स्वीकार कर रहे हैं। आज अगर श्योराज सिंह बेचैन कोई रचना लेकर आते हैं तो मैं उनसे उस परफैक्शन की उम्मीद नहीं करता जो तुम्हारी कहानी से करता हूँ। तुम्हारी किसी रचना को, जैसी भी मेरी समझ है, उसी से परखूँगा। वहाँ कहीं कोई रियायत नहीं होगी। लेकिन वहाँ होगी। वे अभी चलना सीख रहे हैं, यह तो मानकर ही चलना होगा।

ओ. शर्मा : आप कनसेसन्स की बात कर रहे हैं। मैं यहाँ किसी कृति की कलात्मक गुणवत्ता की बात कर रहा हूँ। और वहाँ जिस संरक्षण को देने की बात आप करते हैं, वहीं वे कहते हैं कि आप हमें क्या कनसेसन्स दोगे, हमारा लेखन तो आपके लेखन से बेहतर है?

रा. यादव : ठीक है। मैं उन्हें यह आजादी भी देता हूँ। यह भी हो सकता है कि उनके साहित्य को समझने के जो मापदण्ड हैं मैं अपनी मेंटल कंडिशनिंग के कारण नहीं समझ पर रहा हूँ। इसे मैं कन्सेसन्स के रूप में दूँगा और डैमोक्रेटिक राइट के रूप में भी। लेकिन दिक्कत ये है कि सारा परिदृश्य हमीं लोगों से अटा पड़ा है और उनकी आकांक्षा भी हमीं से स्वीकृत होने की है, हमारे ही मानदण्डों पर उतरकर। आखिर वे कोई द्वीपों पर तो पले नहीं हैं। एक भद्र पुरुष होने की जो परिभाषा या

मानदण्ड हमने बना लिए हैं, उन्होंने भी अपना लिए हैं। अब मेरे से कोई मिलने आएगा तो उस रूप में नहीं आएगा जिस रूप में वह अपने गाँव देहात में रहता है। वह जानता है कि उस रूप में स्वीकृत नहीं होगा। और फिर यह मानिए कि बदलाव कोई सीधी रेखा में नहीं होता है। दो कदम आगे कदम पीछे। इस मानवीय कमजोरी को थोड़ा समझने की जरूरत है।।

ओ. शर्मा : लेकिन वही बात महिला लेखन के लिए भी लागू है?

रा. यादव : बिल्कुल लागू है।

ओ. शर्मा : लेकिन महिला लेखन में तो इस तरह की कोई बात (कन्सेसन्स की) नहीं उठी है?

रा. यादव : अब नहीं है। आज से बीस साल पहले थी। कोई कमजोर रचना भी मिली तो कह दिया जाता था, कोई बात नहीं, आफ्टरओल शी इज़ ए वूमन। बेचारेपन का यह जो भाव है, उन्होंने अपने प्रयासों से प्रमाणित कर दिया, कि अब यह कन्सेसन उन्हें नहीं चाहिए। इधर का महिला लेखन तो काफी वयस्क हो गया है।

ओ. शर्मा : और मूल्यांकन की बात। मैं और आप तो चलो दूसरी दुनिया के लोग हैं तो मूल्यांकन करने में ही अक्षम होंगे। लेकिन वे तो आपसी मूल्यांकन–वाह-वाही के अलावा, कर सकते हैं–जैसा पश्चिम के ब्लैक लिटरेचर में हुआ है।

रा. यादव : मूल्यांकन के सारे औजार तो हमीं ने दिए हैं। इस मामले में ब्लैक लिटरेचर का उदाहरण हमारे सामने है। जेम्स बाडविन का लेखन, रिचर्ड राइट का लेखन कभी भी हेमिंग्वे और फॉकनर के लेखन से नहीं जाँचा जा सकता है। लेकिन तुलना हेमिंग्वे और फॉकनर से ही की जाती रही है। क्योंकि उस समाज में हेमिंग्वे और फॉकनर ही समादृत हैं।

ओ. शर्मा : मैं यहाँ उन्हीं के द्वारा उन्हीं के साहित्य के मूल्यांकन की बात कर रहा हूँ इसमें कोई दो राय नहीं कि बाबा साहब बहुत बड़े चिन्तक, विचारक थे। लेकिन जब आप प्रेमचन्द, गाँधी तक सभी पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं तो एक दूसरे को लेकर जरा भी प्रश्न क्यों नहीं कर रहे हैं। कृति के स्तर पर ऐसा क्यों नहीं लगता कि फलाँ रचना में शायद यह कमजोरी है। हमारी तथाकथित मूल्यांकन पद्धति तो शायद फिट न बैठे वहाँ, मगर कोई और वैकल्पिक पद्धति तो हो ताकि उनके साहित्य को उसके गुण-दोषों समेत समझा जा सके।

रा. यादव : बात ये है कि उनके साहित्य के मूल्यांकन की बात हमारी चिन्ता का विषय क्यों हो? तुम ये बताओ, अभी तक के हमारे साहित्य का क्या मकसद रहा है?

ओ. शर्मा : शायद जीवन और संवेदना की तलाश-तराश।

रा. यादव : नहीं।

ओ. शर्मा : तो फिर?

रा. यादव : आनन्द। यानी ऐसा लेखन जो मेरी मानसिक वृत्तियों को सन्तुष्ट करता हो, एक खास तरह का ब्लिस देता हो–जिसे एस्थैटिक प्लैजर कहते हैं। जिसे

पढ़कर मैं अपने भीतर एक लोकोत्तर दुनिया में चला जाता हूँ।

ओ. शर्मा : हाँ, कहा जा सकता है?

रा. यादव : लेकिन वो कहते हैं हमारे साहित्य के वो मूल्य हैं ही नहीं। हो सकता है कि उनके साहित्य का मूल स्वर संघर्ष हो, चेतना हो। मराठी साहित्य में वैसे दलित एस्थेटिक्स पर ज्यादा काम हुआ है जो हिन्दी में नहीं हुआ है। इसलिए जब आप एक साहित्य के टूल्स से दूसरे की परख करने लगते हैं तो जाहिर है वहाँ न्याय नहीं होगा। कलात्मकता या सौन्दर्य की जो परिभाषा है, हो सकता है वहाँ कुछ और ही हो। तो इन सब तनावों और द्वन्द्वात्मकताओं से तो गुजरना ही है।

ओ. शर्मा : आपने आनन्द को अभी-अभी साहित्य का मूल स्वर कहा। तो पिछले सौ वर्षों के हिन्दी साहित्य से आपकी क्या अपेक्षाएँ हैं?

रा. यादव : अगर प्रेमचन्द, श्रीलाल शुक्ल, यशपाल जैसे यथार्थवादियों को छोड़ दें तो पिछली शताब्दी के हिन्दी लेखन, विशेषकर छायावादी लेखन का उद्देश्य, एक कलात्मक शान्ति प्रदान करना-सा है। *कामायनी* को लीजिए। वह आपको सारे मानसिक, भौतिक द्वंद्वों से दूर ले जाती है। समरसता देती है। इसके एस्थैटिक्स को तो यथार्थवादी रचनाकारों ने बदला है। ऐसा साहित्य जो प्रश्न नहीं उठाता, असहमति नहीं पैदा करता है, वह समाज में, रचना में, बदलाव नहीं आने देगा। ऐसे साहित्य का उद्देश्य क्या हो सकता है? मेरे लिए साहित्य का मतलब है यथास्थिति का कहीं न कहीं प्रतिरोध करना। हमारे यहाँ दुर्भाग्य से असहमतियाँ होना बन्द हो गईं। अधिकांशतः टीकाएँ या व्याख्याएँ होती हैं। हमारे यहाँ आखिरी बार सवाल बुद्ध ने उठाए थे। यहाँ तक कि मूल पाठ तक का पता नहीं लगता। गीता का मूल पाठ क्या है? वो शंकराचार्य ने दिया; विनोबा ने दिया या गाँधी-तिलक ने दिया?

ओ. शर्मा : यह सवाल उठाने वाली बात तो शायद गद्य साहित्य तक ही लागू होगी। हालाँकि कविता और कहानी दोनों के अलग-अलग सुख होते हैं?

रा. यादव : आज की भाषा या किसी औद्योगिक समाज की भाषा, दूसरे शब्दों में जनतान्त्रिक समाज की भाषा, कविता नहीं, गद्य ही होती है। तो यहाँ मुख्य धारा की भाषा को ही देखना होगा। कविता ने छायावाद तक तो मुख्यधारा बनाए रखा, उसके बाद नहीं। कविता सवाल नहीं उठाती है। अब आप देखो कि मैथिलीशरण गुप्त एक समय में कितने बड़े कवि थे। आज कहीं हैं ही नहीं। तमाम पौराणिक चीजों को उन्होंने नए तरह से व्याख्यायित करने की तो कोशिश की, उन पर सवाल नहीं उठाए। उन चीजों में उनकी श्रद्धा फिर भी रही। और श्रद्धा से तो आप *विनय पत्रिका* ही लिख सकते हैं।

ओ. शर्मा : दलित साहित्य कौन-से नए प्रश्न पैदा कर रहा है?

रा. यादव : कैसी बात करते हो? दलित साहित्य स्वयं ही एक ऐसा प्रश्न है जिसे सवर्ण हमेशा गलीचों के नीचे दबाकर, उसके होने से ही इन्कार करते रहे हैं। दलित साहित्य नए प्रश्न चाहे न पैदा कर रहा हो, जो स्थापित हैं उनके प्रति शंका पैदा कर रहा है।

ओ. शर्मा : और अपने प्रति भी प्रश्न या शंका पैदा करता है?

रा. यादव : वो अभी नहीं कर रहा है। शायद बाद में करे। लेकिन सारी उम्मीदें तुम उनसे अभी नहीं करो। अभी तो उनका मकसद उस साहित्य या विचारधारा पर सवाल करना है। जो उनके दमन का हथियार बने रहे हैं।

ओ. शर्मा : दलित साहित्य का इधर जो उभार हुआ है, क्या उसका राजनीतिक पटल पर हुए उनके उभार के साथ कुछ समीकरण है? या ये नितान्त असम्बद्ध तथ्य है?

रा. यादव : दो तरह का उभार आया है। महाराष्ट्र में यह एक सामाजिक आन्दोलन था जो करीब सौ वर्ष पुराना है। उसमें साहित्य की सर्जना हुई, विचार को भी आगे बढ़ाया और बाद में एक राजनीतिक शक्ति का रूप भी ले लिया। हिन्दी क्षेत्र में वह सामाजिक आन्दोलन नहीं बन पाया। बस एक राजनीतिक आन्दोलन बनकर रह गया। उसने समाज को बदलने की जागरूकता फिर भी दी। ये दोनों अलग-अलग धाराएँ रही हैं। अन्त दोनों का राजनीति होती है। वहाँ धर्म के हिसाब से राजनीति चलती है, यहाँ राजनीति के हिसाब से धर्म चलता है। यह बहुत बड़ा अन्तर है। और आज किसी चीज में राजनीति नहीं होगी, यह सोचना ही गलत है। बल्कि जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति नहीं होनी चाहिए, यह अपने आप में एक राजनीति है। इसलिए दलित समाज की राजनीति से डरने या घबराने की बात नहीं है। कभी सामाजिक बदलाव राजनीति को ढालता है तो कभी राजनीति समाज को।

ओ. शर्मा : इस तमाम पचड़े से निकलकर अब मैं आपसे कुछ ऐसी बातें करना चाहता हूँ जिसकी मंशा बहुत दिनों से थी। आपने पचास के दशक से लिखना शुरू किया। मोहन राकेश और कमलेश्वर के साथ मिलकर नई कहानी आन्दोलन जैसी वैचारिक अन्तर्दृष्टि समकालीन कहानी को प्रदान की। आज की कहानी को आप कैसे देखते हैं?

रा. यादव : हम लोग परम्पराओं से बँधे हुए थे मगर उन्हें छोड़ना चाहते थे। एक द्वन्द्व हमारे भीतर था। हम हमेशा एक संशय और धर्मसंकट की स्थिति में जीते थे। कोई संकल्प नहीं था। द्वन्द्वात्मकता थी। द्वन्द्व यह नहीं था कि पुराने को छोड़ें या न छोड़ें। बल्कि पुराने को त्यागने की प्रक्रिया में जो अनिश्चितता या भविष्यहीनता थी, उसको लेकर भय था। सारी नई कहानी का द्वन्द्व उस पुराने को छोड़ने और नए के साथ समीकरण बिठाने में था, चाहे वह स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर हो या परिवार को लेकर हो। हमारे बाद वाले लोगों ने उसे झटके से छोड़ दिया। जो हमारे लिए द्वन्द्व का कारण था, उनके लिए कट ऑफ बिन्दु था। ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह या रवीन्द्र कालिया को उस द्वन्द्व का सामना नहीं करना पड़ा। इधर की जो कहानियाँ हैं, उनमें परम्परा का बोझ नहीं है। इनके साथ नई परिस्थितियों में एडजस्टमेंट की समस्या ज्यादा है उनके लिए अतीत का आतंक भी नहीं है। या कम से कम संस्कार के रूप में अतीत नहीं है। ज्यादा से ज्यादा खुद का ही देखा-भोगा अतीत है। वह भी कैज्यूअली आता है और चला जाता है।

ओ. शर्मा : और प्रमाणिकता की कसौटी पर वह कहाँ है?

रा. यादव : प्रामाणिकता से क्या फर्क पड़ेगा, वह तो कहानी का आर्ट है। अगर आपने प्रामाणिक ढंग से लिखा है तो वह आज की समस्या हो सकती है। आज जैसे, मर गया दीपनाथ (चन्द्रकिशोर जायसवाल), तिरिया-चरित्तर (शिवमूर्ति), कामरेड का कोट (सृंजय) या अपराध (संजीव) को लो। इनमें नई स्थितियाँ हैं। अतीत नहीं है। वर्तमान से मुक्त होकर जूझने की समस्या ज्यादा है।

ओ. शर्मा : मुझे तो आज का वर्तमान बहुत जटिल लगता है चाहे वह स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर हो, परिवार को लेकर हो या नौकरी-व्यवसाय को लेकर। शिकायत हो सकती है कि क्या आज की कहानी उसे मुकम्मल तौर से पकड़ रही है?

रा. यादव : ये जटिलताएँ समय, स्थितियों और मानसिकता की हैं। आज किसी लड़की को एबॉर्शन कराने में झिझक नहीं होती है। माँ-बाप को अकेले छोड़कर बच्चे मजे से विदेश चले जाते हैं।

ओ. शर्मा : कविता ने तो अपनी हत्या संरचना के कारण की थी लेकिन आज कथा साहित्य की स्थिति भी कम शोचनीय नहीं है। आपके समय में जैसा भी था, उपन्यास तब हजारों की तादाद में खरीदे-पढ़े जाते थे।

रा. यादव : इसका एक कारण तो बदलते मूल्य हैं। किताब जरूरी चीज है, यह आज की पीढ़ी मानती ही नहीं है। बहुत लोगों को यह बड़ा आश्चर्य लगता है कि इतनी किताबों का हम आखिर करते क्या हैं? कितने घर आपको ऐसे मिल जाएँगे जहाँ एक भी किताब नहीं मिलेगी। दूसरा, किताबों की कीमतें भी ज्यादा होती हैं। जैसे चित्रा का उपन्यास है। *आवां* पाँच सौ रुपये का है। कौन लेगा? वो मानसिकता और वो सम्पन्नता, अंग्रेजी पाठक में तो है, हिन्दी में नहीं है।

ओ. शर्मा : ये तो पहले भी था।

रा. यादव : नहीं, इतना नहीं था। खुद ही देखो, राजकमल के पेपरबैक संस्करण खूब बिकते हैं। इसे देखकर तो मैं नहीं मानता कि हिन्दी के पास पाठक नहीं हैं। दरअसल उसे पुस्तकें सुलभ नहीं हैं। उसे किताब का एक्सपोजर नहीं है।

ओ. शर्मा : तो पहले यह कैसे था?

रा. यादव : पहले पढ़ना एक सामाजिक आन्दोलन के तहत-सा था। जो दुर्भाग्य से अब समाप्त हो गया है।

ओ. शर्मा : तो उससे निपटने की अब क्या कोशिश हो सकती है?

रा. यादव : हिन्दी प्रकाशन कोई उद्योग नहीं है। उसे न बैंक से कोई लोन मिलता है न दूसरी कोई रियायत। बहुत थोड़ी, निजी पूँजी से प्रकाशक काम करता है। लेखकों की प्रकाशकों के प्रति जो शिकायतें हैं, मैं समझ सकता हूँ लेकिन लेखकों को यह भी देखना होगा कि उन्हें रॉयल्टी न देने वाला प्रकाशक क्या कागज के पैसे चुका पा रहा है, कारीगरों की तनख्वाहें दे पा रहा है? खैर, यह दूसरी बात है। लेकिन 'हंस' जैसी पत्रिका के जितने पाठक हैं, बहुत उत्साहित करता है। जबकि मैं उसमें

कहीं भी समझौता नहीं करता हूँ। यानी पाठक तो हैं। लेकिन हम जिन शहरों में रहते हैं, वहाँ अंग्रेजी को लेकर एक स्टारडम जैसा रहता है। वहाँ जरूर हिन्दी पाठक नहीं हैं।

ओ. शर्मा : मैं पत्रिकाओं की बनिस्बत बात किताबों पर ही केन्द्रित कर रहा हूँ। वहाँ तो पाठकों का अभाव है ही। दूसरी ओर, जैसा आपने कहा, प्रकाशक के पास पूँजी नहीं है, तो इससे क्या उम्मीद रखें?

रा. यादव : हमारे यहाँ पूर्णकालिक लेखक नहीं हैं, जैसे पहले भगवती चरण वर्मा थे, यशपाल थे, रेणु या अमृतलाल नागर थे।

ओ. शर्मा : उससे क्या फर्क पड़ता है?

रा. यादव : उससे फर्क ये पड़ता है कि लिखना आपके लिए एक फुर्सत की चीज बन जाता है। समय मिलेगा तो लिखेंगे। लिखना आपके थके हुए मस्तिष्क की उपज हो गया है। अब चूँकि लिखना आपका कमिटमेंट नहीं है, अतः आपका सर्वश्रेष्ठ उसमें नहीं आता। एक विचार या अनुभव को आप लम्बे समय तक जी नहीं पाते। जो एकाग्रता या तन्मयता चाहिए, नहीं आ पाती। उसके लिए आप अलग से होम-वर्क या फील्ड-वर्क नहीं कर पाते।

ओ. शर्मा : लेकिन यह तो एक दुश्चक्र हो गया। पुस्तकों से जीविका चलाने की स्थिति आज लगभग असम्भव है, और आप पूर्णकालिक होने की बात...

रा. यादव : हाँ, आर्थिक पक्ष तो बदला है लेकिन सरोकारों वाली बात उतनी ही नहीं बदली है। 1951 में एम. ए. करने के बाद मुझे ढाई सौ रुपये की नौकरी का ऑफर हुआ था जो आज के बीस-पच्चीस हजार से कम नहीं होगा। मगर मैंने नहीं की। यही सोचकर कि लिखने से अगर सौ-डेढ़ सौ मिल जाएँगे तो मेरा काम हो जाएगा।

ओ. शर्मा : लेकिन वो सौ-डेढ़ सौ रुपए भी तो आज की तारीख में दस-पन्द्रह हजार के करीब हो जाएँगे। क्या लेखन से आज इतना मिल सकता है?

रा. यादव : नहीं मिल सकता है।

ओ. शर्मा : तो?

रा. यादव : तो यही है कि चुनाव लेखक को करना पड़ेगा। अगर उसे पैसा मिलता है तो वैल एण्ड गुड। नहीं तो नहीं। हम लोगों की स्थितियाँ बेहतर थीं, ये बात तो है। दूसरे कहानी संग्रह के बाद मैंने सभी संग्रहों की रॉयल्टी अग्रिम तौर पर ली। *'जहाँ लक्ष्मी कैद है'* के साल भर में ही दो संस्करण निकले थे।

ओ. शर्मा : अच्छा यह बताइए कि आप अपने परिवार में सबसे बड़े थे। परिवार भी बड़ा था। तो उस दायित्व बोध से कैसे मुक्त किया स्वयं को?

रा. यादव : वो एक जुनून के दिन थे। मन में था कि लिखना है। पिताजी ने बस इतनी रियायत दे दी थी कि मुझे कोई बोझ नहीं उठाना है तो न उठाऊँ, मगर अपना बोझ उन पर नहीं डालूँ। ये मुझे मंजूर था। शादी-ब्याह की सोचकर ही मुझे लगता था कि ये मेरे बस की चीज नहीं है। खैर, ये बातें सब अलग हैं।

ओ. शर्मा : 'नई कहानी' को आप, मोहन राकेश और कमलेश्वर के साथ आइडैण्टीफाई किया जाता है जबकि नई कहानी की जो प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ थीं वे आप और मोहन राकेश में तो फिट बैठती हैं, कमलेश्वर में नहीं। तो फिर ये...

रा. यादव : संयोग ऐसा था कि हम लोग दिल्ली में साथ हो गए। पता नहीं लोगों को ये गलतफहमी क्यों हो गई कि हमने एक-दूसरे को प्रमोट किया। *'हमदम'* वाले लेखों को छोड़कर हमने कभी एक-दूसरे के बारे में लिखा तो क्या, जिक्र तक नहीं किया।

ओ. शर्मा : लिखते चाहे न हों, एक-दूसरे के साथ आइडैण्टीफाई तो करते थे?

रा. यादव : क्योंकि आपस में दोस्ती थी।

ओ. शर्मा : उस दोस्ती का आधार क्या था?

रा. यादव : एक तो ये विश्वास कि हम कुछ नया कर रहे हैं। दूसरे, वे रचनाएँ जो हम एक-दूसरे से प्रेरित होकर लिखते थे। इसमें एक स्वस्थ किस्म की स्पर्धा भी थी जबकि बाद की चीजों में लेखन तो गौण हो गया, राजनीति हावी हो गई। मैंने राजपाल से निकले श्रेष्ठ कहानियाँ संकलन की भूमिका में राकेश की कमियों की तरफ भी इशारा किया था।

ओ. शर्मा : और कमलेश्वर!

रा. यादव : दरअसल कमलेश्वर को सब कुछ चाहिए था। आर्थिक रूप से शायद वह हम दोनों से कमजोर था। उसे फिल्में भी चाहिए थीं, सम्पादन भी चाहिए था। तेज-तर्रार और अहले जुबान आदमी है ही। वे ऐसे पेश करता था मानो वही हमारा लीडर है जो कि सिवाय उसके, कोई नहीं मानता था। बल्कि वह आज भी मानता है। जबकि ऐसा कुछ है नहीं।

ओ. शर्मा : वे तब भी ऐसा मानते थे?

रा. यादव : वो तो मानता था मगर उसे मानने कौन देता था।

ओ. शर्मा : तब फिर टकराहट नहीं होती थी?

रा. यादव : होती थी। हम तीनों की अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं इसी के चलते तो वो बम्बई चले गए। राकेश नाटकों में चला गया। कहानी में बस मैं रह गया, इसलिए टकराहट की सम्भावना कम हो गई। वैचारिक टकराहटें भी हुईं। राकेश सत्ता के साथ समीकरण भिड़ाकर फायदा लेना चाहता था तो कमलेश्वर व्यावसायिकता और सत्ता दोनों को लेकर। मुझे सरकार और पूँजीपतियों, ये दोनों से ही कुछ नहीं लेना था। मेरी शुरू से ही जिद लेखकीय स्वतन्त्रता को लेकर थी।

ओ. शर्मा : तो इस रियलाइजेशन को दस-बारह वर्ष लगे!

रा. यादव : किसे?

ओ. शर्मा : कि एक सत्ता की तरफ झुकना चाहता है और दूसरा पूँजीपतियों की तरफ?

रा. यादव : कह सकते हो। लेकिन हम लोग मतभेदों के बावजूद शुरू से ही साथ थे। और मतभेदों के कारण अलग भी हुए।

ओ. शर्मा : यही कारण है या कुछ और भी है।

रा. यादव : जैसे?

ओ. शर्मा : मतभेदों और अलग होने के पीछे दरअसल जिसे कहें कि छोटी-छोटी आपसी नीचताएँ थीं?

रा. यादव : मसलन?

ओ. शर्मा : जैसे कि मोहन राकेश एक कहानी विशेषांक निकाल रहे थे जिसमें उन्होंने आपका नाम नीचे रखा या ऐसा ही कुछ फ्लैश प्वाइंट।

रा. यादव : वो ऐसा था कि नई कहानियाँ का एक अंक निकालना था जिसमें राजिन्दर सिंह बेदी, मंटो और कृश्नचन्दर वगैरह की कहानियाँ भी थीं। तो उसने तर्क गढ़ा कि चूँकि ये हिन्दी साहित्य की चीज है अतः किसी मौलिक हिन्दी लेखक का नाम पहले जाना चाहिए। और हिन्दी में उससे बड़ा लेखक कौन? यह मुझे बहुत ही वाहियात और नागवार लगा। एक विशेषांक मन्नू ने सम्पादित किया था। कलकत्ते से। उसमें पता चला कि उसका कवर दुबारा छप रहा है क्योंकि पहले वाले में राकेशजी का नाम चौथे या पाँचवें नम्बर पर चला गया था। इस बात पर मैं अड़ गया। मेरा कहना था कि ठीक है, राकेश को कवर पर पहला स्थान दो, मगर विशेषांक में कहानी पहली मेरी होगी। दोनों तरफ से बाजी वह नहीं मार सकता है।

ओ. शर्मा : यानी बात वही रही जो मैं कह रहा था?

रा. यादव : हो सकता है। राकेश शातिर आदमी था। वह हर कहीं अपने को सर्वश्रेष्ठ के रूप में रखना चाहता था। तब मुझे हर बार रिटेलिएट करना पड़ता था। यह मुझे और कमलेश्वर दोनों को इरिटेट करता था। कभी आपसी ईगोज की रक्षा भी करनी पड़ती थी।

ओ. शर्मा : क्या मैं यह मानूँ कि आप तीनों में सबसे कम ईगो आप ही की थी?

रा. यादव : नहीं, ऐसा नहीं है। इसे मैं ईगो न कहकर सेंस ऑफ सेल्फ रेसपेक्ट कहूँगा जो मुझमें शुरू से रहा है। जब मैंने सरकार या पूँजीपतियों की अधीनता नहीं स्वीकारी तो किसी और के आगे अपने आत्मसम्मान को कैसे कम होने देता। वह कलकत्ते में भी था। मैंने वहाँ भी किसी पैसे वाले के यहाँ चक्कर नहीं लगाए। दुनिया जाती थी। मुद्राराक्षस और मनमोहन ठाकौर ने अपने संस्मरणों में इसका जिक्र भी किया है कि...विरोधों के बावजूद शाम होने पर मेरा ठिकाना कॉफी हाउस ही होता था।

ओ. शर्मा : लेकिन यह क्या बात है कि आपकी साहित्यिक दोस्तियाँ चाहे अपनी ही नई कहानियों की तिकड़ी के लोगों के साथ हों, या नामवर सिंह जैसों से, ज्यादा नहीं चलीं। एक वक्त की अन्तरंगता के बावजूद।

रा. यादव : मनमोहन ठाकौर साहब के साथ चालीस साल से ऊपर चली।

ओ. शर्मा : ठाकौर साहब उस रूप में साहित्यिक व्यक्ति नहीं थे?

रा. यादव : चली नहीं, ऐसा तो नहीं कहूँगा। चालीस साल साथ रहकर

मनमोहन ठाकौर के साथ चली, दूर-दूर रहकर नामवर सिंह के साथ चली। ऐसी बीसियों जगहें हैं जहाँ दोस्तियाँ प्रभावित नहीं हुईं। जैसे नामवर सिंह के साथ एक अनकही अंडरस्टैंडिंग हैं कहीं एक महाभारत हमारे भीतर घुसा हुआ है...कि दिन में, युद्ध क्षेत्र में, माफ नहीं करेंगे और रात को साथ बैठकर खाना खाएँगे। पारिवारिकता युद्ध क्षेत्र से बाहर है।

ओ. शर्मा : और निर्मल वर्मा?

रा. यादव : निर्मल से कभी घनिष्ठता नहीं हुई, हमेशा एक दूरी रही। हलो-हलो से ज्यादा बात उनसे नहीं हुई। हम दोनों ने स्वतन्त्र रूप से शायद एक शाम भी साथ नहीं बिताई है।

ओ. शर्मा : लेकिन निर्मल जी से आप प्रभावित तो रहे हैं?

रा. यादव : नहीं, बिल्कुल नहीं। निर्मल का लेखन ऐसा है जिसे मैं एपरीशिएट कर सकता हूँ, इमीटेट नहीं। उससे प्रभावित भी नहीं हो सकता।

ओ. शर्मा : लेकिन वह आपके प्रिय लेखकों में तो हैं?

रा. यादव : हाँ, वो तो है।

ओ. शर्मा : तो प्रिय किस रूप में हैं?

रा. यादव : प्रिय इसी रूप में हैं कि पढ़ना मुझे अच्छा लगता है। वह प्रतिबद्ध और निष्ठावान लेखक हैं। लेखन के स्तर पर समझौते नहीं करते। यह दूसरी बात है कि मैं उनकी सोच और एप्रोच से एकदम असहमत हूँ। मगर वे बेहद महत्त्वपूर्ण लेखक हैं, इससे इन्कार नहीं करता। उनमें भाषाई और वैचारिक सम्मोहन है। जैसे सेक्स और हिंसा की मानसिकता के लेखन के कारण मुझे स्वदेश दीपक अच्छा लगता है। वो भी मेरा प्रिय लेखक है। अलग-अलग वृत्तियों के लिए अलग-अलग लेखक हैं। अज्ञेय मुझे बौद्धिक ओजस्विता के कारण प्रिय लगते हैं हालाँकि मैं उन्हें बहुत पसन्द नहीं करता लेकिन उनके बौद्धिक अनुशासन की मैं कद्र करता हूँ। निर्मल और अज्ञेय में जो बौद्धिक इंटेग्रिटी है वह कम ही लेखकों में है। वहाँ भटकाव नहीं हैं लगता है हर चीज पहले से तय और फिनिश्ड है कभी-कभी लगता है ये दोनों क्वेस्ट या क्रियेट नहीं कर रहे, सिर्फ रिवील कर रहे हैं। दोनों की ही अदाओं में पैगम्बरी अन्दाज है।

ओ. शर्मा : ऐसे कौन से लेखक होंगे जिनको आप छूने की कोशिश करना चाहेंगे। या जिनके लिखे को पढ़कर अन्दर एक काश-भाव आए?

रा. यादव : बताना मुश्किल है। बँधा-बँधाया उत्तर तो टाल्स्टाय और दोस्तोवस्की ही हैं। चेखव-ज्विग वगैरा को छोड़ दो तो ऐसा कोई नहीं है। बहुत ज्यादा एपरीशिएसन मेरे मन में रेणु को लेकर है।

ओ. शर्मा : लेकिन उनका और आपका धरातल बिल्कुल अलग है?

रा. यादव : उस तरह मुझे राकेश की कुछ कहानियाँ बहुत अच्छी लगती हैं।

ओ. शर्मा : कमलेश्वर का कुछ?

रा. यादव : कमलेश्वर में मुझे शुरू से ही एक लफ्फाजी लगती है जिसे मैंने लिखा भी है। उसमें मुझे एक चीज शुरू से ही लगती आई है। और अब आकर तो

बिल्कुल साफ हो गई है कि विचारहीनता का जो गड्ढा है, उसे अब आप शब्दों के पत्थरों से पाटते हैं, तो कुछ नहीं बनता है। ज्यादा से ज्यादा कुछ खूबसूरत वाक्य, चुस्त फिकरे जहाँ कन्टैंट कुछ नहीं होता है। राजिन्दर सिंह बेदी से कभी कृश्नचन्दर के बारे में किसी ने कहा था कि साब, क्या खूबसूरत जबान लिखता है, जादू जगा देता है। तो बेदी ने सादगी से कहा कि जादू ही जगाता रहेगा या कभी कहानी भी लिखेगा।

ओ. शर्मा : और श्रीलाल शुक्ल?

रा. यादव : नहीं। भाषा उनकी बहुत अच्छी है। वे यथार्थ को बहुत ईमानदारी से पकड़ते हैं मगर साहस की कमी है। मुझे वहाँ वैचारिकता का अभाव मिलता है। वह मेरी लाइकिंग नहीं हैं।

ओ. शर्मा : प्रेमचन्द?

रा. यादव : प्रेमचन्द भी नहीं। वैसे प्रेमचन्द अच्छे और जरूरी लगते हैं मगर ऐसे नहीं लगते कि वैसा मेरी लिखने की इच्छा हो। कभी-कभी शैलेश मटियानी के बारे में जरूर लगता है कि काश गहराई और तन्मयता के साथ मैं लिख पाता। उस रूप में तो, हिन्दी में, शैलेश मटियानी अकेले ही हैं, दूसरा कोई नहीं है।

ओ. शर्मा : चेखव या किसी अन्य से?

रा. यादव : शुरू में चेखव से जरूर था। मगर बहुत जल्दी ही उससे मैं मुक्त भी हो गया। हाँ, काफ्का से जरूर मैं बहुत दिनों तक आतंकित रहा। शायद आज भी हूँ।

ओ. शर्मा : वहाँ तक पहुँचने की दौड़, उत्तेजना के स्तर पर बहुत कुछ काफ्का से प्रभावित भी लगती है?

रा. यादव : हो सकता है, हो। मगर ऐसा है नहीं।

ओ. शर्मा : ज्विग तो आपको प्रिय है?

रा. यादव : बहुत पहले था। उसे मैंने बहुत और बार-बार पढ़ा है। वह वाकई बहुत अद्भुत लेखक है। मगर उसकी भी बहुत सारी चीजें भूल गया हूँ। याददाश्त खराब होने के कारण।

ओ. शर्मा : मैं नहीं मानता आपकी याददाश्त खराब है। पता नहीं क्या-क्या ऊटपटाँग चीज भी आप सही सन्दर्भों में उछाल देते हैं।

रा. यादव : अरे नहीं भाई, ये मानो कि किसी की अगर मुझे एक चीज याद है तो निश्चित रूप से नब्बे भूल गया हूँगा। मोजा कहाँ-कहाँ फटा है और जूता कहाँ कैसे काटता है इसे सिर्फ आप जानते हैं।

ओ. शर्मा : अच्छा, मैंने जहाँ से बात शुरू की थी वहीं पर आता हूँ आपका आत्मकथा लिखने का इरादा है या नहीं। या कहूँ कि कब लिख रहे हैं?

रा. यादव : देखो ऐसा है, मेरे पास एक उपन्यास सन् 65-66 का पूरा लिखा रखा है। कोई तीन सौ पेज का। छोटे-छोटे दो अधूरे उपन्यास और भी हैं। उनमें से एक को मेरी छपवाने की हिम्मत नहीं हो रही है...क्योंकि वही लिबीडो वाला मामला

है। उन वर्जित क्षेत्रों और अनुभवों का उपन्यास है यह जिसे लोग सीधे-सीधे मुझसे आइडैण्टीफाई करेंगे। हालाँकि *सारा आकाश* की तरह यह भी मेरे एक घनिष्ठ मित्र के बिहेवियर पर आधारित है।

ओ. शर्मा : उसमें अब आपका डर क्या है? क्यों है? आपकी बहुत कुछ पहचान उस रूप में भी हो चुकी है। खासकर 'हासिल' के बाद। उस चीज से तो आतंकित नहीं होना चाहिए।

रा. यादव : अब पैंतीस साल पुरानी रचना हो गई है। दुबारा तो लिखना ही होगा।

ओ. शर्मा : वो एक अलग बात है?

रा. यादव : इसीलिए रोका हुआ है।

ओ. शर्मा : तो उम्मीद है जल्द ही आपका कुछ रचनात्मक पढ़ने को मिलेगा?

रा. यादव : दिक्कत ये है कि 'हंस' चलाते हुए अब पन्द्रह साल हो गए, या तो इसे बन्द कर दूँ या किसी को सौंप दूँ। दोनों ही विकल्प आसान नहीं हैं। जब तक विकल्प न हों, ये मेरी जान को लगा रहेगा। इससे मेरी जो व्यक्तिगत रचनात्मक चीजें हैं, स्थगित पड़ी हुई हैं। हालाँकि ये मेरा स्वयं का चुनाव भी है। इससे मैं शारीरिक और मानसिक दोनों रूप में सक्रिय रहता हूँ। मुझे यह डर लगता है और मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ कि अगर मैंने इसे छोड़ दिया, तो मैं मर जाऊँगा। क्योंकि चैलेन्जिज के बीच और एक्टिव बने रहने को कोई एक्सक्यूज तब मेरे पास नहीं रहेगा। इट कीप्स मी फिट एण्ड यंग। और सही बताऊँ तुम्हें, मुझे बुढ़ापा क्या होता है कभी भी महसूस नहीं होता है। वैसे दूसरों के हिसाब से तो सत्तर साल कम नहीं होते हैं। मुझे कभी-कभी अपने आप पर आश्चर्य होता है कि मेरे साथ ऐसा क्यों नहीं हो रहा है, जो इस उम्र में दूसरों के साथ होता है या होता रहेगा।

ओ. शर्मा : एक अन्तिम सवाल और राजेन्द्र जी?

रा. यादव : तुम जो चाहो पूछो यार?

ओ. शर्मा : आप पर लिखी ठाकौर साहब की किताब के माध्यम से ऐसा लगता है कि आप अपने सुख तो दुनिया में बाँटते हैं पर अपने दुखों को तालों में बन्द करके रखते हैं। ऐसा क्यों है और आपके दुख क्या हैं?

रा. यादव : उस रूप में कोई दुख नहीं है। शायद होंगे भी मगर...या यूँ कहूँ कि मैंने कभी उन्हें अपने पर हावी नहीं होने दिया। जो नहीं है उसे लेकर बहुत दुखी होना मेरे स्वभाव में नहीं है।

ओ. शर्मा : मगर दुख तो होंगे ही। वो क्या हैं?

रा. यादव : होने को तो बहुत सारी चीजें हैं। यहाँ मयूर विहार में अकेले पड़े हैं। इस उम्र में। मन्नू हौजखास में है, बेटी कुतुब में। हफ्तों मिलना नहीं होता। यह कम बड़ी तकलीफ है? वैसे मन्नू से मेरा बहुत अच्छा संवाद है। तुम सोच भी नहीं सकते। मैं बीमार हुआ तो वो चौबीसों घंटे साथ रही। आज भी आधी रात को मुझे कोई तकलीफ हो तो वह तुरन्त आ जाएगी। शायद मुझे लगता है कि हम लोग दोस्त तो बहुत अच्छे हो सकते हैं, पति-पत्नी नहीं। मेरी जिन्दगी का जो पैटर्न है वह मन्नू

से बहुत अलग है। साथ रहने से और असुविधाएँ, और मानसिक अशान्ति पैदा होगी। मुझे मानसिक रूप से उतनी फुर्सत नहीं है कि तकलीफों पर सोच सकूँ। पैर की तकलीफ तो न जाने कब से है। कभी लगता है कि जरा ही दूरी के लिए भी मुझे सहारे की जरूरत पड़ती है। मगर मान लेता हूँ कि ये है तो है। यह मुझे कोई तकलीफ नहीं देता है। इसे यदि तुम एक प्रतिनिधि या प्रतीक के रूप में मानो तो इसी तरह की कई तकलीफें होंगी। वे सभी की जिन्दगी में होती हैं।

ओ. शर्मा : आप और मन्नू जी एक-दूसरे की टक्कर के लेखक रहे हैं। आप तो बहुत-सी और संस्थागत चीजों से आज भी जुड़े हैं। लेकिन वो तो अकेली पड़ गई हैं... उनकी इस तकलीफ का भी कोई अहसास है आपको?

रा. यादव : शायद हमारे ईगो अलग-अलग हैं। मैं नहीं मानता कि मुझे तकलीफ है, वो नहीं मानती कि उसे तकलीफ है। लेकिन एक लाइसेंस मैं अपने आपको देता रहा हूँ—जो शायद कहीं बहुत मानवीय नहीं है—वो ये कि अगर किसी चीज या स्थिति से मुझे तकलीफ नहीं होती है तो मैं मान लेता हूँ कि दूसरे को भी नहीं होती होगी। जबकि ऐसा होता नहीं है। यह एक तरह की कलर ब्लाइण्डनैस है।

ओ. शर्मा : ये तो ऐसा है कि छुरा भोंकने वाला कहे कि मुझे तो तकलीफ नहीं हो रही है, तुम्हें क्यों हो रही है?

रा. यादव : चीजों को इस हद तक सपाट और क्रूर मत बनाओ। हमारे मतभेद हमारे सोचने के ढंग और मेरे अनकन्वेंशनल विचारों को लेकर हैं। जैसे वो लगभग भाजपाई है। मैं उसका कट्टर विरोधी। उसे लेकर हमारी भयंकर लड़ाइयाँ हुई हैं, बोलचाल तक बन्द। अपनी सोच में वह परम्पराओं से अलग होकर नहीं देख पाती। चीजों को स्वीकार करती है, उनका विश्लेषण नहीं।

ओ. शर्मा : ये तो बहुत हास्यास्पद बात है कि पति-पत्नी के बीच राजनीतिक मतभेद के कारण व्यक्तिगत खाइयाँ पैदा हों, जो बहुत विश्वसनीय नहीं लगता है।

रा. यादव : लेकिन हमारे साथ ऐसा ही हुआ है। भारतीय संस्कारों को लेकर, हिन्दुत्व को लेकर, हमारे बीच खूब घमासान हुआ है।

ओ. शर्मा : कहीं इसका कारण आपके इतर सेक्स सम्बन्ध तो नहीं हैं?

रा. यादव : हो सकता है रहा हो, जरूर रहा होगा। लेकिन जैसा मैंने कहा, मैंने अपनी किसी भी कमजोरी को, हावी नहीं होने दिया। जिन्दगी की स्वाभाविक गति में कुछ जो हो जाता है, तो ठीक है। नहीं तो नहीं। इस मामले में भी मैं दूसरे का सम्मान करता रहा हूँ। मैंने किसी से जबरदस्ती नहीं की। कभी सौदेबाजी नहीं की। अगर सहज स्वाभाविक ढंग से यह बात आती है तो यह आपसी समझ है। अगर इस तरह की कमजोरी को हावी होने दिया होता तो बहुत पहले रास्ते बदल दिए होते।

ओ. शर्मा : मगर क्या यह महत्त्वपूर्ण कारण नहीं रहा?

रा. यादव : मुझे लगता है कि ये शायद ऐसी चीज नहीं थी जिसे लेकर रास्ते बदले जाते। जो सम्बन्ध खत्म हो गए, उसके पीछे, उधर से, यह शिकायत हो सकता है, रही हो। मेरे एक खास सम्बन्ध की वजह से मन्नू का जो व्यवहार रहा, मुझे उसमें

समझदारी का अभाव लगता रहा। कभी-कभी कुछ उद्विग्न क्षण में वह एक खाँटी घरेलू स्त्री की तरह बहुत उग्र हो उठती है। हो सकता है उस दौरान मन्नू ने मुझे ऐसा हर्ट कर दिया था—या कर दिया होगा, कि मन्नू को लेकर पति होने की बात मेरे मन में आनी ही बन्द हो गई। इस बारे में मैं बस यही कह सकता हूँ। सम्बन्धों में कभी-कभी ऐसा होता है। बाप-बेटे के बीच भी ऐसा हो जाता है। संवादहीनता आ जाती है।

ओ. शर्मा : लेकिन एक अवस्था के बाद पति-पत्नी के बीच सैक्स बहुत नगण्य नहीं हो जाता है? वे एक-दूसरे को, जिसे कहना चाहिए, अदर दैन सैक्स डिस्कवर नहीं करते हैं?

रा. यादव : वो तो होता है। फिर भी सैक्स एक सीमेंटिंग फैक्टर तो होती है। मगर अब मेरे मन में उस तक पहुँचने की कोई अर्ज पैदा नहीं होती है। वो अध्याय जैसे बन्द ही हो गया है।

ओ. शर्मा : आप ऐसी कोई सम्भावना नहीं देखते या महसूस करते जिसमें किसी तरह का समझौता हो सके?

रा. यादव : मैंने अपनी तरफ से कुछ भी फाइनल नहीं किया। कभी लगता है वह सम्भावना शायद अब समाप्त हो गई है...तो साथ ही भीतर कहीं विश्वास है कि अन्ततः रहना तो हमें साथ ही है। हो सकता है कि हम इतनी दूर चले आए हों कि गुंजाइश रह ही न गई हो।

ओ. शर्मा : एक छत के नीचे रहने की भी गुंजाइश नहीं है?

रा. यादव : इसका दूसरा पक्ष भी है। मन्नू कभी-कभार आती है। मैं भी जाता हूँ। लेकिन इधर बरसों से, मेरे जीने का तरीका ऐसा हो गया है कि उसमें किसी और के लिए जगह ही नहीं बचती है। किसी दूसरे की मौजूदगी असुविधा करती है। जैसे मैं घर पर हूँ तो भी मेरा मिनट दर मिनट कार्यक्रम तय रहता है। उठना-पढ़ना, लिखना-नाश्ता, फिर सोना-पढ़ना और दफ्तर। किसी दूसरे के लिए यह बड़ा अमानुषिक हो जाता है, कि आप साथ भी रह रहे हैं मगर एकदम फालतू-सा बनकर। उसके लिए दिनचर्या में स्पेस ही न हो।

ओ. शर्मा : तब ऐसा भी कह सकते हैं कि आपका यह अकेले होने का दुख वास्तव में कोई दुख भी नहीं है। इसे स्वयं आप चुन रहे हैं!

रा. यादव : अकेला कहाँ हूँ। विचारों, सोच और और कार्यक्रमों की एक पूरी दुनिया हमेशा मेरे भीतर और बाहर होती है। हाँ, यह तकलीफ तो है ही कि इस उम्र में वो अलग रहे और हम अलग। किसी दिन लुढ़क गए तो कोई देखने वाला नहीं होगा। उम्र तो है ही। ये हल्का-सा भय तो है। हालाँकि मैं मृत्यु के बारे में कभी नहीं सोचता। मेरे चिन्तन में उसकी कोई जगह नहीं है। हाँ, अन्त का कभी-कभी ख्याल आता है। ये सारा तामझाम, ये किताबें, ये सामान, कहाँ जाएगा? बेटी के पास जगह नहीं है। मन्नू के पास जगह नहीं है। बहुत साधारण जिन्दगी का ही सामान है लेकिन कुल मिलाकर तो बहुत कुछ जमा हो जाता है।

ओ. शर्मा : जब आप ही नहीं होंगे, तो फिर सामान की क्या सोचना!

रा. यादव : वो अलग बात है। कोई नई चीज आती है, जैसे नया कुर्ता लिया तो लगता है उसे पहन भी पाऊँगा या ये यूँ ही रह जाएगा... ए फ्लीटिंग एण्ड फलर्टिंग थॉट...

ओ. शर्मा : लेकिन आपकी जो सम्पदा है, यह साजो-सामान नहीं, बौद्धिक है?

रा. यादव : उसे भी लेने वाला कोई नहीं है, शायद इसमें देने या रखने लायक कुछ है भी नहीं। मुझे लगता है कि मेरा लगभग विरासतहीन अन्त होने जा रहा है। मेरी चीजों को बौद्धिक रूप से, शारीरिक रूप से, क्लेम करने वाला मुझे तो कोई दिखाई नहीं देता।

ओ. शर्मा : यह तो राष्ट्रीय सम्पदा का हिस्सा होना चाहिए?

रा. यादव : अजी भाड़ में गई राष्ट्रीय सम्पदा। मेरे जैसे सोचने वाले के लिए राष्ट्र में किसको पड़ी है। ये चिन्ता तो श्रद्धेय किस्म के लोगों, जैसे नरेन्द्र कोहली हैं, के लिए होनी है।

ओ. शर्मा : राष्ट्रीय सम्पदा को इस रूप में न मानें लेकिन एक साहित्यिक सम्पदा और संस्था के रूप में तो आप हैं, आपकी चीजें हैं। और वे रहेंगी।

रा. यादव : मैं ऐसा कुछ नहीं सोचता। है भी नहीं ऐसा कुछ। ये सब बड़ी रोमांटिक बातें हैं। न मुझे अपनी महानता को लेकर कोई मुगालता है, न अपने किए के महत्त्व को लेकर।

ओ. शर्मा : आपके सोचने का यह मुद्दा भी नहीं है।

रा. यादव : लेकिन कुछ नहीं होगा। सब कुछ यूँ ही खत्म हो जाएगा। कोई बात नहीं। जैसे, हम लोगों ने, इतना सब जो कुछ धुआँधार मचाया, उस सबका क्या असर हुआ? कहाँ कुछ बदला? अपने को अकेला रखा। अपने को बहुत सारी चीजों से डिनाई किया। कुछ सफरिंग से भी गुजरा। मगर क्या हुआ? कुछ नहीं हुआ। अब या तो जो प्रभाव पड़ा वह इतना अमूर्त है कि दिखाई नहीं देता है। या वास्तव में पड़ा ही नहीं होगा। यू केन गो ऑन गैसिंग एण्ड एनालाजिंग...

ओ. शर्मा : अपने बीते जीवन को याद करते हुए आपको कभी यह नहीं लगता है कि यह जिन्दगी तो एक कहानी की हकदार है।

रा. यादव : नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। यदि यह कहानी है भी तो बहुत बासी है, पुरानी है। बहुत लोगों के साथ यही रहा होगा। मुझे अपने भीतर कुछ भी अन्यूजूअल और एक्स्ट्राऑर्डिनरी नहीं लगता है। यह कोई मौडैस्टी नहीं है, भीतर का रियलाइजेशन है। ए टेल टोल्ड बाई एन ईडियट, फुल ऑफ साउंड एण्ड फ्यूरी सिग्निफाईंग नथिंग...

ओ. शर्मा : ये बात तो अपने बारे में महात्मा गाँधी ने भी कही थी।

रा. यादव : महात्मा गाँधी हिप्पोक्रेट था। वह जानता था कि उसका लोगों पर क्या और कैसा असर है। उसे पता था कि ही वाज शेपिंग द डेस्टिनी ऑफ द नेशन. ..मुझे ऐसा कोई भ्रम नहीं है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह अन्त मेरा ही नहीं हमारी पूरी पीढ़ी की नियति है। हम जिस मध्य वर्ग की उपज हैं, वह खुद इतिहास में

एक ब्लैंक पीरियड के रूप में जाना जाएगा। वी बिलोंग टु दी लास्ट जनरेशन ऑफ लेटर हाफ सैंचुरी...हमने सिर्फ उत्तरशती की गुमनामियतें लिखी हैं।

ओ. शर्मा : अच्छा, आप भाजपा से लगभग आतंकित क्यों रहते हैं?

रा. यादव : आतंकित नहीं हूँ, असहमत हूँ।

ओ. शर्मा : उनकी हर चीज से असहमत हैं?

रा. यादव : देखने में उनकी कुछ चीजें तो मासूम हैं, और कुछ पूर्व नियोजित। मुझे लगता है कि उनकी जो थोड़ी मासूमियत है, वह भी पूर्वनियोजित है। आदमी और विचारधाराओं में कोई तिकोना नहीं होता है। सम्पूर्णता में ही चीजों को देखा जा सकता है। मेरी असहमतियाँ व्यक्तिगत नहीं हैं।

ओ. शर्मा : अब जैसे कारगिल था?

रा. यादव : कारगिल से तो मैं बहुत असहमत हूँ। मैं ही क्या, आज सारे विश्लेषक यही कह रहे हैं। खुद उनके बैठाए कमीशन की रिपोर्ट यही बताती है। यह उनका विशुद्ध रूप से चुनावी मंसूबा था जो सफल हुआ क्योंकि एक जगह की जीत दूसरे से जुड़ी थी। हमने बिना वजह अपने बहादुर ऑफिसर और जवान गँवाए। अपने सर्वश्रेष्ठ नौजवानों की बलि देकर उन्होंने क्या पाया? जो कुछ मिला वह राजनीतिक क्षेत्र में मिला।

ओ. शर्मा : लेकिन पाकिस्तान के नजरिए से देखें तो अहसास तो उसे भी होगा कि एक हिन्दुत्ववादी सरकार उसकी पहल को नाकाम करके भुना सकती है?

रा. यादव : नहीं नहीं। भारत का मुसलमान चाहे हिन्दूवादी सरकार न चाहे, पाकिस्तान को हमारे यहाँ उतनी ही धार्मिक सरकार चाहिए जितने वे खुद हैं। इस मामले में एक थियोक्रेटिक स्टेट या स्ट्रक्चर ही उन्हें ज्यादा सूट करता है। उसे आसानी से हैंडल किया जा सकता है। क्योंकि पता होता है कि क्या करना है, क्या कमजोरियाँ हैं। दुश्मन जब ठीक अपनी ही तरह का हो तो उसे डील करना बहुत आसान है। दोनों एक-दूसरे के लिए प्रैडिक्टेबल हो जाते हैं। दोनों एक-दूसरे के लिए धर्मयुद्ध बन जाते हैं।

साक्षात्कार पर कुछ प्रतिक्रियाएँ

(सन्दर्भ : 'कथादेश', अगस्त 2000 अंक में ओमा शर्मा द्वारा लिया गया राजेन्द्र यादव का साक्षात्कार)

मुझे भी कुछ कहना है : मन्नू भण्डारी

'कथादेश' के अगस्त अंक में ओमा शर्मा द्वारा लिया हुआ राजेन्द्र यादव का साक्षात्कार पढ़ा। विभिन्न प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने जो जवाब दिए वे उनके अपने विचार हैं, उन पर मुझे कुछ नहीं कहना सिवाए एक बात के कि राजेन्द्र जी को हिन्दी-लेखिकाओं

से बड़ी शिकायत रहती है कि वे पंजाबी और मराठी लेखिकाओं की तरह बोल्ड और ईमानदार आत्मकथाएँ लिखने का साहस क्यों नहीं जुटा पातीं? बोल्ड और ईमानदार यानी अपने विवाहेतर प्रेम-प्रसंगों या सम्बन्धों का खुला-विस्तृत ब्यौरा। रात-दिन दूसरों के माथे आरोप गढ़ने वाला व्यक्ति कम-से-कम खुद तो इस साक्षात्कार में उस बोल्डनेस, साहस और ईमानदारी का परिचय देता।

ओमा शर्मा ने घेरघार कर जब मेरे और राजेन्द्र के अलग होने का कारण जानना चाहा, तो बताते खुलकर कि क्या बात थी। अनकन्वेंशनल जिन्दगी जीने का ढिंढोरा पीटने वाले व्यक्ति को झूठ का सहारा क्यों लेना पड़ा? सच बोलने में कौन-सा कनवेन्शन आड़े आ गया था? अरे जो सही अर्थों में अनकन्वेंशनल होते हैं वे तो खेलते हैं खुला खेल फ़र्रुखाबादी। पर जो अपनी सुविधा के हिसाब से अनकन्वेंशनल होते हैं, जिससे कि उसकी आड़ में बहुत-सी छूटें ली जा सकें, उन्हें इसी तरह झूठ का सहारा लेना पड़ता है। अलग होने के कारणों का जिक्र करते समय मेरे सिर पर भाजपाई की चिप्पी चिपकाई और खुद क्रान्तिकारियों के खेमे में जा खड़े हुए। मुझे परम्परावादी, संस्कारी, खाँटी घरेलू औरत जैसे विशेषणों से नवाज़ा और अपने को पेश किया एक निहायत आधुनिकतम, अनकन्वेशनल व्यक्ति के रूप में यानी कि हर जगह गलत के कठघरे में मैं और राजेन्द्र जी तो हैं ही। पर यह सब कहते समय क्या आप बिल्कुल ही भूल गए कि बोलचाल तक बन्द करा देने वाली अधिकांश उग्र बहसें तो अलग होने के बाद हुआ करती थीं और जिनका केन्द्र मात्र राजनीति ही नहीं हुआ करता था। कभी पुनरावृत्ति के बोझ से बोझिल और अपठनीय हो आए 'हंस' के कुछ सम्पादकीयों पर बहस होती थी तो कभी राजेन्द्र की सरकारी पुरस्कार और पद की भर्त्सना के तेवर को टूटते-बिखरते। बिहार सरकार का मिला लखटकिया पुरस्कार लेने जब राजेन्द्र पहुँचे तो 'मैं साध्य (हंस) की चिन्ता करता हूँ, फिर साधन चाहे कोई भी हो, कैसा भी हो' का फलसफा मुझे सन्तुष्ट और चुप क्या करता, राजेन्द्र की अपनी आत्मा भी उन्हें कचोट रही थी। इसलिए सफाई में एक सम्पादकीय लिखना पड़ा। इसी तरह प्रसार भारती की सदस्यता से मुक्त किए जाने के बाद का आचरण भी क्या दर्शाता है? (इसके लिए भी एक सम्पादकीय लिखा गया।) रोमिला थापर वाला उपेक्षाभाव कि आपके पास 'हंस' और अपने पढ़ने-लिखने जैसे महत्त्वपूर्ण काम हैं, प्रसार भारती की सदस्यता मिली, बहुत अच्छा—चली गई, बहुत अच्छा—क्या ज्यादा शोभनीय नहीं रहता? सबसे अच्छा और राजेन्द्र की खम-ठोंक घोषणाओं के अनुकूल तो यह होता कि भाजपाई सरकार के आते ही त्यागपत्र देकर राजेन्द्र को स्वयं ही अलग हो जाना चाहिए था कि इस सरकार के साथ वे काम कोई नहीं करेंगे। बहस के ऐसे ही अनेक मुद्दे हुआ करते थे पर राजेन्द्र का तो ये रवैया है कि जहाँ उनका विरोध किया कि आप भाजपा के खेमे में डाले गए। फिर भी इतना तो स्पष्ट कर ही दूँ कि न ही मैं किसी पार्टी की मेम्बर हूँ और न ही किसी पार्टी की अन्ध-भक्त। अपनी समझ में जिस पार्टी का जो काम मुझे गलत लगता है उसकी खुलकर आलोचना करती

हूँ। और जो सही लगता है, उसकी प्रशंसा, फिर वह चाहे भाजपा हो या कोई वाम दल। यह तो आप भी जानते है और मानते हैं कि एक लेखक के विचारों और सरोकारों की असली कसौटी होती है उसका रचनात्मक लेखन क्योंकि वहीं वह सबसे ज्यादा ईमानदार होता है। नारेबाजी के शगूफ़ों से वहाँ अपनी असलियत छिपाई नहीं जा सकती। कोई तेरह-चौदह साल की लम्बी अवधि के बाद 'इण्डिया-टुडे' की वार्षिकी में मेरी एक कहानी छपी थी 'नमक'। करीब इतनी ही लम्बी अवधि के बाद राजेन्द्र जी की भी दो कहानियाँ छपीं—एक 'तद्भव' में 'मरा हुआ चूहा' नाम से और दूसरा 'हंस' में 'हासिल' नाम से। इसके बाद मुझे अपने और राजेन्द्र के विचारों और सरोकारों के बार में कुछ भी कहने की जरूरत नहीं।

और हाँ, आप शायद एक बात बिल्कुल भूल ही गए कि अलग होने के आठ-दस महीने बाद मोहम्मद असलम ने भी आपका एक इण्टरव्यू लिया जो 'एशियन एज' में छपा था। उस समय न भाजपा थी न परम्परावाद। उस समय तो आपने अलगाव का बिल्कुल दूसरा ही कारण बताया था। 'एशियन-एज' की कटिंग न होने के कारण मैं सारी बात को शब्दशः तो नहीं प्रस्तुत कर सकती पर भाव खूब अच्छी तरह याद है आपने कहा था कि आपको लोगों से मिलना-जुलना, गप्प-गोष्ठी करना, खिलाना-पिलाना अच्छा लगता है—यह आपका स्वभाव भी है और आपके पेशे की जरूरत भी। लेकिन मन्नू को यह सब बिल्कुल पसन्द नहीं—पीना-पिलाना तो बिल्कुल नहीं, सो वह भन्नाती रहती है। अब ऐसे में बड़ा मुश्किल हो जाता है...यानी कि इतने सालों में जितने लोगों को खिलाया-पिलाया, दावतें-पार्टियाँ कीं, परिवार, परिचित, आने-जाने वालों की आव-भगत की, सब पर एक झटके में पानी फेरकर मुझे फिर गलत के कठघरे में खड़ा कर दिया है। हाँ, पिछले आठ-दस सालों में जरूर मुझसे यह सब नहीं हो पाया—पर कभी जानने की कोशिश भी की कि क्यों? पर जिस आदमी ने अपनी इच्छा, अपनी जरूरत और अपनी सुविधा के परे कभी कुछ जानने की कोशिश ही न की हो (कम से कम मेरे मामले में तो यह शत-प्रतिशत सही है) उससे क्या उम्मीद करूँ मैं? गुस्सा तो मुझे तब भी बहुत आया था पर मोहम्मद असलम से मैं सम्पर्क नहीं कर पाई और शायद यह मेरा संस्कार ही था (जिससे राजेन्द्र जी को बहुत चिढ़ है) जिसने मुझे मुँह नहीं खोलने दिया! रात-दिन स्त्री-विमर्श का झण्डा उठाने वाले राजेन्द्र जी। क्या आप सारी जिन्दगी मेरी इस चुप्पी का ही फ़ायदा नहीं उठाते रहे? और हाँ, अब तो मैं आपसे यह भी पूछ सकती हूँ कि आपको लोगों को बुलाना अच्छा लगता था तो बुलाते...खाना बनवाते और खिलाते...मुझसे यह अपेक्षा क्यों करते थे कि मैं आपके मित्रों की मेहमाननवाज़ी करूँ...अरे यह तो एक खाँटी घरेलू औरत की भूमिका होती है। आपको मुझमें कब एक खाँटी घरेलू औरत चाहिए और कब एक संस्कार-मुक्त, परम्परा-विहीन आधुनिकतम औरत, इसकी कोई स्पष्ट रूप-रेखा है आपके पास या यह सारा खेल और वाक्-चातुर्य केवल अपनी सुविधा और छूट लेने का आयोजन भर है?

अब ज़रा जिन्दगी के अनकन्वेंशनल पैटर्न की बात भी हो जाए। मैं अलग

होने का निर्णय ले चुकी थी और दो महीने में राजेन्द्र को मकान ढूँढकर शिफ़्ट होना था। उसी दौरान एक दिन सबेरे चाय पीते समय मैंने राजेन्द्र से कहा कि मैं आपसे एक बात पूछती हूँ और यदि सच बोल सकें तो ही इसका जवाब देना वरना चुप रह जाना। मेरा प्रश्न था, "राजेन्द्र, मान लो हमारी भूमिकाएँ बदल जातीं यानी कि जो जिन्दगी मैंने जियी (अपनी भावनात्मक कमजोरी के कारण ही सही) वह आपको जीनी पड़ती और आपकी जिन्दगी मैं जीती तो क्या आप बर्दाश्त कर पाते?" दो मिनट चुप रहने के बाद राजेन्द्र ने सचमुच ईमानदारी से मुझे उत्तर दिया, "नहीं, मैं बर्दाश्त नहीं करता।" उत्तर सुनकर मुझे कतई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि सही उत्तर मैं भी जानती थी। तो यह है इनकी अनकन्वेंशनल जिन्दगी की बानगी जिसमें अपने लिए न सम्बन्धों क़ी कोई नैतिकता है न गरिमा और न ही किसी तरह का दायित्व-बोध पर सामने वाले से बदस्तूर ये सारी अपेक्षाएँ हैं। अब इसे जिन्दगी के प्रति क्रान्तिकारी रवैया कहा जाए या ठेठ सामन्ती? सामन्ती रवैए के तो ऐसे-ऐसे उदाहरण मेरे पास हैं कि...पर छोड़िए।

एक ओर तो राजेन्द्र का आरोप है कि मैं अपनी सोच में परम्पराओं (रूढ़ निहित है) से अलग होकर नहीं देख पाती, चीजों को स्वीकार करती हूँ, उनका विश्लेषण नहीं करती। ऐसी स्थिति में तो मुझे पति परमेश्वर की हर बात और हर आचरण को आँख मूँद कर शिरोधार्य कर लेना चाहिए था। दूसरी ओर वे परेशान उन उग्र बहसों से हैं, जिनकी परिणति होती थी—बोलचाल तक बन्द। है न विरोधाभासी बातें? स्पष्ट कर दूँ कि बहस मैं खूब करती थी और वे मात्र राजनीति केन्द्रित नहीं, बल्कि विविध विषयों को समेटे होती थीं।

"रचनात्मकता और सैक्स का गहरा सम्बन्ध है" यह न कोई नई बात है और न ही आप इसे पहली बार कह रहे हैं। एक लेखक के लिए घर यथास्थितिवाद का ही दूसरा रूप होता है और इसलिए परिवर्तन का सबसे बड़ा विरोधी। ऐसी स्थिति में ईमानदारी का तकाजा तो यह था कि आपको घर बसाना ही नहीं चाहिए था। गलती हुई कि बसा लिया पर गनीमत है कि आपने अपने को घर की उस परम्परागत अवधारणा में कभी बँधने नहीं दिया। हाँ, घर से जो सुख-सुविधा मिल सकती थी ले ली पर उसके प्रति जिम्मेदारी निभाने के बोझ से अपने को मुक्त ही रखा। पर एक बात तो बताइए कि सारी बातें कहने और करने के बावजूद पिछले कई सालों में रचनात्मकता के क्षेत्र में आपने कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण रचा क्या? दूसरे, लेखक के नाम पर ये सारी छूट और सुविधाएँ लेते समय क्या आप बिल्कुल भूल जाते हैं कि मैं भी एक लेखक हूँ। सन् 70-71 से लेकर 83-84 तक मैं बराबर लिख रही थी और अपनी रचनाओं से, फिल्मों से, नाटक से जितनी ख्याति मुझे मिली उसके मुकाबले आप बिल्कुल ठण्डे पड़े हुए थे। और यह सारा लेखन मैं अपनी 'खाँटी घरेलू औरत' की परम्परावादी भूमिका निभाते हुए ही कर रही थी। हो सकता है इसके मूल में भी हमारा वैचारिक मतभेद ही हो।

जहाँ आप रचनात्मकता के लिए सेक्स को जरूरी मानते हैं, वहीं मैं संवेदनशीलता

को। पर जिसे दूसरे का दुख व्यापता ही न हो (इसे आपने खुद यहाँ स्वीकार किया है) वह संवेदनशील कैसे हो सकता है भला? कभी-कभी तो मुझे लगता है कि जैसे 'हंस' की सफलता से मिले यश, सम्मान और प्रतिष्ठा ने आपकी सारी संवेदनशीलता को ही सोख लिया, वरना कभी तो आपने भी अच्छी से अच्छी रचनाएँ लिखी ही थीं। हाँ, भावनात्मक-ईमानदारी (इमोशनल इण्टेग्रिटी) का अभाव जरूर आप में शुरू से ही था। सच बताइए, कभी आपने अपने भीतर झाँककर देखने की कोशिश की कि आपके आचरण ने सामने वाले को कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे आहत किया.. .कभी आपके भीतर अपने आचरण को लेकर कोई अपराध-बोध जागा? नहीं, आप तो शुरू से जिस निर्द्वन्द्व-भाव से अपने को सही और दूसरे को गलत सिद्ध करते आए हैं—फिर वे चाहे विचार हों या व्यवहार—उससे तो लगता है कि यह आपके व्यक्तित्व की बनावट का ही हिस्सा है। आप जैसे आत्म-केन्द्रित, आत्म-लिप्त और हमेशा चर्चा के केन्द्र में बने रहने की ललक से भरे हुए व्यक्ति से और अपेक्षा ही क्या की जा सकती है भला?

वे प्रेम सम्बन्ध थे या सिर्फ खिलवाड़! : अर्चना वर्मा

राजेन्द्र जी का साक्षात्कार पढ़ा। ओमा शर्मा की प्रश्नावली की गहरी सूझ-बूझ और कुरेद इसे एक मूल्यवान साक्षात्कार बनाती है, विशेष रूप से वह अंश जिसमें आत्मकथा लेखन और उसकी नैतिकता पर राजेन्द्र जी ने अपने विचार व्यक्ति किए हैं। अगर सिर्फ शब्दों तक न रुके रह जाएँ तो हम पाएँगे कि बहुत कुछ 'अनकहा' भी 'कहे' के साथ अभिव्यक्त हो गया है। शब्दों के बीच का मौन और पंक्तियों के बीच की व्यंजनाएँ उस पुरुष मानसिकता को उजागर करती हैं जो सारी आधुनिकता, प्रगतिशीलता, उदारता, बौद्धिकता और सर्जकता के बावजूद अपनी जगह बरकरार है और स्त्री के नजरिए से देखें तो पूर्वोक्त सारी तारीफ को सिर्फ एक छद्म में बदल देती है।

'हंस' में राजेन्द्र जी मेरे बॉस हैं और एक प्यारे दोस्त भी। दोस्त मन्नू जी भी हैं और राजेन्द्र जी से कुछ ज्यादा ही प्यारी हैं। इसलिए लिखते समय इस बात के प्रति मैं कुछ ज्यादा ही सावधान और तटस्थ होने की कोशिश में हूँ कि मैं कहीं मन्नूजी के लिए पक्षपात न कर बैठूँ या कि दोनों से मेरे व्यक्तिगत परिचय के कारण जो कुछ अतिरिक्त जानकारियाँ मेरे पास हैं उनका कहीं ऐसा दुरुपयोग न हो जाए कि दोनों में से किसी की भी व्यक्तिगत गरिमा या निजता के अधिकार से जुड़ी नैतिकता का उल्लंघन हो इसलिए मैं अपने आपको शब्दशः राजेन्द्र जी के वक्तव्यों के विश्लेषण तक ही सीमित रख रही हूँ और उसी विश्लेषण से प्राप्त पंक्तियों के निहितार्थों तक ही फैला भी रही हूँ। हालाँकि वह क्षोभ इस वक्त भी मेरे मन में है ही जो किसी दोस्त को अन्याय करते देखकर महसूस होता है। 'हंस' के दफ्तर में राजेन्द्र जी के साथ

मेरी असहमतियाँ खासी मशहूर हैं लेकिन सोच-विचार और बहस के लिए असहमतियाँ बेहद जरूरी हैं, दोस्ती का आधार भी। आज की इस असहमति में भी मेरी आकांक्षा तो यही है लेकिन आघात शायद कुछ ज्यादा सख्त!

आत्मकथा लेखन की नैतिकता के सिलसिले में राजेन्द्र जी को भी सम्बद्ध व्यक्तियों की निजता यानी गोपनीयता का अधिकार मूल्यवान और संरक्षणीय लगता है और हमारे सामाजिक सन्दर्भों में निजता का कुल मतलब पुरुष के जीवन में स्त्री-प्रसंग और स्त्री के जीवन में पुरुष-प्रसंग हुआ करता है। अरसा पहले से हिन्दी के लेखक अपनी जरूरतों में पत्नी और प्रेमिका को समान महत्त्व का दरजा देते आ रहे हैं, बाकायदा परिचर्चाओं और वक्तव्यों के माध्यम से सार्वजनिक मंच पर भी। राजेन्द्र जी भी शायद ऐसी ही जरूरतों के मारे हुए लेखक हैं। अपने जीवन के वैयक्तिक प्रसंगों के बारे में बोलते हुए उन्होंने कुछ बातें प्रेमिकाओं—नहीं, प्रेम सम्बन्धों के—बारे में कही हैं और कुछ पत्नी के बारे में।

भोगे हुए को रचे हुए में बदलने वाली सृजनात्मक मानसिकता की प्रक्रियाएँ खासी जटिल और दिलचस्प हैं और सृजन-विरोधी आज के माहौल में समझने योग्य आवश्यक विषय भी। रचनाकार के जीवन की अन्दरूनी झलक सृजन के स्वभाव को समझाने वाली ऐसी ही जरूरी सामग्री है, सिर्फ स्कैंडल और गॉसिप का मसाला नहीं, हालांकि निस्संदेह वह रस भी उसमें होता ही है प्रेमिकाओं के बारे में बातचीत को प्रेम सम्बन्धों की बातचीत में बदलकर राजेन्द्र जी ने स्कैंडल और गॉसिप से खुद को और दूसरे सम्बद्ध लोगों को बचाया, भला किया, लेकिन इसी तर्क का दूसरा पक्ष क्या यह है कि पत्नी क्योंकि 'गोपनीय' के खाते में आने वाला सम्बन्ध नहीं इसलिए उसे सार्वजनिक रूप से चाहे कैसी भी लानत-मलामत का शिकार बनाया जा सकता है? जिन सम्बन्धों में 'सौदेबाजी' नहीं थी, सहज रूप में जो हुआ सो हो गया उनमें कोई प्रतिबद्धता भी थी या नहीं? अगर नहीं तो वे प्रेम सम्बन्ध थे या सिर्फ खिलवाड़? प्रेम का अर्थ पुरुष के लिए है क्या? उसका अस्तित्व भी लेखन के यथार्थवादी दर्शन के लिए संदिग्ध है तो क्या इस सन्दर्भ में प्रतिबद्धता सम्बन्ध से अधिक विचारधारा का मामला है? यानी कि जिसे रूमानी और आदर्शवादी मतिमन्दता और मूढ़ता प्रेम कहती है वह दरअसल सिर्फ शरीर है और कुछ नहीं? तो सम्बन्धों के शुरू होने से पहले शायद सम्बद्ध व्यक्तियों को आगाह भी कर दिया गया होगा कि सहज रूप से बनने और परिणति तक पहुँचकर सहज रूप से समाप्त हो जाने वाला सम्बन्ध है, इसमें न सौदा है, न समझौता। क्या है, इसे कौन जान सकता है। विचारधारा के लिए प्रतिबद्धता अगर हो, तो हो।

और वह तो राजेन्द्र जी में भरपूर है ही। कूट-कूटकर भरी हुई है। ऐसी अनुपम प्रतिबद्धता कि उसकी वेदी पर राजेन्द्र जी विवाह को भी बलि चढ़ाने से चूके नहीं। मन्नू जी का 'भाजपाई' होना विच्छेद का कारण बन गया। इसी साक्षात्कार में भाजपा के बारे में काफी संयत ढंग और अन्यत्र अपने सम्पादकीय वगैरह से खासे असंयत ढंग से अभिव्यक्त राजेन्द्र जी के विचार बताते हैं कि उनके शब्दकोश

में भाजपाई सबसे खराब गाली है। भगवा का उनके पर्याय कोश से अर्थ मैं यहाँ न ही उद्धृत करूँ तो अच्छा। विचारधारा की मार के दायरे के बाहर पत्नी से उनकी अपेक्षा है आधुनिक स्त्री होना क्योंकि मन्नू जी से उनकी दूसरी शिकायत 'खाँटी घरेलू औरत' की तरह व्यवहार करने की है। अन्यथा उनके हिसाब से उस प्रसंग में ऐसा कारण कुछ था नहीं कि यह निर्णय लिया जाता। आधुनिक स्त्री क्या राजेन्द्र जी के हिसाब से वह होगी जो पति के 'खिलवाड़ों' को अनदेखा करते हुए पत्नी पद की सामाजिक प्रतिष्ठा से सन्तुष्ट घर-बार सँभालती रहे और पति को मुक्त किए रखे? फिर 'खाँटी घरेलू औरत' किसे कहेंगे?

सभी विवाह सुखी और सफल नहीं होते, उनके पीछे हमेशा विवाहेतर सम्बन्ध ही कारण नहीं भी होते लेकिन ऐसे सन्दर्भों में स्त्री के दिमाग को प्रेम की बेबसी तो समझ में आती है, उससे पैदा होने वाली तहस-नहस भी, मगर खिलवाड़ नहीं। पुरुष की दिक्कत शायद यहाँ यह है कि वह न प्रेम से प्रतिबद्ध है न विवाह से लेकिन सुविधा दोनों की चाहता है। असली शिकायत राजेन्द्र जी को शायद यह हो कि इन्हीं खिलवाड़ों के बावजूद जब पैंतीस बरस तक चलता रहा तो अब ऐसा खास क्या हो गया। उन्हें क्या मालूम नहीं कि धीमी आँच पर देर तक चढ़ा हुआ पानी आखिरकार खदकता है, खौलता है और अन्ततः भाप बनकर उड़ जाता है। इस बात की शिकायत कि आँच तो उतनी ही थी, तापमान भी वही तो फिर पानी खदका क्यों, खौला क्यों, भाप क्यों बन गया, बेकार है। आधुनिक औरत की आकांक्षा (नियति?) प्रेमिका और पत्नी का दरजा एक साथ सँभालने की है। इसकी योग्यता भी उसके पास है। उन सन्दर्भों में तो खासतौर से जिनमें विवाह का फैसला भी प्रेम के तहत किया गया हो। प्रेमिका को घर लाकर उसे ठोंक-पीटकर पत्नी बनाने और प्रेमिका के रूप में दूसरियों को पटाने के फेर में फँसा हुआ पुरुष अपने हिस्से में भी ठोंक-पीट पाएगा ही। चोट लगे तो चिल्लाए मत। एक बार भीतर झाँककर देखे। अपने भी और स्त्री के मन में भी। वह अपराध भाव साफ़ नजर आएगा जिसे ढँकने के लिए वह स्त्री को आहत करता चला जाता है।...

आया ऊँट पहाड़ के नीचे : निर्मला जैन

मेरे सामने 'कथादेश' के दो अंक हैं। पहले में ओमा शर्मा से राजेन्द्र यादव की बातचीत और दूसरे में 'असहमत' शीर्षक देकर छपी मन्नू भण्डारी और अर्चना वर्मा की प्रतिक्रियाएँ हैं। मैं यह भी जानती हूँ कि मेरे कुछ लिखते ही राजेन्द्र जी को मौका मिलेगा कि वे अपने कहे हुए के अनौचित्य से यह कहकर बचने का तर्क तलाशें कि 'महिलाएँ' एकजुट होकर उन पर हमला कर रही हैं। पर मेरी नजर में यह सवाल किसी मुद्दे पर सहमति-असहमति का नहीं, सीधे-सीधे 'सच' और 'झूठ' का है।

राजेन्द्र और मन्नू से पिछले पैंतीस साल से बड़े प्यारे सम्बन्ध हैं। दोस्ताना, पारिवारिक, बहुत-सी बातों में साझेदारी और अक्सर 'राज़दारी' के भी। मन्नू तो बराबर कहती हैं कि वे मुझसे कुछ नहीं छिपातीं। राजेन्द्र घुन्ने और चुप्पा हैं। जाहिर है, जो बताने लायक नहीं होता उसे क्या बताएँगे। पर बहुत-सी बातें वे भी नहीं छिपाते। सबसे बड़ी बात यह है कि 'भरोसामन्दी' हमारी दोस्ती का आधार है। हम लोगों ने सुख-दुख में बराबर साझेदारी की है। एकदम निःस्वार्थ भाव से। ऐसी दोस्तियाँ अब विरल हो गई हैं।

इसलिए मुझे इस बात का दुख है कि प्रश्नों के चक्रव्यूह में फँसकर राजेन्द्र जी यह भूल गए कि वे बातचीत के शुरू में ही कह चुके हैं कि "हर आत्मकथा में एक 'सैल्फजस्टिफिकेशन' होता है। कितनी भी ईमानदारी से आप लिखें, इससे बच नहीं पाते।" साथ ही यह भी कि "अफसोस इस बात का है कि इस 'सैल्फजस्टिफिकेशन' से लड़ने की कोशिश तक नहीं दिखती है हमारे यहाँ।" बेहतर होता कि वे इस सवाल का जवाब देने से इन्कार कर देते। मुझे इस बात की व्यक्तिगत जानकारी है कि यह प्रश्न बार-बार मन्नू जी से भी पूछा गया है, पर उन्होंने हमेशा इस प्रसंग पर बात करने से इन्कार किया है। बहुत जोर देने पर बस इतना ही कहा कि हमारी सुविधा का सवाल है। हमारे बीच कोई झगड़ा नहीं है। हम लोग आज भी बहुत अच्छे दोस्त हैं। वे इस प्रसंग में जिस शालीनता और संयम का परिचय देती रही हैं उसका साक्षात प्रमाण उनकी प्रतिक्रिया है। वे चाहतीं तो इस अवसर का फायदा उठाकर ईमानदारी की दुहाई देते हुए, जो अब तक नहीं कहा उस सबको कह डालतीं। पर यह शैली मन्नू की नहीं है। उन्होंने राजेन्द्र जी को 'खुला खेल फर्रुखाबादी' खेलने की चुनौती देकर यह विकल्प उन्हीं पर छोड़ दिया। मन्नू जी के लिए यह संकोच का नहीं नैतिकता का सवाल है। अपने और राजेन्द्र जी के बीच एक लम्बे रिश्ते की गरिमा का तो है ही, किसी तीसरे की सामाजिक प्रतिष्ठा और उस भरोसे का भी है जो मन्नू जी पर उसने किया।

दोस्त के रूप में राजेन्द्र जी बड़े दिलचस्प, निहायत जीवन्त, बड़े खुशमिजाज इन्सान हैं। महफिलों को बातचीत से जानदार बनाए रखने का अद्भुत कौशल है उनमें। वे दूसरों को जितना राजदार बनाते हैं उससे कहीं अधिक राजदारी निभाते हैं। बहुत भरोसेमन्द दोस्त साबित होते हैं। वे दोस्तियों के बीच दरार आने पर भी अक्सर पुराने दोस्तों के बारे में हल्की बात नहीं करते। यह उनके व्यक्तित्व का एक पहलू है। एक दूसरा पहलू है, उनकी जटिल बनावट का। राजेन्द्र की पुरानी आदत है मौके-बेमौके, लोगों पर अकारण दुलत्तियाँ झाड़ते चलने की। इस तरह के सलूक के लिए प्रायः सम्मानित, प्रतिष्ठित लोगों का चुनाव करते हैं--कोई भदेस, चुभने वाली टिप्पणी या फिर बिना व्याख्या किए कोई ऐसा चलताऊ-सा रिमार्क, जो शायद उनकी किसी बड़ी गहरी कुण्ठा को तुष्ट करता है। इस बातचीत के बीच भी उन्होंने यह हरकत गाँधी जी पर टिप्पणी करते हुए की है। बिना

पूरी व्याख्या किए इतनी बड़ी बात कहने की हिमाकत राजेन्द्र जी ही कर सकते थे।

राजेन्द्र जी ने बड़े यत्न से एक सार्वजनिक मुखौटा गढ़ा है। वे बराबर अपने इस बिम्ब की क्षति के खतरे से भयभीत रहते हैं। इसकी रक्षा के लिए हर पल पूरी तरह सन्नद्ध, इसलिए वे अपनी गलतियों को जानकर भी नहीं जानना चाहते। यह बात उन्होंने खुद स्वीकार की है : "जो चीजें मुझसे गलत हो गई हैं, या दूसरों के प्रति जो गलतियाँ मैंने की हैं, उन सबको स्वीकार करने की या स्वयं अपने सामने देख सकने की मानसिकता मेरी नहीं है।" नतीजा यह होता है कि गलती को अनदेखा करने की कोशिश में उनका भीतरी अपराध-बोध उनसे गलती को ढाँपने की गलती पर गलती कराता है।

दोस्ताना महफिलों में कभी भी किसी भी छोटे-बड़े प्रसंग पर राजेन्द्र घिसे हुए ग्रामोफोन रिकार्ड पर रड़कती हुई सुई की तरह अटक जाते हैं। दोहराकर, कुतर्क करके बज़िद अपनी बात को मनवाने की सारी चेष्टाएँ भले ही विफल हो जाएँ, पर राजेन्द्र शायद ही कभी खुद अपनी गलती स्वीकार करते हों। उनकी समझ में यह आ ही नहीं सकता कि वे जिस ईमानदारी और साहस की दुहाई दिया करते हैं, अपनी गलतियों को स्वीकार करने के लिए भी उसी की जरूरत होती है। बाकी लोग उनकी बात से कायल होकर नहीं यह मानकर बहस छोड़ देते हैं कि उनसे संवाद नहीं हो सकता, उनके एक निहायत संजीदा, भलेमानस रचनाकार मित्र ने बातों के सिलसिले में पिछले सप्ताह ही मुझसे कहा कि राजेन्द्र जी से किसी गम्भीर विषय पर खुले दिमाग से बात नहीं की जा सकती। वे खुद राजेन्द्र जी से भी उनके इस रवैए के बारे में में अपनी राय जाहिर कर चुके थे।

राजेन्द्र जी का कहना है : "सबसे बड़ी न सही, पर ईमानदारी लेखन की बहुत अहम जरूरत है। ईमानदारी से जुड़ा हुआ दूसरा तत्त्व है साहस।" यकीनन ये दोनों बातें सम्पादन की भी जरूरतें हैं। इस प्रसंग में एक व्यक्तिगत घटना का जिक्र करना चाहूँगी। राजेन्द्र जी के ही कहने पर मैंने जैनेन्द्र जी पर एक लेख लिखा—'सिरा कहाँ है...' मुझे बिना बताए राजेन्द्र जी ने अपने सम्पादकीय 'अधिकार' (?) का उपयोग करते हुए कई छोटे-छोटे भाषाई परिवर्तन करके उसे बेतरह 'कटखना' बना दिया। मेरे कन्धे पर बन्दूक रखकर उन्होंने जैनेन्द्र जी से अपनी न जाने कब की खुन्नस निकाल ली। परिवर्तन शालीनता की सीमा के बाहर जैनेन्द्र जी को आहत करने वाले थे। मुझे राजेन्द्र जी से इस व्यवहार की कतई उम्मीद नहीं थी। लिहाजा, छपने के बाद मैंने उस लेख को जब पढ़ा तब तक रचनाकार मित्र ने उसे अज्ञेय जी को पढ़वाकर उनकी प्रतिक्रिया मुझ तक पहुँचा दी। अज्ञेय जी ने क्षुब्ध होकर कहा था : 'देअर इज़ नथिंग टु फील हैप्पी अबाउट इट।' राजेन्द्र जी की हरकत ने मेरे लेखकीय विवेक पर प्रश्न चिह्न लगा दिया था। दुर्भाग्य से इसी बीच जैनेन्द्र जी असाध्य रूप से बीमार होकर अस्पताल में दाखिल हो गए थे। वे लेख पढ़ नहीं पाए थे। मेरी सबसे बड़ी चिन्ता यह थी

कि किसी तरह वह लेख उनकी नजर से न गुजरे और दूसरी यह कि पाठकों में मेरी छवि का जो हनन राजेन्द्र जी ने किया था, उसका प्रतिकार कैसे हो। मैंने राजेन्द्र जी को एक लम्बा पत्र लिखा यह इकरार करते हुए कि वे उसे बिना काटे-छाँटे 'हंस' में प्रकाशित करें। राजेन्द्र जी में अपनी सम्पादकीय ईमानदारी का भण्डाफोड़ होने देने का साहस भी नहीं था। वे घर पधारे, काफी मिन्नत के बाद उन्होंने मुझे इस बात के लिए राजी किया कि मैं उस पत्र की प्रति जैनेन्द्र जी के बेटे प्रदीप को चाहूँ तो भेज दूँ। भले ही वह उसे अज्ञेय जी को भी दिखा दें पर मैं पूरे पत्र को छापने की जिद न करूँ। साथ ही यह आश्वासन भी दिया कि वे किसी और ढंग से यह सूचना 'हंस' में छाप देंगे। प्रदीप जी इस घटना के गवाह हैं। पत्र उन्होंने अज्ञेयजी को दिखाया। पढ़ने के बाद अज्ञेय जी ने राजेन्द्र जी की भर्त्सना करते हुए कहा कि "तो फिर इसमें निर्मला का क्या कसूर है।" कहना न होगा कि राजेन्द्र जी ने पूरी घटना पर जो एक पंक्ति 'हंस' में छापी उसका कोई मतलब नहीं था। इसके बाद मैंने काफी अरसे तक 'हंस' में नहीं लिखा।

मुझे यकीन है कि मेरे अलावा भी बहुत से लोग ऐसी कारगुजारियों के शिकार हुए होंगे। राजेन्द्र जी को भारी मुगालता है कि वे सौदेबाजी नहीं करते। सौदेबाजी के अनेक रूप होते हैं। व्यक्ति अपनी परिस्थितियों से विवश होकर बहुत से ऐसे काम करता है जो शायद सामान्यतः वह नहीं करना चाहे। मसलन जिन स्रोतों से 'हंस' को वित्तीय सहायता मिलती है, या राजेन्द्र जी को दूसरी सुख-सुविधाएँ मुहैया होती हैं, क्या राजेन्द्र जी में यह नैतिक साहस है कि वे उनकी कमजोर रचनाएँ छापने से इन्कार कर सकें। इतना ही नहीं, ऐसी रचनाओं को जैसे-तैसे साहित्य की महान उपलब्धियाँ सिद्ध करने-कराने की कष्ट-साधना करके वे अपनी और लेखकों की छवि में कोई इजाफ़ा कर पाते हैं। मुझे इसमें सन्देह है।

राजेन्द्र जी ने खुद स्वीकार किया है कि 'एक डर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का होता है...जो लगातार एक अंकुश लगाए रखता है।' यही डर उन्हें दूसरों की प्रतिष्ठा की कीमत पर अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने की नाकाम कोशिश के लिए मजबूर करता है। इसलिए उन्हें पूरे मसले को कुछ ऐसे पेश करने की जरूरत मालूम हुई होगी कि यह इल्हाम उन्हीं को हुआ कि "हम लोग दोस्त तो बहुत अच्छे हो सकते हैं, पति-पत्नी नहीं।" क्या राजेन्द्रजी इस बात पर अपने ही कथन की रोशनी में फिर से विचार करना चाहेंगे कि : 'आदमी कुछ भी करे लेकिन जब दलित और औरत अपने फैसले अपने आप करने लगें तो उससे बर्दाश्त नहीं होगा।' उनकी इसी मानसिकता में उनके बहुत से सम्बन्धों (प्रेम/खिलवाड़) के प्रति उनकी 'प्रतिबद्धता' के सवाल का हल भी छिपा है।

याद दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि स्त्री के सशक्तिकरण के पैरोकार होने के दावेदार तो राजेन्द्र जी हैं ही, उसे लेखन के मूल्यांकन में सुविधाजनक तर्क की तरह भी इस्तेमाल करते रहे हैं। क्या लेखन और जीवन के तर्क एक-दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष होते हैं?

कलाकार की पत्नी होना अंगारों भरी डगर पर नंगे पाँव चलने जैसा है! : सुधा अरोड़ा

'कथादेश': अगस्त 2000 के अंक में ओमा शर्मा द्वारा 'हंस' सम्पादक राजेन्द्र यादव का विस्तृत साक्षात्कार बेहद तत्परता और गम्भीरता के साथ पढ़ना शुरू किया। मैं शुरू से 'हंस' के सम्पादकीय 'मेरी तेरी उसकी बात' की प्रशंसक रही हूँ और 'हंस' में हमेशा कहानियों से पहले सम्पादकीय पढ़ती हूँ। दलितों और आज की औरत की बदलती हुई तस्वीर पर उनकी तार्किकता और विश्लेषण क्षमता आश्वस्त करती है, आतंकित भी। पर ओमा शर्मा ने इस साक्षात्कार में जिस तरह धीरे-धीरे उन्हें व्यक्तिगत सवालों पर घेरा है और यादव जी जिस तरह पुरुषोचित गर्व से और अपनी चिरपरिचित बेबाकी से उन सवालों के उत्तर दे गए हैं, उससे तो यही जाहिर होता है कि गलती से उनका भीतरी रूप उजागर हो गया है। (कॉट अनअवेयर्स)। लेखक-विचारक-चिन्तक यादव जी की कथनी और करनी में बड़ा फर्क है। अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों के बारे में बोलते हुए स्त्री विमर्श के प्रखर प्रवक्ता सन्देह के घेरे में आ जाते हैं। इधर 'हंस' सम्पादक के बहुत से साक्षात्कार पढ़ने में आ रहे हैं। मुद्दा कोई भी हो, यादव जी विवादास्पद बोलने और बोलकर लिखवाने में माहिर हैं। उनका हर व्याख्यान, सम्पादकीय महीनों चर्चा के केन्द्र में रहता है।

उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में कुछ बेबाक टिप्पणियाँ की हैं। पिछली पीढ़ी के कुछ लेखक आज भी 'हीरो' होने का भ्रम पाले हुए हैं। उन्हें लगता है कि पाठकों में उनके व्यक्तिगत जीवन को जानने की बहुत उत्कण्ठा है इसलिए अपने मसीहाई अन्दाज़ में पाठकों के सामने अपनी शिकायत दर्ज करते हैं और पैंतीस वर्षों के अपने दाम्पत्य जीवन के बाद अपनी लेखिका पत्नी मन्नू भण्डारी (जिनकी वैचारिक प्रतिबद्धता और सरोकारों को लेकर दो राय नहीं हैं) से अपने अलग रहने को जस्टीफाई करते नजर आते हैं। जाहिर है, उनके आपसी मतभेद कई स्तरों पर रहे होंगे पर जिन शब्दों में यादव जी ने अपनी बात कही, वे बहुत विश्वसनीय नहीं लगते। सारे मानवीय सम्बन्धों में पति-पत्नी का सम्बन्ध सबसे कॉम्प्लेक्स और उलझा हुआ होता है जिसकी गुत्थियाँ सुलझाने में बहुत से पहलुओं को जानना-परखना होता है। बगैर सोचे-समझे सार्वजनिक तौर पर इसका खुलासा करना इस सम्बन्ध की गरिमा को खण्डित करता है। उनके बयानों से मन्नू जी को तो तकलीफ हुई ही है, मन्नू जी को करीब से जानने वाले लोग भी आहत हुए हैं। पैंतीस बरस साथ रहने के बाद अगर पति-पत्नी अलग होते हैं तो जाहिर है, उस अलगाव के साथ दोनों ओर बहुत-सी मानसिक तकलीफ जुड़ी होती है। मन्नू जी उन दिनों बम्बई आई थीं, जब आपसी सहमति से वे अलग रहने के नतीजे पर पहुँचे थे। उस एक सप्ताह में जब राजेन्द्र जी अपना सामान ले जाने वाले थे, मन्नू जी से लम्बी बातचीत हुई थी। उस समय की सारी तकलीफ (बकौल मन्नू जी, 'उस घर से उन्हें अपना सामान ले जाते हुए

देखना बहुत तकलीफदेह होता, इसलिए मैं बम्बई चली आई') के बावजूद बिना किसी कड़वाहट के राजेन्द्र जी के व्यवहार का जैसा विश्लेषण और अपने सम्बन्धों की पड़ताल वे कर पा रही थीं, उससे उनके सहज, पारदर्शी व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में आदर बढ़ गया था। मैंने तब भी उनसे कहा था, आज तक कह रही हूँ कि यह एक बहुत बड़ी गलतफहमी है कि औरत चुप रहे, तभी महान है, वे जब तक इस धधकते हुए लावे को कागज पर नहीं उतारेंगी, उनके लिए कुछ भी और लिखना सम्भव नहीं हो पाएगा। उन्होंने लिखने की कोशिश भी की, पर इस तरह के लेखन के लिए जिस तटस्थता (एक हद तक असंवेदनशीलता) और अपने निजी सम्बन्धों के प्रति पर्याप्त दूरी बनाने की जरूरत होती है, वह उनसे सम्भवतः सध नहीं पाया।

राजेन्द्र यादव अक्सर कहते हैं कि हिन्दी की लेखिकाओं में इतना साहस नहीं होता कि वे अपनी आत्मकथा लिखें जबकि मराठी और बंगला में खूब आत्मकथाएँ लिखी गई हैं। मन्नू जी ने भी अपने संस्मरण लिखने शुरू किए थे, जिसका एक लम्बा अंश चार साल पहले 'समकालीन भारतीय साहित्य' में प्रकाशित हुआ था (बाद में वही अंश 'हंस' के जनवरी-फरवरी' 2000 के विशेषांक 'सदी का अतीत और स्त्री का भविष्य' के 'जनमपत्री' खण्ड में प्रकाशित हुआ) इसमें गौर करने लायक चीज़ यह है कि मन्नू जी कहाँ आकर रुक गईं? जहाँ से उनके वैवाहिक जीवन का व्यक्तिगत प्रसंग शुरू होता है। उनकी बच्ची का जन्म और छोटी-सी बच्ची को अपने और अपनी बड़ी बहन के बीच शंटिंग करते हुए छोड़कर नौकरी पर जाना। 'सामन्ती संस्कारों से ओतप्रोत उस पौरुषीय अहम् की कचोट को मैं न समझती होऊँ, यह बात नहीं थी पर उसका निराकरण मेरे पास नहीं, राजेन्द्र के अपने पास था।' बस, इन पंक्तियों के बाद उनकी लेखनी इन चार सालों में आगे नहीं चली। कारण जाहिर है कि अपने निहायत निजी सम्बन्धों का खुलासा करने में आरोप-प्रत्यारोप के सिलसिले में रिश्तों की गरिमा तो खण्डित होती ही है, सरेबाजार एक फजीहत ही हाथ लगती है। और पति पत्नी के आपसी सम्बन्धों में तमाम कड़वाहटों और टकराहटों के बावजूद थोड़ी-सी करुणा बची रहती है, एक छोटा-सा कोमल-नाजुक हिस्सा भी होता है जिसे एक औरत किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहती। शायद यही मन्नू जी के चुप रहने का कारण रही हो! राजेन्द्र जी कुछ बातों का खुलासा करना चाहते थे तो आत्मस्वीकृति के तहत एक वृहद परिप्रेक्ष्य में करते पर उनके वक्तव्यों में न तो आत्मनिरीक्षण है, न एक उदात्तता, बल्कि एक बेहद कुण्ठाजनित चोट है जो लेखक पति का बड़बोलापन जाहिर करती है और एक उथली छींटाकशी का बायस बनती है।

राजेन्द्र यादव का यह साक्षात्कार अन्तर्विरोधों से भरा हुआ और अविश्वसनीय है। ये अन्तर्विरोध जाहिर करते हैं कि उनका दुःख और अकेलापन कितना बनावटी (सुपरफिशियल) है। एक ही साँस में वह कहते हैं, 'यहाँ मयूर विहार में अकेले पड़े हैं, इस उम्र में, हफ्तों मिलना नहीं होता, यह क्या कम बड़ी तकलीफ है।'

और फिर वह, 'अकेला कहाँ हूँ। विचारों, सोच और कार्यक्रमों की एक पूरी दुनिया हमेशा मेरे भीतर और बाहर होती है।'

इधर उन्होंने औरत और दलितों के मुद्दे पर केन्द्रित हंस के कई विशेषांक निकाले हैं, कई सम्पादकीय लिखे हैं और उसी साँस में 'हासिल' और 'मरा हुआ चूहा' जैसी यौन कुण्ठाओं पर पुरानी लिखी हुई बेहद औसत कहानियाँ भी छपवाई हैं और 'हंस' के पन्नों पर 'दो औरतें' और 'कोरा कैनवास' जैसी सामान्य कहानियाँ भी प्रकाशित करते रहे हैं। क्या ये कहानियाँ आज के समय का प्रतिनिधित्व करने वाली कहानियाँ हैं! फिर क्यों इन कहानियों पर प्रतिक्रिया में हंस के पन्ने दर पन्ने इनकी प्रशंसा-आलोचना में खपाए जा रहे हैं? यह जानते हुए भी सम्पादक की अपनी कहानी पर पाठक उन्हें खुश करने के लिए प्रशंसा पत्र लिखेंगे ही, आत्ममुग्ध लेखक सम्पादक अपनी पत्रिका के बेशकीमती पृष्ठ अपने ही गुणगान (या आलोचना) पर न्योछावर किए चला रहा है। बल्कि 'हंस' में 'हासिल' जैसी कहानी छापकर और फिर उस पर लम्बी चर्चाएँ चलाकर ये कैसी मिसाल कायम की जा रही है कि 'हासिल' पढ़ने के बाद उससे प्रेरणा पाकर 'मुसलमान' जैसे उपन्यास के लेखक ने अपनी पुरानी डायरी के पन्ने खंगालकर 'कोरा कैनवास' जैसी कहानी की रचना की। कहानी की अश्लीलता को ढाँपने के लिए स्वयं सम्पादक को उस कहानी की तरफदारी में तमाम देशी-विदेशी उदाहरणों का आवरण देकर अपने सम्पादकीय का एक आखिरी लम्बा पैराग्राफ लिखना पड़ा।

'संस्थापक : प्रेमचन्द' के 'जनचेतना' के 'प्रगतिशील कथा-मासिक' 'हंस' का कितना दयनीय हश्र है! खैर, सम्पादक होने के नाते यह उनका व्यक्तिगत चुनाव है, जो पाठकों पर भारी पड़ रहा है।

राजेन्द्र यादव ने अपने साक्षात्कार में विवाहेतर सम्बन्धों को लेकर एक बात कही है, 'ये शायद ऐसी चीज़ नहीं थी जिसे लेकर रास्ते बदले जाते। जो सम्बन्ध ख़त्म हो गए, उसके पीछे, उधर से, हो सकता है, यह शिकायत रही हो। मेरे एक खास सम्बन्ध (और बाकी 'आम' सम्बन्ध?) की वजह से मन्नू का जो व्यवहार रहा, मुझे उसमें समझदारी का नितान्त अभाव लगता रहा। एक खाँटी घरेलू स्त्री की तरह वह बहुत उग्र हो उठी।' अक्सर लेखक-कवि-कलाकार-गायक यह मानकर चलते हैं कि विवाहेतर अस्थाई सम्बन्ध रखना एक चारित्रिक दोष नहीं, उनके पेशे की मूलभूत और अनिवार्य शर्त है। अपनी पत्नी से वे इन सम्बन्धों के लिए 'खाँटी घरेलू स्त्री की तरह उग्र' होने के बजाय सहर्ष छूट दिए जाने की अपेक्षा भी रखते हैं और छूट न मिले तो वह 'समझदारी का नितान्त अभाव' ही कहा जाएगा।

जिस लेखक-कलाकार के जितने अधिक विवाहेतर सम्बन्ध रहे होते हैं, वह उतना ही छाती ठोंककर ढलती उम्र में अपने अनुभवों को अपने संस्मरणों (या कहानियों) में चटखारे लेकर बखान करता है। (सन्दर्भ-कमलेश्वर के जनसत्ता : सबरंग में प्रकाशित संस्मरण) लेखक-कलाकार की पत्नी होना अंगारों भरी डगर पर नंगे पाँव चलने जैसा ही है। अपने पति के विवाहेतर सम्बन्धों को झेलते हुए भी

साथ निभाती उसकी पत्नी लम्बे संत्रास के बाद बुढ़ापे में 'देवी' का दर्जा पाती 'पूजनीया' हो उठती है। जीवन भर अपनी पत्नी को यातना देता और ठोकरें लगाता यह लेखक-कलाकार बुढ़ापे में अपने 'कारनामे' लिखने के बाद अपनी 'घरेलू' पत्नी को 'सच्ची दोस्त' 'दुख-सुख में कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाली साथिन' जैसे दो-चार विशेषणों से महिमान्वित कर अपने जीवन भर के गुनाहों से हाथ धो लेता है। बेचारी पत्नी भी अपने नामचीन लेखक पति की कलम से निकले हुए विशेषणों को पाकर अपना जीवन धन्य समझती है और पति की सारी ज्यादतियों को माफ कर देती है। यह होती है 'खाँटी घरेलू स्त्री'—माफ करने के अलावा जिसके पास कोई चारा नहीं है, जो उग्र होना अफोर्ड ही नहीं कर सकती, जिसका उग्र होना बेहद अस्थाई किस्म का होता है क्योंकि उसके पास अपने पति के अलावा कोई आर्थिक या सामाजिक विकल्प नहीं होता। हमारे समय की सबसे बड़ी विसंगति यह है कि ऐसे 'लम्पट' और 'बौने' कद के कलाकार इन सबके बावजूद सम्मानीय बने रहते हैं और पुरस्कारों से नवाज़े जाते हैं। वजह बहुत साफ है कि इस पुरुषप्रधान समाज में सारी चारित्रिक नैतिकता, मर्यादा, सीमाएँ औरतों के लिए हैं, कलाकार पुरुष का चारित्रिक स्खलन उसके लेखकीय कद को छोटा नहीं करता बल्कि यह एक स्वीकृत तथ्य है कि उसकी आवारगी उसकी कला के लिए ऑक्सीजन का काम करती है और इसलिए उसे इत्मीनान से नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है।

साक्षात्कर्ता ओमा शर्मा ने बहुत कुरेद-कुरेद कर यादव जी से थोड़े में बहुत कुछ कहलवा लिया है। उनके सवाल तीखे हैं, 'छुरा भोंकने वाला कहे कि मुझे तो तकलीफ नहीं हो रही, तुम्हें क्यों हो रही है?' 'एक अवस्था के बाद क्या पति-पत्नी एक-दूसरे को अदर दैन सेक्स डिस्कवर नहीं करते हैं?' पर कुछ व्यक्तिगत सवालों को यादव जी टाल सकते थे। कथादेश सम्पादक हरिनारायण को इस साक्षात्कार को सम्पादित कर छापना चाहिए था ताकि वह मन्नू जी को आहत होने से बचा लेते। सम्पादक को इतना अधिकार तो होता ही है। हाँ, मन्नू जी का आहत होना अगर उनकी रुकी हुई कलम के लिए संजीवनी का काम करता है जिसकी पूरी सम्भावना है तो इसका श्रेय भी एक हद तक ओमा शर्मा और हरिनारायण जी को जाएगा।

'हंस' का सम्पादन मुझे अपनी पुरानी रचनाओं को दुरुस्त करने का वक्त नहीं देता : राजेन्द्र यादव

साधना अग्रवाल से बातचीत

सा. अग्रवाल : राजेन्द्र जी, लगभग 17 वर्षों से निकलने वाला 'हंस' अब बालिग होने ही वाला है, आप 'हंस' का सम्पादन, प्रकाशन करते रहे हैं। आपकी दृष्टि में 'हंस' की मुख्य उपलब्धि क्या है?

रा. यादव : जब हमने 'हंस' निकाला था तो शुरू में हमारी इच्छा सिर्फ अपने समय की रचनात्मकता में हिस्सेदारी करना था और उनको रचना प्रक्रिया के साथ जोड़ना था। दूसरों की रचना प्रक्रिया के साथ जुड़ना अपने आपको जैसे **रिवाइज** और **रिवाइटलाइज** करने की इच्छा थी। क्योंकि मुझे यह लगता था जो अधिकांश पत्रिकाएँ हैं वो साहित्य को बनाती नहीं हैं, उससे साहित्य में जो लिखा जा रहा है, या जो भी कुछ लिख दिया गया है उसी का संकलन कर देती है। पत्रिकाएँ लिखने का, विचार करने का वातावरण भी बनाती हैं। तो हमने पहली बात तो यह रखी हंस में उस रूढ़ और प्राध्यापकीय अर्थ में साहित्य नहीं हो जिसमें या तो पुराने किसी कवि साहित्यकार को लेकर बात की जाए, पुराने कवि या लेखक में कोई नई बात देख ली जाए या भाषा और बिम्ब, शब्द-शक्ति या ऐसी ही सब साहित्यिक बातें जो अध्यापकों के लिए बड़े प्रिय विषय हैं जिन पर वे अपनी दार्शनिकता और विद्वता दिखा सकें। हमने सोचा कि ये साहित्य नहीं है और अगर है भी तो ये हमारे मतलब का नहीं है। हम चाहते थे कि साहित्य के क्षेत्र को व्यापकता दी जाए। तो पहला काम हमने यह किया कि साहित्य को एक व्यापकता दी और उन सवालों को भी साहित्य के साथ जोड़ा जो सवाल एक लेखक को, एक रचनाकार को परेशान करते हैं या रचना को बनाने या समझने में मदद देते हैं। समाजशास्त्रीय सवाल थे, राजनीति के सवाल थे, दार्शनिक सवाल थे या जो आन्दोलनों के साथ जुड़े हुए हैं। ये ऐसे सवाल थे जो बुद्धिजीवियों

के, लेखकों के लिए चिन्ता के विषय हैं। ऐसे ही सवालों को हमने लिया। कहना चाहिए कि हमने साहित्य को व्यापकता और विस्तार देने की मानसिकता से हंस को शुरू किया था। उसमें भी प्राथमिकता थी कि समाज साहित्य में जो उठती हुई शक्तियाँ हैं उनको रेखांकित करें। उन लोगों की आवाज सामने लाए जिनकी तरफ अभी तक किसी ने ध्यान नहीं दिया। कहना चाहिए ये हाशिए पर फेंके गए लोग थे, जिन्हें साहित्य में जगह नहीं मिलती है—स्त्रियाँ थीं, दलित थे, अल्पसंख्यक थे, आदिवासी थे और दूर-दराज के लोग थे जिनको मध्यवर्गीय साहित्य के मेनस्ट्रीम में जगह नहीं मिली थी। हमने साहित्य का दायरा दूर-दूर तक, गाँव-गाँव तक बढ़ाया इसी प्रक्रिया में धीरे-धीरे हमने देखा कि लोग उसमें बड़े जीवन्त ढंग से हिस्सा लेने लगे हैं। यह प्रक्रिया आज भी है। मैं यह बात थोड़े गर्व के साथ कहता हूँ कि हंस एक ऐसी पत्रिका है जो जीवन्त और जीवित ढंग से लोगों से जुड़ी हुई हैं। वह सिर्फ पढ़ने की चीज नहीं है, वह सोचने की भी चीज है। वह समस्याओं पर नए सिरे से विचार करने की चीज है। वह एक विवेकवादी दृष्टि का फैलाव करने की चीज है। पुराने सवालों को सिर्फ इसलिए कि वे पुराने हैं स्वीकार नहीं करना चाहिए, उनको जाँचना है, उन पर प्रश्न करना है, अस्वीकार करना है। हमारे यहाँ यह रिजेक्शन की वृत्ति सबसे कम है। जो है वह जमा कर लो, पुराना है या बड़ा अच्छा है, पवित्र है, जमा कर लो। तो जब तक रिजेक्शन की वृत्ति नहीं आएगी जब तक हम नए को स्वीकार नहीं करेंगे। मेरी इस बात पर लोग हमारा मजाक उड़ाते थे कि जब देखो तब दलितों की और स्त्रियों की बातें करते हैं लेकिन धीरे-धीरे मैं आज देखता हूँ पाँच-सात साल से कि कोई यूनिवर्सिटी, कोई संस्था, कोई भी जगह, कोई भी आन्दोलन, कोई भी साहित्यिक गोष्ठी बिना इन सवालों से टकराए आगे नहीं बढ़ती। अगर इसको बहुत बड़बोलापन न कहा जाए तो हाशियों पर बहती धारा को केन्द्र में लाने का काम, मेनस्ट्रीम बना देने का काम जिन कुछ थोड़ी-सी पत्रिकाओं ने किया है उनमें 'हंस' शायद बहुत प्रमुख है। और ये काम आज तक हिन्दी में कभी किसी पत्रिका ने नहीं किया कि जो चीजें अननोन, अननोटिस्ड रहती थीं उन्हें सामने लाया जाए और उन्हें केन्द्र में स्थापित किया जाए। उन्हें मेनस्ट्रीम बना दिया जाए और यह स्थिति लाई जाए कि अगर आप उन पर बात नहीं करते तो आप खुद पिछड़े हुए हैं या खुद माईनोरिटी में हैं। मैं समझता हूँ कि इससे ज्यादा एक पत्रिका को और क्या चाहिए। एक प्रचलित शब्द है, 'आन्दोलन' मैं इस शब्द का इस्तेमाल नहीं करना चाहता। यह एक ऐसा काम है जो सब मिलकर करते हैं। यानी हमारे लेखकों ने, विचारकों ने, चिन्तकों ने, रचनाकारों ने मिलकर एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है बिना दलित और स्त्री की बात किए, बिना अल्पसंख्यकों की या दूसरे उपेक्षित लोगों की बात किए आज साहित्यिक चर्चा पूरी नहीं होती। पचासों थीसिस लिखी जा रही हैं, अनेकों यूनिवर्सिटी में पढ़ाया जा रहा है, हर क्षेत्र में उनकी बात हो रही है तो इससे ज्यादा और क्या चाहिए किसी-पत्रिका को। मुझे लगता है कि यही हंस की सार्थकता है। यहाँ मैं अकेला नहीं हूँ। मैं तो सिर्फ एक माध्यम और निमित्त मात्र हूँ।

सा. अग्रवाल : दलित, स्त्री विमर्श या कहानी की समकालीनता को आप रेखांकित किस तरह करना चाहेंगे?

रा. यादव : देखो, जैसा अभी कहा कि इनकी बात कभी नहीं सुनी गई। इन पर लोगों ने सहानुभूति से लिखा लेकिन खुद इनकी आवाज नहीं सुनी गई। जैसे अभी हम मुसलमान अंक निकाल रहे हैं जिसे देखो उसके पास मुसलमानों की समस्या के समाधान हैं, लेख हैं। पचासों लेखकों ने हमसे कहा कि इसमें हम भी लिखेंगे। लेकिन हमने मना कर दिया। मैंने कहा कि हम तो सब पर लिखते ही रहे हैं। हम तो अधिकारी अपने को मानते ही हैं सब पर लिखने पर। दुनिया की कोई समस्या हो, हमारे अपने विचार हैं, दौड़ पड़ते हैं। लेकिन जिनकी समस्या है उन्हें भी तो बोलने दो। तो हमने तय कर लिया है कि उसमें हम यह कोशिश करेंगे कि सिर्फ वहीं लिखें। हम, आप अपनी किताबों में, अपने क्लासरूम में सब जगह लिखते रहिए। हमें कोई हक नहीं है कि दूसरों की समस्या को हम अपने ढंग से सुलझाएँ। इसी तरह से हम दलितों और स्त्रियों की बात करते हैं। उन्हें बोलने दिया जाना चाहिए।

सा. अग्रवाल : इस सच्चाई के बावजूद कि दलित और स्त्री विमर्श को साहित्य की मुख्य धारा में लाने का काम आपने किया। कुछ लोग इसको लेकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और इस श्रेय से आपको वंचित करना चाहते हैं इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

रा. यादव : देखो, श्रेय लेने की हमारी कोई इच्छा नहीं है। लेकिन यह जरूर है कि जो वंचित करना चाहते हैं वे खुद अपने को उपेक्षित महसूस कर रहे हैं। उन्हें लग रहा है कि यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण चीज है जिसमें उनकी हिस्सेदारी नहीं है। उनकी तकलीफ यह है और इसलिए एक तरह से वे प्रतिरोध करते हैं। वह प्रतिरोध अपने को शामिल न किए जाने का है। वरना आज ऐसा कोई भी विद्वान नहीं है पूरे हिन्दी जगत में, जो इन् पर अपनी बात न कहना चाहता हो। ठीक है उनका अपना दृष्टिकोण है, ग़लत है या सही, उसे नहीं कह रहा लेकिन सबका अपना विचार है। कोई यूनिवर्सिटी, कोई भी बड़े से बड़ा प्रो. कोई गड़े से गड़ा मुर्दा भी इस समय यह नहीं कह सकता कि दलित पर मेरे विचार नहीं हैं। उनके विचार हैं और वे सब चाहते हैं कि लिखें और दुर्भाग्य से हंस में ही लिखना चाहते हैं जिनकी चीज हम नहीं लेते उनको शिकायत है। तो श्रेय की क्या बात है? एक चीज थी जो सामने आ गई। और दूसरे कई फैक्टर थे मैं अकेला तो हूँ नहीं। सब लेखकों का श्रेय है जो हंस के साथ जुड़े हुए हैं उनका श्रेय है, जो हंस पढ़ते हैं और ये समझते हैं कि हंस एक अनिवार्य पत्रिका है उनका श्रेय है मेरा क्या है पत्रिकाएँ तो बहुत निकलती हैं।

सा. अग्रवाल : कुछ लेखकों का आप पर आरोप है कि उनके रचनाकार की सम्भावना के आप हत्यारे हैं। वर्षों तक उनकी रचनाओं को दबाकर उनके धैर्य की परीक्षा लेते हैं वहीं दूसरी ओर पसन्दीदा खूबसूरत लेखिकाओं को बिना पूर्व घोषणा के भी छाप देते हैं। इस पर आप अपनी ओर से कोई सफाई देना चाहेंगे?

रा. यादव : पहली बात तो यह है कि 'हंस' एक ऐसी पत्रिका है जिसकी

अपनी सीमाएँ हैं। अगर हरेक की इच्छा रखें और इच्छा रखते-रखते यानि उदारता में हमने दो सौ रचनाएँ इकट्ठी कर लीं अब या तो हम उन्हें दो साल रखें तीन साल रखें तो दूसरी गाली और फौरन लौटा दें तो यह कि हंस में कुछ लेखकों के लिए जगह है। बड़ी मुश्किल है। आप छापिए तो मुश्किल, न छापिए तो मुश्किल। अब 500 पेज की तो हंस हम नहीं निकाल सकते हरेक की इच्छा पूरी करने के लिए। अगर मुझे महीने में 10 भी ऐसी कहानियाँ मिलीं या रचनाएँ मिलीं जिनको मैं छापना चाहता हूँ और मैंने उनको रख लिया। और साल भर में मालूम हुआ 500 रचनाएँ जमा हो गईं जबकि 5-6 से ज्यादा हम दे नहीं सकते क्या करें। जिनको साल-दो साल हो जाता है वे गालियाँ देते हैं। ये गालियाँ तो एक तरह से हमारी नियति हैं और यदि उनको लौटा दें तो यह आरोप कि कुछ रचनाकारों के लिए जगह है हमारे लिए तो जगह ही नहीं है। तो क्या किया जाए। मैं तो कहानी पढ़ते हुए भी डरता हूँ क्योंकि यदि अच्छी लगेगी तो रख लूँगा। रख लूँगा तो दो साल पड़ी रहेगी। इसमें दिल्ली वाले लोग इतने दुष्ट और बदमाश हैं कि वे साँस नहीं लेने देते वे चाहते हैं कि दुनिया की सारी रचनाएँ जला दी जाएँ सिर्फ उनकी छपे क्योंकि उनके पास टेलीफोन है। दौड़ कर आ जाते हैं कि हमारी रचना का क्या हुआ। महीना भर हो गया अभी छपी नहीं। तो दिल्ली वाले यदि 50 या 20 लोग भी ऐसे हैं बाकी तो वे किसी को छापने ही नहीं देंगे। टोक सकते हैं वे फोन कर सकते हैं, आ सकते हैं कि हमारी रचना 6 महीने से रखी है आपने छापी नहीं। मैंने उनसे कहा कि 6 महीने के लिए नहीं आप अगर 3 साल के लिए यदि तैयार हों तो रचना भेजिए वरना मत भेजिए। मेरी मजबूरी है मैं नहीं छाप सकता। मैं हंस को 200-250 पेज की पत्रिका नहीं बना सकता। अगर 200-250 पेज की भी बना दूँगा तो उतनी ही रचनाएँ आएँगी। दिक्कत यह है कि हंस जैसी हिन्दी में 5 पत्रिकाएँ चाहिए तब रचनात्मकता का सही रिप्रजेन्टेशन हो पाएगा। दुर्भाग्य से 4-5 पत्रिकाएँ हैं जो इस तरह छाप सकती हैं जैसे वागर्थ है, नया ज्ञानोदय आ गया है, कथादेश, वर्तमान साहित्य और आजकल है, साक्षात्कार है। जो सरकारी पत्रिकाएँ हैं जो रूढ़ किस्म की हैं, अध्यात्म किस्म के लोगों की हैं उनमें कोई छपना नहीं चाहता क्योंकि वे निर्जीव किस्म की हैं। वे सो कॉल्ड कलात्मक कहानियाँ छापते रहते हैं। जिन लेखकों के भीतर आग है, तड़प है, गुस्सा है उसके लिए उनके यहाँ कोई जगह नहीं है। तो ले-देकर 2-3 पत्रिकाएँ रह जाती हैं उन्हीं पर सारा प्रेशर (दबाव) है।

देखो, पहली बात तो है कि यह शुद्ध पुरुष मानसिकता है। हंस के एक अंक में सब मिलाकर यदि 25 लेखक छपते हैं उसमें यदि 2 औरतें आ गईं तो लोग शोर मचा देते हैं कि देखिए लड़की आ गई, लड़की आ गई। यह पता नहीं, ऐसा लगता है कोई भुक्कड़ किस्म के ब्रह्मचारियों का आश्रम है जिसमें एक लड़की आ गई तो ताली बजा-बजा कर बताने लगे कि लड़की आ गई, लड़की आ गई। 33 प्रतिशत यदि मैं छापने लगूँ तो पता नहीं क्या करेंगे कि महिलाओं की पत्रिका है। जबकि दो या तीन से ज्यादा एक अंक में आज तक महिलाएँ नहीं छपीं। दो महिलाओं की कहानियाँ

होंगी या तीन की होंगी। इतना भी रिप्रजेन्टेशन नहीं रहने देना चाहते। यानि इतनी भी जगह नहीं देना चाहते कि दस लेखकों में दो लेखिकाएँ आ गईं तो उनके प्राण निकलने लगते हैं। यह निहायत बेवकूफी का आरोप है। खूबसूरत महिलाओं की बात पर मैं कहना चाहता हूँ कि इनमें अधिकांश लेखिकाओं को मैंने उनकी दो-तीन कहानियाँ छापने के बाद देखा और इसका सबसे बड़ा उदाहरण गीताजंलिश्री है। गीताजंलि सूरत में रहती थी। शुरू में लगभग 1986-87 में उसकी कहानी मुझे मिली। गौतम हमारे दोस्त हैं। ज्ञानेन्द्र पाण्डे उनके दोस्त थे। उन्होंने हमसे कहा कि मेरी बहन ने कहानी लिखी है। कहानी हमारे पास आई। कहानी हमें अच्छी लगी। हमने उसको लिखा कि कहानी आपकी अच्छी है। कुछ और लिखी हो तो बताएँ ताकि हम चुनाव करके आपकी सर्वश्रेष्ठ कहानी दें तो उसने जवाब दिया कि मेरी आज तक कोई कहानी नहीं छपी। उसने तीन कहानियाँ भेज दीं। तीनों हमें अच्छी लगीं। हमने सोचा क्या करें। मन में उत्साह था कि नई लेखिका पहली बार छपने वाली, उसकी एक साथ तीन कहानियाँ दे दें या लगातार तीन दें। खैर, हमारे यहाँ जब कहानी छपने जाती है उसके बाद लेखक का परिचय मँगाया जाता है उससे पहले नहीं मँगाया जाता। हरिनारायण इस वात के गवाह हैं उन्होंने चिट्ठी लिखी कि यह कहानी हम आपकी छाप रहे हैं आप अपना परिचय भेज दीजिए। परिचय आया, फोटो देखी, हरिनारायण जी से आप फोन पर पूछ सकती हैं। हमने हरिनारायण जी से कहा कि इसकी तीनों कहानियाँ छापें, एक-एक करके क्योंकि संयोग से लड़की खूबसूरत है तो लोग कहेंगे कि सुन्दरता देखकर छाप रहे हैं। खैर हमने छापा, यह अलग बात है। मैं उससे डेढ़-दो साल बाद मिला हूँ, उससे पहले नहीं मिला। एक सज्जन को हमने छापा। अब उसके बाद उनके यहाँ से चिट्ठी आई कि देखिए, साहब यह तो युवा भी नहीं है उन्होंने झूठ बोलकर कहानी छपवाई है जबकि उनकी उम्र 60-65 साल है। हमने उनको लिखा कि हमें उससे मतलब नहीं है कि सज्जन क्या हैं उनकी उम्र कितनी है। कहानी आई थी, कहानी हमें अच्छी लगी। उन्होंने लिखा कि आपने उनकी दस किताबों का नाम लिख दिया जबकि उनकी एक भी किताब नहीं छपी। तो ऐसा नहीं है। एक से एक खूबसूरत लड़कियाँ आती हैं तो क्या हम उन सबकी कहानियाँ छाप देते हैं। असम्भव है। यह हो ही नहीं सकता कि कोई अपने चेहरे के बल पर छप सके। जया जादवानी को मैंने दो साल बाद देखा उसकी कहानी छपने के। पता नहीं लोगों में क्यों इस तरह की कुण्ठाएँ हैं। जबकि दसियों लेखिकाएँ ऐसी हैं जो देखने में हेमामालिनी नहीं हैं उनकी भी हम रचनाएँ छाप रहे हैं। मुझे रचना ही पसन्द होती है इसके अलावा कुछ नहीं होता। जब मुझे रचना अच्छी लगती है तो मैं आउट ऑफ वे भी चला जाता हूँ जैसे मैं नहीं जानता मंजरी दुबे कौन हैं? उसकी कविता आई मुझे बहुत अच्छी लगी, ताजी लगी। मैंने फौरन छाप दिया। आज तक मैंने उसकी शक्ल नहीं देखी उसकी तस्वीर नहीं देखी है। पवन करण की मैंने तस्वीर नहीं देखी थी, जानता नहीं था, कौन है, उसकी रचना छापी। सुधीर सक्सेना की कविताएँ हमें बहुत अच्छी लगी थीं। हम नहीं जानते थे कि सुधीर सक्सेना कौन है?

मैं उनसे उनकी रचना छपने के 15 साल बाद मिला हूँ। दिल्ली में रहते मुझे 40 साल हो गए यदि व्यक्तिगत बात करें तो हंस पूरी पत्रिका व्यक्तिगत रूप से निकाली जा सकती है। जानती हो, मैं मिलने-जुलने वाला आदमी हूँ सबसे मिलता-जुलता हूँ मुझे अच्छा लगता है। लोग समझते हैं कि हमारी इनसे इतनी आत्मीयता है कि जो चाहेंगे इनसे छपवा लेंगे जबकि ऐसा नहीं है। रचनाओं की बात तो गर्व के साथ कह सकता हूँ कि जितने नए रचनाकार 'हंस' ने दिए हैं। मेरा ख्याल है किसी पत्रिका ने नहीं दिए हैं। जिनकी कभी कोई रचना नहीं छपी वो सबसे ज्यादा 'हंस' में छपे हैं। आज भी जो कम जाने जाते हैं उन रचनाकारों की संख्या हमारे यहाँ ज्यादा है। होता क्या है कि यदि हमें 10 कहानियाँ देनी हैं एक अंक में। दस कहानियाँ हमने देखीं लगा कि सब एक ही तरह की जा रही हैं जैसे मान लीजिए बूढ़ों पर ही जा रही हैं, तो हम देखेंगे कि इनको विविधता देने के लिए क्या हमारे पास ऐसी कुछ कहानियाँ है जो इसमें विविधता दें। मतलब विविधता भी हो और संपूर्णता भी हो यानी सब तरफ के लोग हों सिर्फ यह न हो कि केवल बिहार के ही भरे हों बल्कि पूरे देश के लोगों की भागीदारी हो। इसलिए कुछ हम म. प्र. के भी लेंगे, कुछ राजस्थान के भी यानि हमारे पास जो रचनाएँ हैं उन्हीं में से छाँटेंगे। तो उनमें हो सकता है कोई तीन साल से पड़ी हों, कोई एक साल से रखी हो वो आ जाएँ। तो यह हिसाब-किताब तो चलता रहता है। मान लीजिए दसों कहानियाँ बूढ़ों की हैं तो हमको लगता है कि कुछ दूसरे विषय की भी होनी चाहिए। हमारे यहाँ एक स्तम्भ है 'बीच बहस में' जिसमें लोगों के छोटे-छोटे कमेन्टस आते हैं उसमें हमें लगा कि कोई विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है इसको देना है तो उसको दे देते हैं। थोड़ा सामयिकता का ध्यान तो रखना ही पड़ता है। मुझे अफसोस है कि सावरकर के ऊपर हमारे पास एक बहुत अच्छा लेख है, हमें वो देना चाहिए था। तो हो सकता है कि तीन चीजें छोड़कर मैं उसे दे दूँ। चुनी हुई रचनाओं में से आगे-पीछे थोड़ा करना पड़ता है। कोई महत्त्वपूर्ण किताब आई उस पर समीक्षा जानी चाहिए। जैसे संजीव का उपन्यास है सूत्रधार। मैं समझता हूँ कि महत्त्वपूर्ण उपन्यास है या चन्द्रकिशोर जायसवाल का 'चिरंजीव' है तो एडजस्टमेंट तो कुछ करने पड़ते हैं। लेकिन यह कहना कि वह पक्षपात है लेकिन पक्षपात से ज्यादा हंस और समय की जरूरत है। मेरी कोशिश है कि 'हंस' को एक जीवंत पत्रिका बनाए रखना है। इसलिए व्यक्तिगत लिहाज नहीं होता। व्यक्तिगत लिहाजों से पत्रिकाएँ मर जाती हैं। जब तक मुझे रचना पसन्द नहीं आएगी तब तक नहीं छापूँगा। इस बात के गवाह हमारे यहाँ काम करने वाले लोग हैं। क्योंकि मैं रचना अकेले नहीं पढ़ता हूँ कम से कम तीन आदमी पढ़ते हैं—गौरीनाथ पढ़ते हैं, अर्चना पढ़ती हैं और कभी-कभी जो आता-जाता है उससे भी पढ़वा लेते हैं। इससे ज्यादा और क्या होगा कि मेरा खुद का लेख इन्होंने नहीं छापा। मैंने 'होना/सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ' लिखा था, मैं उसे हंस में देना चाहता था। वीणा ने उसे टाइप किया। उसने कहा कि देखिए टाइप करना मेरा काम था उसमें जो भी लिखा हो मुझे मतलब नहीं है लेकिन यह हंस में नहीं जाएगा। अर्चना ने कहा—यह हंस में नहीं छपेगा। नहीं छपेगा तो नहीं छपेगा।

तो यह बताओ कि मैं अपने लिए इतना क्रूर हो सकता हूँ दूसरे के लिए क्यों नहीं होऊँगा। बहुत-सी चीजें होती हैं। आप समझ को लेकर आपत्ति कर सकते हैं कि आपकी यह समझ है मैं मान लेता हूँ समझ नहीं है। लेकिन यह कहना कि किसी षडयन्त्र का हिस्सा है, कोई नियति इसके पीछे है, कोई योजना है तब मैं कहूँगा कि आपने 17 साल में सिर्फ घास खोदी है हंस नहीं देखा? आप बेवकूफ हैं, आपमें पढ़ने की तमीज नहीं है। 17वें साल में आप यह कहते हैं कि परिचय के आधार पर वे रचनाएँ छपी हैं दोस्ती के आधार पर छपी हैं, खूबसूरती के आधार पर छपी हैं तो हंस के निकलने का फायदा क्या है? हंस का कंस्ट्रीब्यूशन जो आप बता रहे हैं वह कस्ट्रंीब्यूशन कहाँ रह जाता है? फिर तो ठीक है फिल्मी पत्रिका हम निकाल देंगे।

सा. अग्रवाल : राजेन्द्र जी, आप तो कविता के कुख्यात विरोधी हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि समकालीन कविता को समझने के लिए जिस संवेदनशीलता की जरूरत होती है। वह शायद आपमें नहीं है?

रा. यादव : पहली बात तो यह गलत है कि मैं कविता का विरोधी हूँ। मैं खराब कविता का यानि उस कविता का विरोधी हूँ जो इतनी ज्यादा बारीक हो कि सिर्फ चार दोस्तों के बीच में रह जाए और मेरा दावा यह है कि यह जो कविता हमें पढ़वाई जा रही है सूक्ष्म संवेदना और उच्चतर आध्यात्मिक विचारों वाली, इसको पढ़ने के लिए जब तक आपके पास पश्चिमी कविता की सेंसेबिलिटी नहीं है तब तक आप इसे समझ नहीं सकते। और यह कुछ पाँच दोस्तों के बीच वाली कविता है जैसा उर्दू शायर करते हैं उर्दू का कोई शायर आज तक ऐसा नहीं हुआ जिसने नई रचना लिखी हो और महफिल में न सुनाई हो। और जब वहाँ से एक तरह से उसको एप्रूवल मिल जाता है तब कविता छपती है फिर आप चार-चार हजार की भीड़ वाले मुशायरों में पढ़ते थे। इनमें आज किसी में हिम्मत है। हिन्दी का कोई कवि पढ़ सकता है? फिराक हों फैज हों, कोई भी बड़े से बड़ा कवि हो, उन्होंने मुशायरों में कविता पढ़ी। यहाँ तो सुविधा के लिए हमारे यहाँ कमरे में बन्दवाला साहित्य एक है और मंच के लिए दूसरा। नतीजा यह हुआ मंच वाला भांडों के हाथ में चला गया और कमरे वाला आध्यात्मिक सन्तों के हाथ में, जो अपने-अपने एंटीने निकालकर पता नहीं किस दुनिया की भाषा लाते हैं। मुझसे सिर्फ सबको यह शिकायत है कि मैं इनके बौद्धिक आतंकवाद में नहीं आता हूँ। मैं कहता हूँ यह रद्दी कविता है बकवास है। इसको आप लिखिए और अपने घर रखिए। कविता का विरोधी मैं कैसे हो सकता हूँ। मुझे एक से एक अच्छी कविता याद है। मैं बातचीत में कविताएँ सुनाता हूँ, कविताएँ पढ़ता हूँ आई ऐप्रिशियेट गुड पोएॅट्री। आप यह कहें कि मेरी सेंसिबिलिटी बड़ी गलत है, होगी, मेरी सीमा है। लेकिन यह सही है कि जिसे सिर्फ पाँच लोग पढ़ें वह कविता कैसे है? मतलब एक ने लिखी दूसरे ने पढ़ दी तीसरे ने उसकी बहुत तारीफ कर दी। सुरेश सलिल जैसे बहुत लोग हैं जो जिन्दगी भर पश्चिमी कविता का अनुवाद करते हैं उसी तरह की कोई चीज यदि दिखाई दे जाती तो उसकी बैठकर तारीफ कर लेते हैं उनकी सारी सेंसेबिलिटी बाहर से भरी हुई है। तो यह कोई कविता है। हम भी जानते

हैं बाहर क्या कविता लिखी जा रही है। आप वहाँ से ब्लैक लिटरेचर की, अफ्रीका की एक से एक क्रान्तिकारी कविता लाकर रख देते हैं और उसकी तारीफ में पन्ने रंग देते हैं। आपको यहाँ कोई नहीं दिखाई देता। आप अन्धे हैं। अगर आपकी समझ सिर्फ यह है कि कविता सिर्फ वहाँ होती है। यहाँ जो कर रहा है वह घास खोद रहा है तो ठीक है। हम भी कहेंगे कि आप जो आलोचना कर रहे हैं आलोचना तो वहाँ होती है आप वहाँ की सारी शब्दावली उधार लेकर हमारे ऊपर लाद रहे हैं। हम उसको मानने वाले नहीं हैं। इसलिए यह कहना गलत है कि मैं कविता-विरोधी हूँ खराब कविता का जरूर विरोधी हूँ।

सा. अग्रवाल : अब तो 'हंस' निकालते आपको एक लम्बा अरसा हो गया है। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि 'हंस' का ढाँचा काफी रूढ़ और पारम्परिक हो गया है और उसे बदलने की जरूरत है?

रा. यादव : पहली बात तो यह है कि अगर किसी व्यक्ति का बच्चा है वह चलना शुरू करता है फिर उसका एक व्यक्तित्व बनता है। उस व्यक्तित्व बनने को आप रूढ़ कहते हैं उसे विकसित होना और वयस्क होना क्यों नहीं कहते? किसी भी व्यक्ति का किशोर काल में कोई व्यक्तित्व नहीं होता। व्यक्तित्व धीरे-धीरे बनता है। अगर वह ढाँचा रूढ़ हो गया है तो वे मेरी सीमाएँ हो सकती हैं और इसलिए उसी को तोड़ने के लिए मैंने जितने विशेषांक निकाले हैं, दूसरों से सम्पादित कराए हैं। ताकि कुछ दूसरी चीजें आएँ। अभी मुसलमान अंक निकलने वाला है। उसको असगर वजाहत सम्पादित कर रहे हैं। तो यह कहना रूढ़ हो गया मैं नहीं मानता। अभी 200वाँ अंक आ रहा है। उसको गौरीनाथ सम्पादित कर रहे हैं। मैं तो कोशिश करता हूँ हर बार कि अगर चीजें मुझ तक सीमित हैं, कुछ सीमाएँ हैं तो मुझे बाहर से लाकर उनकी मदद लेनी चाहिए और वे लोग सहयोग कर रहे हैं! इसलिए यह कहना रूढ़ हो गया है, गलत है। उसको मैं इस तरह कहूँगा कि उसका एक चरित्र बन चुका है लेकिन फिर भी उस चरित्र को मैं इस तरह अपने जो निमन्त्रित साहित्यकार हैं, अतिथि सम्पादकों के जरिए तोड़ता हूँ। मैंने पहले विभूति नारायण राय से सम्पादकीय लिखवाया था, प्रेमकुमार मणि ने लिखा, बीच में किसी और का गया। मुझे यह सवाल समझ में नहीं आया।

सा. अग्रवाल : इस बात में कितनी सच्चाई है कि 'हंस' ने आपके रचनाकार को नष्ट किया। मुझे तो ऐसा नहीं लगता क्योंकि जब-तब प्रकाशित आपकी रचनाओं से आपके भीतर का क्रियेटिव अब भी झाँकता नजर आता है?

रा. यादव : नहीं, 'हंस' से एक चीज तो हुई है कि जो हर महीने का बोझ है एक अंक जाता है तब उसके चार-पाँच दिन बाद ही दूसरे अंक का बोझ आ जाता है। यह मुझे कोई दूसरी चीज नहीं सोचने देता। आदमी की एक कंडिशनिंग हो जाती है। अगर आप फोटोग्राफर हैं तो आपको हर दृश्य एक फोटो के अंश के रूप में ही दिखाई देगा। तो हर चीज मुझे 'हंस' के सन्दर्भ में दिखाई देती है। अपना सोचना कुछ करना लगभग स्थगित हो गया है। अब जैसे इस बार 200वाँ अंक गौरीनाथ

निकालेंगे मुझे महीने भर का समय मिल जाएगा। हो सकता है इस बीच मैं अपनी किसी पुरानी रचना को ठीक कर दूँ जो पड़ी हुई है और जिसकी वजह से संग्रह रुका हुआ है पिछले पाँच-छह साल से तो मेरे दिमाग में उसको ठीक-ठाक करके देखने का विचार है। रचनाकार को मारना तो नहीं लेकिन अक्सर होता है। शायद प्रेमचन्द जब हंस निकालते थे तो उतनी दिक्कत नहीं थी या उनमें क्षमता इतनी ज्यादा थी कि वह हंस भी निकालते थे, जागरण में भी लिखने लगे थे, अपनी रचनाएँ भी लिखते थे लेकिन शायद दिल्ली की या आज की जिन्दगी इतना टाइम नहीं देती। अब पंकज बिष्ट 'समयांतर' निकाल रहे हैं उनको साँस लेने का टाइम नहीं मिलता हालाँकि उनकी 32 पेज की छोटी-सी पत्रिका है लेकिन फिर भी पूरे महीने वह उनको घेर कर रखती है। जो लोग लिखते रहे हैं जैसे धर्मवीर भारती ने 'धर्मयुग' निकाला तो उनके पास बहुत बड़ा स्टॉफ था 15-20 लोग थे फिर भी कहना चाहिए कि उन्होंने कुछ नहीं लिखा। ऐसा ही है सम्पादन में यह होता ही है। एक तो आपको रचनात्मक सन्तोष, दूसरों की रचनाएँ पढ़कर आपको ऐसी खुशी होती है कि जैसे आपने खुद ही लिखा हो। एक तो यह कि लेखन का जो दबाव है वह वहाँ निकल जाता है और दूसरे समय नहीं होता। सचमुच दिल्ली में अपने साथ अकेले बैठने का टाइम कहाँ मिलता है? रचना के लिए आपको अपने साथ रहना पड़ता है लम्बे वक्त तक, जो सम्भव नहीं है। आप भले ही जब बाहर चले जाइए तब भले ही अपने लिए टाइम मिलता हो। जब मैं बाहर जाता हूँ तब मुझे सचमुच आते-जाते, ट्रेन में, प्लेन में या वहाँ थोड़ा-बहुत टाइम अपने लिए मिलता है। वरना यहाँ तो टाइम मिलता ही नहीं है—आज इससे मिलना है कल उससे मिलना है। चिट्ठियाँ बहुत आती हैं। इधर 2-3 साल से चिट्ठियाँ बहुत आने लगी हैं रोज लगभग 30-35, 50 पत्र तरह-तरह के आते हैं। हमारे पास स्टॉफ इतना है नहीं, ले-देकर दो आदमी है पूरी मैग्जीन निकालते हैं 100 पेज की। मैं हूँ, गौरीनाथ हैं और पार्ट टाइम जिसे कैजुयली कहिए कि 15 दिन में घंटे भर को अर्चना आ जाती हैं। जो रचनाएँ ले जाती हैं, पढ़ लेती हैं तो इस तरह हम दो लोग मिलकर इस मैग्जीन को निकाल रहे हैं जबकि सारिका जो कुल 80 पेज की थी उसमें आठ आदमी थे जिनकी चिन्ता न छपाई थी, न पब्लिसिटी थी, न डिस्ट्रब्यूशन था तो इस तरह वे लोग केवल मैटर देखते थे, निश्चिन्त थे। वह सुविधा हमारे पास कहाँ है? हमारे पास यदि इस तरह का एक ही आदमी हो तो हमें बहुत रिलीफ मिल जाए।

सा. अग्रवाल : राजेन्द्र जी, जब-तब आपने-अपने साक्षात्कार में कहा है कि आपके पास कुछ उपन्यास और कहानियाँ अधूरी पड़ी हैं। उनको पूरा करने का समय आप कब निकालेंगे? नामवर जी तो वाचिक परम्परा में चले गए। आपके बारे में मेरा यह सोचना क्या गलत होगा कि शायद आप तीसरी परम्परा की खोज में लगे हैं?

रा. यादव : तीसरी-बीसरी कोई परम्परा नहीं है। नामवर जी के लिए लिखना असम्भव है यह बात सही है। मैंने जो पुरानी चीजें देखी हैं तो मुझे लगा कि वह आज

की भाषा, स्तर, कहानी देखने का तरीका सब कुछ इतना बदल गया है कि वह एक 'नास्टेलजिया' तो जरूर है लेकिन मुझे उसकी कुछ बहुत प्रासंगिकता दिखाई नहीं देती। वह 'नई कहानी' के जमाने की मानसिकता है। एक खास तरह का उसमें रोमान्टिसिज्म भी है इसलिए मन भी नहीं होता उनको करने का। हालाँकि बहुत ज्यादा नहीं है लेकिन जो भी लिखा हुआ है कम से कम दो उपन्यास तो हैं ही। अगर लिख भी दूँ मैं और वो पूरे भी हो जाएँ तो वह बीते समय का ही था उसी समय की चीजें हैं लेकिन ऐसा नहीं है जिस तरह आज लिखा जा रहा है। एक तरह से सारी चीजें बदल गई हैं। वो न तो भाषा है मेरे पास, न संवेदना है न वह देखने का दृष्टिकोण है, न कहानी को उस तरह रखने का कौशल है। इसलिए यह लगता है कि आपकी एक पुरानी तस्वीर है जो आपको अच्छी लगती होगी लेकिन आज के लोगों के ऊपर एक बोझ बना दिया जाए बल्कि लोगों की शिकायत भी है लेखिकाओं से कि अपनी बीस साल वाली तस्वीर दे देती हैं। जबकि खुद 50 साल की हैं। जिस तरह वह एक चीज असंगत है और विडम्बनात्मक स्थिति पैदा करती है। यही बात इसके साथ भी है। रचनाओं के साथ भी है। पुरानी तस्वीर हैं कभी-कभी अकेले में एलबम में देख लीजिए प्रसन्न हो लीजिए, उसको लोगों के ऊपर क्यों लादते हैं?

सा. अग्रवाल : साहित्य में लोग जैसे नामवर जी, अशोक वाजपेयी इत्यादि आपको गम्भीरता से क्यों नहीं लेते हैं? 'वर्तमान साहित्य' के आलोचना शताब्दी अंक में अरविन्द त्रिपाठी ने जो आप पर भद्दे आरोप लगाए हैं इस पर कुछ टिप्पणी करेंगे?

रा. यादव : मुझे मालूम नहीं है कौन कितनी गम्भीरता से लेता है, नहीं लेता है। उससे मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। अगर मैं दूसरों के विचार की चिन्ता करता तो 'हंस' को मैंने जो बनाया है, असम्भव था। राजस्थान की एक प्रसिद्ध कहावत है—जन-जन का मन राखिए वेश्या रह गई बाँझ। तो हरेक का मन रखेंगे तो आपका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होगा। जिस तरह शुरू में इन्होंने 'हंस' को नहीं माना था। आज सब 'हंस' को महत्त्व देने लगे हैं यहाँ तक कि अशोक वाजपेयी भी नामवर जी भी और भी सारे लोग। उनके दिमाग में कहीं न कहीं 'हंस' का महत्त्व है। उन लोगों के सोचने का अपना तरीका है, मेरा तरीका अलग है। मुझे उनसे न समर्थन चाहिए न सर्टिफिकेट चाहिए। मैं समझता हूँ मेरे पास जिस तरह का पाठक वर्ग है, जिस तरह के मित्र हैं उनकी निगाह में यदि मैं गलत नहीं हूँ तो इन लोगों से मुझे कुछ फर्क नहीं पड़ता। इन लोगों का ऐसा कौन-सा योगदान है जैसे नामवर जी ने साहित्य को क्या दिया वे सिवा दूसरों पर राय देने के क्या करते हैं? अशोक वाजपेयी विदेशी कवियों को लेकर 'कभी-कभार' करते रहते हैं। कोई सैद्धान्तिक काम, आलोचनात्मक काम, कोई गम्भीर काम तो उन्होंने किया नहीं है। तो इन लोगों की चिन्ता मुझे नहीं है। जहाँ तक अरविन्द त्रिपाठी की बात है ये तो सब अनपढ़ लोग हैं, मैं इनको सीरियसली नहीं लेता। अरविन्द त्रिपाठी हो या छोटे सुकुल हों, इन पर क्या बात की जा सकती है। कोई पागल आदमी गाली देता है उसको मैं क्यों गम्भीरता से लूँगा?

वह खुद अपने को एक्सप्लोर कर रहा है। मैं नहीं समझता उस पर कोई बात करने की जरूरत है।

सा. अग्रवाल : राजेन्द्र जी, अपने जीवन और प्रेम प्रसंगों को लेकर खुलकर लेकिन संकोच के साथ आप इतना कुछ लिख चुके हैं कि मुझे नहीं लगता कि आपके लिए अब कुछ और खोना है, फिर आप व्यक्तिगत जीवन के कटु सवालों से क्यों बचना चाहते हैं?

रा. यादव : मैं बिल्कुल नहीं बचता, देखो, जैसा मैंने अभी कहा कि लोगों की जिन्दगी का जो महत्त्वपूर्ण भाग है, जो समाज का बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, उसको लोग नहीं बोल रहे हैं। मैंने बोलना शुरू किया। प्रेम प्रसंग किसकी जिन्दगी में नहीं होते हैं। कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो यह कह सके कि मेरे साथ कोई प्रेम प्रसंग नहीं हुआ, मेरे साथ कोई अफेयर नहीं हुआ, मैंने किसी लड़की की तरफ झाँका नहीं। दुनिया का कोई लेखक ऐसा नहीं कह सकता लेकिन वे हिपोक्रेट हैं। जिस तरह साहित्य में एक तरह की हिपोक्रेसी थी, कुछ चीजों को सामने नहीं आने दिया जाता था। इसी तरह व्यक्तिगत जीवन में भी कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें दबा-ढका कर रखा जाता था कि भई ये साहित्य की चीजें नहीं हैं। तो कुछ हमने मान लिया था कि ये साहित्य के विषय हैं, ये साहित्य के विषय नहीं हैं। जो सामाजिक अन्याय करता था और व्यक्तिगत रूप से आपको हिपोक्रेट बनाता है। हरेक के साथ प्रेम प्रसंग हैं उनमें से कोई लिखने की हिम्मत नहीं करता मैंने सिर्फ इतना किया कि चाहे वो सामाजिक प्रश्न हों, चाहे राजनैतिक प्रश्न हों, चाहें नैतिकता के प्रश्न हो और चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हों, मैंने उनको खुलकर कहा है। उन पर बात की है और मैं समझता हूँ कि इससे ही लोगों की हिंप्पोक्रेसी टूटे क्योंकि आपको दूसरों को नंगा करने की बजाए पहले खुद नंगा होना पड़ेगा। तभी आपको हक है कि आप दूसरों के बारे में कुछ कह सकें। हमारे यहाँ पता नहीं कितने लोग हैं जो क्लेम करते हैं और मुक्का उठा-उठाकर कहते हैं कि मैं तो सच बोलता हूँ सच ही जानता हूँ कि मुझसे ज्यादा सच्चा कोई नहीं है उन बेवकूफों और दंभियों से यह कहा जाए कि कुछ सच अपने बारे में भी बोलो। दूसरों के बारे में तो हर आदमी सच बोल देता है। दूसरों के बारे में सच बोलना बहुत आसान है। मैं एक सीरिज शुरू करना चाहता था मेरे विश्वासघात जिसमें आज तक मुझे कोई आदमी नहीं मिला जो इस पर लिख सके। लोग बोलते हैं कि मैं तो बहुत सीधा था, मैं बिल्कुल निरीह था, उसने मेरे साथ बड़े विश्वासघात किए लोगों ने मुझे बहुत धोखा दिया। ये तो हरेक के पास कहानियाँ हैं। आपने भी तो लोगों को धोखा दिया होगा उस पर खुलकर क्यों नहीं बोलते? मैं इस तरह की हैपोक्रेसी के खिलाफ हूँ। मुझे कोई लेखक नहीं मिल रहा है कि मैं इस सीरीज को शुरू करूँ।

मैं इस लेखमाला को शुरू करना चाहता हूँ पूरी ईमानदारी से। मुझे नहीं चाहिए वह ढोंग और ढकोसला आपका। और वह ईमानदारी चाहिए कि आपने कितने लोगों को धोखे दिए हैं। ऐसा थोड़े ही है कि दूसरे ही आपको धोखा देते रहे। तो आज एक

भी ऐसा लेखक नहीं है जो यह लिख सके कि ये मेरे विश्वासघात हैं। सबके पास कहानियाँ है किसने किसको कितना धोखा दिया। किसी के पास यह कहानी नहीं कि मैंने उसको धोखा दिया। मैं उसके साथ झूठा था, मैंने छल किया, कोई नहीं कहता। जबकि होता यह है कि आप भी उतना ही छल करते हैं जितना दूसरे आपके साथ छल करते हैं। एकतरफा नहीं होता है। यही कहानी है और लोगों की यही नाराजगी है मुझसे वरना मैंने लोगों का और क्या लिया है? सिर्फ कुछ बातें बोल दी हैं जो नहीं बोलनी चाहिए थीं। अब मैं उनकी सलाह मानूँ, उनसे बड़ा हिपोक्रेट हो जाऊँ, सब ढोंगी हैं, सब बदमाश हैं। मैं कहना चाहता हूँ कि ये हिपोक्रेट लोग हैं और यह जनरेशन इसलिए खत्म हो गई 20वीं सदी के साथ। इन बुड्ढों के साथ जो सिर्फ हिपोक्रेट रहे, बोलते कुछ रहे, कहते कुछ रहे, करते कुछ रहे। समाज से, मंच से, जातिवाद नहीं होना चाहिए जबकि होता है कि अपनी जाति के लोगों का पक्षपात करते रहे, उनको नौकरियाँ दिलवा दीं। 99 प्रतिशत लोग अपनी ही जाति में शादी करते हैं यदि बच्चों ने अपने ढंग से तलाश नहीं कर ली हो तब तो मजबूर होकर करते हैं। तो ये लोग हमको बता रहे हैं। इन लोगों को तो शर्म आनी चाहिए।

सा. अग्रवाल : अन्तिम सवाल, आप पीछे मुड़-मुड़ कर के तो देखते रहे हैं अब आगे कब देखेंगे?

रा. यादव : भाई, देखो एक बात है। आगे मुड़ने की ऐज नहीं है ऐज से मतलब मेरा उम्र से नहीं, यह पूरा युग नहीं है। देश को अपने आगे कुछ दिखाई देता है, भविष्य दिखाई देता है? मुझे अपने देश का 5 साल बाद का कोई भविष्य दिखाई नहीं देता। जब देश को इस स्थिति में ले आया गया है तो व्यक्तिगत रूप से मैं किस भविष्य की बात सोचूँ। मैं नहीं मानता कि मेरी यदि 70-72 की उम्र हो गई तो मेरे सामने कुछ नहीं है। देश में एक होप होती, एक भविष्य होता, एक उसके सामने विजन होता, तो निश्चित रूप से हमारे सामने भी होता। चूँकि व्यक्तियों के पास विजन नहीं रह गया है। इसलिए देश का भविष्य नहीं है। उनके पास अतीत रह गया है। निर्मल वर्मा की ट्रेजडी यह है कि व्यक्तिगत रूप से उनके पास छुटे हुए लोगों का अतीत है। और सामाजिक लेखकों के पास हमारे समय की छुटी हुई संस्कृति का अतीत है। निर्मल हमारे लिए बहुत बड़े रूपक हैं। व्यक्तिगत रूप से हमारे पास अतीत ही अतीत है और राष्ट्रीय स्तर पर हमारे पास अतीत है कभी 3 हजार साल, 5 हजार साल खींचते रहते हैं अपने मन में गढ़ते रहते हैं। लेकिन असलियत में हम सबसे ज्यादा निकम्मे, बुद्धिहीन, प्रतिभाहीन, उच्चके, चोर, बेईमान लोग हैं पूरे विश्व स्तर पर यदि देखा जाए तो। न हमारे भीतर कोई मौलिकता है, न हमारे भीतर सोचने की कोई नई शक्ति है, न हमारे पास कोई साहस है। बस केवल हमारे पास यह था, वो था। था को लेकर ता था थैय्या कर रहे हैं। इसलिए व्यक्तिगत को राष्ट्र से अलग करके मत देखो। न राष्ट्र के पास कोई भविष्य है और न व्यक्तिगत रूप से मेरे पास कोई भविष्य है।

एक अंतरंग 'सारा आकाश'

रास्ते में बासु चटर्जी ने एक सवाल किया, "जिस समय आपने यह उपन्यास लिखा, उस समय किस तरह के घर की कल्पना की थी?"

बीस-इक्कीस साल के बाद भी मुझे दिक्कत नहीं हुई "जिस घर में यह कहानी घटित हुई, उसे तो शायद आज तक मैंने बाहर से भी नही देखा। हाँ, उस समय जो घर मेरी सारी मानसिक बनावट का अंग था, उसे ज़रूर आपको दिखा दूँगा।"

फ़िल्म की प्रारम्भिक स्थिति थी और बासु, महाजन और मैं, तीनों आगरा जा रहे थे, शूटिंग के लिहाज़ से जगहें देखने। बासु ने बताया था, "सामने दो ही दिक्कतें हैं। एक मेरी अपनी है और एक फ़िल्म के लिए सही जगह को लेकर है। अपनी दिक़्कत यह है कि मैं अपने-आपको कन्विंस नहीं कर पाता; नव-विवाहित पति-पत्नी दोनों एक साथ, एक ही कमरे में रहें और आपस में बिल्कुल न बोलें। यह समय कम करना होगा। दर्शक इस 'न बोलने' के तर्क को गले नहीं उतार पाएगा।"

मेरा कहना था, "वास्तविक जीवन में तो वे लोग नौ साल इसी तरह रहे, आपस में बिल्कुल नहीं बोले। उपन्यास लिखते हुए आपकी तरह मुझे भी लगा था कि नौ साल वाली बात कोई मानेगा नहीं, इसलिए घटाकर वह समय साल-भर कर दिया गया।"

"दर्शक के लिए एक वर्ष भी बहुत है। कोई ठोस कारण नहीं है, इसलिए स्क्रिप्ट में छः महीने कर दिया।"

"मैं स्क्रिप्ट की बात नहीं समझता। जिस चीज़ को नहीं जानता, उसमें दखल नहीं देता। मैं तो केवल वही जानता हूँ, जो वास्तव में हुआ था। समर साहब तो इस समय विदेश में हैं। हाँ, प्रभाजी लौटने के बाद संयोग से आगरा में ही हैं, उनसे मिलकर हम लोग कोई ठोस कारण तलाश करेंगे।"

सबसे पहले हम लोग 'पुराने-घर' गए। तब साझा घर था और चाचा-ताऊओं में चार बाहर नौकरियों पर रहा करते थे, दो वहीं थे। एक को तीन साल की उम्र में कबूतरों का साथ मिल गया था, जो अस्सी साल तक रहा। वे कबूतरों की तरह हम लोगों की भी घेर-घार किए रखते। कबूतरों के बारे में सबसे बड़ा कबूतरी-फ़्लीट उनका था और वे दसियों बरस से खलीफ़ा चुने जाते थे। पढ़ाई के सिलसिले में हमें यहीं रहना होता था। पाँच-छह आँगन का लम्बा-चौड़ा मकान, मुख्य सड़क से गली के आखिरी छोर तक पहुँचता हुआ। कुछ हिस्से 'आधुनिक' बना दिए गए थे। कुछ वही

पुराने और बेढंगे, ककइयाँ ईंटों के बने-चौबारे, तिवारे, गलियारे, नीचे दरवाज़े और बहुत पतली खड़ी घुमावदार सीढ़ियाँ। नीचे का हिस्सा खाली रहता। वहाँ नल, गुसलखाना, लकड़ी-कंडों की कोठरियाँ और गोदाम। अँधेरा रहता था और वहाँ कुछ जगहों को लेकर बड़ा रहस्य और आतंक समाया रहता। दो-एक जगह तो नीचे की मंज़िल पर सीढ़ियाँ खत्म होने के बाद भी घूमती हुई और चली जाती थीं। बताया जाता था कि ये तहखानों के दरवाज़े हैं और इनमें जमुना तक या जाने कहाँ तक जाने की सुरंगें हैं। पुराने मुग़ल बादशाहों के ज़माने का घर है और इसमें बीरबल या टोडरमल या पता नहीं किसकी रिहाइश थी, या शाही टकसाल थी। बहरहाल ये सब हर घर की 'गौरव गाथाएँ' हैं और उनमें सच्चाई कितनी होती है, कोई नहीं जानता। किसी छोटे-मोटे सिपहसालार का मकान रहा होगा—बीरबल-टोडरमल वहाँ क्यों आएँगे? खैर, पहले भय और फिर उदासीनता के कारण मकान के कुछ हिस्से यों ही बने रहे, कुछ हिस्सों में भूत-प्रेत भी जोड़ दिए गए। हाँ, नए हिस्से जुड़ते जाने के बावजूद, मकान में दो-सौ साल पुरानेपन की गन्ध थी। बिना किसी योजना या प्लान के वह अजीब भूल-भूलैयाँ बन गया था। उसी गन्ध और—बेढंगेपन में गेंद-टप्पा, गुल्ली-डंडा से लेकर भरी दोपहर में छतों पर कबूतरबाज़ी और पतंगें उड़ाने में बचपन और केशौर्य बीता था। शायद कुछ ऐसा लगाव था कि भाइयों के आपसी बँटवारे के बाद पिताजी ने उसी मुहल्ले में दूसरा मकान बनवा लिया; तब भी मैं चार महीने 'अपने कमरे' में ही जमा रहा—नई जगह के साथ कोई एसोसिएशन नहीं था। फिर बाहर रहने का सिलसिला शुरू हुआ, तो एकाध-दिन के लिए आगरा रुके, यार-दोस्तों से घिरे रहे और वापस 'पुराने मकान' में गए दसियों साल गुज़र गए...सम्बन्ध भी उतने खींचनेवाले नहीं रह गए थे कि किसी भी तरह समय निकालकर वहाँ जाने की बात सोची जाती।

महाजन और बासु के साथ सारे घर को नए सिर से घूम-घूमकर देखना सचमुच रोमांचकारी अनुभव था। एक-एक हिस्से को नए व्यक्ति की तरह अपने लिए अन्वेषित करना...एक बहुत पुराने अलबम से गुज़रना। किराएदार भर दिए थे। खस्ता जगहें और भी धसक और उखड़ गई थीं, सफ़ेदी-मरम्मत नहीं हुई थी—एक ज़ीने से दूसरे ज़ीने, एक आँगन या छत से दूसरे छत में जाते हुए इस हाल पर शर्म भी थी और गर्व भी; भाग जाने का मन भी होता और रुक-रुककर देखने का भी—एक कचोट—कभी यह 'मेरा घर' था, आज सिर्फ़ 'हमारा पुराना घर'। रह-रहकर मुझे लगता था, जैसे घर बोलता हो; क्या मैं पूरा उपन्यास नहीं हूँ? मैं अपराध और संकोच से अपने को सांत्वना देता रहा : कभी चार-छः महीने लगातार अपने मुहल्ले में रहूँगा, दो-तीन दशक पीछे छूटी हुई दुनिया को जगाऊँगा और उपन्यास लिखूँगा...एक शव-साधना ही सही...

वापस आकर बासु और महाजन कुछ नहीं बोले। चाय पीते हुए महाजन ने ही शब्द दिए, "फैंटास्टिक..."

"यही कमरे, यही छतें, ये ही दालान, ज़ीने और टट्टर थे मेरी चेतना में, जब यह उपन्यास लिखा था...।"

"बासु दा, ये तो बना-बनाया सेट है, बम्बई में तो ऐसा सेट बना सकना ही..."

"यही मिल जाएगा..." मैंने दृढ़ता से कहा। हालाँकि बाद में बातें इतनी आसानी से नहीं हुईं। मुहल्लेवालों की कल्पना थी कि फ़िल्म कम्पनी का मतलब है, क्लार्क-शीराज़ में ठहरकर ताजमहल और सीकरी की शूटिंग करनेवाले लोग; 'मुग़ले आज़म' के सेट्स...पहली निराशा तो यही कि अपने मुहल्ले और इस पुराने घर में शूटिंग? बाद में निराशा यह कि ये कैसे फ़िल्मवाले हैं, जो ऐसे कुर्ते-पतलूनें पहने दुकानों पर जलेबी-कचौड़ी खाते फिरते हैं...न लम्बी-चौड़ी गाड़ियाँ, न झटकेदार हीरो ...चलो, फिर भी छोटा-मोटा तमाशा ही सही...

घर तय हो गया। दो दिनों गलियों और दूसरे मुहल्लों के चक्कर लगाते रहे। स्क्रिप्ट में कुछ बातें थीं, जो तय नहीं हो रही थीं। बासु भी मेरी ही तरह उस 'पुराने लड़के' को देख रहे थे, जो सिनेमा या मैच देखने मथुरा से आगरा भागकर आया करता था—घंटे-भर का रेल-सफ़र। बासु का बचपन भी मथुरा में ही बीता था। हम दोनों का यथार्थ एक ही था। पहले तो 'प्रभा' भाभी बहुत भड़कीं कि हमने उनके 'समर' को बिना उन्हें बताए दुबारा अमरीका भगा दिया और न उनका कोई ख़्याल किया, न खबर की। फिर शान्त हुईं। लाइन पर आईं। तो मैंने इन लोगों की समस्या बताई, "भाभीजी, आप लोग शादी के बाद नौ साल नहीं बोले, इस बात का बासुजी को विश्वास नहीं है।"

"न मानें, जो हमारे साथ हुआ, उसे हमसे ज़्यादा कौन जानेगा?" वे भी उन्हीं पुरानी गलियों और सींखचेदार खिड़कियों में पहुँच गई थीं, "हम खाना देते थे, बिस्तर कर देते, कपड़े धो देते, कमरा साफ कर देते, पर बोलता कोई नहीं था। ये सारे दिन कॉलेज रहते, ट्यूशनों पर जाते-सुबह के निकले रात को लौटते। आपको तो सब पता है, जब बोले थे, तो आपके पास ही तो भागे थे सुबह-सुबह।"

और भाभी जी ने धीरे-धीरे सारी बातें, जो उपन्यास में हैं और नहीं हैं, क्रमशः पुनः जीनी शुरू कर दीं...बासु के सामने फ़िल्मी खुलती रही और मैं सोचता रहा कि जो कुछ हुआ था, यह सब उपन्यास में कहाँ आ पाया है? घर आकर हम लोग फिर उसी न बोलने के कारण पर बहस करते रहे। अपना तर्क मैंने बाद में भी कई जगह बताया है : न बोलने के कारण किसी घटना या बात में नहीं, इतिहास और संस्कारों में है। संस्कार डालने के नाम पर हमें कुछ झूठे-सच्चे 'महान् आदर्श' दे दिए जाते थे ...कुछ महान् पुरुष थे, जो इतिहास के पन्नों में और भीतर हमें अपना जैसा बनाने के लिए धमाचौकड़ी मचाए रहते थे। तपोभ्रष्ट ऋषि, ब्रह्मचर्य की महिमा, शिवाजी से लेकर दयानन्द तक की महानता—किसी भी विराट लक्ष्य के लिए नारी बाधा है, उसका आकर्षण साधक और तपस्वी को रास्ते से भटका देता है और वह उसी 'अस्थि चर्ममय देह' के मोह में फँसकर सारी ऊँचाइयों से मुँह फेर लेता है...इसलिए हमारे राष्ट्रीय महापुरुषों या हीरोओं ने नारी को त्यागा है; राम ने सीता को त्यागा, कृष्ण ने राधा को छोड़ा, नल ने दमयन्ती को , दुष्यन्त ने शकुन्तला को, बुद्ध ने यशोधरा को, भर्तहरि ने पिंगला को...नेहरू और सुभाष जैसे नेताओं के सामने यह बाधा रही ही

नहीं। समर भी तो इन्हीं आदर्शों, सपनों और महत्त्वाकांक्षाओं में जीने वाला प्राणी है, वह बिना सींग-पूँछ हिलाए कैसे इस जाल को स्वीकार करेगा? और हम लोगों ने तय कर लिया कि 'चलेगा'।

लेकिन अब सवाल 'सारा आकाश' की आज की प्रासंगिकता को लेकर था। बासु समय बदलकर उसे आज की आधुनिक कहानी बनाना चाहते थे। शुरू में मेरा तर्क था कि उसके समय को बिल्कुल न बदला जाए। फिर लगा कि समय पर उस हद तक चिपकना ही उसे अप्रासंगिक बनाएगा। नई दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, या दो-एक बड़े शहरों की बात छोड़ दीजिए; और आज के किसी भी नगर में देख लीजिए, क्या वास्तविकता बहुत अधिक बदल गई है? टेरीलीन, ट्रांजिस्टरों और स्कूटरों के बावजूद ज़िन्दगी वहीं है, वैसी ही है। दो-तीन महानगर बरगदों की तरह बढ़ते चले जा रहे हैं और आस-पास का गतिशील युवा उनकी ओर दौड़ा चला आ रहा है। वहाँ की घुटन और सड़ांध से ऊबकर मौलिक परिवर्तन करनेवाला कोई नहीं रहता। युवक वहाँ अब केवल छुट्टियों में जाते हैं और वहाँ की गतिहीनता और जड़ता से दुखी होकर परिवर्तन की बात सोचते हैं कि लौटने का समय हो आता है। खुद 'सारा आकाश' उपन्यास का अंत भी यही है। सामाजिक सुधार करनेवाले युवकों की जो पीढ़ी बीस साल पहले आई थी, वह अपने यथार्थ से कटकर किसी-न-किसी मशीन का पुर्ज़ा रह गई है। परम्परागत विवाह की रस्में अब और ज़ोर से मनाई जाने लगी हैं। रोशनी और भांगड़ा, जिन्दगी की दैनिक जड़ता को घंटे-भर के लिए तोड़कर न फिर वहीं वापस भेज देते हैं। ब्लैक-मनी की छाया में दहेज और सामाजिक हैसियत की माँग पहले से बढ़ गई है और मेरा विश्वास दृढ़ होता जाता है कि जब तक विवाह कराने की डोर माँ-बाप के हाथों में है, 'सारा आकाश' की सचाई ज़िन्दा है। लड़के-लड़कियों को आपस में एक-दूसरे को समझने की यातनाओं से गुज़रना ही है, एडजस्टमेंट की तकलीफ़ें बर्दाश्त करनी ही हैं!

हाँ ऊपरी डिटेल्स ज़रूर बदल गए हैं : लड़कियाँ मैट्रिक नहीं; बी. ए. और एम. ए. होती हैं; लड़के इंटर का इम्तिहान नहीं, प्रतियोगिताओं की तैयारियाँ करते हैं; लेकिन उनके आपसी सम्बन्ध कहाँ बदले हैं? एक-दूसरे के यहाँ जाकर लड़की या लड़का देख लेने, डटकर नाश्ता करके उनके रहन-सहन के स्तर पर बातचीत कर लेने से ही तो आपस की दूरियाँ नहीं मिट जातीं। परिचय, स्वभाव और एक-दूसरे की मानसिक बनावट के उतार-चढ़ाव से तो उन्हें खुद ही सफ़र करना होता है। 'सारा आकाश' के समर-प्रभा एक-दूसरे से नहीं बोलते; लेकिन इस नए जोड़े के बीच ही कौन-सा 'संवाद' होता है? और क्या बरसों उनकी ज़िन्दगी में 'संवाद' का वह आत्मीय-क्षण आ-पाता है? क्या अधिकांश जोड़ों की ज़िन्दगी एक काम-चलाऊ बातचीत में ही नहीं गुज़रती रहती? ऐसी 'बातचीत' प्रभा-समर बिना बोले भी करते ही रहते हैं। पचास साल पहले की बात होती, तो शायद बच्चे भी हो जाते...कुछ लोगों ने जब 'सारा आकाश' को हू-ब-हू अपनी ज़िन्दगी बताया और कुछ ने जब कन्धे सिकोड़कर झटके से कह दिया, 'आजकल ऐसा नहीं होता...' तो सचमुच मुझे

आश्चर्य ही हुआ। खुद संवादहीनता के एक कामचलाऊ एरेंजमेंट के तहत जीनेवाले ये लोग प्रतीकार्थ बिल्कुल नहीं समझ पाते?

शायद इसलिए मैं और बासु अन-कहे ही एक नतीज़े पर आ गए थे कि 'सारा आकाश' की ट्रेजडी किसी सन् समय या व्यक्ति-विशेष की ट्रेजडी नहीं, खुद चुनाव न कर सकने की, दो अपरिचित-व्यक्तियों को एक स्थिति में झोंककर भाग्य को सराहने या कोसने की ट्रेजडी है। संयुक्त-परिवार में जब तक यह 'चुनाव' नहीं है, सँकरी और गन्दी गलियों की खिड़कियों के पीछे लड़कियाँ 'सारा आकाश' देखती रहेंगी, लड़के दफ्तरों, पार्कों और सड़कों पर भटकते रहेंगे, 'एकान्त आसमान' को गवाह बनाकर अपने आप से लड़ते रहेंगे, दो नितान्त-अकेलों की यह कहानी तब तक सच है, जब तक उनके बीच का समय रुक गया है!

इन कुछ बातों पर सहमत हो जाने के बाद कहानी को पूरी तरह बासु के हाथों में छोड़ देने में मुझे कोई अड़चन नहीं रही; ट्रांजिस्टर और विविध-भारती मुझे बिल्कुल भी नहीं खटके; फोटो खिंचवाना, फ़िल्म जाना या बालों के पिन को लेकर बासु ने भी उसी ज़िन्दगी को पकड़ने की कोशिश की, जो उपन्यास के माध्यम से मेरा लक्ष्य था।

अगर मूलभूत संवेदना पर असहमति न हो, तो माध्यम की भिन्नता को इतनी छूट देना ग़लत भी नहीं लगता; फ़िल्म अपने यथार्थवाद के लिए सराही गई; लेकिन कुछ बातें मुझे खटकती रही हैं, द्वाराचार के समय नंगे हाथोंवाली महिला का कलश लिए खड़ा होना, नई शादी के समय का घर, नई बहू के हाथों बनाए गए खाने का स्तर (खासतौर पर बाज़ार से मँगाई गई मोटी-मोटी रोटियाँ) शादी के समय की नहीं, बल्कि 'लड़की होने के समय' की दावत; बहू को लाने-छोड़ने किसी का भी स्टेशन तक न जाना, गली-मुहल्ले की टिपिकल दुनिया का न होना--ये कुछ बातें थीं, जिन्हें बहुत आसानी से दूर किया जा सकता था और उससे यथार्थ की प्रामाणिकता और बढ़ती। हो सकता है कुछ स्थानीय रीति-रिवाज़, बोलियाँ-आवाज़ें और भी डाले जा सकते थे। मुन्नी भी अपनी ससुराल में उसी यातना से गुज़रती रही है, जिससे यहाँ प्रभा गुज़र रही है--बेटी और बहू के लिए हमारे घरों में कितने दुहरे मापदण्ड हैं--यह बात भी शायद ज़्यादा उजागर नहीं हो पाई है। तरला मेहता ने अपने सधे अभिनय से लहजे और उच्चारण की कमी को काफी ढँक लिया है। वर्ना वह तो कानों को और भी कचोटती। तरला ने वहाँ की औरतों के बीच उठ-बैठकर उनकी चाल-ढाल को काफ़ी हद तक सीखने की कोशिश की थी।

इसलिए मैं एकाध दिन के अलावा शूटिंग देखने भी नहीं गया। हमेशा पचास से दो-सौ लोगों की भीड़ के बीच एक्टिंग कैसे की जा सकती है, यह समझना मेरे लिए असम्भव था। दिल्ली से ही सुनता रहता था कि अपनी राजा-मण्डी सारे शहर का आकर्षण है। एक बार आगरा गया तो यही जाँचने के लिए कैंट से 'जहाँ फ़िल्म की शूटिंग हो रही है, वहाँ ले चलो' मैं रिक्शे में अपने घर ही आ गया था हाँ, रास्ते में रिक्शेवाले ने यह जरूर बताया, 'सुनते हैं जिनकी फिल्म बन रही है, उनकी आगरे में ही कोठी है, अब सब साली बिक-बिका जाएगी।' मैंने चौंककर पूछा, 'क्यों भाई?' 'अरे कोई

फ़िल्म है! न हीरो, न हिरोइन, न डांस, न गाना—एक दिन नहीं चलेगी' मैं देर तक हँसता रहा। बहरहाल, वास्तविक लोकेल से हटकर लोगों की प्रतिक्रिया मुझे ज्यादा दिलचस्प लगती थी : 'क्या राजे बाबू, तुमने फिल्म भी बनवाई तो ऐसी...अरे कुछ ऐसी तो बनवाते कि ताज और सिकन्दर पर छनती, कुछ हम भी अपना कमाल दिखाते। एक सीन हमारा डलवा दो न, हमारी दूकान नई आई तो देख लेना साव, लड़ाई हो जाएगी—' यूनिट के सभी लोग, खुली तबियत के मस्त लोग थे और उनके साथ शाम की बैठक ज़्यादा आकर्षक लगती थी। यहाँ तक कि अन्तिम दृश्य की शूटिंग के समय भी मैं घर सोया रहा था। तय हुआ कि यहाँ 'किस' दिखा दिया जाए। शूटिंग रात को बारह बजे होनी थी। मन्नू ने कहा, 'तब तो बासु दा, ये जरूर पहुँचेंगे। पहले आप समर को समझाएँगे कि इस तरह करो, तभी कैमरा छोड़कर महाजन पहुँचेंगे, फिर ये क्यों पीछे रहेंगे? कहेंगे जिस भाव से मैंने लिखा है, वह यों है...'

बहरहाल, दिल्ली के कुछ मित्रों की इस फ़ब्ती पर मैं भी काफ़ी सोचता रहा कि 'इस फ़िल्म में ज़रूर कोई गड़बड़ है, वरना ऐसा कैसे हो सकता है कि ताँगेवालों से लेकर निहायत स्नॉब-बौद्धिक—सभी को समान रूप से पसन्द आए और आखिरी तुरुप-चाल की तरह सिनेमा मैनेजर को यह बताने पर भी कि 'मैं इस फ़िल्म के उपन्यास का लेखक हूँ' सातवें दिन किसी भी शो का कोई टिकट न मिले और मैं, मन्नू और संयुक्ता टी-हाउस में डोसे खाकर ही अपनी झेंप मिटा लें। यही समस्या दूसरे स्तर पर मन्नू के उपन्यास 'आपका बंटी' को लेकर भी सामने आई है। हमारे यहाँ तो बहुत ही स्पष्ट दो विभाजन हैं—गुलशन नन्दा और अज्ञेय-जैनेन्द्र; बिना कलात्मक की बलि चढ़ाए, या कहना चाहिए, अपनी सारी कलात्मक प्रयोगवादिता के बावजूद लोकप्रिय हो जाने वाले 'चित्रलेखा' जैसे उपन्यास इस यथास्थिति को डगमगा देते हैं; तब मानसिक रूप से बड़ी बेचैनी होने लगती है कि इसे किस कोटि में रखा जा सकता है? वर्गमान, त्रूफ़ो, फैलनी, वाज्दा और रेनुआँ की आधुनिकतम मुद्राओं को ठेठ गाँवों की ज़िन्दगी में धाँस देनेवाले ना-क़ाबिले-बर्दाश्त प्रयोगों के डिब्बा-बन्द अहंकार में 'भुवन-शोम' और 'सारा आकाश' का दोष यही है कि लोग इन्हें देख लेते हैं।

अरुण कौल ने सम्पूर्ण उपन्यास का जो ट्रीटमेंट मुझे बहुत पहले सुनाया था, वह निश्चय ही मेरे सम्पूर्ण-लेखन के सन्दर्भ में अधिक सार्थक, बौद्धिक और आधुनिक था। अरुण का कहना था कि मेरे सारे उपन्यासों के नायक स्थान छोड़ने के लिए अभिशप्त हैं। 'उखड़े हुए लोग' का शरद् 'मंत्रविद्ध' का तारक, 'कुलटा' का तेजपाल—सभी एक मानसिक संकट में जीते हैं और वहाँ से निकल भागते हैं। अरुण के ढंग से, हो सकता है, उपन्यास पूरा आ जाता; लेकिन पता नहीं, फिर वह ज़िन्दगी इस तरह पर्दे पर आ पाती या नहीं, जिसे झाँक लेने के लिए मैं हर चार-छः महीने बाद आगरा दौड़ता हूँ। वैसे अरुण को अभी अंतर्प्रातीय भावनात्मक एकता से फ़ुरसत कहाँ है? हिन्दी की सभी अच्छी कहानियाँ तो उनके हरम में अनुबन्धित हैं। आधुनिक हिन्दी-सिनेमा के ये दादा साहब फालके अभी भी मुझे धमकी देते हैं कि "दस-बीस साल बाद मैं 'सारा आकाश' बनाऊँगा तब देखना।"

'शह और मात' : मेरा अपना दृष्टिकोण

अपनी कविताओं पर भाषण देने के साथ-साथ जब से कुछ कवियों ने कहानियों और उपन्यासों पर भी अपने विचार और प्रवचन देने प्रारम्भ कर दिए हैं तब से कथा-नाटक लेखकों का कार्य काफ़ी आसान हो गया है। अतः अपनी ओर से अपनी कृति पर बोलने की कोई ज़रूरत तो नहीं रह जाती; लेकिन साथ-साथ यह भी लगने लगा है कि इन कवि-आलोचकों का 'मात्र्याचार' (मदरिंग) अत्याचार की सीमा पर आ गया है—क्योंकि कविता के युद्ध से लौटे हुए इन जीनियसों ने सारे कथा-साहित्य का मूल्यांकन भी शब्दों और उनके अर्थों तथा प्रयोगों के आधार पर करना शुरू कर दिया है। किसी कथा-कृति का मूल्यांकन जब दृष्टिकोण, विचार, कथ्य, परिप्रेक्ष्य, व्यक्तित्व, परिवेश इत्यादि के आधार पर न होकर, कविता की तरह इस कसौटी पर हो कि "कृति में लेखक ने 'प्रेम में टूटना' शब्दों का प्रयोग किया है। अब हे पाठको! आप स्वयं देखें कि यह 'टूटना' शब्द हिन्दी का नहीं है, और वह जहाँ का है, वहाँ भी तीन वर्ष, चार महीने, दो सप्ताह और साढ़े-ग्यारह घंटे पुराना हो चुका है" —तब लेखक के सामने इसके सिवा और चारा भी क्या है कि वह कहावत के मुर्ग़े के शब्दों में कहे कि "खाला-जान, मुझे बख़्शो! मैं बिना पूँछ का ही सुखी हूँ।"

पहले मैं केवल सुना करता था कि आलोचक वे-वे बातें रचनाओं के बारे में कहा करते हैं जो लेखक ने सात-जन्मों में भी न सोची हों। 'शह और मात' की दर्जन-भर आलोचनाओं से बुज़ुर्गों की इस कहावत पर विश्वास हो गया। कलाकार अनचीन्हा और अनजाना रह जाए, उसके लिखे को लोग कूड़ा बता दें, और उसकी सारी 'साधना' को बकवास कह दें—शायद यह बहुत बड़े दुख का कारण नहीं है (कम-से-कम मुझे इससे कभी दुख नहीं हुआ) लेकिन उसके लिए मौत से भी अधिक यातना का कारण होता है जब 'अरसिक को कवित्त निवेदन करना पड़े और गुस्से, प्यार, ऊब, असमझदार सराहना शुरू कर दें।' मसलन उपन्यास की नायिका झुँझलाहट या उत्तेजना में यदि नायक 'से' या 'के लिए' कहती है "तुम झूठे, मक्कार, कुरूप, बौने, हीन-भावग्रस्त और नर्वस प्राणी हो" और एक दिन आप पाएँ कि समीक्षक साहब ने इनको ही चरम-सत्य मानकर उपन्यास की निर्णायात्मक आलोचना कर डाली है तो कैसा लगेगा?

मगर ऐसा हर जगह हो, यही नहीं है। अक्सर समीक्षाएँ सचमुच अपने

आपको समझने और खोजने में सहायता देती हैं। मुझे तो प्रायः अपनी हर आलोचना ने आत्म-विश्लेषण के लिए प्रेरित किया है।

'शह और मात' मेरी समझ में, उदय की, और केवल उदय की, मानसिक उलझन की कहानी है। न वह अपर्णा की है, न सुजाता की। सच पूछा जाए तो उसमें दूसरा कोई आता ही नहीं। बाकी सब निमित्त-भर हैं। उदय लेखक है, साथ ही व्यक्ति भी। उपन्यास व्यक्ति और लेखक का द्वन्द्व, अर्थात् 'कर्ता' और द्रष्टा' के आपसी सम्बन्धों और संघर्षों का रूपक है, जिसे आज की भाषा में विषय-निष्ठता और पात्र-निष्ठता की समस्या कहेंगे। और इसे ही उदय ने अपनी डायरी के अस्त-व्यस्त पन्नों में बताने की कोशिश भी की है। व्यक्ति उदय सुजाता को प्यार करता है और लेखक उदय उसे अपने प्रयोग का माध्यम बनाता है—इस प्रयोग में वह उतना ही निर्दय और निस्संग है जितना कोई भी वैज्ञानिक अपने चूहों या खरगोशों के लिए होता है। हमारे लिए दूध पिलाती गाय या कुतिया वात्सल्य और त्याग की ममतामयी माँ का आदर्श भले ही रखती हो वैज्ञानिक के लिए तो वह एक प्राकृतिक क्रिया भर है—और उसमें उसके लिए 'दिव्य' और 'अनोखा' या 'ममता' और 'वात्सल्य' जैसा कुछ भी नहीं होता। उदय मानता है कि—जो व्यक्ति के लिए प्यार और भावनाओं के कोमलतम आत्मीय-क्षण हैं, वह 'लेखक' के लिए 'मसाला' भर हैं। और जब एक ही आदमी को दोनों कर्म साथ करने हों तो 'ट्रैजिडी' कैसे भयंकर हो जाती है, मेरा ख़्याल है कि इसे हर लेखक अनुभव करता है। मैंने इस स्थिति को शतरंज की चालों जैसा माना है।

इन दोनों के बीच में ही अपर्णा—अर्थात् शीशे की दीवार। उदय की बहन और प्रिंसेस अपर्णा दोनों दो अलग प्राणी जैसे लगें और अन्त में जासूसी कहानियों की तरह रहस्योद्घाटन होकर सार (क्लाइमेक्स) आए—यह न मैंने चाहा है और न ही ज़रा ध्यान से पढ़नेवाले के लिए उसमें ऐसा कुछ है। अगर यही चाहता तो मैं आसानी से एक ही अपर्णा के लिए दो नामों का उपयोग कर सकता था। मैंने तो जान-बूझकर पर्याप्त प्रमाण दिया है कि शुरू से ही दोनों को एक समझा जाए। उदय ने लिखा भी है, "और इसके लिए छूट भी देता गया कि वह चाहे तो मेरी बहन अपर्णा और प्रिंसेस अपर्णा को एक ही समझ ले..." जैसा कि कहा, मैंने तो उसे हल्के-से व्यवधान के लिए—एक शीशे की दीवार के लिए गढ़ा है, ताकि झीना पर्दा रहे और कल्पना इधर-से-उधर आ-जा सके। और भी खोलकर कहूँ तो बात को शतरंज की बाज़ी उदय और सुजाता के बीच चल रही है—कौन किसको हरा दे और उसमें बिसात है—अपर्णा। जब सुजाता अपर्णा की बातें बताती है तो समझती है कि आपसी सम्बन्धों को दृढ़ बनाने के लिए वह शहरज़ाद का पार्ट अदा कर रही है और उदय समझता है कि वह कमन्द की तरह उसका उपयोग कर रहा है। दोनों को छूट है कि बिसात को अपना समझे और साथ ही डरते भी रहें कि कहीं बाज़ी उलट न जाए। उदय के कोण से बाज़ी अपर्णा और उदय के बीच है और सुजाता बिसात है। लेकिन वस्तुतः यह सब ऊपरी बातें है और

केवल वे जगहें हैं जहां 'कर्ता' और 'द्रष्टा' का द्वन्द्व सबसे तीखा रहा होगा।

कथा को उदय के कोण से न कहकर, सुजाता के कोण से कहने के मेरे पास दो कारण थे : एक तो मानवीय भावों के कोमलतम क्षणों से 'खिलवाड़' करनेवाले लेखक की विडम्बना और ट्रैजेडी को अधिक शक्तिशाली और व्यंजना के साथ उभारा जा सकता था और दूसरे कहानी की मूल 'थीम' के रूखेपन और नीरसता को देखते हुए इसी कोण से उसमें रोचकता और सार्थकता दी जा सकती थी। यों कुछ के लिए अब भी 'बोर' है; यह मेरी अपनी मजबूरी है। शायद इसका कारण यह है कि इस तरह के उपन्यासों के न हम पढ़ने के आदी हैं, न लिखने के। लेखक और पाठक दोनों के पास ऐसी कोई परम्परा नहीं है। इसलिए दोनों ही अपने को असफल पाते हों तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। यहाँ मुझे यह मान लेना चाहिए कि रूपकात्मक उपन्यास लिखनेवालों में आद्रेज़ीद ही मुझे ऐसा लेखक लगता है जो न तो बहुत बहकता है, न कथा की रोचकता खोता है। चूँकि दो-ढाई सौ पन्नों में ही वह अपनी कहानी कह देता है, इसलिए उसके प्रतीक न तो बिखरते हैं, न ग़लत समझे जाते हैं उसके पास लम्बी परम्परा और दार्शनिक आधार हैं। वह अपने रूपकों के लिए बाइबिल से बहुत सामग्री ले लेता है : स्ट्रेट इज़ द गेट, इसाबेला, पैस्टोरल सिम्फ़नी, इत्यादि उसके सटीक और सार्थक रूपकों के उदाहरण हैं। वैसा न मेरा कोई दावा है, न भ्रम। लेकिन ज़ीद से लेकर सार्त्र और कामू तक की इस परम्परा ने मुझे यह ज़रूर सुझाया है कि कहानी सिर्फ़ पात्रों के बाह्य-चित्रण और गतिविधियों का लेखा-जोखा और परिस्थितियों के संयोग पर निर्भर 'ट्रेजेडी' या 'कॉमेडी' ही न हो—अपने पार भी कुछ कहती हो। और वह 'पार कहना' अन्त में या बीच-बीच में संकेत के रूप ही आकर समाप्त न हो जाए, बल्कि समानान्तर चलता रहे। चाहे उस समानान्तर चलने को पाठक पकड़े अन्त में ही जाकर; लेकिन यह न पाए कि अर्थ या ध्वनि मौके की सूझ है या केवल बना दी गई है। मेरा यह विश्वास है कि सच्चा कथाकार ही इस कर्ता और द्रष्टा के द्वन्द्व को महसूस कर सकता है : क्योंकि लेखक वह न रहे यह सम्भव नहीं है और मनुष्य न हो यह उसे स्वीकार्य नहीं है। शायद कोई ही अपने को 'वहशी' कहलाना पसन्द करे। लेकिन रचना-प्रक्रिया का अनुभव बताता है कि लेखक और मनुष्य के इस द्वन्द्व में हारता मनुष्य ही है। अर्थात् वह अपने को प्रयोग का चूहा बनाए जाने की इजाज़त दे देता है। शायद इसी द्वन्द्व के निरन्तर चलने के कारण लेखक खण्डित व्यक्तित्व का मनुष्य होने को अभिशप्त है। 'कर्ता' और 'द्रष्टा' जब एक व्यक्ति न रहकर दो हो जाते हैं और यह दूरी बढ़ती जाती है तभी व्यक्तित्व के खण्डित होने का श्री-गणेश होता है। यही अंतर्विरोध सृजन का तनाव पैदा करता है।

मूल-रूप से इसी बात को ध्यान में रखकर मैंने कहानी को एक ऐसी लड़की के निकट और आत्मीय अध्ययन के रूप में प्रस्तुत किया है जो खण्डित व्यक्तित्व की है, अंतर्विरोधों में जीती है। हमारे यहाँ नारी के दूसरे प्रेम के निकट अध्ययनवाली

कहानियाँ प्रायः उपन्यासों में नहीं लाई गईं। सभी वे हैं जो मजबूरियों में चाहे किसी की पत्नी हों या प्रेमिका, लेकिन 'पहली बार वास्तविक प्यार' वे केवल उपन्यास के प्रस्तुत नायक से ही करती हैं। 'कुँवारे प्यार' की यह प्लैटोनिक-धारणा भुवन और गौरा जैसे 'प्रौढ़' पात्रों में भी मौजूद है। सुजाता और उदय के साथ ऐसा कुछ नहीं है। इसलिए प्रथम दृष्टि में प्रेम जैसी वहाँ कोई बात ही नहीं उठती। वहाँ स्पष्ट ही प्रेम सघनतर होती मैत्री की परिणति है। यह खुले रूप में 'दूसरे प्यार' की कहानी है। या कहूँ सुजाता दूध की जली है, वह अनुभवों और रोमांच का आविष्कार या अन्वेषण नहीं करती—एक तरह, ज़रा प्रौढ़ मानसिक धरातल पर उन्हें दुहराती है। यहाँ भी मुझे यह आसानी थी कि मैं इस दुहराए जाने के प्रति उसे सजग रख सकता था, अर्थात् उसके कर्ता और द्रष्टा के द्वन्द्व को अधिक तटस्थता से देख सकता था, लेकिन जैसा कि 'धोखा खाए' व्यक्ति के साथ होता है—पहले वह अपनी और दूसरे की हर प्रतिक्रिया को भाँपता और उस पर निगाह रखता है, अनुभवों को दुहराया जाना उसे चौंकाता और कोंचता है। लेकिन फिर धीरे-धीरे नई स्थिति का विश्लेषण करते हुए उसके सामने घुटने टेक ही देता है। इसलिए सुजाता के विकास का 'पैटर्न' यही है कि पहले वह बहुत ही आत्मभर्त्सना से गुज़रती है, बहुत आत्म-निरीक्षण और आत्मालोचन करती है, हर स्थिति और गतिविधि को तोलती और परखती है। वह उदय से मिलती-जुलती भी जाती है और उसे तथा अपने को गालियाँ भी देती जाती है। कह सकते हैं—वह शुरू में बड़ी सतही स्तर पर जीती है और किसी भी बात की गहराई में जाने से इनकार कर देती है या उसकी गहराई और सचाई में विश्वास ही नहीं करती। पहले अनुभव ने उसे शक्की और सावधान—परिणामतः आत्म-सजग बना दिया है। वह कभी चेतना के इस स्तर पर भटकती है, कभी उस पर। सारी स्थिति को या तो वह निरे शारीरिक स्तर पर ग्रहण करती है या अतीत के अनुभवों की तुला पर। लेकिन सब मिलाकर यह क्रमशः परिस्थिति के प्रति आत्म-समर्पण की प्रक्रिया-भर है—और अन्त में हम पाते हैं कि वह शुद्ध-भावना-डूबी नारी ही रह गई है। अन्त की ओर उसके न पहलेवाला अविश्वास है, न आशंका। शायद उतने शारीरिक स्तर पर भी नहीं जीती। 'चूमने' और 'शरीर कसमसानेवाली' भाषा भी वहाँ बन्दी हो गई है। तर्क और वासना की भावनात्मक परिणतिवाले क्षणों में उसका वर्णन और परिवेश सभी कुछ कवित्व-पूर्ण होता गया है। फिर भावना और चरम-समर्पण के एकान्त और आत्यंतिक क्षणों में जब सहसा झटके से यह बात उसे बताई जाती है कि उसके समर्पण और समापन को उतनी ही ईमानदारी से स्वीकार किए जाने की तो बात ही दूर—उसका 'उपयोग-भर' किया जाना दूसरे पक्ष का लक्ष्य था—तो ऐसी स्थिति में उसके लिए और चारा ही क्या कि वह अपना और उदय का दोनों का सिर फोड़ ले—आत्म-हत्या कर ले या अपने इस सारे समर्पण को झुठला दे? वह कह दे कि उसने जो कुछ कहा, जो कुछ किया, जो कुछ लिया वह सब झूठ था—क्योंकि उसे प्रयोग का चूहा बनना मंजूर नहीं है।

यह है 'शह और मात' की बाहरी और आभ्यंतरिक 'पैटर्न'। चाहें तो आप भी इसे चन्द्रगुप्त जी की तरह 'बचकाना' ही कहकर पीछा छुड़ा सकते हैं, लेकिन यह मैं जानता हूँ कि इतनी मेहनत न मैंने 'उखड़े हुए लोग' में की है न 'कुलटा' में। वह शीर्षासन करनेवाली अर्थहीन मेहनत हो, यह दूसरी बात है। हाँ, निराशा उस समय ज़रूर होती है। जब कोई इसकी भाषा की तारीफ़ करता है और कोई भावनाओं के चित्रण की। बहरहाल, यह मैंने तय कर लिया है कि अब आगे से इस तरह की कोई चीज़ नहीं लिखनी, और सिर्फ वही लिखूँगा जिसका सारा अर्थ और आशय वहीं समाप्त हो जाए—अर्थात् जो जीवन के किसी खण्ड को परिभाषित न करे—केवल रोचक रूप में प्रस्तुत और चित्रित करे।

हाँ, डायरी एक प्रबुद्ध लेखिका की थी—इसलिए कहीं-कहीं बहुत लम्बी हो गई है—नर्स की होती तब शायद वह एक पन्ने में एक दिन की ही बात लिखती।

परिशिष्ट

पत्र

राजेन्द्र यादव के पाँच पत्र मोहन राकेश के लिए

राजेन्द्र यादव, एम. ए. 11-6-54
5161, राजामंडी, आगरा

प्रिय राकेश,

यह जानकर सचमुच आत्मा को बड़ा ही कष्ट हुआ कि तुम्हारी नीयत इसी साल थीसिस दे देने की है। और जो कुछ तुमने लिखा-पढ़ा है उसकी तो मुझे खास चिन्ता नहीं है—लेकिन यह सब लिखने के साथ-साथ आदमी थीसिस भी लिखे—इससे कुण्ठित हरकत की मैं कल्पना नहीं कर सकता। हाँ, तुम्हारी कहानियाँ पढ़कर सिर धुनने की आवश्यकता तो मुझे अब भी होती है—बिना उन नई कहानियों को देखे ही। वैसे सिर की चिन्ता तुम्हें खुद इसलिए करनी चाहिए कि ऐसी कहानियाँ लिखने के परिणामस्वरूप वहाँ एक भी बाल शेष रहने की गुँजाइश नहीं है। दूसरे धुन देंगे। यानी कि श्री राजेन्द्र यादव जब तक कुछ लिखते नहीं हैं तब तक ही तुम उछलकूद मचा लो फिर तो तुम जैसे राक्षस (यदि अपभ्रंश का कुछ ज्ञान हो तो—यह राकेश, का वेश स्वयं राक्षस ने ही धारण किया है = राक्षस—राकस—राकेस; जैसे 'राकस भोकस, भूत, परेता' तुलसीदास) नरक वास ही करते दीखेंगे। खैर पिछली बार तो मैंने जानबूझकर दया करके छोड़ दिया था लेकिन अब आँख खोलकर सुन लो (क्योंकि कान तुम्हारे होते नहीं हैं) और कहो तो इस सूचना को देते समय कुछ डिब्बे ग्लूकोज और कुछ इन्सोलीन के इंजेक्शन्स भी भिजवा दूँ (ताकि हार्टफेल होने से तुम्हारी रक्षा हो सके) कि इधर मेरी रचनाओं का अनुवाद करने की अनुमति चैकोस्लोवाकिया के किसी ओदेन श्मेकल नाम के हिन्दी के प्रोफेसर ने माँगी है। पत्र प्रेतों के द्वारा आया था जिसका न सिर्फ उन्होंने लिफाफा खोल डाला बल्कि उसके टिकट भी छुड़ा लिए। और कुछ सुनाऊँ? —तमिल के दो-चार मासिक पत्रों में जब गुरुजी की रचनाएँ आ जाएँगी—तो किसी मद्रासी से पढ़वाकर सुन लेना। राजपूत कॉलेज में जर्मन और फ्रेंच पढ़ाने वाला हमारा एक नया जर्मन मित्र 'लूथर वैण्डल' इन दिनों मेरा काफी वक्त बरबाद करने लगा है। वक्त-बे-वक्त आ जाता है और साहित्यिक ज्ञान प्राप्त करता है। कुछ अपने से इतना प्रभावित हुआ है कि हिन्दी सीखनी शुरू कर दी है और शीघ्र ही गुरुजी को जर्मनी में अमर करने की अभिलाषा को नित्य ही व्यक्त करता है। अभी हम कुछ 'मोडस्टी' दिखा रहे हैं, यदि इस स्थिति से कुछ लाभ उठाना है तो यह हो सकता है कि मैं तुम्हारा नाम 'सजेस्ट' कर दूँ लेकिन इसके लिए अनिवार्य होगा कि कुछ पत्र पुष्पं लेकर गुरुजी की सेवा में आओ।

अच्छा, तुम्हारी संकुचित छाती पर इतने आघात काफी हैं। बच रहे हो तो खत लिखना।

अब कुछ स्कीम कथा। यह बात सिर्फ मेरे दिमाग में ही है और अभी मैं इसके

सभी पक्षों पर विचार कर रहा हूँ जब स्वयं सन्तुष्ट हो जाऊँगा तो और लोगों से भी पूछूँगा। हालाँकि यह चीज तुम्हारे लिए भी लाभप्रद हो सकती है, लेकिन यदि तुम उस विषय में पर्टीक्यूलर न हो तो कम से कम दो-चार लोगों से सलाह करके मुझे परामर्श देना कि क्या यह 'रिस्क' लेना उचित है।

हमारा एक मित्र है जयन्त बाग्ची। जब वह प्रोफेसर था तो मैंने तुमसे मिलाया भी था। अब अलीगढ़ में डिप्टी कलक्टर है। पैसे आते ही साले के दिमाग में खुराफतें आने लगीं और बंगला के एक निहायत ही रहस्यवादी किस्म के पुनर्जन्म इत्यादि विषयों पर कहानियाँ लिखने वाले शरदेन्दु बन्ध्योपाध्याय की कहानियाँ अनुवाद करने के बाद उसे और लेखक दोनों को आवश्यकता महसूस हुई कि उनकी रचनाएँ पुस्तकाकार हिन्दी में आएँ। सो मैंने यही समझाया कि स्वयं प्रकाशित करो और किसी को सोल डिस्ट्रीब्यूटर बना डालो। उसने इस विषय में किसी से बात करने का काम भी मेरे ही ऊपर छोड़ दिया। मैंने ओम प्रकाश से बातें कीं। बाग्ची तब से मिला नहीं है, पता नहीं उसके इरादे का क्या हुआ, लेकिन बात मुझे स्वयं काफी पते की लगी।

तुमने देखा होगा यह चीज यों तो अब प्रकाशन के भी क्षेत्र में आ रही है लेकिन पहले से हरेक चीज में अक्सर प्रोडक्शन एक करता था और किसी को भी सोल डिस्ट्रीब्यूटर बनाकर निश्चिन्त हो जाता था। प्रकाशन में भी यह 'प्रयोग' काफी लोगों ने किए हैं और वे सफल भी होते दिखाई दे रहे हैं। अश्क ने प्रारम्भ में स्वयं 'भारती भण्डार' को बनाया था, देवेन्द्र सत्यार्थी, मन्मथनाथ गुप्त, उदयशंकर भट्ट और धर्मयुग के राजेन्द्र शर्मा ने आत्माराम को बना रखा है—इत्यादि। मतलब यह कि यह काम काफी चल रहा है और इसमें स्पष्ट ही दो लाभ हैं (आर्थिक के विषय में तो मैं अभी लिखूँगा) एक तो यह कि एक किताब बम्बई छपे और दूसरी कलकत्ते, एक आज छपे और दूसरी चार वर्ष बाद इस प्रकार बँटकर परिश्रम का उचित मूल्यांकन होने से रह जाता है—न आप अपने पाठक बना पाते हैं, दूसरे इस उस प्रकाशक के पास जाने के झंझट से आप मुक्त हो जाते हैं। खुद प्रकाशक बनने में सबसे बड़ी या एकमात्र दिक्कत आती है पुस्तकों के निकालने की, लगभग इस झंझट से आप पूर्णतया मुक्त हैं। शेष लाभ इसमें स्वयं सोच सकते हो।

पूँजीवाद की एक विकसित स्थिति में बड़ा उद्योगपति छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देकर स्वयं उन सबको अपने हाथ में रखता है और एक निश्चित हिस्सा लेकर उनकी तरफ से प्रबंधक बन जाता है। यह स्थिति कई व्यापारों में मैंने देखी है। यही आढ़तिये जुलाहों को पैसे बाँट देते हैं कि अपनी इच्छानुसार कपड़ा बनाओ—फिर कुछ अधिक कन्सैशन देकर स्वयं ही उस माल को खरीद लेते हैं। सो यही कुछ स्थिति 'राजकमल' (क्योंकि मैंने उन्हीं से बात की है) ने बना दी है प्रकाशन के क्षेत्र में। उनकी शर्तें यह हैं—

1. पाण्डुलिपि को एक बार वे स्वयं देखना चाहेंगे—रचना उनकी नीति और स्तर के प्रतिकूल तो नहीं है।

2. पुस्तक प्रोडक्शन की हर स्टेज में उनकी आँखों के आगे रहेगी। अर्थात् अपने प्रेस में वे छपाएँगे—स्वयं बाइडिंग इत्यादि सब करेंगे। चाहे तो लेखक भी देख-रेख करे।

3. कागज का पैसा लेखक देगा शेष को वे अपने इन्वेस्टमेंट की तरह लगाएँगे—जो बाद में कट जाएगा।

4. वितरण-प्रचार प्रबंध इत्यादि सबका वे 40% कमीशन के रूप में काट लेंगे और हर तिमाही हिसाब होगा।

एकाध शर्त और होगी, पर मुख्य यही है। इसमें भी श्री ओंप्रकाश ने सुझाव यह दिया कि एक किताब देर से निकलती है—तीन कम से कम हों तो आसानी रहती है। पुस्तकालय सैट खरीदना पसन्द करते हैं और 2000 का संस्करण डेढ़-दो वर्ष में निकल जाता है।

इस स्कीम की ओर जो चीज मुझे आकर्षित करती है वह है आर्थिक लाभ। दिमाग में आ जाए तो उसे भी समझ लो।

मान लो तुम्हारे पास दो उपन्यास हैं, और दो कहानी संग्रह या एक कहानी संग्रह और एक अन्य पुस्तक। उपन्यासों का मूल्य प्रत्येक का 4/- है और शेष पुस्तकों का 2/-, इस प्रकार चार पुस्तकों के सेट का मूल्य 12 रुपया है। (कम से कम जुलाई के अंत तक मेरे पास किताबें कुछ इसी रूप में हो जाएँगी)।

12/- के हिसाब से 2000 सेटों का मूल्य 24000/- हुआ। हाँ बीच में एक बात और। पुस्तकें छपते समय शर्त के अनुसार केवल कागज का पैसा हमें देना होगा जो लगभग 2000/- पड़ता है।

अब इस 24000/- में से हिस्से इस प्रकार होंगे।

1. जिससे हम दो हजार लेंगे उसे मान लीजिए हम लौटा दें	2500/-
2. प्रकाशक छपाई इत्यादि के काटेगा लगभग— (यह मैंने अभी पूछा नहीं है, केवल मेरा अनुमान है)	3225/-
3. सोल डिस्ट्रीब्यूटर का कमीशन 40%	9600/-
4. फुटकर	175/-
कुल	15500/-

अर्थात् दो वर्ष में लेखक के लिए बच जाते हैं लगभग साढ़े आठ हजार। और भी अधिक करें तो मान लें कि संस्करण समाप्त होने में एक साल और लग जाता है, अर्थात् तीस साल में साढ़े आठ हज़ार। मोटे रूप में 200/- महीना। मैं समझता हूँ कि कोई भी चार किताबें यदि लेखक को 200/- महीना देने लगें, और इस कलकूलेशन में यदि कहीं गलती नहीं है (वैसे भी मैंने इसे काफी ढीला रखा है) तो यह एडवैंचर बुरा नहीं है। कम से कम इतना निश्चिंत होकर दुनिया का कोई काम कर डालने की हिम्मत मुझमें है। अब तो कुछ नहीं हो पाता।

बस इसमें दो ही जगह ऐसी आती हैं जहाँ यह योजना फेल हो जाए :

1. आपको क्या पता कि पुस्तक दो ही हजार छापी गई है—जब प्रेस प्रकाशक

का अपना है तो एक हजार प्रिंट्स वह दो घंटे में निकलवा लेगा। पता नहीं अन्य लोग इस चीज को कैसे कन्ट्रोल करते हैं।

2. कहीं लेखक प्रकाशक न बन जाए इस कुढ़ के कारण (और लगभग सभी प्रकाशक मैंने इसी मनोवृत्ति के पाए हैं—मुझे तो अनुभव है।) वह आपकी किताबें पुश न करे या अधिक रुचिपूर्वक न करे—उस स्थिति में क्या हो। उससे समय का आश्वासन अवश्य लेना चाहिए। पता नहीं यह सम्भव है या नहीं।

इस विषय में तुम और सोचकर बताओ—और यदि यह बात समझ में आ जाए तो बोलो कहीं से कोई महाजन ढूँढ़ा जाए। लेकिन इस योजना को हम और तुम साथ ही साथ शुरू करेंगे। अपने विचार तो लिखो। शेष अगली बार। आज का उपन्यास लिखने का 'कोटा' तुम्हारा खत खा गया।

अपने हाल-चाल लिखो। क्या शीलाजी के साथ दो-एक दिन को आ रहे हो? सामेश जी के क्या हाल हैं। इल्याएहानवर्ग का लेख पढ़ा—उसे पढ़ दुष्ट। मैं तो आजकल मायकोव्स्की की कविताएँ पढ़ रहा हूँ। वह जर्मन मुझे जुंग के मनोविज्ञान की एक किताब दे गया है। उसका विश्वास है इससे मेरे मनोविज्ञान का काफी विकास होगा। गोर्की की किताब को दुबारा पढ़ा है—समझा।

और क्या हाल हैं।

जलंधर से तुम्हारा कुछ नहीं सुना।

'समाज' के जून अंक में गुरुजी की कविता पढ़ो और भवबन्धन से मुक्ति प्राप्त करो

सस्नेह
राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव, एम. ए.
5161, राजामंडी, आगरा

कलकत्ता
25-3-55

राकेश,

अजब चौंघट से पाला पड़ा है। साले को विश्वास ही नहीं आता, और यहाँ हमारा कबाड़ा हो गया है। बता तो दिया कि गोली सचमुच की थी और मेरी ही ठीक वाली टाँग में लगी, समझो जाँघ में लगी, ऊपर जरा आंतें बच गईं—काफी लम्बा रास्ता पार करके पीछे रीढ़ की हड्डी में जा अटकी। असल में होली के दिनों में हमारे कमरा-साथी, दुबे अपने घर गए टाटा नगर। उनके भाई का यज्ञोपवीत था। जबर्दस्ती

हमें और लुभाया को भी ले गए। वहाँ एक कोई इटावा के भी आए। अब चार नवयुवक लफंगे मिलकर सिवा इधर-उधर चीजें देखने और घूमने के क्या करते? इटावा के म्यूनिसिपिल चेयरमैन द्विवेदी—जो हमारे दोस्त हो गए, बाद में क्योंकि लुभाया के 25 साल पुराने दोस्त थे (उम्र दोनों की 28-30)—मज़े में पिस्तौल लटकाए घूमते और आसमान की ओर—हमारे कैमरे की कुढ़ में प्रभाव डालने के लिए—एकाध फायर कर देते। 13 को हम वहाँ की बहुत खूबसूरत जगह डिमना लेक गए और वहाँ से लौटकर जैसे ही कमरे में बैठे तो वे अलमारी में पिस्तौल रखने लगे। हमने कहा जरा हम भी देखें। उसमें एक गोली थी जिसे वे सिखाते हुए हमसे चलवाना चाहते थे, उन्हें यह नहीं पता था कि जीजाजी की पिस्तौल और बन्दूक से हम काफी निशानेबाजी सीख चुके हैं, सो हमने कहा आप हमें पूरा समझा दीजिए तभी मैं इसे लूँगा। वे मैगजीन निकालकर दिखाने लगे। मैं कौच पर बैठा था और वे सोफे पर, जैसे ही उन्होंने मैगजीन लगाकर हाथ से धक्का दिया नली से आग निकली और धमाका हुआ—मेरे मुँह से निकला—"देखिए, मैंने कहा था—यह गोली चल जाएगी।" पर तभी अचानक मेरा हाथ अपनी जाँघ पर गया तो खून से भर गया, और तब जोर से मैं चिल्लाया—'गोली!' एक क्षण को तो लगा, लो यार, चले अब! एकाध मिनट के मेहमान और हैं! पर तब फिर खयाल आया जब अभी तक नहीं मरे, तो मरने का कोई डर अब नहीं! इस बीच में वहाँ पूरा मुहल्ला जमा हो गया था। गोली की जगह को हमने मुट्ठी में पकड़ रखा था और स्वस्थ थे। बस अस्पताल आए—चार दिन वहाँ रहे और फिर आकर नीचे ग्राउण्ड फ्लोर होने के कारण लुभाया के ऑफिस में चार दिन रहे, अब यहाँ आ गए। दो दिन बिल्कुल नहीं उतरे। इस सबकी प्रतिक्रियास्वरूप कल जो 11 बजे सुबह निकले तो रात को आठ बजे आए और अब घाव की जगह सूज आई है। अब सोच लिया है प्रायश्चित के लिए दो दिन और बन्द रहेंगे। वैसे नुकसान कुछ नहीं हुआ—अगर घाव न बिगड़े तो। मामला गोश्त तक ही रहा। बता अब तो हुआ विश्वास? या अस्पताल का सर्टिफिकेट भेजूँ? पर अफसोस, सर्टिफिकेट इसी तरह गुस्से में आकर 'दीदी' को भेज चुका हूँ। वह भी तो विश्वास नहीं कर रही थीं—साला कोई विश्वास नहीं करता।

अथ दीदी-पुराण लिख्यते। दीदी का कुछ हाल लिखूँ? तो सुन, इधर बहुत-सी बातें हम लोगों में हुईं, जिन्हें समय पर बताऊँगा। वे जब देखो तब हमसे कुछ न कुछ पढ़ने को माँगती रहती थीं। और संक्षेप में बात यहाँ आई कि वह हमें तीन हजार रुपये उधार एक-डेढ़ साल को देने को तैयार हैं बशर्ते कि हम भले आदमी की तरह लिखते रहें। अब मेरे दिमाग में फिर वही 'राजकमल' वाली स्कीम घूम रही है। इधर यहाँ के तथा लखनऊ-दिल्ली और इलाहाबाद के कुछ लोगों ने 'उखड़े हुए लोग' माँगने की बात चलाई और हमने यह कहकर बात खत्म कर दी कि अकेला उपन्यास नहीं देना। कम से कम तीन किताबें। रामपुरिया वालों ने तो विज्ञापन भी कर डाला था और लगभग 600 रुपया एडवांस देने को तैयार थे। यहाँ हमारा मन भरा नहीं। करोड़पति सेठ हैं, दिमाग में आया प्रकाशन बन्द कर दिया तो एक तो सड़ ही रहा है

दूसरा उपन्यास यों सड़ेगा। वैसे वस्तुस्थिति भी यही है—यहाँ की। सो हम अब जमे बैठे हैं कि कहीं देंगे तो तीन-चार किताबें साथ देंगे। आते समय अश्क जी ने इलाहाबाद में तुम्हारी 'गलती' को उदाहरण स्वरूप उपस्थित करते हुए मुझे काफी समझाया कि तुम रुपये लो कहीं से और दो महीने में चारों किताबें मुझसे छपा लो—और एक साल में मुझसे रुपया ले लो। और तो सब ठीक है पर समय पर अश्क जी से रुपया मिल जाएगा—लोगों की सूचनाओं के अनुसार उम्मीद नहीं है। और चाहे वह ले नहीं जैसा कि पत्र से भी साफ है लेकिन मेरा तो निश्चय है कि दीदी के लिए हुए रुपये एक बार भेज जरूर दूँगा। लौटा देगी तो रख लूँगा। सीधी लड़की है यार, उसे यों सज्जनता के बदले में धोखा मिलेगा तो सज्जनता से ही उसका विश्वास उठ जाएगा। सो ओमप्रकाश को लिखा तो है। मार्च का महीना है, वे लोग शायद व्यस्त होंगे, पर एकाध दिन में पत्र की उम्मीद कर रहा हूँ। सलाह दे। पिछले साल इन्हीं दिनों बातें हुई थीं—तब कुछ कर करा देते तो अब तक या पाँच-छः महीने बाद ही सही, कुछ पैसे मिलने लगते। तब तो तेरी खोपड़ी में घुसा नहीं। अब तू भी क्यों नहीं मेरे साथ आता? चार किताबें हमारी और दो तेरी। कर डाल ओमप्रकाश से बात। इधर तो तूने काफी रुपये कमा डाले हैं। समझ लेना फिर काश्मीर हो आया था। दो साल में तो कुछ देंगी ही, यों एक अनिश्चित अवधि के लिए रखी-रखी ही क्या सड़ रही हैं?

दूसरी बात यह कि फिर 'ज्ञानोदय' से ऑफर आया है। कहे तो चला जाऊँ? थीसिस वीसिस तो होती नहीं है फिर।

अगर तू अप्रैल में आए तो यह सारी बातें तुझसे की जाएँ, और फिर साथ ही दिल्ली चला जाए—क्या विचार है? उधर मैं अप्रैल के दिनों में जाना भी चाहता हूँ। इसी ट्रिप में बनारस भी जाना ही है, नामवर सिंह ने बुलाया है—शायद बनारस से स्कॉलरशिप का प्रबन्ध हो जाए और हम वहाँ के स्कॉलर हो जाएँ।

तीसरी बात यह कि आजकल यह तूने अनुवाद करने का झंझट क्यों ले लिया है? कितने पैसे दे रहे हैं सरिता वाले? फौरन ही ज्ञानोदय में 'आखिरी चट्टान तक' समालोचनार्थ भेज दो क्योंकि इस खानापूरी के बाद ही मैं उसमें आलोचना दे सकूँगा। बात कर ली है। 'उपन्यास विशेषांक' की आलोचना पर अपनी राय लिखना। नए अंक में आ रही है।

और साले, किताब के बारे में साफ-साफ लिख न, तुझे कैंची वर्क लग रहा है यहाँ 'रेयर' किताबें पढ़-पढ़कर ढेर कर दिया है। चेखव का ओल्गानि पर लिखे पत्रों का मोटा पोथा—जो अब 'आउट' होने के कारण लाइब्रेरी से बाहर नहीं निकलता, ऍर्पलोव की किताब, जो 35/- कर्ज करके 18 रुपये में खरीद कर लाया और चार साल बाद हिन्दुस्तान के हर बड़े शहर को छान मारने के बाद यहाँ मिली, चेखव की डायरी, शुस्तोव और मिखायल के लेख—याद भी तो नहीं है क्या-क्या पढ़ा है, और चूँकि पढ़ने का सिलसिला किताब छप जाने के बाद भी रहा है, इसलिए दो लेख और अभी लिखने हैं। और हाँ, 'नदी प्यासी थी' की जड़ें भी सीगल में ही निकलीं—बहुत साफ। बदमाश, उस पर लिख कुछ। अच्छा आ जिस प्रकार वर्डस्वर्थ और शेली ने

अपनी कविताएँ मिलकर एक किताब में छपाई थीं इसी तरह उपन्यासों पर आलोचनात्मक लेखों की किताब छपा डालें, आधे लेख तेरे—आधे हमारे।

बस काफी लिख दिया। लड़कियों के सिवा इतने लम्बे पत्र मैं आजकल किसी को लिखता नहीं हूँ—समझे। पर यार, कोई बात नहीं—तू भी तो अपनी ही लड़की है न! इधर तू जो खत डालने में नखरे दिखाने लगा है इससे मैं सख्त ही क्रुद्ध हो गया हूँ। अच्छा सलाम।

राजेन्द्र यादव

12-5-55

चालाक पंजाबी,

ठीक 12 तारीख को यह पत्र तुझे लिख रहा हूँ जबकि तेरे हिसाब से मुझे 11 तारीख को उपन्यास पर तेरे विचार तथा चेखव की किताब मिल जानी चाहिए थी। बोल, क्या सजा दूँ?

आते हुए दो दिन आगरा, एक दिन बनारस रुका था। द्विवेदी जी बनारस यूनिवर्सिटी का स्कॉलर बनाकर ही भली प्रकार पथ निर्देशन कर सकेंगे—मुझे उनकी बातों से ऐसा आभास हुआ। बनारस रहने की भूमि भी वे प्रस्तुत कर देंगे। इधर 'ज्ञानोदय' वालों के पैसे अत्यन्त कम मालूम हुए। दूसरे वे कम से कम एक वर्ष तक वहीं रहने का आश्वासन भी चाहते थे। ऊँचे स्तरों में गहराई में भी कुछ द्वन्द्व था सो यह सब देख-विचार करके छुट्टियों के बाद बजाय ऑफिस अटेण्ड करने के हम भदन्त नागार्जुन के साथ जाकर नियमित रूप से ऑफिस पधारने में असमर्थता का पत्र दे आए। नेमिचन्द्रजी ने बुलाकर समझाया भी। पर हमने सोचा जो हो गया सो हो गया। लेकिन शायद 'ज्ञानोदय' हमें इतनी आसानी से छोड़ेगा थोड़े ही। दो लेख तथा पुस्तक समीक्षा देनी है। तू अपनी कहानी के सम्बन्ध में स्पष्ट लिख दे कि एक भी शब्द बदलने की जरूरत नहीं है। अच्छी रचनाओं को अपने हिसाब से दाब कर छोटा करने के स्थान पर 'ज्ञानोदय' को अच्छी रचनाओं के स्तर तक आना होगा। जगदीश जी की आदत लेखों, कहानियों को दुबारा लिख डालने की है। तेरी कहानी में सूद साहब वाले होटल के हिस्से में 'अनैतिकता' थी सो वे कुछ तराशने की बात फोन पर कहते थे। वैसे तेरी रद्दी कहानियाँ भी मैंने पढ़ी हैं लेकिन वह अच्छी कहानी है, इसलिए मैं उसमें एक भी पंक्ति गलत नहीं देखता। विस्तृत पत्र दे।

राजेन्द्र यादव
17-5-55

महामहिम राकेश,

खत कल मिला और मैंने परम उत्सुकता से उसे खोला, और घोर निराश इसलिए हुआ कि इधर तुम्हारे भीतर आलोचनात्मक बुद्धि का जो निरन्तर ह्रास होता जा रहा है, वह काफी चिन्ता का विषय है। उपन्यास में जो दोष थे, और जिनके लिए मैं डर रहा था कि तेरी माइनस नौ चश्मे वाली दृष्टि से कदापि नहीं बच सकेंगे उनका उसमें जिक्र भी नहीं है और जो वास्तव में दोषी नहीं हैं, उधर तूने तलवारबाजी दिखाई है। क्या उधर बहुत ज्यादा गर्मी पड़ रही है? तो ले, अपने एक-एक आरोप को मेरे ब्रह्मास्त्र से छिन्न-भिन्न होता देख :

मेरी समझ में दरअसल 'उखड़े हुए लोग' उपन्यास है ही नहीं—उसकी कहानी में जो एक गठाव और समग्रतः एक विशेष क्लाइमेक्स की ओर बढ़ने वाली क्लाइमेक्स है--वह उपन्यास की शैली से बिलकुल भिन्न है। पूरे उपन्यास में कहानी एक ही जगह उपन्यास की तरह ढील ग्रहण करती है—जहाँ शरद, जया, सूरज, कपिल के यहाँ जाते हैं। इसलिए गठान, गति, क्लाइमेक्स सभी दृष्टियों से उसका शिल्प कहानी का शिल्प है। शायद तुम्हारी दो विरोधी बातों को मिला डालने की सफलता भी यही है कि कहानी बुरी तरह रोचक है। दूसरे उसकी अपील 'इण्टैलिजेंशिया' तक ही है। यहीं तुम्हारी तीसरी बात भी कटती है कि अन्त 'मैलोड्रैमेटिक' है। 'मैलोड्रैमेटिक' अन्त तक होता जब बिना समुचित कारण और प्रस्तावना दिए मैं घटनाओं को जबर्दस्ती झटके देता और ऐसे अवसरों के लिए महामन्त्र, पृष्ठभूमि संगीत को पूरे जोर से विभिन्न विरोधी सीमान्तों पर बजाने जैसा काम कर डालता। क्या अन्त की कोई भी घटना ऐसी है जो अचानक आ टपकी है या कम से कम पाँच चैप्टर पहले (उपन्यास में कुल 10 चैप्टर हैं) उसके सूत्र नहीं दिए गए? पता नहीं, तूने उसमें कहाँ से 'कृष्ण चन्दरियत' का आविष्कार कर डाला है। शायद पार्टी में इस तरह का कुछ आभास तुझे मिला हो। 'कृष्ण चन्दरियत' वाली बात इसलिए नहीं जमी कि सारी घटनाएँ जिस ढंग से विकसित हुई हैं—वे अनन्त काल तक यों ही नहीं चली जा सकती थीं और जहाँ भी वे मिलतीं कि इसी तरह का प्रभाव उत्पन्न होता।

अगली बात कि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में भेद है। अन्त में पात्र नकली पेंट चढ़ाए लगता है—या कठपुतले हैं। हे राकेश साहब, 'पात्र कठपुतले हैं' ऐसा कहना अगर आज की आलोचना का फैशन नहीं है तो मुझे जरा अपनी सूक्ति का भाष्य करें। क्या वे कहीं ऐसा टर्न लेते हैं जो उनके स्वभाव—या पूर्व परिचय से बिलकुल संगति नहीं खाता? या क्या वे सभी अपना अलग-अलग मनोविज्ञान लेकर नहीं आते? —और क्या वही मनोविज्ञान बाह्य परिस्थितियों के संयोग से उन्हें परिचालित नहीं करता? —अन्त में स्वयं भी परिवर्तित नहीं होता? यहाँ फिर तुम्हारे 'वदतोव्याघात' दोष की ओर ध्यान दिला दूँ कि—'अन्त में सभी पात्र 'कम्पोजिट' हो गए हैं।'

क्या तुम चाहते थे कि जो चरित्र जैसा शुरू में तुम्हारे परिचय में आया है, वैसा ही अन्त तक रहे? सभी चरित्र कँटे-छँटे सपाट होते तो शायद 'कम्पोजिट' नहीं होते, है न? असल में गलती यह है कि तुम कुछ पात्रों के साथ पूर्वाग्रह लेकर चलते हो—जैसे देशबन्धु का उदाहरण दूँ। तुमने शुरू के दो-एक चैप्टरों में ही समझ लिया कि उपन्यास का खलनायक यह है। अब लेखक क्यों व्यर्थ ही उसे इधर-उधर बचाकर पाठक को बहकाना चाहता है, क्यों सीधे-सीधे उसके खलनायकत्व को घोषित नहीं कर-करा देता? अपने शरद इत्यादि पात्रों से उसे उत्कट घृणा दिलवाए और स्वयं भी उसके विषय में व्यंग्य-बहुल भाषा लिखे। जबकि अन्त तक उसे भरसक खलनायक घोषित किए जाने से बचाया गया है। रही शरद की बात। तुमने उसे अश्क के चेतन और जगमोहन का भाई बताया है। कुछ हद तक मुझे भी वह बात ठीक लगी, लेकिन उस स्थिति से बचाव के लिए एक दलील तुम्हें जमे तो दूँ। हम लोगों में एक बहुत भारी कमजोरी यह है कि अगर भूल-चूक से लेखक—या जानबूझकर ही—घर के कुत्ते को भी पूरी कहानी कहने का माध्यम बनाता है तो हम उसकी छाती पर लद जाते हैं कि साले, तेरे जरिये हमने कहानी जानी है अब तू ही इस कहानी का नायक भी बन, और वे शर्तें भी पूरी कर जो एक नायक को करनी होती हैं। बा-अदब मैं कहना चाहूँगा कि चेतन और जगमोहन अपने उपन्यासों के नायक हैं लेकिन शरद अपने उपन्यास का नायक नहीं है। वह एक ऐसी आँख है जिसके माध्यम से पूरी कहानी देखी जाती है, उस देखने की प्रक्रिया में ही उस आँख का जितना परिचय मिल जाता है वह काफी है। आगे—उपन्यास का यह तो एक ही भाग है।

साले बदमाश, बता तो सही इसमें मैंने कहाँ दुस्साहसिकता दिखाई है?

अब तुम्हारी कुछ बातें स्वीकार करने से पहले मैं तुम्हारी इस बात का भी खण्डन कर दूँ कि सभी पात्र प्रायः एक ही भाषा में सोचते-बोलते या मेरा पढ़ा-देखा उगलते हैं। क्या बातचीत करने का ढंग, लहजा, सूरज, शरद और देशबन्धु का एक ही है? क्या पद्मा और जया में फर्क नहीं है? मेरा तो विचार है कि वे अपनी हर बातचीत में अलग-अलग पहचाने जाने में समर्थ हैं। कहीं भी ऐसा नहीं हुआ कि जो बात सूरज को कहनी चाहिए थी वह देशबन्धु जी ने कही हो, या शरद के मुँह से निकली हो। पूरे उपन्यास में पुस्तकीय ज्ञान तीन जगह बघारा गया है—या अपना पढ़ा अच्छा लगा वही उगला गया है—कपिल के यहाँ नैतिकता पर बातचीत, पद्मा, जया और शरद के बीच नारी पात्रों पर बहस और अन्त में रेस की थ्योरी। उसके लिए भी एक्सक्यूज है। पहली बार तो टिपीकल ड्राइंगरूमी बहस देनी थी (पर्दे का व्यवधान दिखाकर) दूसरी में पद्मा का चरित्र ही ऐसा है, उसमें मैं क्या करता। है वह भावुक लड़की, किताबों में जीती और वहीं रहती है। उसके लिए बहुत स्वाभाविक है कि वह उसी भाषा में बोले। तीसरी जगह मुझे यह दिखाना था कि ऐसी पार्टियों में किस तरह बात-चीत दुनिया भर में घूम चुकने के बाद वहीं आ जाती है जहाँ से चली थी—अर्थात् औरत!

हमारे दिए हुए 'डिटेल्स' से कुढ़कर बाणभट्ट का चेला (और मेरी तरफ से जोड़ दो) और जायसी का ताऊ कहना तेरी परम नीचता है।

तुम्हारी वह बात ठीक लगी कि जहाँ शरद उपस्थित नहीं है वहाँ का वर्णन उचित नहीं है। तो बता पिछले पार्टी के वर्णन काट डाले जाएँ? –ऐसा कई बार मन में आया लेकिन जब-जब इस दृष्टि से बैठा उसे, काटने लायक लगा ही नहीं कुछ? और उल्लू इस भ्रम को जल्दी निकाल दे कि राजेन्द्र यादव 'सो चालू' जीव है, शरद हो तो हो, हमें साले का क्या अचार बनाना है। मेरे पात्र तो मेरे ढंग से सोचते-बोलते हैं (विशेष रूप से शरद) लेकिन साले, अब तू लिख उपन्यास, देखूँगा उसमें तू कहाँ से उन्हें बिसरिया की बोली वुलवाता और दिनेश के दिमाग से सुचवाता है।

एक बात उपन्यास की निराशावादिता पर। पहली बात तो यह है कि इसका नाम है 'उखड़े हुए लोग' जो मोटे रूप से शरद–जया–पर लागू होता है, रेल से चलकर कहानी सात दिन बाद रेल पर ही खत्म होती है–उखड़े हुए सभी हैं। इसलिए किसी विशेष स्थल पर निराशावादी चिप्पी गलत है। अन्त में मैं क्या करता–तू ही बता? –तीनों के हाथ में एक मशाल पकड़वा देता? या वे प्रण करते कि जब तक देशबन्धु का नाश नहीं कर लेंगे तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे, और फिर बंगाली सिनेमाओं की तरह दूर प्राची दिशा में बढ़ते जाते हुए जया-शरद का लौंग शॉट! –यही तो तू चाहता था? कमबख्त! पलायन के बावजूद अन्त निराशावादी इसलिए नहीं है कि जो घृणा, गुस्सा या उखाड़ फेंकने का संकल्प उस जगह मैं एक लम्बे भाषण में कहलाता–उससे कुछ अधिक तीखे शब्दों में पाठक खुद सोच लेता है–कहानी आ ही उस जगह गई है जहाँ पाठक को यही सब सोचना होता है। इस प्रकार वह अन्त निराशावादी नहीं है। मुंशी का तो कहना है कि शुरू से तो पाठक शरद के साथ है लेकिन अन्त में जहाँ पाठक देशबन्धु के प्रति एक प्रवल गुस्से से भड़क उठता है–शरद नपुंसक की तरह चुप है–वहाँ वह पाठक से पिछड़ गया है।

यार, तू शुरू के वह रेल वाले भाषण कटवाकर मेरा दिल तोड़ना चाहता है। बता उन्हें मैं कहाँ फिट करूँ? दूसरे वे बहुत जरूरी हैं शरद और जया के भावी सम्बन्ध-विकास की दृष्टि से भी। यह तो मैं मानता हूँ कि वह परम बोर हैं लेकिन कोई ऐसी तरकीब नहीं हो सकती कि साधारण पाठक उन्हें पढ़े ही नहीं, बस किस्सा-भर जान ले। तू इस बार मुझे साफ-साफ लिख ताकि मैं टाइप करते हुए उस पर विचार कर सकूँ।

खैर छोड़ो उपन्यास को। अब अपने हल्ले लिख। कितने रुपये बना लिए। मुझे तो लगता है कि यन्त्रचालित हाँडी की तरह ज्ञानोदय का एशिया विशेषांक अपनी ही खोपड़ी पर गिरेगा। यहाँ की गर्मी के मारे तो मेरी दम निकली जा रही है। शायद शीघ्र ही हम लोग मकान बदल लें–लेकिन अगले महीने तक ही यह सम्भव होगा–इस प्रकार और दो मील पीछे हट जाएँगे।

तुम्हारे बिसरिया राम के क्या हाल-चाल हैं? साथ वाला खत उसे दे देना। और उस कन्वेंशन में क्या हुआ? दिल्ली से कौन-कौन आया था?

माताजी और वरीन को यथायोग्य बोलो। शीलाजी कहाँ हैं आजकल?

यार, वह तस्वीर काटकर भेज, वर्ना ईर्ष्या के मारे मेरी दाह-क्रिया हो जाएगी।

आज सुबह ही भदन्त कौसल्यायन ने याद फरमाया था, सो वहीं गया था। 'पच्चीसवाँ घण्टा' नाम से उन्होंने एक बहुत अच्छे उपन्यास का अनुवाद कर डाला है--पढ उसे बहुत ही अच्छा है।

सस्नेह
गजेन्द्र यादव

कलकत्ता
31-10-55

राकेश,

इससे पहले तुझे मेरा एक्सप्रेस खत मिला होगा। साले, तू नही समझता है तूने मेरी पोजीशन क्या कर डाली है—बदमाश! जो भी कहानी तेरे हाथ में हो जैसी भी हो—फौरन इधर एक्सप्रेस भेज। कोई पुरानी-धुरानी छपी-छपाई हो—शीर्षक बदल और भेज। 'मदी' कल्पना में जब आएगी तब आती रहेगी। अगर अपनी भलाई चाहता है तो वह चार की सुबह को मुझे मिल जानी चाहिए। हरामखोर तू समझता है कि तेरी कहानी मुझे मिलेगी नहीं तो मैं तेरी कहानी छापूँगा नहीं? —मैं कोई भी उलटी-सीधी कहानी तेरे नाम से छापूँगा, देखूँ तू मेरा क्या कर लेगा? तेरी 'सीमाएँ' कहानी 'सरिता' जैसी किसी गन्दी पत्रिका में तो नहीं छपी जहाँ दुबारा छपने में..'फटती' हो—बस यही है कि मुझे दुबारा टाइप करनी होगी। शीर्षक इत्यादि ऐसे बदल दूँगा कि तू भी चौंके कि यह कहानी कहाँ से आई। नहीं राजा बेटे, तू ही भेज दे न। देख, मैंने कहानियों के सिलसिले में एक परम्परा रखी है कि एक कहानी 'प्रसिद्ध लेखक' की हो शेष साधारण। अक्टूबर के अक में प्रथम कहानी तेरे गुरुजी की, फिर शेष, नवम्बर में कमल जोशी, दिसम्बर में मोहन राकेश, जनवरी में भारती...सो फोर्थ एण्ड सो ऑन! सो बच्चा, पारिश्रमिक तेरा मैंने बढ़वा दिया है। एक्सप्रेस! एक्सप्रेस कहानी भेज! एक उस उर्दू वाले की शिष्ट हास्य रस की भिजवा।

इस सबका कारण यह है कि जगदीश जी से मेरा संघर्ष बढ़ रहा है। नवम्बर में मिलकर तुझे बताऊँगा कि किस प्रकार मैं बुरी तरह महान होते-होते बचा। और परिणाम यह हुआ कि जगदीश जी को अपना हित इसी में सुरक्षित लगा कि वे मुझे बाहर खड़ा कर देंगे, लेकिन ऊपरी लोगों के इरादे कुछ गहरे दिखाई देते हैं। एक दिन श्रीमती अध्यक्षा-पुत्र ने फोन पर घोर गद्गद विभोर होकर मुझे सूचना दी कि "ऐसी कहानी मैंने पिछले पाँच वर्षो से नहीं पढ़ी—सच कहूँ तो 'उसने कहा था' के बाद में पढ़ी ही नहीं!" थोड़े लिखे को बहुत समझ और इसी में से अर्थ निकाल। लेकिन

प्यारे, मैं बुरी तरह ऊब उठा हूँ—'ज्ञानोदय' ज्ञानोदय! जिन्दगी में साला और कोई काम ही नहीं। चित्रकारों के जीवन पर पढ़ने को छः-सात चित्रकारों के जीवन पर लिखे उपन्यास लाए, सो सालों को छूने तक का मौका नहीं मिला—यहाँ रहे तो मिलेगा भी नहीं—कहानियाँ दिमाग में ही सड़ रही हैं, उपन्यास भरा जा रहा है खोपड़ी में—लेखों का सिर के भीतर ही कीमा बन गया। मेरी जिन्दगी क्या कलकत्ता घूमने और 'ज्ञानोदय' में सड़ने को बनी है—साले मुझे कहीं छोटे-मोटे शहर में कोई काम दिला नहीं तो एकाध महीने में छोड़-छाड़कर तेरा 'पेइंग गैस्ट' (मुबलिग 25/- महीना) बनता हूँ। फिर तू मेरी खुराक देखकर रोता ही रहियो।

तूने मेरी कहानी पर जो सच्ची-सच्ची बातें लिखी हैं—उनसे मैं खुश हुआ। बच्चा 'कमजोर लड़की' का प्लॉट 'अनकन्विसिंग' नहीं है—वह हवाई नहीं है। वस्तुतः यह कहानी श्री प्रकाश जी के जीवन की सच्ची कहानी है। दूसरे मैंने तो इसे सिर्फ एक प्रतीक बना दिया है कि आज के समाज की यह अफलातूनी प्रेमिका किस प्रकार कमजोर है कि अपने जीवन से न तो एकदम प्रेमी को काट फेंक सकती है न पति को। वह अच्छी प्रेमिका भी बनी रहना चाहती है और अच्छी पत्नी भी। न दोनों शब्दों को मिलाकर एक कर सकती है न झुठला सकती है। इस प्रकार उद्देश्य में यह कहानी अत्यन्त ही महान है, और टैकनीक का तो कहना ही क्या, इसने बड़े-बड़ों के छक्के छुड़ा दिए हैं।

इस बात से कुढ़कर अपना स्वास्थ्य मत खराब करना।

राजेन्द्र यादव

मोहन राकेश के पत्र राजेन्द्र यादव के नाम

दिल्ली का क्या समाचार रहा? साले, श्यामलता जी इतनी मेहरबान है तो उनसे एक प्रकाशन गृह ही क्यों नहीं खुलवा लेता। यहाँ तो हसद के मारे छाती फट गई होती—बड़ी मुश्किल से जब्र किया है।

दिसम्बर में 180, माडल टाउन, जालन्धर में ही रहना है। अप्रैल तक कलकत्ते रहा तो वहाँ आऊँगा।

मरदूद, उस 'आखिरी चट्टान' वाले लेख का क्या हुआ?

और क्या तरंगें हैं?

सस्नेह
राकेश

विश्वसाहित्य के स्रष्टा,

साले दूसरा 'मुर्दों का टीला' लिख दिया है क्या? यह तो मुझे पता है ही कि कलेवर की स्थूलता (उपन्यासों में, व्यक्तियों में नहीं) किस बात की द्योतक होती है।

150 रुपये की आशा में गीदड़ बनकर दिल्ली जाना निरर्थक है। सत्येन्द्र आ रहा है तो कोशिश भी छोड़ दो। तेरी बुढ़िया दीदी की शान में अब कुछ नहीं कहूँगा, 'बहन...!'

टाइपराइटर 250 रुपये में बेचना हो तो मेरे पास ग्राहक है।

सस्नेह
राकेश

श्री राजेन्द्र यादव,
5161, राजा की मंडी, आगरा

टिप्पणी : दोनों पोस्टकार्ड स्थान एवं तिथि रहित। पहले कार्ड पर पोस्ट ऑफिस की 16 दिसंबर और दूसरे कार्ड पर 22 दिसंबर '54 जालंधर की मुहर लगी है।

कमलेश्वर के पत्र राजेन्द्र यादव के नाम

502, बादशाही मंडी,
इलाहाबाद-3

प्रिय राजेन्द्र,

खत मिले थे। 'प्रश्नवाचक पेड़' का कवर आज रजिस्टर्ड पोस्ट से भिजवा रहा हूँ। 'नीली झील' तुम्हें और मन्नू जी को अच्छी लगी, यह तो होना ही था—खैर चलो, तुम्हारा भ्रम तो टूटा कि सिर्फ तुम्हीं अच्छी कहानियाँ लिखते हो...Wisdom prevailed on you! अब देखें, बकलम खुद का क्या ख्याल है?

घर में तीन भतीजे स्मॉल पॉक्स से पड़े थे, दो ठीक हैं, एक अभी भी उसी में है। 'कुलटा' के बारे में तुम्हें शीघ्र ही लिखूँगा, यार मेरे अब जैसे भी हो सुधार ले न! राजपाल से पाकेट बुक्स में आ रही है, यह तो पता ही नहीं था, और अब उसके आ जाने के बाद मैं भला क्या कर पाऊँगा? राजकमल तो फिर भी निकाल लेगा।

मन्नू जी की बात से फिर गहरे में जा रहा हूँ! समझा था, उबर गया। शेष ठीक है।

एक और जबरदस्त कहानी सामने आ रही है होशियार। शायद मैं अगस्त में दिल्ली के लिए प्रस्थान करूँ। मन्नू जी को प्रणाम।

तुम्हारा कमलेश्वर
15.7.60

प्रिय राजेन्द्र,

पता चला कि मन्नू कसौली गई है। मन्नू ने भारती जी को जो लिखा कि इधर हिन्दी में उपन्यासों की हालत बहुत खराब है और कोई कुछ लिख नहीं रहा है। इससे मैंने कनक्लूड किया कि मन्नू निश्चय ही उपन्यास लिखने कसौली गई है।

इस वक्त तू बहुत व्यस्त हो गया होगा, तुझे फुर्सत तो नहीं होगी अपनी हरमजदगियों से—पर 'गर्दिश के दिन' के लिए तेरा आत्मकथ्य मुझे जुलाई में निश्चय ही चाहिए। इस वर्ष तेरा तर्पण कर देना चाहता हूँ।

चाहे जो हो—जुलाई के अन्त तक 'गर्दिश के दिन' के लिए लेख मुझे हर हाल में भेज दे। पत्र द्वारा सूचना दे कि भेज रहा है।

कमलेश्वर

नामवर सिंह का पत्र राजेन्द्र यादव के नाम

लोलार्क कुंड
वाराणसी
1-8-63

प्रिय राजेन्द्र,

'किनारे से किनारे तक' आज मिल गई। मिलोगे तो इस पर तुम्हारा हस्ताक्षर ले लूँगा। कहानियों के बारे में इस कार्ड में क्या कहा जाए, 'भूमिका' के रूप में 'नई कहानियाँ' वाले लेख को देकर तुमने अच्छा किया—बहुत अच्छा। 'नई कहानियाँ' का नाम आ गया तो तुमसे इस अंक में प्रकाशित 'बकलम खुद' पर सम्मति पूछ लूँ और साथ ही सम्पादकीय पर भी? क्या इन सबके साथ तुम्हारी भी सहमति है? मैं भी

देखूँगा कि स्वस्थ सामाजिकता से संयुक्त 'नई कहानी' का कौन-सा फार्मूला दोस्त ले आते हैं जिससे मेरे द्वारा किए हुए अहित का मार्जन होता है! एक साथ तीन-तीन मोर्चे पर चलने वाली इस लड़ाई के अंजाम में मेरी भी दिलचस्पी है।

देखो, शायद अगस्त तक मेरी किताब भी आ जाए। दो सौ पृष्ठ छप गए हैं 50-60 शायद और होंगे। भेजूँगा।

राकेश के साथ जो गुंडागर्दी अभी हुई उससे खून खौल उठा! क्या इस राज में लेखक इसी तरह अरक्षित रहेगा। इसके बाद फिर कभी

सस्नेह नामवर

श्री राजेन्द्र यादव
L-II, P-61, CIT Road,
CALCUTTA-14

भैरवप्रसाद गुप्त का पत्र राजेन्द्र यादव के नाम

नई कहानियाँ
सम्पादक
भैरव प्रसाद गुप्त

सम्पादकीय कार्यालय
15-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-1
10 मई, 1960

श्री राजेन्द्र यादव
पी 61/ सी.आई.टी. रोड, कलकत्ता-14

प्यारे राजेन्द्र,

बहुत दिन हो गए, जब से तुम कलकत्ता गए, तुम्हारा कोई समाचार नहीं मिला। उस परिपत्र का क्या हुआ? तुमने कलकत्ता से भेजने को लिखा था। उपन्यास लिखने में व्यस्त होगे, फिर भी पत्र लिखने का समय तो निकलना ही चाहिए। इस परिपत्र को लेकर हम सभी लोग चिन्तित हैं।

'नए-नए आनेवाले' मुझे बहुत ही पसन्द आई। जो बात जिस पैराये में तुमने प्रस्तुत की है, वह अद्भुत है। इसी तरह कुछ और कहानियाँ लिख डालो तो तुम्हारे बहुत आगे बढ़ जाने में मुझे कोई सन्देह नहीं।

मन्नू की कहानी लोगों ने खूब पसन्द की है। उनसे दूसरी कहानी भेजवाओ!

'कल्पना' का जून अंक देखा? तुम्हारी कहानी के विषय में 'चक्रपाणि' ने जो

लिखा है उसका प्रतिवाद आवश्यक है। चाहो तो 'कल्पनावालों' को पत्र दो या मुझे लिखो, जो 'नई कहानियाँ' में प्रकाशित हो।

'नई कहानियाँ' का जून अंक तुम्हें कैसा लगा?

और सब ठीक है। पत्र दो। हाँ, विशेषांक के लिए सितम्बर में तुम्हारी एक कहानी जरूर ही चाहिए। अभी से ध्यान में रखना।

तुम्हारा

भैरवप्रसाद गुप्त

मार्कण्डेय का पत्र

12-3-63

प्रिय राजेन्द्र,

तुम्हारी चिट्ठी मिली। कहानी चाहते ही हो तो भाई अपने भीतर के सम्पादक को सजग करो और गुलरा के बाबा का पिंड छोड़ो।

नई कहानियाँ की फाइल से 'धुन' या 'सहज शुभ' ले लो जो तुम्हें रुचे। खामखाह एक कमजोर रचना के द्वारा संपादन की कसौटी पर क्यों कच्चे उतरना चाहते हो। संग्रह से लेना हो तो मैं कहानियाँ बता चुका हूँ। जो भी पुस्तकें तुम फाड़ना चाहते हो फाड़ डालो। जब कभी तुम यहाँ आओगे मैं पुस्तकें तुम्हें दे दूँगा। शेखर और अमरकांत की भी पुस्तकें तुम्हें मिल जाएँगी।

नामवर की पुस्तक अभी प्रेस भी नहीं गई है। महीनों में छपेगी और हमारे तुम्हारे लिए उसमें उत्साहप्रद कुछ भी नहीं है। अलबत्ता निर्मल की कहानियों पर दो लम्बे लेख उसमें जा रहे हैं। नामवर जी ने अब शायद एकदम स्पष्टता और स्वीकारोक्ति का मूड बना लिया है। इस समय उनकी आलोचना की धार तुम्हारे और मेरे ऊपर ही पैनी हो रही है। इसलिए हे हमदमी बंधु उतावले न हो, मेरी पुस्तक उससे बहुत अच्छी होगी और उसमें एक लम्बा चैप्टर तुम्हारी अनुभवतन्त्र की कहानियों पर सुरक्षित है। तुम्हारे मन में जो महान बनने का रोग बस गया है उसे हम सब मिल कर पूरा करना चाहते हैं क्योंकि अब लगता है कि तुम भगवती प्रसाद वाजपेयी के युगवाली आत्मप्रचार की शैली पर उतर आए हो। स्थिति तुम्हारी भिन्न है, जहाँ तक मेरी समझ है मैं तुमको दुम उठाने वालों के बीच नहीं देखता। बहरहाल अभी तुम्हारे कुछ और लेखों का इन्तजार है। प्रसंग से बाहर जाकर यह सिर्फ इसलिए लिख गया कि इधर तुम गाहे-बगाहे कहानियों पर लिखते हुए अपनी कहानी की चर्चा करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते! यह काम दूसरों पर छोड़ो। हाँ, अगर शौक ही है

विचार व्यक्त करने का तो अपनी मान्यताओं को सैद्धान्तिक रूप देने वाले कुछ निबन्ध लिखो जिससे साहित्य का कल्याण हो।

राकेश यहाँ आया था। एक दिन मैं उसकी बातें सुनता रहा। दूसरे दिन मिलने की बात की लेकिन वह चला गया। काफी तरल हो रहा है मेरा यार और लेखकों की यूनिट और गुरु की बात करता है। अखबारों के मालिकों और पूँजीपतियों के प्रति सहृदयता और स्नेह और शिष्टाचार आदि की मोहक बातें करता रहा। लगता है तुमने निकालमिया के प्रति भी उसके सेन्टीमेन्ट को जगा दिया है। शायद वह फिर आएगा। तुम्हारा इधर आने का कार्य हुआ नहीं है क्या? बेहतर हो कि तुम भी समय निकाल कर कुछ दिनों के लिए इधर आओ। अच्छा रहेगा।

आशा है कहानियों के सम्बन्ध में तुम मेरी बात मानोगे और कोई कमजोर कहानी न दोगे।

भारती का कार्ड मिला है उनके लिए कहानी लिखना चाहता हूँ। हो सकेगा या नहीं इसी सोच-विचार में हूँ। अभी तक आगे नहीं बढ़ी। तुम काफी मौन से काम ले रहे हो और मैं इसे देख रहा हूँ।

आशा है प्रसन्न हो

तुम्हारा
मार्कण्डेय

श्री राजेन्द्र यादव
कलकत्ता

शैलेश मटियानी के पत्र

विकल्प प्रकाशन,
261-अ, मोतीलाल नेहरू नगर,
इलाहाबाद-2

आदरणीय राजेन्द्र भाई,

मैं ठीक से स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ कि इससे पहले एक पत्र आपको लिख चुका हूँ, या नहीं।

'चील' कब तक पूरा छप जाएगा? एक कृपा करेंगे—जैसे ही तैयार हो, लेखकीय प्रतियाँ बु. पो. द्वारा तुरत भिजवाने की व्यवस्था कर देंगे।

'महाभोज' संग्रह प्रकाशित हो चुका है। श्रीकृष्ण को मैंने लिखा है कि वह एक प्रति आपको दे दें।

लेख कहानी में छपा था, आपने देखा होगा। आधे से अधिक संक्षिप्त जरूर है। फिर भी मेरा मन्तव्य तो आ ही जाता है। यहाँ दूधनाथ सिंह बहुत योजनाबद्ध तरीके से इसे क्रान्तिकारी लेखकों तथा जनता के विरोध में 'इमरजेंसी का फायदा उठाकर' लिखे गए लेख के रूप में चर्चा का केन्द्र बनाए हुए हैं। इस योजना को व्यापक रूप देने की भी इनकी आकांक्षा है। ...लेकिन खुद दूधनाथ कुछ लिखेंगे नहीं, दूसरों को प्रेरित करेंगे, क्योंकि वो शायद, लेखक के मर जाने पर ही लिखना उचित समझते हैं।

वैचारिक विरोध की गुंजाइशों से न मैं कभी इंकार करता हूँ और न इस तरह की स्थिति का विरोध, लेकिन दुरभिसंधि के स्तर की चीजों का कोई क्या करे? इन्हें सिर्फ सुलटा ही जा सकता है।

शेष आपका पत्र पाने पर लिखूँगा।

आप सानन्द होंगे।

आपका
शैलेश मटियानी

Personal

श्री राजेन्द्र यादव,
अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली

25, आवास विकास कॉलोनी,
हलद्वानी

राजेन्द्र भाई,

सोचता रहा कि कभी फोन करके घर जाकर मिलूँगा आपसे और बताऊँगा कि एक लम्बे उजाड़ के बाद एक असम्भव सम्भव होता भासित हो रहा है। भीतर तक यह बात धँस चुकी थी कि कहीं, सम्भवतः किसी बेटी का विवाह देखना सम्भव नहीं हो सकेगा।

यह पत्र भोपाल से लिख रहा हूँ।

29 को विवाह है। 22 को बाराती आएँगे और मैं 23-24 से पहले नहीं पहुँच सकूँगा। यह एक स्वाभाविक परिणति है, गलत जिये हुए की।

आप दोनों आशीर्वाद देंगे। अपने स्थान पर रहकर ही सही। शेष फिर।

विग्रह मानेंगे, तो क्रोध नहीं आएगा।

सानन्द होंगे।

आपका शैलेश मटियानी

दूधनाथ सिंह का पत्र

3, कासिप्स रोड,
शंभु बैरेक्स, इलाहाबाद-1

आदरणीय यादव जी,

आशा है, आप सानन्द होंगे।

मैं इधर कुछ भयावह आर्थिक संकटों में फँस गया हूँ। पिछली गर्मियों में जब आपसे मुलाकात हुई थी तो आपने कहा था कि मेरी पुस्तक 'सपाट चेहरे वाला आदमी' की रॉयल्टी का हिसाब जुलाई तक मुझे पहुँच जाएगा। रायल्टी के हिसाब की कोई भी प्रतिलिपि मुझे अभी तक (और इसके पहले भी कभी) नहीं मिली। कृपया इस सम्बन्ध में तुरत कार्यवाही करें। हिसाब की प्रतिलिपि और जितना भी, जो कुछ भी बनता हो, अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

आप इस बात को जानते हैं कि इस सम्बन्ध में इसके पहले मैंने आपसे कोई खतो-किताबत नहीं की। आप एक लेखक होने के नाते यह अनुमान लगा सकते हैं कि किस तरह के संकट पड़ने पर मैं अपना संकोच तोड़कर आपको यह खत लिख रहा हूँ।

आशा है इस पत्र को आप प्रकाशक और लेखक के सम्बन्धों पर न तौलकर लेखक और लेखक तथा मित्रता के सम्बन्धों पर तौलेंगे।

मैं प्रतीक्षा करूँगा।

आपका स्नेहाधीन
दूधनाथ सिंह

श्री राजेन्द्र यादव
अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली

गिरिराज किशोर का पत्र

507, आई.आई.टी.
कानपुर

प्रिय राजेन्द्र,

तुम्हारा आग्रह था कि मैं तुम्हें पता लगाकर लिखूँ कि वहाँ कुछ हुआ या नहीं। नहीं पता लगा। तुम पता लगाओ और लिखो।

यहाँ आने के बाद बातें सब यथावत हैं। आजकल अनन्तमूर्ति आए हुए हैं। उन्हें भी सेन्टर की स्कीम बहुत पसन्द आई। वे यहाँ आने के लिए तैयार हैं। जव यहाँ से क्लीयर हो तो काम बने।

मुझे 23 ता. को लखनऊ टी.वी. पर एक मूल्यांकन सम्बन्धी परिचर्चा में भाग लेना है। कहानी और उपन्यासों के बारे में मुझे लिखो कि कौन-कौन से अच्छे उपन्यास और कहानी संग्रह 1983 में छपे हैं। यदि दो-चार भिजवा सको तो तत्काल भिजवा दो। रघुवीर सहाय का कहानी संग्रह कब छपा?

सस्नेह
तुम्हारा
गिरिराज किशोर

राजेन्द्र यादव का पत्र भारत भारद्वाज के नाम

श्री राजेन्द्र यादव
103, एस.एफ.एस. डी.डी.ए. फ्लैट,
हौज खास, नई दिल्ली-16

प्रिय भारत जी,

आपका पत्र मिला, जिसमें आप टिकट लगाना भूल गए थे। उसके अन्दर ही आपका वह कार्ड भी था, जिसे आपने शक्ति नगर भेजा था। शायद, आपको पता ही होगा कि मैंने 20 वर्षों बाद शक्तिनगर छोड़ दिया है और हौज खास चला गया हूँ। पता ऊपर लिखा है।

सबसे पहले तो मुझे यह बताइए कि आप किस सर्विस में हैं और यह तबादला केवल कश्मीर में ही होता है? वहाँ की स्थिति कैसी है? अखबारों में तो हाल चिन्ताजनक ही मिलता है।

'प्रेत बोलते हैं' के विषय में जो बात लिखी वहाँ अप्रासंगिक थीं, वह यह है कि प्रगति प्रकाशन वालों ने वह पुस्तक बनारस के सुलेमान प्रेस को छपने के लिए दी थी, लेकिन उनकी स्थिति यह नहीं रही कि वह वहाँ से किताब उठा पाते। किसी तरह वहाँ से नामवर जी ने खुले फर्मे मुझे भिजवा दिए थे। कुछ समय बाद वह सारी पुस्तकें प्रगति प्रकाशन के बैनर को बनाए रखते हुए ही दिल्ली पुस्तक सदन पटना वालों ने उठा ली और वहीं से धीरे-धीरे उसकी प्रतियाँ बिकीं। इस प्रकार वह एक हजार प्रतियाँ दस वर्ष तक एक-एक, दो-दो करके बिकती रहीं। हो सकता है उन्हीं में

से कोई पुस्तक डॉ. नन्दकिशोर नवल के पास हो। स्वयं मेरे पास भी एक-दो प्रतियाँ हैं। मगर, पुस्तक न पाठकों के हाथ में आई और न लेखक को कोई प्रतिक्रिया किसी की मिली, यह सत्य है। हो सकता है कि 'दिल्ली पुस्तक सदन' वालों ने किसी सरकारी खरीद में उसे घुसाकर स्टॉक समाप्त कर दिया हो। बहरहाल, वह किताब ओमप्रकाश जी के जमाने में राजकमल से प्रकाशित हुई। अच्छा है इससे बहुत कुछ भ्रम दूर हो गया।

टोडरमल की किताब पर आपके विचार जानकर अच्छा लगा। जब प्रबुद्ध पाठक इस प्रकार के प्रयासों की प्रशंसा करते हैं, तो बल मिलता है। हालाँकि, बिक्री की दृष्टि से यह पुस्तक भी काफी दयनीय स्थिति में है। मगर, मुझे इससे सन्तोष है। और नया क्या कर रहे हैं?

आशा है स्वस्थ, सानन्द हैं।

नए वर्ष की शुभकामनाओं सहित,

आपका
राजेन्द्र यादव

श्री भारत भारद्वाज,
सिकॉप बिल्डिंग
भरत रोड, डोडासिटी, जम्मू-182202

अश्क बनाम राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव के नाम

इलाहाबाद,

प्यारे यादव,

परसों कौशल्या अपने भाई की बरसी पर बम्बई चली गई। और तुम्हारी पुस्तक 'औरों के बहाने' मेरी मेज पर रखती गई। उसने जरूर पढ़ी होगी, लेकिन उसे क्या अच्छा लगा, यह जल्दी में उसने नहीं बताया। आएगी तो पूछूँगा।

सबसे पहली बात यह है कि यह पुस्तक मुझे 'प्रेमचन्द की विरासत' से बेहतर लगी। वह पुस्तक मैं सारी पढ़ पाया था। 2-3 ब्रिलियंट लेखों के बाद कहानी सम्बन्धी निबन्धों से तुम्हारी गलत सोच और कन्फ्यूजन और 'नई कहानी' के सन्दर्भ में तुम्हारी धाँधली भरी धारणाओं ने (जिनका झूठ आज स्वतः सिद्ध है) बाधा उपस्थित

कर दी थी और मैंने उसे छोड़ दिया था। इस पुस्तक के सभी लेख मैं पढ़ गया हूँ, इसलिए प्रकटतः यह मुझे अच्छी लगी।

अजीब बात है, लेकिन सबसे पहले मैंने अन्तिम टिप्पणी पढ़ी। मैं तुम्हारे निम्नलिखित वाक्यों अथवा सूत्रों से सहमत हूँ।

(क) दिवंगत साहित्यकारों पर निकले अधिकांश संस्मरण किराए पर रोने वालों की श्रद्धांजलियाँ जैसे लगते हैं।

(क्या 'मंटो : मेरा दुश्मन' भी? नहीं, तो उसका उल्लेख करना चाहिए था।)

(ख) वस्तुतः हमारे साहित्य में जीवन की तरह ढोंग अधिक है, और ईमानदार व्यवहार या ईमानदार संस्मरण-लेखन की परम्परा या तो है ही नहीं, या बहुत ही क्षीण है।

('चेहरे : अनेक' में ढोंग कहाँ है? ईमानदार संस्मरण-लेखन वह कैसे नहीं है? अथवा तुमने उसे 'क्षीण' की कोटि में गिन लिया है?)

(ग) मैं समझता हूँ कि अब समय आ गया है कि हम अपने साहित्य को मुर्दों और पंडों का ही साहित्य न बनाए रक्खें, और ईमानदारी से जो महसूस करते हैं—उसे सच्चाई से लिखें।

(समय तो बहुत पहले भी आ गया था। 1955 में मैंने 'मंटो : मेरा दुश्मन' लिखा था। पर तब तुम्हारे लिए समय नहीं आया था।)

(तुमने इसमें इस्मत चुगताई के संस्मरण 'दोजखी' और साहिर लुधियानवी के संस्मरण 'देवेन्द्र सत्यार्थी' का उल्लेख किया है—'मंटो : मेरा दुश्मन'—उन्हीं की परम्परा में लिखा हुआ, उनसे बेहतर हिन्दी का संस्मरण है। जो गत 20 वर्षों से इस उपमहाद्वीप के हिन्दी-उर्दू हलकों में लगातार चर्चा का विषय रहा है। उसका उल्लेख करने में तुम्हें क्यों संकोच हुआ? अथवा यह तुम्हारी बददयानती-भरी जिद का फल है कि कहानी अथवा संस्मरण अथवा उपन्यास के क्षेत्र में आगे के लिए 'अश्क' के नाम को तुम हमेशा गोल कर जाओगे—सिर्फ उसके व्यक्ति का ही उल्लेख करोगे, उसकी कृतियों का नहीं? मत भूलो कि अश्क ने 'संकेत' (उर्दू में) 'दोजखी' और 'देवेन्द्र सत्यार्थी' स्वयं हिन्दी में करके न छापे होते और 'मंटो : मेरा दुश्मन' न लिखा होता तो अपने जिन बेबाक, ढोंग-रहित संस्मरणों की दाद तुम चाहते हो, वे सम्भव न होते।)

अन्तिम टिप्पणी के बाद मैंने तुम्हारी भूमिका पढ़ी। भूमिका से भी पहले शेक्सपियर और सार्त्र के सूत्र वाक्य। मैं इनसे भी सहमत हूँ और तुम्हारी भूमिका की पहली तीन पंक्तियों से भी—"एक तरह से देखा जाए तो सारा ईमानदार लेखन औरों के बहाने अपनी ही बात कहता है।"

(इस सन्दर्भ में मैं सिर्फ इतना ही पूछना चाहता हूँ कि सार्त्र अथवा यादव यह करते हैं तो सही है, और अश्क अगर यह करता है तो कैसे गलत है? 'चेहरे : अनेक' अन्ततः दूसरों के बहाने अपनी बात नहीं कहता और दूसरों के दोषों को उजागर करते हुए अपने दोष उजागर नहीं करता तो और क्या करता है। क्या वह गलत इसीलिए है

कि ऐसा करने का अधिकार सिर्फ राजेन्द्र यादव को ही है और अन्य किसी को नहीं। अथवा 'दोजखी', 'देवेन्द्र सत्यार्थी' और 'मंटो : मेरा दुश्मन' के बाद राजेन्द्र यादव अभी मानसिक रूप से उतना ही बढ़ पाया है और 'चेहरे : अनेक' की दयानतदारी और सच्चाई तक पहुँचने के लिए उसे अभी और आत्म-मन्थन की जरूरत है। अथवा यह कि मृत लोगों के बारे में तो वह पूरी दयानतदारी बरत सकता है, लेकिन जिन्दा लोगों के बारे में वैसी दयानतदारी बरतने का वैसा साहस उसमें नहीं है। अथवा यह है कि अभी तक अपने एक झूठे इमेज का मोह उसे अश्क की तरह बेबाक और निस्संग और अपनी हर बुराई को उघाड़ देने वाला बना पाया। बहरहाल!)

मुझे पुस्तक में सबसे अच्छा संस्मरण 'सहज और पारदर्शी मन्नू भंडारी' लगा। जब यह 'नई कहानियाँ' में छपा था तब भी मुझे अच्छा लगा था। अब पढ़ा है तो पुनः अच्छा लगा। सच और झूठ तो तुम और मन्नू जानो। लेकिन संस्मरण इतना सशक्त, पुरअसर और हृदयग्राही और प्रवहमान है और मन्नू का ऐसा जीवन्त चित्र उपस्थित करता है कि उसे लिखने के लिए मैं जितनी भी तुम्हारी प्रशंसा करूँ कम है। अगर इसमें जो कुछ लिखा गया है, सब सच है तो यह हिन्दी साहित्य का एक बहुत ही अच्छा और सफल और सशक्त संस्मरण है। पढ़ते समय कहीं मन न अटकता है, न उलझता है, न रुकता है। भाषा की रवानी और किरदार के विश्लेषण का चमत्कार मन को बाँधे रखता है।

इसके बाद मुझे 'ए रे मेरे, मरण आया द्वार...' अच्छा लगा। लोगों को यह क्यों बुरा लगा है, यह मेरी समझ में नहीं आया, मुझे तो इसमें सहानुभूति की कमी भी नहीं लगी, रही रांगेय राघव के अहं और मनोविज्ञान की बात तो उनकी पुस्तकों को देखता हूँ तो तुम्हारा विश्लेषण ठीक लगता है। कम-से-कम मैं उससे सहमत हूँ। केवल उसे लिखने में जो प्रयोग तुमने किया है उसने उस संस्मरण से कुछ लिया है, उसे दिया नहीं, पर उसकी बात मैं आगे करूँगा।

इस संस्मरण के बाद मुझे 'अमरकांत' और 'फ्रांज काफ्का' के संस्मरण अच्छे लगे। दोनों में दृष्टि की एक-सी गहराई है और दोनों एक ही स्तर के संस्मरण हैं और मुझे बहुत अच्छे लगे हैं।

ओमप्रकाशजी वाला संस्मरण 'किराए पर रोने वालों की श्रद्धांजलियों' के लगभग निकट जा पड़ा है। वह तटस्थता, वह दयानतदारी, किरदार को खोल देने वाली वह बारीकबीनी, वह दबंगई और वह बेबाकी जो उपर्युक्त संस्मरणों में परिलक्षित है, इसमें यक्सर नापेद है। मैं ओमप्रकाश को तुमसे कहीं ज्यादा निकट से जानता हूँ। और यह भी जानता हूँ कि इस संस्मरण में तुमने बददयानती से काम लिया है। इसके अलावा हस्बमा-मूल ओमप्रकाश को 'उखड़े हुए लोग' छापने के लिए मजबूर करने और पेशगी देने की तुम्हारी माँग को स्वीकार कराने में मेरी भूमिका को तुम बिल्कुल नजरअन्दाज कर गए हो। तुम्हारी याददाश्त इतनी कमजोर है कि दिल्ली में राकेश के घर के बरांडे में होने वाली सारी बातचीत, उस सन्दर्भ में मेरे प्रयास को और सफलता पर राकेश के रिमार्क को तुम भूल गए हो, ऐसा मैं नहीं मानता। मैं इसे सिर्फ

बददयानती कहता हूँ। जब तुमने कहा था कि तुम उपन्यास 'राजकमल' से छपवाना चाहते हो, राकेश तुम्हारा काम करा दे सकता है, लेकिन मित्र होते हुए भी नहीं कराता और मैंने राकेश को डाँटा था और उसने कहा था कि तुम बुरा न मानो तो मैं उन्हें तैयार कर देता हूँ और राकेश ने हामी भर दी थी। तब मैंने ओमप्रकाश को कैसे तैयार कर दिया था, यह तुम यक्सर भूल गए हो, यह मैं कैसे मान लूँ। जबकि राकेश बहुत खिन्न हुआ था और उसने कहा था कि "भापा जी, यू हैव ऐडिड ऐन अदर फैदर टु योर कैप" लेकिन जाहिर है अश्क को किसी तरह का श्रेय देना तुम्हारे अहं को स्वीकार नहीं हुआ।

फिर इस तथ्य से तुम अनभिज्ञ हो कि कमलेश्वर के कान्ट्रैक्ट की समाप्ति पर उसका नवीनीकरण न किया जाए और सम्पादक बदला जाए, उससे पहले ओमप्रकाश, फिर राकेश और फिर कमलेश्वर मेरे यहाँ इलाहाबाद आए थे। और मैंने कमलेश्वर को खबरदार कर दिया था। (बावजूद तमाम शत्रुताई के, चूँकि वह मेरे घर आया था और उसने मुझसे सही सूचना और परामर्श चाहा था तो अपने स्वभाव के मुताबिक मैंने उसे संकेत में सही सूचना और परामर्श दे दिया था) यही वजह है कि राकेश केवल सौजन्य सम्पादक रहा, जबकि वह चाहता था कमलेश्वर अपने-आप छोड़ दे और उसे फुल-फ्लैज्ड सम्पादक वनने दे। राकेश ने कमलेश्वर को यह भी कहा था कि (मैं जानता हूँ) कि अश्क स्वयं सम्पादक होना चाहते थे, इसलिए मैंने उनसे अपनी बात कही थी। लेकिन राकेश यह नहीं जानता कि भैरव के बाद ओमप्रकाश ने मुझ पर बहुत जोर दिया था कि 'नई कहानियाँ' पर सम्पादक के नाते अपना नाम दूँ, लेकिन मैंने उसे कहा था कि तुम्हारा मित्र 'सारिका' से आ रहा है। तुम उसी को यह काम सौंपो। मैं नहीं करूँगा, चूँकि भैरव के मामले में उसने मेरी तमाम शर्तें मान ली थीं, इसलिए उसे डिच करना मुझे स्वीकार नहीं हुआ। और मैंने 6 महीने बिना नाम दिए उसका सम्पादन कर दिया। मैं सम्पादक होना चाहता तो तभी हो जाता। और पटने-पटाने के गुर राकेश को ही नहीं आते थे, मुझे भी आते हैं, लेकिन पत्रकारिता को मैं बहुत पहले छोड़ आया था और सृजनात्मकता के मुकावले में यह मुझे हमेशा द्वितीय कोटि का काम लगा है। वह 'अज्ञेय' को मुबारक हो, मुझे वह कभी प्रिय नहीं रहा। बहरहाल, उस सिलसिले में भी तुम मेरा नाम यक्सर गोल कर गए हो। इस बददयानती के अलावा चूँकि यह संस्मरण प्रकटतः राकेश को घटिया दिखाने और ओमप्रकाश के सुपुत्र को प्रसन्न करने की दृष्टि से लिखा गया लगता है, इसलिए इसमें भयंकर कमजोरियाँ आ गई हैं। (राकेश घटिया था, इसमें कोई शक नहीं, पर ओमप्रकाश पर लिखते हुए वह प्रसंग फिर संस्मरण से कुछ ले लेता है, उसे देता नहीं।)

इस संस्मरण के लिखने में तुम्हें अपनी स्व-घोषित ऊँचाइयों से नीचे उतरते देखकर अच्छा भी लगा है और बुरा भी। लेकिन इसी को मैं जिन्दगी का साथ निबाहना कहता हूँ।

तुम्हारे बारे में मन्नू का संस्मरण मुझे तिश्ना लगा, तिश्ना और टालूपन से भरा,

यद्यपि तुम्हारे बारे में मन्नू की बहुत-सी बातों से मैं सहमत हूँ। लेकिन कभी-कभी मुझे बहुत अफसोस होता है कि इतनी अच्छी लेखिका होने और इतनी बारीकबीनी नजर रखने के बावजूद उसे वैवाहिक जिन्दगी की कोई समझ नहीं है। प्रेम और घृणा की बात मैं मानता हूँ। यह भी कि प्रेम का ही दूसरा रुख घृणा भी है। वक्ती नाराजगी, जिसमें घृणा का अंश भी हो मेरी समझ में आती है, लेकिन स्थायी प्रेम और घृणा का भाव मेरी समझ से बाहर है। मुझे यदि यह मालूम हो जाए कि मेरी बीवी मुझसे घृणा करती है तो मैं बिना एक लफ्ज कहे उसे छोड़कर चला जाऊँ अथवा मैं ही यदि अपनी पत्नी से घृणा करता होऊँ तो मैं एक मिनट सोचे बिना उसे छोड़ दूँ। राकेश हो, भारती हो, गोरखा हो, कृश्न चन्दर हो—इन सबने तीव्र घृणा के बावजूद वर्षों अनचाहा साथ निभाया है। मुझे सिर्फ डेढ़ महीना लगा, नवपरिणीता को छोड़ने में। लेकिन यह भी ठीक है कि वैवाहिक जीवन की सफलता पति-पत्नी में एक बहुत ही गहरी समझदारी की माँग करती है। मन्नू ने पुस्तक के 147वें पृष्ठ पर मेरे किसी कथन का उल्लेख किया है। मैंने उसे वह सब कहा नहीं था, पत्र में लिखा था। और तुम्हारा रिमार्क भी मुझे उसने पत्र में लिखा था। उसके बाद मैंने उसे एक बहुत लम्बा पत्र लिखा था। मैं समझता हूँ कि उसे वह दोबारा पढ़ना चाहिए। एक तरफ वह तुम्हें घुन्ना भी कहती है और साथ में यह भी कहती है कि राजेन्द्र पत्र को पढ़ कर हँस दिए और उन्होंने जरा भी बुरा नहीं माना। दोनों स्थितियों में विरोधाभास है। घुन्ना आदमी कैसे कह देगा कि मैंने बुरा माना है और जो बात राकेश और अश्क को बुरी लग सकती है वह यादव को (शायद वह देवता ही होगा) बुरी नहीं लग सकती? मैं अपने अनुभव से जानता हूँ कि तुम निहायत ही ब्ध्वी और पिनकी आदमी हो और अपनी आलोचना कतई बरदाश्त नहीं करते। यह और बात है कि तुम व्यवहार की गरमजोशी बनाए रखते और हो...हो...करके हँसते रहते हो, लेकिन अन्दर से निहायत कुंठित हो जाते हो।

अश्क राजेन्द्र यादव से कम बैठकबाज या गप्पबाज नहीं है और न अश्क ने राजेन्द्र यादव से कम लोगों की मदद ही की है अथवा साथ दिया है। लेकिन सुबह बीवी कॉलेज चली जाए और मियाँ के लिखने का वक्त हो और पत्ता भी खड़के तो उसकी एकाग्रता भंग हो जाए। शाम को मियाँ अक्सर द्वितीय तृतीय कोटि के लेखकों की संगाते में शामें बरबाद करता रहे, समय से घर न आए और वर्षों से सार्थक न लिख पाए—न कोई कहानी, न उपन्यास—इसे मन्नू अथवा यादव दो साथी लेखकों का समानान्तर सफल और सुखद वैवाहिक जीवन समझते हो, मैं नहीं समझता। तुम दोनों ही कहीं गलत हो। लेकिन उस सिलसिले में मन्नू ज्यादा गलत है, यह मैं जानता हूँ और उसे विस्तार से लिख भी चुका हूँ। मैंने अपने पिता के सन्दर्भ में जब इस सत्य को जाना था कि मेरे पिता की तमाम बेराहरवी बाहर खाने-पीने और मौज उड़ाने का कारण अपने सारे पति-व्रत धर्म के बावजूद मेरी कमजोर, दुर्बल वजाहिर पति की सताई हुई माँ थी तो मैं अन्तर तक काँप गया था और जब मैंने माँ से कहा था कि माँ तुमने हमारे पिता के साथ बहुत ज्यादती की है। तुमने उन्हें 'छेक दिया' है याने

अलग कर दिया है (वे बाहर ही खाते-पीते और उड़ाते हैं) तो माँ ने पूछा था, 'कैसे बेटा?' जब मैंने उसे समझाया था तो माँ रोने लगी थी। मैं सफल वैवाहिक जिन्दगी को स्वर्ग मानता हूँ। यदि दोनों पति-पत्नी लेखक हैं तो अगर वे इकट्ठे साथ रहने के बाद एक-दूसरे की प्रतिभा को जिला नहीं सकते, चमका नहीं सकते, बेहतर से बेहतर लिखवा नहीं सकते, तो कहीं नितान्त असफल हैं। यदि तुम समझते हो कि मेरे जैसा यारबाश आदमी सारी दुनिया से कटकर, अगर 12 घंटे लिख सकता है तो इसमें कौशल्या ही नहीं, मेरे सारे घर की सुख-शान्ति का कोई हाथ नहीं है तो तुम गलत समझते हो। तुम दोनों के संस्मरणों को पढ़कर लगता है कि तोप लेखक होने के बावजूद जिन्दगी के सन्दर्भ में तुम दोनों बच्चे हो, एक-दूसरे को पूर्णतः जीत नहीं सके और अपनी असफलता को सफलता मानकर उसकी दाद चाहते हो। कम-से-कम इन संस्मरणों से मुझे यही लगा। उसे यदि आता और वह तुम्हें सिद्ध कर लेती अथवा तुम को यदि आता और तुम मन्नू को सिद्ध कर लेते तो दोनों सूरतों में तुम कम वक्त बर्बाद करते और बहुत अच्छा लिखते—लेकिन तुम अन्तर में नितान्त भारतीय निम्नमध्यवर्गीय होते हुए, सार्त्र बनना चाहते हो और अपनी संगिनी को मादाम बबुआ के रूप में देखना चाहते हो। तुम कैसे वह सब कर पाते? कर पाते तो इतने वर्ष बेकार के चूतियापे में कीमती वक्त बर्बाद नहीं करते। जब वह मानती है कि तुम समर्पित लेखक हो तो फिर यह कैसा समर्पण है कि बरस-दो बरस तुम कुछ सार्थक नहीं लिख पाए और निहायत कुंठित रहे। और मन्नू भी जितना उसने लिखा है निश्चय ही उससे अच्छा लिख सकती थी। ऐसा मैं मानता हूँ। बहरहाल, हम लोग अपने संस्कारों, माहौल और नियति से अन्धे होते हैं और शायद तुम लोग भी अन्धे और यूँ मुझे तुम्हारी जिन्दगी में दखलअन्दाजी का कोई अधिकार नहीं। यह किताब पढ़ते हुए मेरे मन में जो आया मैंने लिख दिया। तुम्हारे प्रति और तुम्हारे प्रतिभा के प्रति आस्था ही के कारण! तुम बुरा नहीं मानोगे। मन्नू ने मेरे वे रिमार्क उद्धरित न किए होते तो मैं यह सब नहीं लिखता। मेरे वाले संस्मरण में तुमने वे पंक्तियाँ वैसे ही रहने दी हैं, जिनके बारे में शौनक ने प्रश्न किया था और मैंने तुम्हें पत्र लिखकर पूछा था कि उदाहरण देकर बताओ कहाँ मेरी रचनाओं में सिनिसिज्म झलकता है, और किन रचनाओं में 'जो प्रिय है, उसे भी खुरचने की' प्रवृत्ति है। तुमने तब मेरे प्रश्न के उत्तर को टाल दिया था। तुम्हें पुस्तक में पुनः वह संस्मरण सम्मिलित करते समय उन पंक्तियों को काट देना चाहिए था अथवा उदाहरण देकर एलेबोरेट करना चाहिए था। शौनक के उस प्रश्न के बाद उन पंक्तियों को उसी तरह छापना थोड़ी ज्यादती करने के बराबर है।

15 वर्षों की मैत्री के बावजूद चूँकि तुम सोबती को नहीं जानते, इसलिए उस संस्मरण में सिर्फ वे ही बातें लिख पाए हो, जो ऊपर से दिखती हैं। रही उनकी रचनाओं के विश्लेषण की बात तो 'मित्रो मरजानी' (अन्त को छोड़ कर) और 'यारों के यार' (सम्पूर्ण) सफल लघु उपन्यास है। कहानियों में 'सिक्का बदल गया', 'दादी अम्मा', 'कुछ नहीं कहीं नहीं', 'बादलों के घेरे', 'गुलाब जल गंडेरिया' बहुत अच्छी हैं,

लेकिन 'डार से बिछुड़ी' सिर्फ आधा (पल्ला आधा) अच्छा है। दुख इसलिए भी है कि मैं सोबती की प्रतिभा का बहुत कायल हूँ, लेकिन गलत क़दम या गलत सोच बड़े-बड़े प्रतिभाशालियों का पटड़ा कर देती है और शीला जी हों या ओमप्रकाश प्रकाशक का प्रचार कई बड़े-बड़े सिद्ध लोगों को मुगालते में डाल देता है। आदमी असलियत नहीं जान पाता और गलती सुधार नहीं पाता। प्रकाशक को सिर्फ किताब बेचनी होती है, लेकिन लेखक को उत्तरोत्तर अच्छा लिखना होता है। अच्छे-बुरे की तमीज स्वयं होनी चाहिए, लेकिन उसके लिए स्वयं अपने आपको ट्रेन करने की जरूरत होती है और वह बड़े-बड़े सिद्ध नहीं कर पाते।

कमलेश्वर के बारे में तुम्हारा संस्मरण सबसे कमजोर है। वह उस व्यक्ति का 'सच' कुछ भी नहीं बताता। शायद तुम जानते भी नहीं। जानते हो तो लिखने का साहस नहीं रखते। कमलेश्वर 1956 के बाद मेरे यहाँ कभी नहीं आया और तुमने उसे उमेश की शादी में दिखा दिया है। उसकी नितान्त असफल कहानियों से अभिभूत हो गए हो। उसकी हर कहानी में कुछ न कुछ आकर्षक तुम्हें लगा है। मैं उसके संग्रह 'बयान' पढ़ गया। इतनी बोगस कहानियाँ शायद ही उसके किसी समकालीन ने लिखी हों। यारी निभाने की हद होती है और तुमने इस संस्मरण में वह हद पार कर दी है।

प्रेमचन्द वाले संस्मरण पर मैं सार्वजनिक रूप से अपनी बात कहूँगा, इसलिए इस व्यक्तिगत पत्र में उस पर कुछ नहीं कहता।

मन्नू की इस स्थापना से मैं शत-प्रतिशत सहमत हूँ कि तुम प्रयोग के पीछे—कुछ नया, कुछ अनोखा करने के पीछे पागल रहते हो जबकि वे सब प्रयोग बचकाने लगते हैं।

पत्र बहुत लम्बा हो गया है, वरना 'कुलटा', 'अनदेखे अनजान पुल' (नाम शायद भूल रहा हूँ), 'उखड़े हुए लोग', तुम्हारी कहानियों और लेखों से उद्धरण देकर बताता कि किस प्रकार की अपनी इस कमजोरी के कारण तुमने रचनाएँ बिगाड़ दी हैं।

रांगेय राघव वाले प्रसंग में तिथि और ब्रेकेट में दिए गए मैटर की क्या जरूरत है? फिर उस सब संस्मरण का महज कार की यात्रा में बयान करने की क्या सार्थकता है। कहानी उस तरह लिखते तो ठीक होता। लेकिन संस्मरण अफसाना नहीं होता। इस प्रयोग ने उस निहायत अच्छे संस्मरण को कमजोर कर दिया है। अपनी रचनाओं में जहाँ-तहाँ तुमने ये प्रयोग किए हैं, वे ध्यान भटकाते हैं। लेकिन इस रोग की दवा तो लुकमान के पास नहीं, मन्नू या मेरे पास कहाँ होगी।

चूँकि लेखक को उसकी बेहतरीन रचनाओं से ही परखना चाहिए, इसलिए इस किताब को पढ़कर एक बात मुझे शिद्दत से महसूस हुई है कि संस्मरण तुम कहानियों से भी बेहतर लिख सकते हो। बहुत अच्छी कहानियाँ और उपन्यास लिखो तो क्या कहने, पर न लिख सको तो संस्मरण लिखो। या फिर तुमने इतना पढ़ा है, तुमने जैसे काफ्का और अमरकान्त की रचनाओं को व्याख्यायित किया है, वैसे ही दूसरे पश्चिमी

लेखकों की रचनाओं को व्याख्यायित कर सको तो मैं समझता हूँ, असफल उपन्यास या कहानियाँ लिखने से तुम कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण काम कर जाओगे और हिन्दी पाठक तुम्हारे सदैव कृतज्ञ रहेंगे।

दोनों लेख मुझे बहुत अच्छे लगे। चूँकि मेरे हाथ अब ज्यादा काम नहीं करते। हाथ से लिखने में कन्धे के पिछली ओर दर्द होने लगता है, इसलिए पिछले पत्र की तरह यह भी मैंने लिखवाया है। भाषा और वाक्य-विन्यास की चिन्ता न करना। मतलब की बात ले लेना। इस पत्र को नितान्त व्यक्तिगत ही मानना और मेरी सद्‌भावना पर सन्देह न करना। जिन्हें मैं कहीं बहुत चाहता हूँ, उन्हें ही ऐसे पत्र लिखता हूँ, वरना बीसों लेखक लिखते हैं, मैं पढ़ता भी हूँ, लेकिन कभी किसी को ऐसे पत्र नहीं लिखता।

पन्नू और बच्चों को स्नेह देना।

सस्नेह

उपेन्द्रनाथ अश्क

'अश्क' के नाम

नई दिल्ली

भाई श्री अश्क जी,

आपका पत्र मिला। लगता है 'चेहरे अनेक' पर मेरी प्रतिक्रिया से आप इतने ज्यादा आहत हैं कि हर पंक्ति में मेरी समझ, नीयत, मन्तव्य और लेखन पर लगातार निशाना साधे चले जा रहे हैं। आप पूरी तरह विश्वास रखिए, अगर आपके पत्र की कोई भी बात मुझे बुरी लगी होती तो शायद मैं उत्तर न देता, दूसरे का प्रयोजन अगर साफ़ हो तो मैं भाषा की बहुत चिन्ता नहीं करता हूँ।

सबसे पहले तो मैं यह बता दूँ कि आपने जिस तरह के बेबाक संस्मरणों की बात कही है, मैं इन्हें उनसे थोड़ा अलग रखना चाहूँगा। मेरा लक्ष्य, कृतित्व से व्यक्तित्व के आपसी सम्बन्धों को समझना है, कुछ जगह सफल हुआ हूँ कुछ जगह असफल। जैसे अमरकान्त या काफ्का के व्यक्तित्वों के माध्यम से उनके साहित्य को समझना शायद कुछ ठीक हुआ है इसीलिए वे आपको भी पसन्द आए हैं। हो सकता है औरों के साथ ऐसा न हो पाया हो। व्यक्तित्व और साहित्य का सम्बन्ध, प्रायः जटिल, संश्लिष्ट और उलझा हुआ होता है। कभी सूत्र सीधा मिल जाता है और कभी बहुत गुंजलक के साथ, कभी हम साहित्य में अपने व्यक्तित्वों से भागते हैं और कहीं उसे पकड़ते हैं। यह भागना और पकड़ना एक साथ भी चल सकता है, थोड़ी-सी भी बारीकबीनी हो तो साहित्य के सारे ताम-झाम के बावजूद असली व्यक्तित्व को पाया

जा सकता है। कमलेश्वर में एक खास तरह की भावुकता और कुण्ठा है, जो उसके साहित्य को एक रूमानी रूप देती है। रांगेय राघव का साहित्य उनके व्यक्तित्व को इंटीग्रेटिड बनाता है। 'मंटो मेरा दुश्मन', 'दोजखी', 'देवेन्द्र सत्यार्थी' या इस तरह के संस्मरणों के सन्दर्भ में मैंने अपने संश्लेषणों को जानबूझकर नहीं रखा क्योंकि ये शुद्ध व्यक्ति और उनसे अपने सम्बन्धों के संस्मरण हैं। मेरे संश्लेषण इन सम्बन्धों के माध्यम से साहित्य और व्यक्ति को समझने की कोशिश में लिखे गए हैं। मुझे अच्छा लगता यदि 'चेहरे अनेक' में दिए गए किसी व्यक्ति के बारे में आपके निष्कर्ष उन लोगों की रचनाओं में भी खोजे जाते। बहुत साफ है कि रांगेय राघव ने मेरा अपमान किया था और उनके बारे में मैंने बहुत मधुर भाव नहीं पाले, मगर इस पूर्वाग्रह ने कहीं भी उनके व्यक्तित्व और साहित्य के उत्कृष्ट पक्ष को देखने से मुझे नहीं रोका। इस चीज का अभाव अगर मुझे 'चेहरे अनेक' में लगा तो क्या बहुत बुराई है?

ओमप्रकाश जी वाले संस्मरण पर आपकी प्रतिक्रिया मुझे चकित करती है। हो सकता है समय का उतना अन्तराल इसमें न रहा हो, मगर मैंने उनके बेटे को प्रसन्न करने के लिए लिखा है, यह सोचना ज्यादती है। मुझे उनके बेटे से कुछ नहीं लेना—शायद कोई पुस्तक भी नहीं छपवानी। उनके प्रति मेरे मन में यही भाव रहा है, उसे भारती को लिखे गए पत्र से भी देखा जा सकता है। और उनकी मृत्यु के दूसरे दिन श्रद्धांजलि में भी इसी लेख की रूपरेखा थी। क्या सचमुच, सब कुछ किसी को नाराज या प्रसन्न करने के केलकुलेशन के तहत ही लिखा या बोला जाता है? राकेश या किसी को भी पकड़ने की बजाय मैंने उस माहौल को पकड़ने की कोशिश की है जिससे ओमप्रकाश का व्यक्तित्व निर्मित हुआ था। आप उन्हें निश्चय ही ज्यादा निकट और लम्बे समय से जानते थे। हो सकता है आप मुझसे ज्यादा गहरी अन्तर्दृष्टि से उन पर लिखें। 'नई कहानी एपीसोड' के बारे में मेरी जो भी जानकारी है उसी को मैंने आधार बनाया है। वह अधूरी हो सकती है। हाँ, राकेश के बरांडे में ओमप्रकाशजी के साथ जिस एडवांस की बात आपने लिखी है वह 'उखड़े हुए लोग' के लिए नहीं, 'सारा आकाश' और 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' कहानी संग्रहों के लिए थी। मुझे अच्छी तरह याद है 'उखड़े हुए लोग' की बातचीत तो नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता में हुई थी, वह कलकत्ता में ही छपा भी और उसकी लागत का चेक मुझे बम्बई से मिला था—सात हजार रुपये का।

मैं मानता हूँ और हसद करता हूँ कि मेरी याददाश्त उतनी तेज नहीं है, जितनी आपकी। मगर जो कुछ याद रह जाता है वह शायद उतना गलत नहीं होता। दूसरे लोग सिर्फ उस बात का एक और पहलू उजागर करते हैं या उसकी व्याख्या देते हैं। यह बिल्कुल भी जरूरी नहीं है कि दूसरी व्याख्याओं को भी मैं 'अपना सत्य' मानकर ही स्वीकार कर लूँ। मेरा आपसे यही मतभेद है। बहुत-सी बातों के बारे में आप अपने इंप्रेशंस को चाहते हैं कि मैं या कोई भी उन्हें अपने उपलब्ध किए हुए सत्य की तरह स्वीकार करे।

आप बिल्कुल निश्चिंत रहें, आपके टाइप किए हुए पत्र को भी उतनी ही

गम्भीरता से लेता हूँ जितने हाथ के। सब कुछ आभारी हूँ कि इतने ध्यान और श्रम से आपने मेरी पुस्तक पर लिखा है। सिद्धान्ततः मैं यह भी मानता हूँ कि हर बार अपनी रचना को रिवाइज नहीं करना चाहिए, जो कच्चापन पहले रचना में रहा है उसके विकास-चिह्न भी देखने जरूरी होते हैं। यह एक दूसरा झूठ है कि हमारी सारी रचनाएँ एक विशेष परिपक्व स्थिति में एक ही बैठक में लिखी हुई जान पड़ें। क्या 'सितारों के खेल' की सारी रूमानियत को आप आज बदलकर 'बाँधो न नाव इस ठाँव' की परिपक्वता में बदलना चाहेंगे? ये सारे संस्मरण जिस भी उम्र और समय के धरातल पर लिखे गए थे, मैंने कोशिश की है वह उन्हीं स्थितियों को बनाए रखें। गलत न समझें, तो कहूँ विकास की क्रमशः बदलती स्थितियों को बर्दाश्त कर सकें। आज के हिसाब से हो सकता है कि आपके संस्मरण को अब बिल्कुल ही दूसरी तरह लिखना चाहूँ। लेकिन मैं फिर नया ही लिखूँगा, पुराने को तोड़ने-मरोड़ने का मुझे कोई हक नहीं है। मेरे और मन्नू के सन्दर्भ में बोउवा और सार्त्र वाली बात आपने कहाँ से पकड़ ली है, मैं नहीं जानता। पिछले दसियों वर्षों से मैं यह मानता हूँ कि पति-पत्नी के बीच कोई भी पूर्व निर्धारित सम्बन्ध नहीं होता। जो कुछ हमें मिलता है वह एक सामाजिक परम्परा और सिचुएशन होती है। इसमें आपसी सम्बन्ध के ये लोग खुद कार्व-आउट करते हैं। यहाँ उन्हें कतई बाहरी मदद नहीं मिलती—उदाहरणों से तो बिल्कुल भी नहीं। यह सभी मित्रों और आदमी-औरत के सम्बन्धों के बारे में सही है। मैंने और मन्नू ने अनजाने ही जो सम्बन्ध कार्व-आउट किया है वह एक-दूसरे को बढ़ावा देने का नहीं, बल्कि एक-दूसरे के विकास में अवरोध न होने का है। आपके-मेरे संस्कारों के बीच एक-डेढ़ पीढ़ी का अन्तराल है, इसलिए हो सकता है आप इस भाषा में सोचते हैं कि पति-पत्नी आपस में एक-दूसरे को बढ़ावा देते हैं या ज्यादा सही कहूँ तो पत्नी पति की प्रतिभा के विकास में सहायक और सहयोगिनी होती है। हम सभी के अनुभवों में ऐसे ही लोग हैं जहाँ एक की कीमत पर सिर्फ दूसरा विकसित हुआ है। आपको लेकर कभी मैंने 'ययाति' वाली बात कही थी। इस सम्बन्ध के सन्दर्भ में भी वही याद आती है—एक का यौवन लेकर अपने को युवा बनाए रखना। वैसे सही बात यह है कि हम अपने आस-पास ऐसे ही लोगों को देखने के अभ्यस्त रहे हैं, जहाँ एक अपने सारे समर्पण और सहयोग से दूसरे को, यानी पति को बनाने में ही अपनी सार्थकता समझता है। मैं यह बिल्कुल भी नहीं कहता कि मेरे और मन्नू के बीच कहीं कुछ गलत नहीं है, मगर शायद आप अपने अनुभवों की रोशनी में उसे पकड़ नहीं पा रहे हैं।

बहरहाल, यह लम्बी बातचीत है और फिर कभी करेंगे। आशा है आप स्वस्थ और सानन्द हैं। क्या यह लिखने की जरूरत है कि अगर इस पत्र में आपको कुछ बुरा लगा हो तो माफ करेंगे।

कौशल्या जी को प्रणाम दें।

आपका
राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव की डायरी : कुछ पन्ने (अस्त-व्यस्त)

10 जुलाई, '58

रोमन अक्षर 'एस' से शुरू होनेवाले नामों में, पता नहीं क्या है कि मैंने उनसे हमेशा कुछ-न-कुछ पाया ही है...सुजाता जी को ही लीजिए...कथाकार सुजाता जी की मृत्यु का समाचार मुझे एक विचित्र-से सन्तुष्ट उल्लास से भर गया है। अब मैं निर्द्वंद्व होकर उनकी डायरी के इन कुछ पन्नों को पाठकों के सामने रख सकूँगा। पिछले दिनों मैं उनसे मिलते कतराता था। देखते ही पूछतीं, 'राजेन्द्र, तू लाया नहीं मेरी डायरी?' मैं टाल देता, 'दीदी, कहीं कागज-पत्रों में रख दी है। उन्हें किसी दिन सँभालूँगा तो ले आऊँगा। मुझे करना भी क्या है उसका?' वे आशंका और खुशामद से कहतीं, 'देख भैया, उसमें जाने क्या-क्या बचपने की उल्टी-सीधी बातें लिखी हैं। मैंने खुद उन पन्नों को एकाध-बार कहानी का रूप देने की बात सोची, पर फिर जाने क्या सोचकर रख दिया।' बात सच है। सुजाता और उदय के सम्पर्क की यह डायरी उन दिनों का चित्र सामने लाती है, जब वे स्वयं एम. ए. में पढ़ रही थीं और सुजाताजी के शब्दों में ही, 'उदय अपने उस काल से गुजर रहे थे जिसे सफल लेखक आगे जाकर 'संघर्ष के दिन' कहता है...'

जो सुजाता जी नहीं कर पाई, उसे पूरा करने का सन्तोष मुझे ज़रूर है; लेकिन मन के भीतर जाने क्यों कोई अपराध-भावना भी कचोट उठती है। शायद इसी भावना से किसी हद तक बचने के लिए मैंने निश्चय किया है कि अनावश्यक प्रसंगों या अप्रासंगिक बातों का निर्ममता से सम्पादन कर डालूँगा।

सुजाता जी की आत्मा के प्रति क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मैं उनकी आहत-असहाय आँखों को कलम की नोक के साथ चलते देखता हूँ, फिर भी जाने क्यों मुझे उनकी मृत्यु पर खुशी है। वह लेखक ही क्या, जो धिक्कार और उल्लास का अनुभव साथ-साथ ही न करे...?

आज उपन्यास को अन्तिम रूप देने के लिए इस टाइपराइटर पर लिखना शुरू कर रहा हूँ।

6 अगस्त, '58

पिछले सात-आठ महीनों से शरीर-कष्ट है। बैठने में दिक्कत होती है। फिर भी नब्बे पन्ने टाइप किए हैं, पिछले 35-40 दिनों में। परसों ये नब्बे पन्ने जबर्दस्ती उठकर

चले गए। मैं नहीं चाहता, मेरी चीज को कोई अधूरा या अनफिनिश्ड देखे...इसे जब मैं अन्तिम रूप दे दूँ तब तो सभी को अधिकार है...लेकिन वह अधिकार बड़ा था और पन्ने चले गए। फैसला मिला कि 'यह नहीं छपेगा।'

कारण पूछा गया तो पता चला 'कारण कुछ नहीं, बस छपेगा ही नहीं...।

फिर जब कारण पता चला तो याद आ गई भाई श्री मोहनसिंह सेंगर की बात। उपदेश के मूड में एक दिन कहा था, 'आप लोग न अपने समाज को देखते हैं, न लोगों को। कुछ फ्रेंच, रूसी और अंग्रेजी उपन्यास पढ़-पढ़कर ठीक उन्हीं लाइनों पर उपन्यास और कहानियाँ लिख डालते हैं। इनमें सिर्फ लोगों और जगहों के नाम भारतीय होते हैं, बाकी सभी विदेशी होता है। आप लोगों का अपने देश का अध्ययन कतई नहीं है।'

कैसे समझाऊँ उन्हें कि सेंगर जी की बात शत-प्रतिशत सही है। चेखव, ज्विग, ज़ीद और मॉम यही तो मेरे ऊपर इन पिछले दिनों छाए रहे हैं। सो इसमें भी लोग, स्थितियाँ, वातावरण, समस्याएँ, भाषा कुछ भी अपना नहीं है। सभी कुछ दूसरों का है। फिर उन्हें इतना डर क्यों है...?

4 नवम्बर, '58

जैसे-तैसे आज उपन्यास पूरा कर डाला है। बीच में टाइप रुक गया था। पता नहीं अंकुश बाहरी थे या भीतरी। जैसे सिगार जलता है...मन्द-मंथर सुलगता रहता है, शायद कुछ उसी तरह की इस कहानी की गति हो गई है...आवेश और उत्तेजना के पागल मनोभावों और घटनाओं की आकस्मिकता से भरी हुई कहानियाँ पढ़नेवाला साधारण कथा-रसग्राही पाठक, पता नहीं इसे पढ़ भी पाएगा या नहीं...न तो कहीं बाढ़ पर आई नदी के आवेगों की दनदनाहट और न ऑस्करवाइल्डीय भाषा में शरत् की कहानी के आँसू बहाते पात्र...मनोरंजन और रोचकता का कोई भी तो फॉर्मूला नहीं है। अपने पाठक पर मुझे कभी भी अविश्वास नहीं रहा (वही तो मेरा बल है), लेकिन हर क्षण 'नाटक' चाहनेवाला, मन की विभिन्न सतहों पर चलनेवाले 'नाटक' को समझने की कोशिश में लगे, इस कहानी पात्रों को कहाँ तक अपना बना सकेगा...यही ज़रा शंका है..

प्रथम-पुरुष डायरी में लिखी गई कहानी में घटना सीधे रूप में न आकर स्मृतियों और मूड्स में प्रतिफलित होकर आई है—कहीं हल्का-सा प्रतिबिम्ब भर है। जहाँ तल गहरा होता है, वहाँ धारा का प्रवाह खुद ही मंथर नहीं हो जाता?

1 जनवरी, '58

...ने कहा, और लोगों ने भी कहा कि जब उपन्यास तुमने लिख ही लिया है तो उस पुरानी पड़ी पांडुलिपि को अन्तिम रूप दे ही क्यों नहीं डालते? खुद मैंने भी महसूस

किया कि अब मैं उससे भावात्मक रूप से अपने को बिलकुल काट चुका हूँ, इसलिए अब उसे अन्तिम रूप दे ही देना चाहिए...अधूरे काम का बोझ दिल से उतरे तो कुछ और करने में भी मन लगे। दिमाग हमेशा ही तो घिरा रहता है। लेकिन डर लगता था कि उसे पढ़ूँगा तो पता नहीं कैसा लगेगा।

डर लगता है कि इसे लिखने के पीछे प्रेरणा क्या रही है? क्योंकि खुद मेरा मन उन देशी-विदेशी उपन्यासों से बहुत ही ऊब गया है, जिनके नायक कलाकार या लेखक हैं। किताब खोलते नहीं बनता : कहीं इस उपन्यास या कहानी का नायक भी कमबख्त लेखक, पत्रकार, कवि या चित्रकार ही नहीं निकल आए। और इसी अपराध-भावना से मेरा मन डूबा रहा है कि एक और उपन्यास में लेखक साहब हीरो बना दिए गए...जब लेखक हीरो बनता है तो उसका सीधा अर्थ है : एक धीरोदात्त नायक का अवतार हो रहा है। पूरे उपन्यास में उसकी महिमा ही बखानी जाती है, उसे सब्जैक्टिव टच दिया जाता है, सम्पर्क में आनेवाली हर लड़की से उसे पुजवाया जाता है...और उसकी करतूतों की सफाई दी जाती है। बिना पूरा पढ़े, या सूँघकर ही अपनी राय कायम करनेवाला पाठक और जिल्दवादी समीक्षक इसे भी शायद ऐसा ही पाएँ...।

लेकिन एक सवाल मुझे अक्सर तंग करता है : क्या कहानी-उपन्यास का लेखक लेखन-सामग्री से भरा निर्जीव बक्सा ही है? उसका काम 'भीतर भरे हुए' को केवल बाहर 'उलीचना' और 'उंडेलना' ही है? लेखन उसकी अपनी भी चिन्तन-प्रक्रिया नहीं बन सकता? कि उस चिन्तन-प्रक्रिया में वह रेडीमेड विचार पाठक को दे ही नहीं, खुद मथे और पाए भी? हो सकता है इस दृष्टि से मैंने अपने को पात्रों के रूप में बाँटकर मुखर-चिन्तन या लाउड-थिंकिंग ही किया हो और लिखने के दौरान पात्रों के साथ-साथ या उनकी मार्फत अपनी उलझनें और समस्याएँ सुलझाने की कोशिश भी की हो...

31 अगस्त, '57

आज मैं चौंक पड़ा। देखा कि अरे, आलोचक की खाल के भीतर यह आदमी तो एकदम...। अपनी डायरी के कुछ अत्यन्त ही रोचक, व्यक्तिगत और सरस पन्ने सुनाकर कुहनियों के बल उठे हुए नामवर सिंह बोले, 'बारह साल से लेकर सत्तर साल तक का हर लेखक हमारे यहाँ प्रेम की थीम को जरूर घसीटता है...लेकिन सचमुच एक भी तो ऐसा उपन्यास नहीं है जो आपको आकण्ठ डुबा दे...लगे कि आप सचमुच प्रेम की गहराइयों में उतरकर आए हैं...प्रेम के नाम पर या तो सस्ते शरीरवादी उपन्यास हैं या इंटर की अधकचरी भावुक लड़कियों को अपील करनेवाले रुदन, समर्पण, चरण-स्पर्श, त्याग और उन्माद के गद्य-काव्यों से भरे घोर प्लैटोनिक, 'आँसू-धकेल' टीयरजर्कर्स। प्रेम का अर्थ या तो उनमें घोर शारीरिक उत्तेजना में किए गए आलिंगन-चुम्बन मिलता है या फुसफुसे लोगों की गिलगिलाती छिछली आदर्शवादी भावुकता...शरीर और आँसुओं के ज्वार का नाम ही क्या प्यार है? या कहा जाए, क्या प्यार यहीं तक

सीमित रह जाता है? अगर ऐसा ही है तो मद्रास से आनेवाले हिन्दी-सिनेमा ही क्या बुरे हैं?' और फिर हम लोग देर तक बातें करते रहे कि प्रेम किस तरह सूक्ष्म और अनजाने रूप से सारी मानसिक बनावट को स्तर-स्तर बदलता है, कैसे एकान्त और मधुर और आत्मीय-क्षण देता है। बहुत सचाई से 'अज्ञेय' को छोड़कर इसका चित्रण करने का प्रयत्न किस-किस ने किया है...बंगाली तो खैर, अपनी आँसू-रुँधी आँखों के कारण उस पक्ष को देख ही नहीं पाएँगे...।

जब तक दूसरों की भलाई-बुराई करते रहे तब तक कोई बात ही नहीं, लेकिन जब मेरी छाती से अपनी आँखों की दुनाली अड़ाकर, "निकालो तुम्हारे पास क्या है?" के अन्दाज में, छिद्रान्वेषिणी निगाहों से उस विकट आलोचक ने मुझे ही घूरना शुरू कर दिया तो मैं करवट बदलकर सो गया। हिन्दी में क्या, क्यों लिखा जा रहा है, इसका जवाब आधी रात में मैं क्यों दूँ? मानो सब मेरी ही शह से लिखा जा रहा हो ...आप साहित्य के डॉक्टर और दारोगा दोनों हैं, मैं कहाँ दाल-भात में...? और मैं क्या लिखकर रख आया हूँ, इसका मैं जिक्र ही दबा गया।

2 जुलाई, '57

आज उपन्यास का पहला रूप लिखकर समाप्त कर दिया। पूरे ढाई महीने खा गया। करता क्या, कॉपी साइज के तीन-चार पन्नों से ज्यादा एक दिन में लिखा ही नहीं जाता। लोग इतना सब कैसे लिख लेते हैं? दूसरा कोई, पाँच दिनों में इसे लिखकर अलग करता। लेखन को जीविका बनाकर इस युग में इतनी कम लेखन-शक्ति पर कैसे रहूँगा आखिर? मोहन राकेश का कहना है कि 'होल-टाइमर' होकर भी परिमाण में मैंने कुछ नहीं लिखा, गुण में लिख पाने की तो समस्या ने ही तंग नहीं किया कभी...। ठीक ही तो है। मई, '47 में पहली रचना छपी थी। ग्यारह साल में तीन उपन्यास और पचास-साठ कहानियाँ...और?

सचमुच, बड़ी ही कष्टकर बेगार है लिखना...जो कुछ भी लिखा है वह किसी भी मायने में संतोषजनक है? ...कतई...कतई नहीं...! मन होता है सब फाड़-फूड़ डालूँ...लेकिन बस, यही उम्मीद है कि शायद कभी किसी अच्छे लिखने की भूमिका या ट्रेनिंग के रूप में ही आज तक का यह लिखा काम आ जाए...!

5 नवम्बर, '58

पता नहीं अपने उपन्यास के शुरू में ये सारे उलटे-सीधे ढंग और क्रम से लिखे पन्ने जाने चाहिए या नहीं...लेकिन क्या कहीं भी बेचारे लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने पाठक से सीधे बात कर सके...? कुछ अपनी कह सके...उसकी सुन सके? सैकड़ों पन्नों में 'केवल अपने लिए' वह दो पन्नों का उपयोग भी नहीं कर सकता?

('शह और मात' उपन्यास की भूमिका से)